ललित विस्तर

अनुवाद तथा भोटभाषान्तर के आधार पर
पाठशोधनात्मक टिप्पणियाँ

अनुवाद :

शान्तिभिक्षु शास्त्री

साहित्याचार्य (जयपुर) पी-एच्० डी० लाइप्छिग् (प्रजातंत्र जर्मनी)
डी० लिट्० (साहित्यचक्रवर्ती)
केलानिया विश्वविद्यालय श्रीलंका,
भूतपूर्व प्राध्यापक तथा संस्कृत विभागाध्यक्ष
श्रीलंका विद्यालंकार विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
(हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग)
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन,
महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

प्रकाशक :
हरिमाधव शरण
निदेशक,
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान,
लखनऊ

●

शिक्षा एवं समाज कल्याण मंत्रालय
भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय
ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग,
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित।

© उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

●

प्रथम संस्करण : 1984
प्रतियाँ : 1100

मूल्य : 84.00 रुपया (चौरासी रुपया)

●

मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस,
भेलूपुर, वाराणसी-10

प्रकाशकीय

शिक्षा आयोग (1964-66) की संस्तुतियों के आधार पर भारत सरकार ने 1968 में शिक्षा सम्बन्धी अपनी राष्ट्रीय नीति घोषित की और 18 जनवरी 1968 को संसद के दोनों सदनों द्वारा इस सम्बन्ध में एक सङ्कल्प पारित किया गया। उस सङ्कल्प के अनुपालन में भारत सरकार के शिक्षा एवं युवक सेवा मंत्रालय ने भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षण की व्यवस्था करने के लिए विश्वविद्यालय स्तरीय पाठ्यपुस्तकों के निर्माण का एक व्यवस्थित कार्यक्रम निश्चित किया। उस कार्यक्रम के अन्तर्गत भारत सरकार की शत-प्रतिशत सहायता से प्रत्येक राज्य में एक ग्रन्थ अकादमी की स्थापना की गयी। इस राज्य में भी विश्वविद्यालय की प्रामाणिक पाठ्यपुस्तकें तैयार करने के लिए हिन्दी ग्रन्थ अकादमी की स्थापना 7 जनवरी, 1970 को की गयी।

प्रामाणिक ग्रन्थ निर्माण की योजना के अन्तर्गत यह अकादमी विश्वविद्यालय-स्तरीय विदेशी भाषाओं की पाठ्यपुस्तकों को हिन्दी में अनूदित करा रही है और अनेक विषयों में मौलिक पुस्तकों की भी रचना करा रही है। प्रकाशित ग्रन्थों मे भारत सरकार द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जा रहा है।

उपर्युक्त योजना के अन्तर्गत वे पाण्डुलिपियाँ भी अकादमी द्वारा मुद्रित करायी जा रही हैं जो भारत सरकार की मानक ग्रन्थ योजना के अन्तर्गत इस राज्य में स्थापित विभिन्न अधिकरणों द्वारा तैयार की गयी थीं।

यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ऋषिकल्प आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के प्रयत्नों से हिन्दी संस्थान को उपलब्ध हो सका था। मेरे लिए परम संतोष का विषय है कि आचार्य द्विवेदी और भदन्त शान्तिभिक्षु का सम्यक् प्रसाद मेरे सेवाकाल में संस्थान को धन्य कर सका है। शान्ति निकेतन के अपने अत्यन्त संक्षिप्त प्रवास-काल में मुझे शान्तिभिक्षु जी का सत्संग सुलभ हुआ था। प्रज्वलित यज्ञाग्नि के समान उनकी प्रदीप्त प्रतिभा से उस समय मैं विशेष प्रभावित हुआ था। तब स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि मैं भी कभी प्रकारान्तर से उनकी सेवा के योग्य बन सकूँगा।

हिन्दी में बौद्ध आगम ग्रन्थ ललितविस्तर का प्रकाशन स्वयं में ही एक घटना है। इसमें तथागत के गर्भवास से लेकर धर्मचक्र प्रवर्तन तक का इतिहास ललित शैली में वर्णित है, जो अपेक्षाकृत महायान की मान्यता पर आधारित है। धर्मप्रचारकों ने बुद्ध का लोकोत्तर चरित्र प्रभविष्णु बनाने के लिए चमत्कारों

प्राक्कथन

श्रीलंका के तेरह वर्ष (सन् ई० 1959 से 1972 तक) के व्यापक प्रवास में विद्यालंकार विश्वविद्यालय केलानिया के संस्कृत विभाग में अध्यक्ष तथा प्राध्यापक के कर्तव्यों को सम्पन्न करते हुए मुझे बहुत व्यस्त रहना पड़ा। वहाँ से षष्टिपूर्ति के अनन्तर हिमाचल प्रदेश के सोलन नगर में निवास का अवसर सुलभ हुआ।

इस समय मैंने अपने किए हुए कार्य पर दृष्टि डाली। बहुत सी सामग्री प्रकाशन योग्य है, यह जानकर हर्ष भी हुआ और चिन्ता भी हुई। मेरा एक ग्रन्थ बुद्धविजयकाव्यम् 1974 ई० में प्रकाशित हुआ। प्रकाशन में हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी ने जो सहायता दी उसका आभार मैं हृदय से सदा मानता रहूँगा। सौभाग्य से इस ग्रन्थ को सन् 1977 के पुरस्कार से भारतीय साहित्य अकादमी ने सम्मानित किया। मैंने उस समय उस साहित्य संस्थान को अभिवृद्धि का मंगलाशीर्वाद दिया था अभिवृद्धिरस्तु अस्य संस्थानस्य यत् सुभाषितकाराणां करोति पुरस्क्रियाम्।

जिस समय बुद्धविजय काव्य लोक दर्शन के लिए सम्पन्न हो रहा था, उस समय बौद्ध आगम ग्रन्थ ललितविस्तर को मैंने उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के तत्कालीन शास्त्री मंडल के अध्यक्ष पं० (डॉ०) हजारी प्रसाद द्विवेदी को भेज चुका था और आशा की थी कि वह शीघ्र ही प्रकाशित हो जाएगा। पर विलम्ब होता रहा और यह ग्रन्थ सन् 1977 में प्रेस में जा सका। अब यह अपने को प्रादुर्भूत करने मे प्रतिबल हो सका है। इसका मुझे हर्ष है पर पंडित जी हमारे बीच मे नहीं हैं, इसका दुःख भी है। वे इस ग्रन्थ को प्रकाशित देखना चाहते थे। पाण्डुलिपि उन्होंने पढ़ी थी और कहा था यह एक उत्तम कार्य हुआ है।

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान तथा उसके अधिकारियों के प्रति मैं कृतज्ञता प्रकट करना अपना परम कर्तव्य मानता हूँ, वे यदि परम यत्न से इस कार्य को सम्पन्न न करवाते तो इसे शायद ही लोकालोक देखने का क्षण प्राप्त होता। भेलूपुर, वाराणसी के महावीर प्रेस के अध्यक्ष तथा कार्यकर्ता धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने इस लम्बी अवधि मे पाण्डुलिपि को सुरक्षित रखा है तथा येन केन प्रकारेण मुद्रण सम्पन्न कर डाला।

पाण्डुलिपि को टाइप-लिखित रूप देने में मेरी पत्नी सुजाता ने जो श्रम किया है, उसके लिए धन्यवादों की वर्षा तो मैं उन पर करता ही रहता हूँ पर

प्रस्तावना

(1) ललितविस्तर में तथागत का स्वरूप

तथागत अपने जीवन-काल में ही धर्म के उपदेशक तथा संघ के प्रतिष्ठापक होने के कारण अपने शिष्यों द्वारा पूजे जाते थे, पर वह पूजा उन्हें गुरु मान कर ही की जाती थी। जिस प्रकार कोई अपने शिक्षक माता-पिता गुरु अथवा कल्याणमित्र की सेवा करता है, उसी प्रकार तथागत के शिष्य उन्हें लौकिक एवं पारलौकिक जीवन के शास्ता के रूप में देखते हुए उनकी सेवा करते थे। तथागत का लौकिक जीवन उनके सामने था। वे देखते कि भगवान् भोजन के निमित्त भिक्षा के लिए जाया करते हैं, रोग-दोष होने पर भैषज्य ग्रहण करते हैं, शरीर की रक्षा के लिए उचित समय पर सोते हैं, उचित समय पर उठते हैं, समय-समय पर शिष्यों को धर्म का उपदेश देते हैं। भगवान् के परिनिर्वाण के अनन्तर वे शिष्य जिन्होंने अपनी आँखों से तथागत को देखा था, तथागत की मानवी चर्या का स्मरण करते थे तथा उनके वे संस्मरण बहुत-कुछ त्रिपिटक मे बिखरे हुए पाये जाते है। पर चाहे पालि त्रिपिटक को लें, चाहे संस्कृत में उपलब्ध त्रिपिटक ग्रंथों को लें, दोनों में तथागत का दिव्य चरित्र निखरा हुआ प्रतीत होता है तथा मानव चरित्र उसमें लुका-छिपा दिखाई देता है ऐसा होते हुए भी पालित्रिपिटक में तथागत के मानव-जीवन से संबंध रखने वाली कितनी ही प्रधान घटनाएं सम्मुख आए बिना नही रहतीं। वहाँ हमे उस जीवन की झलक मिल जाती है, जिसे तथागत ने बिताया था। पैदल चलते हुए तथागत ने मध्य-देश के रज-रज को अपने चरण से पावन बना दिया था, उन्हें देवदत्त के संघ-भेदक कार्यो से बहुत कष्ट उठाना पडा था, भिक्षु-संघ के बीच छोटे-मोटे झगड़े उठ खडे होते थे तथा तथागत को उनका निपटारा करना पड़ता था, अपने सामने ही काल कर गए शिष्यों का अभाव मन मे करते हुए उनकी धातुओं पर स्तूपादि बनवाना पड़ता था, लोक मे जहाँ एक ओर प्रशंसा होती थी वहाँ दूसरी ओर निन्दा के क्षण भी दुर्लभ न रहते थे। इस प्रकार लोक की मधुरता तथा कटुता के बीच तथागत का जीवन बीता था। वे अपने उद्देश्य में बहुत कुछ सफल हुए उन्होंने एक विश्वजनीन धर्म तथा उसके संदेश देने वाले संघ की प्रतिष्ठा की थी।

तथागत के मानव-जीवन में उनकी महाकरुणा सभी को प्रभावित करती थी, उनकी महाप्रज्ञा के प्रभाव से शारिपुत्र तथा मौद्गल्यायन जैसे विद्वान् एवं

धर्मसाधना में लगे ब्राह्मण शिष्य बन गए थे, उनके वैराग्य ने रागवानों को भी आकृष्ट किया था, समान भाव से उनकी धर्मवर्षा से तृप्त होकर अपनी जात-पाँत भूल कर उनके शिष्यों ने एक भेद-भाव रहित संघ में अपने-आपको संगठित कर डाला था, गृहस्थ भी अपनी जात-पाँत भावना को तिलाञ्जलि देने के लिए मनोभूमि प्रस्तुत करने लगे थे, सारे समाज में एक परिवर्तन दिखाई देने लगा था और इस सब महान् परिवर्तन के पीछे तथागत का विश्वजनीन धर्म तथा उनका लोकोत्तर प्रभाव ही प्रधान कारण था।

उनके इस प्रभाव ने लोगों को मुग्ध कर डाला था। वे उन्हे लोकोत्तर समझने लगे थे। तथागत के प्रति उनके अनुयायियों की लोकोत्तर भावना ने ही उनके जन्म तथा उनके कर्म को दिव्य रूप मे देखने लगी थी। यह दिव्यरूपता आरंभ मे उनके उस आध्यात्मिक प्रभाव को ही लक्ष्य करती थी, जिसे हम आकार-प्रकार के द्वारा नहीं कह सकते। पर निराकार दिव्यता विचित्र कथाओं के प्रेमी भारतीय समाज मे आकार न धारण कर ले, यह उस युग मे संभव न था। ललितविस्तर में वस्तुतः तथागत के गर्भवास से लेकर धर्मचक्रप्रवर्तन तक के ऐतिहासिक वृत्तांतों को दिव्यभावों के साथ अलंकृत करके वर्णन करने का एक रमणीय यत्न किया गया है। इतिहास के साथ कविता का योग हो गया है। इतिहास की दृष्टि से जो तथागत धरती तथा धरती के मनुष्यों से घिरे रहते थे, वे कविता मे केवल मनुष्यों से ही नही प्रत्युत देवताओं से भी घिरे रहते है। उनके वचनों से मनुष्यों को ही तृप्ति नहीं होती, प्रत्युत देवता भी तृप्त होते है। कुछ अधिक स्पष्ट शब्द मे कहें तो तथागत इस धरती के भेदभाव से ऊपर थे, उनके वचनों को सुनने वाले इस धरती के भेदभाव से ऊपर उठ चुके थे। धरती के भेदभाव से ऊपर उठना ही वह देवत्व था, जिसे बौद्ध अभिप्राय के जानकार कवि ने देवी-देवताओ की पुरानी संज्ञाओं से प्रकट किया है। देवताओं की प्रवृत्ति यदि धरती के दूषणो को अपनाने लगे तो धरती का उद्धार कहाँ ? ऐसे निकृष्ट देवताओं को मार, मार सेना तथा मारवधुओं के रूप मे वर्णित कर, तथागत के द्वारा मारविजय कराने का भी यही अभिप्राय है कि तथागत को इस धरती के क्षुद्र स्वार्थो से ऊपर उठा हुआ समझा जाए। धरती के क्षुद्र स्वार्थो से ऊपर उठना ही तथागत की वह लोकोत्तरता है, जिसका बौद्ध कवि हृदय ने बौद्ध ग्रंथों में नाना भाव से वर्णन किया है। धरती से ऊपर उठ कर भी यदि तथागत धरती का कल्याण भूल कर किसी पर्वत-लयन मे समाधिस्थ हो गए होते, तो विश्व में कोई उन्हें न जान पाता। पर वे लोक-कल्याण के निमित्त लोक से ऊपर उठते हुए भी लोक में विचरण करते रहे। उनकी इस चर्या ने ही उनसे प्रवचन कराया और एक लोककल्याणकारी धर्म का अभ्युदय हुआ।

उनके अनुचरों ने उनका कितने ही अंशों तक अनुसरण किया। फलस्वरूप धर्म के प्रचारकों का एक संघ बना। पूर्व युग में यह संघ जहाँ गया वहाँ जीवन में नए प्राण डाल दिये।

इस धर्मप्रचारकों ने तथागत के जीवन को जिस प्रकार श्रोताओं को सुनाया था, उसका एक निदर्शन ललितविस्तर है। बौद्ध-धर्म के ग्रंथों में तथागत का जीवन नाना-भाव से वर्णित हुआ है पर सभी इस बात में एक मत हैं कि तथागत के जीवन में बारह प्रधान घटनाएँ घटी हैं। वे ये है—

(1) तुषित भवन में बोधिसत्त्व का निवास।
(2) तुषित भवन से अवतरण।
(3) महामाया देवी के गर्भ में प्रवेश।
(4) लुंबिनी मे बोधिसत्त्व का जन्म।
(5) नैपुण्य-प्रदर्शन तथा गोपा (यशोधरा) के साथ विवाह।
(6) अन्तःपुरविहार तथा चतुर्निमित्तदर्शन
(वृद्ध, रोगी, मृत एवं प्रव्रजित का दर्शन)।
(7) अभिनिष्क्रमण (गृहत्याग)।
(8) तपश्चर्या।
(9) मारविजय।
(10) बोधिप्राप्ति।
(11) धर्मचक्रप्रवर्तन।
(12) महापरिनिर्वाण।

इनमें से अंतिम घटना को छोड़ कर अन्य सबका वर्णन ललितविस्तर में सचमुच ललित ढंग से किया गया है। इस लालित्य में सर्वत्र मानव-भाव दिव्य-भाव में मग्न दिखाई देता है।

बोधिसत्त्व देवलोक से पृथिवी लोक पर जन्म लेते हैं और जन्म इसलिए लेते है। कि लोग कही यह न समझ बैठें कि तथागत तो देवता थे, हम तो मनुष्य है। हम वह पद नहीं पा सकते जो उन्होने प्राप्त किया था। लोकचित्त अकर्मण्य न हो, देवभाव से मनुष्य भाव को पुरुषार्थसिद्धि में, परमार्थ की प्राप्ति में हीन न समझने लगे, इस बात को आत्म-निदर्शन से बतलाने के लिए बोधिसत्त्व देवता के रूप में नहीं, प्रत्युत् मनुष्य के रूप में प्रकट होते है।

मनुष्य-योनि में जन्म लेने के लिए बोधिसत्त्व को दस मास गर्भवास में बसना पड़ता है। आयुर्वेदानुसार गर्भवास की अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न होती है। जैसा कि कहा गया है—

धर्मसाधना में लगे ब्राह्मण शिष्य बन गए थे, उनके वैराग्य ने रागवालों को भी आकृष्ट किया था, समान भाव से उनकी धर्मचर्या से तृप्त होकर अपनी जात-पाँत भूल कर उनके शिष्यो ने एक भेद-भाव रहित संघ में अपने-आपको संगठित कर डाला था, गृहस्थ भी अपनी जात-पाँत भावना को तिलाञ्जलि देने के लिए मनोभूमि प्रस्तुत करने लगे थे, सारे समाज में एक परिवर्तन दिखाई देने लगा था और इस सब महान् परिवर्तन के पीछे तथागत का विश्वजनीन धर्म तथा उनका लोकोत्तर प्रभाव ही प्रधान कारण था।

उनके इस प्रभाव ने लोगों को मुग्ध कर डाला था। वे उन्हें लोकोत्तर समझने लगे थे। तथागत के प्रति उनके अनुयायियों की लोकोत्तर भावना ने ही उनके जन्म तथा उनके कर्म को दिव्य रूप में देखने लगी थी। यह दिव्यरूपता आरंभ मे उनके उस आध्यात्मिक प्रभाव को ही लक्ष्य करती थी, जिसे हम आकार-प्रकार के द्वारा नही कह सकते। पर निराकार दिव्यता विचित्र कथाओं के प्रेमी भारतीय समाज में आकार न धारण कर ले, यह उस युग मे संभव न था। ललितविस्तर में वस्तुत. तथागत के गर्भवास से लेकर धर्मचक्रप्रवर्तन तक के ऐतिहासिक वृत्तांतों को दिव्यभावों के साथ अलंकृत करके वर्णन करने का एक रमणीय यत्न किया गया है। इतिहास के साथ कविता का योग हो गया है। इतिहास की दृष्टि से जो तथागत धरती तथा धरती के मनुष्यों से घिरे रहते थे, वे कविता में केवल मनुष्यों से ही नही प्रत्युत देवताओं से भी घिरे रहते हैं। उनके वचनों से मनुष्यो को ही तृप्ति नहीं होती, प्रत्युत देवता भी तृप्त होते हैं। कुछ अधिक स्पष्ट शब्द में कहे तो तथागत इस धरती के भेदभाव से ऊपर थे, उनके वचनों को सुनने वाले इस धरती के भेदभाव से ऊपर उठ चुके थे। धरती के भेदभाव से ऊपर उठना ही वह देवत्व था, जिसे बौद्ध अभिप्राय के जानकार कवि ने देवी-देवताओं की पुरानी संज्ञाओं से प्रकट किया है। देवताओं की प्रवृत्ति यदि धरती के दूषणो को अपनाने लगे तो धरती का उद्धार कहाँ? ऐसे निकृष्ट देवताओं को मार, मार सेना तथा मारवधुओं के रूप मे वर्णित कर, तथागत के द्वारा मारविजय कराने का भी यही अभिप्राय है कि तथागत को इस धरती के क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठा हुआ समझा जाए। धरती के क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठना ही तथागत की वह लोकोत्तरता है, जिसका बौद्ध कवि हृदय ने बौद्ध ग्रंथों में नाना भाव से वर्णन किया है। धरती से ऊपर उठ कर भी यदि तथागत धरती का कल्याण भूल कर किसी पर्वत-लयन मे समाधिस्थ हो गए होते, तो विश्व में कोई उन्हें न जान पाता। पर वे लोक-कल्याण के निमित्त लोक से ऊपर उठते हुए भी लोक में विचरण करते रहे। उनकी इस चर्या ने ही उनसे प्रवचन कराया और एक लोककल्याणकारी धर्म का अभ्युदय हुआ।

उनके अनुचरों ने उनका कितने ही अंशों तक अनुसरण किया। फलस्वरूप धर्म के प्रचारकों का एक संघ बना। पूर्व युग में यह संघ जहाँ गया वहाँ जीवन में नए प्राण डाल दिये।

इस धर्मप्रचारकों ने तथागत के जीवन को जिस प्रकार श्रोताओं को सुनाया था, उसका एक निदर्शन ललितविस्तर है। बौद्ध-धर्म के ग्रंथों में तथागत का जीवन नाना-भाव से वर्णित हुआ है पर सभी इस बात में एक मत हैं कि तथागत के जीवन में बारह प्रधान घटनाएँ घटी हैं। वे ये है—

(1) तुषित भवन में बोधिसत्त्व का निवास।
(2) तुषित भवन से अवतरण।
(3) महामाया देवी के गर्भ में प्रवेश।
(4) लुंबिनी में बोधिसत्त्व का जन्म।
(5) नैपुण्य-प्रदर्शन तथा गोपा (यशोधरा) के साथ विवाह।
(6) अन्तःपुरविहार तथा चतुर्निमित्तदर्शन
(वृद्ध, रोगी, मृत एवं प्रव्रजित का दर्शन)।
(7) अभिनिष्क्रमण (गृहत्याग)।
(8) तपश्चर्या।
(9) मारविजय।
(10) बोधिप्राप्ति।
(11) धर्मचक्रप्रवर्तन।
(12) महापरिनिर्वाण।

इनमें से अंतिम घटना को छोड़ कर अन्य सबका वर्णन ललितविस्तर में सचमुच ललित ढंग से किया गया है। इस लालित्य में सर्वत्र मानव-भाव दिव्य-भाव में मग्न दिखाई देता है।

बोधिसत्त्व देवलोक से पृथिवी लोक पर जन्म लेते है और जन्म इसलिए लेते है। कि लोग कही यह न समझ बैठें कि तथागत तो देवता थे, हम तो मनुष्य है। हम वह पद नही पा सकते जो उन्होने प्राप्त किया था। लोकचित्त अकर्मण्य न हो, देवभाव से मनुष्य भाव को पुरुषार्थसिद्धि में, परमार्थ की प्राप्ति में हीन न समझने लगे, इस बात को आत्म-निदर्शन से बतलाने के लिए बोधिसत्त्व देवता के रूप में नही, प्रत्युत् मनुष्य के रूप में प्रकट होते हैं।

मनुष्य-योनि में जन्म लेने के लिए बोधिसत्त्व को दस मास गर्भवास में बसना पड़ता है। आयुर्वेदानुसार गर्भवास की अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। जैसा कि कहा गया है—

धर्मसाधना में लगे ब्राह्मण शिष्य बन गए थे, उनके वैराग्य ने रागवानों को भी आकृष्ट किया था, समान भाव से उनकी धर्मवर्षा से तृप्त होकर अपनी जात-पाँत भूल कर उनके शिष्यो ने एक भेद-भाव रहित सघ में अपने-आपको संगठित कर डाला था, गृहस्थ भी अपनी जात-पाँत भावना को तिलाञ्जलि देने के लिए मनोभूमि प्रस्तुत करने लगे थे, सारे समाज में एक परिवर्तन दिखाई देने लगा था और इस सब महान् परिवर्तन के पीछे तथागत का विश्वजनीन धर्म तथा उनका लोकोत्तर प्रभाव ही प्रधान कारण था।

उनके इस प्रभाव ने लोगों को मुग्ध कर डाला था। वे उन्हें लोकोत्तर समझने लगे थे। तथागत के प्रति उनके अनुयायियों की लोकोत्तर भावना ने ही उनके जन्म तथा उनके कर्म को दिव्य रूप में देखने लगी थी। यह दिव्यरूपता आरंभ मे उनके उस आध्यात्मिक प्रभाव को ही लक्ष्य करती थी, जिसे हम आकार-प्रकार के द्वारा नहीं कह सकते। पर निराकार दिव्यता विचित्र कथाओं के प्रेमी भारतीय समाज में आकार न धारण कर ले, यह उस युग मे संभव न था। ललितविस्तर में वस्तुत. तथागत के गर्भवास से लेकर धर्मचक्रप्रवर्तन तक के ऐतिहासिक वृत्तांतों को दिव्यभावों के साथ अलंकृत करके वर्णन करने का एक रमणीय यत्न किया गया है। इतिहास के साथ कविता का योग हो गया है। इतिहास की दृष्टि से जो तथागत धरती तथा धरती के मनुष्यों से घिरे रहते थे, वे कविता मे केवल मनुष्यों से ही नही प्रत्युत देवताओं से भी घिरे रहते हैं। उनके वचनों से मनुष्यो को ही तृप्ति नहीं होती, प्रत्युत देवता भी तृप्त होते हैं। कुछ अधिक स्पष्ट शब्द मे कहें तो तथागत इस धरती के भेदभाव से ऊपर थे, उनके वचनों को सुनने वाले इस धरती के भेदभाव से ऊपर उठ चुके थे। धरती के भेदभाव से ऊपर उठना ही वह देवत्व था, जिसे बौद्ध अभिप्राय के जानकार कवि ने देवी-देवताओ की पुरानी संज्ञाओं से प्रकट किया है। देवताओ की प्रवृत्ति यदि धरती के दूषणो को अपनाने लगे तो धरती का उद्धार कहाँ? ऐसे निकृष्ट देवताओं को मार, मार सेना तथा मारवधुओं के रूप मे वर्णित कर, तथागत के द्वारा मारविजय कराने का भी यही अभिप्राय है कि तथागत को इस धरती के क्षुद्र स्वार्थो से ऊपर उठा हुआ समझा जाए। धरती के क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठना ही तथागत की वह लोकोत्तरता है, जिसका बौद्ध कवि हृदय ने बौद्ध ग्रंथों में नाना भाव से वर्णन किया है। धरती से ऊपर उठ कर भी यदि तथागत धरती का कल्याण भूल कर किसी पर्वत-लयन मे समाधिस्थ हो गए होते, तो विश्व में कोई उन्हें न जान पाता। पर वे लोक-कल्याण के निमित्त लोक से ऊपर उठते हुए भी लोक में विचरण करते रहे। उनकी इस चर्या ने ही उनसे प्रवचन कराया और एक लोककल्याणकारी धर्म का अभ्युदय हुआ।

उनके अनुचरों ने उनका कितने ही अंशों तक अनुसरण किया। फलस्वरूप धर्म के प्रचारकों का एक संघ बना। पूर्व युग में यह संघ जहाँ गया वहाँ जीवन में नए प्राण डाल दिये।

इस धर्मप्रचारकों ने तथागत के जीवन को जिस प्रकार श्रोताओं को सुनाया था, उसका एक निदर्शन ललितविस्तर है। बौद्ध-धर्म के ग्रंथों में तथागत का जीवन नाना-भाव से वर्णित हुआ है पर सभी इस बात में एक मत हैं कि तथागत के जीवन में बारह प्रधान घटनाएँ घटी हैं। वे ये हैं—

(1) तुषित भवन में बोधिसत्त्व का निवास।
(2) तुषित भवन से अवतरण।
(3) महामाया देवी के गर्भ में प्रवेश।
(4) लुंबिनी मे बोधिसत्त्व का जन्म।
(5) नैपुण्य-प्रदर्शन तथा गोपा (यशोधरा) के साथ विवाह।
(6) अन्तःपुरविहार तथा चतुर्निमित्तदर्शन
(वृद्ध, रोगी, मृत एवं प्रव्रजित का दर्शन)।
(7) अभिनिष्क्रमण (गृहत्याग)।
(8) तपश्चर्या।
(9) मारविजय।
(10) बोधिप्राप्ति।
(11) धर्मचक्रप्रवर्तन।
(12) महापरिनिर्वाण।

इनमे से अंतिम घटना को छोड़ कर अन्य सबका वर्णन ललितविस्तर में सचमुच ललित ढंग से किया गया है। इस लालित्य में सर्वत्र मानव-भाव दिव्य-भाव में मग्न दिखाई देता है।

बोधिसत्त्व देवलोक से पृथिवी लोक पर जन्म लेते है और जन्म इसलिए लेते है। कि लोग कहीं यह न समझ बैठें कि तथागत तो देवता थे, हम तो मनुष्य हैं। हम वह पद नहीं पा सकते जो उन्होने प्राप्त किया था। लोकचित्त अकर्मण्य न हो, देवभाव से मनुष्य भाव को पुरुषार्थसिद्धि में, परमार्थ की प्राप्ति में हीन न समझने लगे, इस बात को आत्म-निदर्शन से बतलाने के लिए बोधिसत्त्व देवता के रूप में नहीं, प्रत्युत् मनुष्य के रूप में प्रकट होते हैं।

मनुष्य-योनि में जन्म लेने के लिए बोधिसत्त्व को दस मास गर्भवास में बसना पड़ता है। आयुर्वेदानुसार गर्भवास की अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। जैसा कि कहा गया है—

धर्मसाधना मे लगे ब्राह्मण शिष्य बन गए थे, उनके वैराग्य ने रागवानों को भी आकृष्ट किया था, समान भाव से उनकी धर्मचर्या से तृप्त होकर अपनी जात-पांत भूल कर उनके शिष्यो ने एक भेद-भाव रहित सघ में अपने-आपको संगठित कर डाला था, गृहस्थ भी अपनी जात-पांत भावना को तिलाञ्जलि देने के लिए मनोभूमि प्रस्तुत करने लगे थे, सारे समाज में एक परिवर्तन दिखाई देने लगा था और इस सब महान् परिवर्तन के पीछे तथागत का विश्वजनीन धर्म तथा उनका लोकोत्तर प्रभाव ही प्रधान कारण था।

उनके इस प्रभाव ने लोगों को मुग्ध कर डाला था। वे उन्हें लोकोत्तर समझने लगे थे। तथागत के प्रति उनके अनुयायियों की लोकोत्तर भावना ने ही उनके जन्म तथा उनके कर्म को दिव्य रूप में देखने लगी थी। यह दिव्यरूपता आरंभ मे उनके उस आध्यात्मिक प्रभाव को ही लक्ष्य करती थी, जिसे हम आकार-प्रकार के द्वारा नही कह सकते। पर निराकार दिव्यता विचित्र कथाओं के प्रेमी भारतीय समाज में आकार न धारण कर ले, यह उस युग मे संभव न था। ललितविस्तर में वस्तुतः तथागत के गर्भवास से लेकर धर्मचक्रप्रवर्तन तक के ऐतिहासिक वृत्तांतों को दिव्यभावों के साथ अलंकृत करके वर्णन करने का एक रमणीय यत्न किया गया है। इतिहास के साथ कविता का योग हो गया है। इतिहास की दृष्टि से जो तथागत धरती तथा धरती के मनुष्यों से घिरे रहते थे, वे कविता मे केवल मनुष्यों से ही नही प्रत्युत देवताओं से भी घिरे रहते हैं। उनके वचनों से मनुष्यो को ही तृप्ति नहीं होती, प्रत्युत देवता भी तृप्त होते है। कुछ अधिक स्पष्ट शब्द मे कहें तो तथागत इस धरती के भेदभाव से ऊपर थे, उनके वचनों को सुनने वाले इस धरती के भेदभाव से ऊपर उठ चुके थे। धरती के भेदभाव से ऊपर उठना ही वह देवत्व था, जिसे बौद्ध अभिप्राय के जानकार कवि ने देवी-देवताओं की पुरानी संज्ञाओं से प्रकट किया है। देवताओ की प्रवृत्ति यदि धरती के दूषणो को अपनाने लगे तो धरती का उद्धार कहां? ऐसे निकृष्ट देवताओं को मार, मार सेना तथा मारवधुओं के रूप मे वर्णित कर, तथागत के द्वारा मारविजय कराने का भी यही अभिप्राय है कि तथागत को इस धरती के क्षुद्र स्वार्थो से ऊपर उठा हुआ समझा जाए। धरती के क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठना ही तथागत की वह लोकोत्तरता है, जिसका बौद्ध कवि हृदय ने बौद्ध ग्रंथों में नाना भाव से वर्णन किया है। धरती से ऊपर उठ कर भी यदि तथागत धरती का कल्याण भूल कर किसी पर्वत-लयन मे समाधिस्थ हो गए होते, तो विश्व में कोई उन्हें न जान पाता। पर वे लोक-कल्याण के निमित्त लोक से ऊपर उठते हुए भी लोक में विचरण करते रहे। उनकी इस चर्या ने ही उनसे प्रवचन कराया और एक लोककल्याणकारी धर्म का अभ्युदय हुआ।

उनके अनुचरों ने उनका कितने ही अंशों तक अनुसरण किया। फलस्वरूप धर्म के प्रचारकों का एक संघ बना। पूर्व युग में यह संघ जहां गया वहां जीवन में नए प्राण डाल दिये।

इस धर्मप्रचारकों ने तथागत के जीवन को जिस प्रकार श्रोताओं को सुनाया था, उसका एक निदर्शन ललितविस्तर है। बौद्ध-धर्म के ग्रंथों में तथागत का जीवन नाना-भाव से वर्णित हुआ है पर सभी इस बात में एक मत है कि तथागत के जीवन में बारह प्रधान घटनाएँ घटी हैं। वे ये है—

(1) तुषित भवन में बोधिसत्त्व का निवास।
(2) तुषित भवन से अवतरण।
(3) महामाया देवी के गर्भ में प्रवेश।
(4) लुंबिनी में बोधिसत्त्व का जन्म।
(5) नैपुण्य-प्रदर्शन तथा गोपा (यशोधरा) के साथ विवाह।
(6) अन्तःपुरविहार तथा चतुर्निमित्तदर्शन
(वृद्ध, रोगी, मृत एवं प्रव्रजित का दर्शन)।
(7) अभिनिष्क्रमण (गृहत्याग)।
(8) तपश्चर्या।
(9) मारविजय।
(10) बोधिप्राप्ति।
(11) धर्मचक्रप्रवर्तन।
(12) महापरिनिर्वाण।

इनमें से अंतिम घटना को छोड़ कर अन्य सबका वर्णन ललितविस्तर में सचमुच ललित ढंग से किया गया है। इस लालित्य में सर्वत्र मानव-भाव दिव्य-भाव में मग्न दिखाई देता है।

बोधिसत्त्व देवलोक से पृथिवी लोक पर जन्म लेते हैं और जन्म इसलिए लेते हैं। कि लोग कहीं यह न समझ बैठें कि तथागत तो देवता थे, हम तो मनुष्य हैं। हम वह पद नहीं पा सकते जो उन्होंने प्राप्त किया था। लोकचित्त अकर्मण्य न हो, देवभाव से मनुष्य भाव को पुरुषार्थसिद्धि में, परमार्थ की प्राप्ति में हीन न समझने लगे, इस बात को आत्म-निदर्शन से बतलाने के लिए बोधिसत्त्व देवता के रूप में नहीं, प्रत्युत् मनुष्य के रूप में प्रकट होते हैं।

मनुष्य-योनि में जन्म लेने के लिए बोधिसत्त्व को दस मास गर्भवास में बसना पड़ता है। आयुर्वेदानुसार गर्भवास की अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। जैसा कि कहा गया है—

धर्मसाधना में लगे ब्राह्मण शिष्य बन गए थे, उनके वैराग्य ने रागवानों को भी आकृष्ट किया था, समान भाव से उनकी धर्मवर्षा से तृप्त होकर अपनी जात-पाँत भूल कर उनके शिष्यों ने एक भेद-भाव रहित संघ में अपने-आपको संगठित कर डाला था, गृहस्थ भी अपनी जात-पाँत भावना को तिलाञ्जलि देने के लिए मनोभूमि प्रस्तुत करने लगे थे, सारे समाज में एक परिवर्तन दिखाई देने लगा था और इस सब महान् परिवर्तन के पीछे तथागत का विश्वजनीन धर्म तथा उनका लोकोत्तर प्रभाव ही प्रधान कारण था।

उनके इस प्रभाव ने लोगों को मुग्ध कर डाला था। वे उन्हे लोकोत्तर समझने लगे थे। तथागत के प्रति उनके अनुयायियों की लोकोत्तर भावना ने ही उनके जन्म तथा उनके कर्म को दिव्य रूप में देखने लगी थी। यह दिव्यरूपता आरंभ मे उनके उस आध्यात्मिक प्रभाव को ही लक्ष्य करती थी, जिसे हम आकार-प्रकार के द्वारा नहीं कह सकते। पर निराकार दिव्यता विचित्र कथाओं के प्रेमी भारतीय समाज में आकार न धारण कर ले, यह उस युग में संभव न था। ललितविस्तर में वस्तुतः तथागत के गर्भवास से लेकर धर्मचक्रप्रवर्तन तक के ऐतिहासिक वृत्तांतों को दिव्यभावों के साथ अलंकृत करके वर्णन करने का एक रमणीय यत्न किया गया है। इतिहास के साथ कविता का योग हो गया है। इतिहास की दृष्टि से जो तथागत धरती तथा धरती के मनुष्यों से घिरे रहते थे, वे कविता मे केवल मनुष्यों से ही नही प्रत्युत देवताओं से भी घिरे रहते हैं। उनके वचनों से मनुष्यों को ही तृप्ति नही होती, प्रत्युत देवता भी तृप्त होते हैं। कुछ अधिक स्पष्ट शब्द मे कहें तो तथागत इस धरती के भेदभाव से ऊपर थे, उनके वचनों को सुनने वाले इस धरती के भेदभाव से ऊपर उठ चुके थे। धरती के भेदभाव से ऊपर उठना ही वह देवत्व था, जिसे बौद्ध अभिप्राय के जानकार कवि ने देवी-देवताओं की पुरानी संज्ञाओं से प्रकट किया है। देवताओं की प्रवृत्ति यदि धरती के दूषणों को अपनाने लगे तो धरती का उद्धार कहाँ ? ऐसे निकृष्ट देवताओं को मार, मार सेना तथा मारवधुओं के रूप मे वर्णित कर, तथागत के द्वारा मारविजय कराने का भी यही अभिप्राय है कि तथागत को इस धरती के क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठा हुआ समझा जाए। धरती के क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठना ही तथागत की वह लोकोत्तरता है, जिसका बौद्ध कवि हृदय ने बौद्ध ग्रंथों में नाना भाव से वर्णन किया है। धरती से ऊपर उठ कर भी यदि तथागत धरती का कल्याण भूल कर किसी पर्वत-लयन मे समाविस्थ हो गए होते, तो विश्व में कोई उन्हें न जान पाता। पर वे लोक-कल्याण के निमित्त लोक से ऊपर उठते हुए भी लोक में विचरण करते रहे। उनकी इस चर्या ने ही उनसे प्रवचन कराया और एक लोककल्याणकारी धर्म का अभ्युदय हुआ।

उनके अनुचरों ने उनका कितने ही अंशों तक अनुसरण किया। फलस्वरूप धर्म के प्रचारकों का एक संघ बना। पूर्व युग में यह संघ जहाँ गया वहाँ जीवन में नए प्राण डाल दिये।

इस धर्मप्रचारकों ने तथागत के जीवन को जिस प्रकार श्रोताओं को सुनाया था, उसका एक निदर्शन ललितविस्तर है। बौद्ध-धर्म के ग्रंथों में तथागत का जीवन नाना-भाव से वर्णित हुआ है पर सभी इस बात में एक मत है कि तथागत के जीवन में बारह प्रधान घटनाएँ घटी हैं। वे ये हैं—

(1) तुषित भवन में बोधिसत्व का निवास।
(2) तुषित भवन से अवतरण।
(3) महामाया देवी के गर्भ में प्रवेश।
(4) लुंबिनी में बोधिसत्व का जन्म।
(5) नैपुण्य-प्रदर्शन तथा गोपा (यशोधरा) के साथ विवाह।
(6) अन्तःपुरविहार तथा चतुर्निमित्तदर्शन
    (वृद्ध, रोगी, मृत एवं प्रव्रजित का दर्शन)।
(7) अभिनिष्क्रमण (गृहत्याग)।
(8) तपश्चर्या।
(9) मारविजय।
(10) बोधिप्राप्ति।
(11) धर्मचक्रप्रवर्तन।
(12) महापरिनिर्वाण।

इनमें से अंतिम घटना को छोड़ कर अन्य सबका वर्णन ललितविस्तर में सचमुच ललित ढंग से किया गया है। इस लालित्य में सर्वत्र मानव-भाव दिव्य-भाव में मग्न दिखाई देता है।

बोधिसत्व देवलोक से पृथिवी लोक पर जन्म लेते हैं और जन्म इसलिए लेते हैं। कि लोग कहीं यह न समझ बैठें कि तथागत तो देवता थे, हम तो मनुष्य हैं। हम वह पद नहीं पा सकते जो उन्होंने प्राप्त किया था। लोकचित्त अकर्मण्य न हो, देवभाव से मनुष्य भाव को पुरुषार्थसिद्धि में, परमार्थ की प्राप्ति में हीन न समझने लगे, इस बात को आत्म-निदर्शन से बतलाने के लिए बोधिसत्व देवता के रूप में नहीं, प्रत्युत् मनुष्य के रूप में प्रकट होते हैं।

मनुष्य-योनि में जन्म लेने के लिए बोधिसत्व को दस मास गर्भवास में बसना पड़ता है। आयुर्वेदानुसार गर्भवास की अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। जैसा कि कहा गया है—

अव्यक्तः प्रथमे मासि सप्ताहात् कललीभवेत् ।
द्वितीये मासि कललाद् घनः पेश्यथवार्बुदम् ॥
व्यक्तीभवति मासेऽस्य तृतीये गात्रपञ्चकम् ।
मूर्धा द्वे सक्थिनी बाहू सर्वसूक्ष्माङ्गजन्म च ॥
सममेव हि मूर्धाद्यैर्ज्ञानं च सुखदुःखयोः ।
चतुर्थे व्यक्तताङ्गानां चेतनायाश्च पञ्चमे ॥
षष्ठे स्नायुसिरारोमबलवर्णनखत्वचाम् ।
सर्वैः सर्वाङ्गसंपूर्णभावैः पुष्यति सप्तमे ॥
ओजोऽष्टमे संचरति मातापुत्रौ मुहुः क्रमात् ।
तस्मिंस्त्वेकाहयातेऽपि कालः सूतेरतः परम् ॥

(अष्टाङ्गहृदय, शारीरस्थान, अध्याय 1)

गर्भ एक सप्ताह में कलल (चिपचिपा कीचड़) जैसा होकर पहले मास भर मे अन्य किसी अवस्था में प्रकट नहीं होता, दूसरे मास में वह गांठ जैसा हो जाता है जिसे घन, पेशी अथवा अर्बुद नाम से कहा जाता है, तृतीय मास में शिर, दोनों टांगें तथा दोनों भुजाएँ ये पांच अंग प्रकट हो जाते है, सभी अङ्ग सूक्ष्म रूप से निकल आते है, तथा शिर आदि अङ्गों के साथ सुख और दुःख का ज्ञान होने लगता है, चौथे मास में सभी (सूक्ष्म) अङ्ग स्पष्ट हो जाते है तथा पांचवें मास में चेतना (मनःक्रिया) होने लगती है, छठे मास में स्नायु, सिरा, रोम, वल, वर्ण, नख तथा त्वचाएँ व्यक्त हो जाती है, सातवें मास में सब अङ्गों को पूर्ण करने वाले तत्वो से गर्भ पुष्ट हो जाता है, आठवें मास में माता से पुत्र में तथा पुत्र से माता में बारंबार ओज का संचार होता रहता है। इसके अनंतर एक दिन भी अधिक हो जाए तो प्रसव-काल समझना चाहिए। यह सब वैज्ञानिक तथ्य है जिसमें अन्यथाभाव सभव नही । पर ललितविस्तर के कवि के अनुसार बोधिसत्व का शरीर प्रारंभ से ही परिपूर्णांग हो, माता की दाहिनी कोख में, सहजोत्पन्न कूटागार में पर्यङ्क पर विराजमान होता है, वहाँ देवता आ-आकर उपासना करते है, नाना दिशाओ से आकर अन्य बोधिसत्व उपासना करते हैं। उस गर्भवास में भी बोधिसत्व धर्म से देवगणों तथा बोधिसत्व गणों का अनुशासन करते थे। जब बोधिसत्व महामाया देवी के गर्भ में थे तब उनमें भी अनेक दिव्य शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ था। रोगियों को यदि छू देती थी, तो उसका रोग दूर हो जाता था, उनके हाथ का दिया तिनका भी भैषज्य बन जाता था। इस प्रकार दिव्यभाव से गर्भ में निवास करते हुए लुंबिनी-वन में देवगणों से अभिनन्दित, नानाप्रकार की चमत्कारी घटनाओं से

पूर्ण तथागत का जन्म हुआ। त्रिविक्रम विष्णु से भी बढ़कर बताने के लिए कविभाषा में यह भी कहा गया कि उत्पन्न हुए तथागत सात क्रम (क़दम) चले।

तथागत का जन्म हुआ। अब उन्हें दो कार्य करने थे। एक था लोकसंग्रह-कृत्य, दूसरा था बुद्धकृत्य। लोक संग्रह के लिए ही तथागत पाठशाला में पढ़ने गए, यद्यपि विचित्र कथा कहने वाले बौद्ध कवि के लिए, वे सभी विद्याओं में पारंगत थे। यशोधरा के साथ विवाह कर, राहुल के पिता बनकर भी वे लोक-बंधन मे बँधे न थे। अंततः घर छोड़ कर निकल पड़े। ये सभी घटनाएँ नाना प्रकार के दिव्य चरित्रों से जुड़ी हुई है। घर से निकल कर जो कुछ उन्होंने किया वे सब बुद्धकृत्य से संबंध रखने वाली घटनाएँ हैं। सर्वत्र उनकी उपासना मनुष्य ही नहीं देवता भी करते रहे हैं यह बात कोई भूल न जाए मानो इसी लिए विचित्र-चरित्रकार कवि ने नाना भाव से उनके मानव चरित्र के साथ दिव्य चरित्र जोड दिया है। दिव्य चरित्रों के नाना वर्णनों के होते हुए भी ललित-विस्तर में मानवजीवन का सूक्ष्म सूत्र सर्वथा भुलाया नही गया है। तथागत का मानव जीवन सर्वथैव लीला है, वह कोरी भक्तों को ढारस देने के लिए मायामयी भूमिका है—यह बात ललितविस्तर नही कहता। इस बात को सद्धर्मपुण्डरीक मे कहा गया है जिसका उद्देश्य तथागत का ललित जीवन कहना नही है, प्रत्युत् तथागत को जीवनलीला से ऊपर उठा कर, सर्वथा एक जीवित आदर्श के रूप मे स्थापित करना है। अस्तु, बौद्धवाङ्मय मे हमे तथागत के तीन रूप में दर्शन होते हैं—मानवरूप मे, दिव्यरूप मे, दिव्यमानवभावातीत रूप मे। ललितविस्तर में मुख्य रूप से दिव्य भाव का विस्तार है। हीनयान संप्रदाय में मानव रूप की प्रधानता है। महायान में दिव्यमानवभावातीत रूप में तथागत की प्रतिष्ठा की गई है। ललितविस्तर मे हीनयान मे प्रसिद्ध तथागत की जीवन संबंधी घटनाओं को स्वीकार किया गया है पर उन घटनाओं को दिव्यचरित्रों से अलंकृत करके कहा गया है। इस दृष्टि से यह ग्रंथ महायान संप्रदाय मे परम प्रिय होने पर भी अपना संबंध हीनयान से पृथक् नही करता। इसमे वर्णित तथागत मानव होते हुए भी दिव्य है अथवा दिव्य होते हुए भी मानव है।

(2) ललितविस्तर तथा उसकी व्याख्या

ललितविस्तर सत्ताईस अध्यायों में विभक्त एक रमणीय ग्रंथ है। प्रत्येक अध्याय में दो भाग है—गद्यग्रंथ तथा पद्यग्रंथ। पद्यग्रंथ ललितविस्तर की परंपरा मे स्मृत मूल रूप है। गद्य में जो कुछ कहा गया है, उसके प्रमाण में ही प्रायः पद्यग्रंथ को उद्धृत किया गया है। इस अवस्था मे जो कुछ पद्यग्रंथ मे है उसकी हीं

अव्यक्तः प्रथमे मासि सप्ताहात् कललीभवेत् ।
द्वितीये मासि कललाद् घनः पेश्यथवार्बुदम् ॥
व्यक्तीभवति मासेऽस्य तृतीये गात्रपञ्चकम् ।
मूर्धा द्वे सक्थिनी बाहू सर्वसूक्ष्माङ्गजन्म च ॥
सममेव हि मूर्धाद्यैर्ज्ञानं च सुखदुःखयोः ।
चतुर्थे व्यक्तताङ्गानां चेतनायाश्च पञ्चमे ॥
षष्ठे ,स्नायुसिरारोमबलवर्णनखत्वचाम् ।
सर्वैः सर्वाङ्गसंपूर्णभावैः पुष्यति सप्तमे ॥
ओजोऽष्टमे संचरति मातापुत्रौ मुहुः क्रमात् ।
तस्मिंस्त्वेकाहयातेऽपि कालः सूतेरतः परम् ॥

(अष्टाङ्गहृदय, शारीरस्थान, अध्याय 1)

गर्भ एक सप्ताह में कलल (चिपचिपा कीचड़) जैसा होकर पहले मास भर मे अन्य किसी अवस्था में प्रकट नहीं होता, दूसरे मास में वह गांठ जैसा हो जाता है जिसे घन, पेशी अथवा अर्बुद नाम से कहा जाता है, तृतीय मास में शिर, दोनो टांगें तथा दोनों भुजाएँ ये पाँच अंग प्रकट हो जाते है, सभी अङ्ग सूक्ष्म रूप से निकल आते है, तथा शिर आदि अङ्गो के साथ सुख और ·दुःख का ज्ञान होने लगता है, चौथे मास में सभी (सूक्ष्म) अङ्ग स्पष्ट हो जाते है तथा पांचवें मास मे चेतना (मनःक्रिया) होने लगती है, छठे मास में स्नायु, सिरा, रोम, बल, वर्ण, नख तथा त्वचाएँ व्यक्त हो जाती है, सातवें मास में सब अङ्गों को पूर्ण करने वाले तत्त्वो से गर्भ पुष्ट हो जाता है, आठवे मास में माता से पुत्र में तथा पुत्र से माता में वारंबार ओज का संचार होता रहता है। इसके अनंतर एक दिन भी अधिक हो जाए तो प्रसव-काल समझना चाहिए। यह सब वैज्ञानिक तथ्य है जिसमें अन्यथाभाव संभव नही । पर ललितविस्तर के कवि के अनुसार बोधिसत्त्व का शरीर प्रारंभ से ही परिपूर्णांग हो, माता की दाहिनी कोख में, सहजोत्पन्न कूटागार में पर्यङ्क पर विराजमान होता है, वहाँ देवता आ-आकर उपासना करते है, नाना दिशाओ से आकर अन्य बोधिसत्त्व उपासना करते है। उस गर्भवास में भी बोधिसत्त्व धर्म से देवगणों तथा बोधिसत्त्व गणों का अनुशासन करते थे। जब बोधिसत्त्व महामाया देवी के गर्भ में थे तब उनमें भी अनेक दिव्य शक्तियो का प्रादुर्भाव हुआ था। रोगियों को यदि छू देती थी, तो उसका रोग दूर हो जाता था, उनके हाथ का दिया तिनका भी भैषज्य बन जाता था। इस प्रकार दिव्यभाव से गर्भ में निवास करते हुए लुंबिनी-वन में देवगणों से अभिनन्दित, नानाप्रकार की चमत्कारी घटनाओं से

पूर्ण तथागत का जन्म हुआ। त्रिविक्रम विष्णु से भी बढ़कर बताने के लिए कविभाषा में यह भी कहा गया कि उत्पन्न हुए तथागत सात क्रम (क़दम) चले।

तथागत का जन्म हुआ। अब उन्हे दो कार्य करने थे। एक था लोकसंग्रह-कृत्य, दूसरा था बुद्धकृत्य। लोक संग्रह के लिए ही तथागत पाठशाला में पढ़ने गए, यद्यपि विचित्र कथा कहने वाले बौद्ध कवि के लिए, वे सभी विद्याओं में पारंगत थे। यशोधरा के साथ विवाह कर, राहुल के पिता बनकर भी वे लोक-बंधन मे बँधे न थे। अंतत घर छोड़ कर निकल पड़े। ये सभी घटनाएँ नाना प्रकार के दिव्य चरित्रों से जुड़ी हुई है। घर से निकल कर जो कुछ उन्होंने किया वे सब बुद्धकृत्य से संबंध रखने वाली घटनाएँ है। सर्वत्र उनकी उपासना मनुष्य ही नहीं देवता भी करते रहे है—यह बात कोई भूल न जाए मानो इसी लिए विचित्र-चरित्रकार कवि ने नाना भाव से उनके मानव चरित्र के साथ दिव्य चरित्र जोड दिया है। दिव्य चरित्रों के नाना वर्णनों के होते हुए भी ललित-विस्तर में मानवजीवन का सूक्ष्म सूत्र सर्वथा भुलाया नही गया है। तथागत का मानव जीवन सर्वथैव लीला है, वह कोरी भक्तों को ढारस देने के लिए मायामयी भूमिका है—यह बात ललितविस्तर नहीं कहता। इस बात को सद्धर्मपुण्डरीक मे कहा गया है जिसका उद्देश्य तथागत का ललित जीवन कहना नही है, प्रत्युत् तथागत को जीवनलीला से ऊपर उठा कर, सर्वथा एक जीवित आदर्श के रूप में स्थापित करना है। अस्तु, बौद्धवाङ्मय मे हमे तथागत के तीन रूप में दर्शन होते है—मानवरूप में, दिव्यरूप मे, दिव्यमानवभावातीत रूप मे। ललितविस्तर में मुख्य रूप से दिव्य भाव का विस्तार है। हीनयान संप्रदाय में मानव रूप की प्रधानता है। महायान मे दिव्यमानवभावातीत रूप में तथागत की प्रतिष्ठा की गई है। ललितविस्तर मे हीनयान में प्रसिद्ध तथागत की जीवन संबंधी घटनाओं को स्वीकार किया गया है पर उन घटनाओं को दिव्यचरित्रों से अलंकृत करके कहा गया है। इस दृष्टि से यह ग्रंथ महायान संप्रदाय में परम प्रिय होने पर भी अपना संबंध हीनयान से पृथक् नही करता। इसमे वर्णित तथागत मानव होते हुए भी दिव्य है अथवा दिव्य होते हुए भी मानव है।

(2) ललितविस्तर तथा उसकी व्याख्या

ललितविस्तर सत्ताईस अध्यायों में विभक्त एक रमणीय ग्रंथ है। प्रत्येक अध्याय में दो भाग है—गद्यग्रंथ तथा पद्यग्रंथ। पद्यग्रंथ ललितविस्तर की परंपरा में स्मृत मूल रूप है। गद्य में जो कुछ कहा गया है, उसके प्रमाण में ही प्रायः पद्यग्रंथ को उद्धृत किया गया है। इस अवस्था मे जो कुछ पद्यग्रंथ में है उसकी ही

विस्तार के साथ गद्य ग्रंथ में पुनरुक्ति होना स्वाभाविक बात है। ग्रंथ का मूल वस्तुतः गाथाएँ ही है।

गद्यग्रंथ की भाषा लौकिक संस्कृत है, यद्यपि उसमें बहुसंख्यक ऐसे शब्द मिलते हैं जिनका पता, श्रौत-स्मार्त परंपरा में पले हुए विद्वानों के ग्रंथों में नहीं मिलता। इस प्रकार के शब्दों का संकलन महाव्युत्पत्ति नाम के ग्रंथ में है। इस प्रकार के शब्द तथागत तथा उनके अनुयायियों के प्रवचनों के आधार पर संकलित किए गए थे, जो मूल रूप में उस भाषा में थे, जिसे तथागत तथा उनके अनुयायी मध्यदेश में चारिका करते हुए बोला करते थे।

पद्य ग्रंथ की भाषा पर संस्कृत का प्रभाव होते हुए भी वह लौकिक संस्कृत नहीं है। वह वस्तुत. तथागत तथा उनके अनुयायियों के द्वारा बोली-चाली जाने वाली भाषा का ऐसा संस्कृत रूप है जिसमें केवल संस्कृत-लक्षण के आधार पर ही नहीं प्रत्युत प्राकृत-लक्षण के आधार पर शब्द रूपावली तथा धातु रूपावली का विस्तार कर डाला गया है। इसका फल यह हुआ है कि जो कुछ लौकिक संस्कृत में है, वह तो यहाँ पाया ही जाता है, पर प्राकृत में अर्थात् पालि तथा अन्य विविध मध्यम-भारती के रूपों में जो कुछ पाया जाता है उसका भी विकृत रूप में एक अंश यहाँ दृष्टिपथ में आता है। इस दृष्टि से ललितविस्तर की भाषा में शब्द समूह तथा व्याकरण दृष्टि से संस्कृत लक्षण ही नहीं प्रत्युत् प्राकृत लक्षण भी पाये जाते हैं।

एक संस्कृतज्ञ जब इस भाषा का अध्ययन एवं अध्यापन करने बैठता है तब वह संस्कृत से तुलना किए बिना नहीं रह पाता। संस्कृत के पाणिनीय स्वरूप को स्थिर मानक मान कर ही वह पूर्ववर्ती तथा परवर्ती भाषाओं को देखता है। इस दृष्टि से देखने में इस भाषा के अध्ययन के कुछ सूत्र मिल जाते हैं। इन सूत्रों को यहाँ निर्देश करना आवश्यक है।

(1) प्रथम सूत्र—पदों में कहीं-कहीं शुद्ध संस्कृत की छाप है। यथा-शुद्धसत्त्वः, संनिपण्णः, ऋषिः, महायशोभिः, कतमत् कुलम्। ऐसे पदों में प्रकृतियाँ भी संस्कृत की हैं तथा प्रत्यय भी संस्कृत के हैं।[1]

1. यहाँ पर उदाहरण ललितविस्तर के तृतीय अध्याय की दो गाथाओं से लिए गए हैं। उनका संस्कृत छाया सहित पाठ यहाँ दिया जा रहा है—

मूल	छाया
प्रासादि धर्मोच्चयि शुद्धसत्त्वः	प्रासादे धर्मोच्चये शुद्धसत्त्वः
सुवर्मसिंहासनि संनिपण्णः।	सुवर्मसिंहासने संनिपण्णः।

(2) **द्वितीय सूत्र**—पदों में कहीं-कहीं प्रकृतियाँ तो संस्कृत की मिल जाती हैं पर प्रत्यय असंस्कृत के होते हैं। असंस्कृत से अभिप्राय पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं से भी है तथा उन बोलियों मे भी है जिनका लिखित साहित्य नही है, पर जिनकी कल्पना की जा सकती है। यथा प्रासादि, धर्मोच्चयि, सुधर्मसिंहासनि। इनकी प्रकृतियाँ प्रासाद, धर्मोच्चय, सुधर्मसिंहासन तो संस्कृत की है पर इनके अंग के साथ सुन पड़ने वाला इकार संस्कृत मे नही सुनाई पड़ता। ये सब रूप सप्तमी विभक्ति के है। संस्कृत मे प्रासादे, धर्मोच्चये, सुधर्मसिंहासने आदि एकारांत रूप होते हैं। इसी प्रकार उपविष्टान, इस पद मे प्रकृति उपविष्ट तो संस्कृत की है। प्रत्यय परंतु संस्कृत का नही है। संस्कृत में रूप उपविष्टानाम् होगा जो कि षष्ठी विभक्ति का बहुवचन है। इसी प्रकार सत्वेभि पद मे प्रकृति सत्व संस्कृत की है। प्रत्यय एभि का उद्भव वैदिक एभिः है पर यहाँ पालि अथवा प्राकृत के संसर्ग से आया हुआ है। क्रियापदो की भी यही दशा है। यथा—अभूषि। यहाँ प्रकृति भू तो संस्कृत की है पर प्रत्यय षि संस्कृत का नहीं है। अभूषि पद की तुलना हम पालि भाषा के अहोसि से जैसे-तैसे कर सकते है पर वह संस्कृत के अभूत् से बहुत दूर है, यह पद अद्यतनी (लुङ्) का है और अपने आप मे अद्वितीय है।

(3) **तृतीय सूत्र**—पदों मे कहीं-कही संस्कृत के प्रत्यय होते हुए भी प्रकृतियाँ सर्वथा संस्कृत की नही होती। यथा-संप्रजानम्। इसमे प्रत्यय तो नपुंसक लिंग की प्रथमा विभक्ति का (म्, अम्) है पर प्रकृति संप्रजान सस्कृत की नही है। इसका संबंध संस्कृत के ज्ञा-धातु से अवश्य है पर रूप पालि के संपजान से मेल खाता है। इस प्रकार की नाम-प्रकृतियों तथा आख्यात-प्रकृतियो का बहुत कुछ परिचय महाव्युत्पत्ति के अनुशीलन से हो सकता है।[1]

सभागदेवैः परिवारितो ऋषिः	सभाग्यदेवैः परिवारित ऋषिः
संबोधिसत्त्वभि महायशोभिः ॥34॥	संबोधिसत्त्वैर्महायशोभिः ॥34॥
तत्रोपविष्टान अभूषि चिंता	तत्रोपविष्टानाम् अभूत् चिंता
कतमत्कुलं शुद्ध सुसंप्रजानं	कतमत् कुलं शुद्धं सुसंप्रज्ञानम्।
यद् बोधिसत्त्वे प्रतिरूप जन्मे	यद् बोधिसत्त्वस्य प्रतिरूपं जन्मनि
मातापिता कुत्र च शुद्धभावाः ॥35॥	मातापितरौ कुत्र च शुद्धभावौ ॥35॥

1. अमेरिका की येल-यूनिवर्सिटी के अध्यापक फैंक्लिन् एड्जेर्टन महोदय ने इस क्षेत्र में बहुत श्रम किया है। इस प्रकार की सामग्री का उन्होंने अपने ग्रंथद्वय बुद्धिस्ट हाइब्रिड् संस्कृत ग्रामर् ऐण्ड डिक्शनरी मे संकलन किया है। इन दोनों ग्रथों के उल्लेख के प्रसंग में बु० हा० सं० ग्रा० तथा बु० हा० सं० डि० इन दो संक्षेपों का प्रयोग किया गया है।

देना प्रसंगानुकूल रहेगा। देवलोक की अनित्यता बतलाने के लिए लेफमन् साहब के संस्करण (पृ० ३७) पर पाठ है—

न तरङ्गतुल्यकल्पाः

इस पाठ से अनित्यता का बोध नही होता। यदि केवल तरङ्गतुल्यकल्पाः पाठ होता तो अनित्यता का चित्र मन में अवश्य आता, पर यहाँ इसके साथ एक न भी लगा हुआ है, जो अनित्यता का नही प्रत्युत् स्थिरता की ओर संकेत करता है। पर भोटानुवाद मे जो पाठ है उसके अनुसार यहाँ पाठ यों होना चाहिए

नटरङ्गतुल्यकल्पाः

नटरङ्ग (भोट, गर् ग्यि स्तद् मो) जो शुद्ध पाठ था वह संभवतः लेखक के प्रमाद से नतरङ्ग हो गया अर्थात् मूर्धन्य टकार के स्थान मे दन्त्य तकार होने से विरूप हो गया। अनंतर आधुनिक संपादक की पदच्छेद-प्रणाली से न पृथक् हो गया और तरङ्ग पृथक्। तरङ्ग शब्द नटरङ्ग के टरङ्ग का बिगड़ा रूप है, इसका अनुमान करना सहज कार्य नही। यदि कोई अनुमान करता भी तो भी उस पर विवेचक शायद ही विश्वास करते। पर भोटानुवाद से सहारा मिलता है। और शुद्ध पाठ तक पहुँचने का मार्ग सरल हो जाता है। इसी प्रकार

अपि न कल्पाः (पृष्ठ 36)

भोट भाषानुसार स्वप्नकल्पाः है, जो इस बात को बतलाता है कि पाठांतर मे सुपिनकल्पाः पाठ ठीक था। पर उस पाठ की उपेक्षा लेफमन् साहब ने भी की तथा वैद्य महोदय ने भी। इस स्थान पर भोट पाठ मि ह.म् ह.द्र ब स्ते (=स्वप्नकल्पाः) न होता तो मूल पाठ तक पहुँचना संभव न हो पाता। अस्तु, अपि न कल्पाः यह पाठ वस्तुतः

सुपिनकल्पाः (= स्वप्नकल्पाः)

है। इसी प्रकार भोटाभाषातरानुसार मुद्रित ग्रथ का पाठ

अपूर्वशुभसञ्चयं (पृष्ठ 36)

केवल—

पूर्वशुभसञ्चयं

है। अ का न होना ही अर्थ के अनुकूल है। पर अ आया कहा से। मेरे विचार से बौद्धभाषा मे प्रयुक्त पदालङ्कार स का यह लेखक के प्रमाद से आया पाठ है। स चेत् इत्यादि मे जैसे स पदालङ्कार है वैसे ही यहाँ पर भी होगा।

(4) **चतुर्थ सूत्र**—पदों मे कही-कही प्रकृति तथा प्रत्यय दोनों ही असंस्कृत के होते है। यथा—**दया सुता सा जननी च माया** (ललितविस्तर अध्याय 3, पृष्ठ 29, लेफमन संस्करण)। यहाँ पर **दया** पद अयं का विकार है, तथा **सुता** पद सुतः का बिगड़ा हुआ रूप है। सुता मे संस्कृत प्रकृति तो जैसे-तैसे बच गई पर दया मे उसकी विरूपता इस सीमा तक पहुँच गई है कि उसे समझना कठिन हो जाता है। इस स्थान पर भोट भाषा के अनुवाद को यदि संस्कृत मे प्रत्यनुवाद करें तो 'अयं सुतः, सा जननी च माया' यही होता है।

(5) **पंचम सूत्र**—कही-कही अविभक्तिक पद दिखाई पड़ते है। यथाशुद्ध। यह पद कुलं का विशेषण है। अतः सविभक्तिक पाठ शुद्धम् होना चाहिए। प्रतिरूप पद भी ऐसा ही है। उसे प्रतिरूपं होना चाहिए था।

(6) **षष्ठ सूत्र**—पदों में नाना प्रकार के विपर्यास दृष्टि मे आते है। कहीं-कही वचनविपर्यास दिखाई पडता है यथा—**मातापिता कुत्र च शुद्धभावाः**। इस पाठ में 'मातापितरौ च कुत्र शुद्धभावौ' इस प्रकार अक्षरविन्यास होना चाहिए था। द्विवचन के स्थान बहुवचन का प्रयोग किया गया है। च इस पद का पाठ कुत्र से पहले होना चाहिए था। प्रत्यय विपर्यास भी दिखाई पड़ता है। यथा—**बोधिसत्त्वे**। यह सप्तमी विभक्त्यत पद है। पर अर्थानुसार षष्ठी का प्रयोग होना चाहिए। अतः यहाँ 'षष्ठ्यर्थे सप्तमी' मानना होगा। प्रकृतिविपर्यास भी दिखाई देता है। यथा—**जन्मे**। यहाँ नकारात प्रकृति को अकारांत मान कर विभक्ति प्रत्यय का योग किया गया है। इसी प्रकार अन्य विपर्यासो की ऊहा करनी होगी। शब्दस्वरूप विपर्यास यथा दीर्घस्वरांत यथा के स्थान मे कभी-कभी ह्रस्वस्वरांत यथा का प्रयोग। लिंगविपर्यास तो साधारण बात है। उसके लिए तो संस्कृत मे ही कम गड़-बड़ नही है। नाना प्रकार के शब्द जो पुलिंग में भी प्रयुक्त होते है तथा नपुंसकलिग मे भी जिनका प्रयोग ठीक माना जाता है, वे सब शब्द लिंग विषयक अव्यवस्था के ही फल है। संधिनियमों का उल्लंघन भी यहाँ कम नही है।

इन सूत्रों के आधार पर सामान्यतया ललितविस्तर की भाषा की व्याख्या हो सकती है पर हमें ललितविस्तर का जो रूप लेफमन्-साहब के संस्करण में मिलता है तथा उसी का अंशतः जो विकृत रूप वैद्य महोदय के संस्करण में दीखता है, उससे हम शुद्ध पाठ पर नही पहुँच पाते। अतएव ग्रंथ अनेक स्थलों पर असलग्न दिखाई पड़ता है। भोट भाषा के अनुवाद से इस प्रकार के असंलग्न पाठों की संगति लगाई जा सकती है। इस विषय के दो-तीन निदर्शन यहाँ

देना प्रसंगानुकूल रहेगा। देवलोक की अनित्यता बतलाने के लिए लेफमन् साहब के संस्करण (पृ० ३७) पर पाठ है

न तरङ्गतुल्यकल्पाः

इस पाठ से अनित्यता का बोध नहीं होता। यदि केवल तरङ्गतुल्यकल्पाः पाठ होता तो अनित्यता का चित्र मन में अवश्य आता, पर यहाँ इसके साथ एक न भी लगा हुआ है, जो अनित्यता का नहीं प्रत्युत् स्थिरता की ओर संकेत करता है। पर भोटानुवाद मे जो पाठ है उसके अनुसार यहाँ पाठ यों होना चाहिए

नटरङ्गतुल्यकल्पाः

नटरङ्ग (भोट, गर् ग्यि स्तद् मो) जो शुद्ध पाठ था वह संभवतः लेखक के प्रमाद से नतरङ्ग हो गया अर्थात् मूर्धन्य टकार के स्थान मे दन्त्य तकार होने से विरूप हो गया। अनंतर आधुनिक संपादक की पदच्छेद-प्रणाली से न पृथक् हो गया और तरङ्ग पृथक्। तरङ्ग शब्द नटरङ्ग के टरङ्ग का बिगड़ा रूप है, इसका अनुमान करना सहज कार्य नही। यदि कोई अनुमान करता भी तो भी उस पर विवेचक शायद ही विश्वास करते। पर भोटानुवाद से सहारा मिलता है। और शुद्ध पाठ तक पहुँचने का मार्ग सरल हो जाता है। इसी प्रकार—

अपि न कल्पाः (पृष्ठ 36)

भोट भाषानुसार स्वप्नकल्पाः है, जो इस बात को बतलाता है कि पाठांतर मे सुपिनकल्पाः पाठ ठीक था। पर उस पाठ की उपेक्षा लेफमन् साहब ने भी की तथा वैद्य महोदय ने भी। इस स्थान पर भोट पाठ मि ह्.म् ह्.द्र ब स्ते (=स्वप्नकल्पाः) न होता तो मूल पाठ तक पहुँचना संभव न हो पाता। अस्तु, अपि न कल्पाः यह पाठ वस्तुतः

सुपिनकल्पाः (= स्वप्नकल्पाः)

है। इसी प्रकार भोटाभाषांतरानुसार मुद्रित ग्रंथ का पाठ

अपूर्वशुभसञ्चयं (पृष्ठ 36)

केवल—

पूर्वशुभसञ्चयं

है। अ का न होना ही अर्थ के अनुकूल है। पर अ आया कहां से। मेरे विचार से बौद्धभाषा मे प्रयुक्त पदालङ्कार स का यह लेखक के प्रमाद से आया पाठ है। स चेत् इत्यादि मे जैसे स पदालङ्कार है वैसे ही यहाँ पर भी होगा।

3. ललितविस्तर का हिंदी-अनुवाद

ललितविस्तर ग्रंथ का हिंदी में अनुवाद हो जाना महायान सम्मत तथागत की जीवनी का ज्ञान करने के लिए बहुत आवश्यक है। अगले पृष्ठों में गद्यांश तथा पद्यांश दोनों का ही अनुवाद किया गया है। पर गद्यभाग को मूल में नहीं दिया गया है। मेरे विचार से गद्यभाग वस्तुतः एक प्रकार की अर्थ-कथा है, जो मूल गाथाओं के आधार पर है। ग्रंथ का मूल भाग वस्तुतः गाथाएँ ही हैं। अतः जहाँ गाथाएँ हैं वहाँ गाथाओं को देकर अनुवाद किया गया है। टिप्पणियों में मुख्य रूप से भोटभाषा के आधार पर उचित पाठों को सुझाया गया है। भोटभाषा के पाठों को नागरी अक्षरों द्वारा प्रकट किया गया है। यहाँ जो अनुलिपि-रीति स्वीकार की गई है उसे भोट वर्णमाला के क्रम से यों जानना चाहिए—

क	ख	ग	ङ
च	छ	ज	ञ
त	थ	द	न
प	फ	ब	म
च़	छ़	ज़	व
श़	झ़(झ)	ह़	य
र	ल	श	स
ह	अ		

भोट वर्णमाला में ये ही तीस अक्षर हैं। अकार में मात्रा लगाने से सब स्वर पाँच हो जाते हैं। अ अि अु अे ओ। च़ छ़ श़ झ़ ह़ ये पाँच ध्वनियाँ हिंदी भाषियों के लिए नूतन हैं। चकार का ही दंत्य उच्चारण च़ है। इसी प्रकार छकार का दंत्य उच्चारण छ़ है। शकार का ही मूर्धा से संसृष्ट उच्चारण श़ है। ज तथा झ़ दोनों में भेद केवल अल्पप्राण के और महाप्राण का है। आज की भोटभाषा में शब्द का स्वरूप जैसे लिखा जाता है, वैसे उसका उच्चारण नहीं किया जाता अथवा यों कहिए कि उच्चारण का लेखन से संबंध स्वाभाविक नहीं रहा है। पर यहाँ भोट ग्रंथों में जैसा लिपिन्यास है, नागरी में भी लिपिन्यास वैसा ही किया गया है। आज का भोटभाषा-भाषी उसे कैसे बोलता है, यह प्रश्न यहाँ प्रसंग से बाहर है। अनुवाद में लेफमन् साहब द्वारा संस्करण किए हुए ललितविस्तर✤ के पृष्ठ का निर्देश कोष्ठक में दो तिर्यग् रेखाओं के बीच यों किया गया है—(–2–) अर्थात्

✤ Lalita-Vistara, By Dr. S. Lefmann, Halle 1902, 1908.

3. ललितविस्तर का हिंदी-अनुवाद

ललितविस्तर ग्रंथ का हिंदी में अनुवाद हो जाना महायान सम्मत तथागत की जीवनी का ज्ञान करने के लिए बहुत आवश्यक है। अगले पृष्ठों में गद्यांश तथा पद्यांश दोनों का ही अनुवाद किया गया है। पर गद्य भाग को मूल में नहीं दिया गया है। मेरे विचार से गद्यभाग वस्तुतः एक प्रकार की अर्थ-कथा है, जो मूल गाथाओं के आधार पर है। ग्रंथ का मूल भाग वस्तुतः गाथाएँ ही हैं। अतः जहाँ गाथाएँ हैं वहाँ गाथाओं को देकर अनुवाद किया गया है। टिप्पणियों में मुख्य रूप से भोटभाषा के आधार पर उचित पाठों को सुझाया गया है। भोटभाषा के पाठों को नागरी अक्षरों द्वारा प्रकट किया गया है। यहाँ जो अनुलिपि-रीति स्वीकार की गई है उसे भोट वर्णमाला के क्रम से यों जानना चाहिए—

क	ख	ग	ङ
च	छ	ज	ञ
त	थ	द	न
प	फ	ब	म
च़	छ़	ज़	व
श़	झ़(भ्र)	ह.	य
र	ल	श	स
ह	अ		

भोट वर्णमाला में ये ही तीस अक्षर हैं। अकार मे मात्रा लगाने से सब स्वर पाँच हो जाते है। अ अि अु अे ओ। च़ छ़ श़ झ़ ह. ये पाँच ध्वनियाँ हिंदी भाषियों के लिए नूतन हैं। चकार का ही दंत्य उच्चारण च़ है। इसी प्रकार छकार का दंत्य उच्चारण छ़ है। शकार का ही मूर्धा से संसृष्ट उच्चारण श़ है। ज तथा झ़ दोनों में भेद केवल अल्पप्राण के और महाप्राण का है। आज की भोटभाषा में शब्द का स्वरूप जैसे लिखा जाता है, वैसे उसका उच्चारण नहीं किया जाता अथवा यों कहिए कि उच्चारण का लेखन से संबंध स्वाभाविक नहीं रहा है। पर यहाँ भोट ग्रंथों में जैसा लिपिन्यास है, नागरी में भी लिपिन्यास वैसा ही किया गया है। आज का भोटभाषा-भाषी उसे कैसे बोलता है, यह प्रश्न यहाँ प्रसंग से बाहर है। अनुवाद में लेफमन् साहब द्वारा संस्करण किए हुए ललितविस्तर☆ के पृष्ठ का निर्देश कोष्ठक में दो तिर्यग् रेखाओं के बीच यों किया गया है—(–2–) अर्थात्

☆ *Lalita-Vistara*, By Dr. S. Lefmann, Halle 1902, 1908.

विषय-सूची

॥ १ ॥

॥ निदानपरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ १-७ (पंक्ति १७)
भोटानुवाद १ ख-८ख पंक्ति ५)

॥ निदानपरिवर्त ॥

॥ ओं नमः सर्वबुद्धबोधिसत्त्वेभ्यः ॥

ओं नमो दशदिगनन्तापर्यन्तलोकधातुप्रतिष्ठितसर्वबुद्धबोधिसत्त्वार्यश्रावकप्रत्येकबुद्धेभ्योऽतीतानागतप्रत्युत्पन्नेभ्यः ।

1. ऐसा मैने सुना । एक समय भगवान् श्रावस्ती में विहरते थे । जेतवन में =2क= अनाथपिंडक के आराम में बारह सहस्र भिक्षुओं के महान् भिक्षुसंघ के साथ। उन बारह सहस्र भिक्षुओं में प्रधान भिक्षु इस प्रकार थे—आयुष्मान् आज्ञात-कौडिन्य[1], आयुष्मान् अश्वजित्, आयुष्मान् वाष्प, आयुष्मान् महानाम, आयुष्मान् भद्रिक, आयुष्मान् यशोद[2], आयुष्मान् विमल, आयुष्मान् सुबाहु, आयुष्मान् पूर्ण, आयुष्मान् गवांपति, आयुष्मान् उरुविल्वकाश्यप[3], आयुष्मान् नदीकाश्यप, आयुष्मान् गयाकाश्यप, आयुष्मान् शारिपुत्र, (=2ख=) आयुष्मान् महामौद्गल्यायन, आयुष्मान् महाकाश्यप, आयुष्मान् महाकात्यायन, आयुष्मान् महाकप्पिन[4], आयुष्मान् महाकोष्ठिल[5], आयुष्मान् चुन्द[6], आयुष्मान् पूर्णमैत्रायणी-

---

ललित-विस्तर टिप्पणी ॥ १ ॥ निदान परिवर्त

1. मूल में पाठ, ज्ञानकौण्डिन्य भोट मे, **कुन् शेस्** कौण्डिन्य (=आज्ञात कौण्डिन्य) । तुलनीय पालि, अञ्ञातकोण्डञ्ञ ।
2. मूल में, यशोदेव । भोट में, **ग्रग्स्-स्ब्यिन्**, यशोद, यश देने वाला ।
3. मूल मे विल्व के स्थान पर विल्व। पाठ लिपिकर का प्रमाद है ।
4. मूल में कफिल-भोट में कपिन छेन् पो (महा कपिन) पालि मे सुप्रसिद्ध पाठ कप्पिन है ।
5. मूल में, कौण्डिन्य है । यह स्पष्ट ही लिपिकर का प्रमाद है । भोट मे, **ग्सुस् पो छे**, महाकोष्ठिल (अर्थात् बड़े पेट वाला) पाठ है । यही पाठ उचित है ।
6. मूल में चुन्द के स्थान पर चुनन्द प्रामादिक पाठ है । भोट में, **स्कुल् ब्येद**, प्रेरणादायक पाठ है । इससे चुन्द शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश पड़ता है—चुद् + द = चुद्द अर्थात् प्रेरक । मुखसुखार्थ चुद्द के स्थान पर चुन्द कर डाला गया है ।

पुत्र, आयुष्मान् अनिरुद्ध, आयुष्मान् नन्दिक, आयुष्मान कौशिक[7], आयुष्मान् सुभूति, आयुष्मान् रेवत, आयुष्मान् (–2–) खदिर वनिक, आयुष्मान् अमोघराज, आयुष्मान् महापारणिक[8], आयुष्मान् वकुल[9], आयुष्मान् नन्द, आयुष्मान् राहुल, आयुष्मान् स्वागत तथा आयुष्मान् आनन्द ।

2. (=3क=) साथ मे बत्तीस सहस्र बोधिसत्त्व थे । सब के सब केवल एक जन्म के बन्धन से बँधे थे, अखिल बोधिसत्त्व-पारमिताओं को पूरा करके समुत्पन्न हुए थे, बोधिसत्त्वो को संपूर्ण एवं व्यापक समझ-बूझ के खिलाड़ी थे [9क], बोधिसत्त्वों की धारणी[10], (विषयक) सर्वविधप्रतिभान के धनी थे [9क], सकल बोधिसत्त्व-धारणियों को प्राप्त किए हुए थे, बोधिसत्त्व होने के लिए किये गये सब प्रणिधान अर्थात् संकल्प परिपूर्ण कर चुके थे, बोधिसत्त्वों की सब प्रतिसंविदाओं[11], की गति जानते[12] थे, बोधिसत्त्वों की सकल समाधियों के स्वामी[13]

7 मूल का पाठ कस्फिल प्रामादिक है । भोट पाठ **हुग् प**, कौशिक (अर्थात् उलूक) उचित है ।

8 महापारणिक यह नाम अन्यत्र बौद्ध ग्रन्थों मे नही प्राप्त है ।

9. वकुल यह भोटानुसार पाठ है । मूल मे ववकुल है ।

9क····9क यह वाक्य भोट में अगले वाक्य के पश्चात् है । धारणीप्रतिभान के स्थान पर केवल **स्पोब्स् प**, प्रतिभान पाठ है ।

10. धारणी, एक प्रकार के मंत्र, जो महायान तथा वज्रयान संप्रदाय में प्रचलित है । इनकी तुलना शैव तथा शाक्त संप्रदाय के मंत्रों से की जा सकती है । वाक्य में अर्थ-संगति तथा पदों में अक्षर-संगति न धारणियो में ही दीखती है न तांत्रिक मंत्रों में ही । द्रष्टव्य तुलसीदास के वचन—"कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा । सावर मंत्र जाल जिन्ह सिरजा ।। अनमिल आखर अरथ न जापू । प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू ।।"

11. मूल पाठ प्रतिसम्यङ् स्पष्ट ही प्रामादिक है । भोट पाठ है—**सो सो यङ् दग् पर्-रिग् प**, प्रतिसंविद् अथवा प्रतिसंविदा । प्रतिसंविदा विशेष प्रकार के बोध का नाम है । इसके चार भेद हैं—धर्मप्रतिसंविद्, अर्थप्रतिसंविद्, निरुक्तप्रतिसंविद्, प्रतिभानप्रतिसंविद् ।

12. मूलपाठ है गतिगत । भोट में **खोङ् दु छुद् प** है । विचक्षण, निपुण, पंडित आदि इसके पर्याय हैं ।

13. मूल शब्द वशिताप्राप्त, वश में लाने की शक्ति को पाया हुआ । इस शब्द के अभिप्राय को स्वामी तथा उसके **पर्यायों** से व्यक्त कर सकते हैं ।

थे, बोधिसत्त्वों के अखिल ऐश्वर्य[14] प्राप्त कर चुके थे, बोधिसत्त्वों को विश्व (-व्यापक) क्षमा में व्याप्त[15] थे, सभी बोधिसत्त्व-भूमियां[16] =3ज्ञ= परिपूर्ण कर चुके थे। बत्तीस सहस्र बोधिसत्त्वों में प्रमुख बोधिसत्त्व इस प्रकार थे बोधिसत्त्व महासत्त्व मैत्रेय, बोधिसत्त्व महासत्त्व धारणीश्वरराज[17], बोधिसत्त्व महासत्त्व सिंहकेतु, बोधिसत्त्व महासत्त्व सिद्धार्थमति, बोधिसत्त्व महासत्त्व प्रशान्त-चारित्रमति, बोधिसत्त्व महासत्त्व प्रतिसंवित्प्राप्त, बोधिसत्त्व महासत्त्व नित्योद्युक्त, तथा बोधिसत्त्व महासत्त्व महाकरुणाचित्त ।[18]

3. उस समय भगवान् श्रावस्ती नगरी को आश्रय करके विहरते थे। वहां चार परिषदें भगवान् का सत्कार करती थी, गोरव करती थी, मान करती थी, तथा पूजा करती थी। (वे चार परिषदें थी—) राजाओं की, राजकुमारों की, राजाओं के मंत्रियों की, राजाओ के महामात्रों[19] की; राजाओं के चरण-मूल में बैठने वाले[20] क्षत्रिय, ब्राह्मण, गृहपति, अमात्य तथा परिचारकों[21] की, नागरिकों

14. मूल शब्द वशिता (=वश में लाने का सामर्थ्य)। ऐश्वर्य शब्द का प्रयोग ठीक उसके अक्षरार्थ ईश्वरत्व-स्वामित्व की दृष्टि से किया गया है।
15. मूल शब्द है अवकीर्ण, फैला हुआ, बिखरा हुआ।
16. बोधिसत्त्वभूमि = बोधिसत्त्वता को पूर्ण करने के विविध योग। द्रष्टव्य महायान पृ० 48-49।
17. मूल पाठ। धरणीश्वरराज। भोट पाठ, **ग्ज़ुङ्स् क्यिद् वङ् फ्युग्-र्ग्यल् पो**, धारणी-ईश्वर-राज।
18. मूल में महाकरुणाचन्द्रिन्। भोट मे **स्निङ् र्जे-छेन् पो-सेम्स् द्पह.**, महाकरुणाचित्तं। यह पाठ ही उचित है।
19. महामात्र = बड़े-बड़े राजकीय अधिकारी। यही अर्थ यहाँ ठीक जान पडता है। अक्षरार्थ महा (बडी) मात्र (मात्रावाला) है। मनुस्मृति (2/259) में इस शब्द का अर्थ कुल्लूकभट्ट ने हस्तिशिक्षाजीविन् किया है। भोट में **छ्मुस् ह्लोग् गि-र्ग्यल् फ्रन्**, अनुराग अवनत सामन्त पाठ है। वह राजमहामात्र इस मूल के पाठ से हीन नहीं है।
20. मूल के राजपाद-मूलिक इस पाठ का यह अर्थ है। भोट पाठ **र्ग्यल् पोहि.-शब्स् ह.-ब्रिद् प**, राजपादलालित हैं।
21. मूल पाठ, पार्षद्य भोट पाठ **ह.-खोर् ग्यि मि**, चारों ओर के लोग, परि-(षद् -) जन, परि-जन।

और ग्रामीणों की[22], अन्य[23] मतानुगामी [24] =4क= श्रमण, ब्राह्मण, चरक[25] तथा परिव्राजकों की। भगवान् प्रचुर खाद्य, भोज्य तथा आस्वाद्य (पदार्थों) के, धर्मविहित चीवर, पिंडपात[26], (–3–) शयन, आसन, ग्लानप्रत्यय[27], भैषज्य, तथा परिष्कारों[28] के लाभी थे। लाभों में परम लाभ, यशों में परम यश पाए हुए भगवान् सब स्थानों पर जल मे कमल की भाँति निर्लेप रहते थे। भगवान् की उदार कीर्ति, (भगवान् का) उदार नाम, (भगवान् का) उदार यश लोक मे (इस प्रकार) उन्नति पर था—भगवान् अर्हत् है, सम्यक संबुद्ध है, विद्या-संपन्न तथा (आ) चरणसंपन्न[29] है, सुगत है लोकविद् है, पुरुष को दान्त बनाने में श्रेष्ठ सारथि है, देवताओं और मनुष्यों के शास्ता-धर्मानुशासनकर्ता है, पंच चक्षुओं[30] से युक्त बुद्ध है। वे इस लोक तथा पर लोक को देवता सहित, मार-

22. मूल पाठ, पौरजानपद। पौर = नागरिक, जानपद = जनपद का, ग्रामीण।

23. अन्य यह शब्द भोटानुवाद में नही है।

24. मूल में, अन्य-तीर्थिक शब्द है। शब्दार्थ है अन्य-तीर्थ (= अन्य-गुरु) वाला। भोट में **मु स्तेगस् चन्**, तीर्थिक पाठ है। पालि तित्थिय से इसका संवाद है, सभी अबौद्धो के लिए इसका प्रयोग होता है।

25. चरक यह शब्द पालि में अप्रसिद्ध है। इस तापस-संघ के विषय में विशेष जानकारी नही हो पाई है। भोट में **स्प्योद् प प** (= चर्या वाला चरक) पाठ है। इसके शोधन का यत्न **द्प्योद् प प** (= मीमासक) किया गया है (द्रष्टव्य बु० हा० सं० डि० पृ० 225)।

26. मूल पाठ पिण्डपात्र प्रामादिक है। भोट पाठ ब्सोद् स्नोमस् (= उत्तम-भिक्षा) है, जो पिण्डपात शब्द का शिष्ट भोट भाषा में अनुवचन है।

27. ग्लानप्रत्यय = रोगिपथ्य।

28. परिष्कार यह शब्द भिक्षुओं के उपयोग की वस्तुओ के लिए रूढ शब्द है।

29. भोट में चरण का अनुवाद **ग्स्ब्स्** (= पाद, पैर) अत्यन्त यथारुत है। यहाँ चरण शब्द सामान्यतया सदाचार का वाचक नही है प्रत्युत कुछ गिने हुए आचारों और ध्यानों के लिए सांकेतिक शब्द है। द्रष्टव्य विसुद्धिमग्ग 6/39। इन ध्यानो तथा आचारों द्वारा यतः चलना होता है, अतः साधना-मार्ग में इन्हे चरण कहा गया है।

30. पंचचक्षु अर्थात् मांसचक्षु, दिव्यचक्षु, प्रज्ञाचक्षु, धर्मचक्षु, बुद्धचक्षु, (बु० हा० सं० डि०, पृ० 221)।

सहित, ब्रह्मा-सहित[31], (तथा इस) प्रजा को श्रमण-ब्राह्मण सहित, देवमनुष्यसहित[31] स्वयं =¶ख= जानकर, साक्षात् कर, करतलगत कर[32] विहरते है। वे आदि में कल्याण, मध्य मे कल्याण, पर्यसान में कल्याण, सु-अर्थ (शोभनार्थक) सु-शब्द, केवल (अर्थात् अमिश्रित वा असंकर) परिपूर्ण, परिशुद्ध, पर्यवदात (अर्थात् उज्ज्वल) [सद्-] धर्म का उपदेश करते हैं। सम्यक् प्रकार से ब्रह्मचर्य का प्रकाश करते है।

4. [33] उस समय भगवान् को रात के बिचले पहर में बुद्धालंकारव्यूह नाम की समाधि लग गई। बुद्धालंकारव्यूह नाम की समाधि लगने के अनन्तर ही, उस अनन्तर क्षण में ही, भगवान् के मस्तक के ऊपर बीच में[34], उष्णीष-विवर[35] के भीतर से पूर्वबुद्धानुस्मृति-असंग ज्ञानालोक-अलंकार[36] नाम की

31....31. मूल में है—सश्रमणब्राह्मणीन् प्रजान् सदेवमानुपान्। इस वाक्यांश में विशेष्यपद प्रजा है, जिसका यहाँ पुलिङ्ग में प्रयोग हुआ है। इस विशेष्य के पूर्व में भी एक विशेषण है तथा परे भी एक विशेषण है। भोट में पहले विशेषण को प्रजा से पूर्व रखने के लिए उसे षष्ठी विभक्ति के द्वारा जोड़ कर परवर्ती विशेषण को बाद में रखा है। भोट में विशेषण सर्वदा बाद में आता है। पहले लाना हो तो उसे षष्ठ्यन्त कर देते है। भोट में अनूदित वाक्यांश यों है—**द्गे स्ब्योङ् दङ् ब्रम् ज़े ब्चस् पही स्केय द्गु ल्ह दङ् मिर् ब्चस् प दग्।**

32. भोट, **म्ङोन् दु ब्स्ग्रुब्स् ते** ठीक संस्कृत के उपसंपद्य का अक्षरानुवाद है, जिसका अर्थ है—सिद्ध कर, प्राप्त कर इत्यादि। विज्ञाय तथा साक्षात्कृत्य (=जानकर तथा साक्षात्कार कर) तथा उपसंपद्य ये तीनो पर्याय है तथापि शब्द-भेद से उन में सूक्ष्म अर्थ भेद है ही।

33. किसी भी महायान सूत्र ग्रन्थ में इस प्रकार का वर्णन अतिशयोक्ति नहीं माना जाता।

34. मूल में, सधौ। यहा संधि शब्द मध्य के अर्थ मे है।

35. यहां उष्णीष (=पगड़ी, शिरोवेष्टन) यह शब्द अपने अक्षरार्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। यह बुद्ध प्रतिमादृष्ट मस्तक के ऊपर के उच्च शिरोभाग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

36. भोट में अलंकार यह शब्द नही है। यहा मूल का अशुद्ध पाठ असङ्गाज्ञानालोक भोटानुवाद **छग्स् प मेद् पहि. ये शेस् स्नङ् व** (=असंग-ज्ञान-आलोक) के अनुसार शुद्ध कर दिया गया है।

किरण निकली। उसने शुद्धावास देवलोको को प्रकाशमान कर, देवपुत्र महेश्वर[37] जिनमें प्रमुख थे, ऐसे अप्रमेय (अर्थात् जिनका जानना मनुष्य के लिए संभव नहीं, इस प्रकार के), देवपुत्रों का प्रबोधन[38] किया। तदनन्तर तथागत के किरणजाल से[39] ये प्रबोधन गाथायें[40] निकलीं।

ज्ञानप्रभं हन्ततमसं प्रभाकरं
शुभ्रप्रभं शुभविमलाग्रतेजसं।
प्रशान्तकायं शुभशान्तमानसं
मुनिं समाश्लिष्यत शाक्यसिंहं ॥1॥[41]

ज्ञान की प्रभावाले (अज्ञान–) अन्धकार के नाशद्वारा (ज्ञान रूपी) प्रकाश के करने वाले[42], देदीप्यमान छवि वाले[43], भव्य[44], निर्मल, तथा उत्तम तेज वाले, प्रशान्त (अर्थात् अचंचल) काय वाले, शुभ तथा शान्त (अर्थात् चंचलता रहित) चित्त वाले, मुनि शाक्यसिंह के समीप जाओ[45]।

37. महेश्वर शब्द का (यहाँ तथा आगे) संभवतः शिव की इस सूत्र रचना के काल मे दृष्ट दृढ़ प्रतिष्ठा का सूचक है।

38 अति निकट यथाश्रुतानुवाद प्रेरणा होगा।

39. मूल में निश्चार्य (= निकाल कर) पद अधिक है तथा निरर्थक जान पडता है। यह भोटानुवाद में नहीं है।

40. निकटतम यथाश्रुतानुवाद प्रेरणागाथा (मूल में संचोदना गाथा)।

41. इस गाथा में द्वादशाक्षरी जगती जाति का वृत्त है। पूर्वार्ध में स्वल्प विपर्यास के साथ इन्द्रवंशा (त त ज र) तथा उत्तरार्ध में वंशस्था (ज त ज र) वृत्त है।

42. मूल का **हन्ततमसं प्रभाकरं** यह वाक्यांश वस्तुतः एक पद है। तमसं में दिखाई देने वाला अनुस्वार वस्तुतः मुखसुखार्थ आगम है। तमस यह अकारान्त प्रयोग मध्यभारती के अनुकूल है। हन्त (हन् + त) यह प्रयोग भी उसी प्रकार का है। एवं यह सम्पूर्ण पद मध्यभारती की दृष्टि से ठीक है। संस्कृत में इसकी छाया 'हततमः प्रभाकरम्', करनी होगी। हन्ततमसं को पृथक् पद मान कर भी अर्थ किया जा सकता है।

43. शुभ्र शब्द का अनुवाद शुक्ल न करके यहां प्रसंगानुसार देदीप्यमान किया गया है। भगवान् का वर्ण श्वेत न था प्रत्युत सुनहला था। दृष्टव्य, अमर कोष, शुभ्रमुद्दीप्तशुक्लयोः।

44. शुभ मूल में है। इसका अनुवाद पर्यायवाचक भव्य शब्द से किया गया है। यह शब्द भोट में नही है।

45. मूल में समाश्लिष्यत (= चिपक जाओ) है।

ज्ञानोदधि शुद्धमहानुभावं
धर्मेश्वरं सर्वविदं मुनीन्द्रं।
देवातिदेवं नरदेवपूज्यं
धर्मे स्वयम्भुं वशिनं श्रयध्वं ॥2॥[46]

ज्ञान के समुद्र, शुद्ध तथा महान् अनुभाव (अर्थात् प्रभाव)[47] वाले, धर्म के अधिपति, सर्वज्ञ =5क=, मुनीश, देवातिदेव[48], मनुष्य तथा देवताओं के पूज्य, धर्म में स्वयंभू[49], वशी (अर्थात् जितेन्द्रिय) शाक्यसिंह का आश्रय ग्रहण करो।

यो दुर्दमं चित्तमवर्तयद् वशी
यो मारपाशैरवमुक्तमानसः।
यस्याप्यबन्ध्याविह दर्शनश्रवा-
[50]स्त्यद्यान्ततः शान्त विमोक्षपारगः[50] ॥3॥[51]

46. एकादशाक्षरी त्रिष्टुभ् जातीय वृत्त, इन्द्रवज्रा (त त ज ग ग)।
47. द्रष्टव्य, अमर कोष, अनुभावः प्रभावे च सतां च मतिनिश्चये। अनुभाव = (1) प्रभाव (2) सज्जनों का ज्ञाननिश्चय।
48. देवातिदेव का दूसरा पर्याय देवाधिदेव है। इसका अर्थ है—देवताओं में श्रेष्ठ, उच्च अथवा महान् देवता। बुद्ध, विष्णु तथा शिव तीनों के लिए इसका प्रयोग होता है।
49. स्वयंभू यह शब्द तथागत की धर्मविषयक मूलभूत प्रेरणा का द्योतक है। धर्म में तथागत स्वयं-भू हैं, वे अन्य-भू नहीं हैं।
50....50. यह पाद-कठिनता से समझ में आने वाला है। मूल का मुद्रितपाठ **स्त्यद्यान्ततः शान्तविमोक्षपारगः** है। यहाँ पूर्व पद के पाठ को विच्छिन्न करके देखें तो **स्ति-अद्य-अन्ततः** ये तीन पद दिखाई देते हैं। उनमें **स्ति** निश्चय ही **अस्ति** है। अकार या तो दर्शनश्रवा के अन्तिम आकार में संधिवश विलीन हो गया है। या फिर यह प्रयोग ही यहाँ पर अकार-रहित **अस्ति** का है। **अद्य** स्पष्ट ही **अद्य** है, क्यों कि भोटभाषान्तर में **देङ्** (अद्य, आज) शब्द इसी अर्थ का वाचक दिखाई पड़ता है। **अन्ततः** (समीप, निकट, पास, पास में) भी भोट भाषान्तर में **ड्रुङ् दु** (= निकटे, समीपे) के रूप में दिखाई देता है। पर इस शब्द का अन्वय किस के साथ हो ? मुद्रित ग्रन्थ में शान्त, इस पदका समास, विमोक्षपारगः के साथ किया दिखाई देता है, जो ठीक नहीं जान पड़ता। इस प्रकार के ग्रन्थ में संस्कृत-व्याकरण का उतना ही अनुसरण किया जा सकता है, जितना कि प्रयोगानुसार उचित जान पड़े। मुझे यहाँ शान्त पद अविभक्तिक षष्ठी के अर्थ में प्रयुक्त जान पड़ता है। एवं

जिसने दु:ख से वश मे आने वाले चित्त को वश में किया, जिसका मन मार के बन्धनों से छूट चुका है, जिसका दर्शन तथा (जिसके वचनों का) श्रवण भी यहाँ निष्फल नही होता,[50] (वह) विमुक्ति में पारंगत आज शान्त (निर्वाण) के समीप[51] (विराजमान) है।

(--4--) आलोक्यभूतं[51] तमतुल्यधर्मं
तमोनुदं सन्नयवेदितारं।
शान्तक्रियं बुद्धममेयबुद्धिं
भक्त्या समस्ता उपसंक्रमध्वं[53] ॥4॥[54]

शान्तस्य (= निर्वाणस्य) अन्ततः (= समीपे) अर्थात् शान्त (निर्वाण) के समीप यह अक्षरार्थ हुआ। भोटभाषान्तर से ऐसा अर्थ करने में सहारा मिलता है। वहाँ है—**शि़ बहि़. द्रुङ् दु** (= शान्ते: समीपे)। समूचे पाद का भोट-भाषान्तर यों है—**नंम् ग्रोल् मथर् फियन् शि़ बहि़. द्रुङ् दु-देङ्** (= विमुक्ति-पार-गतः-शान्तेः-समीपे-अद्य)। यहां मैने जिस प्रकार **देङ्** को निपात मानकर (**देङ् को** गमनार्थक आख्यात मान कर नही) समझने का यत्न किया है, तदनुसार ही हिन्दी में अनुवाद है। प्रोफेसर फ्रान्क्लिन् एड्जेर्टन् ने अपने कोश (बु० हा० सं० डि०) में **स्त्थयान्ततः** पद केवल अव्याख्येय कह कर छोड दिया है। पर उनका यह कहना कि भोटभाषा में बिना अनुवाद किए ही इसे बिल्कुल छोड दिया गया है, किसी प्रकार भी ठीक नही है। उन्होंने **योऽयं ततः** यह शोधन भी उपस्थित किया है पर वह उन्ही के शब्द में पोथी से दूर का पाठ है। मैंने मूल पाठ में भोट भाषान्तर के साक्ष्य पर **य** के स्थान पर **द्य** किया है। एक अक्षर का यह शोधन पोथी के समीपतम है, इन्द्रवंशा छन्द के अनुकूल है तथा ठीक अर्थ का उपस्थापक है। लेख में **य** तथा **द्य** का व्यत्यास संभव है।

51. जगतीजातीय, द्वादशाक्षरी वृत्त। इन्द्रवंशा (त त ज र)।
52. मूलपाठ **आलोक्यभूत** स्पष्ट ही यहाँ **आलोकभूत** के अर्थ में है। भोट पाठ **स्नङ् बर् ग्युर् प स्ते** (आलोकभूत, प्रकाशभूत) ही है।
53. इस पाद में समस्ता यह पद प्रथमा विभक्ति का है। यह प्रथमा विभक्ति अथवा विभक्ति-हीनता यहाँ तृतीया विभक्ति के अर्थ में है। शुद्ध संस्कृत में भक्त्या समस्तया उपसंक्रमध्वं इस प्रकार यह पाद होना चाहिए। पर छन्दो-भंग दूर करने के लिए **या** विभक्ति का यकार हटाकर शुद्ध मूलरूप में दिखाई पडने वाली **आ** विभक्ति का प्रयोग किया गया है। एवं विभक्ति-हीन अथवा प्रथमा विभक्ति में दिखाई देने वाला यह प्रयोग वस्तुत: तृतीया

उन प्रकाश रूप[52],अनुपम-धर्म वाले, अन्धकार के विनाशक, सम्यक् न्याय के जानकार, शान्तिमयी चर्या वाले, माप में न आने वाली बुद्धि के धनी, बुद्ध के समीप, पूर्ण भक्ति से[55] पहुँचो[53]।

स वैद्यराजोऽमृतभैषजप्रदः
स वादिशूरः कुगणिप्रतापकः।
स धर्मबन्धुः परमार्थकोविदः
स नायकोऽनुत्तरमार्गदेशकः ॥5॥[56]

वे (भगवान् बुद्ध) अमृतरूपी भैषज्य के देने वाले वैद्यराज हैं, वे[57] कुपन्थ के गणों का शासन करने वालों के तापदायक[57] वादियों में शूर हैं, वे परमार्थ के जानकार धर्म के बन्धु हैं, वे लोकोत्तर मार्ग के उपदेशक हैं।

5. उस बुद्धानुस्मृति-असंगज्ञानालोक[58] (नाम की) किरण का स्पर्श पाने के साथ-साथ[59] तथा इस प्रकार की इन गाथाओं से प्रेरणा पाने के साथ-साथ[59]

विभक्ति का है। भोट पा० **समस्ता** नहीं है प्रत्युत **प्रशस्ता** है—**म्छोग् गिस्** (=वरया, श्रेष्ठया, प्रशस्तया, उत्तमया इत्यादि)।

54. एकादशाक्षरी उपजाति वृत्त। उपजाति भेदों से यह वाणी उपजाति है (इन्द्र०—उपेन्द्र०—इन्द्र०—इन्द्र०)।

55. **पूर्णभक्ति से** यह अनुवाद मूल के **भक्त्या समस्ता** का है, जिसके व्याकरणपक्ष का पीछे टिप्पणी 53 में विवेचन है। भोट भाषान्तर के अनुसार अनुवाद **उत्तम भक्ति से** इस वाक्यांश द्वारा करना होगा।

56. द्वादशाक्षरी वंशस्थावृत्त (ज त ज र)।

57 ...57. यह मूलके **कुगणिप्रतापकः** का अनुवाद है। कुगणि = कु (कुत्सित) गणि (गणवाला)। यह शब्द यहाँ बौद्धेतर उन गणों तथा संघों के नायकों के लिए है, जो तथागत के समय विद्यमान थे तथा जिनकी परंपरा पुरानी थी। पुराने होने के कारण ही उनमें धर्म के वे उत्तम आदर्श न थे, जिनकी तथागत ने प्रतिष्ठा की थी। यहाँ उनकी यातयामता (बासीपने) को ही **कु** इस निपात से प्रकट किया गया है।

58. तुलनीय भोट् पा० **छगस् मेद् पहि. ये शेस्-स्नङ् बहि** (असंग-ज्ञान-आलोक)। मूल में **ज्ञान** के स्थान में **ाज्ञान** (=अज्ञान) पाठ है। देखिये टिप्पणी २६ इसी परिवर्त मे।

59. मूल में समनन्तर है, भोट में **'म थग् तु'** ठीक-ठीक संस्कृत का उल्था है। इसे हिन्दी में ज्यों ही अथवा साथ-साथ शब्दों द्वारा प्रकट किया जा सकता

वे शुद्धावास कायिक देवपुत्र[60] सब ओर से प्रशान्त समाधि से जगकर[60] बुद्ध के प्रभाव से उन भगवान् बुद्धों का अनुस्मरण किया, जो बीते कल्पों मे हो चुके हैं, जिन्हे (लौकिक) प्रमाणों से नही जाना जा सका, जिनकी संख्या नही की जा सकती, जो गणना से दूर पहुँचे हुए हैं। तथा उन भगवान् बुद्धों के जो[61] बुद्ध क्षेत्रों के गुणव्यूह थे, जो पर्षन्मण्डल थे, और =5ख= जो धर्मोपदेश थे, उनका (भी) सबका अनुस्मरण किया।

6. तब उस[62] प्रशान्त हो रही रात मे[62] शुद्धावास कायिक देवपुत्र ईश्वर,

है। **समनन्तर** का प्रयोग मूल मे **स्पृष्ट** शब्द के साथ समास मे किया गया है पर केवल प्रथम वाक्य में ही। दूसरे वाक्य में **प्रेरित** के साथ अध्याहार करके यहाँ अर्थ किया गया है। भोट मे भोटव्याकरणानुसार इसका प्रयोग अन्तिम वाक्य में आख्यात के अनन्तर हुआ है।

60....60. मूल मे है समन्ततः प्रशान्ता समाधिव्युत्थाय। भोट में समन्ततः इस पाठ का स्थानापन्न शब्द नहीं है। प्रशान्ताः समाधि व्युत्थाय का अर्थ संस्कृत-व्याकरण से समझ में आना अत्यन्त कठिन है। व्युत्थाय (उठकर औपचारिक प्रयोगानुसार जगकर) आख्यातक को पञ्चम्यन्त कारक की अपेक्षा है पर यहाँ **समाधि** सर्वथैव विभक्ति रहित पद है। **प्रशान्ता**. जिसे समाधि का विशेपण होना चाहिए वह प्रथमा बहुवचन में है। इस पाठ को अशुद्ध कहकर ठुकराया नही जा सकता। वस्तुत. जिस प्रकार व्यत्यय-नियम से वेद में काम चलाना पडता है उसी नियम से इस बौद्धापभ्रंश जो वस्तुत. संकीर्ण संस्कृत है पर संस्कृत नही, काम चलाना होगा। यहाँ पंचमी विभक्ति में प्रयोगार्ह विशेष्यपद को विना विभक्ति के तथा विश्लेपण का जहाँ तक तर्क जाता है पचमी में प्रयोग किया गया है पर पचमी का संश्लेपण अनियत है। प्रशान्ता + अस् (पंचमी विभक्ति) = प्रशान्ताः (पाणिनीय सस्कृत में प्रशान्ताया)। पञ्चम्यन्त पद मान कर ही यहाँ हिन्दी-अनुवाद किया गया है। भोट यहाँ तुलनीय है—**रब् तु शि बहि. तिङ् ङे ह.-जिन् दे लस्-लङ्स् नस्** (=प्रशान्तायाः समाधेस्तस्या. व्युत्थाय)। समाधि शब्द का स्त्रीलिङ्ग प्रयोग संस्कृत में दुर्लभ है पर भाषा में पाया जाता है।

61....61. जिन लोकों में तथागत स्थित है उन्हे बुद्ध क्षेत्र, तथा उन लोको की को विशेपताओं की गुणव्यूह तथा धर्म के श्रोताओं के समाज को पर्षन्-मण्डल कहते है।

62....62. मूल पाठ है—रात्रौ प्रशान्तायाम्। भोट पाठ है **गुब् मो मि अल् षम्**

महेश्वर, नन्द, सुनन्द, चन्दन, महित[63] प्रशान्त तथा प्रशान्तविनीतेश्वर[64], ये तथा अन्य अनेकानेक शुद्धावासकायिक देवपुत्र[65] उत्तमोत्तम रंगों के दिव्य प्रकाश से सम्पूर्ण जेतवन को प्रकाशमान कर[65] जहां भगवान् थे वहां पहुँचे, पहुँच कर भगवान् के चरणों में शिर से वंदना कर, एक ओर ठहर[66] गए।

7. एक ओर ठहरे,[66] उन शुद्धावासकायिक देवपुत्रों ने भगवान् से यह कहा। भगवन्, ललितविस्तर नाम का धर्मपर्याय[67] है, जो महावैपुल्य[68] का संग्रह (–भूत) सूत्रान्त है, बोधिसत्त्वों के कुशलमूल का भलीभांति उद्भावना अर्थात् उपदेश[69] करने वाला है, तुषितलोक के श्रेष्ठ भवन में बुलाने[70], सोच-विचार

(=रात्रौ असुप्तमात्रायाम् अर्थात रात मे जब लोग सो नही ही रहे थे)। यह वाक्यांश आगे भी आएगा।

63. महित (मह् = पूजा करना + इत=पूजित)। तुलनीय भोट पाठ **म्छोद् ब्यस्** (पूजा किया हुआ)।

64 मूल मे–**श्व**–के स्थान में–**श्च**–छप गया है। प्रशान्त के अनन्तर प्रशान्त-विनीतेश्वर है। इस स्थान में द्वितीय प्रशान्त संभवतः नाम का अंग नही है पर मूल तथा भोट दोनो में वह नामाङ्ग है।

65····65 मूल मे उत्तमोत्तम के लिए है अतिक्रान्तातिक्रान्त (=उलाँघकर गया-उलाँघकर गया)। यह श्रेष्ठार्थ वाचक है। भोट में .ह्फग्स् शिङ् शिन् तु .ह्फग्स् प दङ् ल्दन् प है। इस अनुवाद से .ह्फग्स् इस शब्द की निष्पत्ति **ह्फग् पा** (उद् + नम् अथवा अति + क्रम) इस धातु से है। भोट मूल का ठीक अक्षरानुवाद है। इस वाक्याश मे सम्पूर्ण के लिए मूल शब्द है' सर्वावन्तं। यह शब्द सर्ववित् का, द्वितीया विभक्ति का, एकवचन जान पड़ता है, पर है नही। नपुंसकलिंग जेतवन के विशेषण के रूप में इसे सर्ववित् ही होना चाहिए। संस्कृतव्याकरण के आधार पर यही कहा जा. सकता है। वस्तुत. यह मध्यमभारती के सव्वावन्त का याबच्छक्यसंस्कृत अनुवचन है। यह सम्पूर्णार्थवाचक शब्द है। तुलनीय भोट **थम्स् चद्** (=सर्व)।

66 मूल, स्थिताः (ठहरे, खड़े हुए)। भोट, **ह.ख्रोद्** (उपविष्टाः, बैठे)।

67. धर्मपर्याय = धर्मग्रन्थ।

68. महावैपुल्य = अत्यन्त महत्त्व, परम विस्तृत भाव। यह बोधिसत्त्वयान वा महायान का द्योतक है।

69 तुलनीय भोट, **स्तन् प** (देशना, उपदेश)।

70. मूल शब्द है—विकिरण भोट है—.**ह्बोद् प**· (आह्वे, बुलाना) विकिरण शब्द कृ धातु से बना है। आ उपसर्ग के साथ इसका अर्थ बुलाना संस्कृत

कर गर्भावक्रान्ति वा गर्भ प्रवेश[71] की लीला, तथा गर्भ के स्थान की विशेषताओं का ठीक-ठीक दिखलाने वाला है, अभिजात अर्थात् कुलीन (महापुरुष के) जन्म की भूमि का प्रभाव (कैसा होता है यह) सम्यक् प्रकार से दरसाने वाला है, =६क= विशेष गुणों में सकल बालचरितों से (बोधिसत्त्व की) अतीतता बतलाने वाला है, लोक मे सम्बन्ध रखनेवाले सभी शिल्पविषयो में, कर्मविषयों में, लिपियों में, संख्याओं में, [71क] मुद्रा अर्थात् सामुद्रिकशास्त्र में[72] गणना (अर्थात् व्यक्ताव्यक्तगणित शास्त्र) में[73], खड्ग-योग[74] में, धनुष्कलाप अर्थात् धनुर्विद्या[75] में, युद्ध[76] में, सालम्भ अर्थात् मल्लविद्या[77] मे, ('बोधिसत्त्व की) सब

में प्रचलित है। तुलनीय—आकारण, आकरण, आकारित, आकारय (बुलाओ)। हिन्दी में हँकारना का आधार यही आ + कृ धातु है। वि उपसर्ग के साथ तथा रूपविशेष के साथ (अर्थात् विकारण या विकरण न हो कर विकिरण इस रूप में) लब्ध यह प्रयोग स्पृहणीय है।

71. मूल में केवल अवक्रम (प्रवेश)। पर भोट में, ल्ह..-मस् सु ह..-जुग् प (=गर्भाविक्रमण, गर्भावक्राति, गर्भ-प्रवेश)।

71क तुलनीय भोट ग्रङ्स् (एक द्वि इत्यादि संख्या)।

72. तुलनीय भोट लग्-चि.स् (=हस्त—गणना हस्त—लेखा)।

73 गणना का समानार्थक भोट शब्द है चिस्।

74. मूल में केवल असि शब्द है भोटानुवाद में प्रतिशब्द है रल् ग्रि हि. थब्स् (खड्गयोग, खड्गोपाय)।

75. मूल है धनुकलाप। भोट प्रतिशब्द है ह..-फोङ्। भोटानुवाद में धनु-कलाप के अन्तर्गत दोनों शब्दों का पृथक्-पृथक् अनुवचन नही किया गया है। वस्तुतः यहाँ कलाप शब्द का प्रयोग तूणीर के अर्थ में है। धनु (ष्) कलाप का अक्षरार्थ धनुष और तरकश है। औपचारिक प्रयोग धनुर्विद्या के अर्थ में है। तुलनीय अमरकोष, कलापो भूषणे बर्हे तूणीरे संहतेऽपि च।

76. मूल के युद्ध शब्द का भोट में यथार्थ अनुवचन नही हुआ है। भोट में तत्स्थानापन्न शब्द स्तोब्स (बल) है।

77. मूल मे शब्द है सालम्भ। शुद्ध सस्कृत रूप संलम्भ अथवा संरम्भ। भोटानुवाद के अनुसार इस शब्द का अर्थ मल्लविद्या है यद्यपि इस अर्थ मे यह शब्द सुप्रचलित नही है। (यह कोप वा क्षोभ के अर्थ में ही संस्कृत तथा पालि में प्रचलित है।) तुलनीय-प्रणिपातप्रतीकारः संरभो हि महात्मनाम् (रघुवंश 4।64)। स चे नेरेसि अत्तानं कंसो उपहतो यथा। एस पत्तोसि निव्वानं सारभो ते न विज्जति (धम्मपद 134)। यहाँ मल्लविद्या के अर्थ

जनों से अधिक विशेषता दरसाने वाला [78] है, अन्तःपुर के तथा (अन्य नाना प्रकार के) विषयों में उपभोगों का संदर्शक है, (– 5 –) सब बोधिसत्त्वों की चर्या के निष्यन्द [79] (निचोड़) से सिद्ध हुई फल की प्राप्ति का सब प्रकार से कीर्तन करने वाला है, बोधिसत्त्वो की लीलाओं से युक्त है [80], सकल मार मंडली का नाश करने वाला है, तथागत के बल [81], वैशारद्य [82], तथा अठ्ठारह आवेणिक [83] अर्थात् असाधारण धर्मों के संग्रह से युक्त है, माप में न आने वाले बुद्ध के

में औपचारिक प्रयोग मान कर भोट में अनुवाद है—(**गुमद् क्यि ह्जिन् स्तङ्स्**, मल्लस्य ग्रहण–विधि : ।

78. मूल में **संदर्शनः** पद होना चाहिए प्रधान रूप में, पर यहाँ संदर्शनान्तःपुरविषयभोगसंदर्शनः इस प्रकार के पाठ में समस्तपद का अंग-सा जान पड़ता है। ध्यान से देखने पर जान पड़ता है कि ०संदर्शनः + अन्तपुर० इस प्रकार की अवस्था में विसर्ग की उपेक्षा करके दीर्घसंधि कर डाली गई है। शुद्ध संस्कृत की दृष्टि से यदि संधि होती तो पाठ ०संदर्शनो ऽन्तःपुरविषयभोगसंदर्शन· इस प्रकार का होता। भोटानुवाद में **कुन् तु बस्तन् प** (संदर्शनः) पर ही वाक्यविरति है। अतः ०संदर्शनान्तःपुर० पाठ में संदर्शन को समास का अंगभूत शब्द नहीं माना जा सकता। तुलनीय, बु० हा० सं० ग्रा०, पृ० 33।
79. मूल पाठ **निष्पन्द**। जहाँ तक संभव है यह **निष्पन्द** पाठ **निष्यन्द** का ही लिपिसादृश्य से उत्पन्न रूप है। यहाँ दोनों पाठों से अर्थसंगति लग सकती है। पर निष्पन्द पाठ के अनुसार अर्थ तभी ठीक होगा जब निष्पन्द की व्युत्पत्ति निस् + पद् धातु से हो अर्थात् निष्पन्द को निष्पत्ति (परिपाक, पूर्णता) के अर्थ में ग्रहण करें। स्पन्द (= चलना, काँपना) धातु से व्युत्पत्ति करने पर अर्थ संगति संभव नहीं। यहाँ नि + स्यन्द (= निचुड़ना) से व्युत्पत्ति मान कर अर्थ किया गया है। भोटानुवाद यहाँ तात्पर्य-प्रकाशक होते हुए भी यथारुत नहीं है। तुलनीय भोट—**र्ग्यु-म्थुन-पस्**, सदृश हेतुना अथवा हेतुसंवादेन।
80. मूल पाठ है विक्रीडित। भोट पाठ है **नर्म् पर् रोल् प**, जो सर्वथा अक्षरानुवाद है। तुलनीय छन्दोविशेष वाचक शब्द शार्दूलविक्रीडित (व्याघ्र-लीला)।
81. द्रष्टव्य महाव्युत्पत्ति 7।
82. द्रष्टव्य महाव्युत्पत्ति 8।
83. द्रष्टव्य महाव्युत्पत्ति 9।

पुष्प)[94], सुमनोज्ञघोष, सुचेष्टरूप[95], प्रहसितनेत्र, गुणराशि, मेघस्वर, सुन्दरवर्ण, आयुस्तेजा, सलीलगजगामी, लोकाभिलापित, जितशत्रु, संपूजित, विपश्यी, शिखी, विश्वभू, क्रकुच्छन्द[96] और कनकमुनि । तथा तथागत, अर्हत, सम्यक् संबुद्ध = ७क = काश्यप ने (भी ललितविस्तर धर्मपर्याय का) पूर्व (युग) में प्रवचन किया है ।

8. भगवान् भी इस समय उस (धर्मपर्याय का) प्रकाश करें, बहुजनों के हित के लिए, बहुजनों के सुख के लिए, लोकानुग्रह के लिए, महान् जनसमूह के[97] देवताओं तथा मनुष्यों के अर्थ अर्थात् प्रयोजन के लिए (हित के लिए)[98] सुख के लिए[99], [100]इस महायान के उद्भावन अर्थात प्रवचन के लिए, सब[100]

---

94. भोट, **रि रब् मे तोग्** (सुमेरु-पुष्प) । यह पाठ प्रस्तुत मूल मे नही है ।

95. भोट, **द्गे ब छुल ब्ज़ङ्-ङ्** (सुशीलरूप) । अनुवाद में भेद विचारणीय है । यद्यपि सुचेष्टरूप तथा सुशीलरूप शब्दों में भावार्थ समान है ।

96. भोट-में **ह्खोर् ब ह्-जिग्** (चक्रच्छिद्) । इस भोट प्रतिशब्द से मूल के **क्रकुच्छन्द** शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश पड़ता है—चक्रं छिनत्ति (भव-चक्र को काटता है) इति क्रकुच्छन्दः । **क्रकु** चक्र का तथा **छन्द** छिद् अथवा छिन्द् का विकृत रूप है । पाणिनि के पृषोदरादि-योग से ऐसे शब्द सिद्ध होते है । द्रष्टव्य, पाणिनि 6।3।109 ।

97. मूल पाठ, महतो जनकायस्य । भोटानुवाद, **स्क्ये बो फल् पो छेहि.** (महाजनराशेः) । काय का अर्थ यहाँ राशि अथवा समूह से है । यहाँ आगे भोट भाषान्तर में **दोन् दङ्** (= अर्थाय) इतना पाठ अधिक है ।

98. केवल भोट मे उपलब्ध पाठ **स्मन् प** (हित) ।

99. मूल मे, अर्थाय । भोट में **दोन् दु ह्-ग्युर्** (स्लद् दु) अर्थभूताय । मूल मे, सखाय । भोट मे **ब्दे बर् ह्-ग्युर् ब** (स्लद् दु), (सुखभूताय) ।

100⋯100 मूल पाठ है **अस्य च महायानोद्भावनार्थम्** । अर्थानुसार अस्य च महायानस्य उद्भावनार्थम्, यों पाठ होना चाहिए या फिर **महायान** को लुप्तविभक्तिक प्रयोग मान कर सगति लगानी चाहिए । भोटानुवाद इसी अर्थ का साक्षी है—**थेग् प छेन् पो ह्-दि हङ् बर्जोद् प (स्लद् दु)**, महायानस्य अस्यापि कथनार्थम् । **उद्भावन**, का अर्थ प्रकटकरना है । भोट में इसका अनुवाद कथनार्थक धातु **ब्र्जोद् प से** किया गया है । इसी शब्द का अनुवाद आगे उपदेशार्थक धातु से किया है । द्रष्टव्य-टिप्पणी 102 ।

परप्रवादियों अर्थात् विरुद्ध मत के मानने वालों के निग्रह के लिए,[101] सब मारों के अभिभवन अर्थात् पराजय के लिए[101], सब बोधिसत्त्वों के उद्भावन अर्थात् उपदेश देने के लिए[102] बोधिसत्त्व-यान के अनुयायी सब पुद्गल अर्थात् प्राणियों के वीर्यारम्भ (उद्योग के प्रारम्भ) को उपजाने के लिए, सद्धर्म के अनुपरिग्रह (पक्षपात) के लिए, त्रिरत्न-वंश के अनुपरिग्रह (पक्षपात) के लिए[103], त्रिरत्न-वंश के अनुपच्छेद अर्थात् अविच्छेद के लिए (–६–) तथा बुद्धकार्य की [104] परिपूर्णता को सब प्रकार से दिखलाने के लिए[104]। भगवान् ने तूष्णीभाव (मौन) द्वारा, देवताओं सहित (इस) लोक पर अनुकम्पा कर, उन देवपुत्रों का अधिवासन किया (कथन स्वीकृत किया) [105]।

9. तदनन्तर (वे) देवपुत्र भगवान् के तूष्णीभाव (मौन) से (उनकी) अधिवासना (अनुमति) जानकर, सन्तुष्ट हो, उल्लसित हो, आनन्दित हो, प्रीति तथा सौमनस्य (मन के सुख) को उपजाकर, भगवान् के चरणों की शिर से वन्दना कर, = 7ख = भगवान् की तीन बार[106] प्रदक्षिणा कर, (भगवान् पर) चन्दन के चूर्ण की, अगुरु के चूर्ण की, तथा मन्दार पुष्पों की वर्षा कर[107], वहाँ (से) अर्न्तधान हो गये।

101....101 बौद्धवाङ्मय में मार केवल एक देवता का ही नहीं है प्रत्युत अन्य अर्थों का भी द्योतक है। पाँच मार–क्लेशमार, स्कन्धमार, अभिसंस्कारमार, मृत्युमार, तथा देवपुत्रमार। द्रष्टव्य विसुद्धिमग्ग तथा दीपिका 7|59। यह वाक्यांश मूल में अगले दो वाक्यांशों के मध्य में है, पर भोट में दोनों वाक्यांशों से पूर्व में है।

102. तुलनीय भोट **ब्स्तन् प** (देशना, उपदेश, अनुशासन), ।

103. यह समूचा वाक्यांश भोटानुवाद में नहीं है।

104. मूल में परिसंदर्शनार्थम् केवल इतना ही है। भोट में इस वाक्यांश का अक्षरानुवाद न कर स्पष्टीकरण किया गया है—**योङ्स् सु जोग्स् पह ङ् कुन् तु ब्स्तन् पहि स्लद् दु** (परिपूर्णतया सर्वतः दर्शनार्थम्)।

105 मूल में है अधिवासयति स्म। स्वीकृति वा अनुमति के अर्थ में अधि-वस् (प्रेरणार्थक) धातु का प्रयोग बौद्ध साहित्य में ही देखा जाता है। यहाँ भोटानुवाद है—**ग्नङ्** (स्वीचकार, अनुमन्यते स्म, स्वीकार किया)।

106. मूल में त्रि त्रिः के अर्थ में है। तुलनीय भोट, **लन् ग्सुम्** (त्रिः, तीनबार)।

107. मूल में अभ्यवकीर्य (बिखरा कर)। भोट भी मूलवत्, **म्ङोन् पर् ग्तोर् ते** (अभ्यवकीर्य)। हिन्दी अनुवाद यहाँ औपचारिक है।

10. तदनंतर भगवान् उसी रात में तड़के[108] जहाँ[109] मंडल-वाट की रचना[110] करीर[111] की थी वहाँ गये, जाकर, भगवान् बोधिसत्वों के संघ से चारों ओर से घिरे हुए[112] तथा श्रावकों के संघ से आगे किये हुए,[113] आनन जो

---

108. मूल, व्यत्ययेन (बीतने के साथ रातके)। भोट, नम् नङ्स् प दङ् (रात्रि अत्ययेन)। हिन्दी में इस अर्थ को तड़के अथवा सवेरे शब्द से प्रकट किया जा सकता है।

109. मूल में यहाँ पर येन पद की अपेक्षा है। और भोट में ग-ल-न (येन, जहाँ) शब्द देख कर यहाँ इस विषय में कोई सन्देह नहीं रहता। पाठान्तर में भी येन शब्द है। यत्र के अर्थ में येन तथा तत्र, के अर्थ में तेन शब्द बौद्ध-वाङ्मय में प्रचलित है और ये दोनो प्रायः साथ-साथ एक ही वाक्यांश में आते हैं। यहाँ तेन तो मूल में है पर येन को छोड दिया गया है और वह इस लिए कि लिखित-ग्रन्थों (कोशों) में पाठ दिखाई नहीं देता। यहाँ लिखित-ग्रन्थों में पाठ-त्रुटि का कारण यों है येन से पूर्व व्यत्ययेन है तथा लिपिकर की दृष्टि चूक गई है, जिसके कारण परवर्ती येन छूट गया है। जब यह त्रुटि एक पोथी में हो गई तब उससे की गई अन्य प्रतिलिपियों में उसका होना स्वाभाविक ही है। भोटानुवाद से यहाँ त्रुटि को दूर किया गया है।

110. मूल में मण्डलमात्र पाठ है, जिसके अपपाठ होने में संदेह नहीं है। पालि में दृष्ट मण्डलमाल वा मण्डलमाळ के अर्थ में ही इसका यहाँ प्रयोग है। माल अथवा माळ का सबन्ध संस्कृत वाट से जान पड़ता है। वाट से ही हिन्दी का वाडा शब्द आया है और प्रायः उसी अर्थ मे है। यहाँ भोटानुवाद है, ह्-खोर् गियु ख्यम्स् (गोल आँगन, गोल वाडा)। रचना का मूल शब्द व्यूह भोट में नहीं है।

111. मूल में करीर है पर पाठान्तर कारीर भी देखा जाता है। वस्तुत. कारीर (= करीर का, करीरनिर्मित) पाठ ही ठीक है। करीर का अर्थ यहाँ बाँस या बाँस के लट्ठों से है। तुलनीय भोट, स्म्यग् महि. ल्दुम् बुहि. (वंश-दण्डस्य अथवा वंश-दण्डानाम्, बाँस के लट्ठों का)।

112. मूल, पुरस्कृत (आगे लिए हुए)। भोट, योङ्स् सु ब्स्कर् शिङ् (परिवृत, चारों ओर से घिरे हुए)। मूल का पाठ प्रमादिक है।

113. मूल पाठ, पुरस्कृत (आगे किए हुए)। भोट पाठ, म्दुन् गियस ब्ल्तस्ते (अग्रत. दृष्ट)।

अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर वे बोधिसत्त्व तथा वे महाश्रावक जिस ओर भगवान् थे उस ओर अंजलि बाँध, प्रमाण कर, भगवान् से यह बोले। साधु। भगवन्, (साधु) उस ललितविस्तर नामक धर्मपर्याय की देशना करें। =8क= वह होगा बहु जनों के हित के लिए, बहुजनों के सुख के लिए, लोकानुग्रह के लिए, महान् जन समूह के, देवताओं और मनुष्यों के, इस काल के यथा अनागत के बोधिसत्त्व-महासत्त्वों के अर्थ अर्थात् प्रयोजन के लिए, हित के लिए, सुख के लिए। भगवान् ने तूष्णीभाव (मौन) द्वारा, देवताओं, मनुष्यों तथा असुरों सहित (इस) लोक पर अनुकम्पा कर, उन बोधिसत्त्व-महासत्त्वों का तथा उन महाश्रावको का अधिवासन किया (कथन स्वीकृत किया)।

12. वहाँ यह (गाथाओं मे) कथन है। (–7–)

रात्रामिहास्यां[120] मम भिक्षवोऽद्य
सुखोपविष्टस्य[121] निरङ्कणस्य[122]।
प्रविष्टमानस्य शुभैर्विहारैर्[123]
एकाग्रचित्तस्य समाहितस्य ॥6॥[124]

120. भोट, म्दङ् सुम् ह.-दिर् (अस्या ह्यस्तनरात्रौ, इस कल की रात में)।

121 उपविष्ट का अनुवाद भोट मे ग्नस् ग्युर् (बैठा हुआ) निःसन्देह ठीक ही है और प्र-विष्टमान का अनुवाद रब् तु ग्नस् ग्युर् (प्रकृष्टतया अथवा अच्छी-विधि से बैठा हुआ) भी प्रसंगानुकूल ही है। यहाँ प्र-विष्ट-मान के स्थान मे प्र-तिष्ठमान पाठान्तर है, उसका अक्षरानुवाद भोट में वही होगा जो प्र-विष्टमान का किया गया है। अतः यहाँ यह अनुमान करना कि मूलपाठ सम्भवतः प्र-तिष्ठमान ही हो न्यायहीन नही कहा जा सकता। भोट का ग्नस् प संस्कृत स्था धातु का अर्थ प्रायः दिया करता है। वस्तुतः यह प्र-विष्टमान प्रयोग विचित्र है। निष्ठा के अनन्तर मानप्रत्यय का प्रयोग संभव नही जान पड़ता। पर इस अपसंस्कृत में वह संभव है।

122. निरङ्कण शब्द संभवतः निरञ्जन का ही रूपान्तर है। अक्षरार्थः अंजन-रहित, कालिख रहित। भोटानुवाद, ञोन् मोङ्स् मेद् पर् (क्लेशरहित)। क्लेश शब्द राग, द्वेष, मोह आदि मन की मलिनताओ के लिए निरूढ शब्द है।

123 विहार शब्द का अनुवाद यहाँ भोट में ग्नस् प (स्थिति, दशा, अवस्था) शब्द से किया गया है। शुभ-विहारों से यहाँ अभिप्राय ब्रह्म-विहारों अर्थात् मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा से जान पड़ता है।

124. एकादशाक्षरी त्रिष्टुभ् जाति का उपजाति वृत्त। उपजाति के भेदो मे से यह जाया नाम की उपजाति है (इन्द्र०-उपेन्द्र-उपेन्द्र० इन्द्र)।

बिछाया ही गया था उस पर,[114] बैठे। बैठ कर भगवान् ने भिक्षुओं को (इस प्रकार)[115] आमंत्रित किया।

11 हे भिक्षुओं[115] प्रशान्त हो रही रात में[116] (मेरे पास[117]) शुद्धावासकायिक देवपुत्र ईश्वर, महेश्वर, नन्द, सुनन्द[118], चन्दन, महित, प्रशान्त, तथा प्रशान्तविनीतेश्वर, ये तथा अन्य अनेकानेक शुद्धावासिक देवपुत्र (आए, और ललितविस्तर धर्म-पर्याय के उपदेश के लिए प्रार्थना की, तथा अनुमति पा[119] वहीं

114. मूल, प्रज्ञप्त एवासने। भोट ग्दन् ब्शम्स् प ल (आसने विरचिते)। प्रज्ञप्त (तुलनीय पालि, पञ्ञत्त) शब्द बौद्धवाङ्मय में विरचित, सज्जित तथा तत्समानार्थक शब्दों के अर्थ में, विशेषतया आसन शब्द के विशेषण के रूप में, प्रयुक्त होता है। हिन्दी अनुवाद में एव का ही शब्द से प्रकाशन किया गया है। यदि इसे न प्रकट करें, जैसा कि भोट भाषा में किया गया है, तो **बिछाए गए आसन पर** इतने अनुवचन से काम चल सकता है तथा जो और उसपर को छोड़ा जा सकता है।

115. मूल में इति हि भिक्षव. है। भोट में द्गे स्लोङ् दग् (भिक्षव:, भिक्षुओं)। इति हि का भोट में उलथा नहीं किया गया है। हिन्दी में भिक्षवः अर्थात् हे भिक्षुओं इस संबोधन के साथ उसे प्रकट करना संभव न जानकर इससे पूर्व के वाक्य में कोष्ठक के भीतर **इस प्रकार** शब्द द्वारा प्रकट किया गया है।

116 मूल, रात्रौ प्रशान्तायाम् (प्रशान्त हो रही रात में)। भोट, म्दङ् ह्.-दिर् (इस कल, अस्मिन् ह्यस्तने)। यहाँ भोटानुवाद मूलानुसारी नहीं है अथवा अनुवाद के आधारभूत कोश में भेद था।

117. केवल भोट में उपलब्ध ङहि. द्रुङ् दु (मम पार्श्वे, मेरे पास)।

118 मूल में सुनन्द से पहले कोष्ठक में आनन्द यह शब्द दिया है। वह भोट में नहीं है। तथा इस वर्णन में, जो पूर्व में आए वर्णन की आवृत्ति है, उसमें भी न होने से प्रामादिक प्रक्षेप है।

119. कोष्ठक का पाठ अनुवादक का है। इसके स्थान में है, पूर्ववत् यावत् (पहले की भांति · तक अथवा ·· तक पहले की भाँति)। वस्तुत. केवल बिन्दु देकर छोड़ देने से ऐसे स्थानों पर काम चल सकता है और यही आधुनिक रीति है। अनुवादक ने कोष्ठक में जो पाठ दिया है वह छूटे हुए पाठ का सार है। सदृश वर्णन की पुनरावृत्ति में छूटे स्थान के लिए—पूर्ववत् यावत्—रखकर प्राचीन लोग काम चलाते थे। आज कल वह काम बिन्दुओं से चलाया जाता है।

अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर वे बोधिसत्त्व तथा वे महाश्रावक जिस ओर भगवान् थे उस ओर अंजलि बाध, प्रमाण कर, भगवान् से यह बोले। साधु। भगवन्, (साधु) उस ललितविस्तर नामक धर्मपर्याय की देशना करें। =8क= वह होगा वहु जनों के हित के लिए, वहुजनों के सुख के लिए, लोकानुग्रह के लिए, महान् जन समूह के, देवताओं और मनुष्यो के, इस काल के यथा अनागत के वोधिसत्त्व-महासत्त्वों के अर्थ अर्थात् प्रयोजन के लिए, हित के लिए, सुख के लिए। भगवान् ने तूष्णींभाव (मौन) द्वारा, देवताओं, मनुष्यों तथा असुरों सहित (इस) लोक पर अनुकम्पा कर, उन वोधिसत्त्व-महासत्त्वों का तथा उन महाश्रावकों का अधिवासन किया (कथन स्वीकृत किया)।

12. वहाँ यह (गाथाओं मे) कथन है। (–7–)

रात्रामिहास्यां[120] मम भिक्षवोऽद्य
सुखोपविष्टस्य[121] निरङ्गणस्य[122]।
प्रविष्टमानस्य शुभैर्विहारैर्[123]
एकाग्रचित्तस्य समाहितस्य ॥6॥[124]

---

120. भोट, म्दङ् सुम् ह्..-दिर् (अस्यां ह्यस्तनरात्रौ, इस कल की रात में)।

121. उपविष्ट का अनुवाद भोट में ग्नस् ग्युर् (बैठा हुआ) निःसन्देह ठीक ही है और प्र-विष्टमान का अनुवाद रब् तु ग्नस् ग्युर् (प्रकृष्टतया अथवा अच्छी-विधि से वैठा हुआ) भी प्रसंगानुकूल ही है। यहाँ प्र-विष्ट-मान के स्थान में प्र-तिष्ठमान पाठान्तर है, उसका अक्षरानुवाद भोट में वही होगा जो प्र-विष्टमान का किया गया है। अतः यहाँ यह अनुमान करना कि मूलपाल सभवत. प्र-तिष्ठमान ही हो न्यायहीन नही कहा जा सकता। भोट का ग्नस् प संस्कृत स्था धातु का अर्थ प्रायः दिया करता है। वस्तुतः यह प्र-विष्टमान प्रयोग विचित्र है। निष्ठा के अनन्तर मानप्रत्यय का प्रयोग संभव नही जान पड़ता। पर इस अपसस्कृत में वह संभव है।

122. निरङ्गण शब्द संभवतः निरञ्जन का ही रूपान्तर है। अक्षरार्थः अंजन-रहित, कालिख रहित। भोटानुवाद, ञोन् मोङ्स् मेद् पर् (क्लेशरहित)। क्लेश शब्द राग, द्वेष, मोह आदि मन की मलिनताओं के लिए निरूढ़ शब्द है।

123. विहार शब्द का अनुवाद यहाँ भोट में ग्नस् प (स्थिति, दशा, अवस्था) शब्द से किया गया है। शुभ-विहारों से यहाँ अभिप्राय ब्रह्म-विहारों अर्थात् मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा से जान पड़ता है।

124 एकादशाक्षरी त्रिष्टुभ् जाति का उपजाति वृत्त। उपजाति के भेदों में से यह जाया नाम की उपजाति है (इन्द्र०-उपेन्द्र-उपेन्द्र० —)।

परं महायानमिदं प्रभापयन्
परं-प्रवादान्[134] नमुचिं च धर्षयन् ॥11॥[135]

(क्या हो) अच्छा हो, आज भी उस (प्रयोजन) के लिए, श्रेष्ठ महायान का परिपूर्णता से उपदेश करते हुए, विरुद्धमत के मन्तव्यों तथा मार की घर्षणा (पराजय) करते हुए, बोधिसत्त्वों के समूह को सब ओर से अपनाने की इच्छा से, मुनि (उस वैपुल्यसूत्र का) भाषण करे[133]।

अध्येषणां देवगणस्य[135क] तूष्णी
अगृह्ह देवानधिवासनं[136] च।
सर्वे च तुष्टा मुदिता उदग्राः
पुष्पाणि चिक्षेपुरवाप्त हर्ष ॥12॥[137]

देवगण की (इस) अध्येषणा (प्रार्थना अथवा याचना) को तथा देवताओं के

---

134. परं-प्रवादान् = परप्रवादान्। पर के ऊपर बिन्दु केवल मुख सुखार्थ है। तुलनीय भोट्-फस् क्यि गोल् (परस्य प्रवादान्)।

135. इस वृत्त में प्रथम पाद इन्द्रवंशा (त त ज र) का है तथा अन्य तीन पाद वंशस्था के है। इस मिश्रण का नाम भी उपजाति है। द्रष्टव्य वृत्त-रत्नाकर—स्यादिन्द्रवज्रा यदितौ जगौ गः। उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ॥ अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः। इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रतासु स्मरन्ति जातिष्विदमेव नाम॥

135क. अध्येषणां देवगणस्य के स्थान में भोट पा० ल्ह यि छोग्स् क्यिस् गसोल् ब दे स्तङ् फ्युर् (देवगणस्य तस्या अध्येषणाया सिद्धये) है।

136. देवानधिवासनम् = देवानाम् अधिवासनम्! तुलनीय पालिप्रयोग—एतं बुद्धान सासनं (धम्मपद 183)। देवान + अधिवासनम् = देवानधिवासनम्। यहाँ संधि में प्रश्लेप नही हुआ है प्रत्युत अधि उपसर्ग के अकार का लोप होकर धि रह गया है। भोट में यहाँ देवान (= देवानाम्) का अनुवाद नहीं किया गया है। केवल प्रथम पाद में आए देवगण के अनुवाद से काम चला लिया गया है। देवानधिवासनं का अर्थ है देवताओं को दी गई अनुमति। अधिवस् धातु तथा अधिवासन वा अधिवासना के साथ कारक पद सदा षष्ठी में होता है। उस षष्ठी को युक्ति से हिन्दी-अनुवाद में बचाने का यत्न किया गया है।

137. इन्द्रवज्रा (त त ज ग ग)।

अधिवासन (कथन की स्वीकृति) को (मैंने) मौन से अपनाया[138]। अर्थात् देवगण की प्रार्थना मैंने चुप-चाप सुनी तथा देवताओं को मौन से ही अपनी स्वीकृति दी। संतुष्ट, उल्लसित, आनन्दित हो, हर्ष-प्राप्ति के साथ (उन) सबने पुष्प बरसाए[139]। [140]

तद् भिक्षवो मे शृणुतेह सर्वे
वैपुल्यसूत्रं हि महानिदानं।
यद् भाषितं सर्वतथागतैः प्राग्
लोकस्य सर्वस्य हितार्थमेवं ॥13॥[141]

---

138. तूष्णीम् यहाँ क्रिया विशेषण है। अर्थ मौन से अगृह्-न का संस्कृत व्याकरण के विशेष सम्बन्ध नहीं है। तुलनीय पालि गण्हि (लङ् उत्तम पुरुष, एक वचन) अर्थात् ग्रहण किया, अपनाया।

139. मूल चिक्षेपु. (फेंके)। भोट, सिल् म ग्तोर् (सवाद्य फेंके)।

140. भोटानुवाद में ऊपर (1/136) उल्लेख किया जा चुका है कि देवान् (= देवानाम्) शब्द छूट गया है। तथा प्रथम पाद के अनुवाद में कुछ विशेष है—ल्ह यि छोग्स् क्यिस् ग्सोल् व दे स्नङ् फ्यिर् (देवानां समूहेन [कृतायाः] अध्येषणाया. तस्याः सिद्धये [= सिद्धिमुपादाय, सिद्ध्यर्थम्]।

141 इन्द्रवज्रा (त त ज ग ग)।

142. निदानपरिवर्त की गाथाओं की छाया यहाँ दी जा रही है—ज्ञानप्रभं हततमः प्रभाकरं (अथवा हततमसं प्रभाकरं) शुभप्रभ शुभविमलाग्रतेजसम्। प्रशान्तकायं शुभशान्तमानसं मुनिं समाश्लिष्यत शाक्यसिंहम् ॥1॥ ज्ञानोदधिं शुद्धमहानुभावं धर्मेश्वरं सर्वविदं मुनीशम्। देवातिदेवं नरदेवपूज्यं धर्मे स्वयंभुवं वशिनं श्रयध्वम् ॥2॥ योदुर्दमं चित्तमवर्तयद् वशे यो मारपाशैरवमुक्तमानसः। यस्याप्यवन्ध्याविह दर्शनश्रवावस्त्यद्यान्ततः शान्तस्य विमोक्षपारगः ॥3॥ आलोकभूतं तमतुल्यधर्माणं तमोनुदं सन्नयवेदितारम्। शान्तक्रियं बुद्धममेयबुद्धिं भक्त्या समस्तयोपसंक्रमध्वम् ॥4॥ स वैद्यराजोऽमृतभेषजप्रदः स वादिशूरः कुगणिप्रतापकः। स धर्मबन्धुः परमार्थकोविदः स नायकोऽनुत्तरमार्गदेशिकः ॥5॥ रात्र्यामिहास्यां मम भिक्षवोऽद्य सुखोपविष्टस्य निरञ्जनस्य। प्रविष्टस्य (अथवा प्रतिष्ठितस्य) शुभैर्विहारैर् एकाग्रचित्तस्य समाहितस्य ॥6॥ अथागमन् देवसुता महर्षयः प्रतीतवर्णा विमलश्रियोज्ज्वलाः। श्रियावभास्येह च जेतसाह्-वयं वनं मुदा मेऽन्तिकमभ्युपागताः ॥7॥ महेश्वरश्चन्दन ईशनन्दी प्रशान्तचित्तो महितः सुनन्दनः शान्ता-

॥ २ ॥

॥ समुत्साहपरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 7 (पंक्ति 20)–13 (पंक्ति 6)

भोटानुवाद 8ख (पंक्ति 6)–14ख (पंक्ति 7)

॥ समुत्साहपरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओ, वह[1] महावैपुल्य-सूत्रान्त, शोभन, ललितविस्तर नाम का धर्म-पर्याय कौन सा है ? हे भिक्षुओ, इस (धर्मपर्याय) में,—तुषित (लोक) के वर (श्रेष्ठ) भवन में अवस्थित, पूज्यों द्वारा पूजित, अभिषेक को प्राप्त, शत-सहस्र देवताओं से स्तुत, स्तोमित (मानित)[2], वर्णित, तथा प्रशंसित, (—8—) आशय अर्थात् अभिप्राय को प्राप्त[3], = 9क = प्रणिधान अर्थात् शुभ संकल्प के द्वारा सम्यक् (सांसारिक लोगों से) ऊपर उठे हुए, सब के सब बुद्ध के धर्मों को पा गई बुद्धि से युक्त, अत्यन्त विस्तृत तथा सब प्रकार से शुद्ध ज्ञानरूपी नेत्रवाले, स्मृति, मति, गति (पहुँच), [अपत्रपा, प्रीति,][4] तथा धृति[1] से तपी-तपाई विपुल (लहराती हुई)[5] बुद्धि से युक्त[6]:

2 दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा तथा (धर्मदेशना के) उपाय में महती कुशलता की परम पारमिता को प्राप्त, महामैत्री, महाकरुणा, महामुदिता तथा

---

1. मूल, तत्र 'वहां' भोट, दे ल। यहां यह पद केवल वाक्यालंकार है। हिन्दी-अनुवाद में इसे छोड़ देना भी अनुचित नहीं है।
2 इस स्थान पर स्तुत, स्तोमित, वर्णित तथा प्रशंसित वस्तुतः पर्याय वाचक है, यद्यपि उनमें सूक्ष्म भेद है। भोट मे स्तोमित के लिए प्रतिशब्द बकुर् ते 'सत्कृत, मानित' है।
3. मूल में पाठ है—लब्धभिषेकस्य। यह सचमुच लिपिकर के प्रमाद से पोथी में हुआ है। इससे पूर्व ही, समीप मे, अभिषेकप्राप्तस्य वाक्यांश आ चुका है। दोनों ही लब्धभिषेकस्य तथा अभिषेकप्राप्तस्य का एक ही अर्थ है। यह पुनरुक्तिदोष क्यों ? भोट मे इस वाक्यांश के स्थान मे **बसम् प थोब् प** 'लब्धाशयस्य, अभिप्राय को प्राप्त' है। इससे भी स्पष्ट है कि भोटानुवादक के सम्मुख यह पाठ न था। आशय से यहां उन अभीष्ट मानसिक विचार धाराओ का ग्रहण है जिनसे लोकहित होता है।
4 ,4 अपत्रपा तथा प्रीति ये दोनों शब्द मूल मे नही हैं पर भोटानुवाद मे है—**खेल् योद् प** 'अपत्रपा' **दगह् ब** 'प्रीति आनन्द'। धृति शब्द भोटानुवाद मे नहीं है।
5. तुलनीय भोट र्लबस् 'उर्मि, तरंग'।
6 चोथी तथा पाँचवी टिप्पणियो की दृष्टि में रख कर भोटभाषान्तर के आधार पर यदि मूल का नवीकरण करे तो वाक्यांश यो होगा—स्मृति-मति-

महोपेक्षा के ब्रह्मपथ ('ब्रह्मविहार') में कोविद, महती अभिज्ञा ('विद्या'[7]) के द्वारा असंग अर्थात् आसक्ति-रहित तथा आवरण-रहित[8] ज्ञानसंदर्शन अर्थात् ज्ञान के साक्षात्कार की अभिमुखी (नामक बोधिसत्त्वभूमि) में (स्थित) हुए, स्मृत्युपस्थान, सम्यक् प्रहाण, ऋद्धिपाद, इन्द्रिय, बल, बोध्यंग, मार्ग तथा सब बोधिपक्ष-धर्मों की भलीभाँति सब ओर से पूर्ण कोटि अर्थात् अन्तिम सीमा तक पहुँचे हुए,

3. अपरिमित पुण्य (तथा ज्ञान[9]) के जुटाने से (मिले हुए) लक्षणों तथा अनुव्यञ्जनों से सम्यक् अलकृत काया वाले, दीर्घ (काल) मे (धर्म की) अनुवृत्ति करने वाले, जैसी कहनी वैसी करनी वाले, उलट-पलट के बिना = 9ख = वाणी के कर्म का[10] उदाहरण देते वाले, सीधे-सादे, कुटिलता से रहित,[11] निश्छल,[12] तथा (कही भी) ठोकर न खाने वाले मन से युक्त, सब प्रकार के मान, मद, दर्प, भय, तथा विषाद से रहित, सब प्राणियों में समान-चित्त-वाले;

4 अपरिमित कोटि-नयुत-शत सहस्र[13] बुद्धों की सब प्रकार से उपासना करने वाले, अनेक कोटि-नयुत-शत-सहस्र'[13] बोधिसत्त्वों द्वारा देखे गए-देखे गए

गत्यपत्रपा-प्रीति-धृत्युत्तप्त-विपुलोर्मि-बुद्धेः यहाँ भोटानुवाद को आँक लेना भी ठीक ही रहेगा।—**द्रन् प दङ् ब्लो ग्रोस् दङ् तोंग्स् प दङ् खेन् याद् प दङ् दगह् -ह्..-वर् वहि. ब्लो र्लब्स् पो छे दङ् ल्दन् प ।**

7. भोट में अभिज्ञा पाठ नहीं है । वहाँ पाठ है—**रिग् प** 'विद्या' ।

8 मूल में ही महाभिज्ञासंगणावरण० पाठ में पद-च्छेद यों करना होगा—महाभिज्ञा-असग-अनावरण । ऐसा ही पदच्छेद करके भोटानुवाद किया गया है । तुलनीय भोट, **रिग् पा छेन् पोस्** (=महाविद्यया)—**स्ग्रिब् प मेद् चिङ्** (=अनावरण)—**छग्स् प मेद् प हि.** (=असंग) "महाविद्या-असंग-अनावरण–" असंग + अनावरण जो पाणिनीय संस्कृत में असंगानावरण होना चाहिए यहाँ असंगणावरण हो गया है । दो अकारों की संधि "आ" न होकर केवल "अ" रह गई है तथा अन्त के णकारके प्रभाव से पूर्व का नकार मूर्धन्य हो गया है ।

9. तुलनीय भोट, **ये शेस** 'ज्ञान' । यह पद मूल में नहीं है ।

10 भोट मे पाठ है—**छिग् गि लम्**, 'वाक्पथ' पर मूल में है—वाक्कर्म ।

11. भोट, **म-योल्** 'पटलरहित बिना पर्दा के', मूल मे है अकुटिल ।

12. मूल में अवङ्क; भोट में **गृय-ग्यु मेद् प** 'कुटिलता, छल अथवा वचना से रहित ।'

13 सौ हजार नयुत जितने करोड़; मूल के शब्दो द्वारा ही हिन्दी में कहे तो शत-सहस्र नयुत जितनी कोटि । नयुत = १००,०००,०००,००० अर्थात् खरब भोट में इसके लिए **खग्-खिग्** शब्द है ।

वदन वाले, शक्र, ब्रह्मा, महेश्वर, लोकपाल, देवों, नागों, यक्षों, गन्धर्वों, असुरों, गरुडों, किन्नरों, महोरगों[14] तथा राक्षसो के गण से अभिनन्दन किए गए यश वाले, सब पद[15] प्रभेदों के निर्देश अर्थात् विवेचन पूर्वक कथन में, असंग अर्थात् आसक्ति रहित प्रतिसंविदा मे प्रवेश कराने के ज्ञान में कुशल, सब बुद्धों के (सु) भाषितों के धारण करने अर्थात् कंठस्थ करने की स्मृति के भाजन ['पात्र'] (तथा) विक्षेप अर्थात् चचलता से रहित (एवं) अनन्त-अपर्यन्त धारणी (नामक मन्त्र-विशेषों) के उत्कृष्ट रूप से लाभ करने वाले;

5. महती धर्म की-स्मृत्युपस्थान, सम्यक् प्रहाण, ऋद्धिपाद, इन्द्रिय, बल, बोध्यंङ्ग, मार्ग, [प्रज्ञा]पारमिता, उपाय-कौशल्य, धर्म, रत्न, पुण्य के साथ भली भांति ऊपर लाई हुई[16] =10क= नौका के महान्, सार्थवाह, चार ओघों ('बाढ़ों') से पार जाने के अभिप्राय वाले[17];

6. मार[18] तथा (अन्य) प्रत्यर्थिकों अर्थात् अनर्थ करने वाले का विनाश कर चुके हुए, सकल परप्रवादियों का भलीभांति निग्रह अर्थात् पराजय कर चुके हुए, (मार से होने वाले) संग्राम मे शीर्ष पर अर्थात् अग्रभाग पर डटकर खड़े हुए, (राग-द्वेष-मोह रूपी) क्लेश-शत्रुओं के समूह का नाश करने वाले, ज्ञान के श्रेष्ठ-वज्र का दृढ अस्त्र-शस्त्र (धारण करने) वाले;

7 बोधिचित्त रूपी मूल से (निकले) महाकरुणा के तने[19] मे उपजे अध्याशय अर्थात् उत्कृष्ट अभिप्राय (के शाखा-पत्र-पुष्प-फल) वाले;

---

14 ..14. यह पाठ भोट मे नहीं है।

15. पद बौद्धपरिभाषा में वाक्य का बोधक वचन है। द्रष्टव्य अभिधर्मकोश २।४७।

16 मूल पाठ, महाधर्मनौ''' '''महासार्थवाहस्य। यहाँ महाधर्मनौ का महासार्थवाह से अन्वय है। इन दोनों वाक्यांशों के बीच जो विशाल समस्त पद है वह नौ का विशेषण है। अनुवाद मे, महती धर्म की'''''''नौका के महान् सार्थ सार्थवाह इन दो वाक्यावयवों बीच मूल के विशाल समास का अनुवचन किया गया है।

17 -मूल, गामिनाभिप्रायस्य। शुद्ध संस्कृत मे इसे गामि-अभिप्रायस्य = गाम्यभिप्रायस्य इस रूप में पढना होगा।

18 मूल पाठ, मान; भोट पाठ बदुद्, मार। भोट पाठ उचिततर है।

19 मूल पाठ, दण्ड 'तना'। भोट पाठ, छु-त्र 'माँस-ग्रन्थि'। भोटभाषान्तर का मूलभूत संस्कृत शब्द क्या था, यह दुरूह्य है।

8 गभीर, (धीर)[20] वीर्य ('उद्योग') (तथा धर्म[21]) के जल से अभिषेक किए गए (धर्मदेशना) के उपाय की कुशलता की कर्णिका अर्थात् बीजकोश वाले, बोध्यङ्ग तथा ध्यान के केसर से युक्त, समाधि के किंजल्क अर्थात् पराग-कोश वाले, गुण-गण-रूपी विमल[22] सर में अच्छे प्रकार से उत्पन्न हुए, मद और मान के परिताप[23] ('जलन') से रहित चन्द्रमा के समान निर्मल पत्र वाले, शील, श्रुत अर्थात् गुरुमुख से विद्याश्रवण, तथा अप्रमाद[24] (के वचनों[25]) से दशदिशाओं में बेरोक-टोक (उठती[26]) सुगन्धवाले, लोक में ज्ञान से बढ़े हुए, आठ लोक के (-9-) धर्मों से निर्लिप्त महापुरुष-रूपी पद्म;

9 पुण्य तथा ज्ञान के भण्डार की फैलती हुई सुरभि-गन्धवाले तथा प्रज्ञा एवं ज्ञान रूपी सूर्य की किरणों से खिले हुए अत्यन्त शुद्ध शत-दलवाले पूर्ण-कमल[28],

10 चार ऋद्धिपादों के परम =10ख= वेग से दौड़ने वाले[29], चार आर्य-सत्यरूपी अत्यन्त तीक्ष्ण नख तथा दाढ़ वाले, चार ब्रह्मविहार-रूपी सरल दांतों के

20 भोट पाठ, व्र्तॅन् प 'धीर' । यह मूल में नहीं है ।

21. भोट पाठ, छोस् 'धर्म' यह मूल में नही है ।

22. मूल के विमल के स्थान में भोट भाषान्तर के साक्ष्यानुसार वितत (तुलनीय भोट, ग्र्यं छेन्) पाठ होना चाहिए । आलंकारिक रुचि के अनुसार विमल उचिततर पाठ है ।

23 मूल पाठ, परिवाह 'धारा, प्रवाह'; भोट पाठ, ग्दुङ् ब 'ताप, जलन, परिताप' । भोट पाठ ही शुद्ध प्रतीत होता है ।

24 मूल पाठ है—अप्रसाद । यह पाठ सर्वथा प्रकरण के प्रतिकूल है । यहाँ पर भोठ पाठ है—बग् योद् प 'अप्रमाद' । निश्चय ही भोट पाठ साधु पाठ है ।

25. भोट पाठ, ग्सुङ 'वचन' यह मूल में नही है ।

26. भोट पाठ, ल्दङ् ब 'उत्थित, उठता हुआ, उठा' । यह पाठ मूल में नही है ।

27. मूल मे विस्तृत फैला हुआ, फैली हुई; भोट मे ह् -ब्युङ् ब 'उत्पन्न, अद्भुत' ।

28. मूल पाठ है शतपत्र पद्मतपन, इस पाठ में तपन (=सूर्य) ठीक नही जान पड़ता क्यों कि इससे पूर्व इसी वाक्याश में दिनकर (=सूर्य) आचुका है । भोट पाठ पद् म .ह् दब् म ब्ग्र्य प ग्यंस् प 'शतपत्र पद्मपूर्ण' यहाँ ठीक बैठता है ।

29 मूल पाठ परमजापजवित एक प्रकार का अपभ्रश पाठ है जिसमे जाप प्रतिनिधि है जाव अथवा जव का, तथा जपित प्रतिनिधि है जवित(=जूत) का । तुलनीय भोट म्छोग् तु-म्ग्योग्स् प हि.-श्रुग्स् दङ् ल्दन् प, 'परम-क्षिप्र-वेगवत्' । हिन्दी अनुवाद इसी अर्थ के समीप है ।

दिखाने वाले[30], चार संग्रहवस्तुओं के सम्यक् संग्रह रूपी सिर वाले, बारह अंग वाले प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुबोध अर्थात् मन में साक्षात्कार के क्रम द्वारा उन्नत काय वाले, सैंतीस बोधिपाक्षिक-धर्मों की भरी-पूरी विशेष-सुन्दर जटा वाले[31], विद्या तथा ज्ञान रूपी केसर वाले, तीन विमोक्षों की मुख से जंभाई लेने वाले[32], शमथ ('शान्ति'[33]) तथा विपश्यना ('अन्तर्दर्शन') के सुन्दर तथा विशेष शुद्ध नेत्र वाले, ध्यानों, विमोक्षों, तथा समाधियों में समापत्ति ('चित्तस्थापन') की पहाड़ी दून की गुहा में बसने वाले[34], चार ईर्यापथों अर्थात् चलने, टहलने, सोने तथा खड़े होने की क्रियाओं तथा विनय अर्थात् सदाचार नियमों के वन तथा उपवनों[35] में भलीभाति बढ़े हुए शरीरवाले[36], दश-बल तथा चतुर्वैशारद्य[37] (अर्थात् चार प्रकार की निर्भयता) के द्वारा पास में आई हुई शक्ति वाले[38], भव (अर्थात् होने) तथा विभव (अर्थात् न होने) के भय तथा लोमहर्ष (रोएं खड़े होने

30. मूल पाठ, चतुर्ब्रह्मविहारनिश्रितदर्शनस्य शोधनीय है। भोट में है छङ्स् प हि. ग्नस् ब्शि हि-सो द्रङ्-ब्रस्जेर् ब, 'चतुर्ब्रह्मविहार-सरलदशन-दर्शक'। संभवतः मूल पाठ चतुर्ब्रह्मविहारनिशितदशनस्य (= चार ब्रह्मविहारों के तेज दांतवाला) था।
31. मूल पाठ ०जातिना० सर्वथा अशुद्ध है। भोटानुसार रल् प चन् 'जटिनः' पाठ होना चाहिए जो शुद्ध जान पड़ता है।
32. मूल में मुखविजृम्भित; भोट में 'स्गो' है। 'स्गो' द्वार तथा मुख दोनों का वाचक है।
33. मूल में समर्थ, पर पाठान्तर मे समथ (= 'शमथ, शान्ति') है। पाठान्तर ही उचित पाठ है।
34. 'निवासित' यह मूल पाठ 'बसाया हुआ' यह अर्थ देता है पर वस्तुतः अर्थ 'बसा हुआ' होना चाहिए। फलतः यह अपभ्रष्ट पाठ, न्युषित, शब्द के अर्थ मे है। तुलनीय भोट, ग्नस् प 'स्थित, उषित'।
35. मूल पाठ, ०नौपवन०; पाठान्तर, ०नोपवन०; ये दोनो पाठ भ्रष्ट हैं। भोटानुसार पाठ ०वनोपवन० होना चाहिए। तुलनीय भोट, नग्स् छल् दङ् नग्स् ह्.-द्व् 'वन षण्ड वन पंक्ति'।
36. मूल मे ०तरो०; पर भोट में लुस् दङ् ल्दन् प ०तनोः।
37. मूल में केवल वैशारद्य; भोट में मि ह्.-जिग्स् प ब्शि, 'चतुर्वैशारद्य'।
38. मूल में, ०अभ्यासीभावितवलस्य अपभ्रष्ट है। इसे शुद्ध संस्कृत में ०अभ्याशीभूतवलस्य इस रूप में अनुवाद करना होगा। तुलनीय भोट, ञे बहि. स्तोब्स् दङ् ल्दन् प 'समीपागतशक्तिमत्'।

8 गभीर, (धीर)[20] वीर्य ('उद्योग') (तथा धर्म[21]) के जल से अभिषेक किए गए (धर्मदेशना) के उपाय की कुशलता की कर्णिका अर्थात् बीजकोश वाले, बोध्यङ्ग तथा ध्यान के केसर से युक्त, समाधि के किंजल्क अर्थात् पराग-कोश वाले, गुण-गण-रूपी विमल[22] सर में अच्छे प्रकार से उत्पन्न हुए, मद और मान के परिताप[23] ('जलन') से रहित चन्द्रमा के समान निर्मल पत्र वाले, शील, श्रुत अर्थात् गुरुमुख से विद्याश्रवण, तथा अप्रमाद[24] (के वचनों[25]) से दशदिशाओं मे बेरोक-टोक (उठती[26]) सुगन्धवाले, लोक मे ज्ञान मे बढे हुए, आठ लोक के (-9-) धर्मो से निर्लिप्त महापुरुष-रूपी पद्म;

9. पुण्य तथा ज्ञान के भण्डार की फैलती हुई सुरभि-गन्धवाले तथा प्रज्ञा एव ज्ञान रूपी सूर्य की किरणों से खिले हुए अत्यन्त शुद्ध शत-दलवाले पूर्ण-कमल[28];

10 चार ऋद्धिपादों के परम =10ख= वेग से दौड़ने वाले[29], चार आर्य-सत्यरूपी अत्यन्त तीक्ष्ण नखं तथा दाढ वाले, चार ब्रह्मविहार-रूपी सरल दातों के

20. भोट पाठ, ब्र्तन् प 'धीर'। यह मूल में नही है।

21 भोट पाठ, छोस् 'धर्म' यह मूल मे नही है।

22. मूल के विमल के स्थान में भोट भाषान्तर के साक्ष्यानुसार वितत (तुलनीय भोट, ग्र्य छेन्) पाठ होना चाहिए। आलंकारिक रुचि के अनुसार विमल उचिततर पाठ है।

23 मूल पाठ, परिवाह 'धारा, प्रवाह'; भोट पाठ, ग्दुङ् ब 'ताप, जलन, परिताप'। भोट पाठ ही शुद्ध प्रतीत होता है।

24. मूल पाठ है—अप्रसाद। यह पाठ सर्वथा प्रकरण के प्रतिकूल है। यहाँ पर भोठ पाठ है—बग् योद् प 'अप्रमाद'। निश्चय ही भोट पाठ साधु पाठ है।

25. भोट पाठ, ग्सुङ 'वचन' यह मूल में नही है।

26. भोट पाठ, ल्दङ् ब 'उत्थित, उठता हुआ, उठा'। यह पाठ मूल में नही है।

27 मूल में विस्तृत फैला हुआ, फैली हुई, भोट मे ह् -ब्युङ् ब 'उत्पन्न, अद्भूत'।

28. मूल पाठ है शतपत्र पद्मतपन, इस पाठ में तपन (=सूर्य) ठीक नहीं जान पड़ता क्यों कि इससे पूर्व इसी वाक्यांश में दिनकर (=सूर्य) आचुका है। भोट पाठ पद् म .ह दब् म ब्ग्र्य प ग्र्यस् प 'शतपत्र पद्मपूर्ण' यहाँ ठीक बैठता है।

29 मूल पाठ परमजापजवित एक प्रकार का अपभ्रंश पाठ है जिसमें जाप प्रतिनिधि है जाव अथवा जव का, तथा जपित प्रतिनिधि है जवित(=जूत) का। तुलनीय भोट म्छोग् तु-म्ग्योग्स् प हि.-ग्रुग्स् दङ् ल्दन् प, 'परम-क्षिप्र-वेगवन्'। हिन्दी अनुवाद इसी अर्थ के समीप है।

दिखाने वाले[30], चार संग्रहवस्तुओं के सम्यक् संग्रह रूपी सिर वाले, बारह अंग वाले प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुबोध अर्थात् मन में साक्षात्कार के क्रम द्वारा उन्नत काय वाले, सैंतीस बोधिपाक्षिक-धर्मों की भरी-पूरी विशेष-सुन्दर जटा वाले[31], विद्या तथा ज्ञान रूपी केसर वाले, तीन विमोक्षों की मुखसे जंभाई लेने वाले[32], शमथ ('शान्ति'[33]) तथा विपश्यना ('अन्तदर्शन') के सुन्दर तथा विशेष शुद्ध नेत्र वाले, ध्यानों, विमोक्षों, तथा समाधियों में समापत्ति ('चित्तस्थापन') की पहाड़ी दून की गुहा मे बसने वाले[34], चार ईर्यापथो अर्थात् चलने, टहलने, सोने तथा खडे होने की क्रियाओं तथा विनय अर्थात् सदाचार नियमों के वन तथा उपवनो[35] में भलीभाति वढ़े हुए शरीरवाले[36], दश-बल तथा चतुर्वैशारद्य[37] (अर्थात् चार प्रकार की निर्भयता) के द्वारा पास में आई हुई शक्ति वाले[38], भव (अर्थात् होने) तथा विभव (अर्थात् न होने) के भय तथा लोमहर्ष (रोएं खडे होने

---

30. मूल पाठ, चतुर्ब्रह्मविहारनिश्रितदर्शनस्य शोधनीय है। भोट में है छङ्स् प हि. ग्नस् ब्शि हि-सो ब्रङ्-ब्रस्जेर् ब, 'चतुर्ब्रह्मविहार-सरलदशन-दर्शक'। संभवत' मूल पाठ चतुर्ब्रह्मविहारनिशितदशनस्य (=चार ब्रह्मविहारों के तेज दातवाला) था।
31. मूल पाठ ०जालिना० सर्वथा अशुद्ध है। भोटानुसार रल् प चन् 'जटिन.' पाठ होना चाहिए जो शुद्ध जान पड़ता है।
32. मूल में मुखविजृम्भित; भोट में 'स्गो' है। 'स्गो' द्वार तथा मुख दोनों का वाचक है।
33. मूल में समर्थ, पर पाठान्तर मे समथ (= 'शमथ, शान्ति') है। पाठान्तर ही उचित पाठ है।
34. 'निवासित' यह मूल पाठ 'बसाया हुआ' यह अर्थ देता है पर वस्तुत: अर्थ 'बसा हुआ' होना चाहिए। फलतः यह अपभ्रष्ट पाठ, न्युषित, शब्द के अर्थ मे है। तुलनीय भोट, ग्नस् प 'स्थित, उषित'।
35. मूल पाठ, ०नौपवन०; पाठान्तर, ०नीपवन०; ये दोनो पाठ भ्रष्ट है। भोटानुसार पाठ ०वनोपवन० होना चाहिए। तुलनीय भोट, नग्स् छल् दङ् नग्स् ह्.-द्व् 'वन पण्ड वन पंक्ति'।
36. मूल मे ०तरो.; पर भोट में लुस् दङ् ल्दन् प ०तनो:।
37. मूल में केवल वैशारद्य; भोट में मि ह्.-जिग्स् प ब्शि, 'चतुर्वैशारद्य'।
38. मूल में, ०अभ्यासीभावितवलस्य अपभ्रष्ट है। इसे शुद्ध संस्कृत में ०अभ्यासीभूतबलस्य इस रूप में अनुवाद करना होगा। तुलनीय भोट, ञे बहि. स्तोब्स् दङ् ल्दन् प 'समीपागतशक्तिमत्'।

(की दशा) से बीते हुए, असकुचित पराक्रम वाले, तीर्थ्य (अर्थात् पाखण्डी जन) रूपी शशकों तथा मृगों के संघ को मथने वाले, नैरात्म्य की घोषणा के शब्द रूपी महान् सिंहनाद का निनाद करने वाले नर-सिंह,

11 विमुक्ति तथा ध्यान के मंडप से (निकलने वाली) प्रज्ञा रूपी=11क= प्रकाशकिरणों द्वारा तीर्थंकर अर्थात् पाखण्डमत प्रवर्त्तक रूपी खद्योत-समूह को प्रभाहीन करने वाले, अविद्या रूपी तमिस्र के अँधेरे तमिस्र-पटल को तिमिर रहित करने वाले दीप्त बल तथा वीर्य ('उत्साह') वाले, देवताओं तथा मनुष्यों में पुण्य तेज से तेजस्वी महापुरुष-रूपी दिवाकर;

12. कृष्ण-पक्ष को बिताए हुए, शुक्ल पक्ष को परिपूर्ण किए हुए, मन तक पहुँचने वाले अर्थात् मन को अच्छे लगने वाले, देखने में प्यारे, आँख की इन्द्रिय का प्रतिघात न करने वाले, शत-सहस्त्र देवता रूपी नक्षत्र-मण्डल से सुशोभित, ध्यान, विमोक्ष तथा ज्ञान रूपी बिम्ब वाले, बोध्यङ्गों के सुख की रश्मि अर्थात् किरण[39] रूपी शशिकिरण अर्थात् चाँदनी वाले,[40] बुधों अर्थात् पंडितों, देवताओं[40] तथा मनुष्यों के कुमुदों को खिलाने वाले, महापुरुष रूपी चन्द्रमा[41]

13 (भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक तथा उपासिकाओं की) चार परिषद रूपी द्वीपों में पहुँचे हुए, सात बोध्यङ्ग रूपी रत्नों से युक्त, सब प्राणियों में एक समान चित्त रखने वाले, बे-रोक-टोक-बुद्धि के धनी;

14 दश कुशल कर्म पथों के व्रत रूपी तप के भली-भाँति समृद्धि एवं परि-

39. भोट पाठ में 'रश्मि' शब्द नही है। तुलनीय—**ब्यङ् छुब् क्यि-यन् लग् गि-ब्दे बस्-म्ल ब हि. होद् सेर् बु-ग्युर् प** 'बोधि-अङ्ग-सुख-शशि-किरण-भूत'। मूल पाठ है—बोध्यंगसुखरश्मिशशिकिरणस्य।

40-40. मूल में वुद्ध-विबुद्धमनुजकुमुदविबोधक पाठ अशुद्ध है। शुद्ध पाठ बुधविबुधमनुजकुमुदविबोधक होना चाहिए। तुलनीय भोट पाठ—**मि वङ् ल्ह म्खस् प हि. मे तोग् कु मु द ख ह्.-ब्येद् प** 'बुधविबुधमनुजकुमुदपुष्पविबोधक'।

41. मूल पाठ जो मुद्रित है वह चन्द्रसम। यह असमासान्त पाठ है क्यों कि परवर्ती वाक्यांश के साथ समास के रूप में पढा गया है। यहाँ पाठान्तर चन्द्रस्य है। पाठान्तर ही यहाँ ठीक है। भोट में **स्क्येस्-बु छेन् पो म्ल ब** 'महापुरुषचन्द्र' एक पृथक् वाक्यांश है। हिन्दी अनुवचन में इसी का अनुसरण किया गया है।

पूर्ण विशेष ('गुण') में जाने के[42] अभिप्राय से युक्त, धर्म के राजा[43] अर्थात् बुद्ध के उत्तम तथा श्रेष्ठ धर्म रूपी रत्न के चक्र को बे-रोक-टोक घुमाने वाले, चक्रवर्तियों की परम्परा वाले कुल में कुलीन होकर उत्पन्न हुए[44], महान् धर्मचक्र =11ख= के प्रवर्तक[45];

15. गहरे तथा कठिनाई से प्रवेश के योग्य प्रतीत्यसमुत्पाद रूपी गत्र धर्मरत्नों से परिपूर्ण, न (कभी) तृप्त होने वाले श्रुत ('श्रवण'), से (एकत्रित हुए) विपुल, विस्तीर्ण तथा अनन्त[46] ज्ञान से शील की वेला ('तट-सीमा') को न उलांघने वाले, (धर्म की) महापद्म (रूपी निधि को अपने) भीतर देखने वाले[47], समुद्र और पृथ्वी के समान विपुल ('अर्थात् गम्भीर तथा व्यापक') श्रेष्ठ बुद्धिवाले[48]

16 पृथिवी, जल, अग्नि तथा वायु के समान (-10-) चित्तवाले सुमेरु के समान दृढ, अचल[49] तथा अडिग मानस वाले[50] राग तथा द्वेष से हीन, गगन-

42 मूल पाठ, गमन । यहाँ पर भोट में जो प्रतिशब्द है वह निश्चय ही गमन का प्रतिशब्द नहीं है। पर भोट पाठ मैं स्वयं समझ नहीं पाया हूँ अतः उसके संस्कृत मूल को खोजना अशक्य है। भोट पाठ यह है—**पोग्स् दब्युङ् बर ब्य बहि.** (?)

43. मूल, धर्मराजावर० = धर्मराजा (=धर्मराज) + वर० । तुलनीय, **छोस् क्यि-र्ग्यल् पो हि.**....**म्छोग्**...., धर्म के राजा के ....वर....। यहाँ ०राजव० पाठान्तर संस्कृतीकरण का प्रयास है।

44 भोट पाठ, **ह्-खोर् लो ब्स्ग्युर् ब हि. रिग्स् क्यि र् ग्युर दु ब्युङ् ब,** चक्रवर्तिवंशकुलोत्पन्न । मूल में पाठ है, चक्रवर्तिवंशकुलकुलोदित । भोट में इस प्रकार (कुल) शब्द केवल एक बार पढ़ा गया है।

45. **छोस् क्यि ह्-खोर् लोस् (?) स्ग्युर् (?) छेन् पो,** महाधर्मचक्रप्रवर्तक, मूल में नहीं है।

46. मूल पाठ, आरम्भ; भोट पाठ **म्थह. यस्,** अनन्त । हिन्दी अनुवाद भोटानुसार है।

47. मूल, महापद्मगर्भेक्षणस्य । यह पाठ भोट मे नही है।

48. मूल पाठ, सागरवरधरविपुलबुद्धेः । यह पाठ कुछ भ्रष्ट है। भोट पाठ **ब्लो ग्र्यं म्छो दङ् स ल्तर् ग्र्यं छे बहि म्छोग् तु ग्युर् प,** सागरधरासदृशविपुलवरबुद्धेः । हिन्दी अनुवाद में भोट पाठ का अनुसरण किया गया है।

49. ०वल० मूल में अशुद्ध है। अचल शुद्ध पाठ है। तुलनीय भोट, ***मि ग्यो ल*** अ — चल ।

50. मूल, अप्रकम्पमानस्य; भोट, **ब्स्क्योद् प र् मि नुस् पहि. यिद् वङ् ल्वन् प,**

तल जैसी निर्मल, महती, अनुपमेय[51] तथा व्यापक बुद्धिवाले;

17 सम्यक् प्रकार से शुद्ध अध्याशय अर्थात् अभिप्राय वाले, भली-भाँति दान दे चुकने वाले, सम्यक् रूप से पूर्वयोग (अर्थात् पूर्वजन्म में सुकरणीय कर्म) कर चुकने वाले, अच्छी विधि से अधिकार (अर्थात् बुद्ध प्रमुख पूज्यों की सेवा-शुश्रूषा) कर चुकने वाले, सत्य के अलंकार से अलंकृत[52] सब कुशल मूलों को खोजकर चुकने वाले (पूर्वजन्म की पवित्र) वासनाओं (अर्थात् संस्कारों) से वासित रहने वाले, सब (प्रकार के) कुशलमूल को आगे बढाने वाले (महापुरुष) के सदृश[53]

18 सात असंख्येय[54] कल्पों में सब कुशल मूल के स्यन्द[55] अर्थात् रस को सम्यक् ऊपर ले आने वाले[56], सात प्रकार के दान दे चुकने वाले[57], पाँच प्रकार की पुण्य-क्रिया-वस्तुओं का सेवन कर चुकने वाले, शरीर के द्वारा तीन प्रकार के, वाणी के द्वारा चार प्रकार के, मन से तीन प्रकार के सुशोभन चरित्र वाले (इस प्रकार) दश कुशल कर्म पथ का सब प्रकार से ग्रहण[58] तथा सेवन कर चुकने वाले;

19 =12क= चालिस अंगों से युक्त सम्यक् प्रयोग का सेवन कर चुकने वाले, चालीस अंगों से युक्त सम्यक् प्रणिधान का प्रणिधान कर चुकने वाले, चालीस अंगों से युक्त सम्यक् अध्याशय ('अभिप्राय') की प्राप्ति कर चुकने वाले, चालीस अंगों से युक्त सम्यक् विमोक्ष की परिपूर्णता कर चुकने वाले, चालीस अंगो से

51 मूल, असह्य सर्वथा अशुद्ध है। भोट पाठ ह.-द्र ब मेद् पर्, अनुपमेय, सादृश्यरहित।

52 मूल, दत्तसत्यंकारस्य। यह पाठ भ्रष्ट है। भोट, बदेन् पहि ग्यन् गिस् लेगस् पर् ब्र्ग्यन् प, सत्यालंकारालंकृतस्य। यही उचित पाठ जान पडता है।

53. मूल, निर्याणमिव सर्वकुशलमूलस्य, संभवत: निर्याणस्येव सर्वकुशलमूलस्य का भ्रष्टतर पाठ है। भोट पाठ, द्गे बहि र्च ब डेस् पर् ब्यस् प, कुशलमूल-निश्चयं कृतवत:, अथवा, कृतकुशलमूलनिश्चयस्य, कुशलमूल का निश्चय कर चुकने वाले, इतना ही है।

54 मूल, संख्येय, भोट, ग्रङ्स् मेद् प, असंख्येय।

55. ०स्यन्द० यह पाठ भोट में नही है।

56. मूल, समुदानीतसर्वकुशलमूलस्यन्दस्य। भोट, द्गे बहि, र्च ब यम्स् चद् यङ् दग् पर् ब्स्युब्स् प, सर्वकुशलमूलसंसिद्धस्य।

57. मूल, सप्तविधदानस्य;भोट स्ब्यिन् प र्नम्स् प ब्दुन् बियन् प, दत्तसप्त-विधदानस्य।

58. मूल, आदान (=सब प्रकार से ग्रहण)। यह पाठ भोट भाषान्तर में नहीं है।

युक्त अधिमुक्ति ('श्रद्धालुता') को ऋजु[59] (-भाव से ग्रहण) कर चुकने वाले;

20. चालीस शतसहस्र ('लाख') नियुक्त ('खर्व') (संख्यक) कोटि बुद्धों (की शरण) प्रव्रज्या ले चुकने वाले, पचपन शतसहस्र ('लाख') नियुत ('खर्व'), (संख्यक) कोटि बुद्धों को दान दे चुकने वाले, अर्धचतुर्थ ('साढ़ेतीन') सौ कोटि प्रत्येक-बुद्धों की सेवा-शुश्रूषा कर चुकने वाले, अप्रमेय तथा असंख्येय प्राणियों को स्वर्ग तथा मोक्ष के मार्ग की प्राप्ति करा चुकने वाले,

21 अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को अत्यन्त उत्तमता से बूझने की कामना वाले, एक जन्म भर का बन्धन वाले इस लोक से च्युत होकर तुषित लोक के श्रेष्ठ भवन में ठहरे हुए, देव-पुत्रों में उत्तम, श्वेतकेतु नामक, सब देव-संघों से भलीभाँति पूज्यमान; बोधिसत्त्व का (वर्णन) है, (जो)[60] यहाँ से च्युत होकर[60], मर्त्य लोक में उत्पन्न हो, बिना चिर काल, सम्यक् सम्बोधि का अत्यन्त उत्तमता के साथ बोध करेंगे ।

22 =12ख=बत्तीस सहस्र भूमिकाओं ('तलों') से प्रतिष्ठित किए गए, वितर्दियों ('चबूतरों'), निर्यूहों ('अटारियों'), तोरणों, ('द्वार के वाह्य भागों') गवाक्षों ('गोरखों अर्थात् हवा-जाली वाले झरोखों'), कूटागारों ('सबसे ऊपर के तल पर बने अंटों'), प्रासादों ('राजनिवास के योग्य भवनों')के तलों ('छत के खुले आगनों') से भलीभांति अलंकृत, फहराते हुए छत्रों, ध्वजाओं और पताकाओं वाले, रत्नों की किंकिणियों अर्थात् छोटी-छोटी घंटियों वाली जालों (की झालर) लगे वितानों ('चंदवों') से व्याप्त, मान्दारव तथा महामान्दारव नाम के (देव लोक में होने वाले) पुष्पों को फैलाकर सजाये गए, शतसहस्र ('लाख') नियुत (खर्व)—(संख्यक) कोटि अप्सराओं के संगीत अर्थात् गाने-बजाने-नाचने से हल-चल वाले, अति-(-11-) मुक्तक (माधवी लता) चम्पक, पाटल, कोविदार('चमरिक') मुचि-लिन्द एवं महामुचिलिन्द, (वृक्ष विशेष), अशोक, न्यग्रोध (बड़ा वट-वृक्ष) तिन्दुक ('तेंदुआ') असन[61] ('बन्धूक=गुलदुपहरी') कर्णिकार ('कनेर') केशर

59. मूल, ऋजीकृतवत:, पाठान्तर ऋज्वीकृतवत:, वस्तुत: शुद्ध संस्कृत में ऋजूकृतवत: होगा । तुलनीय भोट, ब्रङ् पोर् ब्यस् प, सरलीकृतवत. ।

60····60. मूल, इतश्च्युत: । इससे पूर्व मुद्रितग्रन्थ में है रश्म्यायपरम् (?) भोट में है केवल ह..-दिर्, अत्र, यहाँ ।

61. मूल, ०सन०; भोट, अ-स-न ।

('वकुल' या 'मौलसिरी') [तमाल[62]] साल, तथा रत्नों के महावृक्षों[63]से सुशोभित,सुवर्ण को जालियों से आच्छादित सम-तल-क्षेत्र[64] (पर बने) व्यूहों अर्थात् मण्डपों से सुशोभित,< [65]ज्योति ('जुही') मालिका ('चमेली') सुमना ('वसन्त में खिलने वाली जाति नाम की चमेली') वार्षिकी, ('वर्षा मे खिलने वाली चमेली') तरणि[66] ('आक वा मदार'), वर्ण अर्थात् कुंकुम[66क] गोतरणि[67] (पुष्प-विशेष), सुगन्धिक ('छोटा सफेद कमल या अनार'), धातुष्कारिका[68] (पुष्प-विशेष), देवसुमना ('देवमालती)', उत्पल ('छोटे कमल'), पद्म (दिन में खिलने वाले कमल), कुमुद ('रात में खिलने वाले कमल') पुण्डरीक ('अत्यन्त श्वेतकमल') सौगन्धिक ('नील कमल') पुष्पों के बडे-बडे वितान अर्थात् चंदवों[69] से तने हुए देश-प्रदेश[70] वाले, पत्रगुप्त (पक्षगुप्त), शुक, सारिका, कोकिल, हंस, मयूर, =13क= चक्रवाक, कुणाल ('अत्यन्त कूजने वाले हिमवन्त के कोयल') कलविक ('चटक वा गौरैया') तथा जीवजीव ('चकोर') आदि नाना प्रकार के पक्षियों के समूह के मधुर स्वर द्वारा[70] प्रकूजित , 65 >तथा शत-सहस्र ('लाख') नियुत

62. केवल भोट मे ही यह पाठ है।

63. मूल, ०वृक्ष०; पर भोट, ०महावृक्ष०; तुलनीय **शिङ् ल्जोन् प छेन् पोस्**, महावृक्षै. ।""भोट में यह अंश एक वाक्यांश है। वस्तुतः यहाँ दो वाक्यांश है। देखिये इसी अध्याय की टिप्पणियाँ 71, 72।

64. मूल, समतल०; भोट **य्शि म्नम् शि-ङ्**, समतल क्षेत्र।

65 · 65. मूल मे ज्योतिर्मालिकासुमनोवाते मुद्रितपुस्तक मे विशाल पाठान्तर दिया गया है। जोयों है—(ज्योतिर्मालिकासुमनो) वार्षिकीतरणीवर्णगोवरणि-सुगन्धिकधातुस्फनितेदेवसुमनोत्पलपद्मकुमुदपुण्डरीकसौगन्धिकमहापुष्पितान - विततप्रदेशे पत्रगुप्तशुकसारिकाकोकिलहंसमयूरचक्रवाककुनारकरविंकजीवं-जीवकादिनानाधिद्विजगणमधुरस्वरपकुजिते। निश्चय ही मूल में जो० वाते है वह वार्षिकी का "वा" तदनन्तर लेखक प्रमाद से बीचका सारा भाग छोडकर ०कुजिते के अन्तिम अक्षर "ते" से मिलकर बना है। भोट में इस समूचे पाठ का अनुवाद है, अतः इसे पाठान्तर में न डालकर मूल मे रखना होगा।

66. मूल तरणी; भोट, **त र नि**।

66क. वर्ण के स्थान भोटानुलिपि, **व लि**।

67. मूल, गोवरणि, भोट,**को त र नि**।

68. मूल, धातुस्फनिते। यह निश्चय ही अशुद्ध है। भोट, **द्नुस्कारि**।

69. मूल, पुष्पितान। जो सर्वथा अशुद्ध है। भोट, **व्ल-ब्रे**, वितान।

70. मूल, प्रदेश भोट, [illegible] **फ्योगस् सु** (देश (प्र) देशे)।

('खर्व')–(संख्यक) -कोटि देवताओं की आंखों द्वारा देखे गए आलोक ('दर्शन') वाले, उस महाविमान पर सुखसे बैठने पर[71] महान् तथा विपुल ('व्यापक एवं गम्भीर') धर्म की संगीति ('पारायण') द्वारा काम (–विषयक–) रति के वेग रूपी क्लेश को छिन्न-भिन्न करने वाले[72] खिल अर्थात् कठोरता रूपी चित्त वृत्ति के व्यपगत होने ('दूर चले जाने') से, क्रोध, प्रतिघ ('दूसरे पर आघात करने वाला तीव्र क्रोध'), मान, मद, दर्प को दूर हटाने वाले[72], तथा प्रीति, प्रसाद, प्रामोद्य से उत्प्त ('उत्तेजित') विपुल ('व्यापक एवं गंभीर') स्मृति का भलीभांति उत्पादन करने वाले, वहां सुख से बैठे हुए[71] (बोधिसत्त्व) के धर्मसांकथ्य अर्थात् धर्म प्रवचन के प्रवृत्त होने पर, चौरासी सहस्र वाद्य तथा संगीतियों ('गान की प्रवृत्तियों') के ध्वनित होने से बोधिसत्त्व के पूर्व के शुभ कर्मों की वृद्धि से ये संचोदना-गाथाएं ('प्रेरणा देने वाली गाथाएँ') निकलती थी ।

(संचोदना-गाथाएँ)

(आर्या छन्द)

स्मर विपुलपुण्यनिचय, स्मृतिमतिगतिमनन्त,[73] प्रज्ञाप्रभाकरिन्[74] ।

71. मूल, तस्मिन् महाविमाने सुखोपविष्टस्य, सुखोपविष्टस्य तस्मिन् । इन दोनों पाठों के स्थान मे भोट मे केवल प्रथम पाठ ग्शल् मेद् खङ् छेन् पो दे न ब्दे बर् ग्नस् शिङ्, है । भोटानुवाद में दूसरा दोष यह है कि महाविमान तथा धर्मसांकथ्य के विशेषणों को अलग नहीं किया गया है तथा सबको महाविमान के साथ जोड दिया गया है ।

72....72. मूल, व्यपगताखिलक्रोधप्रतिघमानमददर्पापनयने । भोट, ङ ग्र्यल् दङ् ग्र्यग्स् प बङ् ख्रेग्स् प वङ् ख्रो बा दङ् थ व वङ् खोङ् ख्रो ब मेद् पर् ग्युर् ब, मानमददर्पक्रोधखिलप्रतिघापनयने । व्यपगताखिल यह मूल पाठ का भाग अत्यन्त संदिग्ध है । व्यपगताखिल यह मूल पाठ का भाग अत्यन्त संदिग्ध है । व्यपगताखिल के अखिल के स्थान में भोट की भांति केवल खिल (= चित्त की कठोर वृत्ति विशेष) पढ लेना अर्थ कठिनता को दूर कर देता है । खिल शब्द के लिए देखिए विसुद्धिमग्ग 7159 टीका । इन खिल प्रभेदों में एक का वर्णन यों है सब्रह्मचारिसु कुपितो होति ।

73. मूल, स्मृतिमतिगतिमनन्त । भोट, द्रन् तोग्स् नङ् ब्लो ग्रोस् म्थह.. यस्, स्मृतिगतिमत्यनन्त । मूल में °गत्यन्त के स्थान में °गतिमनन्त केवल मुखसुखार्थ तथा यण् सन्धि निवारण के लिए मकारागमयुक्त पाठ है ।

74. °करिन् मूल में केवल °कर का स्थानापन्न है । तुलनीय भोट, शेस् रब्-ह ोद्-म्जद् प, प्रज्ञा-प्रभा-कर ।

('वकुल' या 'मौलसिरी') [तमाल[62]] साल, तथा रत्नों के महावृक्षों[63]से सुशोभित,सुवर्ण की जालियों से आच्छादित सम-तल-क्षेत्र[64] (पर बने) व्यूहों अर्थात् मण्डपों से सुशोभित,< [65]ज्योति ('जुही') मालिका ('चमेली') सुमना ('वसन्त में खिलने वाली जाति नाम की चमेली') वार्षिकी, ('वर्षा मे खिलने वाली चमेली') तरणि[66] ('आक वा मदार'), वर्ण अर्थात् कुंकुम[66क] गोतरणि[67] (पुष्प-विशेष), सुगन्धिक ('छोटा सफेद कमल या अनार'), धानुष्कारिका[68] (पुष्प-विशेष),देवसुमना ('देवमालती)', उत्पल ('छोटे कमल'), पद्म (दिन में खिलने वाले कमल), कुमुद ('रात में खिलने वाले कमल') पुण्डरीक ('अत्यन्त श्वेतकमल') सौगन्धिक ('नील कमल') पुष्पों के बड़े-बडे वितान अर्थात् चंदवों[69] से तने हुए देश-प्रदेश[70] वाले, पत्रगुप्त (पक्षगुप्त), शुक, सारिका, कोकिल, हंस, मयूर, =13क= चक्रवाक, कुणाल ('अत्यन्त कूजने वाले हिमवन्त के कोयल') कलविंक ('चटक वा गौरैया') तथा जीवंजीव ('चकोर') आदि नाना प्रकार के पक्षियों के समूह के मधुर स्वर द्वारा[70] प्रकूजित, 65 >तथा शत-सहस्र ('लाख') नियुत

62. केवल भोट से ही यह पाठ है।

63. मूल, ०वृक्ष०, पर भोट, ०महावृक्ष०; तुलनीय शिङ् ल्जोन् प छेन् पोस्, महावृक्षै· ।""भोट में यह अंश एक वाक्यांश है। वस्तुतः यहाँ दो वाक्यांश है। देखिये इसी अध्याय की टिप्पणियाँ 71, 72।

64. मूल, समतल०; भोट थ्रिग् म्ञम् शि-ङ्, समतल क्षेत्र।

65 ···65. मूल में ज्योतिर्मालिकासुमनोवाते मुद्रितपुस्तक मे विशाल पाठान्तर दिया गया है। जोयों है—(ज्योतिर्मालिकासुमनो) वार्षिकीतरणीवर्णगोवरणि-सुगन्धि कधातुस्कनितेदेवसुमनोत्पलपद्मकुमुदपुण्डरीकसौगन्धिकमहापुष्पितान - विततप्रदेशे पत्रगुप्तशुकसारिकाकोकिलहंसमयूरचक्रवाककुनारकरविकजीवं-जीवकादिनानाधिद्विजगणमधुरस्वरपकुजिते। निश्चय ही मूल में जो० वाते है वह वार्षिकी का "वा" तदनन्तर लेखक प्रमाद से बीचका सारा भाग छोडकर ०कुजिते के अन्तिम अक्षर "ते" से मिलकर बना है। भोट में इस समूचे पाठ का अनुवाद है, अतः इसे पाठान्तर में न डालकर मूल मे रखना होगा।

66. मूल तरणी; भोट, त र नि।

66क. वर्ण के स्थान भोटानुलिपि, व लि।

67. मूल, गोवरणि; भोट,को त र नि।

68. मूल, धातुस्फनिते। यह निश्चय ही अशुद्ध है। भोट, दनुस्फरि।

69. मूल, पुष्पितान। जो सर्वथा अशुद्ध है। भोट, बुल-ब्रे, वितान।

70. मल, प्रदेश भोट, फ्योगस् फ्योगस् सु (देश (प्र) देशे)।

('खर्व')–(संख्यक) कोटि देवताओं की आखों द्वारा देखे गए आलोक ('दर्शन') वाले, उस महाविमान पर सुखसे बैठने पर[71] महान् तथा विपुल ('व्यापक एवं गम्भीर') धर्म की संगीति ('पारायण') द्वारा काम (–विषयक–) रति के वेग रूपी क्लेश को छिन्न-भिन्न करने वाले[72] खिल अर्थात् कठोरता रूपी चित्त वृत्ति के व्यपगत होने ('दूर चले जाने') से, क्रोध, प्रतिघ ('दूसरे पर आघात करने वाला तीव्र क्रोध'), मान, मद, दर्प को दूर हटाने वाले[72], तथा प्रीति, प्रसाद, प्रामोद्य से उत्पन्न ('उत्तेजित') विपुल ('व्यापक एवं गंभीर') स्मृति का भलीभांति उत्पादन करने वाले, वहां सुख से बैठे हुए[71] (बोधिसत्त्व) के धर्मसांकथ्य अर्थात् धर्म प्रवचन के प्रवृत्त होने पर, चौरासी सहस्र वाद्य तथा संगीतियों ('गान की प्रवृत्तियों') के ध्वनित होने से बोधिसत्त्व के पूर्व के शुभ कर्मों की वृद्धि से ये संचोदना-गाथाएं ('प्रेरणा देने वाली गाथाएँ') निकलती थी।

(संचोदना-गाथाएँ)

(आर्या छन्द)

स्मर विपुलपुण्यनिचय, स्मृतिमतिगतिमनन्त,[73] प्रज्ञाप्रभाकरिन्[74]।

71. मूल, तस्मिन् महाविमाने सुखोपविष्टस्य; सुखोपविष्टस्य तस्मिन्। इन दोनों पाठों के स्थान में भोट में केवल प्रथम पाठ ग्शल् मेद् खङ् छेन् पो दे न ब्दे वर् गनस् शिङ्, है। भोटानुवाद में दूसरा दोष यह है कि महाविमान तथा धर्मसांकथ्य के विशेषणों को अलग नहीं किया गया है तथा सबको महाविमान के साथ जोड़ दिया गया है।

72····72. मूल, व्यपगताखिलक्रोधप्रतिघमानमददर्पापनयने। भोट, ङ ग्र्यल् दङ् ग्र्यगस् प दङ् ख्रेगस् प दङ् खो बा दङ् थ ब दङ् खोङ् खो ब मेद् पर् ग्युर् ब, मानमददर्पक्रोधखिलप्रतिघापनयने। व्यपगताखिल यह मूल पाठ का भाग अत्यन्त संदिग्ध है। व्यपगताखिल यह मूल पाठ का भाग अत्यन्त संदिग्ध है। व्यपगताखिल के अखिल के स्थान में भोट की भांति केवल खिल (=चित्त को कठोर वृत्ति विशेष) पढ़ लेना अर्थ कठिनता को दूर कर देता है। खिल शब्द के लिए देखिए विसुद्धिमग्ग 7।59 टीका। इन खिल प्रभेदों में एक का वर्णन यों है सब्रह्मचारिसु कुपितो होति।

73. मूल, स्मृतिमतिगतिमनन्त। भोट, द्रन् तोंग्स दङ् ब्लो ग्रोस् म्थह् यस्, स्मृतिगतिमत्यनन्त। मूल में °गत्यन्त के स्थान में °गतिमनन्त केवल मुखसुखार्थ तथा यण् सन्धि निवारण के लिए मकारागमयुक्त पाठ है।

74 °करिन् मूल में केवल °कर का स्थानापन्न है। तुलनीय भोट, शेस् रब्-ह्.ोद्-म्ज़द् प, प्रज्ञा-प्रभा-कर।

अतुलबल, विपुलविक्रम,[75] व्याकरणं दीपसहेनास्ति[76] ॥१४॥

हे विपुल पुण्यों के समूह, के स्मृति, मति, तथा गति (तत्त्वबोध) में असीम, हे प्रज्ञा के प्रभाकर, हे अनुपमेय बल वाले, हे विपुल पराक्रम वाले, दीपंकर (भगवान् के अपने (विषयके) व्याकरण (=भविष्यवाणी) का स्मरण करो।

स्मर विपुलनिर्मलमनस्,[77] त्रिमलमलप्रहीन, शान्तमददोष।

शुभविमलशुद्धचित्ता, दानचरी[78] यादृशा ति पुरे ॥15॥

हे विपुल तथा निर्मल मन वाले, हे तीन मलों से रहित, हे शान्त हुए मद तथा दोष वाले, हे पवित्र, मलिनता रहित, तथा शुद्ध चित्त वाले, पुरा (युग) में जैसी दान चर्या तुमने (की है उसका) स्मरण करो। =13ख=

स्मर स्मर[79] कुलकुलीना शमथं शीलव्रतं क्षमादमं चैव।

वीर्य बल ध्यान प्रज्ञा निषेविता कल्पकोटि नियुतानि ॥16॥

हे कुल के कुलीन[80] खर्ब-खर्ब कोटि कल्पो में (जिस) शान्तसमाधि, शील-व्रत, क्षमा तथा दम (दान्तभाव), वीर्य, बल, ध्यान, एवं प्रज्ञा का भलीभाँति सेवन किया है (उसका) स्मरण करो! स्मरण करो!!

स्मर स्मर अनन्तकीर्ते संपूजिता ये ति[81] बुद्धकोटि नियुतानि[82]।

सत्वान्[83] करुणायमानः कालोऽयं मा उपेक्षस्व ॥17॥

75. भोट में मूल के विपुलविक्रम के स्थान मे **स्त्युं चॅल् ग्र्य छे ब** (= विपुल-कलावन्) पाठ है।

76 मूलमें मुद्रित, दीपसहेनास्ति। पाठान्तर में शोधित दीपसहेन् ति। छन्द के लंगडापन को बचाने के लिए दीपसहेना रखना ठीक है। जान पड़ता है दीपसहेना ति को मुखसुखार्थ सकारागमद्वारा दीपसहेनास्ति कर डाला गया है। "ति" = संस्कृत "ते" (= तव, त्वया, तुभ्यम्) "ति" को त्वया मान कर भोट में अनुवाद आगे किया गया है। देखिए पाद टिप्पणी 2/81।

77. मूल, °मनस्। इस बहुव्रीहि समास का उल्था युग्स् म्ङह् ब, मनवाला, शब्द से किया गया है जैसा कि हिन्दी मे किया जाता है।

78. मूल, दामेचरी; पाठान्तर, दानचरी। भोट, **स्त्रिन् स्प्यद्**, दानचर्या। भोटानुवाद पाठान्तर का समर्थक है।

79. मूल, स्मर। भोट, **द्गोङ्स् म्ज़ोद् द्गो ङ्स् पर म्ज़ोद्**, स्मर-स्मर।

80. मूल, कुलकुलीना (संबोधन पद, शुद्ध संस्कृत में कुलकुलीन। सबोधन तथा प्रथमा के एक वचन की यह दीर्घता इस भाषाकी एक सामान्य लक्षण है)। भोट, **स्ंयोद् रिग्स् छर् व्युङ्**, पूर्णचरित्रवत्कुलप्रसूत।

81. ति = ते (= त्वया)। तुलनीय भोट, **ख्योद् क्यिस्** त्वया।

82. मूल, बुद्धनियुतानि। भोट, **सङ्स् ग्र्यस् व्ये व ख्रग् ख्रिग्**, बुद्धकोटिनियुतानि।

हे अनन्त कीर्तिवाले, सत्वों पर कृपा करते हुए, तुमने जिन सर्व-सर्व कोटि बुद्धों की पूजा की है, उसका स्मरण करो ! स्मरण करो !! यह समय (है)[84] उपेक्षा मत करो ।

च्यव च्यव हि च्युतिविधिज्ञा जरामरणक्लेशसूदना विरजा ।
समुदीक्षन्ते बहवो देवासुर[85] नागयक्षगन्धर्वा ॥18॥

हे च्युति अर्थात् एक शरीर से दूसरे शरीर में अवतार लेने की विधि को जानने वाले, हे बुढापा, मृत्यु, क्लेशों को नष्ट करने वाले, हे रजस् अर्थात् राग-द्वेष से हीन, बहुत से देव, असुर, नाग, यक्ष तथा गन्धर्व (तुम्हारे अवतार की) प्रतीक्षा कर रहे हैं, इस लिए अवतार लो ! अवतार लो !!

कल्पसहस्र रमित्वा तृप्तिर्नास्त्यम्मसीव समुद्रे ।
साधु भव प्रज्ञातृप्त तर्पय जनतां चिरतृषार्ता ॥19॥

कल्प- सहस्रों तक (भोग-विलास में) रम कर, समुद्र के पानी (पीने की) भाँति तृप्ति नही होती ! उत्तमता के साथ प्रज्ञा द्वारा तृप्त हो जाओ, (तथा) चिर काल से पिपासाकुल जनता को तृप्त करो ।

किं चाप्यनिन्दितयशस्त्वं धर्मरतिरतो न चासि कामरतः । (-12-)
अथ च पुनरमलनयना अनुकम्पा सदेवकं लोकं ॥20॥

इसके अतिरिक्त,[86] तुम निन्दा मे विहीन कीर्ति वाले हो, धर्म की रति मे रमे हुए हो, और[86] काम मे रमे हुए नही हो, और फिर[86] निर्मलनेत्र वाले हो, देवताओं के समेत लोक पर अनुकम्पा करो ।

83. मूल, सर्वान् । भोट, **सेम्स् चन् नॅम्स् ल**, सत्वान् । यह भोटानुसारी पाठ अधिक अच्छा है ।

84 मूल, मे क्रिया साक्षात् उक्त नही है । भोट में **लग्स् क्यिस्**, अस्ति, यतः अस्ति (=है, क्योकि है) ।

85. मूल के **असुर** के स्थान मे भोट में **ल्ह मेन् द्बङ पो, असुरेन्द्र** पाठ है ।

86. मूल के किंचापि (इसके अतिरिक्त) च (और) तथा अथ च (पुनः और फिर) का भोट रूपान्तर ठीक-ठीक नही हुआ । एक ही गाथा मे इन तीन वाक्यावयवों के लिए भोट मे **ह्.ोन् क्यङ** (अथ च, अथापि) केवल एक बार आया है । इसी प्रकार का भोटानुवाद मे अधूरापन अन्य गाथाओ के इस प्रकार के पदो के विषय में है ।

किं चापि देवनयुता:[87] श्रुत्वा धर्म न ते वितृप्यन्ते ।
अथ च पुनर् अक्षणगतानपायसंस्थानपेक्षस्व ॥21॥

इसके अतिरिक्त तुम्हारे धर्म को सुनकर खर्व-खर्व देवताओं का मन अत्यन्त नही भर पाया है (अतः उनका मन पूरा भरने के लिए) अब फिर अक्षण अर्थात् आठ प्रकार के असमय, यथा, नरकयोनि, प्रेतयोनि, तीर्यग्योनि, दीर्घायुप देव-योनी, मिथ्यादृष्टि, बुद्धानुत्पाद, म्लेच्छता तथा मूकता, (की अवस्था) को प्राप्त हुए, दुर्गति में पड़े हुए (सत्वों) को देखो।

किं चापि विमलचक्षो पश्यसि बुद्धान् दशादिशि लोके । =14क=
धर्म शृणोषि च ततस् तं धर्मवरं विभज लोके ॥22॥

इसके अतिरिक्त, हे निर्मल नेत्र वाले ! (तुम) लोक मे, दसों दिशाओं में, बुद्धो को देख रहे और उनसे धर्म को सुन रहे हो, उस श्रेष्ठ धर्म को लोक में बाँटो।

किं चापि तुषितभवनं तव पुण्यश्रियाभिशोभते श्रीमान् ।
अथ च पुन करुणमानस प्रवर्ष जम्बुध्वजे[88] वर्षं ॥23॥

इसके अतिरिक्त, हे शोभा वाले, तुम्हारी पवित्र शोभासे तुषितभवन सुशोभित हो रहा हैं। अब फिर, हे दयालु हृदय वाले जम्बू की ध्वजा वाले (द्वीप) मे (धर्म की) वृष्टि बरसा दो।

समतीत्य कामधातुं देवा ये रूपधातुकानेके ।
सर्वे त्यभिनन्दन्ते[89] स्पृशेय सिद्धिव्रतो बोधिं ॥24॥

कामधातु को पार कर जो अनेक रूपधातुक अर्थात् रूपधातु के निवासी देवता हैं वे सब अभिनन्दन कर रहे है कि व्रतों में सिद्ध बोधि का स्पर्श करे।

निहता ति[90] मारकर्मा जितास्त्वयान्ये कुतीर्थिका नाथा ।
[91]करतलगता इव[91] ति[92] बोधी कालोऽयं मा उपेक्षस्व ॥25॥

87. भोट, ल्ह नॅम्स् ब्ये ब, देव कोटयः ।

88. मूल, जम्बुध्वजे । भोट में म्बु के स्थान में म्बु लिपि है ।

89. त्यभिनन्दते = ते अभिनन्दन्ते । ते (प्रथम-पुरुष बहुवचन पुलिङ्ग) । भोट में इसका अनुवाद नहीं किया गया है ।

90. ति = ते, त्वया । तुलनीय भोट, ख्योद् क्यिस् त्वया, तुमने ।

91 ···91. मूल, केन सकलगत । यह पाठ स्पष्ट ही अशुद्ध है । भोट में इसके स्थान पर पयग् म्थिल् बशग् दङ् ह्र, करतलगता इव पाठ है ।

92. ति = ते, तव । भोट में केवल ख्योद् नि, त्वत्० है ।

हे नाथ ! तुमने मार के कर्मों का हनन किया है, तुमने अन्य कुतीर्थिकों को जीत लिया है, बोधि तुम्हारी हथेली में आई सी है, यह समय है, (इनको) उपेक्षा मत करो।

> क्लेशाग्निना प्रदीप्ते लोके त्वं वीर मेघवद्व्याप्य।
> अभि वर्षामृतवर्ष शमय क्लेशान्नरमरूणान्[93] ॥26॥

क्लेश की आग से जलते हुए जगत् में, हे वीर। तुम मेघ की भाँति व्याप कर, अमृत की वृष्टि अति करके बरसो (तथा) मनुष्यों और देवताओं के क्लेशों को शान्त करो।

> त्वं वैद्यधातुकुशल चिरातुरान् सत्यवैद्य[94] सत्त्वान्[95]।
> त्रिविमोक्षागदयोगैर्निर्वाणसुखे स्थपय शीघ्रं ॥27॥

हे वैद्य-धातु अर्थात् वैद्यकतत्व में निपुण, हे सच्चे वैद्य, तुम तीन विमोक्ष अर्थात् अभ्यन्तर-अशुचि-दर्शन, बाह्य-अशुचि-दर्शन, तथा बाह्याभ्यन्तर-अशुचि-दर्शन रूपी अगद (=भैषज्य) के योगों से, चिरकाल से पीड़ित प्राणियों को निर्वाण के सुख मे शीघ्र स्थापित करो।

> अश्रुत्व सिंहनादं क्रोष्टुक[96] नादं नदन्त्य् अनुत्रष्टाः[97]।
> नद बुद्धसिंहनादं =14ख= त्रासय परतीर्थिकसृगालान् ॥28॥

93. नरमरूणान् (=नरमरूणां शुद्ध संस्कृत मे, नरामराणाम्) के भोटानुवाद में नर, शब्द उत्तर पद है, ल्ह मि र्नमुस् क्यिस्, अमरन्नराणाम्, देवमनुष्याणाम्। भोट, क्यिस् (तृतीयविभक्ति) क्यि (षष्ठी विभक्ति) के स्थान पर। इस प्रकार का विपर्यास भोटानुवाद मे प्रायः देखा जाता है।
94. मूल के सत्यवैद्य का रूपान्तर भोट में स्मन् पस् बोर् ब यि, वैद्य····(?) है। बोर् ब का अर्थ गवेषणीय है।
95. सत्यवैद्य के बाद मूल का मुद्रित पाठ सत्यवान् सचमुच ही अशुद्ध है। भोट पाठ, सेम्स् चन्, सत्त्वान् उचित पाठ है।
96. मूल के मुद्रित ग्रन्थ में कोष्टुक को नाद के साथ जोड़ दिया गया है। पर अनुत्रष्टाः यह विशेषण जिस विशेष्य को सूचित करता है वह क्रोष्टुक शब्द ही है। अतः क्रोष्टुक को पृथक् पद मानना होगा। भोटानुवाद में यह पृथक् पद है पर इसके विशेषण को वहाँ क्रिया विशेषण बना दिया गया है। भोट पाठ यों है—व र्नमस् ह्-जिग् मेद् पर्, क्रोष्टुकाः (शृगालाः) निर्भयं।
97. अनुत्रष्टाः =अनुत्रस्ता (अभीता.) इस विशेषण पद का भोट में, ह्जिग्स् मेद् पर् अनुत्रस्तं अनुवाद है। इसमें विशेषण क्रिया विशेषण बन गया है।

किं चापि देवनयुता:[87] श्रुत्वा धर्मं न ते वितृप्यन्ते।
अथ च पुनर् अक्षणगतानपायसंस्थानपेक्षस्व ॥21॥

इसके अतिरिक्त तुम्हारे धर्म को सुनकर खर्ब-खर्ब देवताओं का मन अत्यन्त नही भर पाया है (अतः उनका मन पूरा भरने के लिए) अब फिर अक्षण अर्थात् आठ प्रकार के असमय, यथा, नरकयोनि, प्रेतयोनि, तीर्यग्योनि, दीर्घायुप देव-योनी, मिथ्यादृष्टि, बुद्धानुत्पाद, म्लेच्छता तथा मूकता, (की अवस्था) को प्राप्त हुए, दुर्गति में पडे हुए (सत्त्वों) को देखो।

किं चापि विमलचक्षो पश्यसि बुद्धान् दशादिशि लोके। =14क=
धर्मं शृणोषि च ततस् तं धर्मवरं विभज लोके ॥22॥

इसके अतिरिक्त, हे निर्मल नेत्र वाले! (तुम) लोक मे, दसों दिशाओं में, बुद्धो को देख रहे और उनसे धर्म को सुन रहे हो, उस श्रेष्ठ धर्म को लोक में बाँटो।

किं चापि तुषितभवनं तव पुण्यश्रियाभिशोभते श्रीमान्।
अथ च पुन करुणमानस प्रवर्ष जम्बुध्वजे[88] वर्षं ॥23॥

इसके अतिरिक्त, हे शोभा वाले, तुम्हारी पवित्र शोभासे तुषितभवन सुशोभित हो रहा है। अब फिर, हे दयालु हृदय वाले जम्बू की ध्वजा वाले (द्वीप) में (धर्म की) वृष्टि बरसा दो।

समतीत्य कामधातुं देवा ये रूपधातुकानेके।
सर्वे त्यभिनन्दन्ते[89] स्पृशेय सिद्धिव्रतो बोधिं ॥24॥

कामधातु को पार कर जो अनेक रूपधातुक अर्थात् रूपधातु के निवासी देवता हैं वे सब अभिनन्दन कर रहे हैं कि व्रतों में सिद्ध बोधि का स्पर्श करे।

निहता ति[90] मारकर्मा जितारत्वयान्यो कुतीर्थिका नाथा।
[91]करतलगता इव[91] ति[92] वोधी कालोऽयं मा उपेक्षस्व ॥25॥

---

87. भोट, ल्ह र्नम्स् ब्ये व, देव कोटय।
88. मूल, जम्बुध्वजे। भोट में म्बु के स्थान में म्बु लिपि है।
89. त्यभिनन्दते = ते अभिनन्दन्ते। ते (प्रथम-पुरुष बहुवचन पुलिङ्ग)। भोट में इसका अनुवाद नहीं किया गया है।
90. ति = ते, त्वया। तुलनीय भोट, ख्योद् क्यिस् त्वया, तुमने।
91 ···91. मूल, केन सकलगत। यह पाठ स्पष्ट ही अशुद्ध है। भोट में इसके स्थान पर फ्यग् म्थिल् ब्शग् दङ् द्र, करतलगता इव पाठ है।
92. ति = ते, तव। भोट में केवल ख्योद् नि, त्वत्० है।

हे नाथ ! तुमने मार के कर्मो का हनन किया है, तुमने अन्य कुतीर्थिकों को जीत लिया है, बोधि तुम्हारी हथेली में आई सी है, यह समय है, (उनको) उपेक्षा मत करो ।

क्लेशाग्निना प्रदीप्ते लोके त्वं वीर मेघवद्व्याप्य ।
अभि वर्षामृतवर्षं शमय क्लेशान्नरमरूणान् [93] ॥26॥

क्लेश की आग से जलते हुए जगत् में, हे वीर ! तुम मेघ की भांति व्याप कर, अमृत की वृष्टि अति करके बरसो (तथा) मनुष्यों और देवताओं के क्लेशों को शान्त करो ।

त्वं वैद्यधातुकुशल चिरातुरान् सत्यवैद्य [94] सत्त्वान् [95] ।
त्रिविमोक्षागदयोगैर्निर्वाणसुखे स्थपय शीघ्रं ॥27॥

हे वैद्य-धातु अर्थात् वैद्यकतत्त्व में निपुण, हे सच्चे वैद्य, तुम तीन विमोक्ष अर्थात् अभ्यन्तर-अशुचि-दर्शन, बाह्य-अशुचि-दर्शन, तथा बाह्याभ्यन्तर-अशुचि-दर्शन रूपी अगद (=भैषज्य) के योगों से, चिरकाल से पीड़ित प्राणियों को निर्वाण के सुख मे शीघ्र स्थापित करो ।

अश्रुत्व सिंहनादं क्रोष्टुक [96] नादं नदन्त्य् अनुत्रष्टाः [97] ।
नद बुद्धसिंहनादं =14ख= त्रासय परतीर्थिकसृगालान् ॥28॥

93 नरमरूणान् (=नरमरूणा शुद्ध संस्कृत में, नरामराणाम्) के भोटानुवाद में नर, शब्द उत्तर पद है, ल्ह मि नंमस् क्यिस्, अमर-नराणाम्, देवमनुष्याणाम् । भोट, क्यिस् (तृतीयविभक्ति) क्यि (षष्ठी विभक्ति) के स्थान पर । इस प्रकार का विपर्यास भोटानुवाद में प्रायः देखा जाता है ।

94. मूल के सत्यवैद्य का रूपान्तर भोट में स्मन् पस् बोर् व यि, वैद्य····(?) है । बोर् ब का अर्थ गवेषणीय है ।

95. सत्यवैद्य के बाद मूल का मुद्रित पाठ सत्यवान् सचमुच ही अशुद्ध है । भोट पाठ, सेमस् चन्, सत्त्वान् उचित पाठ है ।

96. मूल के मुद्रित ग्रन्थ में क्रोष्टुक को नादं के साथ जोड दिया गया है । पर अनुत्रष्टाः यह विशेषण जिस विशेष्य को सूचित करता है वह क्रोष्टुक शब्द ही है । अतः क्रोष्टुक को पृथक् पद मानना होगा । भोटानुवाद में यह पृथक् पद है पर इसके विशेषण को वहाँ क्रिया विशेषण बना दिया गया है । भोट पाठ यों है—व नंमस् ह्-जिग्स् मेद् पर्, क्रोष्टुकाः (शृगालाः) निर्भयं ।

97. अनुत्रष्टाः =अनुत्रस्ता (अभीता.) इस विशेषण पद का भोट में, ह्जिग्स् मेद् पर् अनुत्रस्तं अनुवाद है । इसमें विशेषण क्रिया विशेषण बन गया है ।

सिहनाद को न सुन कर भयरहित क्रोष्टुक अर्थात् शृगाल -गर्ज-गर्ड बोलते है। बुद्धसिंह की गर्जन गरजो, परपन्थी शृगालो को त्रस्त करो।

प्रज्ञाप्रदीपपहस्तो बलवीर्यबलोदितो धरणिमण्डे।
करतलवरेण धरणीं परा[98] हनित्वा[99] जिनहि मारं[100] ॥29॥

धरती के मण्ड वा सारभूत अर्थात् बोधि प्राप्ति स्थान पर प्रज्ञा का प्रदीप हाथ मे लिए हुए, बल से तथा वीर्य (=उद्योग) के बल से उदित हुए, (तुम) श्रेष्ठ हाथ की हथेली से धरती को ठोक कर मार को पराजित करो।

समुदीक्षन्ते पालाश्चतुरो[101] ये तुभ्य दास्यते पात्रं।
शक्राश्च ब्रह्म नयुता ये जातं त्वां ग्रहीष्यन्ति ॥30॥

(वे) चार (लोक) पाल जो तुम्हे खर्ब-खर्ब इन्द्र और ब्रह्मा जो उत्पन्न (होने पर) तुम्हे ग्रहण करेगे, प्रतीक्षा कर रहे है।

व्यवलोकयाभियशा[101क] कुलरत्न[102]कुलोदिता[103] कुलकुलीना।
(-13क-) यत्र स्थित्वा सुमते दर्शष्यसि बोधिसत्त्वचरिं ॥31॥

हे उत्तम यशवाले, हे शोभन मतिवाले, हे कुल के कुलीन, जहां रहकर बोधिसत्त्वचर्या दिखलाओगे (उस) मे उठे हुए, कुल के रत्न को विशेष रूप से देखो।

---

98. परा....... जिनहि = भोट मे रब् तु फम् पर् मजोंद्। देखिए पाद टिप्पणी २।१००।
99. मूल, हनित्वा। भोट, बर्ङब् म्जोद् दे पीडयित्वा (दबाकर)।
100. मारम् के स्थान में भोट पाठ है .हुदि नंम्स्, एतान (=इन पर तीर्थिको को) यहाँ भोट पाठ से मूल पाठ उत्कृष्ट है!
101. पालाश्चतुरः=चत्वार लोकपाला. (चारलोकपाल)। तुलनीय भोट, .ह्जिगस् तेन् स्क्योङ् ब्शि पो, चत्वारः लोकपालाः।
101क. अभियशा, यह पद भोटानुवाद में छूट गया है।
102. कुलरत्न इसे पृथक् पद के रूप में पढ़ना चाहिए। इसके स्थान मे भोट मे है—रिगस क्यि नङ् न म्चुन् पो रिग्स् ल, कुलके बीच अभिजात कुल को।
103. कुलोदिता (कुल में उठे हुए), के स्थान में भोट में है—दम् प रिग् स् स्क्योस् व, सत्कुलोत्पन्न।
104. कुलकुलीना (कुलके कुलीन) के स्थान में भोट में है—रिग छेन् रिग्स् ल्दन् प महाकुलकुलीन।

यत्रैव भाजनेऽस्मिन् मणिरत्नं तिष्ठते भवति श्रीमान् ।
मणिरत्नविमलवुद्धे[105] प्रवर्ष जम्बुध्वजे वर्षं ॥32॥

हे मणिरत्न के समान निर्मल बुद्धि वाले, यहाँ जिस पात्र में (धर्मका) मणिरत्न टिकता है (तथा) श्रीमान् अर्थात् शोभायुक्त होता है (उसको) जम्बू की ध्वजा वाले (भारत वर्ष में) वर्षा बरसो ।

एवं वहुप्रकारा संगीतिरवानुनिश्चरा गाथा ।
चोदेन्ति करुणामनसं अयं स कालो मा उपेक्षस्व ॥33॥इति॥

यो वहुत प्रकार की, संगीति की ध्वनि से निकलने वाली गाथाएँ (उस) करुणा-हृदय (के बोधिसत्त्व) को प्रेरित करती थी कि यह वह (बोधि पाने का) समय है, उपेक्षा मत करो ।इति।[106]

॥इति श्री ललितविस्तरे समुत्साहपरिवर्तो नाम द्वितीयोऽध्याय ॥

■

105. मूल में मुद्रित पाठ, मणिरत्नं विमलवुद्धे है। भोट, **नोर्बु रिन् छेन् ल्त बुर् द्रि मेद् थूगस**, मणिसदृश विमल वुद्धे। तदनुसार मूल पाठ मणिरत्न विमलवुद्धे ठीक होगा, ऐसा स्पष्ट जान पड़ता है।

106 इस परिवंत के गाथाओं की संस्कृतच्छाया यहाँ दी जा रही है दीर्घ तत्सम पदावली की कहीं 2 आवृत्ति न कर उसे बिन्दुमयी रेखा से सूचित किया गया है। स्मर विपुलपुण्यनिचय स्मृतिमतिगत्यन्त, प्रज्ञाप्रभाकरिन् । अतुलवल, विपुलविक्रम, व्याकरणं दीपसहेन (=दीपंकरेण) ते (=तव) ॥14॥ स्मर विपुलनिर्मलमनस्, त्रिमलप्रहीण, शान्तमददोप । शुभविमल शुद्धचित्त, दानचर्या यादृशी ते (=त्वया) पुरा (कृतेत्याख्या हार्यम्) ॥15॥ स्मर (स्मर) कुलकुलीन शमथ शीलव्रतं क्षमादमं चैव । वीर्यवलध्यानप्रज्ञा निपेविता कल्पकोटिनियुतानि ॥ 16॥ स्मर स्मरानन्तकीर्ते संपूजितानि यानि ते (=त्वया) वुद्धकोटिनियुतानि । सत्त्वान् करुणायमानः कालोऽयं मोपक्षस्व ॥17॥ च्यवस्व च्यवस्व हि च्युतिविधिज्ञ जरामरणक्लेशसूदन विरज- । समुदीक्षन्ते वहवो देवासुरनागयक्षगन्धर्वा ॥18॥ कल्पसहस्राणि रन्त्वा तृप्तिर्नास्त्यम्भसीव सामुद्रे । साधु भव प्रज्ञातृप्तस् तर्पय जनता चिरतृपार्ताम् ॥19॥ किं चाप्यनिन्दितयशास्त्वं धर्मरतिरतो न चासि कामरतः । अथ च पुनरमलनयनानुकम्पस्व सदेवकं लोकम् ॥20॥ किं चापि देवनियुतानि श्रुत्वा धर्मं न ते वितृप्यन्ति । अथ च पुनरक्षणगतानपायसंस्थानपेक्षस्व ॥21॥ कि चापि विमलचक्षु पश्यसि बुद्धान् दशसु दिक्षु लोके । धर्मं

शृणोपि च ततस् (=तेभ्यस्) तं धर्मवरं विभजस्व लोके ॥22॥ किं चापि तुषित भवनं तव पुण्यश्रियाभिशोभते श्रीमन् । अथ च पुनः करुणामानस प्रवर्ष जम्बूध्वजे वर्षम् ॥23॥ समतीत्य कामधातुं देवा ये रूपधातुका अनेके । सर्वे तेऽभिनन्दन्ति स्पृशेत् सिद्धिव्रतो बोधिम् ॥24॥ निहतानि ते (=त्वया) मारकर्माणि जितास्त्वयान्ये कुतीर्थिका नाथ । करतलगतेव ते बोधिःकालोऽयं मोपेक्षस्व ॥25॥ ······· । ··· नरामराणाम् ॥26॥ ········ । ········ स्थापय ··········· ॥27॥ अश्रुत्वा सिंहनादं क्रोष्टुका नादं नदन्त्यनुत्रस्ता । ··· ·······०शृगालान् ॥28॥ ···········धरणीमण्डले । करतलवरेण धरणी हत्वा (=ताडयित्वा) पराजयस्व मारम् ॥29॥ समुदीक्षन्ते (लोक) पालाश्चत्वारो ये तुभ्य दास्यन्ति पात्रम् । शक्राश्च ब्रह्माणो नियुतानि ये जातं त्वा ग्रहीष्यन्ति ॥30॥ व्यवलोकयाभियशः कुलरत्न कुलोदितं कुलकुलीन । यत्र स्थित्वा सुमते दर्शयिष्यसि बोधिसत्वचर्याम् ॥31॥ यत्रैव भाजनेऽस्मिन् मणिरत्नं तिष्ठति भवति श्रीमत् । मणिरत्न विमलबुद्धे प्रवर्ष जम्बूध्वजे वर्षम् ॥32॥ एवं बहुप्रकाराः संगीतिरवानुनिश्चरा गाथाः । चोदयन्ति करुणामनसमयं स कालो मोपेक्षस्व ॥33॥

॥ ३ ॥

॥ कुलशुद्धिपरिवर्त ॥

मुद्रित ग्रन्थ 13 (पंक्ति 9)–29 (पंक्ति 12)
मोट ग्रन्थ 14ख (पंक्ति 7)–30ख (पंक्ति 2)

॥ ३ ॥

॥ कुलशुद्धि परिवर्त ॥

1 इस प्रकार, हे भिक्षुओं, धर्मकाल की प्रेरणा पाकर बोधिसत्त्व उस महा-विमान से निकले और = 15क = धर्मोच्चय नाम का महाप्रासाद, जहाँ बैठ कर बोधिसत्त्व तुषित देवताओं को धर्म की देशना किया करते थे, उस पर बोधिसत्त्व चढे। चढ़कर सुधर्म (नाम के) सिंहासन पर बैठे। तब जो देवपुत्र बोधिसत्त्व के सभाग अर्थात् समान शील वाले तथा समयान तर्थात् समान पन्थ पर चलने वाले थे, वे भी उसी प्रासाद पर चढे। तथा दश-दिशाओं में इकट्ठे हुए जो बोधि-सत्त्व और देवपुत्र बोधिसत्त्व के सभागचरित अर्थात् समान शील एवं चरित्र वाले थे, वे भी उस प्रासाद पर चढ कर यथा-योग्य अपने-अपने सिंहासनों पर बैठे। अप्सरागण से रहित, प्राकृत अर्थात् साधारण कोटि के देवपुत्रों से हीन (वह सब) एक समान अभिप्रायवालों का परिवार था,[1] अड़सठ कोटियो के सहस्र का परिवार[1] था।

2. हे भिक्षुओं, इस प्रकार (चर्चा फैल गई कि) बारह वर्षो मे बोधिसत्त्व माता की कोख में चले जायेंगे। तब शुद्धावासकायिक देवपुत्र जम्बू-द्वीप में आकर दिव्य वर्ण अर्थात् देवताओं जैसा रंग-रूप छिपा कर ब्राह्मणों के वेश में ब्राह्मणों को वेद पढ़ाते थे। जिसकी (– 14 –) गर्भावक्रान्ति अर्थात् गर्भ में आगति इस प्रकार की हो, वह = 15ख = महापुरुषों के बत्तीस लक्षणों से युक्त होता है। जिनसे युक्त होने वाले की दो ही गतियाँ होती हैं, तीसरी नही।

3 वह यदि घर-बारी होकर रहता है तो, चतुरंगिणी सेना से युक्त, विजितवान् अर्थात् धर्म से जीते हुए राष्ट्र वाला, धार्मिक, धर्मराज, सात रत्नों से युक्त, चक्रवर्ती राजा होता है। उसके सात रत्न ये होते है—यथा, चक्ररत्न, हस्तिरत्न, अश्वरत्न, स्त्रीरत्न, मणिरत्न, गृहपतिरत्न, तथा परिणायकरत्न अर्थात् अमात्यरत्न।

1....1. अष्टषष्ठिकोटिसहस्रपरिवाराः, इस मूल में षष्ठि संस्कृत का षष्टि है। और भोट में इसका अनुवाद यों है—ह्.ख़ोर् ब्ये ब फ्रग् द्रुग् चु .चं ब्र्ग्यद् ब्र्ग्यद् अष्टषष्टिकोटि—अष्टपरिवाराः अड़सठ कोटियों के आठ का परिवार।

4 चक्रवर्ती राजा किस प्रकार के चक्ररत्न से युक्त होता है ? यहाँ [2]उपवसथ के दिन पूर्णिमा (की तिथि) में[2], सिर से नहाए हुए, उपवास किए हुए, प्रासाद-तल के ऊपर बैठे हुए, स्त्र्यागार अर्थात् स्त्रीसमूह[3] से घिरे हुए, मूर्धाभिषिक्त (अर्थात् राजसूय यज्ञमें माथे से अभिषेक किए हुए), क्षत्रिय, राजा के लिए पूर्व दिशा में दिव्य चक्ररत्न का प्रादुर्भाव होता है, (जो होता है) सहस्र अरों का, सनेमि अर्थात् पुट्ठीवाला, सनाभि अर्थात् नाहवाला[4], सोने की चित्रकारी के काम से सुशोभित[4], तथा सात ताल ऊँचा । चारो ओर से[5], अन्त पुर के साथ[6], उस दिव्य चक्र रत्न को देखकर मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय राजा के मन मे यों[7] (विचार) होता है ।

5 मैने सुना है कि =16क= [8]उसवसथ के दिन पूर्णिमा की तिथि में[8] सिर से नहाए, उपवास किए हुए, प्रासाद-तल के ऊपर बैठे हुए, स्त्र्यागार अर्थात् स्त्रीसमूह[9] से घिरे हुए, जिस मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा के लिए पूर्व दिशा मे दिव्य चक्ररत्न का प्रादुर्भाव होता है, वह चक्रवर्ती राजा होता है । (मेरे सम्मुख दिव्य चक्ररत्न आया है इसलिए[10] निश्चय से मै (भी)[10क] चक्रवर्ती राजा हूँ ।

2 ⋯2. मूल, तदेव पोषधेयं च पञ्चदश्या, भोट, **गसो स्बयोङ् गि जिम छेस् ब्चो ङ-ल,** उपोषधदिने पञ्चदश्यां तिथौ । मूल में दिन शब्द की कमी है । तदेवाह. पोपधेयं इस प्रकार मूल को ठीक करना होगा ।

3 स्त्र्यागार का प्रयोग स्त्री समूह के लिए लाक्षणिक है । तुलनीय भोट, **बुद्मेद् थिय छोगस् क्यिस्** स्त्री समूह से ।

4 ⋯4 मूल, सुवर्णवर्णकमलिंकृतं । भोट, **थम्स् चद् ग्सेर् लस् ग्रुब् प म्गर् ब्सम् ब्यस् प** सर्वं सुवर्णनिर्मितं, सुवर्णकारचिन्ताकृतं, पूरा सोने का, मन मे सुनार का बनाया ।

5. मूल, समन्तात् । भोटानुवाद मे यह शब्द छूट गया है ।

6 मूल में, अन्त.पुरं । अभिप्रायानुसार मान्त.पुरम् अन्त.पुर के साथ, होना चाहिए । भोटानुवाद में यह शब्द छूट गया है ।

7 मूल में एव (चक्ररत्नमेव) के स्थान पर एवं पाठान्तर ही ठीक है । तुलनीय भोट, ह्-दि स्नम् दु, एवम्, यो ।

8 ⋯ 8. द्रष्टव्य टिप्पणी 3।2 ⋯ 2 ।

9 द्रष्टव्य टिप्पणी 3।3 ।

10. **ब्दग् गि दुङ् दु ल्ह हि ह.-खोर् लो रिन् पो छे .होङ्स् लस् न,** मम संमुखं दिव्य चक्ररत्नं समागतमिति, मेरे सामने दिव्य चक्ररत्न आया है, इसलिए यह पाठ भोटानुवाद में अधिक है ।

10क. भोट में अधिक पा० **क्यङ्,** अपि, भी ।

[11]अब मुझे दिव्य चक्ररत्न को परखना चाहिए[11]। इसके अनंतर मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा उत्तरासंग (= उत्तरीय वस्त्र) को एकांसक कर (अर्थात् दाहिने कंधे को खुला रखकर बायाँ कंधा ढक कर) धरती पर दाहिने घुटने का मण्डल टेक कर, दाहिने हाथ से, उस दिव्य चक्ररत्न से प्रार्थना करे और इस प्रकार निवेदन करे कि हे[12] भट्ट (= स्वामिन्) दिव्य चक्ररत्न[12] घुमाओ (अपने को) धर्म से, अधर्म से नहीं।

6. तब मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय; राजा द्वारा घुमाया गया, वह दिव्य चक्ररत्न ऋद्धि (के निमित्त) से[12क] पूर्व दिशा की ओर आकाश (मार्ग) से समीचीनता के साथ चल पड़ता है। चक्रवर्ती राजा चतुरङ्गिणी सेना के समूह के साथ पीछे पीछे चलता है[12ख] और पृथ्वी के जिस प्रदेश के ऊपर वह दिव्य चक्ररत्न ठहरता है (–15–) वहाँ मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा = 16ख = चतुरङ्गिणी सेना के समूह के साथ पड़ाव डालता है।

7 तब, जो-जो[13] पूर्व दिशा के माण्डलिक राजा होते हैं, वे सुवर्ण के चूर्ण से परिपूर्ण रजतपात्री अथवा रजत के चूर्ण से परिपूर्ण सुवर्णपात्री को लेकर चक्रवर्ती राजा का इस प्रकार[14] प्रत्युत्थान (पूजा सत्कार) करते हैं। आइए देव, स्वागत है देव का, यह समृद्ध[15], स्फीत (पुष्ट)[16], योग क्षेम वाला[17], सुभिक्ष,

11...11. मूल, यन्वहं दिव्यं चक्रं मीमांसयेयम्। यह पाठ भोटानुवाद में छूट गया है।

12. मूल, भट्ट दिव्यं चक्ररत्नं भोट, **ब्चुन् पो ल्ह हि. ह.-खोर् लो रिन् पो छे।** भोट पाठ से यहाँ विभक्ति निर्णय संभव नहीं है। पर मूल में 'भट्ट' यह शब्द संबोधन है। यह संबोधन यदि चक्राधिष्ठात्री देवता के लिए है तब तो मूल ठीक है अन्यथा यदि संबोधन साक्षात् चक्र के लिए हो तो तीनों पदों को संबोधन मानना होगा। हिन्दी अनुवाद में पदविन्यास इस प्रकार का है कि दोनों प्रकार से अर्थ किया जा सके।

12क मूल में ऋद्धौ। भोट **र्जु ह.-फ्रुल् ग्यिस्,** ऋद्धया। यही उचित पाठ है। द्रष्टव्य टिप्पणी 3,24।

12ख. मूल, अन्वेति, भोट, **र्जेस् सु ह.-ग्रो हो।** द्रष्टव्य टिप्पणी 3,25।

13. मूल, येते = ये ये, तुलनीय भोट **गङ्,** जो। 'ये' का सम्बन्धी 'ते' पृथक् पढ़ा गया है ये ते भवन्ति'''मण्डलिनस्ते।

14. भोट में यहाँ अधिक पाठ है, **ह.-दि स्कद् दु,** एवं, इस प्रकार।

15. भोट, **शिन्तु ग्यंस् शिङ्,** अति-ऋद्ध, समृद्ध।

16 ऋद्ध के अनन्तर मूल में स्फीत पाठ है जो भोटानुवाद में छूट गया है।

17. मूल, क्षेमं। भोट, **ह.-ब्योर् ल ब्दे,** योग कुशलं, लाभ शुभम्। यहाँ इस अनुवाद का मूल पाठ योग क्षेमं जान पड़ता है।

रमणीय[18], फैले हुए बहुत लोगों वाला तथा सुजात मनुष्योंवाला[18], देव का राज्य है, देव, अपने विजित (=विजय किए हुए निज के राष्ट्र) मे पहुंच निवास करें।

8 ऐसा कहने पर (उनका) रक्षक, मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय राजा उन माण्डलिक राजाओं से यह कहता है। आप लोग धर्म से अपना-अपना राज्य चलाएँ अधर्म से नहीं।[19] हाँ, आप लोग प्राणि-बध न करने दे, अदत्तादान (चोरी) न करे, काममिथ्याचार न करे, मृषा (झूठ) न बोलें[20], (पिशुनता न करें अर्थात् दूसरों के कान न भरें, कठोर न बोलें, बेकाम की बात न करे, अभिध्या या लोभ मे न पड़े, व्यापाद या द्रोह में न पड़ें, मिथ्यादृष्टि में न पड़े, प्राणिघातकों से स्नेह न करें, यहाँ तक कि मिथ्यादृष्टि वाले लोगों को मन में न लाएँ)[20] ताकि मेरे विजित (राष्ट्र) मे अधर्म उत्पन्न न हो। अधर्म का = 17क = आचरण करने वालों से प्रेम न करें।

9 इस प्रकार मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा पूर्व दिशा की विजय करता है।

18····18. मूल, आकीर्णबहुजनमनुष्यं। भोट, **स्क्ये बो मङ् पो दङ् मिस् बल्तम्** **लेग्स् सें**, बहुजन सुजातमनुष्य च। मूल में मनुष्यं से पूर्व सुजात यह शब्द बढा लेना होगा। द्रष्टव्य टिप्पणी 3।66··· 66, 3।95····95।

19. भोट, **छोस् म यिन् पस् नि म यिन् नो**, मा अधर्मेण, यह पाठ भोट मे अधिक है।

20····20. इन संदर्भ के आठों वाक्य भोट से लिए गए है। मूल में उनका पता नही है। यहाँ भोट वाक्य सानुवाद मूलोचित भाषा में दिए जाते है—
फ्र म म ज्ञर् चिग्, मा पैशून्यमाहरिष्यथ।
ङग् चुब् पो म स्म्र शिग्, मा परुषं वक्ष्यथ।
छिग् ख्यल् व (? क्यल् व) म स्म्र शिग्, मा संभिन्नामालापं लपिष्यथ।
ब्र् नं ब् सेमुस् चन दु म ह्-ग्युर् शिग्, मा भिध्यायिष्यथ।
ग्नोद् सेम्स् चन् दु म ग्युर् शिग्, मा व्यापादयिष्यथ।
लोग् पर् ल्त वर् म ह्-ग्युर् शिग्, मा मिथ्या द्रक्ष्यथ।
स्रोग् ग्चोद् प ल ब्र्यम्स् म ह्-ग्युर शिग्, मा प्राणि घातकेषु स्नेहिष्यथ।
लोग् पर् ल्त व चन् ग्यि वर् ल सेम्स् पर् म ह्-ग्युर् शिग्, मा तावन्मिथ्या-दृष्टिकान् चिन्तयिष्यथ।

पूर्व दिशा की विजय करके[21], [22] पूर्व समुद्र का अवगाहन करता है[22], पूर्व समुद्र का अवगाहन कर[22क] पूर्व समुद्र को पार करता है, [23]पूर्व समुद्र को पार कर चुकने पर[23], वह दिव्य चक्ररत्न[24] ऋद्धि (के निमित्त) से, दक्षिण दिशा की ओर, आकाश (मार्ग) से समीचीनता के साथ चल पड़ता है। चक्रवर्ती राजा चतुरङ्गिणी सेना के समूह के साथ पीछे-पीछे चलता है।[25] जैसा पहले (वर्णन किया जा चुका है) उसी प्रकार दक्षिण दिशा की विजय करता है। जैसे दक्षिण दिशा की, वैसे[26] पश्चिम और उत्तर दिशा की विजय करता है। उत्तर दिशा की विजय करके उत्तर समुद्र का अवगाहन करता है,[27] उत्तर समुद्र का अवगाहन कर [27], उत्तर समुद्र से पार होता है, पार होकर वह दिव्य चक्ररत्न[28] ऋद्धि (के निमित्त) से, आकाश (मार्ग) से, राजधानी पहुंच अन्तःपुर के द्वार के ऊपर, अक्षय भाव से, स्थित होता है।

10. इस प्रकार मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय राजा चक्ररत्न से युक्त होता है।

11. किस प्रकार चक्रवर्ती राजा हस्तिरत्न से युक्त होता है? यहाँ = 17ख = मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा के लिए, जैसा पहले (वर्णन किया जा चुका है उसी प्रकार) हस्तिरत्न उत्पन्न होता है। (जो) पूरा का पूरा श्वेत, सुप्रतिष्ठित

---

21. मूल, विजितः, भोट, र्नम् पर् गूर्यल् वर् ब्यस् नस्, विजित्य, विजयं कृत्वा, विजय करके।

22....22 यह पाठ केवल भोट में है। तुलनीय, शर् फ्योगस् क्यि गर्य म्छो ल ह्.-ग्रो .हो, पूर्व समुद्र जाता है। द्रष्टव्य टिप्पणी 22 क आगे।

22क. मूल, अवगाह्य, अवगाहन कर, भोट, सोङ् नस्, गत्वा, जाकर। इस चक्ररत्न के वर्णन के संदर्भ में अवगाहते, अवगाहन करता है, के स्थान मे भोटानुवाद ह्.-ग्रो .हो, गच्छति, जाता है तथा अवगाह्य अवगाहन कर के स्थान मे सोङ् नस्, गत्वा, जाकर, है।

23....23. मूल, पूर्व समुद्रमवतीर्य। भोट, र्गल् नस् अवतीर्य।

24. मूल तथा भोट दोनो में यहाँ इस पदावली की अपेक्षा है।

25. मूल, अन्वेति पीछे पीछे चलता है, पर भोट ह्.-ग्रो .हो एति जाता है, चलता है।

26. एव = एवं। तुलनीय भोट, दे ब्शिन् दु।

27....27 मूल, अवगाह्य, भोट, ब्यङ् फ्योगस् क्यि र्ग्यमछो ल सोङ् नस् उत्तर दिशा के समुद्र को जाकर।

रमणीय[18], फैले हुए बहुत लोगों वाला तथा सुजात मनुष्योंवाला[18], देव का राज्य है; देव, अपने विजित (=विजय किए हुए निज के राष्ट्र) में पहुंच निवास करे।

8 ऐसा कहने पर (उनका) रक्षक, मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय राजा उन माण्डलिक राजाओं से यह कहता है। आप लोग धर्म से अपना-अपना राज्य चलाएँ अधर्म से नहीं।[19] हाँ, आप लोग प्राणि-वध न करने दे, अदत्तादान (चोरी) न करे, काममिथ्याचार न करें, मृषा (झूठ) न बोलें[20], (पिशुनता न करे अर्थात् दूसरो के कान न भरे, कठोर न बोलें, बेकाम की बात न करे, अभिध्या या लोभ में न पड़े, व्यापाद या द्रोह में न पड़ें, मिथ्यादृष्टि में न पड़ें, प्राणिघातकों से स्नेह न करें, यहाँ तक कि मिथ्यादृष्टि वाले लोगों को मन में न लाएँ)[20] ताकि मेरे विजित (राष्ट्र) में अधर्म उत्पन्न न हो। अधर्म का = 17क = आचरण करने वालों से प्रेम न करें।

9 इस प्रकार मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा पूर्व दिशा की विजय करता है।

18····18. मूल, आकीर्णबहुजनमनुष्यं। भोट, **स्क्ये बो मङ् पो दङ् मिस् बल्लम् लेग्स् ते**, बहुजनं सुजातमनुष्यं च। मूल में मनुष्यं से पूर्व सुजात यह शब्द बढ़ा लेना होगा। द्रष्टव्य टिप्पणी 3।66····66, 3।95··· 95।

19. भोट, **छोस् म यिन् पस् नि म यिन् नो**, मा अधर्मेण, यह पाठ भोट में अधिक है।

20····20. इन संदर्भ के आठों वाक्य भोट से लिए गए है। मूल में उनका पता नहीं है। यहाँ भोट वाक्य सानुवाद मूलोचित भाषा में दिए जाते है—

फ्र म म ज़र् चिग्, मा पैशून्यमाहरिष्यथ।

ङग् चुब् पो म स्म्र ग्गिग्, मा परुषं वक्ष्यथ।

छिग् क्यल् व (? क्यल् व) म स्म्र शिग्, मा संभिन्नामालापं लपिष्यथ।

ब् र्न व् सेमस् चन दु म ह्-ग्युर् शिग्, मा भिध्यायिष्यथ।

ग्नोद् सेम्स् चन् दु म ग्युर् शिग्, मा व्यापादयिष्यथ।

लोग् पर् ल्त वर् म ह्-ग्युर् शिग्, मा मिथ्या द्रक्ष्यथ।

ग्सोग् ग्चोद् प ल ब्यम्स् म ह्-ग्युर शिग्, मा प्राणि घातकेषु स्नेहिष्यथ।

लोग् पर् ल्त व चन् ग्यि वर् ल सेमस पर म ह -ग्यर शिग. मा तावन्मिथ्यादृष्टिकान् चिन्तयिष्यथ।

पूर्व दिशा की विजय करके[21], [22] पूर्व समुद्र का अवगाहन करता है[22], पूर्व समुद्र का अवगाहन कर[22क] पूर्व समुद्र को पार करता है, [23]पूर्व समुद्र को पार कर चुकने पर[23], वह दिव्य चक्ररत्न[24] ऋद्धि (के निमित्त) से, दक्षिण दिशा की ओर, आकाश (मार्ग) से समीचीनता के साथ चल पड़ता है। चक्रवर्ती राजा चतुरङ्गिणी सेना के समूह के साथ पीछे-पीछे चलता है।[25] जैसा पहले (वर्णन किया जा चुका है) उसी प्रकार दक्षिण दिशा की विजय करता है। जैसे दक्षिण दिशा की, वैसे[26] पश्चिम और उत्तर दिशा की विजय करता है। उत्तर दिशा की विजय करके उत्तर समुद्र का अवगाहन करता है,[27] उत्तर समुद्र का अवगाहन कर [27], उत्तर समुद्र से पार होता है, पार होकर वह दिव्य चक्ररत्न[28] ऋद्धि (के निमित्त) से, आकाश (मार्ग) से, राजधानी पहुंच अन्तःपुर के द्वार के ऊपर, अक्षय भाव से, स्थित होता है।

10. इस प्रकार मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय राजा चक्ररत्न से युक्त होता है।

11 किस प्रकार चक्रवर्ती राजा हस्तिरत्न से युक्त होता है? यहां = 17ख = मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा के लिए, जैसा पहले (वर्णन किया जा चुका है उसी प्रकार) हस्तिरत्न उत्पन्न होता है। (जो) पूरा का पूरा श्वेत, सुप्रतिष्ठित

21. मूल, विजितः, भोट, **नंम् पर् र्ग्यल् वर् ब्यस् नस्**, विजित्य, विजयं कृत्वा, विजय करके।

22····22. यह पाठ केवल भोट में है। तुलनीय, **शर् फ्योग्स् क्यि र्ग्य म्छो ल ह्-ग्रो ह्रो**, पूर्व समुद्र जाता है। द्रष्टव्य टिप्पणी 22 क आगे।

22क मूल, अवगाह्य, अवगाहन कर, भोट, **सोङ् नस्**, गत्वा, जाकर। इस चक्ररत्न के वर्णन के संदर्भ में अवगाहते, अवगाहन करता है, के स्थान में भोटानुवाद **ह्-ग्रो ह्रो**, गच्छति, जाता है तथा अवगाह्य अवगाहन कर के स्थान में **सोङ् नस्**, गत्वा, जाकर, है।

23 ···23. मूल, पूर्व समुद्रमवतीर्य। भोट, **र्गल् नस्** अवतीर्य।

24. मूल तथा भोट दोनो में यहाँ इस पदावली की अपेक्षा है।

25. मूल, अन्वेति पीछे पीछे चलता है, पर भोट **ह्-ग्रो ह्रो** एति जाता है, चलता है।

26. एव = एव। तुलनीय भोट, **दे ब्शिन् दु**।

27····27. मूल, अवगाह्य, भोट, **ब्यङ् फ्योग्स् क्यि र्ग्यम्छो ल सोङ् नस्** उत्तर दिशा के समुद्र को जाकर।

सात अगों वाला, सोने की चूड़ा से अलंकृत[28], सोने की ध्वजावाला, सोने के अलंकारों से अलंकृत[29], सोने की जाली से ढका हुआ, (–16–) ऋद्धिमान्, आकाश से जाने वाला, विकुर्वणाधर्म अर्थात् दिव्यमाया-गुण से युक्त होता है, मानो (वह) बोधि-नामक नागराजा ही हो। और जब मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा उस हस्तिरत्न की मीमासा अर्थात् परीक्षा करना चाहता है, तब सूर्य के निकलने के समय; उस हस्तिरत्न पर चढ़कर, समुद्र की परिखा (= खाई) वाली, समुद्र के किनारे वाली, इसी महापृथ्वी के चारो ओर घूम फिर-कर राजधानी में आकर, प्रशासनरति[30] अर्थात् धर्मरति का अनुभव करता है। इस प्रकार चक्रवर्ती राजा हस्तिरत्न से युक्त होता है।

12. किस प्रकार चक्रवर्ती राजा अश्वरत्न से युक्त होता है ? यहाँ[31] मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा के लिए, जैसा पहले (वर्णन किया जा चुका है उसी प्रकार) अश्वरत्न उत्पन्न होता है। (जो) पूरा का पूरा नीला, काले सिर वाला,[32] मूँज जैसे केशर वाला[32], चेहरे मे आदर (के भाव से) युक्त, सोने की ध्वजा वाला, सोने के अलंकारो से युक्त, = 18 क = सोने की जाली से ढका हुआ, ऋद्धिमान्, आकाश से जाने वाला, विकुर्वणा-धर्म अर्थात् दिव्यमाया गुण से युक्त होता है। मानो वह वेग वलाहक नामक अश्वराज[33] ही हो। और जब मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा उस अश्वरत्न की मीमांसा अर्थात् परीक्षा करना चाहता है, तब सूर्य के निकलने के समय, उस अश्वरत्न पर चढकर, समुद्र की परिखा (= खाई) वाली समुद्र के किनारे वाली, इसी महापृथ्वी के चारो ओर

28. मूल, स्वर्ण चूडकं। भोट, ग्चुग् ग्सेर् ग्यिस् ब्र्-ग्र्यन् प स्वर्णचूडकालंकृतं।
29. मूल, स्वर्णलंकारं। भोट, ग्सेर् क्यि ग्र्-यन् ग्यिस् ब्र्-ग्र्-यन् प स्वर्णालंकारालंकृतं।
30. मूल, प्रशासनरति। यहाँ द्वितीयान्त पाठ होना चाहिए। भोटानुवाद यहाँ पर भिन्न है ख्ये.हु सुस् क्यि द्गह्. ब, यौवनरति (?)।
31 मूल, अथ। भोट, ह.-दि ल, इह, यहाँ। इससे पहले के अनुच्छेद में इस जैसे संदर्भ में इह पाठ है। तदनुसार यहाँ भी वैसा ही पाठ उचित है।
32 ··32. मूल, मुञ्जकेशम्, भोट, डोंग् म ल्चङ् लोर् ह -दुग् प, मुञ्जकेशरम्। केशर = गर्दन के ऊपर के केश।
33. मूल, अश्वराजम्। अश्वराजा यह पाठ होना चाहिए। तुलनीय, नागराजा (इससे पूर्व के अनुच्छेद में) यहाँ मूल में वालाहक शब्द है। भोट में वेग वालाहक (स्प्रेन ग्यि शुगस् चन्) है

घूम-फिर कर, राजधानी में आकर, प्रशासनरति[34] अर्थात् धर्मरति का अनुभव करता है। इस प्रकार चक्रवर्ती राजा अश्वरत्न से युक्त होता है।

13. किस प्रकार चक्रवर्ती राजा मणिरत्न से युक्त होता है? यहां मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा के लिए, जैसा पहले (वर्णन किया जा चुका है उसी प्रकार) मणिरत्न उत्पन्न होता है। (जो) पूरा का पूरा नीला[35] वैदूर्यमय[36] अष्टांश अर्थात् अठकोना तथा सुपरिकर्मकृत अर्थात् भलीभांति काट-छांट कर सवांरा हुआ होता है। उस मणिरत्न की आभा (चमक) द्वारा सब अन्तःपुर[37] प्रकाश से प्रकाशित[37] हो जाता है। और जब मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा उस मणिरत्न की मीमांसा अर्थात् परीक्षा करनी चाहता है तब आधीरात को अन्धकार से अँधेरी रात में उस मणिरत्न को = 18ख = ध्वजा की नोक पर लगवा कर उद्यान भूमि में अच्छी भूमि देखने के लिए बाहर जाता है। (–17–) फिर (वहाँ) उस मणिरत्न की आभा (चमक) द्वारा, सबका सब चतुरङ्गिणी सेना का समूह, चारों ओर योजन तक, प्रकाश से प्रकाशित हो जाता है। और फिर जो मनुष्य (वहाँ) उस मणिरत्न के चारों ओर (के प्रदेश में) बसे हुए होते हैं, वे[38] उस प्रकाश से प्रकाशमान[38] हो, एक दूसरे को पहचानते है, एक दूसरे को देखते है, (तथा) एक दूसरे से कहते है। भद्रमुखो, उठो[39], कर्मात अर्थात् काम-काज करो, हाट-बाँट

34. द्रष्टव्य टिप्पणी 3।30।
35. मूल, शुद्धनील। भोट, **थम्स् चद् दु स्डो ब**, सर्वनील। इससे पहले के अनुच्छेद में इस प्रकार के संदर्भ को देखते हुए यहाँ सर्वनील असमस्त-पद होना चाहिए।
36. मूल, वैडूर्यम्, भोट, **बै डू र्य हि. रङ् ब् शिन्**, वैडूर्यमय।
37…37. मूल, अवभास्येनस्फुटं। इस पाठ को अवभासेन स्फुट, यों पढना चाहिए। इसी अनुच्छेद में अवभासेन पाठ की दो बार आवृत्ति हुई है। तुलनीय भोट, **स्नङ् बस् ख्यब् पर् ह ग्युर् रो** अवभासेन व्याप्तं।
38…38. मूल तेनावभासेनास्फुटसमाना। संस्कृतसम तेनावभासेन स्फुटमानाः यह पाठ होना चाहिए। तुलनीय भोट, **स्नङ् ब देस् ग्सल् बर् ग्युर् प**। समानाः यह शब्द पालि के अस-धातुजशस् समान (सं० सत्) से संबद्ध जान पड़ता है। समानाः के स्थान में संस्कृत रूप सन्तः होगा।
39. मूल, पाठ उत्तिष्ठ, अशुद्ध है। यहाँ अन्य क्रियापद कारयत, प्रसारयत बहुवचन में है अतः उत्तिष्ठ (एकवचन) के स्थान में उत्तिष्ठत (बहुवचन) होना चाहिए। तुलनीय भोट, **ब्शिन् ब्जङ् दग् लङ्स्** भद्रमुखाः। उत्तिष्ठत।

पसारो। जान पड़ता है दिन हो गया, सूर्य निकल आया। इस प्रकार[40] चक्रवर्ती राजा[40] मणिरत्न से युक्त होता है।

14. किस प्रकार चक्रवर्ती राजा स्त्रीरत्न से युक्त होता है! यहाँ मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा के लिए, जैसा पहले (वर्णन किया जा चुका है उसी प्रकार) स्त्रीरत्न उत्पन्न होता है। (जो)[41] शील-गुण में सदृश[41], क्षत्राणी, न बहुत लंबी, न बहुत नाटी, न बहुत मोटी, न बहुत पतली, न बहुत गोरी, न बहुत काली, सुरूप, लोक को प्रसन्न करने वाले व्यवहार की जानकार, (तथा) दर्शनीय (एवं)[42] समृद्ध-भद्रवर वर्ण वाली[42] होती है। उसके सब रोम-कूपों से = 19क = चन्दन का गन्ध उडता है और मुख से उत्पल का गन्ध उड़ता है। काचिलिन्दिक-वस्त्र[43] के समान सुखस्पर्श वाली होती है। शीत काल मे उसके अंग[44] उष्म स्पर्श वाले[44] होते हैं तथा उष्म काल मे शीत स्पर्श वाले। वह चक्रवर्ती राजा को छोड़कर किसी से मन से भी प्रेम नही करती। शरीर से तो कहना ही क्या। इस प्रकार चक्रवर्ती राजा स्त्रीरत्न से युक्त होता है।

15 किस प्रकार चक्रवर्ती राजा गृहपतिरत्न से युक्त होता है? यहाँ मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा के लिए, जैसा पहले (वर्णन किया जा चुका है उसी प्रकार) गृहपतिरत्न उत्पन्न होता है। (जो) पंडित, व्यक्त (संदेह रहित) मेधावी अर्थात् बुद्धिमान्, (तथा) दिव्य-दृष्टि का होता है। वह उस दिव्य-दृष्टि से चारों ओर योजन तक, (उन) निधानों (गड़े हुए धनों) को देखता है, जिनके स्वामी होते है तथा (उन) निधानो को (भी) देखता है जिन के स्वामी नहीं होते हैं।

40....40. मूल, राजा क्षत्रियो मूर्धाभिषिक्तो, भोट भी तदनुसार ही, **ग्र्यल् पो ग्र्यल्-रिग्स् स्प्यि वो द्वङ् ब्स्कुर् व** मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा। सात रत्नों के वर्णन में पूर्वापर अनुच्छेदों में मूल में· राजा चक्रवर्ती तदनुसार भोट में, **ह्-खोर् लोस् स्ग्युर् व हि ग्र्यल् पो** पाठ उपसंहारात्मक वाक्य में है। वैसा ही यहाँ भी उचित है। मूल में प्रमाद लिपिकर का है जिसे भोट में सुरक्षित रखा गया है।

41.. .41. मूल, सदृशी, भोट, सदृशशीला, तुलनीय, **छुल् द्ङ् म्थुन् प**।

42.. 42. दर्शनीया के अनन्त भोट में यह पाठ है—**ख दोग् द्भ्रङ् पो ग्र्यस् प म्छोग् दङ् ल्दन् प** समृद्ध-भद्रवरवर्णा।

43. मूल, काचिलिन्दक, भोट **क चि लि न्दि हि, गोस्** कचिलिन्दिवस्त्र।

44 ...44. मूल, उष्णानि सस्पर्शानि। इसके स्थान में उष्णसंस्पर्शानि पाठ उचित है। यह बात आगे के शीतस्पर्शानि को देख कर स्पष्ट हो जाती है। तुलनीय भोट, **रेग् न द्रो** उष्णस्पर्शानि, **रेग् न ब्सिल् व** शीतस्पर्शानि।

जिनके स्वामी नहीं होते है, उनसे वह चक्रवर्ती राजा का धन से करने योग्य कार्य करता है। इस प्रकार चक्रवर्ती राजा गृहपतिरत्न से युक्त होता है।

16. (-18-) किसी प्रकार चक्रवर्ती राजा परिणायकरत्न (अमात्यरत्न) से युक्त होता है? यहां = 19ख = [45]मूर्धाभिषिक्त, क्षत्रिय, राजा के लिए[45], जैसा पहले (वर्णन किया जा चुका है उसी प्रकार) परिणायकरत्न उत्पन्न होता है। (जो) पण्डित, व्यक्त (संदेह-रहित) मेधावी अर्थात् बुद्धिमान् होता है। वह [45क] चक्रवर्ती राजा के सोचने भर से ही[46] उद्यत की जाने योग्य सेना को[46] उद्यत कर देता है। इस प्रकार चक्रवर्ती राजा परिणायकरत्न से युक्त होता है।

17. [47]चक्रवर्ती राजा इन सात रत्नों से युक्त होता है[47] [48]और उसके सहस्र पुत्र होते है, (जो) शूर, वीर, श्रेष्ठ अंग वाले और रूपवान् (तथा), परसैन्य को मडमडा डालने वाले होते है[48]। वह इस सागर पर्यन्त

45···45. मूल, राजा क्षत्रियस्य मूर्धाभिषिक्तस्य। इसके स्थान में भोट पाठ है.- **खोर् लोस् स्गुर् ब हि. ग्र्यल् पो हि.** राज्ञश्चक्रवर्तिनः है। जो प्रमाद है। पूर्व के छह अनुच्छेदों में इस प्रकार के वाक्यों का गठन राज्ञः क्षत्रियस्य मूर्धाभिषिक्तस्य से हुआ है। अतः यहाँ भी वैसा ही होना चाहिए।

45क. यहाँ सः (वह) इस पद की अपेक्षा है। तुलनीय भोट, दे ह.-**खोर् लोस् स्गुर् ब हि. ग्र्यल् पो देस् ब्सम् प च्म् ग्यिस्** स तस्य राज्ञश्चक्रवर्तिनश्चिन्तितमात्रेण।

46··46. मूल, उद्योजयितव्य सेना। यहाँ प्रथम पद स्त्रीलिंग सेना पद का विशेषण होने से उद्योजयितव्या होना चाहिए। तुलनीय भोट, **ब्स्को बर् ब्य बहि. द्पुङ् नंमस्** सजाई जाने योग्य सेना।

47····47. एभिः सप्तरत्नैः समन्वागतो भविष्यति के स्थान मे भोट पाठ है.-**खोर् लोस् स्गुर् बाह. ग्र्यल् पो नि रिन् पो छे स्न ब दुन् दे दग् दङ् ल्दन् प यिन् नो**, राजा चक्रवर्ती एभिः सप्तरत्नैः (अथवा, सप्तविधरत्नैः) समन्वागतो भवति, है।

48···48. मूल, चास्य पुत्र सहस्रं भवति। च से वाक्यारभ लिपिकर प्रमाद है। भवति चास्य पुत्रसहस्रं पाठ होना चाहिए। अस्य के स्थान में भोट पाठ दे ल, तस्य है। पुत्रसहस्रं = पुत्राणां सहस्रं। इस समासान्तर्गत पुत्र शब्द के विशेषण, शूराणाम् इत्यादि षष्ठी बहुवचन मे है। इस प्रकार की रचना की बानगी के लिए देखिये रघुवंश 6/1 तथा संजीवनी टीका।

22. हे भिक्षुओ, इस प्रकार तुषित (नाम के देवलोक) के श्रेष्ठ भवन में विराजते हुए बोधिसत्त्व ने चार महाविलोकितों का विलोकन किया। कौन से चार? यथाकालविलोकित, द्वीपविलोकित, देशविलोकित और कुलविलोकित।

23. हे भिक्षुओ, किस कारण बोधिसत्त्व ने कालविलोकित का विलोकन किया। बोधिसत्त्व आदिप्रवृत्त-लोक अर्थात् सृष्टि के प्रारंभ तथा सत्त्वसंवर्तनी-काल अर्थात् प्राणिजगत् के प्रलय-काल के समय में मा की कोख में नही प्रवेश करते। किन्तु जब लोक व्यक्त ('सदेह-रहित') तथा सुस्थित ('मर्यादा में टिका हुआ') होता है, जाति ('जन्म') का प्रज्ञान ('स्पष्ट-बोध') रहता है, जरा का प्रज्ञान रहता है, व्याधि का प्रज्ञान रहता है, मरण का प्रज्ञान रहता है, तब बोधिसत्त्व मा की कोख में प्रवेश करते है।

24. हे भिक्षुओ, किस कारण बोधिसत्त्व ने द्वीपविलोकित का विलोकन किया? बोधिसत्त्व प्रत्यन्तद्वीप ('जम्बूद्वीप के सीमावर्ती द्वीप') के होकर नही उत्पन्न होते, (वे) न पूर्वविदेह में, न अपरगोदानीय मे, और न उत्तरकुरु में, किन्तु जम्बूद्वीप में ही उत्पन्न होते है। =21क=

25. हे भिक्षुओ, किस कारण बोधिसत्त्वने देशविलोकित का विलोकन किया? बोधिसत्त्व प्रत्यन्तजनपदो ('सीमान्तप्रदेशों') में नही उत्पन्न होते, जिसमें[57] मनुष्य (मृद्विन्द्रिय[57] अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों में अल्पबल के), अधता (=अज्ञान के) कारण एडमूक जातीय अर्थात् स्वभाव में भेड़ जैसे मूढ और गुम-सुम रहने वाले सुभाषित तथा दुर्भाषित के अर्थ को समझने में अभव्य अर्थात् अयोग्य होते हैं, किंतु मध्यम-जनपदो अर्थात् भारत के मध्यदेशों में ही उत्पन्न होते है।

26. (–20–) हे भिक्षुओ, किस कारण बोधिसत्त्व ने कुलविलोकित का विलोकन किया। बोधिसत्त्व हीनकुलों में, चण्डालकुलों में, वेणुकार—('बकसोर')—कुलों में, रथकार—('बढई')—कुलों में, पुक्कस ('निषाद से शूद्रो में उत्पन्न संकर-जाति')—कुलो में नही उत्पन्न होते। किंतु दो कुलों में ही—ब्राह्मणकुल में और क्षत्रियकुल में ही उत्पन्न होते है। जब लोक में ब्राह्मण लोग बढ़े-चढे होते है तब ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होते है। जब लोक में क्षत्रिय लोग बढ़े-चढ़े होते है

मुद्रित मूल पाठ

अस्मिन् ऋषयः पतिता इति तस्मात् प्रभृति ऋषिपतनसंज्ञोदपादि। अभयदत्ताश्च तस्मिन् मृगाः प्रतिवसन्तीति तदग्रेण मृगदावस्य मृगदाव इति संज्ञोदपादि।

57····57. मूल, मनुष्यान्वत्वा छाया-मनुष्या अन्वत्वात्। भोट, मि नंमस् द्बङ् पो तुल् शिङ मनुष्या मृद्विन्द्रियाः। यह भी ग्रहणार्ह पाठ है।

तब क्षत्रियकुल में उत्पन्न होते हैं। हे भिक्षुओ, इस समय क्षत्रिय लोग बढ़े-चढ़े हैं, इसलिए बोधिसत्त्व क्षत्रियकुल में उत्पन्न होते हैं।[58] हे भिक्षुओं, इस अर्थवश अर्थात् प्रयोजन की प्रधानता के कारण[58] तुषित (नाम के देवलोक) के श्रेष्ठ भवन में विराजते हुए बोधिसत्त्व ने चार महाविलोकितों का =21ख= विलोकन किया। और इस प्रकार अवलोकन कर मौन धारण कर लिया।

27. हे भिक्षुओ, (तब) देवपुत्र बोधिसत्त्व के विषय में यों एक दूसरे से पूछने लगे।[59] किस कुलरत्न में (बोधिसत्त्व उत्पन्न होते हैं)[59] और किस प्रकार की माँ में बोधिसत्त्व [60] [61]गर्भ-स्थान पाते हैं[61]। वहाँ पर (तब) कितने ही बोले। मगध-जनपद में यह वैदेहीकुल ऋद्ध ('धान्यसंपन्न') स्फीत ('धनसम्पन्न') क्षेम ('स्थिरसंपत्ति से युक्त') तथा सुभिक्ष ('सुखी तथा दानी') है। बोधिसत्त्व का यह उचित गर्भस्थान है। पर औरों ने कहा। वह उचित नहीं है। वह किसलिए कि वह न माता की ओर से शुद्ध है, न पिता की ओर से शुद्ध है। (वह) अविनीत[62]

58···58 मूल, समर्थं च संप्रतीत्य। भोट, **द्गेस्लोङ् दोन् गिय द्बङ् दे ल ब्र्तेन्, नस्** भिक्षवस्तमर्थवशं प्रतीत्य। जान पड़ता है कि मूल में किसी कारण भिक्षव यह भाग पहले टूट गया। स्त बाद में किसी ने स के रूप में शोध डाला। वशं प्रमाद से व सं होकर किसी शोधक की कृपा से अथवा लिपिकर के प्रमाद से **च सं** हो गया। **व** तथा **च** में भेद है भी थोड़ा। **व** केवल छोटी सी लकीर बढ़ाने से ही **च** हो जाता है। यहाँ कुछ ऐसा ही गड़बड़ हुआ है।

59···59. मूल, कतमस्मिन् कुलरत्ने। भोट, **ब्यङ् छुब् सेम्स् द्पह्. रिग्स् रिन् पो छेनि जिल्त बु शिग् तु स्क्ये बर् ग्युर्**, कतमस्मिन् कुलरत्ने बोधिसत्त्वा उपपद्यन्ते।

60. भोट में यह पद (अर्थात् बोधिसत्त्वाः = **ब्यङ् छुब् सेम्स् द्पह्.**) नहीं है।

61···61. मूल, प्रतिष्ठतेति (= प्रतिष्ठति इति, अथवा प्रतिष्ठते इति)। भोट **ल्हुम्स् सु ह्.जुग् पर् ह्.-ग्युर्**, गर्भं प्रविशति। संभवतः मूल पाठ, गर्भे प्रतिष्ठते था। तुलनीय आगे आने वाला एक वाक्य—(मूल पृष्ठ 20 पंक्ति 14) प्रतिरूपमस्य बोधिसत्त्वस्य गर्भस्थानम्, इस का भोटानुवाद 216-पंक्ति 6 **दे नि ब्यङ् छुब् सेम्स् द्पह्. युम् गि्य ल्हुम्स् सु ह् जुग्पहि. गेनस् सु रुङ् ङो**, प्रतिरूपमस्य बोधिसत्त्वस्य मातृगर्भ प्रवेशस्थानम्।····देखिए इससे पहले की टिप्पणी। भोटानुसार बोधिसत्त्व का यह उचित मातृगर्भप्रवेश-स्थान है। यहाँ मातृ तथा प्रवेश दो पद अधिक हैं। भोटानुवाद संस्कृत के संक्षिप्त पद का व्याख्यान जान पड़ता है।

('जंगली')[62] चंचल, ('मर्यादा-हीन') अनवस्थिर, स्वल्प पुण्य के स्रोत वाला, विपुल पुण्य के द्वारा अभिषेक ('स्नान') नहीं किया गया है।[63] उसके आस-पास का प्रदेश कंकरीला[63], उद्यान, सरोवर, तडाग से अपरिपूर्ण कर्वट[64] ('कुत्सित नगर') जैसा, प्रत्यन्त ('सीमा') का डेरा जान पडता है। इसलिए वह उचित नही है।

28. दूसरो ने कहा। यह कौशलकुल = 22क = महावाहन का, महापरिवार का, तथा महाधन का (कुल) है। वह इस वोधिसत्त्व के गर्भ में ठहरने के लिए उचित है। पर औरों ने कहा। वह भी उचित नही है। वह किसलिए? वह इसलिए कि कौशलकुल जिससे पहले चला वह पूर्व जन्म का चंडाल था, वह माता-पिता से शुद्ध नही है, हीनाधिमुक्तिक है अर्थात् हीन-धर्म का श्रद्धालु है, वह न कुलीन है और न अपार धन, रत्न, तथा निधियों से समृद्ध है। इसलिए वह भी उचित नही है।

62 मूल, अप्लुतं। भोट, **गोर्द् प**, असभ्य जंगली। सभवतः मूल पाठ प्रलुब्धं था, जो लक्षणा से असभ्यार्थ का भी द्योतक है। तुलनीय संस्कृत-शब्द लुब्धक।

63. मूल, सत्कुलप्रदेशोपचारं। यह पाठ प्रामादिक तो है ही, प्रकरण का विरोधी भी है। इस प्रामादिक पाठ का अर्थ होगा—आस-पास का प्रदेश सत्कुल वाला है। निन्दा के प्रसंग में यह स्तुति सचमुच ही प्रामादिक पाठ की द्योतक है। भोटानुवाद से यह बात और स्पष्ट हो जाती है। वहाँ है—**युल् दे .हङ् जे ह्.-खोर् ग्सेग् मस् गङ् ब,** आस-पास का देश भी कंकर से भरा हुआ है। इस भोटानुवाद के आधार पर तथा पुराने पाठ के अक्षरों को ध्यान में रख कर मूल का उद्धार इस रूप में किया जा सकता है—शर्करिल प्रदेशोपचारं। उपचार शब्द का प्रयोग यहाँ आस-पास की भूमि-जिसे संस्कृत में परिसर कहते—के लिए हुआ है।

64 मूल, कर्वट। प्राकृत में कव्वड। पाइअसद्दमहण्णव में इसका अर्थ खराब नगर कुत्सितनगर दिया गया है तथा संस्कृत रूप कर्वट बतलाया गया है। शब्द के देशी होने में कोई संदेह नहीं है। भोटानुवाद में कर्वटमिव इस अंश का **रि अग्ल्तर्** ढालू चट्टान जैसा के रूप में रूपान्तर किया है।
S""S मूल, मातङ्ग च्युत्युपपन्नं = मातंग (के रूप में) च्युति = मरण (पाकर फिर) उपपन्नं = उत्पन्न हुआ।

29. (–21–) दूसरों ने कहा। यह वत्सराजकुल[65] ऋद्ध ('धान्यसंपन्न') स्फीत ('धनसंपन्न') क्षेम ('स्थिरसंपत्ति से युक्त') तथा सुभिक्ष ('सुखी और दानी') है। यह इस बोधिसत्त्व के लिए गर्भ में ठहरने के लिए उचित है। (पर) औरों ने कहा। यह भी उचित नहीं है। किसलिए ? इसलिए कि वत्सराजकुल[65] प्राकृत ('साधारण') और चण्ड ('अविनीत') है, तथा (वह) उज्ज्वल तेजवाला नहीं है, पराए पुरुषों द्वारा जन्मे हुए लोगों से छाया हुआ है, तथा माता-पिता के तेजवाले कर्म से निष्पन्न नहीं हुआ है, और वहाँ का राजा उच्छेदवादी है। इस लिए वह भी उचित नहीं है।

30. दूसरों ने कहा। यह महानगरी वैशाली =22ख= ऋद्ध ('धान्यसंपन्न') स्फीत (धनसंपन्न') क्षेम ('स्थिरसंपत्ति से युक्त') सुभिक्ष ('सुखी और दानी') तथा रमणीय है,[66] बहुजनों तथा मनुष्यों से व्याप्त है[66], वितर्दियों ('चबूतरों') निर्यूहों (अटारियों) तोरणों ('द्वार के बाह्य भागों') गवाक्षों ('गोखों अर्थात् हवा-जाली वाले झरोखों') कूटागारों ('सब से ऊपर के तल पर बने अंटों') प्रासादों ('राजनिवास के योग्य भवनों') तथा तलों ('छत के खुले आँगनों') से भलीभाँति अलंकृत, फुलवाड़ियों तथा वनपंक्तियों से प्रफुल्लित,[67] अमरावती के समान[67] है। वह इस बोधिसत्त्व के लिए गर्भ में ठहरने के लिए उचित है। पर औरों ने कहा। वह भी उचित नहीं है। किसलिए कि उन (वैशाली के राजाओं) में न परस्पर न्याय की बात होती है, न धर्माचरण होता है, न उच्च, मध्यम, वृद्ध तथा ज्येष्ठ की पाँत का विचार रहता है। प्रत्येक ही सोचता है कि—'मैं राजा हूँ, मैं राजा हूँ' और इसलिए न किसी की शिष्यता ग्रहण करते हैं, न धर्म ही। इसलिए वह भी उचित नहीं है।

31 दूसरों ने यों कहा। (उज्जयिनी नगर में)[68] यह प्रद्योतकुल बड़ी सेना

---

65. मूल, वंशराजकुलं। वंश के लिए भोट बद् स् है। निश्चय ही, वत्स शब्द की दुर्गति का मूल तथा भोट दोनों ही अच्छे उदाहरण हैं।

66····66. मूल, आकीर्ण बहुजनमनुष्या, भोट, स्क्ये बो मङ् पो दङ् मिस् कुन् तु गङ् ब। ऐसा ही वचन पहले भी आ चुका है। वहाँ भोटानुवाद कुछ भिन्न है। द्रष्टव्य 3/18····18।

67····67. मूल, अमरभवनपुरप्रकाश्या, भोट, ल्हहि फो ब्रङ् दङ् ह्-द्र ब अमरभवनतुल्या। भोटानुवाद में, पुर शब्द छोड़ दिया गया है। अमरभवन पुर = अमरावती। प्रकाश्य शब्द यहाँ उपमा वाचक है।

वाला,[69]बहुत यान वाला[69] दूसरों की सेना से आमने-सामने लड़ाई में विजय-लाभी है। वह इस बोधिसत्त्व के लिए गर्भ मे ठहरने के लिए उचित है। =23क= पर औरों ने कहा। वह भी उचित नहीं है। किसलिए ? इसलिए कि वे चण्ड, चपल, रौद्र, परुष ('रूखे') और साहसी ('बिना विचारे काम करने वाले') है, कर्मवाद के न मानने वाले हैं। इसलिए वह (कुल) इन बोधिसत्त्व के लिए गर्भ में ठहरने के लिए उचित नही है।

32 दूसरों ने यों कहा। यह मथुरा नगरी ऋद्ध ('धान्यसंपन्न') स्फीत ('धान्यसंपन्न') क्षेम, ('स्थिरसंपत्ति से युक्त') सुभिक्षु ('सुखी और दानी') बहुजनों तथा मनुष्यों से व्याप्त है। राजा सुबाहु की (–22–) जो कंस के कुल का है, शूरसेन का स्वामी है, राजधानी है। वह इस बोधिसत्त्व के लिए गर्भ में ठहरने के लिए उचित है। पर औरों ने कहा। वह भी उचित नही है। किसलिए ? इसलिए कि वह राजा मिथ्यादृष्टि वाले कुल की वंशपरम्परा में उत्पन्न हुआ, दस्युराजा[70] है। बोधिसत्त्व के लिए जो अन्तिमवार जन्म ग्रहण करने वाले है, मिथ्यादृष्टि से युक्त कुल में उत्पन्न होना उचित नहीं है। इसलिए वह (नगरी) भी उचित नही।

33. दूसरों ने कहा। हस्तिनापुर महानगर मे यह राजा पाण्डव कुल की वंश परम्परा में उत्पन्न हुआ है, शूर है, वीर्यवान् हैं, श्रेष्ठ अंगों के रूप से युक्त हैं, [71]परसेना का मसलने वाला हैं।[71] =23ख= वह कुल इस बोधिसत्त्व के लिए गर्भ में ठहने के लिए उचित है। पर औरो ने कहा। वह भी उचित नहीं है। किस लिए ? इसलिए कि पाण्डव कुल में उत्पन्न होने वालों ने कुल की वंश-परंपरा को अत्यन्त अस्त-व्यस्त कर डाला है। कहा जाता है कि युधिष्ठिर धर्म का बेटा था, भीमसेन वायु का, अर्जुन इन्द्र का, नकुल और सहदेव अश्विनीकुमारों के। इसलिए वह कुल भी इस बोधिसत्त्व के लिए गर्भ में ठहरने के लिए उचित नही है।

69....69. मूल, महावाहनं (= महायान अर्थात् विशाल रथादि वाहनों वाला)। यह पाठ प्रामादिक है या नही, कहा नही जा सकता। पर भोट पाठानुसार मूल प्रभूतवाहनं अथवा बहुवाहनं होना चाहिए। तुलनीय भोट, बशोन् प मङ् प, बहुत यान वाला। हिन्दी-अनुवाद में भोटभापान्तर का पाठ लिया गया है।

70 मूल, में दस्युराजा पाठ है पर भोट में है मिर्गोद् दङ् ह्. द्र व हि. र्ग्यल्प दस्युसंदृशो राजा, दस्यु जैसा राजा।

71. मूल का परसैन्यप्रमर्दकानां पाठ षष्ठ्यन्त है। प्रथमान्त होना चाहिए। तुलनीय भोट, गृशन् ग्यि स्दे ह्.जोम्स् प, परसैन्यप्रमर्दकः।

34. दूसरों ने कहा । यह मिथिला नगरी अत्यन्त रमणीय है, मैथिल राजा सुमित्र, की निवास भूमि है । वह राजा बहुत से हाथियों, घोड़ों, और रथों की सेना तथा पैदल सेना के समूह से युक्त है । उसके पास हिरण्य-सुवर्ण अर्थात् पक्के सोने चाँदी[72], मणि, मुक्ता, वैदूर्य, शंख, स्फटिक-शिला[73], प्रवाल ('मूंगा'), जातरूप-रजत अर्थात् कच्चे सोने-चाँदी[74] की धन-सामग्री बहुत है । उसके बल-पराक्रम को सामन्तों तथा नृपों का भय नहीं है ।[75] वह मित्रवान् और धर्मवत्सल है । वह कुल इस बोधिसत्त्व के लिए =24क= गर्भ में ठहरने के लिए उचित है । औरों ने कहा । वह भी उचित नहीं है । वह सुमित्र राजा ऐसे गुणों से युक्त है किंतु बहुत बूढ़ा है । संतान उत्पन्न करने में असमर्थ है तथा बहुत अधिक पुत्र उसके है । इसलिए वह कुल भी इस बोधिसत्त्व के लिए गर्भ मे ठहरने के लिए उचित नहीं है ।

35. हे भिक्षुओं, इस प्रकार वे बोधिसत्त्व और देवपुत्र समूचे जम्बूद्वीप मे, [76]सोलह महाजनपदों में[76], कितने ही जो ऊँचे-ऊँचे राजकुल थे उन सबको (–23–) देखते हुए, सबको दोषयुक्त देखा । ये जब सोच-विचार कर रहे थे तब ज्ञानकेतुध्वज नाम के देव पुत्र ने, जिसने 'बोधि बिना पाये न पीछे मुड़ूँगा' ऐसा इस महायान (धर्मका) संकल्प कर रखा था, बोधिसत्त्वों तथा देवताओं की उस महापरिषद् से यह कहा । हे मार्षो, ('मित्रो') यह इन्हीं बोधिसत्त्व के पास चलकर पूछें कि बोधिसत्त्व, =24ख= जो अंतिम बार जन्म ग्रहण करने वाले होते हैं, किस प्रकार के गुणों से सम्पन्न कुल में उत्पन्न

---

72. मूल, हिरण्यसुवर्ण, भोट, गसेर् दङ् दुङुल् दङ्, सुवर्णरजत । द्रष्टव्य 3।86 टिप्पणी तथा 3।74 टिप्पणी । यहाँ हिरण्य-सुवर्ण से अभिप्राय पक्के सोने-चाँदी से है जो खान से निकालने के बाद शोधा जा चुका है ।

73. मूल, शिला । भोट, मन् शेल्, स्फटिक शिला ।

74. मूल,–जातरूपरजत,– भोट, स ले स्ब्रम् स्वर्णचूर्ण । यह जातरूप शब्द का अनुवाद है । रजत शब्द भोटानुवाद में छोड दिया गया है । जातरूपरजत स्वाभाविक खान से निकला सोना-चाँदी । द्रष्टव्य 3।88 टिप्पणी ।

75. मूल अभीत । भोट, मि नोन् प, अपराभूत, अहिंसित । भोटानुवाद के अर्थ को देख कर, अभीत पाठ की कल्पना की जा सकती है जिसमें भी हिंसार्थक धातु मानना होगा । हिन्दी अनुवाद अभीत पाठ को मान कर किया गया है ।

76....76. मूल, षोडशजानपदेषु । भोट, युल् छेन् पो ब्चु द्रुग् पो....न, षोडशमहाजनपदेषु । भोट पाठ मूल पाठ की अपेक्षा उचिततर है ।

हुआ करते है। साधु, साधु, ऐसा कह उन सबने अंजलि बाँध बोधिसत्त्व के पास जाकर पूछा कि बोधिसत्त्व, जो अंतिम बार जन्म ग्रहण करने वाले होते है, वे किस प्रकार के गुणों से संपन्न सत्पुरुषों के कुल रत्न में उत्पन्न होते है।

36. तब बोधिसत्त्व उस महान् बोधिसत्त्वों के संघ तथा देवताओं के संघ को देखकर यह बोले। हे मार्षो, (मित्रो), बोधिसत्त्व, जो अंतिम बार जन्म ग्रहण करने वाले होते है वे चौसठ प्रकार से संपन्न कुल में उत्पन्न होते है। (वे) चौसठ प्रकार कौन है ? वे ये है—(1) [77] वह कुल अभिजात होता है।[76] (2) वह कुल अभिज्ञात (प्रसिद्ध) होता है। (3) वह कुल अक्षुद्र (महान्) तथा अनुपघाती (दूसरों की हानि न करने वाला) होता है। (4) वह कुल जाति से संपन्न होता है। (5) वह कुल गोत्र से संपन्न होता है। (6) वह कुल पुरुष युग अर्थात् (प्रसिद्ध) पुरुषों के जोड़े से संपन्न होता है। (7) वह कुल पूर्व पुरुष युग अर्थात् (प्रसिद्ध) पुरखों के जोडे से संपन्न होता है। (8) वह कुल अभिजात पुरुष युग अर्थात् निष्कलंक पुरुषों के जोडे से संपन्न होता है। (९)[78] वह कुल अभिलक्षित पुरुषयुग अर्थात् आदर्श पुरुषों के जोडे से संपन्न होता है।[78] (10) वह कुल महेशाख्य पुरुषयुग अर्थात् महती प्रभुता तथा कीर्ति से युक्त पुरुषों के जोडे से संपन्न =25क= होता है।[79] (11) वह कुल बहुत स्त्रियों वाला होता है। (12) वह कुल बहुत पुरुषों वाला होता है।[79] (13) वह कुल अभीत होता है। (14) वह कुल अदीन तथा अलीन (लीनभाव अर्थात्

77 ..77 यह पाठ मूल में न होने से भोट के सहारे पुनराहृत हुआ है। तुलनीय भोट, **रिग्स् दे नि ब्चुन् प यिन्**, अभिजातं च तत्कुलं भवति। यह पाठ मूल मे 64 सख्या की पूर्ति के लिए आवश्यक है। इस पाठ के टूट जाने का कारण यह जान पड़ता है—मूल पाठ जो, अभिजातं च तत्कुल भवति। अभिज्ञातं च तत्कुलं भवति था उसमें दोनों वाक्यों का आरंभ, अभि से होता है। लेखक की दृष्टि पहले प्रथम वाक्य के, **अभि** पर पडी, पर उसे लिखने के बाद दृष्टि चूक गई और द्वितीय वाक्य के, **अभि** पर जा पडी और उसने आगे का पाठ लिख डाला। इस प्रकार प्रथम **अभि** से लेकर दूसरे **अभि** तक के मध्य का पाठ छूट गया।

78 मूल, अभिल-क्षितपुरुषयुगं च तत्कुलं भवति। भोट में इसका अनुवाद नहीं हुआ है।

79 ...79 मूल, बहुस्त्रीकं च तत्कुलं भवति। बहुपुरुषं च तत्कुलं भवति। भोट में पूर्वापर वाक्यों का विपर्यास हुआ है—**रिग्स् दे नि स्क्येस् प मङ् ब यिन्। रिग्स् दे नि बुद् मेद् मङ् ब यिन्।**

कायरता से रहित) होता है। (15) वह कुल अलुब्ध अर्थात् लोभ-लालच से रहित होता है। (16) वह कुल शीलवान् होता है। (17) वह कुल प्रज्ञावान् होता है। (18) वह अमात्यों (मंत्रियों) द्वारा देख-भाल किया गया होता है और भोगों का परिभोग करने वाला होता है। (19) वह कुल[80] अवध्य (हिंसा के बिना होने वाले) अथवा अवंध्य (निष्फल न होने वाले) शिल्पों का निवेशन अर्थात् आश्रयदाता होता है[80] और भोगों का परिभोग करने वाला होता है। (20) वह कुल दृढ़मित्र वाला होता है। (21) वह कुल तिर्यग्योनि में (पशु-पक्षियों की योनि में) प्राणियों का अहिंसक (–24–) होता है। (22) वह कुल कृतज्ञ तथा कृतवेदी अर्थात् किये हुए उपकार को न भूलने वाला होता है। (23) [81] वह कुल व्रतों का ज्ञाता होता है।[81] (24) वह कुल छंद से (राग से) न चलने वाला होता है। (25) वह कुल दोष अर्थात् द्वेष से न चलने वाला होता है। (26) वह कुल मोह से न चलने वाला होता है। (27) वह कुल भय से न चलने वाला होता है। (28) वह कुल अवद्यभीरु[82] अर्थात् बुराई से डरने वाला होता है। (29) वह कुल अमोह में (ज्ञान में) विहार करने वाला होता है। (30) वह कुल स्थूलभिक्ष[83] (स्थूललक्ष = दान-शौण्ड = महादानी) होता है। (31) वह कुल क्रिया (अच्छा काम) करने में अधिमुक्त अर्थात् श्रद्धालु होता है। (32) वह कुल त्याग करने में अधिमुक्त अर्थात् श्रद्धालु होता है। (33) वह कुल दान देने में अधिमुक्त अर्थात् श्रद्धालु होता है। (34) वह कुल पुरुषकार अर्थात् पौरुष करने की मति वाला होता

80....80. मूल, अवध्यशिल्पनिवेशनं च तत्कुलं भवति। पाठान्तर, अवन्ध्य-शिल्पनिवेशनं च तत्कुलं भवति। हिन्दी अनुवाद दोनों पाठों को ठीक मान कर किया गया है। यहाँ भोट पाठ स्पष्ट नहीं है—**रिगस् दे नि बज़ो दोन् योद् पस् लुगस्** (?) **शिङ्** तत्कुलं शिल्पार्थ....भवति।

81....81. **रिगस् दे नि बर्तुल् शुगस् शेस् प यिन्,** व्रतज्ञं च तत्कुलं भवति। यह वाक्य मूल में छूट गया। पर 64 संख्या की पूर्ति के लिए इसका यहाँ होना अत्यन्त आवश्य है।

82. मूल पाठ, अनवद्यभीरु (न–बुराई से डरने वाला)। भोट पाठ, **ख यम् थोबस् ह जिगस् प,** अवद्यभीरु। यहाँ मूलग्रन्थ में पाठान्तर अवद्य है। फलतः भोट पाठ का मूल आधार प्रमाण हीन नहीं है।

83. मूल पाठ, स्थूलभिक्ष का अर्थ मोटी-मोटी भिक्षा देने वाला हो सकता है पर इस स्थान पर भोट पाठ **लग् रतब्स् छे ब,** स्थूलशिक्ष, बड़ी शिक्षा पाया हुआ है, महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है। कदाचित् यही ठीक पाठ हो।

हुआ करते हैं। साधु, साधु, ऐसा कह उन सबने अंजलि बाँध बोधिसत्त्व के पास जाकर पूछा कि बोधिसत्त्व, जो अंतिम बार जन्म ग्रहण करने वाले होते हैं, वे किस प्रकार के गुणों से संपन्न सत्पुरुषों के कुल रत्न में उत्पन्न होते हैं।

36 तब बोधिसत्त्व उस महान् बोधिसत्त्वों के संघ तथा देवताओं के संघ को देखकर यह बोले। हे मार्षो, (मित्रो), बोधिसत्त्व, जो अंतिम बार जन्म ग्रहण करने वाले होते हैं वे चौसठ प्रकार से संपन्न कुल में उत्पन्न होते हैं। (वे) चौसठ प्रकार कौन है? वे ये है—(1) [77] वह कुल अभिजात होता है।[76] (2) वह कुल अभिज्ञात (प्रसिद्ध) होता है। (3) वह कुल अक्षुद्र (महान्) तथा अनुपघाती (दूसरों की हानि न करने वाला) होता है। (4) वह कुल जाति से संपन्न होता है। (5) वह कुल गोत्र से संपन्न होता है। (6) वह कुल पुरुष युग अर्थात् (प्रसिद्ध) पुरुषों के जोड़े से संपन्न होता है। (7) वह कुल पूर्व पुरुष युग अर्थात् (प्रसिद्ध) पुरखों के जोडे से संपन्न होता है। (8) वह कुल अभिजात पुरुष युग अर्थात् निष्कलंक पुरुषों के जोडे से संपन्न होता है। (९)[78] वह कुल अभिलक्षित पुरुषयुग अर्थात् आदर्श पुरुषो के जोडे से संपन्न होता है।[78] (10) वह कुल महेशाख्य पुरुषयुग अर्थात् महती प्रभुता तथा कीर्ति से युक्त पुरुषों के जोडे से संपन्न = 25क = होता है।[79] (11) वह कुल बहुत स्त्रियो वाला होता है। (12) वह कुल बहुत पुरुषों वाला होता है।[79] (13) वह कुल अभीत होता है। (14) वह कुल अदीन तथा अलीन (लीनभाव अर्थात्

77 .77 यह पाठ मूल में न होने से भोट के सहारे पुनराहृत हुआ है। तुलनीय भोट, **रिग्स् दे नि ब्चुन् प यिन्**, अभिजातं च तत्कुलं भवति। यह पाठ मूल में 64 सख्या की पूर्ति के लिए आवश्यक है। इस पाठ के टूट जाने का कारण यह जान पडता है—मूल पाठ जो, अभिजातं च तत्कुल भवति। अभिज्ञातं च तत्कुल भवति था उसमें दोनों वाक्यों का आरंभ, अभि से होता है। लेखक की दृष्टि पहले प्रथम वाक्य के, **अभि** पर पड़ी, पर उसे लिखने के बाद दृष्टि चूक गई और द्वितीय वाक्य के, **अभि** पर जा पडी और उसने आगे का पाठ लिख डाला। इस प्रकार प्रथम **अभि** से लेकर दूसरे **अभि** तक के मध्य का पाठ छूट गया।

78. मूल, अभिल-क्षितपुरूषयुगं च तत्कुलं भवति। भोट में इसका अनुवाद नहीं हुआ है।

79....79 मूल, बहुस्त्रीकं च तत्कुलं भवति। बहुपुरुषं च तत्कुलं भवति। भोट में पूर्वापर वाक्यों का विपर्यास हुआ है—**रिग्स् दे नि स्क्येस् प मङ् व यिन्। रिग्स् दे नि बुद् मेद् मङ् व यिन्।**

कायरता से रहित) होता है। (15) वह कुल अलुब्ध अर्थात् लोभ-लालच से रहित होता है। (16) वह कुल शीलवान् होता है। (17) वह कुल प्रज्ञावान् होता है। (18) वह अमात्यों (मंत्रियों) द्वारा देख-भाल किया गया होता है और भोगों का परिभोग करने वाला होता है। (19) वह कुल[80] अवध्य (हिंसा के बिना होने वाले) अथवा अवंध्य (निष्फल न होने वाले) शिल्पों का निवेशन अर्थात् आश्रयदाता होता है[80] और भोगों का परिभोग करने वाला होता है। (20) वह कुल दृढ़मित्र वाला होता है। (21) वह कुल तिर्यग्योनि में (पशु-पक्षियो की योनि में) प्राणियों का अहिंसक (– 24 –) होता है। (22) वह कुल कृतज्ञ तथा कृतवेदी अर्थात् किये हुए उपकार को न भूलने वाला होता है। (23) [81] वह कुल व्रतों का ज्ञाता होता है।[81] (24) वह कुल छंद से (राग से) न चलने वाला होता है। (25) वह कुल दोष अर्थात् द्वेष से न चलने वाला होता है। (26) वह कुल मोह से न चलने वाला होता है। (27) वह कुल भय से न चलने वाला होता है। (28) वह कुल अवद्यभीरु[82] अर्थात् बुराई से डरने वाला होता है। (29) वह कुल अमोह में (ज्ञान में) विहार करने वाला होता है। (30) वह कुल स्थूलभिक्ष[83] (स्थूललक्ष = दान-शौण्ड = महादानी) होता है। (31) वह कुल क्रिया (अच्छा काम) करने में अधिमुक्त अर्थात् श्रद्धालु होता है। (32) वह कुल त्याग करने में अधिमुक्त अर्थात् श्रद्धालु होता है। (33) वह कुल दान देने में अधिमुक्त अर्थात् श्रद्धालु होता है। (34) वह कुल पुरुषकार अर्थात् पौरुष करने की मति वाला होता

80....80. मूल, अवध्यशिल्पनिवेशनं च तत्कुलं भवति। पाठान्तर, अवन्ध्यशिल्पनिवेशनं च तत्कुलं भवति। हिन्दी अनुवाद दोनों पाठों को ठीक मान कर किया गया है। यहाँ भोट पाठ स्पष्ट नही है—**रिगस् दे नि बज़ो दोन् योद् पस्** बृशमुस् (?) शिङ् तत्कुलं शिल्पार्थं . .भवति।

81....81. **रिगस् दे नि बर्तुल् शुगस् शेस् प यिन्**, व्रतज्ञं च तत्कुलं भवति। यह वाक्य मूल में छूट गया। पर 64 संख्या की पूर्ति के लिए इसका यहाँ होना अत्यन्त आवश्य है।

82. मूल पाठ, अनवद्यभीरु (न–बुराई से डरने वाला)। भोट पाठ, **ख यम् थोव्स् हू जिगस् प**, अवद्यभीरु। यहाँ मूलग्रन्थ मे पाठान्तर अवद्य है। फलतः भोट पाठ का मूल आधार प्रमाण हीन नहीं है।

83. मूल पाठ, स्थूलभिक्ष का अर्थ मोटी-मोटी भिक्षा देने वाला हो सकता है पर इस स्थान पर भोट पाठ **लग् स्तब्स् छे ब**, स्थूलशिक्ष, बड़ी शिक्षा पाया हुआ है, महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है। कदाचित् यही ठीक पाठ हो।

है। (35) वह कुल दृढ़ विक्रम वाला होता है। (36) वह कुल बलविक्रम वाला होता =25ख= है। (37) वह कुल श्रेष्ठ विक्रम वाला होता है। (38) वह कुल ऋषियों की पूजा करने वाला होता है। (39) वह कुल देवताओं की पूजा करने वाला होता है। (40) वह कुल चैत्यों की पूजा करने वाला होता है। (41) वह कुल पहले के पितरों की पूजा करने वाला होता है। (42) वह कुल वैर न बाँधने वाला होता है। (43) वह कुल दशों दिशाओं में (अपने नाम से) घोषित होता रहता है। (44) वह कुल महा-परिवार वाला होता है। (45) वह कुल अभेद्य फूट न पड़ने के परिवार वाला होता है। (46) वह कुल अनुत्तर अर्थात् सर्वोत्तम परिवार वाला होता है। (47) वह कुल कुलों में ज्येष्ठ होता है। (48) [84]वह कुल कुलों में श्रेष्ठ होता है।[84] (49) वह कुल कुलों में वशिता प्राप्त अर्थात् प्रभुता प्राप्त होता है। (50) वह कुल महेशाख्य अर्थात् महान् ऐश्वर्य तथा कीर्ति वाला होता है।[85] (51) वह कुल मातृज्ञ (माता को मानने वाला) होता है। (52) वह कुल पितृज्ञ (पिता को मानने वाला) होता है।[85] (53) वह कुल श्रमण्य अर्थात् श्रमणों को मानने वाला होता है। (54) वह कुल ब्राह्मण्य अर्थात् ब्राह्मणों को मानने वाला होता है। (55) वह कुल प्रचुर धन के कोष वाला तथा प्रचुर धान्य के (अन्न के) कोष्ठागार (कोठार) वाला होता है। (56) वह कुल प्रचुर पक्के सोने-चाँदी[86], मणि, मुक्ता, (वैदूर्य) शंख, स्फटिक, शिला प्रवाल (मूँगा)[87], कच्चे सोने-चाँदी[88] की धन सामग्री वाला होता

84 .. 84. मूल, कुलश्रेष्ठं च तत्कुलं भवति। भोट में इस वाक्य का अनुवाद किसी कारण छूट गया।

85....85. मूल, मातृज्ञं च तत्कुलं भवति। पितृज्ञं च तत्कुलं भवति। भोट में पूर्वापर वाक्यों का विपर्यास करके अनुवाद हुआ है—रिग्स् दे नि फर् ह् -जिन् प यिन्। रिग्स् दे नि मर् ह् जिन प यिन्।

86. मूल, हिरण्यसुवर्ण०। इसका भोटानुवाद है—द् ङ्युल् दङ् ग्सेर् दङ्। इससे पूर्व भी हिरण्यसुवर्ण० शब्द आया है। वहाँ भोटानुवाद गुसेर् दङ् द्ङुल् दङ्, सुवर्णरजत० किया गया हूँ जो ठीक नहीं है। द्रष्टव्य टिप्पणी 3।72,74।

87. तुलनीय भोट, ०वैदूर्य दङ् दुङ् दङ् मन् शेल् दङ् व्युरु दङ्०, ०वैदूर्य शङ्ख स्फटिकप्रवाल०। यह वर्धित अंश उचित है। मूल में पृष्ठ 22 (पंक्ति 15-16) पर यही वाक्य आ चुका है।

88. मूल, ०जातरूपरजत०। इसका अनुवाद भोट में स ले स्बम् दङ् द्ङुल दङ् है। पर इससे पूर्व भी जातरूपरजत शब्द आ चुका है। वहाँ केवल एक

है। (57) वह कुल बहुत से हाथियों, घोड़ों, ऊँटों, गौओं, तथा भेड़ों वाला होता है। (58) वह कुल बहुत से दास-दासी, कर्मकर (मजदूर)[89] पुरुषों को जीविका देने वाला होता है।[89] (59) वह कुल दुष्प्रधर्ष अर्थात् किसी के दबाने से न दबने वाला होता है। (60) वह कुल सर्वार्थसिद्ध होता है अर्थात् सभी अर्थों से परिपूर्ण होता है उसको कुछ भी पाने के लिए साधना नहीं करनी पड़ती। =26क= (61) वह कुल चक्रवर्तियों का कुल होता है। (62) वह कुछ पूर्वकुशल अर्थात् पूर्व जन्म के पुण्य की सहायता से उपचित ('समृद्ध') होता है। (63) वह कुल बोधिसत्त्व कुल का कुलोदित (कुलीनता से उठा हुआ') (–25–) होता है। (64) देवताओं के सहित, मार (नामक देवों) के सहित, ब्रह्मा (नामक देवों) के सहित (इस) लोक में और श्रमणों तथा ब्राह्मणों वाली (इस) प्रजा के बीच सब जातिवाद के दोषों से रहित वह कुल होता है। हे मार्षों ('मित्रों'), इन चौंसठ प्रकार (के गुणों) से युक्त वह कुल होता है जिसमें अन्तिम बार जन्म ग्रहण करने वाले बोधिसत्त्व का प्रादुर्भाव होता है।

37. हे मार्षो ('मित्रो'), वह स्त्री बत्तीस प्रकार के गुणों से युक्त होती है, जिसकी कोख में अन्तिम बार जन्म ग्रहण करने वाले बोधिसत्त्व का अवक्रमण ('प्रवेश') होता है। वे बत्तीस (गुण) कौन से है? वे ये है—(1) [90]वह स्त्री अभिज्ञात अर्थात् सब प्रकार से विद्याचतुर होती है जिसकी[90] कोख

—

शब्द स ले स्त्रम् से अनुवाद किया गया है रजत शब्द के भोट प्रतिशब्द द्ङुल् को छोड़ दिया गया है। द्रष्टव्य टिप्पणी 3.74।

89....89. ०पौरुषेयं, यह मूल पाठ है जिसका अर्थ पुरुष वाला, पुरुष-संबंधी अथवा इससे मिलता-जुलता होगा। भोटभाषान्तर में शब्द के यथार्थ अभिप्राय को प्रकट किया गया है—श्रो शस् ह. छो ब, पुरुष को जीविका देने वाला, पुरुषजीविकं। इस भोट व्याख्या को हिन्दी अनुवाद में ग्रहण कर लिया गया है।

90 .. 90. अक्षरार्थ, अभिज्ञात अर्थात् सब प्रकार से विद्या चतुर स्त्री की। यहाँ मूल का पाठ सप्तम्यन्त, अभिज्ञातायां स्त्रियां तथा पाठान्तर षष्ठ्यन्त, अभिज्ञातायाः स्त्रियाः है। भोट भाषान्तर षष्ठ्यन्त पाठ का समर्थक है—म्ङोन् पर् शेस् पहि. बुद् मेद् क्यि। इसके अतिरिक्त आगे जो विशेषण है वे सबके सब संख्या में इकतीस है तथा सबका पाठ षष्ठ्यन्त ही है। बत्तीस विशेषणों में इकतीस का प्रयोग षष्ठी में तथा एक प्रयोग सप्तमी में हो जब कि वहाँ अर्थानुसार षष्ठी ही ठीक बैठती हो कैसे ठीक माना जा सकता है।

है। (35) वह कुल दृढ़ विक्रम वाला होता है। (36) वह कुल बलविक्रम वाला होता =25ख= है। (37) वह कुल श्रेष्ठ विक्रम वाला होता है। (38) वह कुल ऋषियों की पूजा करने वाला होता है। (39) वह कुल देवताओं की पूजा करने वाला होता है। (40) वह कुल चैत्यों की पूजा करने वाला होता है। (41) वह कुल पहले के पितरों की पूजा करने वाला होता है। (42) वह कुल वैर न बाँधने वाला होता है। (43) वह कुल दशों दिशाओं में (अपने नाम से) घोषित होता रहता है। (44) वह कुल महा-परिवार वाला होता है। (45) वह कुल अभेद्य फूट न पड़ने के परिवार वाला होता है। (46) वह कुल अनुत्तर अर्थात् सर्वोत्तम परिवार वाला होता है। (47) वह कुल कुलों मे ज्येष्ठ होता है। (48) [84]वह कुल कुलों में श्रेष्ठ होता है।[84] (49) वह कुल कुलों में वशिता प्राप्त अर्थात् प्रभुता प्राप्त होता है। (50) वह कुल महेशाख्य अर्थात् महान् ऐश्वर्य तथा कीर्ति वाला होता है।[85] (51) वह कुल मातृज्ञ (माता को मानने वाला) होता है। (52) वह कुल पितृज्ञ (पिता को मानने वाला) होता है।[85] (53) वह कुल श्रमण्य अर्थात् श्रमणों को मानने वाला होता है। (54) वह कुल ब्राह्मण्य अर्थात् ब्राह्मणों को मानने वाला होता है। (55) वह कुल प्रचुर धन के कोष वाला तथा प्रचुर धान्य के (अन्न के) कोष्ठागार (कोठार) वाला होता है। (56) वह कुल प्रचुर पक्के सोने-चाँदी[86], मणि, मुक्ता, (वैदूर्य) शंख, स्फटिक, शिला प्रवाल (मूँगा)[87], कच्चे सोने-चाँदी[88] की धन सामग्री वाला होता

84 .. 84. मूल, कुलश्रेष्ठं च तत्कुलं भवति। भोट में इस वाक्य का अनुवाद किसी कारण छूट गया।

85... 85. मूल, मातृज्ञं च तत्कुलं भवति। पितृज्ञं च तत्कुलं भवति। भोट में पूर्वापर वाक्यो का विपर्यास करके अनुवाद हुआ है—**रिग्स् दे नि फर् ह्-जिन् प यिन्। रिग्स् दे नि मर् ह् जिन प यिन्।**

86 मूल, हिरण्यसुवर्ण०। इसका भोटानुवाद है—**द् ब्यिग् दङ् ग्सेर् दङ्।** इससे पूर्व भी हिरण्यसुवर्ण० शब्द आया है। वहाँ भोटानुवाद **गुसेर् दङ् द्ङुल् दङ्**, सुवर्णरजत० किया गया हूँ जो ठीक नही है। द्रष्टव्य टिप्पणी 3।72,74।

87. तुलनीय भोट, ०**वैदूर्य दङ् दुङ् दङ् मन् शेल् दङ् व्युरु दङ्**०, ०वैदूर्य शङ्ख स्फटिकप्रवाल०। यह वर्धित अंश उचित है। मूल में पृष्ठ 22 (पंक्ति 15-16) पर यही वाक्य आ चुका है।

88. मूल, ०जातरूपरजत०। इसका अनुवाद भोट में **स ले स्बम् दङ् द्ङुल दङ्** है। पर इससे पूर्व भी जातरूपरजत शब्द आ चुका है। वहाँ केवल एक

है। (57) वह कुल बहुत से हाथियों, घोड़ों, ऊँटों, गौओं, तथा भेड़ों वाला होता है। (58) वह कुल बहुत से दास-दासी, कर्मकर (मजदूर)[89] पुरुषों को जीविका देने वाला होता है।[89] (59) वह कुल दुष्प्रधर्ष अर्थात् किसी के दबाने से न दबने वाला होता है। (60) वह कुल सर्वार्थसिद्ध होता है अर्थात् सभी अर्थों से परिपूर्ण होता है उसको कुछ भी पाने के लिए साधना नहीं करनी पड़ती। =26क= (61) वह कुल चक्रवर्तियों का कुल होता है। (62) वह कुल पूर्वकुशल अर्थात् पूर्व जन्म के पुण्य की सहायता से उपचित ('समृद्ध') होता है। (63) वह कुल बोधिसत्त्व कुल का कुलोदित (कुलीनता से उठा हुआ') (-25-) होता है। (64) देवताओं के सहित, मार (नामक देवों) के सहित, ब्रह्मा (नामक देवों) के सहित (इस) लोक में और श्रमणों तथा ब्राह्मणों वाली (इस) प्रजा के बीच सब जातिवाद के दोषों से रहित वह कुल होता है। हे मार्षो ('मित्रों'), इन चौसठ प्रकार (के गुणों) से युक्त वह कुल होता है जिसमें अन्तिम बार जन्म ग्रहण करने वाले बोधिसत्त्व का प्रादुर्भाव होता है।

37. हे मार्षो ('मित्रो'), वह स्त्री बत्तीस प्रकार के गुणों से युक्त होती है, जिसकी कोख में अन्तिम बार जन्म ग्रहण करने वाले बोधिसत्त्व का अवक्रमण ('प्रवेश') होता है। वे बत्तीस (गुण) कौन से है? वे ये है—(1) [90]वह स्त्री अभिज्ञात अर्थात् सब प्रकार से विद्याचतुर होती है जिसकी[90] कोख

शब्द स ले स्नम् से अनुवाद किया गया है रजत शब्द के भोट प्रतिशब्द द्ङुल् को छोड दिया गया है। द्रष्टव्य टिप्पणी 3।74।

89....89. ०पौरुषेयं, यह मूल पाठ है जिसका अर्थ पुरुष वाला, पुरुष-संबंधी अथवा इससे मिलता-जुलता होगा। भोटभाषान्तर में शब्द के यथार्थ अभिप्राय को प्रकट किया गया है—शो शस् ह् छो ब, पुरुष को जीविका देने वाला, पुरुषजीविकं। इस भोट व्याख्या को हिन्दी अनुवाद में ग्रहण कर लिया गया है।

90...90. अक्षरार्थ, अभिज्ञात अर्थात् सब प्रकार से विद्या चतुर स्त्री की। यहाँ मूल का पाठ सप्तम्यन्त, अभिज्ञातायां स्त्रियां तथा पाठान्तर षष्ठ्यन्त, अभिज्ञातायाः स्त्रियाः है। भोट भाषान्तर षष्ठ्यन्त पाठ का समर्थक है—म्ङोन् पर् शेस् पहि. बुद् मेद् क्यि। इसके अतिरिक्त आगे जो विशेषण है वे सबके सब संख्या में इकतीस है तथा सबका पाठ षष्ठ्यन्त ही है। बत्तीस विशेषणों में इकतीस का प्रयोग षष्ठी में तथा एक प्रयोग सप्तमी में हो जब कि वहाँ अर्थानुसार षष्ठी ही ठीक बैठती हो कैसे ठीक माना जा सकता है।

है। (35) वह कुल दृढ़ विक्रम वाला होता है। (36) वह कुल बलविक्रम वाला होता =25ख= है। (37) वह कुल श्रेष्ठ विक्रम वाला होता है। (38) वह कुल ऋषियों की पूजा करने वाला होता है। (39) वह कुल देवताओं की पूजा करने वाला होता है। (40) वह कुल चैत्यों की पूजा करने वाला होता है। (41) वह कुल पहले के पितरों की पूजा करने वाला होता है। (42) वह कुल वैर न बाँधने वाला होता है। (43) वह कुल दशों दिशाओं में (अपने नाम से) घोषित होता रहता है। (44) वह कुल महा-परिवार वाला होता है। (45) वह कुल अभेद्य फूट न पड़ने के परिवार वाला होता है। (46) वह कुल अनुत्तर अर्थात् सर्वोत्तम परिवार वाला होता है। (47) वह कुल कुलों में ज्येष्ठ होता है। (48) [84]वह कुल कुलो में श्रेष्ठ होता है।[84] (49) वह कुल कुलो में वशिता प्राप्त अर्थात् प्रभुता प्राप्त होता है। (50) वह कुल महेशाख्य अर्थात् महान् ऐश्वर्य तथा कीर्ति वाला होता है।[85] (51) वह कुल मातृज्ञ (माता को मानने वाला) होता है। (52) वह कुल पितृज्ञ (पिता को मानने वाला) होता है।[85] (53) वह कुल श्रमण्य अर्थात् श्रमणों को मानने वाला होता है। (54) वह कुल ब्राह्मण्य अर्थात् ब्राह्मणों को मानने वाला होता है। (55) वह कुल प्रचुर धन के कोष वाला तथा प्रचुर धान्य के (अन्न के) कोष्ठागार (कोठार) वाला होता है। (56) वह कुल प्रचुर पक्के सोने-चाँदी[86], मणि, मुक्ता, (वैदूर्य) शंख, स्फटिक, शिला प्रवाल (मूँगा)[87], कच्चे सोने-चाँदी[88] की धन सामग्री वाला होता

84 .. 84. मूल, कुलश्रेष्ठं च तत्कुलं भवति। भोट में इस वाक्य का अनुवाद किसी कारण छूट गया।

85... 85. मूल, मातृज्ञं च तत्कुलं भवति। पितृज्ञं च तत्कुलं भवति। भोट में पूर्वापर वाक्यों का विपर्यास करके अनुवाद हुआ है—**रिग्स् दे नि फर् ह्-जिन् प यिन्। रिग्स् दे नि मर् ह्.. जिन प यिन्।**

86 मूल, हिरण्यसुवर्ण०। इसका भोटानुवाद है—**द् ब्यिग् दङ् ग्सेर् दङ्।** इससे पूर्व भी हिरण्यसुवर्ण० शब्द आया है। वहाँ भोटानुवाद **गुसेर् दङ् द्ङुल् दङ्**, सुवर्णरजत० किया गया हूँ जो ठीक नही है। द्रष्टव्य टिप्पणी 3,72,74।

87. तुलनीय भोट, **०वैदूर्य दङ् दुङ् दङ् मन् शेल् दङ् ब्युरु दङ्०**, ०वैदूर्य शङ्ख स्फटिकप्रवाल०। यह वर्धित अंश उचित है। मूल में पृष्ठ 22 (पंक्ति 15-16) पर यही वाक्य आ चुका है।

88. मूल, ०जातरूपरजत०। इसका अनुवाद भोट में **स ले स्बम् दङ् द्ङुल दङ्** है। पर इससे पूर्व भी जातरूपरजत शब्द आ चुका है। वहाँ केवल एक

है। (57) वह कुल बहुत से हाथियों, घोड़ों, ऊँटों, गौओं, तथा भेड़ों वाला होता है। (58) वह कुल बहुत से दास-दासी, कर्मकर (मजदूर)[89] पुरुषों को जीविका देने वाला होता है।[89] (59) वह कुल दुष्प्रधर्ष अर्थात् किसी के दबाने से न दबने वाला होता है। (60) वह कुल सर्वार्थसिद्ध होता है अर्थात् सभी अर्थों से परिपूर्ण होता है उसको कुछ भी पाने के लिए साधना नहीं करनी पड़ती। = 26क = (61) वह कुल चक्रवर्तियों का कुल होता है। (62) वह कुल पूर्वकुशल अर्थात् पूर्व जन्म के पुण्य की सहायता से उपचित ('समृद्ध') होता है। (63) वह कुल बोधिसत्त्व कुल का कुलोदित (कुलीनता से उठा हुआ') (–25–) होता है। (64) देवताओं के सहित, मार (नामक देवों) के सहित, ब्रह्मा (नामक देवों) के सहित (इस) लोक में और श्रमणों तथा ब्राह्मणों वाली (इस) प्रजा के बीच सब जातिवाद के दोषों से रहित वह कुल होता है। हे मार्षो ('मित्रों'), इन चौसठ प्रकार (के गुणों) से युक्त वह कुल होता है जिसमें अन्तिम बार जन्म ग्रहण करने वाले बोधिसत्त्व का प्रादुर्भाव होता है।

37. हे मार्षो ('मित्रो'), वह स्त्री बत्तीस प्रकार के गुणों से युक्त होती है, जिसकी कोख में अन्तिम बार जन्म ग्रहण करने वाले बोधिसत्त्व का अवक्रमण ('प्रवेश') होता है। वे बत्तीस (गुण) कौन से है? वे ये हैं—(1) [90]वह स्त्री अभिज्ञात अर्थात् सब प्रकार से विद्याचतुर होती है जिसकी[90] कोख

शब्द **स ले स्रम्** से अनुवाद किया गया है रजत शब्द के भोट प्रतिशब्द **द्ङुल्** को छोड़ दिया गया है। द्रष्टव्य टिप्पणी 3।74।

89....89. ०पौरुषेयं, यह मूल पाठ है जिसका अर्थ पुरुष वाला, पुरुष-संबंधी अथवा इससे मिलता-जुलता होगा। भोटभाषान्तर में शब्द के यथार्थ अभिप्राय को प्रकट किया गया है—**श्रो शस् ह. छो ब**, पुरुष को जीविका देने वाला, पुरुषजीविकं। इस भोट व्याख्या को हिन्दी अनुवाद में ग्रहण कर लिया गया है।

90...90. अक्षरार्थ, अभिज्ञात अर्थात् सब प्रकार से विद्या चतुर स्त्री की। यहाँ मूल का पाठ सप्तम्यन्त, अभिज्ञातायां स्त्रियां तथा पाठान्तर षष्ठ्यन्त, अभिज्ञातायाः स्त्रियाः है। भोट भाषान्तर षष्ठ्यन्त पाठ का समर्थक है **मडोन् पर् शेस् पहि. बुद् मेद् क्यि**। इसके अतिरिक्त आगे जो विशेषण है वे सबके सब संख्या में इकतीस है तथा सबका पाठ षष्ठ्यन्त ही है। बत्तीस विशेषणों में इकतीस का प्रयोग षष्ठी में तथा एक प्रयोग सप्तमी में हो जब कि वहाँ अर्थानुसार षष्ठी ही ठीक बैठती हो कैसे ठीक माना जा सकता है।

मे अन्तिम वार जन्म ग्रहण करने वाले वोधिसत्त्व का अवक्रमण ('प्रवेश') होता है (2) वह स्त्री अभिलक्षित अर्थात् सब प्रकार से कलाचतुर होती है। (3) (वह स्त्री) अच्छिद्रोपचार अर्थात् निर्दोष आचरण वाली होती है, (4) (वह स्त्री) जातिसंपन्न अर्थात् उच्च जाति की होती है, (5) (वह स्त्री) कुल सम्पन्न अर्थात् उत्तम कुल की होती है, (6) (वह स्त्री) रूपसम्पन्न अर्थात् अत्यन्त सुन्दर रूप वाली होती है, (7) (वह स्त्री) नामसंपन्न अर्थात् सुन्दर नाम वाली होती है, (8) (वह स्त्री) आरोहपरिणाहसंपन्न होती है अर्थात् न बहुत लंबी, न बहुत ठिगनी तथा न बहुत मोटी, न बहुत पतली ठीक डील-डौल की होती है, (9) (वह स्त्री) अप्रसूता होती है, (10) (वह स्त्री) शील के धन की धनी होती है, (11) (वह स्त्री) त्यागसम्पन्न अर्थात् त्यागशील होती है। = 26ख = (12) (वह स्त्री) हँसमुख होती है, (13) (वह स्त्री) प्रदक्षिण ग्राहिणी अर्थात् सब के साथ समभाव से बरतने वाली होती है, (14) (वह स्त्री) व्यक्त अर्थात् स्पष्ट एवं अकुटिल व्यवहार वाली होती है, (15) (वह स्त्री) विनीत होती है, (16) (वह स्त्री) विशारद[91] होती है अर्थात् भय से रहित होती है, (17) (वह स्त्री) वहुश्रुत होती है, (18) (वह स्त्री) पण्डित होती है, (19) (वह स्त्री) अशठ होती है, (20) (वह स्त्री) अमायाविनी होती है, (21) (वह स्त्री) अक्रोधना होती है, (22) (वह स्त्री) ईर्ष्या से रहित होती है, (23) (वह स्त्री) अमत्सरा अर्थात् कृपणता से रहित होती है, (24) (वह स्त्री) अचंचल होती है अर्थात् अंगप्रत्यंगों से इधर-उधर की कुचेष्ठा न करने वाली होती है, (25) (वह स्त्री) अचपल अर्थात् चित्त की चंचलता से रहित होती है, (26) (वह स्त्री) अमुखर होती है अर्थात् बातून नहीं होती है, (27) (वह स्त्री) क्षान्ति अर्थात् सहिष्णुता तथा सौरभ्य[92] अर्थात् रमणीय-स्वभाव से सम्पन्न होती है, (28) (वह स्त्री) ह्री अर्थात् आत्म-लज्जा तथा अपत्रपा अर्थात् लोक-लज्जा से सम्पन्न होती है, (29) (वह स्त्री) राग, द्वेष तथा मोह में मंद होती है, (30) (वह स्त्री) मातृग्राम अर्थात् स्त्री जनों के स्वाभाविक दोषों से रहित होती है,

91. मूल पाठ, विशालदाया., पाठान्तर विशारदायाः। विशारद शब्द का बौद्धपरिभाषा में अर्थ भय से रहित होना है। इस अर्थ को लेकर भोट में अनुवाद हुआ है—ह् जिगस् प मेद् प, भय-रहित। विशालद शब्द विशारद का मागधी पाठान्तर जान पड़ता है तथा संभवतः वही मूल पाठ था।

92. मूल पाठ, सौरम्य। भोट, देस् प सौरम्य। यहाँ सौरम्य शब्द ठीक नहीं

(31) (वह स्त्री) पतिव्रता होती है, तथा (32) वह स्त्री सब प्रकार के गुणों से सम्पन्न होती है, जिसकी कोख में अन्तिम बार जन्म ग्रहण करने वाले बोधिसत्त्व का अवक्रमण ('प्रवेश') होता है। हे मार्षो ('मित्रो') इन बत्तीस प्रकार (के गुणों) से वह स्त्री समन्वित होती है, जिसकी कोख में अन्तिम बार जन्म लेने वाले बोधिसत्त्व का अवक्रमण ('प्रवेश') होता है।

38. हे मार्षो (मित्रो), कृष्णपक्ष में बोधिसत्त्व (अपनी) माँ की कोख में अवक्रमण (प्रवेश) नहीं करते। किंतु अंतिम बार जन्म ग्रहण करने वाले बोधिसत्त्व शुक्लपक्ष की पंचदशी को, अखण्ड पूर्णिमा को, पुष्यनक्षत्र के योग में, उपोसथ (शील-व्रत) ग्रहण की हुई मां की कोख में अवक्रमण (प्रवेश) करते हैं।

39. (–26–) तब वे बोधिसत्त्व तथा वे देवपुत्र बोधिसत्त्व के पास से यह इस प्रकार की कुल परिशुद्धि तथा मातृपरिशुद्धि सुनकर सोच-विचार करने लगे कि कौन-सा कुल[93] ऐसे गुणों से युक्त होगा जैसा कि इस सत्पुरुष ने बताया है =27क= जब वे सोच-विचार कर रहे थे, उनके मनमें यों हुआ कि यह शाक्यकुल[94] ऋद्ध ('धान्य सम्पन्न') स्फीत ('धनसंपन्न'), क्षेम ('स्थिर संपत्ति से युक्त') सुभिक्ष ('सुखी तथा दानी') रमणीय, तथा[95] बहुजनों तथा मनुष्यों से व्याप्त[95] है। राजा शुद्धोदन माँ की ओर से शुद्ध है, बाप की ओर से शुद्ध है, पत्नी की ओर से शुद्ध है,[96] क्लेश-रहित समृद्धकाय वाला है, शोभन-आकार को भली भाँति प्रकटित करने वाला है, अत्यन्त भोग्य धन वाला है[96] पुण्य के तेज से तेजस्वी है, महासमन्त कुल में अर्थात् परम संमान वाले कुल में उत्पन्न हुआ है, चक्रवर्तियों की परंपरा वाले कुल में कुलीन होकर उदित हुआ है, अपरिमित धन, निधि तथा रत्नों से समन्वित है, कर्मवादी दर्शन का मानने वाला है, पाप की दृष्टि से रहित है, समूचे शाक्य देश का एक-अद्वितीय राजा है, श्रेष्ठियों, गृहपतियों ('गृहस्थों') मंत्रियों, सभ्य-सामाजिकों द्वारा मानित एवं

---

93. मूल, केवलं। भोट, रिग्स्, कुलं। मूल यहाँ सर्वथा अशुद्ध है

94. मूल, शाक्यकुलं। भोट, शा क्यहि ग्रोङ् ख्येर, शाक्यपुरं।

95 मूल, आकीर्णबहुजनमनुष्यं, भोट, स्क्ये बो मङ् पो दङ् मिस् गङ् ब, बहुजनमनुष्यपूर्ण। द्रष्टव्य 3।18....18।3।66 66।

96.... 96. मूल पाठ यहाँ भ्रामक तथा अशुद्ध है। पाठ यों है–अपरिक्लिष्ट-संपन्नायाः स्वाकारसुविज्ञापकः। संभवतः यह अपरिक्लिष्ट., सपन्नायः, स्वाकारविज्ञापकः है। भोट, लस् क्यि म्थह ल मोन् मोङ्स् मेद् प दृपे ब्यद् बझङ् पो शिन् तु ह.-जङ्स् प, अपरिक्लिष्टकर्मान्तः। स्वाकारः

में अन्तिम वार जन्म ग्रहण करने वाले बोधिसत्त्व का अवक्रमण ('प्रवेश') होता है (2) वह स्त्री अभिलक्षित अर्थात् सब प्रकार से कलाचतुर होती है। (3) (वह स्त्री) अच्छिद्रोपचार अर्थात् निर्दोष आचरण वाली होती है, (4) (वह स्त्री) जातिसंपन्न अर्थात् उच्च जाति की होती है, (5) (वह स्त्री) कुल सम्पन्न अर्थात् उत्तम कुल की होती है, (6) (वह स्त्री) रूपसम्पन्न अर्थात् अत्यन्त सुन्दर रूप वाली होती है, (7) (वह स्त्री) नामसंपन्न अर्थात् सुन्दर नाम वाली होती है, (8) (वह स्त्री) आरोहपरिणाहसंपन्न होती है अर्थात् न बहुत लंबी, न बहुत ठिगनी तथा न बहुत मोटी, न बहुत पतली ठीक डील-डौल की होती है, (9) (वह स्त्री) अप्रसूता होती है, (10) (वह स्त्री) शील के धन की धनी होती है, (11) (वह स्त्री) त्यागसम्पन्न अर्थात् त्यागशील होती है। = 26ख = (12) (वह स्त्री) हँसमुख होती है, (13) (वह स्त्री) प्रदक्षिण ग्राहिणी अर्थात् सब के साथ समभाव से बरतने वाली होती है, (14) (वह स्त्री) व्यक्त अर्थात् स्पष्ट एवं अकुटिल व्यवहार वाली होती है, (15) (वह स्त्री) विनीत होती है, (16) (वह स्त्री) विशारद[91] होती है अर्थात् भय से रहित होती है, (17) (वह स्त्री) बहुश्रुत होती है, (18) (वह स्त्री) पण्डित होती है, (19) (वह स्त्री) अशठ होती है, (20) (वह स्त्री) अमायाविनी होती है, (21) (वह स्त्री) अक्रोधना होती है, (22) (वह स्त्री) ईर्ष्या से रहित होती है, (23) (वह स्त्री) अमत्सरा अर्थात् कृपणता से रहित होती है, (24) (वह स्त्री) अचंचल होती है अर्थात् अंगप्रत्यंगों से इधर-उधर की कुचेष्ठा न करने वाली होती है, (25) (वह स्त्री) अचपल अर्थात् चित्त की चंचलता से रहित होती है, (26) (वह स्त्री) अमुखर होती है अर्थात् बातून नही होती है, (27) (वह स्त्री) क्षान्ति अर्थात् सहिष्णुता तथा सौरम्य[92] अर्थात् रमणीय-स्वभाव से सम्पन्न होती है, (28) (वह स्त्री) ह्री अर्थात् आत्म-लज्जा तथा अपत्रपा अर्थात् लोक-लज्जा से सम्पन्न होती है, (29) (वह स्त्री) राग, द्वेष तथा मोह में मंद होती है, (30) (वह स्त्री) मातृग्राम अर्थात् स्त्री जनों के स्वाभाविक दोषों से रहित होती है,

91. मूल पाठ, विशालदाया., पाठान्तर विशारदायाः। विशारद शब्द का बौद्धपरिभाषा में अर्थ भय से रहित होना है। इस अर्थ को लेकर भोट में अनुवाद हुआ है—ह् जिगस् प मेद् प, भय-रहित। विशालद शब्द विशारद का मागधी पाठान्तर जान पड़ता है तथा संभवतः वही मूल पाठ था।

92. मूल पाठ, सौरम्य। भोट, देस् प सौरम्य। यहाँ सौरम्य शब्द ठीक नहीं बैठता है अतः इसे अपपाठ ही समझना चाहिए।

(31) (वह स्त्री) पतिव्रता होती है, तथा (32) वह स्त्री सब प्रकार के गुणों से सम्पन्न होती है, जिसकी कोख में अन्तिम बार जन्म ग्रहण करने वाले बोधिसत्त्व का अवक्रमण ('प्रवेश') होता है। हे मार्षो ('मित्रो') इन बत्तीस प्रकार (के गुणों) से वह स्त्री समन्वित होती है, जिसकी कोख में अन्तिम बार जन्म लेने वाले बोधिसत्त्व का अवक्रमण ('प्रवेश') होता है।

38. हे मार्षो (मित्रो), कृष्णपक्ष में बोधिसत्त्व (अपनी) माँ की कोख में अवक्रमण (प्रवेश) नहीं करते। किंतु अंतिम बार जन्म ग्रहण करने वाले बोधिसत्त्व शुक्लपक्ष की पंचदशी को, अखण्ड पूर्णिमा को, पुष्यनक्षत्र के योग में, उपोसथ (शील-व्रत) ग्रहण की हुई माँ की कोख में अवक्रमण (प्रवेश) करते हैं।

39 (–26–) तब वे बोधिसत्त्व तथा वे देवपुत्र बोधिसत्त्व के पास से यह इस प्रकार की कुल परिशुद्धि तथा मातृपरिशुद्धि सुनकर सोच-विचार करने लगे कि कौन-सा कुल[93] ऐसे गुणों से युक्त होगा जैसा कि इस सत्पुरुष ने बताया है =27क= जब वे सोच-विचार कर रहे थे, उनके मनमें यों हुआ कि यह शाक्यकुल[94] ऋद्ध ('धान्य सम्पन्न') स्फीत ('धनसंपन्न'), क्षेम ('स्थिर संपत्ति से युक्त') सुभिक्ष ('सुखी तथा दानी') रमणीय, तथा[95] बहुजनों तथा मनुष्यों से व्याप्त[95] है। राजा शुद्धोदन माँ की ओर से शुद्ध है, बाप की ओर से शुद्ध है, पत्नी की ओर से शुद्ध है,[96] क्लेश-रहित समृद्धकाय वाला है, शोभन-आकार को भली भाँति प्रकटित करने वाला है, अत्यन्त भोग्य धन वाला है[96] पुण्य के तेज से तेजस्वी है, महासमन्त कुल में अर्थात् परम संमान वाले कुल में उत्पन्न हुआ है, चक्रवर्तियों की परंपरा वाले कुल में कुलीन होकर उदित हुआ है, अपरिमित धन, निधि तथा रत्नों से समन्वित है, कर्मवादी दर्शन का मानने वाला है, पाप की दृष्टि से रहित है, समूचे शाक्य देश का एक-अद्वितीय राजा है, श्रेष्ठियों, गृहपतियों ('गृहस्थों') मंत्रियों, सभ्य-सामाजिकों द्वारा मानित एवं

93. मूल, केवलं। भोट, रिग्स्, कुलं। मूल यहाँ सर्वथा अशुद्ध है
94. मूल, शाक्यकुलं। भोट, शा क्यहि, ग्रोङ् ख्येर, शाक्यपुरं।
95 मूल, आकीर्णबहुजनमनुष्यं, भोट, स्क्ये बो मङ् पो दङ् मिस् गङ् प, बहुजनमनुष्यपूर्ण। द्रष्टव्य 3।18....18।3।66 66।
96.... 96. मूल पाठ यहाँ भ्रामक तथा अशुद्ध है। पाठ यों है–अपरिकृष्ट-संपन्नायाः स्वाकारसुविज्ञापकः। संभवतः यह अपरिक्लिष्ट., संपन्नायः, स्वाकारविज्ञापकः है। भोट, लस् क्यि म्थह. ल मोन् मोङ्स् मेद् प द्पे ब्यद् बसङ् पो शिन् तु ह.-जङ्स् प, अपरिक्लिष्टकर्मान्त.। स्वाकारः (अथवा शोभनानुव्यंजनः) अतिभोगः अथवा अतिभोग्यधनः।

पूजित है प्रासादिक ('प्रसन्नमुख') है, दर्शनीय है, न बहुत बूढ़ा है, न बहुत जवान है, अभिरूप (सुन्दर रूप वाला) है, सब गुणो से युक्त है, शिल्पज्ञ है, कालज्ञ है, आत्मवेदी है, धर्मवेदी[97] है, तत्त्वज्ञ[98] है, लोकज्ञ है, लक्षणों का जानकार है, धर्मका राजा है, धर्म से अनुशासन करने वाला है, कुशल (पुण्य) की मूल को भली भांति रोप डालने वाले प्राणियों के (निवास भूत) महानगर कपिलवस्तु में =27ख= निवास करता है तथा वहाँ जो लोग उत्पन्न हुए है वे भी [99] उसी के जैसे स्वभाव वाले[99] है।

40. राजा शुद्धोदन की देवी ('पटरानी') का नाम माया है, (वह) शाक्याधिपति सुप्रबुद्ध की पुत्री नवतरुणी, रूप तथा यौवन से सम्पन्न, अप्रसूता बिना पुत्र-पुत्री वाली, चित्र मे लिखी गई सी विचित्र सुन्दर रूप वाली, देव कन्या जैसी सब अलंकारों से विभूषित, स्त्रियों मे (स्वभाव से) पाये जाने वाले दोषों से रहित, सच बोलने वाली, अकर्कश ('अनिष्ठुर'), अकठोर, अचंचल, अनवद्य (न निकृष्ट अथवा न अधम), कोकिल के समान स्वर वाली[100] प्रलाप (बक-बक) न करने वाली, मधुर तथा प्रिय बोलने वाली[101] [102]क्रोध, मद (मतवालापन) मान (अहंकार), दर्प (घमंड) तथा प्रतिघ या दूसरे पर आघात करने की क्रिया से मिश्रित क्रोध (नाम के) चित्तदोषो से रहित[102], ईर्ष्या न

97 मूल, धर्मज्ञः। भोट, छोग् शेस् प, संतुष्टः; कल्पज्ञः (=विधिनिषेधज्ञः)।

98. मूल, तत्त्वज्ञः। भोट, सेम्स् शेस् प, चित्तज्ञः, चित्त की बात जानने वाला।

99....99. मूल, तत्स्वभावाः, भोट, दे दङ् स्कल् ब ह्.. ब्रङ् ब दग् तत्सभागाः, उनके सदृश।

100. मूल, कोकिलस्वरा, भोट, ग्यो मो हि. स्प्र लत बु मेद् प, अकंकारस्वरा, कंकड़ जैसी ध्वनि न करने वाली।

101. मूल, मधुरप्रियवादिनी, भोट, ह्..-जम् शिङ् स्अन् ल यिद् दु होङ् ब कर्णहृदयंगममञ्जुवादिनी। दोनों स्थानो में शब्द भेद होते हुए भी तात्पर्य मे भेद नही है।

102....102. मूल, व्यपगताखिलक्रोधमदमानदर्पप्रतिघा, भोट, मि ङेस् प दङ् खोङ् खो ब दङ्–ङ ग्र्यल् दङ्–द्रेग्स् प दङ्–ग्र्यग्स् प दङ्–खो ब मेद् प, अनिश्चय–प्रतिघ–मान–मद–दर्परहिता। संस्कृत के अखिल का भोट में अनिश्चय है। यहाँ कुछ गड़-बड अवश्य है। व्यपगताखिल० के स्थान में व्यपगतखिल० पाठ लिया जाए तो अर्थ ठीक बैठता है। खिल बौद्धपरिभाषा में चित्त के दोषों का नाम है। आशा है अनुवाद की यह स्वतन्त्रता क्षम्य होगी।

करने वाली, समयोचित बात करने वाली, त्याग से सम्पन्न, शीलवती, पति से संतुष्ट रहने वाली[103], पतिव्रता, दूसरे पुरुषों के विषय में न चित्त डुलाने वाली और न मन रमाने वाली, सुघड सिर, नाक तथा कान वाली[104], श्रेष्ठ भ्रमरों के समान (काले) केश वाली, शोभन मस्तक वाली[105], सुन्दर भौंहों वाली[106], भौंहों पर सिकुड़न न डालने वाली, हँसमुख, आगे बढ़कर बोलने वाली, (-27-) और मीठे वचनों वाली, प्रदक्षिण अर्थात् प्राणियों के प्रति अनुकूल व्यवहार करने का आग्रह करने वाली, सीधी-सादी, टेढ़े पन से दूर, अशठ, अमायिनी, ह्री ('आत्मलज्जा') तथा अपत्रपा ('लोकलज्जा') से सम्पन्न, अचपल, अचंचल, =28क= अमुखर अर्थात् मुख से बुरी बात न बोलने वाली, विकीर्णवचन अर्थात् इधर-उधर की बातें न बकने वाली, राग, द्वेष, तथा मोह में मंद, क्षांति (क्षमभाव) तथा सौरभ्य (सुरमणीयता) से सम्पन्न[107] हाथ-पैर तथा आँख एवं अपने रूप की चारों ओर से रखवाली में सचेत[108], मृदुल और तरुण करचरण वाली[109], काचिलिन्दिक (नाम के वस्त्र) के समान सुखदायक स्पर्श वाली, नलिन ('श्वेतकमल एवं रक्तकमल') तथा इन्दीवर

---

103. मूल, प्रतिसंतुष्टा। यहाँ पतिसंतुष्टा पाठ उचिततर है। भोट, ख्योस् छोग् पर् ह्.-जिन् प, अर्थात् पति से संतोष रखने वाली।

104. मूल, समसहितशिरः कर्णनासा, पाठान्तर समसंहतशिरःकर्णनासा, भोट, म्गो दङ् नें दङ् स्न गनस् सु कैब्स् प, स्थानविन्यस्तशिरःकर्णनासा।

105. मूल, सुललाटी, भोट, द्पल् ब लेग्स् प, सुभगा।

106. मूल, सुभ्रू०। पढ़िए सुभ्रूर्। भोट स्मिन् छुग्स् लेग्स् प, सुभ्रूः। सुभ्रू शब्द को परवर्ती शब्द से पृथक् करके अनुवाद किया गया है। भोट उल्था से इसकी पृथक् पठता सिद्ध होती है।

107. मूल, क्षान्ति-सौरभ्यसंपन्ना, क्षमा की सुगन्ध से युक्त। भोट, दङ् देस् शिङ् बझोद् प दङ् ल्दन् प, क्षान्तिसौरम्ययुक्ता = क्षमाभाव तथा सुरमणीयता से युक्त। भोट, पाठानुसार सौरभ्य को सौरम्य के रूप में शुद्ध कर अनुवाद किया गया है।

108. मूल, करचरणनयनस्वारक्षितबुद्धिः, भोट, कंङ् लग् दङ् मिग् दङ् खो शिन् तु ब्सुङ् स् प, अरक्षितकरचरणनयनमुस्वा। बुद्धि शब्द भोट में छूट गया है।

109. मूल, मृदुतरुणहस्तपादा, भोट, कंङ् लग् शिन् तु ह्.-जम् प, अतिमृदुहस्तपादा।

('नीलकमल') की पंखडियों के समान शुद्ध-विशुद्ध नेत्र वाली[110], लाल-ऊँची नाक वाली[111] सुप्रष्ठित (अचंचल) अंगो वाली, इन्द्रधनुप की वनी छड़ी के समान अत्यन्त लचीली[112], छँटे-छँटे अंगप्रत्यंग वाली, अनिन्दित ('बुराई से बचे हुए') अंगों वाली, विंव (कुंदुरु) के समान लाल होंठ वाली, सुन्दर दाँतों वाली[113], क्रम से उतार चढाव के गले वाली, अच्छे आभूषणों वाली, सुमना ('चमेली') तथा वार्षिकी ('वरसाती चमेली') के समान अत्यन्त शुद्ध दशन अर्थात् दाँतों वाली[114], शोभन तथा विनीत (झुके हुए) अंसो ('कंधों') वाली[115], क्रम से सुजात अर्थात् धीरे-धीरे उतार-चढाव से गठी हुई वाहों वाली, धनुप के (मध्य के समान क्षीण) पेट ('कटि') वाली[116], (शरीर के दायें-बाये) पक्षों में विना (किसी प्रकार की) हीनता वाली, गहरी नाभिमंडल वाली, गोल-गोल मोटे-मोटे चिकने-चिकने तथा ठोस-ठोस नितंवों वाली, हीरे जैसे ठोस तथा दृढ अंगो वाली[117], समसमाहित अर्थात् वराबर करके ढाली

110. मूल, नवनलिनेन्दीवरपत्रसुविशुद्धनयना, भोट, **पद् म ग् शोन् नु हि. ह., दब् म ल्तर् मिग्** शिन् तु **नंम् पर् दग प**, नवपद्मपत्रसुविशुद्धनयना ।

111. मूल, रक्ततुंगनासा भोट, **स्न द्बियब्स् लेगम् शिङ् म्दोग् स्दुग् प**, शोभनाकारसुवर्णनासा = आकार में शोभायमान तथा रंग में सुन्दर नाक वाली ।

112 मूल, सेन्द्रायुधमिव यष्टि: सुविनीता, भोट, **ह.-जह. द्बियब्स् ल्तर् शिन् तु ह.-दुद् प**, इन्द्रायुधाकृतिरिव सुविनीता ।

113. मूल, चारुदशना । यहां **ब्ल्त न म्जे.स् प**, यह भोट पाठ भ्रामक मूल की देन है । इसका अर्थ होगा चारुदर्शना देखने में सुन्दर । अंगांगो के विशेष वर्णन में यह सामान्य वर्णन युक्त नही प्रतीत होता ।

114. मूल, सुमनावार्षिकीसुविद्धदर्शना । मुद्रित ग्रन्थ में इस समास को भग कर डाला गया है । भोट, **स्न महि. मे तोग् दङ् बर् षि क ल्तर् सो शिन् तु नंम् पर् दग् प**, सुमनावार्षिकीसुविशुद्धदशना । मूल के ०दर्शन का यहा ०दशना में शोधन करना ठीक जान पड़ता है ।

115. मूल, सुविनीतांशा । यह सुविनीतांसा का अप पाठ है । अंश = अंस स्कन्ध । तुलनीय भोट, **फ्रग् प लेग्स् पर् बियन् ग्यिस् ह.-छम् प**, सुभव्योचितस्कन्धा ।

116. मूल, चापोदरी । भोट, **कॅद् प ग्शुहि. ह.-छङ् ब्झुङ् ल्तर् फ्र ब**, चापमध्यक्षीणोदरी ।

117. मूल, वज्रसंहननकल्पसदृशगात्रा । भोट, **र्दो र्जे ल्तर् म्ख्रेग्स् शिङ्**

हुई हाथी की सूंड़ जैसी जाँघों वाली[118] एण नामक मृग की पिंडलियों सी पिंडलियों वाली, लाक्षारस अर्थात् महावर जैसे (ललाई लिए हुए) हाथ-पैरों वाली, जगत में (सबकी) आँखों में रमणीय लगने वाली, आँखों की बेरोक-टोक शक्ति वाली, देखने में मनों को प्यारी और भली लगने वाली, स्त्री रूपी रत्नों के रूप में =28ख= अपनी और ही विशेषता के कारण (अनुपम)[119], माया से बनी छाया जैसी, माया के नाम से (किए जाने वाले) संकेत (=परिचय) वाली, कलाओं में चतुर, नन्दन (वन की) अप्सरा सी शोभायमान[120], महाराज[121] शुद्धोदन के अन्तःपुर के मध्य में पाई जाने वाली वह बोधिसत्त्व की माँ बनने के योग्य है। तथा बोधिसत्त्व ने कुल की जिस परिशुद्धि का बखान किया है वह शाक्य-कुल में ही ठीक-ठीक देखी जाती है।

41. ऊपर के विषय में (गाथाओं द्वारा) यों कहा गया है

(त्रिष्टुभ्—उपजाति छन्द)

प्रासादि धर्मोच्चयि शुद्धसत्त्वः
सुधर्मसिंहासनि संनिषण्णः।
सभागदेवैः परिवारितो ऋषिः
सबोधिसत्त्वेभि महायशोभिः ॥34॥[122]

शुद्धसत्त्व अर्थात् पवित्र चित्त वाले ऋषि, एक जैसे भाग्यवान् देवताओं और महायशस्वी बोधिसत्त्वों से घिरकर धर्मोच्चय नामक प्रासाद में सुधर्मा (नामक देवसभा) के सिंहासन पर बैठे।

तत्रोपविष्टान अभूषि चिन्ता
कतमत् कुलं शुद्ध सुसंप्रजानं।

भ्छुङ् स् मेद् प हि. ग्ज़ुग्स् दङ् ल्दन् प, वज्रसदृशकल्पानुपमदेहा। अर्थात् हीरे जैसी ठोस अनुपम शरीर वाली।

118. मूल, गजभुजसमसमाहितसदृशोरू (=समसमाहितगजभुजसदृशोरू)। भोट, ग्लङ् पो हि. स्न ल्तर् मृजस् शिङ् लेग्स् प हि. बृल दङ् ल्दन् प, गजनासासदृशमशोभनोरू।

119. मूल, स्त्रीरत्नरूपप्रतिविशिष्टा। भोट, बुद् मेद् रिन् पो छे हि. ग्ज़ुग्स् लस् यङ् ख्यद् पर् दु ह.-फग्स् प म् छुङ्स् प मेद् प, स्त्रीरत्नरूप-प्रतिविशिष्टानुपमा।

120. मूल, प्रकाशा। भोट में यह पाठ नहीं है।

121. मूल, महाराजस्य। भोट, ग्र्यल् पो, राज्ञः।

122. छाया-प्रासादे धर्मोच्चये शुद्धसत्त्वः सुधर्मसिंहासने संनिषण्णः। सभाग्य-देवैः परिवारित ऋषिः सबोधिसत्त्वैर्महायशोभिः।

('नीलकमल') की पंखडियों के समान शुद्ध-विशुद्ध नेत्र वाली[110], लाल-ऊँची नाक वाली[111] सुप्रष्ठित (अचंचल) अंगों वाली, इन्द्रधनुष की बनी छडी के समान अत्यन्त लचीली[112], छँटे-छँटे अंगप्रत्यग वाली, अनिन्दित ('बुराई से बचे हुए') अंगों वाली, बिंब (कुंदुरु) के समान लाल होंठ वाली, सुन्दर दाँतों वाली[113], क्रम से उतार चढाव के गले वाली, अच्छे आभूषणों वाली, सुमना ('चमेली') तथा वार्षिकी ('वरसाती चमेली') के समान अत्यन्त शुद्ध दर्शन अर्थात् दाँतों वाली[114], शोभन तथा विनीत (झुके हुए) अंसो ('कंधों') वाली[115], क्रम से सुजात अर्थात् धीरे-धीरे उतार-चढाव से गठी हुई बाहों वाली, धनुष के (मध्य के समान क्षीण) पेट ('कटि') वाली[116], (शरीर के दायें-बाये) पक्षों में बिना (किसी प्रकार की) हीनता वाली, गहरी नाभिमंडल वाली, गोल-गोल मोटे-मोटे चिकने-चिकने तथा ठोस-ठोस नितंबों वाली, हीरे जैसे ठोस तथा दृढ़ अगो वाली[117], समसमाहित अर्थात् बराबर करके ढाली

110. मूल, नवनलिनेन्दीवरपत्रसुविशुद्धनयना, भोट, **पद् म ग् शोन् नु हि. ह., दब् म ल्तर् मिग् शिन् तु र्नम् पर् दग प**, नवपद्मपत्रसुविशुद्धनयना।

111. मूल, रक्ततुंगनासा भोट, **स्न द्बियब्स् लेगम् शिङ् म्दोग् स्डुग् प**, शोभनाकारसुवर्णनासा = आकार में शोभायमान तथा रंग मे सुन्दर नाक वाली।

112. मूल, सैन्द्रायुधमिव यष्टि' सुविनीता, भोट, ह.-जह. द्बियब्स् ल्तर् शिन् तु ह.-दुद् प, इन्द्रायुधाकृतिरिव सुविनीता।

113. मूल, चारुदशना। यहां ब्ल्तं **न म्जे स् प**, यह भोट पाठ भ्रामक मूल की देन है। इसका अर्थ होगा चारुदर्शना देखने में सुन्दर। अंगागो के विशेष वर्णन में यह सामान्य वर्णन युक्त नही प्रतीत होता।

114 मूल, सुमनावार्षिकीसुविद्धदर्शना। मुद्रित ग्रन्थ में इस समास को भग कर डाला गया है। भोट, **स्न महि. मे तोग् दङ् बर् षि क ल्तर् सो शिन् तु र्नम् पर् दग् प**, सुमनावार्षिकीसुविशुद्धदशना। मूल के ०दर्शन का यहा ०दशना में शोधन करना ठीक जान पड़ता है।

115. मूल, सुविनीतांशा। यह सुविनीतांसा का अप पाठ है। अंश = अंस स्कन्ध। तुलनीय भोट, **फ्रग् प लेग्स् पर् बियन् ग्यिस् ह.-छम् प**, सुभव्योचितस्कन्धा।

116. मूल, चापोदरी। भोट, **कॅद् प ग्शुहि. ह.-छङ् ब्स्नुङ् ल्तर् फ ब**, चापमध्यक्षीणोदरी।

117. मूल, वज्रसंहननकल्पसदृशगात्रा। भोट, **र्दो र्जे ल्तर् म्ख्रेग्स् शिङ्**

हुई हाथी की सूंड़ जैसी जाँघों वाली[118] एण नामक मृग की पिंडलियों सी पिंडलियों वाली, लाक्षारस अर्थात् महावर जैसे (ललाई लिए हुए) हाथ-पैरों वाली, जगत में (सबकी) आँखों में रमणीय लगने वाली, आँखों की बेरोक-टोक शक्ति वाली, देखने में मनों को प्यारी और भली लगने वाली, स्त्री रूपी रत्नों के रूप में =28ख= अपनी ओर ही विशेषता के कारण (अनुपम)[119], माया से बनी छाया जैसी, माया के नाम से (किए जाने वाले) संकेत (=परिचय) वाली, कलाओं में चतुर, नन्दन (वन की) अप्सरा सी शोभायमान[120], महाराज[121] शुद्धोदन के अन्तःपुर के मध्य में पाई जाने वाली वह बोधिसत्त्व की माँ बनने के योग्य है। तथा बोधिसत्त्व ने कुल की जिस परिशुद्धि का बखान किया है वह शाक्य-कुल में ही ठीक-ठीक देखी जाती है।

41. ऊपर के विषय में (गाथाओं द्वारा) यों कहा गया है

(त्रिष्टुभ्—उपजाति छन्द)

प्रासादि धर्मोच्चयि शुद्धसत्त्वः
सुधर्मसिंहासनि संनिषण्णः।
सभागदेवैः परिवारितो ऋषिः
संबोधिसत्त्वेभि महायशोभिः ॥34॥[122]

शुद्धसत्त्व अर्थात् पवित्र चित्त वाले ऋषि, एक जैसे भाग्यवान् देवताओं और महायशस्वी बोधिसत्त्वों से घिरकर धर्मोच्चय नामक प्रासाद में सुधर्मा (नामक देवसभा) के सिंहासन पर बैठे।

तत्रोपविष्टान अभूषि चिन्ता
कतमत् कुलं शुद्ध सुसंप्रजानं।

भ्छुङ् स् मेद् प हि. लुस् दङ् ल्दन् प, वज्रसदृशकल्पानुपमदेहा। अर्थात् हीरे जैसी ठोस अनुपम शरीर वाली।

118. मूल, गजभुजसमसमाहितसदृशोरू (=समसमाहितगजभुजसदृशोरू)। भोट, ग्लङ् पो हि. स्न ल्तर् भ्ञम् शिङ् लेगस् प हि. बर्ल दङ् ल्दन् प, गजनासासदृशमशोभनोरू।

119. मूल, स्त्रीरत्नरूपप्रतिविशिष्टा। भोट, बुद् मेद् रिन् पो छे हि. ग्जुगस् लस् ब्यङ् ख्यद् पर् दु ह.-फगस् प म् छुङ्स् प मेद् प, स्त्रीरत्नरूपप्रतिविशिष्टानुपमा।

120. मूल, प्रकाशा। भोट में यह पाठ नहीं है।

121. मूल, महाराजस्य। भोट, ग्र्यल् पो, राज्ञः।

122. छाया-प्रासादे धर्मोच्चये शुद्धसत्त्वः सुधर्मसिंहासने संनिषण्णः। सभाग्यदेवैः परिवारित ऋषि. संवोधिसत्त्वैर्महायशोभिः।

यद् बोधिसत्त्वे प्रतिरूप जन्मे
माता पिता कुत्र च शुद्धभावाः ॥35॥[123]

वह (उन) बैठे हुए (लोगों) के (मनमें) विचार हुआ कि कहाँ पर कौन-सा कुछ शुद्ध तथा अत्यन्त सम्यग्ज्ञान वाला है जो बोधिसत्त्व के जन्म के लिए ठीक हो तथा माता-पिता शुद्ध भाव वाले हों।

व्यवलोकयन्तः खलु जम्बुसाह्वयं
यः क्षत्रियो राजकुलो महात्मा।
सर्वान् सदोषाननुचिन्तयन्तः
शाक्यं कुलं चादृसु वीत दोषं ॥36॥[124]

जम्बूद्वीप को देखते हुए, महातमा राजकुल के जो-(जो) क्षत्रिय थे उन सबको दोष सहित सोचते हुए, (उन्होंने अंत में) शाक्यकुल को दोषरहित देखा।

(-28-) शुद्धोदनो राजकुले कुलीनो
नरेन्द्रवंशे सुविशुद्धगोत्रः।[125]
ऋद्धं च स्फीतं च निराकुलं च[126]
सगौरवां सज्जन धार्मिकं च ॥37॥[127]

शुद्धोदन राजकुल में कुलीन, नरेन्द्रवंश में अत्यन्त पवित्र गोत्र के, ऋद्ध (धान्यसंपन्न), स्फीत (धनसंपन्न), निराकुल (शान्त) गौरव-युक्त, सज्जन तथा धार्मिक है।

अन्येऽपि सत्त्वा. कपिलाह्वये पुरे
सर्वे सुशुद्धाशय धर्मयुक्ताः।

123. छाया-तत्रो पविष्टानाम् अभूत् चिन्ता कतमत् कुलं शुद्धं सुसंप्रज्ञानम्। यद् बोधिसत्त्वस्य प्रतिरूपं (= अनुरूपं) जन्मनि मातापितरौ कुत्र च शुद्धभावौ।

124. छाया... ..चाद्राक्षु......॥ राजकुलो महात्मा के स्थान में भोट पा० **ग्र्यल् ग्र्युद् छे ब**, महाराजकुलः है।

125. मूल, सुविशुद्धागात्रः यह पाठ कुल वर्णन प्रसंग में अशुद्ध जान पडता है। भोट पा०, **नंम् दग् छो रिग्स् चन्**, सुविशुद्धिगोत्रः है।

126. यह तृतीय चरण भोट पाठानुसार, कामेऽभिवृद्धो च निराकुलश्च। तुलनीय भोट, ह.-दोद् चिङ् ग्र्यस् ल ह.-खुग् प मेद् प स्ते।

127. छाया......। ऋद्धश्च स्फीतश्च निराकुलश्च सगौरवः (= गौरववान्) सज्जनो धार्मिकश्च।

उद्यान आ = 29क = रामविहारमण्डित।
कपिलाह्वये शोभति जन्मभूमि ॥38॥[128]

कपिल (–वास्तु) नाम के नगर में अन्य सब प्राणी भी अत्यन्त शुद्ध हृदय के तथा धर्मात्मा है। कपिल (–वास्तु) नाम की जन्मभूमि उद्यानों, आरामों तथा विहारों से विभूषित शोभा पा रही है।

सर्वे महान-ग्न[129] वलैरुपेत।
द्वित्रीणिहस्तीवलवत्त्ववन्ति ।[130]
इष्वस्त्रशिष्येषु च पारमिगता
न चापरं हिंसिषु जीवितार्थं ॥39॥[131]

सब महान् गणों के, शक्तियों से युक्त, दो-दो या तीन-तीन हाथियों के बल से बलवान् है। धनुर्वेद की शिक्षा में पारंगत होते हुए भी (अपने) जीवन के निमित्त दूसरे (प्राणी) की हिंसा उन्होंने कभी नही की।

शुद्धोदनस्य प्रमदा प्रधाना
नारीसहस्रेषु[132] हि साग्रप्राप्ता।
मनोरमा मायकृतेव बिम्बं
नामेन सा उच्यति मायादेवी ॥40॥[133]

शुद्धोदन की प्रधान भार्या, सहस्रों (उत्तम) स्त्रियों में श्रेष्ठता को प्राप्त, मनोहर माया के द्वारा बने आकार वाली, वह माया देवी के नाम से पुकारी जाती है।

128. छाया—अन्येऽपि सत्त्वाः कपिलाह्वये पुरे सर्वे सुशुद्धाशया धर्मयुक्ताः। उद्यानारामविहारमण्डिता कपिलाह्वये शोभते जन्मभूमिः।

129. महानग्न भोट, छन् छेन (= महागण)। मेरे विचार से यह अपभ्रंश शब्द महान-गन का रूप है। गन (सं० गण) का ग्न रूप में उच्चारण छन्द के कारण हुआ है। पूर्वपद महान हलन्त का अजन्तरूप है।

130. मूल, विस्तीर्णहस्ती नवरत्नवन्ति। भोट, **ग्लङ् पो ग्जिस् सम् ग्सुम् ग्यि स्तोब्स् क्यङ् ब्चोग्**, द्विवत्रीणिहस्तीबलत्त्ववन्ति = द्वित्रहस्ति-बलवत्त्वन्तः। वत्त्व छन्द की दृष्टि से रखा गया है।

131. छाया-सर्वे महागणाः वलैरूपेता द्वित्रहस्तिवलवत्त्ववन्तः। इष्वस्त्रशिक्षासु च पारं गता न चापरमहिंसिषुर्जीवितार्थम्।

132. नारीसहस्रेषु के स्थान में भोटानुसार पाठ सन्नारीसहस्रेषु होगा। तुलनीय, **बुद् मेद् दम् प स्तोङ् गि**, शोभस्त्रीसहस्त्रस्य।

133. छाया—........। मनोरमा मायाकृतमिव बिम्बं नाम्ना सोच्यते माया देवी।

सुरूपरूपा यथ देवकन्या
सुविभक्तगात्रा शुभनिर्मलांगी ।
न सोऽस्ति देवो न च मानुषो वा
यो माय दृष्ट्वा थ लभेत तृप्ति ॥41॥[134]

देवकन्या जैसी सुन्दर आकृति वाली, भली भाँति छँटे-छँटाए शरीर वाली वाली शोभन तथा निर्मल अंगों वाली, माया (देवी) को देखकर जो तृप्त हो जाये[135] वैसा न देवों में कोई है और न मनुष्यों में कोई है ।[135]

न रागरक्ता न च दोषदुष्टा
श्लक्ष्णा मृदू सा ऋजुस्निग्धवाक्या ।
अकर्कसा चापरुषा च सौम्या
स्मितीमुखा सा भृकुटीप्रहीणा ॥42॥[136]

(वह) न राग से रंगी और न दोष अर्थात् द्वेष से दुष्ट है, वह रसीली है, कोमल है, सीधे-सादे तथा स्नेह भरे वचन बोलने वाली है, उसमें न तो क्रूरता है और न कड़ा पन है, (वह) सौम्य अर्थात् चन्द्रमा जैसी सबको भली लगने वाली है, वह हँसमुख है, उसकी भौंहे कभी नहीं तनती हैं ।

ह्रीमा ह्यपत्रापिणि[137] धर्मचारिणी
निर्माण अस्तब्ध अचञ्चला च ।
अनीर्षुका चाप्यशठा अमाया
त्यगानुरक्ता सह मैत्रचित्ता ॥43॥[138]

(वह) ह्रीमती अर्थात् आत्मलज्जा से युक्त, अपत्रपिणी अर्थात् लोकलज्जा से युक्त, अभिमान रहित, अकड़ से रहित, अचंचल, ईर्ष्या न करने वाली, अशठ

134. छाया—सुरूपरूपां यथा देवकन्या सुविभक्तगात्रां शुभनिर्मलांगीम् । न सोऽस्ति देवो न च मानुषो वा यो मायां दृष्ट्वाथ लभेत तृप्तिम् ।

135 . 135 अक्षरार्थ—वह न (कोई) देवता है और न (कोई) मनुष्य है ।

136. छाया—न रागरक्ता न च द्वेषदुष्टा श्लक्ष्णा मृदु. सा ऋजुस्निग्धवाक्या। अकर्कशा चापरूपा चा सौम्या स्मितिमुखा सा भ्रूकुटिप्रहीणा ।

137 व्यपत्रापिणि पा० मूल में है । पाठान्तर ह्यपत्रापिणि है । इसे अपत्रापिणि अथवा ह्यपत्रापिणि पढ़ना होगा । तुलनीय, भोट, खेल् योद्, अपत्रपावती अपत्रपिणी । वि उपसर्ग अर्थ में भ्रमजनक ही है ।

138. छाया—ह्रीमती ह्यपत्रपिणी धर्मचारिणी निर्माना—अस्तब्धा—अचञ्चला च । अनीर्ष्यका (अथवा मूलका-अनीर्षुका) चाप्यशठा-अमाया त्यागानुरक्ता सहमैत्रचित्ता ।

अमायाविनी, त्याग में अनुराग करने वाली, तथा मैत्री भाव के हृदय वाली तथा धर्माचरण करने वाली है।

कर्मेक्षिणी मिथ्यप्रयोगहीना
सत्ये स्थिता कायमनःसुसंवृता।
स्त्रीदोषजालं भुवि यत्प्रभूतं
सर्वं ततोऽस्या खलु नैव विद्यते ॥44॥[139]

कर्म (-फल के सिद्धान्त) को देखने वाली, मिथ्या-आचार से रहित, सत्य मे स्थित, शरीर तथा मन के सयम से युक्त, उस (माया देवी) में वे सब स्त्रियों के दोषजाल बिलकुल नही है जो पृथ्वी पर (स्त्रियों में) बहुत-बहुत करके होते हैं।

न विद्यते कन्य मनुष्यलोके
गन्धर्वलोके थ च देवलोके।
मायाय देवीय समा कुतोन्तरी = 29ख =
प्रतिरूप सा वै जननी महर्षेः ॥45॥[140]

मनुष्यलोक में, गन्धर्वलोक में, तथा देवलोक में माया देवी के समान कन्या नही है, अंतरी अर्थात् उनसे अंतर या विशेष (गुण) वाली (कन्या की बात ही) कहाँ। वह निश्चय से महर्षि की जन्म देनी वाली माता होने योग्य है।

जातीशतां पञ्चमनूनकानि
सा बोधिसत्त्वस्य बभूव माता।
पिता च शुद्धोदनु तत्र तत्र
प्रतिरूप तस्माज्जननी गुणान्विता ॥46॥[141]

139. छाया ....मिथ्याप्रयोगहीना........। ....सर्वं तद् अस्यां खलु नैव विद्यते।

140. छाया--न विद्यते कन्या मनुष्यलोके गन्धर्वलोकेऽथ च देवलोके। मायाया देव्याः समा कुतोऽन्तरा (=कुतो विशिष्टा) प्रतिरूपा (=अनुरूपा) सा वै जननी महर्षेः। बु० हा० सं० डि० पृष्ठ उनतालीस पर कुतोन्तरी के स्थान में कुतोत्तरी पाठ सुझाया गया है। पर सुझाव क्यों? क्या अन्तरी शब्द विशिष्टार्थवाचक नही हो सकता? अन्तरी = अन्तर, भेद अथवा विशेष वाली।

141 छाया—जातिशतानि पञ्चानूनकानि सा बोधिसत्त्वस्य बभूव माता। पिता च शुद्धोदनस्तत्र तत्र प्रतिरूपा (=अनुरूपा) तस्माज्जननी गुणान्विता। मूल में पञ्च शब्द विभक्तिहीन है अथवा क्रियाविशेषण होने से संस्कृत के

वह पूरे पाँच सौ जन्मों तक बोधिसत्त्व की माता रह चुकी है तथा उन-उन (जन्मों) में पिता शुद्धोदन रहे हैं, इसलिए (वह) गुणवाली जननी (होने के) योग्य है।

व्रतस्थ सा तिष्ठति तापसीव
व्रतानुचारी सद[142] धर्मचारिणी।
राज्ञाभ्यनुज्ञात वर प्रलब्धा
द्वात्रिंस मासा मव[143] काम सेवहि[143] ॥47॥[144]

वह तपस्विनी की भाँति व्रत में स्थित रहती है, व्रत का आचरण करती रहती है, सदा धर्म के आचरण में लगी रहती है, राजा ने उसे अनुज्ञा अर्थात् अनुमति दे रखी है, उसे वर दे रखा है (कि वह) बत्तीस महीनों तक काम (भोग) का सेवन बिलकुल न करे।

(–29–) यत्र प्रदेशे स्थिहते निषीदते
शयागता च क्रमणं च तस्या।
ओभाषितो भोति सदेव भागो
आभाय तस्याः शुभकर्मनिष्ठयाः ॥48॥[145]

जिस प्रदेश में (वह) खड़ी होती है, बैठती है तथा शयन करती है, तथा (जहाँ) उसका टहलना (होता है), वही (पृथ्वी का) भाग शुभ कर्म में लगी उस (देवी की) आभा से जगमगा उठता है।

न सोऽस्ति देवासुर मानुषो वा
यो रागचित्तेन समर्थ प्रेक्षितुं।

समान ही द्वितीयान्त है तथा मकार का आगम मुखसुखार्थ हुआ है। भोट में **छे, रब् (स्) ल्ङ ब्गर्य खो नर् छ.ङ् बर यङ्,** यथावत्पूर्णानि पंचजातिशतानि प्रथम पाद का अनुवाद है। तदनुसार अनूनकारि इस मुद्रित पाठ को अनूनकानि पढ़ना होगा। ऐसा करने से ही अर्थ संगति ठीक बैठती है।

142. मूल, सह। यह अशुद्ध है। शुद्ध पाठ सद (=सदा)। तुलनीय भोट, **तंग् पर्** नित्यं सर्वदा, सदा।

143... 143. मूल, मव...सेवहि (=मैव सेवस्व), भोट, **म स्प्यद्** मा चर।

144 छाया—व्रतस्था सा तिष्ठति तापसीव व्रतानुचारिणी सदा धर्मचारिणी। राज्ञाभ्यनुज्ञाता वरं प्रलब्धा द्वात्रिंशन्मासान् मैव कामं सेवस्व।

145. छाया—यत्र प्रदेशे तिष्ठति निषीदति शय्यागता च क्रमणं च तस्यः। अवभासितो भवति स एव भाग आभया तस्याः शुभकर्मनिष्ठायाः।

पश्यन्ति मातां दुहितां च सर्वे[146]
ईर्यापथेष्वा[147] र्यगुणोपपेता ॥49॥[148]

वैसा (कोई) देवता, असुर अथवा मनुष्य नहीं है जो (उस माया देवी को) रागचित्त अर्थात् कामभावना वाले मन से देखने का साहस करे। सब ईर्यापथ अर्थात् उठने, बैठने, सोने तथा टहलने में आर्यगुणों से युक्त (उस देवी को) माता तथा पुत्री जैसा देखते हैं।

मायाय देव्याः शुभकर्महेतुना
विवर्द्धते राजकुलं विशालं।
प्रदेशराज्ञामपि चाप्रचारो
विवर्धते कीर्ति यशश्च पार्थिवे[149] ॥50॥[150]

माया देवी के शुभ कर्म के कारण राजकुल विशाल बढ़ता जा रहा है, (सीमा) प्रदेशों के राजा लोग (राज्य में) नहीं घुस पाते, तथा राजा की कीर्ति एवं यश बढ़ते जा रहे है।

यथा च माया प्रतिरूप भाजनं
यथार्थसत्त्वः परमं विराजते।
पश्येत एताव्[151] अधिकं[152] गुणान्विता-
दया सुता[152] सा जननी च माया ॥51॥[153]

146. मूल, मातां दुहिता च मर्वे। मूल में यहाँ मर्वे मुद्रणदोष से हुआ है। शुद्ध पाठ, सर्वे। तुलनीय भोट, कुन् क्यङ्, सर्वेऽपि।

147. मूल, ईर्यापथेष्ठा०। यह अशुद्ध है। शुद्ध पाठ, ईर्यापथेष्वा० (=ईर्यापथेषु आ०)। तुलनीय भोट, स्प्योद् लम् नम्स् सु, ईर्यापथेषु।

148. छाया—न सोऽस्ति देवोऽसुरो मानुषो वा यो रागचित्तेन समर्थः प्रेक्षितुम्। पश्यन्ति मातरं दुहितरं च सर्वे ईर्यापथेष्वार्यगुणोपपेताम्।

149. पार्थिवे यह पद देखने में सप्तमी विभक्ति का है। भोट, में इसका अनुवाद षष्ठी से किया गया है जो अर्थानुकूल है यद्यपि सप्तमी से भी काम चलाया जा सकता है। तुलनीय भोट, ग्यंल् पो हि., पार्थिवस्य।

150. छाया—मायाया देव्याः शुभकर्महेतुना विवर्धते राजकुलं विशालम्। प्रदेशराजानामपि चाप्रचारो विवर्धते कीर्तिर्यशश्च पार्थिवस्य।

151. मूल, एवाव भोट, एताव० (=एताव् अ०)। तुलनीय भोट, दे ग्निस् (तौ, एतौ)।

152...152. मूल, ०दयासुता, पाठान्तर ०दयं सुतः पाठान्तर अस्पष्ट रूपों का स्पष्टीकरण मात्र है। अया = अयं सुता = सुतः। द योजकमात्र। यह सब भोटानुवादसंवादी है—ह्.-दि नि बुद् ह्.-सुयुर् दे नि म यि .होस्, अयं सुतो भवेत् सा मातोचिता।

153. छाया—यथा च माया प्रतिरूपं (=अनुरूप) भाजनं यथार्थसत्त्वः परमो

जैसे माया (देवी) उचित पात्र है, जैसे आर्यसत्त्व अर्थात् सत्पुरुष श्रेष्ठ विराजमान हो रहे है, ये दोनों अधिक गुणों से युक्त दीख रहे हैं यह पुत्र (होगें) और वह माया (देवी) जन्म देने वाली (होंगी)।

जम्बुध्वजेऽन्या न हि सास्ति नारी
[154] य स्या[154] समर्था धरितु नरोत्तमः[155]।
अन्यत्र देव्यातिगुणान्विताया
दशनागसाहस्रबलं हि यस्याः ॥52॥[156]

जिसका बल दशसहस्र हाथियों के बराबर है, (उस) अत्यन्त श्रेष्ठ गुणों वाली देवी को छोड कर जम्बूध्वज अर्थात् जम्बूद्वीप मे और वैसी स्त्री (कोई) नही है, जो उस महापुरुष को (गर्भ में) धारण कर सके।

एवं हि ते देवसुता महात्मा =30क=
सम्बोधिसत्त्वाश्च विशालप्रज्ञा।
वर्णन्ति मायां जननीं गुणान्वितां
प्रतिरूप सा शाक्यकुलनन्दनस्य ॥53॥[157] इति ॥

इस प्रकार वे महात्मा देवपुत्र तथा विशाल प्रज्ञा वाले बोधिसत्त्व गुणों से युक्त जननी माया का वर्णन करते है कि वह शाक्यकुल को आनन्द देने वाले (बोधिसत्त्व की माँ होने) के योग्य है ॥ इति ॥

॥ इति श्रीललितविस्तरे कुलपरिशुद्धिपरिवर्तो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

विराजते। दृश्येते एतावधिकगुणान्वितौ अयं सुतः सा जननी च माया। मूल मे गुणान्विता तथा अया के बीच का दकार मुखसुखार्थ आगम-मात्र है।

154....154. मूल मुद्रण, यस्या। यह कदाचित् य स्या (=या स्यात्) है। इसके निर्धारण में भोट पाठ से सहायता नही मिल रही है। क्योंकि यद्वृत्तात्मक वाक्यांशों को वहाँ अन्य प्रकार से अनुवाद कर डाला गया है।

155. नरोत्तमः यह प्रथमान्त पद द्वितीयार्थक है। पाठान्तर भी नरोतमं (भोट, **मि मुछोग्**) देखा जाता है।

156. छाया—जम्बूध्वजेऽन्या न हि सास्ति नारी या स्यात् समर्था धारयितुं नरोत्तमम्। अन्यत्र देव्या अतिगुणान्विताया दशनागसहस्रबलं हि यस्याः।

157 छाया—एवं हि ते देवसुता महात्मानः संबोधिसत्त्वाश्च विशालप्रज्ञा.। वर्णयन्ति मायां जननी गुणान्वितां प्रतिरूपा (=अनुरूपा) शाक्यकुलनन्दनस्य।

॥ ४ ॥

॥ धर्मालोकमुखपरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओं, जन्म लेने के योग्य कुल का विशेष रूप से बोधिसत्त्व ने अवलोकन कर, तुषितलोक में (जो) लम्बाई-चौड़ाई में चौसठ योजन का उच्च-ध्वज नाम का महाविमान (है) जिस पर बैठकर बोधिसत्त्व तुषित-देवताओं को धर्म का उपदेश किया करते थे, उस महाविमान पर बोधिसत्त्व चढ़े। और चढ़ कर सब तुषित-कायिक देवपुत्रों से कहा। आप लोग इकट्ठे हो जायें (और) बोधिसत्त्व के पास से च्युत्याकारप्रयोग अर्थात् अवतारविधिप्रयोग नाम की धर्मचर्यानुस्मृति का अनुशासन (=विवेचन) करने वाला (जो) अन्तिम धर्म-श्रवण (होगा, उसे) सुनें। इस वचन को (-30-) सुन कर सब तुषितकायिक देवपुत्र अप्सराओं के समूह के साथ उस विमान पर इकट्ठे हो गये।

2. वहाँ बोधिसत्त्व ने चारों (अर्थात् जम्बूद्वीप, उत्तरकुरु, अपरगोदानीय तथा पूर्वविदेह नामक) महाद्वीपों में लोकधातु के विस्तार का जितना प्रमाण है उतने प्रमाण वाला मण्डलमात्र अर्थात् मण्डलवाट (=उपवनसहितभवन) को अधिष्ठित किया अर्थात् संकल्प द्वारा बनाया (वह) उतना विचित्र, उतना दर्शनीय, उतना भलीभाँति अलंकृत, उतना मनोहर था कि सब कामावचर (कामधातु के निवासी) देवता=30ख= तथा रूपावचर (=रूपधातु के निवासी) देवपुत्र अपने-अपने भवनों की रचना को मरघट जैसी समझने लगे।

3. वहाँ बोधिसत्त्व अपने पुण्यफल के निष्पन्द अर्थात् हेतुरूप-प्रवाह द्वारा सब ओर से सुशोभित सिंहासन पर बैठे। उस (सिंहासन) के पायों मे अनेक मणि तथा रत्न पिरोये हुए थे[1], उसे अनेक प्रकार के फूलदार बिछौनों से सजाया गया था[1] उसे अनेको दिव्यगन्धों की वासना से सुवासित किया गया था, अनेकों सार अर्थात् सुगन्धित वस्तुओं के स्थिर-अंशों के श्रेष्ठ गन्ध से उसे धूपा गया था, [2]अनेक रंगों के दिव्य पुष्पों द्वारा सुगन्धित (चादर) से उसे सजाया गया था[2] अनेक प्रकार की सैकड़ो और हजारों मणियों तथा रत्नों की

1....1. मूल, अनेकपुष्पसंस्तरसंस्कृते, भोट, ल्ह हि. रस् ब्चोस् बु हि. स्तन् दु-मा ब्तिङ् ब, अनेकदिव्यवस्त्रकृतास्तरणसंस्तृते, अथवा, ०कृतासनसंस्तृते, अनेक प्रकार के दिव्य वस्त्रों से बने बिछोने (उस पर) बिछाए गये थे।

2....2. मूल, अनेकवर्णदिव्यपुष्पगन्धसंस्तरसंस्कृते। भोट, ल्ह हि. मे तोग् ब्दोग् दु मा हि. ब्रम् प ब्कम् प, अनेकवर्णदिव्यपुष्पविकिरणविकीर्णे।

प्रभा से वहाँ आग जलती-सी जान पडती थी, वह अनेकों मणियों तथा रत्नों के जाल से ढका हुआ था, [3]अनेकों रत्नों (से जड़ी) किंकिणियों के जाल से निकलने वाली गूँज वहाँ गूँज रही थी[3] अनेकों रत्नों (से जडी) सैकडों-हजारों घण्टाओं से निकलने वाला घन्-घन् का घोष वहाँ फैल रहा था, अनेक प्रकार के सैकड़ों-हजारों रत्नों के जाल वहाँ चारों ओर से चमक रहे थे, अनेक प्रकार के सैकडो-हजारों रत्नों के समूहों से उसे ढक दिया गया था, उस पर अनेक प्रकार के सैकड़ों-हजारों पट्ट (अर्थात् रेशमी झण्डे) लटक रहे थे, अनेक प्रकार के सैकडों-हजारों पट्टदामों (अर्थात् रेशमी रेसों) तथा मालाओं से उसे अलंकृत किया गया था, वहाँ अनेकों-सैकडों तथा हजारो अप्सराओं के नाचने-गाने-बजाने से संगीत हो रहा था, अनेक प्रकार के सैकडों तथा हजारों गुणों की वर्णना वहाँ हो रही थी, अनेक-शतसहस्र लोक-पाल वहाँ देख-रेख कर रहे थे, अनेक शतसहस्र इन्द्र नमस्कार कर रहे थे, अनेक-शतसहस्र ब्रह्मा प्रणाम कर रहे थे, अनेक-कोटि खर्व शतसहस्र बोधिसत्त्व चारो ओर से वहाँ (स्थान) ग्रहण किये हुए थे, दश दिशाओं के=31क=अनन्त[4]—अनेक-कोटि खर्व शतसहस्र बुद्ध वहाँ ध्यान कर रहे थे, वह अपरिमित—कोटि खर्व शतसहस्र—कल्पों तक पारमिताओं को संभालते-संभालते पुण्यफल के प्रवाह से उत्पन्न हुआ था।

4. इस प्रकार के भिक्षुओं, उक्त-प्रकार के गुणों से युक्त सिंहासन पर बैठ कर बोधिसत्त्व ने उस देवताओं की बड़ी सभा को सम्बोधित किया—मार्षो (आदरणीयों), सौ पुण्यों के लक्षणों से विभूषित बोधिसत्त्व के शरीर को देखो। (तथा) पूरब-पच्छिम, उत्तर-दक्खिन, ऊपर-नीचे चारो ओर दशों दिशाओं में मापे न जा सकने वाले, आंके न जा सकने वाले, गिने (– 31 –) न जा सकने वाले, बोधिसत्त्वों को देखो जो तुषित लोक के श्रेष्ठ भवन में विराज रहे हैं (और सबके) सब अन्तिम भव (=जन्म) की ओर मुँह किये, देवताओं के समूहो से घिरे हुए, देवताओं को भलीभाँति हर्षित करने वाले, च्यवनाकार अर्थात्

3....3. मूल, अनेक किङ्किनिजालसमिरिताभिनादिते। भोट, रिन् पो छे हि. द्रिल् बु ग्येर् क हि. द्र व दु म स्न ह.-ब्युङ् बस् भ्डोन् पर् द्गह. व दङ् ल्दन् प, अनेक रत्नकिंकिणीजालसमीरितनादाभिनन्दिते। ०नादाभिनादिते पाठ यहाँ होना चाहिये। भोट में अभिनादिते के स्थान में अभिनन्दिते किसी अपपाठ के कारण हो गया। मूल में नाद शब्द लेखक के प्रमाद से छूट गया है यह भोटानुवाद के साक्ष्य से स्पष्ट है।

4. मूल, अनेक . समन्वाहृते। भोट, ...दुम म्यह. पस् यस् द्गोङ् प, अनन्तानेक ....समन्वाहृते।

अर्थात् अवतार-ग्रहण की विधि (नाम के) धर्मालोकमुख अर्थात् धर्म के प्रकाश-द्वार को सम्यक् प्रकाशित कर रहे हैं। उस समूची देवताओं की मण्डली ने बोधिसत्त्व के अधिष्ठान अर्थात् मनः संकल्प (के प्रताप) से उन बोधिसत्त्वों को देखकर जिस स्थान पर बोधिसत्त्व थे उस स्थान की ओर अंजलि बांध कर, (माथा) नवाकर, पाच मंडलों से अर्थात् दोनो घुटने टेक, दोनों हथेलियो को भूमि पर रख माथा टेक, नमस्कार किया तथा इस प्रकार के उदान (=अर्थ-पूर्ण उल्लास वचन) कहे – =31ख= साधु, बोधिसत्त्व का यह अधिष्ठान (=मन: संकल्प) अचिन्त्य है, जिसके कारण हम निहारने भर से इतने बोधि-सत्त्वों को देख रहे हैं।

5 इसके अनंतर बोधिसत्त्व ने फिर देवताओं की उस बडी सभा को संबोधित करके यों कहा—हे मार्षो (आदरणीयों), ये बोधिसत्त्व इन देवपुत्रों से देवताओं को भली-भांति हर्षित करने वाले, च्युत्याकार अर्थात् अवतार-ग्रहण की विधि (नाम के) जिस धर्मालोकमुख अर्थात् धर्म के प्रकाश द्वार को कह रहे हैं उसे सुनो। हे मार्षो, ये धर्मलोकमुख एक सौ आठ है, जिन्हे च्यवनकाल के समय अर्थात् अवतार-ग्रहण के अवसर आने की वेला में बोधि-सत्त्व को भली-भांति प्रकाशित करना चाहिए।

6. वे एक सौ आठ कौन से है ?

1. हे मार्षो, यह जो श्रद्धा है, वह धर्मालोकमुख है, उसके कारण आशय अर्थात् मन का पवित्र भाव अभेद्य रहता है—छिन्न-भिन्न नही होने पाता।

2. प्रसाद (=निर्मलता) धर्मालोकमुख है, उसके कारण मन मैला नहीं होता।

3. प्रमुदिता (सुखी को देखकर डाह का न होना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण (लोक में) प्रसिद्धि[5] होती है।

4. प्रीति धर्मालोकमुख है, उसके कारण चित्त की भली-भांति शुद्धि होती है।

5 कायसंवर (शरीर को दुष्कर्मों से बचाना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण काय के तीनों दोषों[6] (अर्थात् प्राणातिपात वा हिंसा, अदत्तादान वा चोरी, कायमिथ्याचार वा व्यभिचार) से (मनुष्य) शुद्ध रहता है।

5. मूल, प्रसिद्धयै। भोट, लुस् शिन् तु स्ब्यङ्स् पर्, कायप्रशुद्धयै, काय की भलीभांति शुद्धि के लिए।

6 मूल, त्रिकायपरिशुद्धयै भोट, लुस् क्यि ञेस् प नंम् प ग्सुम् योङ्स् सु दग् पर्, त्रिकायदोषपरिशुद्धयै। भोट, पाठ ही ठीक है।

30. आत्मज्ञता (अपने को ठीक-ठीक समझना अर्थात् अपने को मिथ्या-भाव से उच्च या हीन न समझना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण आत्मानु-कर्षणता अर्थात् आत्मप्रशंसा का भाव नही रहता।

31. सत्त्वज्ञता (सब प्राणियों को अपने समान समझना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण पर-पांसनता[9] अर्थात् दूसरों की निन्दा का भाव नही रहता।

32 धर्मज्ञता (सद्धर्म का ज्ञान) धर्मालोकमुख है, उसके कारण धर्मानुधर्मों में अर्थात् धर्म के अनुकूल गुणों में प्रतिपत्ति (= यत्नसिद्धि) होती है।

33. कालज्ञता (कब क्या करना चाहिए—इस बात का ज्ञान) धर्मालोक-मुख है, उसके कारण अमोघदर्शनता होती है अर्थात् कार्य की सफलता का ज्ञान पहले से ही हो जाया करता है।

34 निहतमानता अर्थात् निरभिमानता धर्मालोकमुख है, उसके कारण ज्ञान की परिपूर्णता होती है।

35. अप्रहतचित्तता अर्थात् चित्त का विचार एवं विवेक में कुंठित न होना धर्मालोकमुख है, उसके कारण अपनी तथा पराई रक्षा होती है।

36. अनुपनाह अर्थात् वैर-न-बाधना धर्मालोकमुख है, उसके कारण कौकृत्य अर्थात् किये – न – किये का पछतावा नहीं रहता।

37. अधिमुक्ति अर्थात् धर्म की अटल लगन धर्मा— = 33क = लोकमुख है, उसके कारण अविचिकित्सापरमता अर्थात् संदेह या दुविधा के न होने के भाव की परम दृढ़ता आ जाती है।

38. अशुभप्रत्यवेक्षा (अर्थात् सांसारिक वस्तुओं को अपवित्र समझना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण कामवितर्कप्रहाण अर्थात् काम-भोगविषयक विचारों का नाश होता है।

39. अव्यापाद (अर्थात् हिंसावृत्ति शून्य कल्याणभाव) धर्मालोकमुख है, उसके कारण व्यापादवितर्क (हिंसावृत्तिमय अकल्याणभाव, दूसरों की हानि करने के भाव) का प्रहाण (नाश) हो जाता है।

40. अमोह (–33–) धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब प्रकार के अज्ञान का विधमन अर्थात् नाश हो जाता है।

तायै, परानवज्ञायै, दूसरों का अपमान न करने के लिए। पराभिमन्यतायै का अर्थ है दूसरो का मान करने के लिए। दोनो पाठ समान भाव से सुन्दर है।

9. मूल परापत्समानतायै। यह अशुद्धपाठ है। भोट, गशन् ल स्मोन् पर् मेद् पर्‌य, पर–अ– पांसनतायै, दूसरों की अनिन्दा के लिए।

41 धर्मार्थिकता (धर्म के अर्थ की जानकारी) धर्मालोकमुख है, उसके कारण अर्थप्रतिशरणता होती है अर्थात् धर्म के अभिप्रेत अर्थ का आश्रय प्राप्त होता है।

42. धर्मकामता (धर्माभिलाप) धर्मालोकमुख है, उसके कारण धर्मालोक[10] अर्थात् धर्म का प्रकाश प्राप्त होता है।

43. श्रुतपर्येष्टि (सुने हुए धर्म की पर्येष्टि – ऊहापोह – विचारना करना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण योनिशोधर्मप्रत्यवेक्षणा होती है अर्थात् सब धर्मों या दार्शनिक तत्त्वों में ठीक-ठीक विचार एवं विवेक करने की दृष्टि मिलती है।

44. सम्यक्–प्रयोग (सम्यक् प्रकार से योगाभ्यास करना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण (तत्त्व की प्राप्त्यर्थ) सम्यक् प्रतिपत्ति या साधना हो पाती है।

45 नामरूपपरिज्ञा (नामरूपात्मक विश्व की जानकारी अथवा भौतिक-मानसिक जगत् का जानना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब प्रकार की आसक्ति से परे जाया जा सकता है।

46 हेतुदृष्टिसमुद्घाट (हेतु में लगी दृष्टि का विनाशन) धर्मालोकमुख है, उसके कारण विद्याधिमुक्ति (ज्ञान तथा मोक्ष) का लाभ होता है।

47. अनुनयप्रतिघप्रहाण (राग तथा द्वेष का नाश) धर्मालोकमुख है, उसके कारण (चित्त में) न तो ऊंचेपन का ही भाव रहता है और न नीचेपन का ही।

48. स्कन्धकौशल्य (रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा तथा संस्कार नामक पांचों स्कन्धों के स्वरूप के ज्ञान की पण्डिताई) धर्मालोकमुख है, उसके कारण दुःख का परिज्ञान (=परिपूर्ण ज्ञान) होता है।

49. धातुसमता (ज्ञानेन्द्रियों, उनके विषयों तथा उन दोनों से उत्पन्न विज्ञानों में विषमता का न होना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण समुदय (दुःखहेतु) का नाश होता है।

50. आयतनापकर्षण (ज्ञानेन्द्रियों तथा विषयों के द्वारों का खुला होना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण (आर्य-अष्टांगिक) मार्ग की भावना हो पाती है।

10. मूल, लोक। भोट, छोस् स्नङ् ब, धर्मालोक। जान पड़ता है कि मूल में लेखकप्रमाद से पाठ छूट गया है। *आनन्तर्यमार्ग तथा विमुक्तिमार्ग इन दो पारिभाषिक शब्दों को उदाहरण से समझना सरल है। क्लेशरूपी चोर को बाहर निकालना आनन्तर्य मार्ग का काम है। फिर वह भीतर न घुसे अत. द्वार को बन्द करना विमुक्ति मार्ग का काम है।

51. अनुत्पाद =33ख= क्षांति (दुःख के उत्पन्न न होने का आनन्तर्य-मार्ग) धर्मालोकमुख है, उसके कारण निरोध (=दुःखनिरोध) का साक्षात्कार होता है।

52. कायगतानुस्मृति (शरीर की चेष्टाओं की सावधानता) धर्मालोकमुख है, उसके कारण कायविवेकिता होती है अर्थात् शरीर निरर्थक चेष्टाओं में नही लगता।

53. वेदनागतानुस्मृति (सुख-दुःख के अनुभव मे सावधान रहना, वेचैन या वेहोश न हो जाना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण सव प्रकार की वेदनाओं (=दुःखानुभूतियों) की प्रतिप्रश्रब्धि (=शांति) हो जाती है।

54 चित्तगतानुस्मृति (चित्त मे उठने वाले भावों के प्रति सावधान रहना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण चित्त माया के समान देखा जा सकता है।

55. धर्मगतानुस्मृति (सभी धर्मो के प्रति सावधान होना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण (सब धर्मों का वा सव वस्तुओं के स्वभाव का) वितिमिर अर्थात धुँधलेपन से रहित अत्यंत स्पष्ट ज्ञान होता है।

56. चार सम्यक्प्रहाण (अर्थात् अनुत्पन्न पाप धर्मों के उत्पन्न न होने के लिए, उत्पन्न पाप धर्मों के नष्ट हो जाने के लिए, अनुत्पन्न पुण्य धर्मों के उत्पन्न होने के लिए, तथा उत्पन्न पुण्य धर्मों के वढ़ाने के लिए यत्न करना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब कुशल धर्म परिपूर्ण हो जाया करते है।

57. चार ऋद्धिपाद (अर्थात् छंद वा अभिलाप, चित्त, वीर्य तथा मीमांसा से युक्त धर्म) धर्मालोकमुख है, उनके कारण काय तथा चित्त हलके (=फुर-तीले) रहते है।

58. श्रद्धा (नामक) इन्द्रिय धर्मालोकमुख है, उसके कारण (धर्म में) दूसरे के बिना ही चलना हो पाता है (मनुष्य परप्रणेय अर्थात् दूसरे से राह दिखलाने योग्य नही रहता)।

59. वीर्य (नामक) इन्द्रिय धर्मालोकमुख है, उसके कारण ज्ञान का भलीभाँति चिंतन हो पाता है।

60 स्मृति (नामक) इन्द्रिय धर्मालोकमुख है, उसके कारण (जो कुछ) किया जाता है (वह) सुकृत होता है—सुसंपन्न होता है।

61. समाधि (नामक) इन्द्रिय धर्मालोकमुख है, उसके कारण चित्त की विमुक्ति होती है अर्थात् चित्त राग-द्वेष-मोह के वंधन से छूट जाता है।

62. प्रज्ञा (नामक) इन्द्रिय धर्मालोकमुख है, उसके कारण ज्ञान का प्रत्य-वेक्षण (=मनन) हो पाता है।

63. श्रद्धा (नामक) वल धर्मालोकमुख है, उसके कारण मार के वल से वचकर भलीभाँति निकला जा सकता है।

64. वीर्य (नामक) बलधर्मालोकमुख है, उसके कारण अविवर्तिकता (–34–) हो पाती है अर्थात् धर्म के मार्ग में मुह न मोड़ना हो पाता है।

65. स्मृति (नामक) बल धर्मालोकमुख है, उसके कारण =34= असंहार्यता रहती है अर्थात् धर्म को दूषित मनोवृत्तियां चुरा नही पातीं।

66. समाधि (नामक) बल धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब वितर्कों का प्रहाण होता है।

67. प्रज्ञा (नामक) बल धर्मालोकमुख है, उसके कारण मूढभाव नहीं बना रहता।

68. स्मृति (नामक) संबोध्यंग-धर्मालोकमुख है, उसके कारण जो धर्म जैसा होता है उसको वैसा ही जाना जा सकता है।

69. धर्मविचय अर्थात् धर्मों का विश्लेषण (नामक) संबोध्यंग-धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब धर्मों में परिपूर्णता प्राप्त होती है।

70. वीर्य (नामक) संबोध्यंग-धर्मालोकमुख है, उसके कारण अत्यंत विचित्र बुद्धिमत्ता प्राप्त होती है।

71. प्रीति (नामक) संबोध्यंग-धर्मालोकमुख है, समाध्यायिकता अर्थात् समाधि में सिद्धाई हो जाती है।

72. प्रश्रब्धि या अवधूतभाव (नामक) संबोध्यंग-धर्मालोकमुख है, उसके कारण कृतकरणीयता रहती है अर्थात् मन मे यह भाव रहता है कि जो कुछ करना था वह कर लिया, अब झंझट नहीं रहा।

73. समाधि (नामक) संबोध्यंग-धर्मालोकमुख है, उसके कारण सर्वधर्मसमतानुबोध[11] होता है अर्थात् धर्मों में जो विरोध या विषमता का भाव दीखता है वह नहीं रहता।

74. उपेक्षा (नामक) संबोध्यंग-धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब प्रकार की उपपत्तियों से अर्थात् नाना प्रकार की जो-जो योनिया है उनमे जन्म लेने से जुगुप्सा (घृणा या विरक्ति) हो जाती है।

75. सम्यग्दृष्टि-धर्मालोकमुख है, उसके कारण न्यायाक्रमणता[12] होती है अर्थात् न्याय या निर्दोष गुणों में आ–क्रमणता या प्रवेश होता है।

76. सम्यक्संकल्प धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब कल्प (कल्पनाएं) विकल्प (संदेहमिश्रित कल्पनाएं) तथा परिकल्प (चारों ओर से टिकी हुई कल्पनाएं) नष्ट हो जाया करती है।

11. मूल, समतानुबोधाय। भोट, छोस् थम्स् चद् म्ञम् प जिद् दु खोङ् दु छुद् पर्, सर्वधर्मसमतानुबोधाय।
12. द्रष्टव्य इसी अध्याय में टिप्पणी 7।

77. सम्यग्वाक् धर्मालोक =34ख= मुख है, उसके कारण सब अक्षरों रूतों (=शब्दों), घोषों (=पदों), तथा वाक्यों के पथ[13] की प्रतिश्रुत्काओं (=प्रतिध्वनियों) और समताओं का अनुबोध होता है।

78. सम्यक्कर्मान्त (=सम्यक् कर्म) धर्मालोकमुख है, उसके कारण अकर्मता (=कर्मबन्धन का अभाव) तथा अविपाकता (=फलबन्धन का अभाव) होता है।

79 सम्यगाजीव (=पवित्र जीविका) धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब एषणाओं (=इच्छाओं) की प्रतिप्रश्रब्धि (=शान्ति) हो जाती है।

80. सम्यग्व्यायाम (=उचित श्रम) धर्मालोकमुख है, उसके कारण (संसार के) दूसरे किनारे पर जाया जा सकता है।

81. सम्यक्स्मृति धर्मालोकमुख है, उसके कारण अस्मृतिता (धर्म में अनुपयोगी तत्वों के मन में विचारणा का अभाव) रहता है।

82. सम्यक्समाधि धर्मालोकमुख है, उसके कारण अकोप्य अर्थात् अचंचल चित्तसमाधि का लाभ होता है।

83. बोधिचित्त धर्मालोकमुख है, उसके कारण त्रिरत्न (बुद्धरत्न, धर्मरत्न तथा संघरत्न) के वंश का उच्छेद नही होता।

84. आशय (संपूर्ण प्राणियों को दुःख से छुडाने का उदार भाव) धर्मालोकमुख है, उसके कारण हीनयान के प्रति स्पृहा नही रहती।

85. अध्याशय (बोधिचर्या में अतिशय मनोयोग) धर्मालोकमुख है, उसके कारण उदार बुद्धधर्मो (तथा अन्य सब सज्जनों द्वारा चरित धर्म) आदि का आलम्बन लेना होता है।

86. प्रयोग (बोधिचर्या में पारमिताओं का पूर्ण करने का उद्योग) धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब कुशल (=शुभ) धर्मो की परिपूर्ति होती है।

87. दानपारमिता धर्मालोकमुख है, उसके कारण (बत्तीस महापुरुषों के) लक्षणो तथा (अस्सी महापुरुषों के) अनुव्यंजनों से युक्त बुद्धक्षेत्र की परिशुद्धि होती है (तथा) कंजूस प्राणी (दानरूपी धर्माचरण में) सिखा कर पक्के किये जाते है।

88. शीलपारमिता धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब अक्षणों (अर्थात् नरकयोनि, तिर्यग्योनि, दीर्घायुष देवयोनि, मिथ्यादृष्टि, बुद्धानुत्पाद, म्लेच्छता तथा मूकता ये आठ कुत्सित क्षणों) तथा अपायों (दुर्गतियां) से =35क= बच

13. मूल, ०प्रथ० । यह अशुद्ध पाठ है। भोट, ०लम् ० (= ० पथ ० –)।

निकला जा सकता है (और) दुःशील (–35–) प्राणी (शील के आचरण में) सिखाकर पक्के किए जाते हैं।

89. क्षान्तिपारमिता धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब व्यापाद (=दूसरों को हानि पहुँचाने का भाव), खिल (=चित्त की कठोरता), दोष (=द्वेष), मान, मद (=मतवालापन) और दर्प का नाश होता है (तथा दूसरों के प्रति क्षमाभाव के आचरण मे) व्यापन्नचित्त अर्थात् दूसरों की हानि की इच्छावाले प्राणी सिखाकर पक्के किए जाते है।

90. वीर्यपारमिता धर्मालोकमुख है, उसके कारण कुशलमूलधर्मों[14] के आरंभ (=आराग) वा अनुरंजनकर्म में अर्थात् साधन में (अपने आप को) उतारा जाता है तथा आलसी प्राणी (वीर्य के कार्यों में) सिखा कर पक्के किए जाते है।

91. ध्यानपारमिता धर्मालोकमुख है, उसके कारण[15] सब ध्यानों तथा अभिज्ञाओं की उत्पत्ति होती है[15] (तथा) विक्षिप्तचित्त (चंचल मन वाले) प्राणी (ध्यानमार्ग में) सिखाकर पक्के किए जाते है।

92. प्रज्ञापारमिता धर्मालोकमुख है, उसके कारण अविद्या, मोह, तम, एवं अंधकार (से उत्पन्न) उपलम्भदृष्टि अर्थात् शून्य न समझने की दृष्टि का प्रहाण हो जाता है (तथा) दुष्प्रज्ञ प्राणी (शून्यतादर्शन में) सिखाकर पक्के किए जाते है।

93. उपायकौशल्य धर्मालोकमुख है, उसके कारण प्राणियों को उनकी अधिमुक्ति (=दृढश्रद्धा वा दृढ विश्वास) के अनुसार ईर्यापथ (=चंक्रमण, शयन, स्थान=खड़ा होना, निषद्या=बैठना इन चारों व्यापारों के प्रकार) को दिखाया जाता है (तथा) सब बुद्ध धर्मों की अविधमनता[16] वा अविनाशता होती है।

94. चार संग्रह वस्तुएँ (=दान, प्रियवादिता, अर्थचर्या, तथा समानार्थता) धर्मालोकमुख है, उनके कारण सत्त्वसंग्रह (=लोकसंग्रह) होता है तथा संबोधि पा चुकने वाले को धर्म की संप्रत्यवेक्षणा[17] (=धर्मानुसंधान की विशद दृष्टि) बनी रहती है।

95. सत्त्वपरि =35ख= पाक (=प्राणियों को सिखा-पढाकर धर्म में पक्का

14. मूल, ०कुशलमूलधर्म०। भोट, द्गे बहि् छोस् ब्चुम्स् प, कुशल-धर्मोचित।

15... 15. मूल, सर्वज्ञानाभिज्ञोत्पादाय। भोट, ब्सम् ग्तन् दङ् म्ङोन् पर् शेस् प थम्स् चद् ब्स्क्येद् चिङ्, सर्वध्यानाभिज्ञोत्पादाय।

16. मूल, अविधमनतायै भोट, स्ग्रुब् पर्, सिद्धये।

17. मूल, संप्रत्यवेक्षणातायै। भोट, नोद् पर्, प्राप्तये।

करना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण अपने सुख का अनध्यवसान रहता है है अर्थात् अपने सुख की तृष्णा नहीं रहती (तथा) अपरिखेद अर्थात् शोक का अभाव रहता है।

96. सद्धर्मपरिग्रह धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब प्राणियों के क्लेशों का नाश होता है।

97. पुण्य संभार धर्मालोकमुख है, उसके कारण (धर्माचरण करने वाला) सव प्राणियो का उपजीव्य (=आश्रय) बन जाता है।

98. ज्ञानसंभार धर्मालोकमुख है, उसके कारण (तथागत के) दश बलों की परिपूर्ति होती है।

99. शमथसंभार (=शांति का संग्रह) धर्मालोकमुख है, उसके कारण तथागत की-समाधियों का लाभ होता है।

100. विदर्शना (=निर्मल अन्तर-दृष्टि) धर्मालोकमुख है, उसके कारण प्रज्ञा के नेत्र का लाभ होता है।

101. प्रतिसंवित् (=विवेकज्ञान) धर्मालोकमुख है, उसके कारण धर्म की दृष्टि प्राप्त होती है।

102. प्रतिशरणावतार (=धर्म में दृढ विश्वास के साथ प्रवेश) धर्मा-लोकमुख है, उसके कारण बुद्धचक्षु की परिशुद्धि होती है।

103. धारणी-प्रतिलंभ धर्मालोकमुख है, उसके कारण सव बुद्ध वचनों के धारण करने की शक्ति होती है।

104. प्रतिभानप्रतिलंभ (=प्रतिभाप्राप्ति) धर्मालोकमुख है, उसके कारण सव प्राणियो के सुभाषितों में संतोष का भाव रहता है।

105. —(क) आनुलोमिक धर्मज्ञानक्षांति (=धर्मज्ञान से उत्पन्न पाप कर्म नाश करने वाली विशेष प्रकार की मन की चेतना) धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब बुद्ध धर्मों के साथ (साधक की) अनुलोमनता (=अनुकूलता) वनी रहती है। —(ख) अनुत्पत्तिक धर्मक्षांति धर्मालोकमुख है, उसके कारण व्याकरण (=भविष्यद्वाणी करने का वल) प्राप्त होता है।

106 अवैवर्तिकभूमि (=समाधि में प्राप्त हुई भूमि से पीछे न लौटने की अवस्था) धर्मालोकमुख है, =36क= उसके कारण सव बुद्धधर्मों की परि-पूर्ति होती है।

107 भूमेर्भूमि (–36–) संक्रान्तिज्ञान (=एक समाधि की भूमि से दूसरी समाधि की भूमि में जाने का ज्ञान) धर्मालोकमुख है, उसके कारण सर्वज्ञ (=तथागत) के ज्ञान से अभिषेक (=स्नान) होता है।

108. अभिषेकभूमि धर्मालोकमुख है, उसके कारण अवक्रमण (=गर्भवास), जन्म, अभिनिष्क्रमण (=गृहत्याग), दुष्करचर्या (=कृच्छ्र तपस्या), बोधिमण्डोप-संक्रमण (=बोधिवृक्ष के नीचे जाकर आसन लगाना), मारध्वंसन (=कामविजय), बोधिविबोधन (=बुद्धत्वप्राप्ति), धर्मचक्रप्रवर्तन, तथा महापरिनिर्वाण (इन नौ बातों का) ठीक-ठीक दर्शन वा साक्षात्कार होता है।

7. हे मार्षो, ये वे एकसौ आठ धर्मालोकमुख है, जिन्हे बोधिसत्त्व को देवसभा मे अवतार की घडी आने के समय ठीक-ठीक प्रकाशित करना चाहिए।

8. हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व के द्वारा इस धर्मालोकमुख (नामक) परिवर्त (=अध्याय) के निर्देश किये जाने पर उस देवसभा में चौरासी हजार देवपुत्रों के चित्त अनुत्तर सम्यक् संबोधि मे उत्पन्न हुए। पूर्व (जन्मों में) परिकर्म (बोधि-प्राप्त में उपयोगी धर्मकृत्य) कर चुकने वाले बत्तीस हजार देवपुत्रों को अनुत्पत्तिक धर्मों मे क्षान्ति का लाभ हुआ। छत्तीस खर्व[18] देवपुत्रोंको विरज (=रजो-हीन), विगतमल (=निर्मल) धर्म में विशुद्ध चक्षु (का लाभ) हुआ। तथा सब ओर तुषित लोक का श्रेष्ठ भवन घुटनों तक दिव्य पुष्पों से ढक गया।

9. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व ने उस देव सभा को =36ख= और भी अधिक हर्षित करने के लिए उस समय ये गाथायें कहीं—

(॥ आर्याछन्दोमयी गाथाएँ ॥)

तुषितवरभवननिलयाद् यदा च्यवति नायक. पुरुषसिंह.।
आमन्त्रयते देवान् प्रमादमखिलं विसर्जयत ॥५४॥[19]

जब तुषित (लोक) के श्रेष्ठ भवन (रूपी) निलय (=आलय) से पुरुषसिंह नायक (पृथिवीपर) अवतार लेते है (तब) देवताओं से कहते है कि संपूर्ण प्रमाद छोड़ दो।

या काचि रतिवियूहा दिव्या मनसा विचिन्तिता श्रीमान्।
सर्वशुभकर्महेतो फलमिदं शृणुरस्य कर्मस्य ॥५५॥[20]

- जो दिव्य रतिव्यूह (=आनन्दसमूह) मन से सोचा हुआ श्रीसंपन्न हो सकता

18 मूल, षट्त्रिंशतेश्च देवपुत्रनयुतानाम्। भोट, ल्ह हि. बु ब्ये ब सुम् चु चं. द्रुग्, षट्त्रिंशतो देवपुत्रकोटीनाम्।

19. यह गाथा शुद्ध सस्कृत के समान ही है। केवल च्यवति के स्थान में च्यवते कर देने से ही संस्कृत छाया हो जायेगी।

20. संस्कृतच्छाया—यः कश्चिद् रतिव्यूहो दिव्यो मनसा विचिन्तितः श्रीमान्। सर्वः शुभकर्महेतोः फलमिदं शृणुतास्य कर्मणः।

है, (वह) सब शुभ कर्म के कारण होता है, (इसलिए) इस कर्म के इस फल को सुनो।

तस्माद् भवत कृतज्ञा स[21] पूर्वशुभसंचयं क्षपित्वेह।
मा गच्छत पुनरपायानसाध्वसुखवेदना यत्र ॥५६॥[22]

इसलिए कृतज्ञ रहना, यहां उस पहले के शुभ (=पुण्य) के संचय को खतम कर फिर (उन) नरकों में न जाना जहां कि असाधु तथा असुख वेदनाएँ (=अनुभूतियां) होती है।

धर्मश्च यः श्रुतोऽयं ममान्तिके गौरवमुपजनेत्वा।
तत्र प्रतिपद्यथा. प्राप्स्यथ नियतं सुखमनन्तम् ॥५७॥[23]

मेरे पास श्रद्धा उपजा कर जो यह धर्म सुना है, उसमें प्रतिपत्ति करो अर्थात् लगन लगाओ, निश्चय ही अनंत सुख मिलेगा।

सर्वमनित्य कामा अध्रुवं न च शाश्वता सुपिन[24] कल्पाः।
(-37-) मायामरीचिसदृशा विद्युत्फेनोपमा चपलाः ॥५८॥[25]

सब काम अनित्य, अध्रुव (=न टिकने वाले), स्वप्न के समान निरंतर न रहने वाले, माया (=इन्द्रजाल) तथा मृग-मरीचिका जैसे (असत्), विद्युत् (=बिजली की चमक) तथा फेन के तुल्य चंचल होते है।

न च कामगुणरतीभिः तृप्तिर्लवणोदकं यथा पीत्वा।
ते तृप्त येष प्रज्ञा आर्या लोकोत्तरा विरजा ॥५९॥[26]

---

21. मूल, अ०। भोट में केवल स्ङोन् ग्यि, पूर्व यह पाठ है पर मूल में अपूर्व० पाठ है जो निश्चय ही अशुद्ध है। इसके स्थान मे सपूर्व० पढ़ना होगा जो सचेत् के स की भाँति वाक्यालंकार मात्र होकर अर्थ को संगत कर सकेगा।
22. तस्माद् भवत कृतज्ञाः पूर्वकशुभसंचयं क्षपयित्वेह। मा गच्छत पुनरपायान-साध्वसुखं वेदना यत्र ॥56॥ इति च्छाया।
23. धर्मश्च यः श्रुतोऽयं ममान्तिके गौरवमुपजनय्य। तत्र प्रतिपद्यध्वं प्राप्स्यथ नियतं सुखमनन्तम् ॥57॥ इति च्छाया।
24. मूल, अपि न। पाठान्तर, सुपिन। भोट, मि लम्, स्वप्न, सुपिन। भोट से पाठान्तर का समर्थन होता है तथा अर्थसंगति भी बैठती है।
25. सर्वेऽनित्याः कामा अध्रुवा न च शाश्वता. स्वप्नकल्पा.। मायामरीचिस-दृशा विद्युत्फेनोपमाश्चपला. ॥58॥ इति च्छाया।
26. न च कामगुणरतिभिस्तृप्तिर्लवणोदकं यथा पीत्वा। ते तृप्ता येषां प्रज्ञार्या लोकोत्तरा विरजस्का ॥59॥ इति च्छाया।

काम के गुणों की रतियों (=भोगों) से खारे पानी के पीने के समान तृप्ति नहीं होती। जिनकी प्रज्ञा श्रेष्ठ, लोकोत्तर, तथा रजोहीन होती है, वे तृप्त रहते हैं।

नटरङ्ग[27] तुल्यकल्पाः संगीति च अप्सरोभि संवासः।
अन्योन्यगम (न) युक्ता यथैव सामायिका[28] ऽऽसं[29] च ॥६०॥[30]

अप्सराओं के साथ विहार तथा संगीत तुलना में नटों के रंग (=कला-कौशल देखने वालों के जमघट) के समान है। सामाजिक (=खेलकूद के जमावड़े के प्रेमी) आ जाते हैं, बैठक जम जाती है, बैठक ढीली पड़ जाती है, सामाजिक चले जाते हैं—यों सामाजिकों तथा बैठक का एक-दूसरे कारण जमना या उखड़ना होता है। =37क=

न च संस्कृते सहाया न मित्रज्ञातीजनो च परिवाराः।
अन्यत्र कर्म सुकृतादनुबन्धति पृष्ठतो याति ॥61॥[31]

सुकृत कर्म को छोड़कर और कोई न साथ देता न पीछे जाता है। संस्कृत अर्थात् इस बनावटी दुनिया का साथी भी नहीं, मित्र, जाति-भाई, और परिवार भी नहीं।

तस्मात् सहित समग्रा अन्योन्यं मैत्रचित्त हितचित्ताः।
धर्मचरणं चरेथाः सुचरितचरणा न तप्यन्ते ॥62॥[32]

इसलिए एक साथ एक होकर, एक दूसरे के प्रति मैत्री का भाव मन में रख कर, हित का भाव हृदय में कर, धर्म का आचरण करो, सुचरित का आचरण करने वाले (दुःख से) नहीं तपते।

27. मूल, न तरङ्ग०, यह अत्यन्त प्रामादिक पाठ है। जान पड़ता है कि लेखक ने टकार के स्थान में तकार लिख डाला है। भोट, गर् म्खिन् ल्तद् मो, नटरङ्ग।
28. मूल, सामायि (=सामाजि) भोट, ह.-दुस् प दग्, समाजः।
29. मूल, कामं (=कर्म)। भोट, ख्रि लस् सु, आसनकर्म। सामाजिकासं पाठ सामायिकामं के स्थान पर ठीक होगा।
30. नटरङ्गतुल्यकल्पाः संगीतिश्चाप्सरोभिः संवासः। अन्योन्यगमनयुक्ता यथैव सामाजिका आसनं च ॥60॥ इति च्छाया।
31. न च संस्कृते सहायो न मित्रज्ञातिजनश्च परिवारः। अन्य. कर्मणः सुकृताद् अनुबन्धाति पृष्ठतो याति ॥61॥ इतिच्छाया।
32. तस्मात् सहिताः समग्रा अन्योन्यं मैत्रचित्ताः हितचित्ताः। धर्मचरणं चरेत सुचरितचरणा न तप्यन्ते ॥62॥ इतिच्छाया।

बुद्धमनुस्मरेथा धर्मं संघं तथाप्रमादं च ।
श्रुतशीलदाननिरता क्षान्त्या सौरभ्य संपन्नाः ॥63॥[33]

श्रुत अर्थात् धर्म तथा विद्या के श्रवण, शील तथा दान में रमे रहकर, क्षमा से तथा संयम से युक्त होकर, बुद्ध, धर्म तथा संघ और अप्रमाद (= सावधानता) का अनुस्मरण करो ।

दुःखमनित्यमनात्मा निरीक्षथा योनिसो इमा धर्मा ।
हेतुप्रत्यययुक्ता वर्तन्तेऽस्वामिका[34] जडा बुद्धया[34] ॥64॥[35]

ठीक-ठीक देखो, ये धर्म दुःख, अनित्य, अनात्म, हेतु-प्रत्यययुक्त, स्वामि-रहित तथा बुद्धि से जड है ।

या काचि ऋद्धि मह्यं पश्यर्त प्रतिभां च ज्ञानगुणतां[36] च ।
सर्व शुभकर्महेतोः शीलेन श्रुतेन चाप्रमादेन ॥65॥[37]

मुझ में जो कोई ऋद्धि, प्रतिभा, ज्ञान तथा गुण देख रहे हो (वह) सब शुभ कर्म के कारण है, तथा शील, श्रुत (= विद्या) और अप्रमाद के कारण है ।

अनुशिष्यध्वं मह्यं शीलेन श्रुतेन चाप्रमादेन ।
दानदमसंयमेना सत्त्वार्थं हितार्थं मित्रार्थः ॥66॥[38]

प्राणियों के प्रयोजन के लिए, हित के लिए, मैत्री के लिए, मेरे शील, श्रुत (= ज्ञान, विद्या), अप्रमाद, दान, दम, तथा संयम से सीखो ।

न च वाक्यरुतरवेणा शक्याः संपादितुं कुशलधर्मान् ।
प्रतिपत्तिमारभेथा यथा च वदथा तथ करोथा ॥67॥[39]

33. बुद्धमनुस्मरेत धर्मं संघं तथा प्रमादं च । श्रुतशीलदाननिरताः क्षान्त्या सौरत्य संपन्नाः ॥63॥ इतिच्छाया । सूरतस्य कारुणिकस्य भावः सौरत्यम् ।

34....34. मूल, जडाबुद्धया (= जडा बुद्धया) । भोट, बेम्स् पोर् ग्युर् ब यि, जडीभूताः, जड हुए ।

35. दुःखा अनित्या अनात्मानः (इति) निरीक्षध्वं योनिशः, इमे धर्माः । हेतु-प्रत्यययुक्ता वर्तन्तेऽस्वामिका जडा बुद्धया ॥64॥ इति च्छाया ।

36. मूल, ०गुणतां । भोट, द्बङ्, वशितां ।

37. या काचिद् ऋद्धिर्मम पश्यथ प्रतिभां च ज्ञानं गुणतां च । सर्वं शुभकर्महेतोः शीलेन श्रुतेन चाप्रमादेन ॥65॥ इति च्छाया ।

38. अनुशिष्यध्वं (यूयं) मम शीलेन श्रुतेन चाप्रमादेन दानदमसंयमेन सत्त्वर्थं हितार्थं मैत्र्यर्थम् ॥66॥ इति च्छाया ।

39. न च वाक्यारुतरवेण शक्याः संपादयितुं कुशलधर्माः । प्रतिपत्तिं (=प्राप्त्यु-पायं) आरभध्वं यथा च वदत तथा कुरुत ॥67॥ इति च्छाया ।

कुशल धर्मों की सिद्धि बोलने, कहने तथा चिल्लाने से नहीं हो सकती। प्राप्ति के यत्न का आरम्भ करो और जैसा बोलो वैसा करो।

मा खलु परा =37ख= वकोशं स्वयं यतध्वं सदा प्रयत्नेन।
न च कश्चि कृत्व ददते न चाप्यकृत्वा भवति सिद्धिः ॥68॥[40]

दूसरे को अवसर न दो। अपने आप परिश्रम से जतन करो। कोई दूसरा करके (किसी को) नहीं देता और विना किए सिद्धि नहीं होती।

समनुस्मरथा पूर्वे यद् दुःखं संसारसरत्ति[41] मनुभूतम्। (-३८-)
न च निर्वृती विरागो समनुगतो मिथ्य नियतैव ॥69॥[42]

भली भाँति सुरति करो जो कि दुःख पहले संसार के भीतर आवागमन में भोगा है पर विराग (= रागरहित) निर्वृत्ति (= मुक्ति) न मिली। मिथ्या में (लगने से तो) यह होना ही था।

तस्मात् क्षणं लभित्वा मित्रं प्रतिरूपदेशवासं च।
श्रेष्ठं च धर्मश्रवणं शमेथ रागादिकान् क्लेशान् ॥70॥[43]

इसलिए क्षण (= सु-अवसर), मित्र, अनुकूल देश तथा स्थान, एवं श्रेष्ठ धर्म-श्रवण का लाभ पाकर राग आदि क्लेशों को शान्त करो।

मानमददर्पविगताः[44] सदार्जवा मन्दवाश्च[44] अशठाश्च।
निर्वाणगतिपरायण युज्यत मार्गाभिसमयाय ॥71॥[45]

40. मा खलु परावकाशं (उचिता क्रियात्राध्याहार्या) स्वयं यतध्वं सदा प्रयत्नेन। न च कश्चित् कृत्वा दत्ते न चाप्यकृत्वा भवति सिद्धिः ॥68॥ इति च्छाया।

41. मूल, संसारगिरम्। भोट, ह्-खोर् बर् ह्-खोर् छे, संसारे संसरणकाले। पाठ संसारसरणि करके परवर्ती अनुभूतम् से पूर्व मुखसुखार्थ मकारागम करके यहाँ काम चलाना होगा। अर्थ—संसारे सरति सति, संसार में संसरण के समय।

42. समनुस्मरत पूर्वं यद् दुःखं संसारे सरद्भिरनुभूतम्। न च निर्वृतिविरागा समनुगता मिथ्यायां (इयमवस्था) नियतैव ॥69॥ इति च्छाया।

43. तस्मात् क्षणं लब्ध्वा मित्रम् अनुरूपदेशवासं च। श्रेष्ठं च धर्मश्रवणं शमयेध्वं रागादिकान् क्लेशान् ॥70॥ इति च्छाया।

44....44. मूल, सदार्जवामन्दवाश्च (= सदा आर्जवा मन्दवाश् च)। पूरा चरण भोट में, तंग् तु मनेन् शिङ् द्रङ् ल ग्यो मेद् चिङ्, सदा स्निग्धा ऋजवोऽशठाश्च। मन्दव, पालि मद्दव, संस्कृत मार्दव। मन्दव के स्थान पर पाठान्तर मार्दव है जो अपसंस्कृत को संस्कृत बनाने का प्रयास है।

45. मानमददर्पविगताः सदार्जवा मार्दवाश्चाशठाश्च। निर्वाणगतिपरायणा युज्यध्वं मार्गाभिसमयाय ॥71॥ इति च्छाया।

मान, मद (= मतवालापन), दर्प (= घमंड) से रहित हो, सदा सीधे-सादे, कोमल, एवं अशठ (= छल से रहित) हो, निर्वाण की गति में तत्पर हो (आर्य-) मार्ग के साक्षात्कार के लिए योग करो।

मोहकलुषान्धकारं प्रज्ञाप्रदीपेन विधमथा सर्वं।
सानुशयदोषजालं विदारयत ज्ञानवज्रेण ॥72॥[46]

प्रज्ञा के प्रदीप से मोह के काले अन्धकार को दूर करो। ज्ञान के वज्र से अनुशयो अर्थात् वासनाओं के साथ दोष-समूह को फाड़ डालो।

किमपि सुबहु वदेयं धर्मं युष्माकमर्थसंयुक्तं।
न च तत्र वतिष्ठेथा न तत्र धर्मस्य अपराधः ॥73॥[47]

और बहुत अधिक क्या कहना। धर्म तुम्हारे लिए अर्थसंयुक्त है अर्थात् तुम्हारे मनोरथों को जुटाने वाला है। (तुम्ही यदि) उस धर्म में स्थिर न रहो तो उसमें धर्म का अपराध नही।

बोधिर्यदा[48] मि प्राप्ता धर्मं च प्रवर्षयेदमृतगामिं।
पुनरपि विशुद्धचित्ता उपेथ वरधर्मश्रवणाय ॥74॥[49]

जब मै बोधि प्राप्त कर लू तथा अमृत को प्राप्त कराने वाले धर्म की वर्षा करूँ कब फिर विशुद्ध चित्त हो श्रेष्ठ धर्म सुनने के लिए (मेरे) पास आना।

॥इति श्री ललितविस्तरे धर्मालोकमुखपरिवर्तो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥

■

46. मोहकलुषान्धकारं प्रज्ञाप्रदीपेन विधमत सर्वम्। सानुशयदोषजालं विदारयत ज्ञानवज्रेण ॥72॥ इति च्छाया।

47. किमपि (= अपि किं) सुबहु वदेयं धर्मो युस्माकमर्थसंयुक्तः। न च तत्रावतिष्ठध्वं न तत्र धर्मस्यापराधः ॥73॥ इति च्छाया।

48. मूल, यया। भोट, गङ् छे, यदा। यदा पाठ से ही अर्थ की संगति बैठती है।

49. बोधिर्यदा मे (मया) प्राप्ता (स्याद्) धर्मं च यदा प्रवर्षयेयामृतगामिनम्। पुनरपि विशुद्धचित्ता उपेत वरधर्मश्रवणाय ॥74॥ इति च्छाया।

॥ ५ ॥

॥ प्रचलपरिवर्ति ॥

मुद्रितग्रन्थ ३८ (पंक्ति १३)—५४ (पंक्ति १७)

मोटग्रन्थ ३७ ख (पंक्ति ७)—४९ ख (पंक्ति ३)

5

॥ प्रचलपरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व ने इस प्रकार उस देवताओं की महासभा को धर्म की कथा से[1] भलीभाँति समझा-बुझा कर[1]. [2]भलीभाँति धीरज बंधा कर,[2], भलीभाँति उत्तेजित कर, भलीभाँति आनन्दित कर, उससे क्षमा मांग कर (उस) मंगल-भाव से युक्त देवसभा से कहा—मार्षों (आदरणीयों), मैं जम्बूद्वीप (= भारतवर्ष) जाऊँगा। मैंने पहले बोधिसत्त्वों की चर्या का आचरण करते हुए प्राणियों को दान, प्रियवचन, अर्थक्रिया (= मनोरथ पूरा करना), तथा समानार्थता (= अपना विशेष स्वार्थ न रख कर सब के स्वार्थ में अपना स्वार्थ समझना) इन (चार) संग्रहवस्तुओं से निमन्त्रित किया है, इसलिए हे मार्षों, (आदरणीयों) यह मेरे लिए ठीक न होगा, यह मेरी अकृतज्ञता होगी, यदि मैं अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि (के विषय) में न समझूँ-बूझूँ।

2. तब वे तुषितकायिक देवपुत्र रोते हुए बोधिसत्त्व के चरणों को पकड़ कर यों कहने लगे। हे सत्पुरुष, यह तुषितभवन तुम से बिछुड़ा (–३९–) न सुहाएगा। तब बोधिसत्त्व ने देवताओं की उस महासभा से कहा कि ये मैत्रेय बोधिसत्त्व तुम्हें धर्म का उपदेश करेंगे। फिर बोधिसत्त्व ने अपने सिर से पट्ट-मौल (= पगडी) को उतार कर[3] बोधिसत्त्व मैत्रेय के[3] सिर पर रख दिया और यों कहा हे सत्पुरुष, मेरे अनन्तर तुम = 38ख = अनुत्तर सम्यक् संबोधि समझो-बूझोगे।

3. तब फिर बोधिसत्त्व ने मैत्रेय बोधिसत्त्व का[4] तुषित (लोक) के श्रेष्ठ

1····1. मूल, संदर्श्य। यह रूप दृश् (=देखना) धातुका नही है प्रत्युत दिश् (उपदेशकरना) धातुका है। संस्कृत न मान अपभ्रंश ही समझना चाहिए। तुलनीय भोट, यङ् दग् पर् बुस्तन, समुपदिश्य।

2····2. मूल, मादाप्य। पाठान्तर, समादाप्य। भोट, यङ् दग् पर् ह्.-जिन् दु बृचुग् सम्यक् घृतौ प्रवेश्य समाधाप्य भलीभाँति धीरज बंधा।

3····3 मूल, बोधिसत्त्वस्य। भोट, बृयङ् छुब् सेमृस् दृपह्., बृयमृस् प हि. बोधिसत्त्वस्य मैत्रेयस्य।

4····4 मूल, तुषितभवने। भोट, दृगह्., ल्दन् ग्यि ग्नस् दम् पर्, तुषितवर-भवने,।

भवन में[4] [5]अभिषेक कर[5] देवताओं की उस महासभा को आमंत्रित किया। हे मार्षो (आदरणीयों), मै किस प्रकार के रूप से माँ की कोख में प्रवेश करूँ। (तब) वहाँ कितने ही बोले, [6]हे मार्षो (आदरणीयों)[6] माणवक (=ब्राह्मणवटु) के रूप से। कितने ही बोले, इन्द्र के रूप से। कितने ही बोले, ब्रह्मा के रूप से। कितने ही बोले, महाराजिक के रूप से। कितने ही बोले, वैश्रवण (=कुबेर) के रूप से। (कितने ही बोले, राहु के रूप से।) [7]कितने ही बोले, गंधर्व के रूप से। कितने ही बोले, किन्नर के रूप से। कितने ही बोले, महोरग (=महासर्प) के रूप से। कितने ही बोले, महेश्वर (=शिव) के रूप से। कितने ही बोले, चन्द्र के रूप से। कितने ही बोले, सूर्य के रूप से। कितने ही बोले, गरुड के रूप से।

4. वहाँ ब्रह्मकायिक देवपुत्र, जिसका नाम उग्रतेजा था, पहले जो ऋषि का जन्म लेकर ब्रह्मलोक को प्राप्त हुआ था, अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को बिना समझे-बूझे जो पीछे न मुडने वाला था, उसने यों कहा। जैसा ब्राह्मणों के मंत्रमय वेदशास्त्र के पाठों में आता है, उस प्रकार के रूप से बोधिसत्व को मां की कोख में प्रवेश करना चाहिए। वह कैसा है। = 39क =श्रेष्ठ, महाकाय, छह दान्तों-वाला, सुवर्ण के जाल जैसे रंग का, अत्यन्त रमणीय, उत्तम लाल रंग के सिर वाला, [8]जिससे फूट-फूट कर रूप टपक रहा हो[8] ऐसा हाथी। [9]वेदशास्त्र तत्वज्ञ ब्राह्मण से ऐसे रूप को सुन कर (अथवा जान कर) बत्तीस (महापुरुष–) लक्षणों से युक्त (बोधिसत्व) होंगे—यह भविष्यवाणी (देवताओं ने) की[9]।

5····5. मूल, अभिनिषद्य, बैठकर। यह पाठ असंगत है भोट, द्बङ् ब्स्कुर् नस्, अभिनिषिच्य, अभिषेक कर।

6 · 6. मूल, मार्षा। भोट में यह पाठ टूटा हुआ है।

7. भोट, ल ल न रे ग्स्र ग्चन् ग्यि ग्ज़ुग् सु, केचिदाहुः। राहुरूपेण। मूल में यह पाठ त्रुटित है।

8····8. मूल, स्फुटितगलितरूपवान्। भोट, ह्.-ग्रम् नस् ज़ग् चिङ् ग्ज़ुग्स् ल्दन्, तटगलितरूपवान्, अथवा गण्डगलितरूपवान्।

9····9. मूल, संदिग्ध है। पाठ यों है एतच्छ्रुत्वा रूपं ब्राह्मणवेदशास्त्रतत्त्वज्ञो व्याकर्पितश्चेतो वै भावी द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतः। भोट, रिग् ब्येद् ब्स्तन् ब्चोस् यङ् दग् म्खस् प यि ब्रम् ज़ेस् (वेदशास्त्रविशाद् ब्राह्मणात्) नंम् प दे ह्.-द्र दे (तदेवं रूप) शेस् नस् (ज्ञात्वा) सुम् चु चं ग्निस् मछन् दङ् ल्दन् (द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतः) ह्.-ग्युर् (भावि=भविता=भविष्यति) शे.स् (इति) यङ् दग् जिद् दु (सम्यक्तया) लुङ् नि स्तोन् पर् ह्.-ग्युर् (व्याकरण-मकार्पुः=व्याकार्पुः) हिन्दी अनुवाद में भोट का सहारा लिया गया है।

5. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व ने जन्म के समय को देख कर, तुषित (लोक) के श्रेष्ठ भवन में रहते-रहते राजा शुद्धोदन के श्रेष्ठ घर में आठ पूर्व निमित्त (=चिह्न) दिखाए। कौन से आठ। जैसे कि वह घर घास-फूस, काटा ठूठियो, तथा रोड़ी-कंकड़ों से रहित, निर्मल, (–40–) भलीभाँति जल छिड़काव कर के झाडा-बुहारा,[10] आकुल (अर्थात् धूलभरी) वायु[10], अन्धकार, रज अर्थात् मिट्टी—करकट से रहित, [11]डांस—मच्छर[11]—मक्खी-पतंगों तथा रेंगने वाले जन्तुओं से विरहित, फूलों से सज्जित, हथेली जैसा समतल हो गया। यह पहला पूर्वनिमित्त प्रकट हुआ।

6. और जो हिमालय पर्वतराज पर रहने वाले, पत्रगुप्त (=पक्षगुप्त) शुक-सारिका, कोकिल, हंस, मयूर, चक्रवाक, कुणाल (=अत्यन्त कूजने वाले हिमवन्त के कोयल) कलविंक (=चटक वा गोरैया) तथा जीवंजीव (=चकोर) आदि रंग-बिरंगे सुन्दर पंखोंवाले, मन को भली लगने वाले, प्रिय बोली बोलने वाले, पक्षिगण थे, =39ख= वे आकर राजा शुद्धोदन के श्रेष्ठ घर में वर्तादियों (=चबूतरों), निर्यूहों (=नागदन्तों अर्थात् भीत की खूँटियों), तोरणो (=द्वार के बाह्य भागों) गवाक्षों (=गोखों अर्थात् हवा-जाली वाले झरोखों) हर्म्यकूटागारों (=महल के सबसे ऊपर के तल पर बने अंटों) तथा प्रासादों (=राजनिवास के योग्य भवनों) के तलों (=छत के खुले आंगनों) पर बैठ कर आनन्दित हो, प्रीति एवं मन के सुख को पा अपनी-अपनी बोली बोलते थे। यह दूसरा पूर्वनिमित्त प्रकट हुआ।

7. और जो राजा शुद्धोदन के रमणीय आरामों में, रमणीय वनों में तथा रमणीय उद्यानों में नाना ऋतुओं पर फलने-फूलने वाले नाना प्रकार के फूल-फल के वृक्ष थे, वे सब [12]कलियों तथा फूलों से युक्त हो गये[12]। यह तीसरा पूर्व निमित्त प्रकट हुआ।

10....10. मूल, अनाकुलवात०। यह प्रामादिक पाठ है। यहाँ पाठान्तर आकुलवात है, वही ठीक है। भोट, लुँङ् दुँल् चन्, धूलियुक्तवात। यह आकुलवात का अभिप्रायानुवाद जान पड़ता।

11....11. मूल, दंशक,। पाठान्तर दंशमशक। यहाँ भोट में चार उडने वाले क्षुद्र जन्तु हैं स्ब्रङ् म (भ्रमर) दङ्, श स्ब्रङ् (=मांसमक्षिका=दंश) दङ्, स्ब्रङ् बु (=मक्षिका) दङ् प्ये म लेब् (=चित्रपतंग तितली) दङ्।

12....12. मूल, संपुष्पिताः संकुसुमिता आरवन्। भोट, ख ह्.-बुस् शिङ् मे तोग् ग्यस् पर् गयुर् ते, कुड्मलिताः पुष्पिता अभूवन्। इसी पाठ को यहाँ

भवन में[4] [5]अभिषेक कर[5] देवताओं की उस महासभा को आमंत्रित किया। हे मार्षो (आदरणीयों), मैं किस प्रकार के रूप से माँ की कोख में प्रवेश करूँ। (तब) वहाँ कितने ही बोले, [6]हे मार्षो (आदरणीयों)[6] माणवक (=ब्राह्मणवटु) के रूप से। कितने ही बोले, इन्द्र के रूप से। कितने ही बोले, ब्रह्मा के रूप से। कितने ही बोले, महाराजिक के रूप से। कितने ही बोले, वैश्रवण (=कुबेर) के रूप से। (कितने ही बोले, राहु के रूप से।) [7]कितने ही बोले, गंधर्व के रूप से। कितने ही बोले, किनर के रूप से। कितने ही बोले, महोरग (=महासर्प) के रूप से। कितने ही बोले, महेश्वर (=शिव) के रूप से। कितने ही बोले, चन्द्र के रूप से। कितने ही बोले, सूर्य के रूप से। कितने ही बोले, गरुड के रूप से।

4. वहाँ ब्रह्मकायिक देवपुत्र, जिसका नाम उग्रतेजा था, पहले जो ऋषि का जन्म लेकर ब्रह्मलोक को प्राप्त हुआ था, अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को बिना समझे-बूझे जो पीछे न मुडने वाला था, उसने यों कहा। जैसा ब्राह्मणों के मंत्रमय वेदशास्त्र के पाठों में आता है, उस प्रकार के रूप से बोधिसत्व को मां की कोख में प्रवेश करना चाहिए। वह कैसा है। =39क =श्रेष्ठ, महाकाय, छह दान्तों-वाला, सुवर्ण के जाल जैसे रंग का, अत्यन्त रमणीय, उत्तम लाल रंग के सिर वाला, [8]जिससे फूट-फूट कर रूप टपक रहा हो[8] ऐसा हाथी। [9]वेदशास्त्र तत्वज्ञ ब्राह्मण से ऐसे रूप को सुन कर (अथवा जान कर) बत्तीस (महापुरुष—) लक्षणों से युक्त (बोधिसत्व) होंगे—यह भविष्यवाणी (देवताओं ने) की[9]।

5····5. मूल, अभिनिपद्य, बैठकर। यह पाठ असंगत है भोट, द्बङ् ब्स्कुर् नस्, अभिनिषिच्य, अभिषेक कर।

6 ·· 6. मूल, मार्षा। भोट में यह पाठ टूटा हुआ है।

7. भोट, ल ल न रे स्ग्र ग्चन् ग्यि ग्ज़ुग् सु, केचिदाहुः। राहुरूपेण। मूल में यह पाठ त्रुटित है।

8····8. मूल, स्फुटितगलितरूपवान्। भोट, ह्-ग्रम् नस् ज़ग् चिङ् ग्ज़ुग्स् ल्दन्, तटगलितरूपवान्, अथवा गण्डगलितरूपवान्।

9····9. मूल, संदिग्ध है। पाठ यों है एतच्छ्रुत्वा रूपं ब्राह्मणवेदशास्त्रतत्वज्ञो व्याकर्पितश्चेतो वै भावी द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतः। भोट, रिग् ब्येद् ब्स्तन् ब्चोस् यङ् दग् म्खस् प यि ब्रम् ज़ेस् (वेदशास्त्रविज्ञाद् ब्राह्मणात्) नंम् प दे ह्-द्र दे (तदेवं रूपं) शेस् नस् (ज्ञात्वा) सुम् चु चं ग्निस् मछन् दङ् ल्दन् (द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतः) ह्-ग्युर् (भावि=भविता=भविष्यति) शेस् (इति) यङ् दग् जिद् दु (सम्यक्तया) लुङ् नि स्तोन् पर् ह्-ग्युर् (व्याकरण-मकार्पुः=व्याकार्पुः) हिन्दी अनुवाद में भोट का सहारा लिया गया है।

5. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व ने जन्म के समय को देख कर, तुषित (लोक) के श्रेष्ठ भवन में रहते-रहते राजा शुद्धोदन के श्रेष्ठ घर में आठ पूर्व निमित्त (=चिह्न) दिखाए। कौन से आठ। जैसे कि वह घर घास-फूस, काटा ठूठियों, तथा रोड़ी-कंकड़ों से रहित, निर्मल, (–40–) भलीभाँति जल छिड़काव कर के झाड़ा-बुहारा,[10] आकुल (अर्थात् धूलभरी) वायु[10], अन्धकार, रज अर्थात् मिट्टी–करकट से रहित, [11]डांस–मच्छर[11]—मक्खी-पतंगों तथा रेंगने वाले जन्तुओं से विरहित, फूलों से सज्जित, हथेली जैसा सलोतर हो गया। यह पहला पूर्वनिमित्त प्रकट हुआ।

6. और जो हिमालय पर्वतराज पर रहने वाले, पत्रगुप्त (=पक्षगुप्त) शुक-सारिका, कोकिल, हंस, मयूर, चक्रवाक, कुणाल (=अत्यन्त कूजने वाले हिमवन्त के कोयल) कलविंक (=चटक वा गौरैया) तथा जीवंजीव (=चकोर) आदि रंग-विरंगे सुन्दर पंखोंवाले, मन को भली लगने वाले, प्रिय बोली बोलने वाले, पक्षिगण थे, =39ख= वे आकर राजा शुद्धोदन के श्रेष्ठ घर में वर्तदियों (=चबूतरो), निर्यूहों (=नागदन्तों अर्थात् भीत की खूँटियों), तोरणो (=द्वार के वाह्य भागों) गवाक्षों (=गोखों अर्थात् हवा-जाली वाले झरोखों) हर्म्यकूटागारों (=महल के सबसे ऊपर के तल पर बने अंटों) तथा प्रासादों (=राजनिवास के योग्य भवनो) के तलों (=छत के खुले आंगनो) पर बैठ कर आनन्दित हो, प्रीति एवं मन के सुख को पा अपनी-अपनी बोली बोलते थे। यह दूसरा पूर्वनिमित्त प्रकट हुआ।

7. और जो राजा शुद्धोदन के रमणीय आरामों मे, रमणीय वनों में तथा रमणीय उद्यानों में नाना ऋतुओं पर फलने-फूलने वाले नाना प्रकार के फूल-फल के वृक्ष थे, वे सब [12]कलियों तथा फूलों से युक्त हो गये[12]। यह तीसरा पूर्व निमित्त प्रकट हुआ।

10····10. मूल, अनाकुलवात०। यह प्रामादिक पाठ है। यहाँ पाठान्तर आकुलवात है, वही ठीक है। भोट, लुङ् दुल् चन्, धूलियुक्तवात। यह आकुलवात का अभिप्रायानुवाद जान पड़ता।

11····11. मूल, दंशक,। पाठान्तर दंशमशक। यहाँ भोट में चार उड़ने वाले क्षुद्र जन्तु हैं स्ब्रङ् म (भ्रमर) दङ्, श स्ब्रङ् (=मांसमक्षिका=दंश) दङ्, स्ब्रङ् बु (=मक्षिका) दङ् पये म लेब् (=चित्रपतग तितली) दङ्।

12····12. मूल, संपुष्पिता: संकुसुमिता आरवन्। भोट, ख ह्‌-बुस् शिङ् मे तोग् ग्यस् पर् ग्युर् ते, कुड्मलिता: पुष्पिता अभूवन्। इसी पाठ को यहाँ माना गया है।

8. और जो राजा शुद्धोदन के जलोपभोग करने की पुष्करणियां थी, वे सब छकड़े के चक्के जैसे प्रमाण वाले अनेक कोटि-खर्ब-शतसहस्र पत्रों वाले पद्मों से छा गये। यह चौथा पूर्वनिमित्त प्रकट हुआ।

9. और जो राजा शुद्धोदन के श्रेष्ठ भवन में पात्रों में रखे हुए घी, तेल, मधु, फाणित (=राब), शर्करा आदि थे, वे भोग किए जाने पर भी कम न होने लगे, भरे-पूरे ही दीखने लगे। यह पाचवा पूर्वनिमित्त प्रकट हुआ।

10. और जो राजा शुद्धोदन के श्रेष्ठ भवन के प्रधानभूत महान् अन्तःपुर में भेरियाँ (=नक्कारे), मृदंग, पणव (=ढोल), तूणव (=विशेष प्रकार के हुडुक), =40क= वीणाएँ, वेणु, वल्लकी[13], संपताड (=लम्बे-लम्बे मृदंग[14]) आदि थे वे सब बिना बजाये ही मनोहर शब्द करते थे। यह छठा पूर्वनिमित्त प्रकट हुआ।

11. (–41–) और जो राजा शुद्धोदन के प्रधान श्रेष्ठ भवन में सोने-चाँदी, मोती-माणिक, शंख-नीलम, मूंगे-मनसिल[15] के पात्र थे, वे सबके सब, सब प्रकार से (अपने स्वरूप में) प्रकट, निर्मल, विशुद्ध तथा परिपूर्ण ही शोभा देते थे। यह सातवाँ पूर्वनिमित्त प्रकट हुआ।

12. वह भवन, विमल, विशुद्ध, चन्द्रमा तथा सूर्य को लज्जित करने वाली, काय और चित्त के उद्बिल्य अर्थात् आह्लाद को उत्पन्न करने वाली प्रभा द्वारा सब ओर से चमकने लगा था। यह आठवाँ पूर्वनिमित्त प्रकट हुआ।

13 और माया देवी स्नान कर, अंगो में अनुलेपन लगा, भुजाओं को विविध प्रकार के आभूषणों से सजा, अत्यत कोमल, सुरम्य, श्रेष्ठ वस्त्र धारण कर, प्रीति, प्रमोद, प्रसाद (=प्रसन्नता) को प्राप्त कर, दस सहस्र स्त्रियों से घिरी एवं आगे की हुई, संगीतिप्रासाद में सुख से बैठे राजा शुद्धोदन के पास जा, दाहिनी ओर =40ख= रत्न के जड़ाऊ भद्रासन पर बैठ कर, मुसकराती हुई, बिना बाँकी भौंहे किये हसीले चेहरे से राजा शुद्धोदन से इन गाथाओं द्वारा कहा—

(माया देवी की याचना गाथाएँ)

(वसन्ततिलका छन्द)

साधो शृणुष्व मम पार्थिव भूमिपाला
याचामि ते नृपतिरद्य वरं प्रयच्छ।

13. मूल के वल्लकी के लिए भोट में र्ग्युद् सुम् प त्रितन्त्री शब्द है। तदनन्तर वहाँ ह.-खर् व हि. सिल् खोल् (? मुद्गरघंटा) शब्द है।

14. मूल के संपताड के लिए भोट में फेग् र्दोब् शब्द है, जो लंबे मृदंग के अर्थ का वाचक है।

15. मूल, शिला। भोट मन्-शेल्, मनः शिला।

अभिप्रायु मह्य यथ चिन्तमनः प्रहर्षं
तन्मे शृणुष्व भव प्रीतमना उदग्रः ॥75॥

हे सज्जन पृथिवी के पालक राजन्, मेरी (प्रार्थना) सुनो, हे नरपति, आप से याचना करती हूँ, (मुझे) वर दो। मेरी जो मन.कामना है (मेरे) मन में जो चिन्तन और आनन्द हो रहा है वह मुझसे सुनो (और) मन मे प्रीतिमान् (एव) उदग्र (=प्रमुदित) हो जाओ।

गृह्णामि देव व्रतशीलवरोपवासं
अष्टांगपोषधमहं जगि मैत्रचित्ता।
प्राणेषु हिंसविरता सद शुद्धभावा
प्रेमं यथात्मनि परेषु तथा करोमि ॥76॥

हे देव! मैं आठ अंगो वाले उपोसथ के शीलव्रत एवं श्रेष्ठ उपवास को ग्रहण कर रही हूँ। (क) जगत् के प्रति चित्त में मैत्री की भावना से युक्त, प्राणियों की हिंसा से विरत, सदा शुद्ध भाव रखती हुई, जैसे अपने से वैसे ही औरों से प्रेम मुझे करना है।

स्तैन्याद् विवर्जितमना मदलोभहीना
कामेषु मिथ्य नृपते न समाचरिष्ये।
सत्ये स्थिता अपिशुना परुषप्रहीणा
संधिप्रलापमशुभं न समाचरिष्ये ॥77॥

(ख) चोरी से मन को मना करती हुई, मद तथा लोभ से रहित हो, (ग) हे नरपाल, (मैं) काममिथ्याचार न करूँगी। (घ) सत्य में स्थिर, (ङ) पिशुनता (=पीठ पीछे बुराई करने के भाव) से हीन, (च) पुरुष (=रूखे वचनों) से रहित, अशुभ (छ) संधिप्रलाप (=संभिन्नप्रलाप निरर्थक कथा वार्ता) के (कहने-सुनने का) आचरण न करूँगी।

व्यापाददोषखिलमोहमदप्रहीणा
सर्वा अभिध्यविगता स्वधनेन तुष्टा।
सम्यक्प्रयुक्त अकुहानिलया अनीष्यु
कर्मा यथा दश इमे कुशला चरिष्ये ॥78॥

(ज) व्यापाद (=अहितेच्छा) दोष (=द्वेष) खिल (=चित्त की कठोरता) मोह, मद (आदि दोषों) से रहित, (झ) अपने धन से सन्तुष्ट हो सब प्रकार की अभिध्या (=परवस्तु के लोभ) से दूर हो, (ञ) सम्यक् प्रयुक्त अर्थात् मिथ्यादृष्टि से वियुक्त, अकुह (=निश्छल), अनिलय (=अनासक्त) तथा ईर्ष्या से रहित

हो, ये दश (=च से ञ पर्यन्त गिने हुए) कुशल कर्म जैसे (हैं वैसे उनका) आचरण करूँगी।

मा त्वं नरेन्द्र मयि कामतृषां कुरुस्व
शीलव्रतेष्वभिरताय सुसंवृताय।
मा ते अपुण्य नृपते भवि दीर्घरात्रं
अनुमोदयाहि मम शीलव्रतोपवासं ॥79॥

हे नरेन्द्र! शीलव्रतो मे रमी हुई, सुसंवृत (=धर्मार्थ व्रत संयम ग्रहण कर चुकने वाली) मुझमे तुम कामतृष्णा न करो। हे नरपाल! कहीं ऐसा न हो कि चिरकाल तक तुम्हे पाप लगे। मेरे शीलव्रत तथा उपवास का अनुमोदन करो। =41क=

छन्दो ममेष नृपते प्रविशाद्य शीघ्रं
प्रासादहर्म्यशिखरे स्थित धार्तराष्ट्रे।
सखिभिः सदा परिवृत्ता सुख मोदयेयं
पुष्पाभिकीर्णशयने मृदुके सुगन्धे ॥80॥

हे नरपाल! मेरा यह मनोरथ है कि (मैं) आज धार्तराष्ट्र नाम के, राजभवन के शिखर पर स्थित, (महल) में शीघ्र प्रवेश करूँ (और वहाँ पर) सखियों के साथ निरन्तर घिरी रह कर फूलों से सजी कोमल तथा सुगन्धित सेज पर आराम से आनन्द मनाऊँ।

न च कान्चुकीयपुरुषा नपि दारकाश्च
न च इस्त्रि प्राकृत ममा पुरत स्थिहेया।
नो चामनाप मम रूप न शब्दगन्धान्
नान्यत्र इष्टमधुरां शृणुया सुशब्दान् ॥81॥

और मेरे सामने न कचकी लोग हो ठहरे, न लड़के ही और न गँवार स्त्रियां ही। मेरे मन को न भाने वाले रूप, शब्द तथा गन्ध (पास मे) न हों। इष्ट, मधुर, सुन्दर शब्दो के अतिरिक्त (और कुछ मैं) न सुनूँ।

ये रोधबन्धनगताः परिमुञ्च सर्वान्
द्रव्याम्बराश्च[16] पुरुषान् धनिनः कुरुष्व।
वस्त्रान्नपान रथ युग्य तथाश्वयानं
दद सप्तरात्रिकमिदं जगतः सुखार्थम् ॥82॥

16. द्रव्याम्बर शब्द का प्रयोग द्रव्यशून्य के अर्थ में हुआ है। तुलनीय, भोट, नोर् ग्यिस् ब्रेल् वहि. मि नमस्, धनेन हीनान् पुरुषान्।

शोध प्रतिष्ठान

जो (लोग) पकड़े गये हैं [illegible] बन्धन में डाले गये हैं, उन सबको छोड़ दो। वस्त्र, खान-पान, (बैलों से) जुते रथ, तथा घोड़ा-गाड़ियां जगत के सुख के लिए सप्ताह भर दो।

> नो चो विवादकलहा न च रोषवाक्या
> चान्योन्यमैत्रमनसो हित सौम्यचित्ता।
> अस्मिन् पुरे पुरुष इष्टिक[17] दारकाश्च
> देवाश्च नन्दनगताः सहिता रमन्तान् ॥83॥

न तू-तू-मैं-मैं और न लड़ाई झगड़ा रहे, न रोष भरे वचन ही (सुन पड़ें)। एक-दूसरे के प्रति मैत्री का हृदय रखने वाले, हितैषी तथा सौम्यचित्त के पुरुष, स्त्रियाँ[17] तथा बालकगण इस नगर में (वैसे ही) रमण करे (जैसे) नन्दन वन में जाकर देवता साथ-साथ (रमते है)।

> न च राज दण्ड [18]न भटा न तथा कुदण्डा[18]
> नोत्पीडना नपि च तर्जन ताडना वा।
> सर्वान् प्रसन्नमनसो हितमैत्रचित्ता
> वीक्षस्व देव जनतां यथ एकपुत्रं ॥84॥

न राजा दाँड़े, [18]न भट (अर्थात् बड़े राजा के नौकर) और न छोटे राजा के नौकर दांड़े[18]। न सताना, न डाटना-फटकारना वा मारना-पीटना हो। हे देव ! प्रसन्न मन से हित और मैत्री का भाव चित्त में रखकर सब जनता को इकलौते बेटे के समान देखो।

(शुद्धोदन की माया देवी के प्रतिवचन में गाथा)

> श्रुत्वैव राज वचनं परमं उदग्रं
> प्राहास्तु सर्वमिदमेव यथा तवेच्छा।
> अभिप्रायु तुभ्य मनसा स्वनुचिन्तितानि = 41ख =
> यद्याचसे तव वरं तदहं ददामि ॥85॥

राजा ने परम आह्लाद कर वचन को सुनते ही कहा जैसी तुम्हारी इच्छा है, तुम्हारा अभिप्राय है, तुम्हारे मन की अच्छी बातें हैं सब कुछ वैसा ही हो। जो याचना है, उसके लिए मै वर देता हूँ।

17. इष्टिक = स्त्रियां। अपभ्रष्ट इस्त्रिक का यह अपभ्रष्टतर रूप है। तुलनीय भोट, बुद् मेद् दग् स्त्रियः।

18····18. अस्पष्ट पाठ। भोट, छे फ् ग्जेर् ग्यिस् ब्दह. ब, महंदल्पभाण्डागारिकैर्धनाहरणम् (?)।

(राजपुरुषों के प्रति शुद्धोदन की अनुशासन गाथाएँ)

आज्ञाप्य पार्थिक (श्व) वरः स्वकपरिषद्यां
प्रासादश्रेष्ठशिखरे प्रकरोथ ऋद्धि ।
पुष्पाभिकीर्णरुचिरं वरधूपगन्धं
छत्रापताकसमलंकृततालपंक्ति ॥86॥

श्रेष्ठ राजा ने अपने दरबारियों को आज्ञा देकर (कहा) कि प्रासाद के श्रेष्ठ शिखर पर ऋद्धि अर्थात् सजावट करो। (तथा उसे) पुष्पों की चौकों द्वारा सुन्दर, श्रेष्ठ धूप द्वारा सुगन्धित, छत्र, पताकाओं, तथा तालपंक्तियों से समलंकृत (करो)।

विंशत्सहस्त्ररणसोण्डविचित्रवर्मा
नाराचशूलशरशक्तिगृहीतखड्गा ।
परिवारयाथ धृतराज्य[19] मनोज्ञघोषं
देव्याभयार्थकरणा[20] स्थित रक्षमाणा ॥87॥

विचित्र कवच पहने हुए, नाराच (= सम्पूर्ण लोहमय तीर), शूल, शर (= सरकण्डे से बने लोहे के फल वाले तीर), शक्ति (= बर्छी), तथा खड्ग ग्रहण किये हुए, बीस हजार रणचतुर (लोग) धार्तराष्ट्र नामक हंसों के मनोहर घोषयुक्त (राजभवन) को, देवी को निर्भय करने के अर्थ रखवाली करते हुए घेर कर ठहरें।

(व्रतविहारिणी मायादेवी के वर्णन में गाथाएँ)

(–44–) स्त्रीभिस्तु सा परिवृता यथ देवकन्या
स्नातानुलिप्त प्रवराम्बरभूषिताङ्गी ।
तूर्यैः सहस्त्रमनुगीतमनोज्ञघोषैः
आरुह्य देव्युपविशेष[21] मरुत्स्नुषेव ॥88॥

19. मूल, धृतराज्य० । भोट, ग्‌चन् ङङ् स्क्‌य, एक प्रकार का हंस । सम्भवतः धृतराज्य शब्द यहां धार्तराष्ट्र का पर्याय है और इसीलिए भोट में हंस-वाचक शब्द से उसका अनुवाद हुआ है । तुलनीय अमरकोश–राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः । मलिनैर्मल्लिकाक्षास्ते धार्तराष्ट्राः सितेतरैः ।

20. मूल, देव्याभयार्थकरणा । यह पाठ प्रामादिक है । देव्याभयार्थकरणा उचित पाठ होगा । तुलनीय भोट, ल्ह मो ह्‌-जिग्स् प मेद् प ब्य फ्यिर् देवी अभयकरणार्थ ।

21. मूल, उपविशेष चिन्तनीय पाठ है । जान पडता है कि यह उपविवेश का ही अपभ्रष्टतम रूप है । उप-विश् धातु द्वारा यहाँ अर्थ ठीक बैठता है ।

स्नान कर, अनुलेपन लगा, श्रेष्ठ वस्त्रों से अंग को विभूषित कर, स्त्रियों से घिरी हुई, देवकन्या जैसी (वह माया देवी) हजारों वाजों के मनोहर ध्वनि वाले संगीत के साथ (राजभवन पर) चढकर देवताओं की पुत्रवधू के समान विराजमान हुई।

दिव्यैर्महार्थसुविचित्रसुरत्नपादैः
स्वास्तीर्ण पुष्प विविधैः शयने मनोज्ञे।
शयने स्थिता विगलिता-मणिरत्नचूडा
यथ मिश्रकावनगता खलु देवकन्या ॥89॥[22]

दिव्य, वडे दाम के, विचित्र एवं सुन्दर रत्नों के पावों से युक्त, विविध प्रकार के पुष्पों से युक्त, अच्छी तरह विछे हुए, सुन्दर सोने के पलंग पर ढीली-ढीली मणियों और रत्नों की चोटी वाली (माया देवी इस प्रकार) लेटी हुई थी जैसे मिश्रकावण (= मिसरिख वन) में देव कन्या विराजमान हो।

14. हे भिक्षुओं, तदनन्तर चार महाराज, देवताओं के इन्द्र शक्र, सुयाम

भोटानुवाद ग्नस् (= बैठा, बैठी, उपविष्टा, उपविवेश आदि) है। इस प्रकार के अद्भुत अपभ्रंश पाठ की रक्षा होनी चाहिए। इस रूप में विश् धातु के अन्तिम वर्ण का द्वित्व हुआ है तथा एक तालव्य का मूर्धन्य विकार हो गया है। वैद्य ने इस सुन्दर पाठ को उपविवेश वना डाला है, जिसमें कोई प्रमाण नही है।

22. यहाँ 78–89 गाथाओं की संस्कृतच्छाया दी जा रही है—साधो श्रृणु मम पार्थिव भूमिपाल याचे त्वां नृपते अद्य वरं प्रयच्छ। अभिप्रायो मम यथा चिन्तामनःप्रहर्षौ (स्तः सर्वं) तन्मे श्रृणु भव प्रीतमना उदग्रः (= उल्लसितः) ॥75॥ गृह्णामि देवव्रतं शीलवरमुपवासम् अष्टाङ्गोपवसथमहं जगति मैत्रीचित्ता। प्राणेषु हिंसाया विरता सदा शुद्धभावा प्रेम यथात्मनि परेषु तथा करोमि ॥76॥ स्तैन्याद् विवर्जितमना मदलोभहीना कामेषु मिथ्या नृपते न समाचरिष्ये। सत्ये स्थिताऽपिशुना पारुष्यप्रहीणा सभिन्नप्रलापम-शुभं न समाचरिष्ये ॥77॥ व्यापाद-द्वेषखिलमोहमद-प्रहीणा सर्वमिथ्या-विगता स्वधनेन तुष्टा। सम्यक्प्रयुक्ता (=सम्यग्दृष्टियुक्ता) अकुहाऽनिल-याऽनीर्ष्युः कर्माणि यथा दशेमानि कुशलानि चरिष्ये ॥78॥ मा त्वं नरेन्द्र मयि कामतृषं कुरुष्व शीलव्रतेष्वभिरतायां सुसंवृतायाम्। मा ते ऽपुण्यं नृपते भवेद् दीर्घरात्रम् अनुमोदय हि मम शीलव्रतोपवासम् ॥79॥ छन्दो ममैष नृपते प्रविशान्यद्य शीघ्रं प्रासादहर्म्यशिखरे स्थिते धार्तराष्ट्रे। सखीभिः सदा परिवृता सुखं मोदयेयं पुष्पाभिकीर्णशयने मृदुके सुगन्धे ॥80॥ न च कंचु-

तथा सन्तुषित तथा सुनिर्मित तथा परनिर्मितवशवर्ती देवपुत्र, सार्थवाह (नामक) मारपुत्र, सहापति ब्रह्मा, ब्रह्मोत्तर पुरोहित तथा सुब्रह्मा पुरोहित, प्रभाव्यूह तथा आभास्वर, शुद्धावासकायिक = 42क = महेश्वर, निष्ठागत तथा अकनिष्ठ ये तथा अनेक दूसरे शतसहस्र देवता इकट्ठे होकर आपस में यों बोले।

15. हे मार्षो (आदरणीयो), यह ठीक न होगा, यह हमारी अकृतज्ञता होगी, यदि हम बोधिसत्त्व को अकेला, बिना दूसरे (साथी) के छोड़ दें। हे मार्षो, हम लोगों में किसमें उत्साह है जो निरन्तर हित के चित्त से, स्नेहभरे चित्त से, प्रेम भरे चित्त से, सौम्यभाव भरे चित्त से बोधिसत्त्व के साथ-साथ अवक्रमण (अवतार ग्रहण), गर्भवास, जन्म, यौवनभूमि[23], बालक्रीड़ा, अन्तःपुर-

न चामनः प्रीतिकराणि मम रूपाणि न शब्दगन्धाः (पुरतस्तिष्ठेयुः) नान्यान् इष्टमधुरेभ्यः शृणुयां, सुशब्ददान् (एव शृणुयाम्) ॥81॥ ये रोधबन्धनगताः परिमुञ्च सर्वान् द्रव्यशून्यांच पुरुषान् धनिनः कुरु एष। वस्त्रम्, अन्नं, पानं, रथं, युग्यं, रथाश्वयानं देहि सप्तरात्रम् इदं जगतः सुखार्थम् ॥82॥ न च विवादकलहा न च रोषवाक्यानि अन्योन्यमैत्रमनसो हितसौम्यचित्ताः। अस्मिन् पुरे पुरुषाः स्त्रियो दारकाश्च देवाश्च नन्दनगताः सहिता रमन्ताम् ॥83॥ न च राजदण्डः, न भटात् न तथा कुदण्डः, नोत्पीडनं नापि च तर्जनं ताडनं वा। सर्वा प्रसन्नमनाः, हितमैत्रीचितः (सन्) वीक्षस्व देव जनतां यथैकपुत्रम् ॥84॥ श्रुत्वैव राजा वचनं परममुल्लसितं प्राह, अस्तु सर्वमिदमेवम्, यथा तवेच्छा, अभिप्रायस्तव, मनसा स्वनुचिन्तितानि (सन्ति) यं याचसे तुभ्यं वरं तमहं ददामि ॥85॥ आज्ञाप्य पार्थिववरः स्वान् पारिषद्यान् प्रासादश्रेष्ठशिखरे प्रकुरुत ऋद्धिम्। पुष्पाभिकीर्णं रुचिरं वरधूपगन्धं छत्रपताकातालपंक्तिसमलंकृतम् ॥86॥ विंशतिसहस्ररणशौण्डविचित्रवर्मणो गृहीतनाराचशूलशरशक्तिखड्गाः। परिवृणुत धार्तराष्ट्रमनोज्ञघोषं देव्यभयकरणार्थं स्थिता रक्षयन्तः ॥87॥ स्त्रीभिस्तु सा परिवृता यथा देवकन्या स्नातानुलिप्ता प्रवराम्बरभूषिताङ्गी। सूर्यसहस्रैरनुगीतैर्मनोज्ञघोषैरारुह्य देव्युपविवेश मरुत्स्नुषेव ॥88॥ दिव्यैर्महार्घैः सुविचित्रैः सुरत्नैः पादैः स्वास्तीर्णे पुष्पैर्विविधैः शयने मनोज्ञे। शयने स्थिता (= सुप्ता) विगलितमणिरत्नचूडा यथा मिश्रकावणगता खलु देवकन्या ॥89॥

23. मूल, यौवनभूमि। शब्दार्थ पर विवाद कुछ नहीं है। पर जन्म के अनन्तर यौवन भूमि का आना तथा दारकक्रीडा (= बालक्रीडा) का बाद में आना पाठ की साधुता में संदेह उत्पन्न करता है। भोट में योर् वु शब्द इस स्थान में है, जो मुझे स्पष्ट नहीं है। अतः पाठ का निर्णय इस अवस्था में संभव नहीं।

विहार[24], नाटकसंदर्शन, अभिनिष्क्रमण (=गृहत्याग), दुष्करचर्या (=कठोर-तपस्या), बोधिमण्डोपसंक्रमण (=बोधिवृक्ष के नीचे जाना), मारविजय, बोधि-अभिसंबोधन (=सम्यक्संबोधिलाभ), धर्मचक्रप्रवर्तन, तथा महापरिनिर्वाण पर्यन्त रहता रहे।

16. उस समय ये गाथाएँ कही गईं—

(बोधिसत्त्वानुगमनोत्साहवर्धिनी गाथाएँ)

(प्रमिताक्षरा छन्द)

(-45-) को वोत्सहेत[25] वररूपधरं अनुबन्धयितुं सततं प्रीतमनाः।
क:[26] पुण्य तेज[26] =42ख=यशसा[27] वचसा[28]
स्वयमात्मनेच्छति[29] विवद्धयितुं[30] ॥90॥

तुममें कौन प्रीतिमान् मन से श्रेष्ठ-रूप-धारी (बोधिसत्व) के पीछे-पीछे निरन्तर चलने का उत्साही है? कौन स्वयं अपने पुण्य, तेज, यश तथा शक्ति को बढ़ाना चाहता है।

यस्येप्सितं त्रिदशदेवपुरे दिव्यैः सुखैर्हि रमितुं सततं।
परमाप्सरोभिरिह कामगुणैः अनुवद्धितां[31] विमलचन्द्रमुखं ॥91॥

24. मूल, ०अन्तःपुर०। भोट, **ब्चुन् मो हि. ह्.-खोर् ग्यि नङ् न** ब्शुगस् **प,** अन्तःपुरविहार। मूल में लेखक के प्रमाद से विहार शब्द टूटा है।

25. वोत्सहेत=वः उत्सहेत। भोट, **ख्येद् लस्,** वः युष्माकं। भोट में पंचमी विभक्ति है। यह विभक्ति यहाँ संस्कृत की षष्ठी के अर्थ में है।

26....26. मूल, पुण्यतेज। भोट **ब्सोद् नम्स् ग्झि ब्जिद् दङ्** पुण्यं तेजश्च।

27. यशसा=यशः तुलनीय भोट, **ग्रगस् प,** यशः। इस आकारान्त विभक्ति हीन रूप में तृतीया का भ्रम न करना होगा।

28. वचसा=वचः=वर्चः। तुलनीय भोट, **रस्तोब्स्,** वर्चः, बलं, शक्तिः।

29. आत्मनेच्छति=आत्मनं इच्छति। तुलनीय भोट, **रङ् गि,** आत्मनः।

30. विवद्धयितुं। प्राकृत, विवड्ढयितुं। संस्कृत, विवर्धयितुम्। भोट, **नंम् पर् स्पेल् बर्,** विवर्धयितुम्।

31. अनुवद्धिताम्। यह लोट का रूप है। तुलनीय अनुवध्यताम्। भोट, **शुब्स् ह्.-ब्रिङ् ग्यिस्** अनुवध्नातु, अनुयातु। अनु-बन्ध् धातु के अन्यरूप इस संदर्भ में (लेफमन् संस्करण के 45-46 पृष्ठों पर) जो आए हैं वे ये हैं अनुबन्धताम्, अनुवद्धतु, अनुबन्धयताम्। समनुबन्धयताम् यह रूप दो उपसर्ग के साथ भी है।

जिसकी देवताओं के दिव्य नगर में श्रेष्ठ अप्सराओं तथा कामगुणों से युक्त दिव्य सुखों के साथ रमने की इच्छा हो वह निर्मल चन्द्रमा के समान मुख वाले (बोधिसत्त्व) के पीछे-पीछे चले।

तथ मिश्रके वन वरे रुचिरे दिव्याकरे रमितु देवपुरे।
पुष्पोत्करे कनकचूर्णनिमे अनुबन्धतां विमलतेजधरं ॥92॥

इसी प्रकार श्रेष्ठ, सुन्दर, दिव्य (जनों) के उत्पत्ति स्थान, देवताओं के नगर, फूलों के समूह से भरे, सोने के चूर्ण जैसे (जगमगाते) मिश्रकावण (मिस-रिख बन) में रमने की (जिसकी इच्छा हो) वह निर्मल तेज के धनी (बोधिसत्त्व) के पीछे-पीछे चले।

यस्येप्सित रमितु चित्ररथे तथ नन्दने सुरवधूसहितः।
मन्दारवैः कुसुमपत्रचिते अनुबन्धतामिमु महापुरुषं ॥93॥

मन्दार वृक्षों के फूलों तथा पत्तियों से भरे चित्ररथ तथा नन्दनवन में सुरांगनाओं के साथ रमने की जिसकी इच्छा हो वह इस महापुरुष के पीछे-पीछे चले।

पापाधिपत्यमथवा तुषितैरथ वापि प्रार्थयति चेश्वरताम्।
पूजारहो भवितु सर्वजगे अनुबन्धतामिमु अनन्तयशं ॥94॥

जो याम देवताओं का अधिपति होना, अथ वा तुषित देवताओं का अधिपति होना, अथवा ईश्वर होना, अथवा सब संसार में पूजनीय होना चाहता है, वह अनन्तकीर्ति के धनी इस (बोधिसत्त्व) के पीछे-पीछे चले।

यो इच्छति निर्मितपुरे रुचिरे वसवर्तिदेवभवने रमितुं।
[32]मनसैव सर्वमनुभोक्ति[33] क्रिया[32] अनुबन्धतामिमु
गुणाग्रधरम् ॥95॥

जो निर्वाणरति (देवताओं) के सुन्दर पुर में (तथा) परनिर्मितवशवर्ति—देवताओं के भवन में रमना चाहता है (जहाँ कि) मन की क्रिया से ही (प्राणी) सब-कुछ भोगता है, वह श्रेष्ठ गुण के धनी इस (बोधिसत्त्व) के पीछे-पीछे चले।

32…32 मनसैव…क्रिया मनसा एव क्रियया। तुलनीय भोट, यिद् क्यि ह्-फ़ुल् ग्यिस्, मनसः निर्माणेन।

33. अनुभोक्ति = अनुभुज्-ति (वर्तमान काल)। भोक्ति को भुक्ति (भाववाचक) का अपभ्रंश मानना तथा क्रिया के साथ उसका समास मानना प्रामादिक है जैसा कि हा० बु० सं० डि० में माना है। भोट में ल्प्योद् ह्-दोद् प (=अनुभोक्तुमिच्छति) पाठ है। अनुभोक्ति को अनुभोक्तु का प्रतिरूप मानना अधिक उचित है तथा प्रक्रमानुकूल है।

मारेश्वरो न च प्रदुष्टमना सर्वविधैश्वर्यपारगतः ।
कामेश्वरो वशितपारगतो गच्छत्वसौ हितकरेण सह ॥96॥

(जो) दोषरहित मन वाला, सब प्रकार के ऐश्वर्य (=ऋद्धियों में, ईश्वर-भाव) में पारंगत, मारेश्वर (अर्थात् मारकायिक देवताओं का स्वामी) तथा वशिता (अर्थात् दूसरों को वश में करने की शक्ति) में पारंगत कामेश्वर (अर्थात् कामधातु के देवताओं का स्वामी) होना चाहता है, वह हितकारी (बोधिसत्त्व) साथ-साथ जाये ।

तथ कामधातु समतिक्रमितुं मति यस्य ब्रह्मपुरमावसितुम् ।
चतुरप्रमाणप्रभतेजधरः सोद्यानुबद्धतु महापुरुषं ॥97॥

तथा जिसकी मति कामधातु को पार करने की (एवं) ब्रह्मपुर में बसने की है, वह चारों अप्रमाणों (=मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा) की प्रभा और तेज के धनी (इस) महापुरुष के पीछे-पीछे आज से चले ।

अथ वापि यस्य =43क= मनुजेषु मतिवरचक्रवर्तिविषये विपुले ।
रत्नाकरमभयसौख्यददं अनुबन्धतां विपुलपुण्यधरं ॥98॥

अथवा जिसकी मनुष्यों के बीच विशाल एवं श्रेष्ठ चक्रवर्तिराज्य में मति (=मनःकामना) हो, (वह) अभय तथा सुख देने वाले विपुल पुण्य के धनी (इस) रत्नाकर के पीछे-पीछे चले ।

पृथिवीश्वरस्तथापि श्रेष्ठिसुतो आढ्यो महाधनु महानिचयः ।
परिवारवान् निहतशत्रुगणो गच्छत्वसौ हितकरेण सह ॥99॥

और इसी प्रकार (जो) पृथिवी का मालिक, सेठ का बेटा, समृद्ध, महाधनी, महान् संग्रह वाला, शत्रुओं के दल-बल का नाश कर डालने वाले परिवार से युक्त होना चाहता है, वह हितकारी (बोधिसत्त्व) के साथ-साथ जाए ।

रूपं च भोगमपि चेश्वरता कीर्तिर्यशश्च [34]प्रतिभा गुणता[34] ।
आदेयवाक्य भवि प्राह्यरुतो ब्रह्मेश्वरं समुपयातु विदुं ॥100॥

(जो) रूप, भोग, ईश्वरता, कीर्ति, प्रतिभा एवं गुणों को चाहता है तथा अपने वचनों को दूसरों से मनवाने वाला एवं प्रिय वचनों वाला होना चाहता है, (वह) ब्रह्मा के भी ईश्वर (इस) विद्वान् (बोधिसत्त्व) के पास-पास तथा साथ-साथ चले ।

34. वलता के स्थान मे भोट पाठ स्बोवस् बङ् योन् तन् दङ् (=प्रतिभा च गुणता च) है ।

ये दिव्य काम तथ मानुषकां या इच्छती त्रिभवि सर्वसुखम् ।
ध्याने सुखं च प्रविवेकसुखं धर्मेश्वरं समनुबन्धयताम् ॥101॥

जो दिव्य तथा मानुषी कामनाएँ हैं (उन्हें तथा) तीनों लोकों में (जो) सब सुख (है उसे) और ध्यान में (जो) सुख (है उसे तथा) प्रविवेक (=संसार के झंझट से दूर एकान्त) में (जो) सुख (है उसे) जो चाहता है, वह धर्मेश्वर के साथ-साथ पीछे-पीछे चले ।

रागप्रहाणु तथ दोषमपो यो इच्छते तथ किलेशजहं ।
शान्तप्रशान्तउपशान्तमना सो दान्तचित्तमनुयातु लघुं ॥102॥

जो राग का नाश, तथा दोष (=द्वेष) का भी नाश, तथा क्लेशों का नाश चाहता है, वह शान्त, बहुत शान्त, पूर्ण शान्त मन वाले एवं विनीत चित्त वाले (बोधिसत्व) के पीछे-पीछे शीघ्र चले ।

शैक्षा अशैक्ष तथ प्रत्येकजिना सर्वज्ञज्ञानमनुप्रापुरितुं ।
दशभिबलैर्नदितु सिंह इव गुणसागरं समनुयातु विदुं ॥103॥[35]

शैक्ष, अशैक्ष (=अर्हत्), प्रत्येकबुद्ध तथा सर्वज्ञ (=सम्यक्संबुद्ध) के ज्ञान को पाना (एवं) दश (तथागत के) बलों से (युक्त हो) सिंह के समान गरजना जो चाहता है, (वह) गुणों के सागर (इस) विद्वान् के साथ-साथ पीछे-पीछे चले ।

पिथितुं अपायपथ येष मतिर्विवृतुं च पद्गतिपथं ह्यमृतं ।
अष्टांगमार्गगमनेन गतिं अनुबन्धतां गतिपथान्तकरं ॥104॥

जो नरकों की राह बंद करना, सद्गतियों अर्थात् स्वर्गों की राह खोलना, तथा (आर्य) अष्टांगमार्ग पर चलकर अमृत-गति(=निर्वाण) पाना चाहता है (वह) आवागमन के पथ के अन्त करने वाले (इस बोधिसत्व) के पीछे-पीछे चले ।

यो =४३ख= इच्छते सुगतं पूजयितुं धर्मं च तेषु श्रुति[36] कारुणिके ।
प्राप्तो[37] अगुणानपि च संघगतान् गुणसागरं समनुयातु इमं ॥105॥

जो सुगत को पूजना, उन कारुणिक से धर्म को सुनना, तथा संघ में होने वाले गुणों को पाना चाहता है, वह इस गुणसागर के साथ-साथ एवं पीछे-पीछे चले ।

35. अनुप्रापुरितु पालि के अनुपापुणितुं का अपभ्रष्टतर रूप है । यहाँ धातु प्र-आप् है, प्र-आ-पृ नही । भोट, थोब् (=आप्, लभ्, इत्यादि) ।
36. श्रुति = श्रोतुम । यह निर्णय अनुकूलता से किया गया है । भोटानुवाद भी सहायक है—छोस् ञन् ह् दोद् प, धर्मं श्रोतुमिच्छति ।
37. प्राप्तो = प्राप्तुम् । तुलनीय भोट, थोब् पर् ह् दोद् प, प्राप्तुमिच्छति ।

जातिजरामरणदुःखक्षयं संसारबन्धन विमोक्षयितुं ।
चरितुं विशुद्ध गगनान्तसमं [38] सो शुद्धसत्त्वमनुवन्वयताम् ॥106॥

जो जन्म, बुढ़ापा, तथा मरण के दुःख का नाश करना, संसार के बन्धन से (अपने को) छुड़ाना, तथा आकाश के समान निर्मल आचरण करना चाहता है वह शुद्धसत्त्व के पीछे-पीछे चले ।

इष्टो मनाप प्रियु सर्वजगे[39] वररूपलक्षण गुणोपचितः ।[39]
आत्मा परं च तथ मोचयितुं प्रियदर्शनं समुपयातु विदुं ॥107॥

(जो) सब जगत को इष्ट, प्रिय, और मन में पसंद आने वाला, श्रेष्ठ रूप तथा लक्षणों वाला, एवं गुणो में वढ़कर होना तथा अपने-पराए (सब) को मुक्त करना चाहता है, (वह) प्रिय दीखने वाले (इस) विद्वान् के साथ-साथ और पास-पास चले ।

शीलं समाधि तथ प्रज्ञमयी गम्भीरदुर्दर्शदुरोपगमं ।
यो इच्छते विदु विमुक्ति लभे सो वैद्यराजमनुयातु लघुं ॥108॥

जो चाहता है कि (मैं) शील, समाधि, तथा प्रज्ञा से युक्त, गंभीर कठिनाई से साक्षात्कार की जाने वाली, तथा कठिनाई से प्राप्त होने वाली विमुक्ति को पाऊँ, वह (इस) वैद्यराज के पीछे-पीछे शीघ्र चले ।

एते च अन्य गुण नैकविधा उपपत्तिसौख्य तथ निर्वृतिये ।
सर्वैर्गुणेभि प्रतिपूर्णसिद्ध्ये सिद्धव्रतं समनुयातु विदुं ॥109॥

उपपत्ति (अर्थात् संसार में जन्म लेने) के सुख के तथा निर्वृति (अर्थात् मोक्ष) के ये तथा अन्य अनेक प्रकार के गुण हैं । सब गुणों के साथ परिपूर्णसिद्धि जो चाहता है, (वह) सिद्धव्रती विद्वान् के साथ-साथ तथा पीछे-पीछे चले । इति ।

17. यह बात सुन कर चौरासी हजार चातुर्महाराजिक, सौ हजार त्रयस्त्रिंश, सौ हजार याम, सौ हजार तुषित, सौ हजार निर्माणरति,[41] सौ हजार

38. मूल, गमनान्तसमं । यह अशुद्ध पाठ है । भोट, नम् म्ख हि् म्थह् म्ञम् गगनान्तसमम् । यही शुद्ध पाठ है ।
39....39. मूल, वरलक्षणो गुणोवचितः । खंडित पाठ भोटानुवाद की सहायता से पूरा किया गया है । भोट, ग्ज़ुग्स् म्छोग् म्छन् दङ् ल्दन् तन् य्र्यस् प दङ्, वररूपलक्षणो गुणोपचितश्च ।
40. पूर्वोक्त 90-109 गाथाओं की छाया—को व उत्सहेत पररूपधरम् अनुवद्धुं सततं प्रीतमनाः । कः पुण्यं तेजो यशोवर्चः स्वयमात्मन इच्छति विवर्धयितुम् ॥90॥ यस्येप्सितं त्रिदशदेवपुरे दिव्यैः सुखैर्हि रन्तुं सततम् ।

परमाप्सरोभिरिह कामगुणैर् अनुबन्धातु विमलचन्द्रमुखम् ॥91॥ तथ मिश्रकावणे वरे सचिरे दिव्याकरे रन्तु देवपुरे। पुष्पोत्करे कनकचूर्णनिभे ऽनुबन्धातु विमलतेजोधरम् ॥92॥ यस्येप्सितं रन्तुं चित्ररथे तथा नन्दने (वने) सुरवधूसहित (क्रियाविशेषणमिदम्)। मन्दारकुसुमपत्रचिते ऽनुबन्धातु—इम महापुरुषम् ॥93॥ यामाधिपत्यम् अथवा तुषितैः (युक्तमाधिपत्यम्) अथ वापि प्रार्थयति चेश्वरताम्। पूजार्हो भवितुं सर्वजगति-अनुबन्धातु-इममनन्तयशसम् ॥94॥ य इच्छति निर्मितपुरे रुचिरे वशवर्तिदेवभवने रन्तुम्। (यत्र) मनस एव सर्वम् अनुभुक्ते अथवा अनुभोक्तुं क्रियया-अनुबन्धातु-इमं गुणाग्रधरम् ॥95॥ यहाँ तृतीय पाद की छाया **मनस एव अनुभुक्तिक्रिया** की जा सकती पर वह भोटानुवाद को ध्यान मे रखते ठीक नही जान पड़ती। वहाँ पाठ यों है—**यिद् क्यि ह् फ्रु फुल् ग्यिस् थमस् चद् स्प्योद् हृद्रोद्** (= मनसः निर्माणेन सर्वं भोक्तुमिच्छति)। मारेश्वरो न च प्रदुष्टमनाः सर्वविधैश्वर्यपारगतः। कामेश्वरो वशितापारगतो गच्छत्वसौ हितकरेण सह ॥96॥ तथा कामधातुं समतिक्रान्तुं मतिर्यस्य ब्रह्मपुरमावस्तुम्। चतुरप्रमाणप्रभातेजोधरं सो ऽध्यानुबन्धातु महापुरुषम् ॥97॥ अथवापि यस्य मनुजेषु मतिर्वरे चक्रवर्तिविषये विपुले। रत्नाकरम् अभयसौख्य-प्रदम् अनुबन्धातु विपुलपुण्यधरम् ॥98॥ पृथिवीश्वरस्तथापि श्रेष्ठिसुत आढ्यो महाधनो महानिचय। परिवारवान् निहतशत्रुगणो गच्छत्वसौ हितकरेण सह ॥99॥ रूपं च भोगमपि चेश्वरतां कीर्तिं यशश्च प्रतिभा गुणतां (इच्छति-इत्यध्याहार्यम्)। आदेयवाक्यो भवेयं ग्राह्यपरतो ब्रह्मेश्वरं समुयातु विद्वासम् ॥100॥ ये दिव्याः कामास् तथा मानुषका य इच्छति त्रिभवे सर्वसुखम्। ध्याने सुखं च प्रविवेकसुखं धर्मेश्वरं समनुबन्धातु ॥101॥ रागस्य प्रहाणं तथा दोषस्यापि य इच्छति तथा क्लेशहानम्। शान्तप्रशान्तोपशान्तमनसं स दान्तचित्तमनुयातु लघु ॥102॥ शैक्षस्याशैक्षस्य तथा प्रत्येकजिनस्य सर्वज्ञस्य ज्ञानमनुप्राप्तुम्। दशभिर्बलैर् नदितुं सिंह इव गुणसागरं समनुयातु विद्वासम् ॥103॥ पिधातुमपायपथं येस्य (अथवा येषा) मतिर् विवरीतुं च मद्गतिपथं ह्यमृताम्। अष्टांगमार्गगमनेन गतिम् अनुबन्धातु गतिपयान्तकरम् ॥104॥ अमृताम् इत्यस्य गतिमित्यनेन संवन्धः। मूलेत्वत्र लिंगविपर्यासः भोटे तु **वक्षड्, ह्ग्रो हि, हृछि व मेद् पहि, लम्** (सुगत्यमृतपथम) इत्येवं दर्शनात् सद्गतिपथम् इत्यनेन सहान्वयः स्वीकृतः। य इच्छति सुगतं पूजयितुं धर्मं च तस्मात् श्रोतुं कारुणिकात्। प्राप्तुं गुणानपि च सघगतान् गुणसागर समनुयातु-इयम् ॥105॥ जातिजरामरणदुःखक्षयं संसारबन्धनाद् विमोक्षयितुम्।

परनिर्मितवर्तिदेवता[41] पूर्व के शुभ कर्मों से उत्पन्न साठ हजार मारकायिक, अड़सठ हजार (–47–) ब्रह्मकायिक, यों बढ़ते-बढ़ते अनेकों सौ हजार यहाँ तक कि अकनिष्ठ लोक तक के देवता इकट्ठे हो गए। फिर और अनेक[42] सौ हजार देवपुत्र[42] पूर्व, =44क= दक्षिण, पश्चिम, तथा उत्तर दिशाओं से जुट गए। उनमें से जो अत्यन्त उदार देवपुत्र थे, वे देवताओं की उस महासभा से गाथाओं में (यों) बोले—

(देवपुत्र प्रतिवचन गाथाएँ)

(वसंततिलका)

हन्त शृणोथ वचनं अमरेश्वराहो
अस्मद्विधान [43]मति यादृश तत्त्वभूता।
त्यक्त्वार्थि कामरति ध्यानसुखं प्रणीतं
अनुबन्धयाम इममुत्तमशुद्धसत्त्वम् ॥110॥

हम जैसों के मन में जैसी ठीक-ठीक बात है, अहो, देवताओं के ईश्वरो, (उस) बात को सुनो। धन-दौलत, काम-भोग का आनन्द तथा उत्तम ध्यान के सुख को छोड़ (हम) इस उत्तम तथा पवित्र बोधिसत्त्व के पीछे-पीछे चलेंगे।

ओक्रान्त पाद तथ गर्भ स्थितं महात्मं पूजारहं अतिशयं अभिपूजयामः।
पुण्यैः सुरक्षितमृषि परिरक्षिसन्तो यस्यावतार लभते न मनः प्रदुष्टं ॥111॥

कोख में गए, गर्भ में ठहरे, तथा उत्पन्न हुए, महात्मा, पूजा के योग्य (बोधिसत्त्व) को (हम) बहुत-बहुत पूजेंगे। पुण्यों से भलीभाँति रक्षित ऋषि को

चरितुं विशुद्धं गगनान्तसमं स शुद्धसत्त्वम् अनुबन्धातु ॥106॥ इष्टो हृदयंगमः प्रियः सर्वजगति वररूपलक्षणो गुणोपचितः। आत्मानं परं च तथा मोचयितुं प्रियदर्शनं समुपयातु विद्वांसम् ॥107॥ शीलसमाधिप्रज्ञामयी गम्भीरां दुर्दशां दुरुपगमाम्। य इच्छति विद्वान् विमुक्ति लभेय स वैद्यराजमनुयातु लघु ॥108॥ एते चान्ये (च) गुणा नैकविधाः, उपपत्तिसौख्यस्य तथा निर्वृतेः। सर्वैर्गुणैः परिपूर्णसिद्ध्यै सिद्धव्रत समनुयातु विद्वांसम् ॥109॥ इति ॥

41····41. मूल, शतसहस्रं परनिर्मितवशवर्तिनां देवानाम्। यह भोट में त्रुटित है।

42····42. मूल, देवशतसहस्राणि। भोट, ल्ह हि बु गर्य स्तोङ्, देवपुत्रशतसहस्राणि।

43. मूल, अस्मिन् विधान०। भोट, ब्दग् नग् नंमस् क्यि, अस्मद्विधानाम्, हम जैसो का-की। अस्मद्विधान मूल पाठ था, यह इससे स्पष्ट है।

चारों ओर से रखवाली करेंगे, जिससे (किसी) दुष्ट मन वाले की (वहाँ) पैठ न हो पाए ।

संगीति तूर्यरचितैश्च सुवाद्यकैश्च
वर्णा गुणां कथयतो गुण सागरस्य ।
कुर्वाम देवमनुजान प्रहर्षणीयं
यं श्रुत्व बोधिविरचित्त जने जनेया ॥112॥[44]

सुन्दर बाजे-गाजे के साथ गाने-बजाने की लीलाओं द्वारा गुण के समुद्र (बोधिसत्त्व) के यश (तथा) गुण कहते हुए (हम) देवताओं और मनुष्यों को हर्षित कर देंगे । जिस (गाजे-बाजे सहित गुणगान) को सुन बोधि के लिए उत्तम चित्त लोक में उत्पन्न होगा ।

पुष्पाभिकीर्ण नृपतेश्च करोम गेहं
कालागुरुत्तमसुधूपितसौम्यगन्धं ।
यं घ्रात्व देवमनुजाश्च भवन्त्युदग्रा
विगतज्वराश्च सुखिनश्च भवन्त्यरोगाः ॥113॥

राजा के घर को फूल बिखेर, काले एवं उत्तम अगर से भलीभाँति धूप कर, शोभन गन्ध वाला कर देंगे । जिस (गन्ध) को सूंघ कर देवता और मनुष्य प्रसन्न, ताप रहित, सुखी, तथा नीरोग हो जाते हैं ।

मान्दारवैश्च कुसुमैस्तथ पारिजातैश्[45]
चन्द्रैः सुचन्द्र तथ स्थाल[45] विरोचमानैः ।
पुष्पाभिकीर्ण = 44ख = कपिलाह्वयतं करोम
पूजार्थं पूर्वशुभकर्मसमुद्गतस्य ॥114॥

पूर्व के शुभ कर्मों से उत्पन्न हुए (बोधिसत्त्व) की पूजा के लिए (हम सब) चमचमाते मन्दार, पारिजात, चन्द्र, सुचन्द्र तथा स्थाल नामक (देवलोक के) पुष्पों से कपिलवस्तु को पुष्पाभिकीर्ण (= सब ओर से बिखरे हुए पुष्पों वाली) कर देंगे ।

---

44. मूल, जनेयाँ = भोट, बस्क्येद् पर्, जायेत । मूल पाठ जनेया होगा ।

45....45. भोट मे चन्द्र के लिए सिम् ब्येद् तथा सुचन्द्र के लिए रब् तु सिम् ब्येद् शरच्चन्द्र के भोट कोश मे सिम् ब्येद् शब्द चन्द्र के लिए है । स्थाल को भोट में अनुवाद न करके वैसा का वैसा ही ले लिया गया है । ये तीनों देवपुष्प है इसमें यहाँ सन्देह नहीं । इनके उल्लेख विरलतम हैं ।

यावच्च गर्भि वसते त्रिमलैरलिप्त
यावज्जरामरणचान्तकरः प्रसूतः।
तावत्प्रसन्नमनसो अनुबन्धयाम
एषा मतिर्मतिधरस्य करोम पूजां ॥115॥

जब तक (बोधिसत्त्व को) तीनों मैलों से बिना लिपे गर्भ मे रहता है, जब तक उत्पन्न हो, जरा तथा मरण का नाश करना है, तब तक प्रसन्न मन से (हम सब) पीछे-पीछे चलते रहेंगे, (उस) मतिमान की पूजा करते रहेंगे। यह (हम ने) मन मे ठान लिया है।

(–48–) लाभा सुलब्ध विपुलाः सुरमानुषाणां
द्रक्ष्यन्ति जानु[46] इमु सप्त पदां क्रमन्तं।
शक्रैश्च ब्रह्मण करैः परिगृह्यमानं
गन्धोदकैः स्नपियमानि सुशुद्धसत्त्वं ॥116॥

इन अत्यन्त शुद्धसत्त्व को उत्पन्न होते, सात पैर चलते, इन्द्रों तथा ब्रह्माओं द्वारा हाथों हाथ उठाए जाते, तथा सुगन्धित जल से स्नान कराए जाते जो देखेंगे वे देवता तथा मनुष्य बहुत-बहुत लाभ भली-भांति पाएंगे।

यावच्च लोकि अनुवर्तनतां करोति
अन्तःपुरे वसति कामकिलेशघाती।
यावच्च निष्क्रमति राज्यमपास्य सर्वं
तावत्प्रसन्नमनसो अनुबन्धयामः ॥117॥

जब तक (बोधिसत्त्व को) लोक में (लोक की) अनुवृत्ति (=मानवलीला) करनी है, (जब तक) काम तथा क्लेश के नाश करने वाले को अन्तःपुर मे रहना

46. जानु—यह शब्द यहाँ पर अंगविशेषवाचक जानु नही है। इतिवृत्तानुसार बुद्ध उत्पन्न होते सात पैर चले थे पर सीधे खड़े होकर न कि घुटनों के बल। भोटानुवाद में ब्ल्तम्स् नस् (उत्पन्न होकर) शब्द देखने से, जानु जन् धातु से उत्पन्न शब्द जान पड़ता है। इस प्रकार के अन्य विशेषण यहाँ वर्तमान कालबोधक कृदन्तों (=शतृ, शानच्) में है, इसलिए जानु को भी उसी प्रकार का कृदन्त रूप मानना प्रक्रमानुसार उचित होगा। फलतः जा (=धातु के विकार) से परे यहाँ आन (–शानच्) प्रत्यय है। संस्कृत के जायमान का प्रतिनिधिभूत यह रूप है। उकार विभक्ति यहाँ द्वितीया में है। एवं जानु = जायमानम्। एड्जेर्टन साहब इसे ज्ञा धातु से निष्पन्न (जानत्) का विकार मानते है।

चारों ओर से रखवाली करेंगे, जिससे (किसी) दुष्ट मन वाले की (वहाँ) पैठ न हो पाए ।

संगीति तूर्यरचितैश्च सुवाद्यकैश्च
वर्णां गुणां कथयतो गुण सागरस्य ।
कुर्वाम देवमनुजान प्रहर्षणीयं
यं श्रुत्व बोधिविरचित्त जने जनेया ॥112॥[44]

सुन्दर बाजे-गाजे के साथ गाने-बजाने की लीलाओ द्वारा गुण के समुद्र (बोधिसत्त्व) के यश (तथा) गुण कहते हुए (हम) देवताओं और मनुष्यों को हर्षित कर देंगे । जिस (गाजे-बाजे सहित गुणगान) को सुन बोधि के लिए उत्तम चित्त लोक में उत्पन्न होगा ।

पुष्पाभिकीर्ण नृपतेश्च करोम गेहं
कालागुरुत्तमसुधूपितसौम्यगन्धं ।
यं घ्रात्व देवमनुजाश्च भवन्त्युदग्रा
विगतज्वराश्च सुखिनश्च भवन्त्यरोगाः ॥113॥

राजा के घर को फूल बिखेर, काले एवं उत्तम अगर से भलीभाँति धूप कर, शोभन गन्ध वाला कर देंगे । जिस (गन्ध) को सूंघ कर देवता और मनुष्य प्रसन्न, ताप रहित, सुखी, तथा नीरोग हो जाते हैं ।

मान्दारवैश्च कुसुमैस्तथ पारिजातैश्[45]
चन्द्रैः सुचन्द्र तथ स्थाल[45] विरोचमानैः ।
पुष्पाभिकीर्ण = 44ख = कपिलाह्वयतं करोम
पूजार्थ पूर्वशुभकर्मसमुद्गतस्य ॥114॥

पूर्व के शुभ कर्मो से उत्पन्न हुए (बोधिसत्त्व) की पूजा के लिए (हम सब) चमचमाते मन्दार, पारिजात, चन्द्र, सुचन्द्र तथा स्थाल नामक (देवलोक के) पुष्पों से कपिलवस्तु को पुष्पाभिकीर्ण (= सब ओर से बिखरे हुए पुष्पों वाली) कर देंगे ।

44. मूल, जनेयॉ = भोट, वुस्क्येद् पर्, जायेत । मूल पाठ जनेया होगा ।
45····45. भोट मे चन्द्र के लिए सिम् व्येद् तथा सुचन्द्र के लिए रब् तु सिम् व्येद् शरच्चन्द्र के भोट कोश मे सिम् व्येद् शब्द चन्द्र के लिए है । स्थाल को भोट में अनुवाद न करके वैसा का वैसा ही ले लिया गया है । ये तीनों देवपुष्प हैं इसमें यहाँ सन्देह नही । इनके उल्लेख विरलतम हैं ।

यावच्च गर्भि वसते त्रिमलैरलिप्त
यावज्जरामरणवान्तकरः प्रसूतः ।
तावत्प्रसन्नमनसो अनुबन्धयाम
एषा मतिर्मतिधरस्य करोम पूजां ॥115॥

जब तक (बोधिसत्त्व को) तीनों मैलों से बिना लिपे गर्भ में रहता है, जब तक उत्पन्न हो, जरा तथा मरण का नाश करना है, तब तक प्रसन्न मन से (हम सब) पीछे-पीछे चलते रहेंगे, (उस) मतिमान की पूजा करते रहेंगे । यह (हम ने) मन मे ठान लिया है ।

(-48-) लाभा सुलब्ध विपुलाः सुरमानुषाणां
द्रक्ष्यन्ति जानु[46] इमु सप्त पदां क्रमन्तं ।
शक्रैश्च ब्रह्मण करैः परिगृह्यमानं
गन्धोदकैः स्नपियमानि सुशुद्धसत्त्वं ॥116॥

इन अत्यन्त शुद्धसत्त्व को उत्पन्न होते, सात पैर चलते, इन्द्रों तथा ब्रह्माओं द्वारा हाथों हाथ उठाए जाते, तथा सुगन्धित जल से स्नान कराए जाते जो देखेंगे वे देवता तथा मनुष्य बहुत-बहुत लाभ भली-भांति पाएंगे ।

यावच्च लोकि अनुवर्तनतां करोति
अन्तःपुरे वसति कामकिलेशघाती ।
यावच्च निष्क्रमति राज्यमपास्य सर्वं
तावत्प्रसन्नमनसो अनुबन्धयामः ॥117॥

जब तक (बोधिसत्त्व को) लोक मे (लोक की) अनुवृत्ति (=मानवलीला) करनी है, (जब तक) काम तथा क्लेश के नाश करने वाले को अन्तःपुर मे रहना

46. जानु—यह शब्द यहाँ पर अंगविशेषवाचक जानु नहीं है । इतिवृत्तानुसार बुद्ध उत्पन्न होते सात पैर चले थे पर सीधे खड़े होकर न कि घुटनों के बल । भोटानुवाद मे ब्ल्तम्स् नस् (उत्पन्न होकर) शब्द देखने से जानु जन् धातु से उत्पन्न शब्द जान पड़ता है । इस प्रकार के अन्य विशेषण यहाँ वर्तमान कालबोधक कृदन्तों (=शतृ, शानच्) में हैं, इसलिए जानु को भी उसी प्रकार का कृदन्त रूप मानना प्रक्रमानुसार उचित होगा । फलतः जा (=धातु के विकार) से परे यहाँ आन (=शानच्) प्रत्यय है । संस्कृत के जायमान का प्रतिनिधिभूत यह रूप है । उकार विभक्ति यहाँ द्वितीया में है । एवं जानु=जायमानम् । एड्जेर्टन साहब इसे ज्ञा धातु से निष्पन्न (जानत्) का विकार मानते हैं ।

है, तथा जब तक सब राज-पाट छोड़ कर (उन्हें) निकल पड़ना है, तब तक (हम सब) प्रसन्न मन से पीछे-पीछे रहेंगे।

यावदुपैति महिमण्डि[47] तृणां गृहीत्वा।
यावच्च बोधि स्पृशते विनिहत्य मारम्।
अध्येष्टु[48] ब्राह्मणयुतेभि[49] प्रवर्ति चक्रं
तावत्करोम विपुलां सुगतस्य पूजां ॥118॥

जब तक पृथिवी के सारभूत स्थान (=गया के वज्रासन) पर तृण लेकर पहुँचना है, तथा जब तक मार को जीतकर बोधि का स्पर्श (=अनुभव) करना है, (एवं) खर्व-खर्व ब्रह्माओं से प्रार्थना किए जाने पर (धर्म) चक्र का प्रवर्तन करना है, तब तक (हम सब) सुगत की बहुत-बहुत पूजा करेंगे।

यद बुद्धकार्यु कृतु भेष्यति त्रिसहस्रे-
सत्त्वान कोटिनयुता अमृते विनीता।
निर्वाणमार्गमुपयास्यति शीतिभावं
तावन्महाशयमृषि न जहाम सर्वे ॥119॥ इति[50]

47. महिमण्डि = महीमण्डे। भोट, ब्यङ् छुब् स्ञिङ् पोर्, बोधिमण्डे।
48. अध्येष्टु = अधीष्टः (प्रार्थितः)। तुलनीय भोट, गसोल् ब्तब् प।
49. ब्राह्मणयुतेभि = ब्राह्म (=ब्रह्म) णयुतेभि (=नयुतेभि)। तुलनीय भोट, छङ्स् प खग् ख्रिग्।
50. पूर्वोक्त 110–119 गाथाओं की छाया—हन्त शृणुत वचनम् अमरेश्वराः अस्मद्विधानां मतिर्यादृशी तत्त्वभूता। त्यक्त्वार्थं कामरतिं ध्यानसुखं प्रणीतम् (=उत्तमम्) अनुबन्धीम इममुत्तमशुद्धसत्त्वम् ॥110॥ अवक्रान्तम् उत्पादे तथा गर्भे स्थितं महात्मानं पूजार्हम् अतिशयम् अभिपूजयामः। पुण्यैः सुरक्षितमृषिं परि रक्षिष्यन्तः यस्यावतारो लभते न मनःप्रदुष्टस्य॥ यस्य इत्यस्य स्थाने भोटे कस्यापि (सुस् क्यङ् = केनापि इति पाठः ॥111॥ संगीतितूर्यरचितैश्च सुवाद्यैश्च वर्णान् गुणान् कथयन्तो गुणसागरस्य। कुर्मो देवमनुजानां प्रहर्षणीयं। (=प्रहर्षकर्म) यच्च श्रुत्वा बोधिवरचित्तं जने जायेत ॥112॥ पुष्पाभिकीर्णं नृपतेश्च कुर्मो गेहम् उत्तमकालागुरुसुधूपित सौम्यगन्धम्। यं (गन्धमिति शेषः) घ्रात्वा देवमनुजाश्च भवन्ति उदग्राः (=प्रसन्नाः) विगतज्वराश्च सुखिनश्च भवन्त्यरोगाः ॥113॥ मन्दारैश्च कुसुमैस्तथा पारिजातैश् चन्द्रैः सुचन्द्रैस् तथा स्थालैर् विरोचमानैः। पुष्पाभिकीर्णं कपिलाह्वयं कुर्मः पूजार्थं पूर्वशुभकर्मसमुद्गतस्य ॥114॥ यावच्च गर्भो वसति विमलैरलिप्तो यावच्च जरामरणान्तकरः प्रसूतः (भवति)।

जब तक बुद्धकृत्य (=धर्मप्रतिष्ठापन) किया जाता रहेगा (एवं जब तक) कोटि-कोटि सर्व-खर्व प्राणी अमृत (-तत्व) पर पहुँचाए जाएँगे, (तथा जब तक) शीत-भाव से युक्त निर्वाण की राह पर पहुँच जाना होगा, तब तक (हम) सब महाशय ऋषि को नही छोड़ेंगे।

18 हे भिक्षुओं, तदनन्तर[51] काम धातु की चर्या वाली[51] देवकन्याओं (के मन मे) बोधिसत्व के रूपवान् शरीर की (शोभा-) समृद्धि को देख कर ऐसा (प्रश्न) उठा—इस श्रेष्ठ-परम श्रेष्ठ शुद्ध सत्व को जो =45 क=धारण करेगी, वह कन्या कैसी होगी ?

19 उनमें कौतूहल उत्पन्न हुआ (और वे)[52] श्रेष्ठ-अतिश्रेष्ठ पुष्प, धूप, दीप, गन्ध, माल्य (=मालाएँ), विलेपन, चूर्ण (=मुँह पर लगाने की केवड़े आदि की धूल), तथा चीवर (=वस्त्र) लेकर[52] दिव्य तथा मन (के बल) से

तावत् प्रसन्नमनसोऽनुबन्धीमः एषा मतिर्मतिधरस्य कुर्मः पूजाम् ॥115॥ लाभाः सुलब्धा विपुलाः सुरमानुषाणां (भविष्यन्ति ये) द्रक्ष्यन्ति जायमानमिमं सप्त पदानि क्रामन्तम्। शक्रैश्च ब्रह्मभिः करैः परिगृह्यमाणं गन्धोदकैः स्नाप्यमानं सुशुद्धसत्त्वम् ॥116॥ यावच्च लोकेऽनुवर्तनतां करोति, अन्तःपुरे वसति कामक्लेशवाती। यावच्च निष्क्रामति राज्यमपास्य सर्व तावत् प्रसन्नमनसो ऽनुबन्धीमः ॥117॥ यावद् उपैति महीमण्डं तृणानि गृहीत्वा यावच्च बोधिं स्पृशति विनिहत्य मारम्। अधीष्टो ब्रह्मनयुतैः (=निखर्वैः) प्रवर्तयेत् (प्रवर्तयति–इत्यस्य कृते) चक्रं तावत् कुर्मः विपुलां सुगतस्य पूजाम् ॥118॥ यदा (=यावत्) बुद्धकार्य कृत भविष्यति त्रिसाहस्रे सत्त्वानां कोटिनयुतानि (=कोटि निखर्वाणि) अमृते विनीतानि (भविष्यन्तीति शेषः)। निर्वाणमार्गम् उपयास्यति शीतभावं तावन्महाशयमृषि न जहीमः सर्वे ॥119॥ इति ॥

51....51. मूल, कामधात्वीश्चराणाम्। सम्भवतः कामधात्वीश्वराणाम् का प्रामादिक पाठ है। अन्यथा अर्थावबोध सरल होते हुए भी कामधात्वीः इस रूप को समझना कठिन है। भोट मे **हदोद् प न स्प्योद् प**, कामे चराणाम् (=कामावचराणाम्) पाठ से विशेष इतना ही जाना जाता है कि वाक्यान्वय मे पूर्व पद सप्तमी में है।

52....52. मूल, वरप्रवरपुष्पधूपदीपगन्धमाल्यविलेपनचूर्णचीवरपरिगृहीता। भोट, मेतोग् दङ्, स्पोस् वङ्, फेङ् व दङ्, व्युग् प म्छोग् तु व्य व वग् ल्येर् नस्, वरपुष्पधूपमाल्यपरिगृहीता।

निर्मित आत्मभाव (=शरीर) को पाकर,[53] पुण्य के फल से ऋद्धि के लिए अधिष्ठान (=दृढ संकल्प) में अधिष्ठित (=अविचलभाव से स्थित) होकर[53] उसी क्षण देवलोक के भवन से अपने को अन्तर्धान कर, कपिलवास्तु नाम के शत सहस्र उद्यानों द्वारा चारों ओर से सजे-सजाए, श्रेष्ठ महानगर में (–49–), राजा शुद्धोदन के घर में धृतराष्ट्र नाम के देवलोक के भवन जैसे बड़े महल के ऊपर[54] मानों अभी-अभी गिर ही पड़ेंगे—इस प्रकार के वस्त्र धारण किए हुए[54] शुभ तथा निर्मल तेज से अत्यन्त शोभायमान, भुजाओं मे दिव्य आभूषण पहने हुए, आकाश मे खड़ी हुई (और) सेज पर लेटी हुई माया देवी को एक उंगली से दिखाती हुई आपस में गाथाओं द्वारा (यों) बोली—

(देवकन्या वितर्क)

(पुष्पिताग्राच्छन्द)

अमरपुरगतान अप्सराणां रूप मनोरम दृष्ट्व बोधिसत्त्वे ।
मतिरियमभवत्तदा हि तासां प्रमद नु कीदृश बोधिसत्वमाता ॥120॥

तब अमरावती में रहने वाली वे अप्सराएँ बोधिसत्व के मनोरम रूप को देख कर यों सोचने लगीं (कि वह) कैसी स्त्री (होगी जो) बोधिसत्व की मां (हो सके) ।

ताश्च सहित पुष्पमाल्यहस्ता उपगमि वेश्म नृपस्य जातकांक्षा ।
पुष्प तथा विलेपनां गृहीत्वा दशनख[55] अञ्जलिभिर्नमस्यमाना ॥121॥

53....53 मूल, पुण्यविपाकाधिस्थानाधिस्थिताः । भोट, ब्सोद् नम्स् क्यि नंम् प स्मिन् प हि जु हफ्रुल् ग्यिस् ब्यिन् ग्यिस् ब्र्लब्स् प, पुण्यविपाकर्द्धय-धिष्ठानाधिष्ठिताः ।

54...54. मूल, विगलिताम्बरधारिण्यः । भोट, गोस् ल्हुग् ल्हुग् पो ग्र्योन् प । इस वाक्यांश का अभिप्राय यह है कि देव कन्याएँ ऐसे ढोले-ढाले वस्त्र पहने हुए थी जिनसे शरीर की शोभा दिखाई पड़ती थी तथा यह जान पड़ता था कि वस्त्र अब शरीर से गिरते ही वाले है । भोटानुवाद तथा मूल दोनो ही विचारणीय है । मुझे विगलित यहाँ पर विकलित (विशेषतया घृत, पहने हुए) का अपभ्रंश जान पड़ता है । पर इस दशा मे धारिण्यः का योग नही बैठता । आगे विगलितवसना (गाथा 122) को विकलितवसना करने से अर्थ ठीक बैठता है ।

55. दशनख के स्थान में भोटपाठ सोर् ब्चु, दशांगुलि, है ।

वे सन्देह उत्पन्न होने पर, साथ-साथ, हाथों में फूलों की मालाएँ, फूल, तथा विलेपन (= चन्दन आदि) लेकर दसों नखों के साथ अञ्जलि बांध नमस्कार करती राजा के घर पहुँची।

विगलितवसना सलीडरूपा: करतल दक्षिणि अंगुलीं प्रणम्य।
=45=शयनगत विदर्शि मायादेवीं साधु निरीक्षथ रूप मानुषीणां ॥122॥

मानो अभी-अभी गिर पड़ेंगे—ऐसे वस्त्र पहने हुए, लीलाओं से युक्त रूप वाली (अप्सराएँ) दाहिने हाथ की हथेली की उंगली को नवा कर, सेज पर लेटी मायादेवी को दिखाया (और कहा कि) मानुषियों के रूप को भलीभाँति निहारो।

वयमिह अभिमन्ययाम[56] अन्ये परममनोरम सुरूप अप्सराणां।
इमं नृपतिवधूं निरीक्षमाणा जिह्म विपरयर्थ दिव्य आत्मभावां ॥123॥

यहाँ हमें अप्सराओं का अत्यन्त मन को भाने वाला सुन्दर रूप कुछ और ही जान पड़ता है। राजा की इस पत्नी को निरखो (और फिर) कान्तिहीन (अपने इन) देव योनि के शरीरों को देखो।

अतिरिव[57] सदृशी गुणान्विता च जननिरियं प्रवराग्रपुंगलस्य।
मणिरत्न यथा सुभाजनस्य तथ इव भाजन देवि देवदेवे ॥124॥

अति श्रेष्ठ महापुरुष के लिए यह अतीव उपयुक्त, गुणों से समन्वित, माता है। जैसे सुन्दर भाजन में मणिरत्न स्थान पाता है वैसे ही यह देवी भाजन है (उस) देवताओं के देवता के लिए।

करचरण तलेभि यावमूर्द्ध[58] अङ्ग मनोरम दिव्य-आतिरेका:।
प्रेक्षितु[59] नयनान्न चास्ति तृप्ति भूयु[60] प्रहर्षति चित्त मानसं च ॥125॥

56. अभिमन्ययाम (= अभिमन्यामहे) के स्थान में भोट पाठ यों है—ङ् ग्यल् सेमस् क्यिस् मङोन् सेमस् प मानमनसाभिमन्यामहे।

57. मुद्रितपाठ, रतिरिव। पाठान्तर, अतिरिव। तुलनीय पालि, अतिविय, अतिरिव (संस्कृत, अतीव)। भोट, शिन् तु ग्शह् शिङ् ह्.ोस् (= अतिसदृशी)।

58. मुद्रित पाठ, यावदूर्द्ध। भोट, स्प्यि बो मन् छद् ु, यावन्मूर्धानम्। स्पष्ट ही मूल पाठ 'यावमूर्द्ध' था।

59. मुद्रित पाठ प्रेक्षतु। पाठान्तर, प्रेक्षितु (= प्रेक्षितुम्)। भोट, ब्ल्त न, देखने पर।

60. मुद्रित पाठ भूय। पाठान्तर, भूयु। भोट, फ्यिर् शिङ्, पुनः भूयः।

हाथों की हथेलियों तथा पाँवों के तलवों से लेकर सिर तक (इस देवी के) अंग देवताओं (के अंगों) से भी अधिक मनोहर हैं। आँखों को देख कर तृप्ति नही होती। बारम्बार चित्त और मन उल्लसित हो उठते हैं।

शशिरिव गगणे विराजतेऽस्या वदनु वरं च विराज गात्रभासा।
रविरिव विमला शिखीव[61] दीप्ता तथ प्रभ निश्चरतेऽस्य आत्मभावात्॥126॥

शरीर की चमक से चमकता हुआ इसका वर वदन आकाश में चन्द्रमा के समान शोभा देता है तथा इसके शरीर से सूर्य जैसी निर्मल एवं अग्नि जैसी दीप्त प्रभा निकलती है।

कनकमिव सुजातजातरूपा वर्ण विरोचति देवियै तथैव।
भ्रमरवरनिकाश कुन्तलानी मृदुकसुगन्धश्चवास्य मूर्धजानि ॥127॥

और देवी का रंग सोने जैसा, शुद्ध सोने जैसा, तथा रूप निखरे सोने जैसा चमक रहा है। श्रेष्ठ भौरों जैसे इसके सिर पर उगे हुए केश कोमल हैं और उनसे सुगन्ध बह रही है।

कमलदलनिभे तथास्य नेत्रे दशान विशुद्ध नभेव ज्योतिषाणि।
चाप इव तनूदरी विशाल पार्श्व[62]समुद्गतम् आन्सि[62] नास्ति संधिः ॥128॥

इसकी आँखें कमल की पंखड़ियों के समान है, दाँत आकाश के तारों जैसे अत्यन्त शुद्ध हैं, पेट धनुष (की मूठ) जैसा पतला है, नितम्ब विशाल हैं, कंधे उठे हुए हैं, जोड नहीं (दिखाई पड़ते) हैं।

गजभुजसदृशेऽस्य ऊरुजंघ जातु सुजान्व[63] अनुपूर्वमुद्गतास्य।
करतलचरणा समा सुरक्ता व्यक्तमियं खलु देवकन्य नान्या ॥129॥

इसकी जाँघें हाथी की सूंड के समान हैं, घुटने सुन्दर घुटने हैं। (जाँघोका) उतार-चढाव क्रम से हुआ है। हथेलियाँ तथा गदेलियाँ बराबर तथा सुन्दर लाल-लाल हैं। स्पष्ट ही यह सचमुच की देवकन्या है, यह कुछ और हो नहीं सकती।

61. मुद्रित पाठ, शशीव। भोट, मे ल्तर्, अग्निरिव, शिखीव शिखीव पाठ मानकर ही दीप्ता के साथ संगति बैठती है।
62.....62. समुद्गत-म्-आन्सि ऐसा पदच्छेद करना होगा। भोटपाठ—फ्ग् प ज़्लम् शि्ङ, वृत्तांसा, गोल-गोल कंधों वाली।
63. मुद्रित पाठ, मुजात्व,। पाठान्तर, सुजान्व्। भोट, व्यिन् प शिन् तु लेग्स् प, अतिशोभन जानु, अतिशोभनजानुनी।

एवं बहुविधं = ४६ क = निरीक्ष्य देवीं कुसुम क्षिपित्व प्रदक्षिणं च कृत्वा।
सुपिय[64] यसवती जिनस्य माता पुनरपि देवपुरं गता क्षणेन ॥130॥

इस प्रकार नाना भाँति से देख कर, बुद्ध की माता, यशस्विनी, (माया) देवी पर फूल बरसा, प्रदक्षिणा कर, तृप्त हो कर वे फिर क्षण भर मे देव लोक पहुँच गईं।

अथ चतुरि चतुर्दिशासु पालाः शक्र सुयाम तथैव निर्मिताश्[65] च।
देवगणकुम्भाण्डराक्षसाश्च असुरमहोरगकिन्नराश्च वोचन् ॥131॥

अनन्तर (उन्होंने) चारो दिशाओ के चारो (लोक) पालों, इन्द्र, सुयाम तथा निर्मित-देवताओं, देवगणो, कुम्भाण्डों, राक्षसो, असुरों, महोरगो और किन्नरों से कहा।

गच्छत पुरतो नरोत्तमस्य पुरुषनरस्य करोथ रक्ष गुप्ति।
मा कुरुत जगे मनः प्रदोषं मा च करोथ विहेठ मानुषाणां ॥132॥

पुरुषोत्तम से पहले जाओ। श्रेष्ठ पुरुष का रक्षण एवं गोपन करो। जगत् के प्रति मन मे द्वेष न करो। मनुष्यों की हिंसा न करो।

यत्र गृहवरस्मि माय देवी तत्र समग्र सपारिषद्य सर्वे।
असिधनुशरशक्तिखड्गहस्ता गगनतलस्मि स्थिता निरीक्षयाथ ॥133॥

जिस श्रेष्ठ घर मे माया देवी है, वहाँ सव के सब, साथ-साथ, अपनी मण्डली लेकर, तलवार, धनुष-बाण, छुरी तथा खांडा हाथ में लिए गगनतल पर खड़े-खडे, देख-भाल करो।

(अवतरणप्रार्थना)

ज्ञात्व च्यवनकाल देवपुत्रा उपगमि मायसकाश हृष्टचित्ता।
पुष्प तथा विलेपनां गृहीत्वा दशनख[66] अञ्जलिभिर्नमस्यमानाः ॥134॥

(बोधिसत्व के) अवतार लेने की वेला को जान कर, प्रसन्न मन से फूल-चन्दन लेकर, दसों नखो के साथ अंजलि बांध नमस्कार करते हुए माया (देवी) के पास पहुँचे।

64. सुपिय = सुप्रीय्, प्री (प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च धातुपाठ)। पाठान्तर, सुविय, (सुप्रिय श्रीराजेन्द्र लाल मित्र का शोधन) भोट, ब्स्तोद् ब्यस्, प्रीत्वा अथ वा स्तुत्वा।

65. मूल, निमिताश्च। भोट, ह् फ़ुल् ब दङ् तथा निर्मित, अथवा ऋद्धि-सिद्धि वाले।

66. भोट, सोर् ब्चु दशांगुलि।

च्यव-च्यव हि नरेन्द्र शुद्धसत्वा अयु समयो भवतोऽद्य वादिसिंह ।
कृप-करुणा जनित्व सर्वलोके अस्मि अध्येषम धर्मदानहेतोः[67] ॥135॥
॥इति॥[68]

अवतार लो-अवतार लो हे शुद्ध मनके नरनाथ ! आज यह समय है आप (के अवतार) का, हे वाद करने वालों में सिंह, इस समूचे जगत् पर दया-मया करके । धर्म दान के निमित्त (हम सब आप से) प्रार्थना कर रहे हैं ।

67. भोट, म् छोद् स्बियन् दोन् दु, पूजनदानहेतोः । छोस्, धर्म के स्थान में म् छोद्, पूजन उच्चारण की अस्पष्टता के कारण हुआ है ।
68. ऊपर की 120-135 गाथाओं की छाया-अमरपुरगतानाम् अप्सरसां रूपं मनोरमं दृष्ट्वा बोधिसत्त्वे (= बोधिसत्त्वस्य) । मतिरियमभवत् तदाहि तासां प्रमदा ननु कीदृशी बोधिसत्त्वमाता ॥120॥ ताश्च सहिताः पुष्प-माल्यहस्ता उपागमन् वेश्म नृपस्य जातकाक्षाः (= जातसंदेहाः) । पुष्पाणि तथा विलेपनानि गृहीत्वा दशनखैर् (भोटानुसारं दशांगुलिभिर्) अञ्जलि-भिर्नमस्यन्त्यः ॥121॥ विगलितवसनाः सलीलरूपाः करतले दक्षिणे (= करतलस्य दक्षिणस्य) अगुलिं प्रणाम्य । शयनगता मायादेवीम् व्यदी-दृशन् साधु निरीक्षध्वं रूपं मानुषीणाम् ॥122॥ वयमिहाभिमन्यामहे ऽन्यत् परम-मनोरमं सुरूपम् अप्सरसाम् । इमा नृपतिवधूं निरीक्षमाणा (भवति इति शेषः) जिह्मान् (= कान्तिहीनान्) विपश्यत दिव्यान् आत्मभावान् (= शरीराणि) ॥123॥ अतीव सदृशी गुणान्विता च जननीयं प्रवराग्र-पुद्गलस्य । मणिरत्नं यथा सुभाजनस्थं तथैव देवी देवदेवस्य ॥124॥ करचरणतलेभ्यो यावन्मूर्धानम् अंगानि मनोरमाणि विद्यातिरेकाणि । प्रेक्षितुं (प्रवृत्तयोरिति शेषः) नयनयोर्न चास्ति तृप्तिर् भूयः प्रहृष्यति चित्तं मानसं च ॥125॥ शशीव गगने विराजते ऽस्या वदनं वरं विराजं (= विराजितं) गात्रभासा । रविरिव विमला शिखीव दीप्ता तथा प्रभा निश्चरत्यस्या आत्मभावात् (= शरीरात्) ॥126॥ कनक-सुजात-जातरूपं इव वर्णो विरोचते देव्यास्तथैव । वरभ्रमरनीकाशाः कुन्तला मृदुलसुगन्धस्रवा अस्या मूर्धजाः ॥127॥ कमलदलनिभे तथास्या नेत्रे दशनानि विशुद्धानि नभसि इव ज्योतींषि । चाप इव तनूदरी विशाला पार्श्वयोः समुद्गतांसयोः (भोटा-नुसारं वृत्तांसा) नास्ति सन्धिः ॥128॥ गजभुजसदृशे अस्या ऊरुजङ्घे जानुनी सुजानुनी अनुपूर्वमुद्गते अस्याः । करचरणतलौ समौ सुरक्तौ व्यक्त-मियं खलु देवकन्या नान्या ॥129॥ एवं बहुविधं निरीक्ष्य देवी कुसुमानि क्षिप्त्वा प्रदक्षिणां च कृत्वा । सुप्रीय यशोवती जिनस्य मातरं पुनरपि देवपुरं

20. अनन्तर हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व के अवतार लेने के समय पूर्व दिशा से बहुत-बहुत शतसहस्र-शतसहस्र बोधिसत्त्व, जिन सब को एक ही बार जन्म लेना बदा था, जो तुषित लोक के श्रेष्ठ भवनो के निवासी थे, बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए, = 46 ख = जहाँ बोधिसत्त्व थे वहाँ पास में पहुँच गए। इसी प्रकार दसों दिशाओं में से एक-एक दिशा से बहुत-बहुत शतसहस्र-शतसहस्र बोधिसत्त्व, जिन सब को एक ही बार जन्म लेना बदा था, जो तुषित लोक के श्रेष्ठ भवनों के निवासी थे, बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए, जहाँ बोधिसत्त्व थे वहाँ पास मे पहुँच गए। चातुर्महाराजकायिक देवताओं में से चौरासी हज़ार अप्सराएँ, इसी प्रकार त्रयस्त्रिंश, याम, (–51–) तुषित, निर्माणरति तथा परनिर्मितवशवर्ती देवताओं मे से चौरासी हजार-चौरासी हजार अप्सराएँ नाना प्रकार के वाद्ययन्त्रों से युक्त संगीत और बाजे-गाजे के साथ, बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए, जहाँ बोधिसत्त्व थे वहाँ पास में पहुँच गयी।

21. अनन्तर बोधिसत्त्व महाकूटागार (= बड़े महल) मे सब पुण्यों से समुत्पन्न सब[69] देवताओं तथा नागों[69] के द्वारा देखे जाते हुए, श्रीगर्भसिंहासन[70] पर बैठे उन बोधिसत्त्वों के साथ, शतसहस्र खर्व कोटि[69] देवताओं, नागों तथा यक्षों[69] के साथ (अवतार लेने के लिए) प्रचलित हुए—हिले। और हिलते-हिलते हे भिक्षुओ, बोधिसत्त्व ने अपने देह से वैसी प्रभा छोड़ी कि जिस प्रभा के कारण यह त्रिसाहस्रमहासाहस्र लोकधातु = 47क = इतना विशाल-इतना

गतः क्षणेन ॥130॥ अथ चतुरश्चतुर्दिक्षुपालान् शक्रं सुयामांस् तथैव निर्मितांश्च। देवगणकुम्भाण्डराक्षसांश्चासुरमहोरगकिन्नरांश्चावोचन् ॥131॥ गच्छत पुरतो नरोत्तमस्य पुरुषवरस्य कुरुत रक्षां गुप्तिम्। मा कुरुत जगति मनः प्रदोषं मा च कुरुत विहिंसां मानुषाणाम् ॥132॥ यत्र वरगृहे माया देवी तत्र समग्राः सपरिषद्याः सर्वे। असिधनुःशरशक्तिखड्गहस्ता गगनतले स्थिता निरीक्षध्वम् ॥133॥ ज्ञात्वा च्यवनकालं देवपुत्र उपागमन् मायासकाशं हृष्टचित्ताः। पुष्पाणि तथा विलेपनानि गृहीत्वा दशनखैर् (भोटानुसारं दशाङ्गुलिभिर्) अंजलिभिर् नमस्यन्तः ॥134॥ च्यवस्य च्यवस्य नरेन्द्र शुद्धसत्त्व, अयं समयो भवतोऽद्य वादिसिंह। कृपां करुणां जनयित्वा सर्वलोके ऽस्मिन् अधीच्छामः (= प्रार्थयामः) धर्मदानहेतोः

विस्तृत (होते हुए भी) बड़ी प्रबल, अभूतपूर्व[71] तथा दैवी चमक को मात करने वाली चमक से चमचमा उठा। (इस) लोक के अन्तराल मे जो पाप की—पाप से भरी अंधेरी रातें है, जिनमे इतनी बड़ी ऋद्धि वाले, इतने बड़े तेज वाले, इतने बड़े ऐश्वर्य वाले, ये सूर्य और चन्द्र (अपनी) आभा से आभा की, (अपने) रंग से रंग की, (तथा अपने) तेज से तेज की ताप नही ला पाते, चमक नहीं ला पाते। वहां जो प्राणी जनमते है, वे अपनी भी बाँहों का फैलाना भी नहीं निरख पाते। उस (स्थान) में भी उस समय बड़ी प्रबल चमक प्रकट हुई। और वहां जो प्राणी जनमे थे, वे उसी चमक से स्पष्ट ही बराबर भली-भाँति एक दूसरे को देखते थे, एक दूसरे को जानते थे। तथा यों कहते थे—अरे! अन्य प्राणी भी यहाँ जनमे है, अरे!

22. और इस त्रिसाहस्र महासाहस्र लोकधातु मे[72] छह प्रकार के अट्ठारह महानिमित्त[72] (बड़े सुगम) प्रकट हुए। (क) (1)–(वह) कांप उठा, जोर से कांप उठा, बडे जोर से कांप उठा। (2)–(वह) थर्रा उठा, जोर से थर्रा उठा, बड़े जोर से थर्रा उठा। (3)–(वह) चंचल हो उठा, जोर से चंचल हो उठा, बड़े जोर से चंचल हो उठा। (4)–(वह) क्षुब्ध हो उठा, जोर से क्षुब्ध हो उठा, बड़े जोर से क्षुब्ध हो उठा। (5)–(वह) गूँज उठा, जोर से गूँज उठा, बड़े जोर से गूँज उठा। (6)–(वह) गरज उठा, जोर से = 47 ख = गरज उठा, बड़े जोर से गरज उठा। (–52–) (7)–(वह) किनारे झुक गया, बीच मे उठ गया। (8)–(वह) बीच मे झुक गया, किनारे उठ गया। (9)–वह पूर्व दिशा मे झुक गया, पश्चिम दिशा मे उठ गया। (10)–पश्चिम दिशा में झुक गया, पूर्व दिशा में उठ गया। (11)–दक्षिण दिशा मे झुक गया, उत्तर दिशा मे उठ गया। (12)–उत्तर दिशा मे झुक गया, दक्षिण दिशा में उठ गया। –(ख) (13)–उस समय[73] हरषाने वाले, संतोष देने वाले, प्रेम उपजाने वाले, प्रसन्न करने वाले,

71. मूल, सुप्रचलितपूर्वेण। भोट, स्ङन् छद् म ब्युङ् हि, अभूतपूर्वेण, अजातपूर्वेण।

72⋯72. मूल, षड्विकारमष्टादशमहानिमित्तम्। भोट, नंम् प द्रुग् दङ् ल्तस् छेन् पो ब्चो ब्गर्यद् दु। छह तथा अट्ठारह की गणना कैसे की जाए इसका यहाँ यत्न किया गया है। क, ख, ग आदि से छह तक की गणना तथा 1, 2, 3, आदि अंकों से अट्ठारह तक की गणना की गई है। फिर भी यहां मुझे संदेह बना हुआ है।

73⋯73. मूल तथा भोट पाठ मे यहाँ समानता भग्न हुई है—मूल पाठ, हर्षणीयास्तोषणीयाः प्रेमणीयाः प्रसादनीया अवलोकनीया प्रल्हदनीया निवर्ण-

(सुनने के अनन्तर सुनाने वाले के) देखने की चाह कराने वाले, परम सुख देने वाले, निर्वर्णना अथवा प्रशंसा के योग्य ठहरने वाले, असेचनीय अर्थात् सुनते रहने पर भी जिनसे तृप्ति नहीं होती—ऐसे गुणवाले, अनुकूल, तथा त्रास न जनने वाले[73] शब्द सुनाई पड़ते थे। उस क्षण किसी प्राणी को न तो चोट-चपेट लगी, न (किसी से) घबराहट हुई, न डर ही लगा, और न डर के मारे किसी को सुन्न होना पड़ा।–(ग) (14)–उस क्षण न तो सूर्य और चन्द्रमा की और न ब्रह्मा, इन्द्र, तथा लोकपालों की ही प्रभा कुछ विशेष जान पड़ती थी। –(घ) (15)–उस क्षण नरकों में, पशुपक्षियों की योनियों में, यमलोक में उत्पन्न हुए सब प्राणी दुःखों से छुटकारा पा गए, सब सुखों को भोगने लगे। –(ङ) (16)–और किसी प्राणी को न राग सताता था, न द्वेष, न मोह, न ईर्ष्या, न मात्सर्य (कञ्जूसी), न मान, न म्रक्ष (परगुणद्वेष) न मद, न क्रोध, न व्यापाद (दूसरे को मार डालने का भाव), न परिदाह (जलन)। = 48 क = उस क्षण सभी प्राणी मन से एक दूसरे से मैत्री रखते थे, मन से एक दूसरे का हित चाहते थे, एक दूसरे से माँ-बाप की तरह (प्रेम में) बँधे थे। –(च) (17)– बिना बजाए ही (उस समय) देव लोक के तथा मनुष्य लोक के लाखों खर्व कोटि बाजे मनोहर ध्वनि करते थे। (18)–लाखों खर्व कोटि देवता हाथों से, कंधों से, सिरों से उस महाविमान को उठाए हुए थे और वे लाखों अप्सराएँ अपनी-अपनी गीति की धुन लगा (बोधिसत्त्व के) आगे-पीछे और दाहिने-बाएँ खड़ी होकर बोधिसत्त्व की संगीत की धुन के स्वर से स्तुति करती थी।

(अप्सराओं की स्तुति)

(रथोद्धता छन्द)

पूर्वकर्मशुभसंचितस्य ते दीर्घरात्र कुशलोदितस्य ते।
सत्यधर्म नयशोधितस्य[74] ते पूजा अद्य विपुला प्रवर्तते ॥136॥

नीया असेचनीया अप्रतिकूला अनुत्रासकराः। भोट पाठ में अवलोकनीयाः नहीं है, अनुत्रासकराः भी नहीं है। श्रवणीयाः तथा अनुपमेयाः एवं अद्वेषणीयाः अधिक है। असेचनीयाः का अनुवाद म्र अन् न ग्तङ् मि ब्र ब है। संपूर्ण भोट पा० यों है—ब्ग्रह् बर्, ह्.ग्युर् ब, छ्मि् पर्, ह्.ग्युर् ब. स्नु बर्-ह्.ग्युर् ब, दङ् बर् ह्.ग्युर् ब, सिम् पर्-ह्.ग्युर् ब, म्नन् पर् होस् प, ब्स्पङ्.ग्स् पर् होस् प, म्छु ङ्स् प ने.द् प म्नन् न ग्तङ् मि ब्र ब, मि म्थुन् प मेद् प, स्कड् बर् ह ग्युर् ब मेद् प वग्।

74. भोट, छोस् नंमस् कुन् गि् य छुल स्ब्यङ्स् पस्, सर्वधर्मशील-शोधितस्य (= शोधितसर्वधर्मशीलस्य), सब धर्मों के शील को तुमने शुद्ध किया है।

तुमने शुभ कर्मों का पहले से संचय कर रखा है, तुमने चिर काल तक पुण्य कमाया है, तुमने सच्चे धर्म के नय अर्थात् राह को सुधारा है, आज (इसी से तुम्हारी) महती पूजा हो रही है।

=53=पूर्वि तुभ्य बहुकल्पकोटियो दानु दत्तु प्रियपुत्रधीतराः।
तस्य दानचरितस्य तत्फलं येन दिव्य कुसुमाः प्रवर्षिताः ॥137॥

पहले बहुत से करोड़ों कल्पों तक तुमने प्यारे बेटी-बेटों का दान दे डाला है। उस दान के चरित का वह फल है, जिससे (आज) दिव्य पुष्पों की वृष्टि हुई है।

आत्ममांस तुलयित्व ते विभो सो ऽभिदत्तु प्रियपक्षिकारणात्।
तस्य दानचरितस्य तत्फलं प्रेतलोकि लभि पानभोजनं ॥138॥

हे प्रभो, पक्षी के प्रिय करने के निमित्त तुमने अपना मांस तोलकर दे डाला है। उस दान के चरित्र का वह फल है, (जो आज) प्रेतलोक में (सबको) दाना-पानी मिला है।

पूर्वि तुभ्य बहुकल्पकोटियो शील रक्षितमखण्डन व्रतं।=48=
तस्य शीलचरितस्य तत् फलं येन अक्षण अपाय शोधिताः ॥139॥

पहले बहुत से करोड़ों कल्पों तक तुमने शील की रक्षा की है, व्रत को अखण्ड बनाए रखा है। उस शील के चरित्र का वह फल है, जिससे (आठों) अक्षण तथा (सोलहों) नरक शुद्ध हो गए हैं।

पूर्वि तुभ्य बहुकल्पकोटियो क्षान्ति भावित निदानबोधये।
तस्य क्षान्तिचरितस्य तत्फलं मैत्रचित्त भुत देवमानुषाः ॥140॥

पहले बहुत से करोड़ों कल्पों तक तुमने बोधि की सिद्धि के निमित्त क्षमा की साधना की है। उस क्षमा के चरित्र का वह फल है, (जिससे) देवता और मनुष्य मैत्रीचित्त के हो गए हैं।

पूर्वि तुभ्य बहुकल्पकोटियो वीर्यु भावितमलीनमुत्तमं।
तस्य वीर्यचरितस्य तत्फलं येन कायु यथ मेरु शोभते ॥141॥

पहले बहुत से करोड़ों कल्पों तक तुमने धीरता से एवं उत्तमता से वीर्य (अर्थात् उद्योग) की साधना की है। उस वीर्य के चरित्र का वह फल है, जिससे (तुम्हारा यह) काय मेरु जैसा (सुनहरा) शोभा दे रहा है।

पूर्वि तुभ्य बहुकल्पकोटियो ध्यान ध्यायित किलेश-ध्येषणात्[74] ।
तस्य ध्यानचरितस्य तत्फलं येन क्लेश जगतो[76] न बाधते ॥142॥

पहले बहुत से करोड़ो कल्पों तक तुमने क्लेश (मन का मैल) धो डालने के लिए ध्यान-चिन्तन किया है। उस ध्यान के चरित्र का वह फल है, जिससे क्लेश लोकों को नहीं सता रहा है।

पूर्वि तुभ्य बहुकल्पकोटियो प्रज्ञ भावित किलेशच्छेदनी ।
तस्य प्रज्ञचरितस्य तत्फलं येन आभ परमो विरोचते ॥143॥

पहले बहुत से करोड़ो कल्पो तक तुमने क्लेश को छिन्न-भिन्न करने वाली प्रज्ञा की भावना की है। उस प्रकार के चरित्र का वह फल है, जिससे उत्कृष्ट आभा (=कान्ति) जगमगा रही है।

मैत्रवर्मितकिलेशसूदना सर्वसत्त्वकरुणाय उद्गता ।
मोदिप्राप्त परमा उपेक्षका ब्रह्मभूत सुगता नमोऽस्तु ते ॥144॥

हे मैत्री का कवच बांधे क्लेश को नष्ट करने वाले, सब प्राणियो पर करुणा करने के लिए उत्पन्न, मुदिता को प्राप्त, श्रेष्ठ उपेक्षा वाले, ब्रह्ममय, सुगत तुम्हें नमस्कार हो।

प्रज्ञउल्कप्रभतेजसोद्गता सर्वदोषतमसमोहशोधका ।
चक्षुभूत त्रिसहस्रि नायका मार्गदेशिक मुने नमोऽस्तु ते ॥145॥

हे प्रज्ञा की उल्का (=मशाल) के प्रकाश और तेज से ऊपर उठे हुए, समूचे मोह के दोष-रूपी अन्धकार के शोधन करने वाले, त्रिसाहस्र (लोकधातु) में नेत्रों के समान (राहपर) ले जाने वाले, मार्ग के उपदेशक, हे मुने, तुम्हें नमस्कार हो।

74 क. मूल, किलेश ध्येषणात् । भोट, नोन् मोङ्स् स्ब्यङ् स्तद्, क्लेशक्षालनात् । ध्येषणात् इस पद के स्थान में ध्यषणात्, धेपणात्, तथा ध्यासनात् पाठान्तर हैं, जो पाठविषयक संदेह के सूचक है। भोट में, स्ब्यङ् स्लद् अर्थात् क्षालनत् अथवा अधिक्षालनात् हैं। अधिक्षालनात् से अपभ्रंश ध्य (अधि)-क्षणात् (क्षालनात्) असंभव नही है। फिर ध्यक्षणात् से ध्येषणात् का होना समझ में आ सकता है। एड्‌र्जेटन् ने घर्षणात् पाठ की ऊहा की है जो निराधार है। द्रष्टव्य अध्येषण (बु० हा० सं० डि०)।

75. जगतो = जगन्ति । तुलनीय भोट, ह्ग्रो ब दग् ल । यह पद यहाँ द्वितीया विभक्ति का बहुवचन है।

ऋद्धिपादवरभिज्ञ कोविदा सत्यदर्शि परमार्थि शिक्षिता । = 49 = क
तीर्ण तारयसि अन्यप्राणिनो दाशभूत[76] सुगता नमोऽस्तु ते ॥146॥

हे ऋद्धिपादों के श्रेष्ठ ज्ञान में निपुण, सत्य के देखने वाले, परमार्थ में शिक्षा पाए हुए, स्वयं (संसार के) पार पहुँचे हुए, (तुम) अन्य प्राणियों को (संसार के) पार पहुँचा रहे हो। हे पार करने वाले नाविक, सुगत, तुम्हें नमस्कार हो।

सर्वोपायवरभिज्ञ कोविदा दर्शयसि च्युतिमच्युतिच्युति ।
लोकधर्मभवनाभिवर्तसे[77] नो च लोकि क्वचि ओपलिप्यसे ॥147॥

हे सब उपायों के ज्ञान में निपुण, (तुम अपना ऐसा) अवतार दिखला रहे हो (जो) अच्युति अर्थात् अमरता का अवतार है। दुनिया के रंग-ढंग को अपनाने (तुम) जा रहे हो (पर) दुनिया में कहीं (तुम) लिप्त नहीं हो रहे हो।

[–54–] लाभ तेष परमा अचिन्तिया येषु दर्शन श्रवं च एष्यसे ।
किं पुनः शृणुय[78] यो ति धर्मतां श्रद्ध प्रीति विपुला जनेष्यसे[79] ॥148॥

(तुम) जिनकी निगाहों में (अपने रूपद्वारा) तथा (अपने नाम से) जिनके कानों में पड़ोगे, उनका परम लाभ (कौन) सोच सकता है ? जो तुम्हारे धर्म-सिद्धान्तों को सुन कर विपुल श्रद्धा और प्रीति उत्पन्न करेगा उस (के लाभ) की तो बात ही क्या ?

जिह्म सर्व तुषितालयो भुतो जम्बुद्वीपि सुरियो[80] उदागतः ।
प्राणिकोटिनयुता अचिन्तियां बोधयिष्यसि प्रसुप्त क्लेशतो ॥149॥

76. दाशभूत का पाठान्तर दासभूत है। भोट, **ग्रोल् ग्युर्**, पार करने वाला। दाश-शब्द केवट या मल्लाह का वाचक है। यहाँ पार करने वाले के अर्थ में—नाविक के अर्थ में है। यहाँ दाश यह शब्द जातिवाचक नहीं प्रत्युत गुणवाचक है।

77. भोट, **ह्जिग् तॅन् छोस् क्यि जॅस् सु म्थुन् प म्ज़द् क्यङ्**, लोकधर्मानुगमनं कुर्वन्नपि, दुनिया के रंग ढंग का अनुकरण करते हुए भी।

78. भोट, **थोस् ते**, श्रुत्वा, सुनकर। श्रुणु-य (त्वादेश ल्यप्) एड्‌र्जेटन् साहब इसे विधिलिङ् का रूप मानते हैं। द्रष्टव्य बु० हा० सं० ग्रा० २९।४२।

79. जनेष्यसे = जनेष्यते। यहाँ पुरुष-विपर्यास है। इस क्रिया का कर्ता यः (= जो) है।

80. मूल, पुरियो। पाठान्तर सुरि यो, सूरि यो (= सुरियो, सूरियो)। भोट, **नि म, सूर्य**। मूल पाठ सूर्यः का ही अपभ्रंश सुरियो था जिसे पुरियो कर डाला गया है।

सब तुषित-लोक अंधेरा हो गया। जम्बूद्वीप में सूर्य उगा। अचिन्त्य कोटि-खर्व, क्लेश (= राग, द्वेष, तथा मोह) से सोये हुए प्राणियों को (तुम वहाँ) जगाओगे।

ऋद्ध स्फीत पुरमद्य भेष्यती देवकोटिनयुतैः समाकुलं।
अप्सरोभि तुर्यैर्निनादितं राजगेहि मधुरं श्रुणिष्यति ॥150॥

आज (कपिलवास्तु नाम का) नगर ऋद्ध—स्फीत अर्थात् धनधान्यपूर्ण एवं कोटि-खर्ब देवताओं से भरा-पुरा हो जाएगा। राजभवन के (आज) अप्सराओं के गाजे-बाजे की मधुर धुन सुन पड़ेगी।

पुण्यतेज भरिता शुभकर्मणा नारि सा परमरूप उपेता।
यस्य पुत्र अयमेव समृद्धः तिस्र लोकि अभिभाति शोरिये ॥151॥

पवित्र तेज से भरी हुई, शुभ कर्म करने वाली, परम रूप से युक्त, वह (यह) स्त्री है, जिसका इस प्रकार यह लक्ष्मी से संपन्न पुत्र तीनों लोकों को परास्त कर शोभित हो रहा है।

नो भुयो पुरवरस्मि देहिनां लोभ-दोष कलहा-विवादकाः।
सर्व मैत्रमनसः सगौरवाः भाविनो नरवरस्य तेजसा ॥152॥

उत्पन्न होने वाले श्रेष्ठ पुरुष के तेज से सभी के मन में (दूसरों के प्रति) मैत्री तथा गौरव का भाव भर गया। उस श्रेष्ठ नगर के प्राणियों में फिर न कहीं राग-द्वेष रह गए न लड़ाई-झगड़े हो।

राजवंश नृपतेः प्रवर्द्धते चक्रवर्तिकुलराजसंभवः। = 49ख =
भेष्यते कपिलसाह्वयं पुरं रत्नकोषभरितं सुसमृद्धं ॥153॥

चक्रवर्ती कुल के राजाओं से उपजा हुआ राजा (शुद्धोदन) का राजवंश बढ़ती पर है। कपिलवस्तु नगर रत्नों के भण्डारों से भरा हुआ बड़ी समृद्धि से युक्त होने वाला है।

यक्षराक्षसकुम्भाण्डगुह्यका देवदानवगणा सइन्द्रकाः।
ये स्थिता नरवरस्य रक्षकाः तेषु मोक्ष न चिरेण भेष्यते ॥154॥

यक्ष, राक्षस, कुम्भाण्ड, गुह्यक, इन्द्रसहित देवगण, तथा दानवगण जो श्रेष्ठ पुरुष की रक्षा के लिए खड़े है, उन्हे बिना बहुत देरी के ही मोक्षलाभ होगा।

पुण्युपार्जितु स्तवित्व नायकं प्रेमगौरवमुपस्थिपित्वना[81]।

81. मूल, उपस्थपित्वना, पाठान्तर, उपस्थपित्वना। तुलनीय संस्कृत प्रत्यय त्वानम् ह्विट्नी 993, बु० हा० सं० ग्रा० 35।31।

सर्व बोधि परिणामयामहे क्षिप्र भोम यथ त्वं नरोत्तम ॥155॥[82]

प्रेम और गौरव को (अपने में) प्रतिष्ठापित कर नायक की स्तुति करके जो पुण्य कमाया है, उस सब को बोधि के लिए हम निछावर कर रहे हैं। हे नरोत्तम, जैसे तुम हो वैसे ही हम भी शीघ्र हो जाएं।

॥इति श्री ललितविस्तरे प्रचलपरिवर्तो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥

82. 136-155 गाथाओं की छाया—संचितपूर्वशुभकर्मणस् ते दीर्घरात्रम् उदितकुशलस्य ते। शोधितसत्यधर्मनयस्य ते पूजाद्य विपुला प्रवर्तते ॥136॥ पूर्वे (=पूर्वम्) त्वया बहुकल्पकोटिर् दानं दत्तं प्रियपुत्रदुहितॄणाम्। तस्य दानचरितस्य तत्फलं येन दिव्यानि कुसुमानि प्रवृष्टानि ॥137॥ आत्ममांसं तुलयित्वा ते (=त्वया) विभो तद् अभिदत्तं पक्षिप्रियकारणात्। तस्य दानचरितस्य तत्फलं प्रेतलोके (सर्वो) ऽलभत पानभोजनम् ॥138॥ पूर्वे (=पूर्वम्) त्वया बहुकल्पकोटीः शीलं रक्षितम् अखण्डनं व्रतम्। तस्य शीलचरितस्य तत्फलं येनाक्षणा अपाया· शोधिताः ॥139॥ पूर्वे (=पूर्वम्) त्वया बहुकल्पकोटिः क्षान्तिर्भाविता बोधिनिदानाय (=बोधिसिद्धिहेतवे)। तस्य क्षान्तिचरितस्य तत्फलं मैत्राचित्ता भूता देवमानुषाः॥140॥ पूर्वे (=पूर्वम्) त्वया बहुकल्पकोटीर् वीर्यंभावितम् अलीनम् (=धीरं, निर्भयं) उत्तमम्। तस्य वीर्यचरितस्य तत्फलं येन कायो यथा मेरुः शोभते ॥141॥ पूर्वे (=पूर्वम्) त्वया बहुकल्पकोटीर् ध्यानं ध्यातं क्लेशाधिक्षालनात्। तस्य ध्यानचरितस्य तत्फलं येन क्लेशो जगन्ति न बाधते ॥142॥ पूर्वे (=पूर्वम्) त्वया बहुकल्पकोटीः प्रज्ञा भविता क्लेशच्छेदनी। तस्य प्रज्ञा-चरितस्य तत्फलं येनाभा परमा विरोचते ॥143॥ मैत्रीवर्मितक्लेशसूदन, सर्वसत्त्वकरुणायै-उद्गत, मुदितां प्रास, परमोपेक्षक, ब्रह्मभूत, सुगत, नमोऽस्तु ते ॥144॥ प्रज्ञोल्काप्रभातेजउद्गत सर्वमोहदोपतम शोधक चक्षुर्भूत त्रिसाहस्रे नायकमार्गदेशिकमुने नमोऽस्तु ते ॥145॥ ऋद्धिपादवराभिज्ञायां कोविद सत्यदर्शिन् परमार्थे शिक्षित। तीर्ण तारयसि अन्यप्राणिनो दाशभूत (=नाविकभूत) सुगत नमोऽस्तु ते ॥146॥ सर्वोपायवराभिज्ञायां कोविद दर्शयसि च्युतिम् अच्युतिच्युतिम्। लोकधर्मभवनमाभिवर्तसे न च लोके क्वचिद् उपलिप्यसे ॥147॥ लाभस्तेषा परमोऽचिन्त्यो येषां दर्शनं श्रवणं च एष्यमि। किं पुनः श्रुत्वा यस्ते धर्मान् (समूहार्थे ताप्रत्ययः, धर्मतां = धर्मान्) श्रद्धां प्रीतिं विपुलं जनयिष्यति (अत्र मूले जनेष्यसे इत्यत्र वचन-विपर्यास) ॥148॥ जिह्मः (=श्यामः) सर्वस् तुषितालयो भूतः, जम्बूद्वीपे सूर्य उद्गतः। प्राणिकोटिनयुतान् अचिन्त्यान् बोधयिष्यसि प्रसुप्तान् क्लेशतः

॥149॥ ऋद्धं स्फीतं पुरम् अद्य भविष्यति देवकोटिनयुतैः समाकुलम् । अप्सरोभिस्तूर्यैर्निनादितं राजगेहे मधुरं श्रोष्यते ॥150॥ पुण्यतेजसा भरिता शुभकर्मा नारी सा परमरूपेणोपेता । यस्याः पुत्रोऽयमेवं संमृद्धस् त्रिषु लोकेषु-अभिभाति श्रिया ॥151॥ न भूयः पुरवरे देहिनां लोभदोषौ कलहा विवादाः । सर्वे मैत्रीमनसः सगौरवा भाविनो नरवरस्य तेजसा ॥152॥ राजवंशो नृपतेः प्रवर्धते चक्रवर्तिकुलराजसंभवः । भविष्यति कपिलाह्वयं पुरं रत्नकोषभरितं सुसमृद्धम् ॥153॥ यक्षराक्षसकुम्भाण्डगुह्यका देवदानवगणाः सेन्द्राः । ये स्थिता नरवरस्य रक्षकास् तेषां मोक्षो न चिरेण भविष्यति ॥154॥ पुण्यमुपार्जितं स्तुत्वा नायकं प्रेमगौरवम् उपस्थाप्य । सर्वं बोधये परिणामयामः क्षिप्तं भवाम यथा त्वं नरोत्तम ॥155॥

6

॥ गर्भावक्रान्तिपरिवर्तः ॥

मुद्रितग्रन्थ ५४ (पंक्ति १८)—७६ (पंक्ति ७)

भोटानुवाद ४९ख [पंक्ति ३)—६४ख (पंक्ति २)

॥ गर्भावक्रान्तिपरिवर्त ॥

1. इस प्रकार, हे भिक्षुओं, शिशिर-काल के बीत जाने पर, विशाखा-नक्षत्र से युक्त वैशाख-मास में, श्रेष्ठ ऋतु वसन्त-काल के अवसर पर, जब पेड़ अच्छी-अच्छी पत्तियों से छा गए थे, उन पर बहुत अच्छे-अच्छे फूल फूल रहे थे, ठंढ भी चली गई थी, गर्मी भी न आ पाई थी, धुंध भी मिट गई थी, धूल भी न उड़ती थी, नरम-नरम हरे-हरे तृणों से छाई हुई धरती सुन्दर एवं शान्त थी, तब तीनों भुवनों में (–55–) ज्येष्ठ, लोक में पूजित, बोधिसत्त्व पन्द्रहवें दिन पड़ने वाली पूर्णमासी-तिथि में ऋतु-काल-मुहूर्त देख कर, पुष्य नक्षत्र के योग में, व्रतोपवास ग्रहण करने वाली जन्मदात्री माँ की दाहिनी कोख में, तुषित लोक के श्रेष्ठ भवन से उतर कर, स्मृति एवं ज्ञान के सहित, छह दाँतों के –बीर– बहूटी जैसे माथे के–सोने की रेखा जैसे दाँतों के–अविकल अंग-प्रत्यङ्गों के–परिपूर्ण इन्द्रियों के–बाल–गज बन कर, प्रविष्ट हुए। प्रविष्ट हो कर दाहिनी करवट से =५०= (गर्भ मे) रहे, बाईं करवट से न रहे।

2. सुख से सेज पर सोई माया देवी ने यह स्वप्न देखा।

(स्वप्नवर्णना)

(पुष्पिताग्रा छन्द)

हिमरजतनिभश्च षड्विषाणः सुचरण चारुभुजः सुरक्तशीर्षः।
उदरमुपगतो गजप्रधानो ललितगतिर्दृढवज्रगात्रसंधिः[1] ॥156॥

हिम एवं रजत के समान (श्वेत), छह दाँतो वाला, सुन्दर पिछले पैरों वाला, सुन्दर अगले पैरों वाला, सुन्दर लाल सिर वाला, मनोहर गति वाला, वज्र के समान दृढ अंगों की गठन वाला, श्रेष्ठ हाथी पेट मे समा गया।

न मम सुख जातु एवरूपं दृष्टमपि श्रुतं नापि चानुभूतं।
कायसुखचित्तसौख्यभावा यथरिव ध्यानसमाहिता अभूवम् ॥157॥

ऐसा सुख मैंने कभी न देखा था, न सुना था, और न भोगा था। ध्यान में मानो समाधि लग गई हो, ऐसा काय-सुख तथा चित्त-सुख मुझे हुआ।

1. संधि के लिए भोट शब्द छिड्स् है। पर मुद्रित ग्रन्थ मे छिग्स् पा० है, जो प्रामादिक है।

3. तदनन्तर माया देवी—जिनके वस्त्र-भूषण, जान पड़ता था कि, अभी-अभी शरीर से टपक पड़ेंगे, जिनके तन और मन आनन्द से भर गए थे, जिन्होंने प्रीति, प्रमोद तथा प्रसन्नता पा ली थी—उत्तम सेज पर से उठकर, स्त्रियों से घिरी हुई, (स्त्रियों द्वारा) आगे की हुई, (उस) श्रेष्ठ राजमहल के शिखर से अर्थात् ऊपरी तले से उतर कर, जहाँ अशोक-वाटिका थी वहाँ गई। वे अशोक वाटिका में सुख से बैठीं और राजा शुद्धोदन के पास दूत भेज कहलाया कि महाराज पधारें, महारानी आप का दर्शन चाहती है।

4. तब राजा शुद्धोदन—उस वचन को सुन कर जिनके मन में अत्यन्त हर्ष हुआ, (हर्ष के मारे) जिनका शरीर थर-थर काँप उठा—भद्रासन से उठ कर मन्त्रियों, नागरिकों, परिचारकों, एवं बन्धुजनों से घिरे हुए, =50 ख=जहाँ अशोक-वाटिका थी वहाँ, पहुँचे, पर अशोक-वाटिका मे प्रवेश न कर सके। उन्हें अपना शरीर बड़ा भारी लगा। अशोक-वाटिका के द्वार पर खड़े हो कर क्षण-भर सोच कर उन्होंने यह गाथा कही—

(शुद्धोदनवितर्क-गाथा, मालिनी छन्द)

न स्मरि रणशौण्डिमूर्ध संस्थस्य मह्यं
एव गुरु शरीरं मन्यमी यादृशोऽद्य।
(–56–) स्वकुलगृहमद्य न प्रभोमि प्रवेष्टुं
किमिह मम भवे ऽङ्गो कानुपृच्छेय चाहं॥158॥

मैं सोचता हूँ, आज जैसा मेरा शरीर भारी है, वैसा रण मे कुशल (वीरों) के आगे खडे होने पर (कभी) हुआ हो—ऐसा मुझे स्मरण नही। आज मैं अपने कुलगृह मे प्रवेश नही कर पा रहा हूँ। मुझे क्या हो गया? अरे, मैं किस से पूछूँ!

5. तब शुद्धावासकायिक देवपुत्र गगन-तल पर आकर ऋद्धि-बल से अपना आधा शरीर (अर्थात् सिर से कटि तक का भाग) दिखला कर राजा शुद्धोदन से[2] गाथा में कहा—

(देवपुत्रों द्वारा राजा, शुद्धोदन के वितर्क निवारण, मालिनी छन्द)

व्रततपगुणयुक्तस् तिसुलोकेषु पूज्यो
मैत्रकरुणलाभी पुण्यज्ञानाभिषिक्तः।
तुषितपुरि च्यवित्वा बोधिसत्त्वो महात्मा
नृपति तव सुतत्वं मायकुक्षोपपन्नः॥159॥

2. मूल, राजानम्। बुद्धिपत्र, राजानं शुद्धोदनं। भोट, ग्र्यल् पो ज़स् ग्चंङ् म ल, राजा शुद्धोधन को।

हे राजन्, व्रत, तपस्या, तथा गुणों से युक्त, तीनों लोकों में पूज्य, मैत्री तथा करुणा का लाभी, पवित्र ज्ञान (के जल से) अभिषेक कर चुकने वाला, महात्मा बोधिसत्त्व तुषित-पुर से अवतार ले तुम्हारे पुत्र के रूप मे मायादेवी की कोख में आया है।

(राजा शुद्धोदन की मायादेवी से जिज्ञासा, मालिनी छन्द)

दशनखं तदं कृत्वा स्वं शिरं कम्पयन्तो
नृपतिरनुप्रविष्टश्चित्रिकारानुयुक्तः ।
माय तद निरिक्ष्य मानदर्पोपनीतां
वदहि कुरुमि किं ते किं प्रयोगं भणाहि ॥160॥

तब राजा (शुद्धोदन) दस नखों (वाली उँगलियों) से (अञ्जलि बाँध) अपना सिर कँपाते हुए, सत्कार (के भाव) से युक्त भीतर घुसे (और) तब मान एवं अहंकार से रहित माया (देवी) को देख बोले—बोलो, तुम्हारे लिए क्या करूँ? बोलो, तुम क्या करना चाहती हो?

7. देवी ने कहा—

(माया देवी का शुद्धोदन से स्वाभिप्राय निवेदन, मालिनी छन्द)

हिमरजतनिकाशश्चन्द्रसूर्यातिरेकः
सुचरण सुविभक्तः षड्विषाणो महात्मा ।
गजवरु दृढसंधि वज्रकल्पस्सुरूपः
उदरि मम प्रविष्टस्तस्य हेतुं शृणुष्व ॥161॥

हिम और रजत के समान (श्वेत), चन्द्रमा और सूर्य से बढ़ कर चमकने वाला, सुन्दर पैरों वाला, कटे-छँटे अंगों वाला, छह दाँतों वाला, व्रज के समान पोढ़ा एवं गठीला, शोभन रूप वाला, श्रेष्ठ हाथी मेरी कोख में प्रविष्ट हुआ है। उसका लक्षण सुनाओ।

वितिमिर त्रिसहस्रां पश्यमी भ्राजमानां =51=
देवनयुत[3] देवाये[4] स्तुवन्ती सयानां ।
न च मम खिल दोषो नैव रोषो न मोहो
ध्यानसुखसमङ्गी जानमी शान्तचित्ता ॥162॥

(मैं) धुँधले पन से रहित, चम-चमाते हुए त्रिसाहस्र (लोक धातुओं) को देख रही हूँ। (सेज पर) लेटी (मुझ) देवी को खर्व-खर्व देवता स्तुति कर रहे

3. भोट, ल्ह नंमुस् ब्ये बस् देवकोटिः, देवकोट्या।
4. देवाये के स्थान में पाठान्तर देवीय है। भोट मे इसके स्थान मे दग् नि (=माम्, अहम्, मुझे, मैं) पाठ है।

हैं। मुझे में न तो खिल (चित्त के क्लेश विशेष) है, न द्वेष है, न रोष है, और न मोह है। शान्त-चित्त से युक्त, ध्यान-सुख के साथ ज्ञान मुझमें है।

(–57) साधु नृपति शीघ्रं ब्राह्मणानानयास्मिन्
वेदसुपिनपाठाये गृहेषू विधिज्ञा।
सुपिनु मम हि येमं व्याकरी तत्त्वयुक्तं
किमिद मम भवेया श्रेयु पापं कुलस्य ॥163॥

हे राजन्, वेदों तथा स्वप्नशास्त्रों एवं ग्रहों की गति-विधि मे कुशल ब्राह्मणों को यहाँ शीघ्र सत्कार के साथ बुलाओ, जो मेरे इस स्वप्न का ठीक-ठीक फल बतलाएँ कि इससे मेरे कुल का शुभ होगा अथवा अशुभ।

(ब्राह्मणों से स्वप्न परिपृच्छा, मालिनी छन्द)

वचनमिमु शुणित्वा पार्थिवस्तत्क्षणेन
ब्राह्मण कृतवेदनानयन् शास्त्रपाठान्।
माय पुरत स्थित्वा ब्राह्मणानामवोचत्
सुपिन मयिक दृष्टस्तस्य हेतुं शृणोथ ॥164॥

यह बात सुन कर राजा ने उसी क्षण वेदज्ञ (एवं स्वप्न-) शास्त्रपाठी ब्राह्मणों को बुलवाया। माया (देवी) ब्राह्मणों के सामने खड़ी हो कर बोली—मैंने यहाँ स्वप्न देखा है, उस का लक्षण सुनाओ।

9. ब्राह्मण बोले। बोलो देवि, तुमने कैसा स्वप्न देखा है? सुन कर (हम उसे) जान सकेंगे। देवी ने कहा—

हिमरजतनिकाशश्चन्द्रसूर्यातिरेकः
सुचरण सुविभक्तः षड्विषाणो महात्मा।
गजवरु दृढसंधि वज्रकल्पस्सुरूपः
उदरि मम प्रविष्टस्तस्य हेतुं शृणुच्च ॥165॥

हिम और रजत के समान (श्वेत) चन्द्रमा और सूर्य से बढ़कर चमकने वाला सुन्दर पैरों वाला, कटे-छँटे अंगों वाला, छह दाँतो वाला वज्र के समान पोढा एवं गठीला, शोभन रूप वाला, श्रेष्ठ हाथी मेरी कोख में प्रविष्ट हुआ है। उसका लक्षण सुनाओ।

(ब्राह्मणों द्वारा स्वप्नफल-कथन, मालिनि छन्द)

वचनमिमु श्रुणित्वा ब्राह्मणा एवमाहुः
प्रीति विपुल चिन्त्या[5] नास्ति पापं कुलेस्य।
पुत्र तव जनेसी लक्षणैर्भूषिताङ्गं
राज = 51 ख = कुलकुलीनं चक्रवर्तिं महात्मं ॥166॥

5. भोट, ब्लस् पर् ग्युर्, लभ्या।

यह बात सुन कर ब्राह्मण बोले—बड़े आनन्द (की बात) सोचो। कुल का अशुभ नही होगा। लक्षणों से अलंकृत अंगो वाला, राजवंश का वंशोद्धारक, महात्मा, चक्रवर्ती पुत्र तुम उत्पन्न करोगी।

स च पुर विजहित्वा काम राज्यं च गेहं
प्रव्रजित निरपेक्षः सर्वलोकानुकम्पी।
बुद्धो भवति एषो दक्षिणीयस्त्रिलोके
अमृतरसवरेणा तर्पयेत् सर्वलोकं ॥167॥

यदि (वह) घर, नगर, काम-भोग तथा राज्य छोड़कर, राग-रहित, सब लोगों पर दयालु हो, बे-घरबारी होगा, तो तीनों लोकों में पूजनीय बुद्ध होगा, (तथा) अमृत के उत्तम रस से संपूर्ण जगत् को तृप्त करेगा।

(-58-) व्याकरित्व गिरं सौम्यां भुक्त्वा पार्थिवभोजनं।
आच्छादनानि चोद्गृह्य प्रक्रान्ता ब्राह्मणस्तत: ॥168॥

सौम्य वाणी (से स्वप्न-फल) कह कर, राजसी भोजन खाकर, और दुपट्टे लेकर, ब्राह्मण वहाँ से विदा हो गए।

11. हे भिक्षुओं, इस प्रकार राजा शुद्धोदन ने लक्षण तथा निमित्तों को जान कर व्याख्या करने वाले तथा स्वप्न शास्त्र के अध्ययन तथा अध्यापन में निपुण ब्राह्मणो से (स्वप्न का फल) सुन कर, हर्ष-में-भर संतुष्ट होकर, प्रसन्न होकर, मन मे फूले न समा कर, प्रमोद पाकर, प्रीत एवं सौमनस्य का लाभ कर, ब्राह्मणों को बहुत-बहुत खाने-चबाने-चखने (की वस्तुओं) से तृप्त-कर आतिथ्यकर, दुपट्टे देकर विदा किया। उस समय कपिलवास्तु महानगर मे, चारों नगर के द्वारों पर, नगर के सब आँगनों और चौराहों पर (राजा शुद्धोदन ने) दान दिलवाया, अन्न चाहने वालों को अन्न, पीने की इच्छा वालों को शर्बत, कपड़े चाहने वालों को कपड़े, सवारी चाहने वालों को सवारियाँ। इसी प्रकार जो चाहते थे उन्हें गन्ध, माल्य (=पुष्प), विलेपन, शय्या और निवास। =52 क=जीविका चाहने वालो को जीविका।

12. हे भिक्षुओं, तब राजा शुद्धोदन के मन मे यह हुआ—माया देवी बिना क्लेश, सुख-पूर्वक, किस घर मे निवास करें। तब उसी क्षण चारों महाराजिक देवता राजा शुद्धोदन के पास पहुँच कर इस प्रकार बोले—

अल्पोत्सुखो देव भव सुखं तिष्ठ उपेक्षको।
वयं हि बोधिसत्त्वस्य वेश्मं वै मापयामहे ॥169॥

हे राजन्, बहुत व्याकुल न हों। चुप-चाप सुख से बैठे रहें। हम लोग बोधिसत्त्व के लिए ...

हैं। मुझ में न तो खिल (चित्त के क्लेश विशेष) है, न द्वेष है, न रोष है, औ न मोह है। शान्त-चित्त से युक्त, ध्यान-सुख के साथ ज्ञान मुझमें है।

(–57) साधु नृपति शीघ्रं ब्राह्मणानानयास्मिन्
वेदसुपिनपाठाये गृहेषू विधिज्ञा।
सुपिनु मम हि येमं व्याकरी तत्त्वयुक्तं
किमिद मम भवेया श्रेयु पापं कुलस्य ॥163॥

हे राजन्, वेदों तथा स्वप्नशास्त्रों एवं ग्रहों की गति-विधि में कुशल ब्राह्मणों को यहाँ शीघ्र सत्कार के साथ बुलाओ, जो मेरे इस स्वप्न का ठीक-ठीक फल बतलाएँ कि इससे मेरे कुल का शुभ होगा अथवा अशुभ।

(ब्राह्मणों से स्वप्न परिपृच्छा, मालिनी छन्द)

वचनमिमु शुणित्वा पार्थिवस्तत्क्षणेन
ब्राह्मण कृतवेदनानयेन् शास्त्रपाठान्।
माय पुरत स्थित्वा ब्राह्मणानामवोचत्
सुपिन मयिक दृष्टस्तस्य हेतुं शृणोथ ॥164॥

यह बात सुन कर राजा ने उसी क्षण वेदज्ञ (एवं स्वप्न-) शास्त्रपाठी ब्राह्मणों को बुलवाया। माया (देवी) ब्राह्मणों के सामने खड़ी हो कर बोलीं—मैंने यहां स्वप्न देखा है, उस का लक्षण सुनाओ।

9. ब्राह्मण बोले। बोलो देवि, तुमने कैसा स्वप्न देखा है? सुन कर (हम उसे) जान सकेंगे। देवी ने कहा—

हिमरजतनिकाशश्चन्द्रसूर्यातिरेकः
सुचरण सुविभक्तः षड्विषाणो महात्मा।
गजवरु दृढसंधि वज्रकल्पस्सुरूपः
उदरि मम प्रविष्टस्तस्य हेतुं शृणुञ्च ॥165॥

हिम और रजत के समान (श्वेत) चन्द्रमा और सूर्य से बढ़कर चमकने वाला सुन्दर पैरों वाला, कटे-छँटे अंगों वाला, छह दाँतों वाला वज्र के समान पोढ़ा एवं गठीला, शोभन रूप वाला, श्रेष्ठ हाथी मेरी कोख में प्रविष्ट हुआ है। उसका लक्षण सुनाओ।

(ब्राह्मणों द्वारा स्वप्नफल-कथन, मालिनि छन्द)

वचनमिमु श्रुणित्वा ब्राह्मणा एवमाहुः
प्रीति विपुल चिन्त्या[5] नास्ति पापं कुलस्य।
पुत्र तव जनेसी लक्षणैर्भूषिताङ्गं
राज = 51 ख = कुलकुलीनं चक्रवर्तिं महात्मं ॥166॥

5. भोट, ब्लस् पर् ग्युर्, लभ्या।

यह बात सुन कर ब्राह्मण बोले· बड़े आनन्द (की बात) सोचो। कुल का अशुभ नही होगा। लक्षणों से अलंकृत अंगों वाला, राजवंश का वंशोद्धारक, महात्मा, चक्रवर्ती पुत्र तुम उत्पन्न करोगी।

स च पुर विजहित्वा काम राज्यं च गेहं
प्रव्रजित निरपेक्षः सर्वलोकानुकम्पी।
बुद्धो भवति एषो दक्षिणीयस्त्रिलोके
अमृतरसवरेणा तर्पयेत् सर्वलोकं ॥167॥

यदि (वह) घर, नगर, काम-भोग तथा राज्य छोड़कर, राग-रहित, सब लोगों पर दयालु हो, बे-घरबारी होगा, तो तीनों लोकों में पूजनीय बुद्ध होगा, (तथा) अमृत के उत्तम रस से संपूर्ण जगत् को तृप्त करेगा।

(–58–) व्याकरित्व गिरं सौम्यां भुक्त्वा पार्थिवभोजनं।
आच्छादनानि चोद्गृह्य प्रक्रान्ता ब्राह्मणस्ततः ॥168॥

सौम्य वाणी (से स्वप्न-फल) कह कर, राजसी भोजन खाकर, और दुपट्टे लेकर, ब्राह्मण वहाँ से बिदा हो गए।

11. हे भिक्षुओं, इस प्रकार राजा शुद्धोदन ने लक्षण तथा निमित्तों को जान कर व्याख्या करने वाले तथा स्वप्न शास्त्र के अध्ययन तथा अध्यापन मे निपुण ब्राह्मणो से (स्वप्न का फल) सुन कर, हर्ष-मे-भर संतुष्ट होकर, प्रसन्न होकर, मन मे फूले न समा कर, प्रमोद पाकर, प्रीत एवं सौमनस्य का लाभ कर, ब्राह्मणों को बहुत-बहुत खाने-चबाने-चखने (की वस्तुओं) से तृप्त-कर आतिथ्यकर, दुपट्टे देकर विदा किया। उस समय कपिलवास्तु महानगर मे, चारों नगर के द्वारों पर, नगर के सब आँगनो और चौराहो पर (राजा शुद्धोदन ने) दान दिलवाया, अन्न चाहने वालों को अन्न, पीने की इच्छा वालों को शर्बत, कपड़े चाहने वालों को कपडे, सवारी चाहने वालों को सवारियाँ। इसी प्रकार जो चाहते थे उन्हें गन्ध, माल्य (=पुष्प), विलेपन, शय्या और निवास। =52 क=जीविका चाहने वालों को जीविका।

12. हे भिक्षुओं, तब राजा शुद्धोदन के मन मे यह हुआ—माया देवी बिना क्लेश, सुख-पूर्वक, किस घर में निवास करें। तब उसी क्षण चारों महाराजिक देवता राजा शुद्धोदन के पास पहुँच कर इस प्रकार बोले—

अल्पोत्सुखो देव भव सुखं तिष्ठ उपेक्षको।
वयं हि बोधिसत्वस्य वेश्म वै मापयामहे ॥169॥

हे राजन्, बहुत व्याकुल न हों। चुप-चाप सुख से बैठे रहे। हम लोग बोधिसत्व के लिए घर बना रहे है।

13. तदन्तर देवताओं के इन्द्र, शक्र राजा शुद्धोदन के पास पहुँच कर इस प्रकार बोले—

हीना विमाना पालानां त्रयस्त्रिंशानामुत्तमाः ।
वैजयन्तसमं वेश्म बोधिसत्त्वस्य दास्यहं ॥170॥

(लोक–) पाल—(महाराजिक-देवताओं) के विमान हीन हैं, त्रयस्त्रिंश–(देवताओं) के (विमान) उत्तम हैं । मैं बोधिसत्त्व के लिए वैजयन्त–(प्रासाद) के समान घर दे रहा हूँ ।

14. तदन्तर सुयाम देवपुत्र राजा शुद्धोदन के पास पहुँच कर इस प्रकार बोले—

मदीयं भवनं दृष्ट्वा विस्मिताः शक्रकोटयः ।
(–59–) सुयामभवनं श्रीमद् बोधिसत्त्वस्य दास्यहं ॥171॥

मेरे भवन को देखकर कोटि-कोटि इन्द्रों को अचरज होने लगता है । मैं बोधिसत्त्व के लिए शोभायमान सुयाम-भवन दे रहा हूँ ।

15. तदन्तर संतुषित देवपुत्र राजा शुद्धोदन के पास पहुँच कर इस प्रकार बोले—

यत्रैव उषितः पूर्वं तुषितेषु महायसा ।
तदेव भवनं रम्यं बोधिसत्त्वस्य दास्यहं ॥172॥

तुषित (–देवताओं) के बीच महायशस्वी जहाँ पहले रह चुके है, मैं बोधिसत्त्व के लिए वही रमणीय भवन दे रहा हूँ ।

16. तदनन्तर सुनिर्मित देवपुत्र राजा शुद्धोदन के पास पहुँच कर इस प्रकार बोले—

मनोमयमहं श्रीमद् वेश्म तद् =52ख= रत्नामयं ।
बोधिसत्त्वस्य पूजार्थमुपनेष्यामि पार्थिव ॥173॥

हे राजन्, मैं बोधिसत्त्व की पूजा के लिए उस (अपने) रत्नमय, शोभायमान एवं मनोनिर्मित घर को लाऊँगा ।

17. तदनन्तर परनिर्मितवशवर्ती देवपुत्र राजा शुद्धोदन के पास पहुँच कर इस प्रकार बोले—

यावन्तः कामधातुस्था विमानाः शोभनाः क्वचित् ।
भामिस्ते मद्विमानस्य भवन्त्यभिहतप्रभाः ॥174॥

कहीं भी कामधातु में जितने शोभन विमान हैं, वे मेरे विमान की प्रभा से निष्प्रभ हो जाते है ।

तत्प्रयच्छाम्यहं श्रीमद् वेश्म रत्नमयं शुभं ।
बोधिसत्त्वस्य पूजार्थमानयिष्यामि पार्थिव ॥175॥

हे राजन्, मैं वह शोभावाला, शुभ, रत्नमय घर दे रहा हूँ । बोधिसत्त्व की पूजा के लिए (मैं उसे) ले आऊँगा ।

दिव्यैः पुष्पैः समकीर्णं दिव्यगन्धोपवासितं ।
उपनामयिष्ये विपुलं यत्र देवी वसिष्यति ॥176॥

दिव्य-पुष्प जिसमे बिखरे हुए है, दिव्य-गन्ध से जो वसाया गया है, उस विशाल (भवन) को मैं ले आऊँगा । जहाँ देवी निवास करेंगी ।

18. हे भिक्षुओं, इस प्रकार सब कामधातु के निवासी देवेश्वरों ने बोधिसत्त्व की पूजा के लिए श्रेष्ठ महानगर कपिलवास्तु में अपने-अपने घर अर्पित-किए[6] । राजा शुद्धोदन ने भी बढ-चढ कर घर सँवार-कर-बनवाया जो अमानवीय तो था पर द्वियता को न पा सका था ! वहाँ महासत्त्व बोधिसत्त्व महाव्यूह समाधि की महिमा से उन सब घरों मे माया देवी को (रहती हुई) दिखलाते थे । बोधिसत्त्व माया देवी की कोख के भीतर विराजमान दाएँ पासे से पलथी मार (–60–) बैठे हुए थे । और उन सब देवेश्वरों में प्रत्येक यही जानता था कि बोधिसत्त्व की माता और कही नही बल्कि मेरे ही घर में निवास कर रही है ।

19. इस विषय में यह कहा जाता है—

(उपजाति छन्द)

=53 क = महाव्यूहाय स्थितः समाधिये
अचिन्तियां निर्मित निर्मिणित्वा ।
सर्वेष देवानभिप्राय पूरिता
नृपस्य पूर्णश्च तदा मनोरथः ॥177॥

महाव्यूह नाम की समाधि में स्थित होकर अचिन्त्य ऋद्धिमय-रूप बना कर (बोधिसत्त्व ने) सब देवताओं के अभिलाष पूरे कर दिए तथा राजा का भी मनोरथ पूर्ण हो गया ।

20. तदन्तर उस देवताओं की सभा के बीच किन्हीं देवपुत्रों के मन में ऐसा हुआ—जो ये चातुर्महाराजिक देवता है वे भी जब मनुष्य के आश्रय (= शरीर)

6. मूल, मापितान्यभूवन् (बनाए) । पाठान्तर प्रदत्तान्यभूवन् (अर्पित-किए) । भोट, फुल् बर् ग्युर् तो, दत्तान्यभूवन्, दिए ।

के भीतर होने वाले दुर्गन्ध से[7] घृणा कर दूर भागते हैं, तब जो दूसरे बड़े-बड़े-त्रयस्त्रिंश, याम, अथवा तुषित (लोक के) देवता हैं, उनका कहना ही क्या? इसलिए सब लोकों से ऊपर उठे हुए, पवित्र, दुर्गन्ध-रहित प्राणियों मे श्रेष्ठ, तुषित-लोक के देव-निकाय से अवतार लेकर, बोधिसत्त्व माता की कोख मे दस मास तक कैसे ठहरे ?

21. *तब आयुष्मान्* आनन्द बुद्ध के प्रताप से (प्रेरणा पाकर) भगवान् से यों बोले—भगवान्, यह आश्चर्य की बात है जो तथागत ने स्त्री-जनों को घृणा के योग्य, यहाँ तक कि, रागियों के पीछे चलने वाला कहा है। पर भगवान् यह तो और भी आश्चर्य की बात है कि (उसी स्त्री-रूपी) मनुष्य के दुर्गन्ध[8] शरीर में, माता की दाईं कोख में, पहले से बोधिसत्त्व हो, (फिर) तुषित लोक के देव-निकाय से अवतार ले, भगवान् उत्पन्न हुए। यह कैसे ? *भगवन्* = 53ख = आप से[9] इस प्रकार यह कहने का मुझ मे उत्साह नही[9]। पर भगवान् ने जैसा पहले कहा है, उसी के कारण (मैं यहाँ पूछ रहा हूँ)।

22. भगवान् बोले। आनन्द, क्या तुम बोधिसत्त्व के रत्नमय उस परिभोग (= निवासस्थान) को देखना चाहते हो, जो कि परिभोग माता की कोख मे रहते हुए बोधिसत्त्व के लिए था। आनन्द बोले! भगवन्, उसका यही काल है सुगत उसका यही समय है कि तथागत बोधिसत्त्व के उस परिभोग का दर्शन कराएँ, जिसे देख कर (हम सब)[10] आनन्द का अनुभव करें[10]।

23. (–61–) तब भगवान् ने वैसा निमित्त किया कि ब्रह्मा सहांपति अड़सठ लाख ब्रह्माओं के साथ ब्रह्मलोक से (अपने को) अन्तर्धान कर भगवान् के सामने आ खड़े हुए। वे भगवान् के चरणों की सिर से वन्दना कर, तीन बार प्रदक्षिणा कर, भगवान् को माथा नवाते हुए, अञ्जलि बाँधे खड़े हुए। उस समय भगवान् जानते हुए भी सहांपति ब्रह्मा से बोले- हे ब्रह्मन्, तुमने क्या

7. मूल, गतत्वेत। पाठान्तर, दुर्गन्घेन, दुर्गन्धे। तुलनीय भोट, मि हि् लुस् क्यि द्रि ब्रो न, मनुष्य-शरीर-दुर्गन्धे।
8. मूल, दुर्गन्धे। भोट मे यह नही है। पाठान्तर मे है पर मुद्रित ग्रन्थ में इसे ब्रेकेट मे डाल दिया है।
9. नाहं····उत्सहेत एवं वक्तुं-इस मूल पाठ में उत्सहेत का शोधन उत्सहेत करना होगा। पाठान्तर उत्सहे है भी। भोट, दे स्कद् द्रु स्म्र वर् नि वृदग् ल स्प्रो व म म्छिस् सो, मयि नास्त्युत्साह एवं वक्तुम्।
10. मूल, प्रीति वेत्स्यामः। पाठान्तर, प्रीतिं वेत्स्यामः। भोट, ब्लो व द्गह् ह्ो, जान कर आनन्दित हों।

बोधिसत्त्व के, दस मास तक (गर्भ में) रहने के, उस परिभोग (= निवासस्थान) को जो बोधिसत्त्व के रूप में (गर्भ मे रहते हुए) मेरी माता की कोख में था रख छोड़ा है। ब्रह्मा ने कहा हाँ, भगवन् (रख छोडा है) हाँ, सुगत (रख छोड़ा है)। भगवान् बोले हे ब्रह्मन्, वह कहाँ है, उसे लाकर दिखाओ। ब्रह्मा ने कहा भगवन् वह ब्रह्म = 54क = लोक मे है। भगवान् बोले—हे ब्रह्मन्, तब तुम उसे लाकर दिखाओ। दस मास तक बोधिसत्त्व के रहने का वह परिभोग कितना अच्छी तरह बना था—इसे (लोग) जानें।

24. तदनन्तर सहापति ब्रह्मा ने उन ब्रह्माओं से कहा। आप लोग तब तक ठहरें, जब तक हम बोधिसत्त्व के रत्नव्यूह (= रत्नों से बने हुए) परिभोग को लाएँ। फिर सहापति ब्रह्मा भगवान् के चरणों मे शिर से वन्दना कर, भगवान् के सामने से अर्न्तधान होकर, उसी क्षण ब्रह्म-लोक मे जा विराजे। फिर (वहाँ) सहापति ब्रह्मा ने देवपुत्र सुब्रह्म से यह कहा—हे मार्ष, (मित्र) तुम यहाँ पर ब्रह्म-लोक से लेकर त्रयस्त्रिंशलोक तक सुना जा सकने वाला शब्द करो—घोष करो कि बोधिसत्त्व के रत्नव्यूह परिभोग को हम तथागत के पास ले जा रहे है, तुम सब के बीच जो देखना चाहता हो, आए।

25. तदनन्तर सहापति ब्रह्मा लाख-लाख खर्वो के चौरासी कोटि देवताओं के साथ बोधिसत्त्व के रत्नव्यूह परिभोग को लेकर तीन सौ योजन के ब्राह्म-विमान पर रख कर लाख-लाख खर्वो के अनेक करोड़ देवताओं द्वारा चारों ओर से घेर कर = 54ख = जबू-द्वीप में उतारा।

26. (–62–) उस समय भगवान् के पास जाने के लिए कामावचर देव-ताओं की बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई। बोधिसत्त्व का वह रत्नव्यूह परिभोग दिव्य वस्त्रों से, दिव्य मालाओं से, दिव्य पुष्पों से, दिव्य गन्धों से, दिव्य वाद्यों से तथा दिव्य भोगों से सजा कर बनाया गया था। वह उतने महान् ऐश्वर्य वाले देवताओं से घिरा हुआ था कि देवताओं के इन्द्र शक्र ने [11]महा-मेरु की चोटि पर [11]खड़े होकर, दूर से ही मुँह पर तालपत्र का छाता लगा कर, [12]माथा तिरछा करके देखा, पर आँखें खोल निहार कर, न देख सके। [12]वह किस कारण से। ब्रह्म-

11····11. मूल सुमेरौ (समुद्रे) : भोट, र्ग्यम्छो छेन् पो हि द्बुस् सु, महासमुद्र-मध्ये। सुमेरौ—यह संभवतः ठीक है। महामेरुशिखरे कदाचित् मूल पाठ था।

12····12. मूल शीर्षव्यवलोकनेनानुविलोकयति स्म। उन्मेषघ्यायिकया वा न च शक्नोतिस्म द्रष्टुं। भोट,म्गो ब्योल् नस् ब्ल्तस् नस् बयङ् स्योङ् बर् मि नुस् सो, शिरः तिर्यक्कृत्यावलोकयन्नपि द्रष्टु न शक्नोति स्म।

देव बड़े ऐश्वर्य वाले होते हैं। त्रयस्त्रिश, याम, तुषित, निर्माणरति, तथा पर-निर्मितवशवर्ति लोकों के देवता हीन होते हैं। फिर देवताओं के इन्द्र शक्र की बात ही क्या ?[13]

27 तब फिर भगवान् ने उस दिव्य गाजे-बाजे की गूंज को अर्न्तधान कर दिया। वह किसलिए। वह इसलिए कि कहीं सुनने के साथ-ही-साथ जंबू-द्वीप के मनुष्य मतवाले न हो जाएँ।

28. तब चारों महाराजिक देवता देवताओं के इन्द्र शक्र के पास जा कर यों बोले—हे देवताओं के इन्द्र, कैसे करें। बोधिसत्त्व का रत्नव्यूह परिभोग देखने को नही मिल रहा है। वे उनसे बोले। से मार्षो (मित्रों), मै क्या करूँ ? मुझे भी =55क= देखने को नहीं मिल रहा है। पर भगवान् के पास ले जाए जाने पर देखने को मिलेगा। वे बोले। हे इन्द्र, तब तो ऐसा करो कि उसका शीघ्र दर्शन हो। शक्र बोले। हे मार्षो (मित्रो), क्षण भर ठहरो, जब तक श्रेष्ठ-श्रेष्ठ देवपुत्र भगवान् का प्रतिसंमोदन (=अभिवादन एवं कुशलप्रश्न) कर चुकें। तब वे एक कोने में खड़े हो सिर उठा-उठा भगवान् की ओर निहारने लगे।

29. (–63–) तदनन्तर सहापति ब्रह्मा लाख-लाख खर्वो के चौरासी कोटि देवताओं के साथ बोधिसत्त्व के उस रत्नव्यूह परिभोग को लेकर जहाँ भगवान् थे वहाँ पहुँचाया। वह बोधिसत्त्व का रत्नव्यूह परिभोग रूपवान्, मनोहर, दर्शनीय, चौकोर, चार खंभों वाला था, और ऊपर से कूटागार अर्थात् अटे के द्वारा भली-भाँति सजा हुआ था। ऊँचाई में छह मास का बच्चा जितना होता है, उतना ही वह बडा था था। उस कूटागार अर्थात् अंटे के बीचों-बीच बिछा हुआ पलंग छह मास के बच्चे के भित्तोफलक अर्थात् खटोले जैसा जान पडता था। वह बोधिसत्त्व का रत्नव्यूह परिभोग रंग-रूप तथा आकार-प्रकार मे ऐसा था कि उसकी बराबरी मे कोई भी (अन्य रत्नव्यूह) देवताओं, =55ख= मारो, एव ब्रह्माओं से युक्त (इस) लोक में न ठहरा, चाहे रंग-रूप मे हो और चाहे आकार-प्रकार मे हो। उसे देख कर देवताओं को भी अचरज हुआ। उनकी आँखें भरमा गई। वह तथागत के पास रखा हुआ बहुत-बहुत चमकता था, तपता था, शोभा देता था। जैसे सोना चतुर सुनार के द्वारा दो-दो बार धौंक कर, कचाई निकाल कर, पक्का होने पर चम-चमाता है, वैसे ही वह कूटागार अर्थात् अंटा चम-चमा रहा था। बोधिसत्त्व के परिभोग मे (ऐसा) पलंग बिछा था, जिसकी बराबरी बोधि-सत्त्व की शंख जैसी ग्रीवा को छोड कर देवताओं, मारों और ब्रह्माओं से युक्त (इस) लोक मे, चाहे रूप-रंग हो और चाहे आकार-प्रकार हो, किसी से नही हो

13. इसके अनन्तर, चतुष्कोणबन्धनी में पाठ है—[मोहं ते वै यान्ति स्म] यह पाठ भोट मे नही है।

सकती। महाब्रह्मा ने जो चीवर ओढ रखा था, वह बोधिसत्त्व के पलंग के आगे उसी तरह न सोहाता था, जिस तरह आँधी-पानी का मारा काला कंबल। वह कूटागार अर्थात् अंटा (ऐसे) उरगसार (नाम के) चन्दन से युक्त था, जिसके सुवर्णधरणी अर्थात् छह माषे के एक (खण्ड) का मूल्य एकसाहस्र-लोकधातु लगाया जाना उचित हो सकता है। वैसे उरगसार (नाम के) चन्दन से वह कूटागार (=अंटा) चारों ओर से लिपा हुआ था। वैसा दूसरा कूटागार (=अंटा) बनाया गया था, जो उस पहले के कूटागार (=अंटे) के भीतर था, पर उससे बिना सटे बिना चिपके ठहरा हुआ था। वैसा ही तीसरा भी (–64–) कूटागार (–अंटा) था, जो उस दूसरे कूटागार (=अंटे) के भीतर, उससे बिना सटे बिना चिपके ठहरा हुआ था। और वह पलंग उस सुगन्धमय तीसरे कूटागार मे ढँक कर रखा हुआ था। और उस उरगसार (नाम के) चन्दन का रंग =56क= इस प्रकार का था कि जिस प्रकार का (रंग) उत्तम जाति की नीली वैडूर्य (मणि) का होता है। उस सुगन्ध-कूटागार के ऊपर चारो ओर, जितने–कुछ दिव्यातीत (=देव-लोक से भी बढकर) पुष्प थे, वे सब बोधिसत्त्व के पहले (के जन्मों मे) रोपे गए कुशल-मूल (=अलोभ, अद्वेष, तथा अमोह) के पक्के हो जाने के कारण, उस कूटागार मे [15]बिना उपजाए[15] ही होते थे। वह बोधिसत्त्व का रत्नव्यूह परिभोग वज्र (हीरे) के समान अभेद्य तथा दृढ-सार वाला था, तथा छूने मे काचिलिन्दिक-वस्त्र जैसा सुखदायक स्पर्श वाला था। बोधिसत्त्व के रत्नव्यूह परिभोग में कामावचर देवताओं के जो-कोई भवन-व्यूह थे, वे सब वहाँ दिखाई देते थे।

30. जिस रात को बोधिसत्त्व माता की कोख में आए, उसी रात को जल-राशि से अडसठ लाख योजन महापृथिवी को ब्रह्म लोक तक भेद कर कमल निकला। उस कमल को सारथि (=जीवन रथ को राह पर ले जाने वाले) मनुष्यों में श्रेष्ठ, दशशतसाहस्रिक (=दसलाख देवताओ के अधिपति) महाब्रह्मा को छोड़ कर और कोई नही देखता था। और जो इस त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोकधातु में ओज (बल), मण्ड (=सार), अथवा रस होता है, वह सब उस महापद्म के [16]मधुबिन्दु मे[16] विद्यमान था।

14⋯14. मूल, तदेकान्ते स्थित्वा। भोट, दे नस् दे दग् फ्योगस् गचिग् तु ह्खोद् दे, अथैकान्ते ते स्थित्वा।

15⋯15. मूल, अनुप्राप्तानि। भोट, म स्क्येद् पर्, अनुत्पन्नानि, अनुत्पादितानि, बिना उगे, बिना उपजाए। भोट पाठ ही ठीक जान पड़ता है।

16⋯16. मूल, मधुबिन्दु। भोट, स्ब्रङ् र्चिग्स् पर् मधुबिन्दौ, मधुबिन्दु मे। सप्तम्यन्त पद से अर्थ ठीक बैठता है पर मूल प्रथमान्त है।

31. महाब्रह्मा उसे वैडूर्य के शोभन पात्र मे रख कर =56ख= बोधिसत्त्व को अर्पित करते थे। बोधिसत्त्व उसे लेकर महाब्रह्म पर कृपा कर खाते थे। सब बोधिसत्त्व भूमियों को परिपूर्ण कर डालने वाले अन्तिम-जन्म-धारी बोधिसत्त्व को छोड़ कर प्राणियो के समुदाय में ऐसा कोई प्राणी नही है, जिसे वह ओज-बिन्दु खाने पर ठीक-ठीक सुख से पच सके। किस कर्म के फल के वह ओज-बिंदु बोधिसत्त्व के पास आता था? बहुत समय तक (–65–) पहले (के जन्मों मे) बोधिसत्त्वों की चर्या का आचरण करते हुए बोधिसत्त्व ने रोगि-प्राणियों को दवा-दारू दी, दूसरे प्राणियों की इच्छाएँ पूरी कीं, शरणागतों को नही त्यागा, सर्वदा प्रथम फूल, प्रथम फल, प्रथम रस तथागतों तथागत के चैत्यों और तथागत के श्रावक-संघ एवं माता-पिता को देकर अपने आप बाद में ग्रहण किया। उस कर्म के फल के कारण महाब्रह्मा वह मधु-बिंदु बोधिसत्त्व को अर्पित करते थे।

32. उस कूटागार में[17] जो–कोई स्थान अतिक्रान्त–अतिक्रान्त अर्थात् सब से बढ-चढ़ कर, माया से, गुणों से, रति (=आनन्द) की क्रीड़ाओं से व्याप्त थे[17] वे सब बोधिसत्त्व के पहले के (जन्मों में किए गए) कर्म के =57 क= फल से प्रकट ही दिखाई पडते थे।

33. बोधिसत्त्व के उस रत्नव्यूह परिभोग में शतसहस्रव्यूह (अर्थात् लाख मूल्य के जडाऊ) वस्त्रों का जोड़ा प्रकट हुआ। अन्तिम–जन्म–धारी बोधिसत्त्व को छोड़ कर प्राणियों के समूह मे और कोई प्राणी नही है जिसके लिए वह (वस्त्र) प्रकट हो। ऐसे उत्तमोत्तम रूप, शब्द, गन्ध, रस, तथा स्पर्श (कहीं) नही है, जो उस कूटागार मे दिखाई न देते हों। [18]और वह[18] कूटागार परिभोग बाहर-भीतर इस प्रकार सुन्दर ढंग से सजाया गया था, इस प्रकार सुन्दर ढंग से बनाया गया था, और ऐसा कोमल था कि उदाहरण भर के लिए

17··· 17. मूल, यानि कानिचित् सन्त्यतिक्रान्तातिक्रानि मायागुणरतिक्रीडा-समवसृतस्थानानानि। भोट, ग्नस् क्यि ख्यद् पर् दगह ब दङ्, चॆंद् मो दङ्, फ्रेद् प ब्ग्युस् दङ् ल्दन् प ·· हूफग्स् प जि स्नेद् चिग् योद् प = स्थान-विशिष्टानि रतिक्रीडातिक्रान्तिग्रथनवन्ति····श्रेष्ठानि यावन्ति कानिचित् सन्ति। मायागुण का अनुवाद यहाँ दृष्टिगोचर नही होता। अतिक्रान्त-अतिक्रान्त–इस आम्रेडन को यहाँ दो शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है। पहला शब्द फ्रेद् प है तथा दूसरा हूफग्स प जान पड़ता है। स्थानानि का प्रति-शब्द ब्ग्युस् प (=ग्रथित, व्याप्त) है।

18····18. मूल, स चेत्। यह पाठ प्रामादिक है। भोट, दे नि, स खलु। कदा-चित् मूल पाठ 'स च' था।

कहें तो[19] काचिलिन्दिक वस्त्र जैसा सुखदायक स्पर्श वाला[19] था, वस्तुतः उसकी उपमा नहीं ही है।

34.[20] यह धर्मता (अर्थात् निश्चय से घटने वाली भवितव्यता या होनहार) है[20]। बोधिसत्त्व के पहले (जन्मों के) प्रणिधान (=संकल्प) से[21] यह (=धर्मता) चेतना (=मनः कर्म) से समृद्ध—हुई है—उपजी है[21]। अवश्य ही महासत्त्व बोधिसत्त्व को मनुष्य लोक में उत्पन्न होना है, (घर से) निकल कर अनुत्तर सम्यक् संबोधि का सम्यक् बोध कर धर्मचक्र प्रवर्तित करना है। जिस माता की कोख में (बोधिसत्त्व) का जन्म होता है, उसकी दाहिनी कोख में आरंभ से ही रत्नव्यूह कूटागार बना होता है। अनन्तर बोधिसत्त्व तुषितलोक से=57 ख=अवतार ग्रहण कर उस कूटागार में पलंग पर बैठे-बैठे उत्पन्न होते हैं।

35. अन्तिम-जन्म-धारी बोधिसत्त्व का (–66–) शरीर कलल-अर्बुद-घन-पेशी (नामक गर्भ की) अवस्थाओं में नहीं रहा, प्रत्युत सब अंगों-प्रत्यंगों तथा उनके लक्षणों से संपन्न बैठे का बैठा ही प्रकट हुआ। और स्वप्न देखती-देखती माया देवी ने महान् श्रेष्ठ हाथी को (कोख में) प्रविष्ट होते जाना।

36. उनके उस प्रकार बैठने पर देवताओं के इन्द्र शक्र, चारों महाराजिक देवता, अट्ठाईस महायक्ष सेनापति, तथा जिस यक्षकुल से वज्रपाणि की उत्पत्ति हुई, उसके गुह्यकाधिपति बोधिसत्त्व को माता की कोख में जान कर नित्य-निरन्तर साथ रहने लगे। बोधिसत्त्व की चार परिचारिका देवियाँ, जिसके नाम उत्खली, समुत्खली, ध्वजवती और प्रभावती हैं, वे भी बोधिसत्त्व को माता की कोख में जान कर नित्य-निरन्तर रखवाली में रहने लगीं। देवताओं के इन्द्र

19....19. मूल, काचिलिन्दिकसुखसंस्पर्शः। भोट युल् क लिङ् क नस् ब्युङ् ब हि दर् ल्तर् रेग् न बदे ब ह्रो, कलिङ्गविषयोद्भवपट्टसदृशसुखसंस्पर्श, कलिङ्ग देश के रेशमी वस्त्र के समान सुखदायक स्पर्श वाला।

20....20. धर्मता खल्वेषा—यह मूल पाठ यहाँ पर है पर भोट में वह दिखाई नहीं देता।

21....21. मूल, इयं चेतना ऋद्धावश्यं। अन्तिम पद अवश्यं दूसरे वाक्य का आरम्भक पद है, उसे हटा दें तो पाठ इयं चेतना ऋद्धाव् रहता है ऋद्धा तथा अवश्यं के बीच वकार व्यंजनभक्ति है। तुलनीय भोट, ह्रदि नि ब्सम्स्स् ह्र ग्रुप् ते, इयं चेतनया सिद्धा अथवा सिद्ध्यति स्म, यह चेतना से उपजी है।

शक्र भी पाँच सौ देवपुत्रों के साथ बोधिसत्त्व को माता की कोख में जान कर नित्य-निरन्तर साथ रहने लगे।

37. माता की कोख में विराजते हुए बोधिसत्त्व का शरीर ऐसा था जैसा कि पर्वत के शिखर पर अंधेरे से काली रात में महान् अग्नि-राशि =58क= योजन भर से भी दिखाई देती हो। इसी प्रकार माता की कोख में विराजते हुए बोधिसत्त्व का शरीर ऐसा सुघटित था कि उससे चमक निकलती थी, रूप बरसता था, (चित्त में) प्रसन्नता उपजती थी, और वह देखते ही बनता था। वह वैडूर्यमणि (के पात्र) में रखा हुए उत्तम जाति के शुद्ध सुवर्ण के समान कूटागार के पलंग पर बैठे-बैठे अतीव शोभा देता था। बोधिसत्त्व की माता ध्यानावस्थित हो बोधिसत्त्व को कोख मे विराजते देखा करती थी। (उपमा के लिए कहें तो) जैसे महान् मेघ के शिखर से विजलियाँ निकल कर बड़ी चमक-धमक उपजाती है, वैसे ही बोधिसत्त्व माता की कोख में विराजते हुए शोभा से, तेज से, तथा रंग से उस प्रथम रत्नकूटागार को प्रकाशित करते थे। (उसे) प्रकाशित कर दूसरे (–67–) गन्धकूटागार को प्रकाशित करते थे। दूसरे गन्धकूटागार को प्रकाशित कर[22] तीसरे गन्धकूटागार[22] को प्रकाशित करते थे।[22] तीसरे गन्धकूटागार[22] को प्रकाशित कर माता के समूचे शरीर को प्रकाशित करते थे। उसे प्रकाशित कर जिस आसन पर बैठते थे, उसे प्रकाशित करते थे। उसे प्रकाशित कर सारे घर को प्रकाशित करते थे। सारे घर को प्रकाशित कर, घर के ऊपर से निकल कर (प्रकटे हुए प्रकाश से) पूर्व दिशा को प्रकाशित करते थे। उसी प्रकार दक्षिण =58 ख= पश्चिम, उत्तर, नीचे, ऊपर, चारों ओर से दसों दिशाओं को, प्रत्येक दिशा में कोस-कोस भर तक, माता की कोख मे विराजते हुए बोधिसत्त्व को शोभा से, तेज से तथा रंग से प्रकाशित करते थे।

38. भिक्षुओं, चातुर्महाराजिक देवता, पाँच सौ यक्षों के साथ अट्ठाईस महायक्ष सेनापति पहले पहर सवेरे-सवेरे बोधिसत्त्व के दर्शन, वन्दना, पर्युपासने, एवं धर्म-श्रवण के लिए आते थे। तब बोधिसत्त्व उन्हें आया जान कर दाहिना हाथ उठा कर एक उँगली से आसनों की ओर संकेत करते थे। वे लोक-पाल आदि बिछे आसनो पर बैठते थे। तथा बोधिसत्त्व को माता की कोख में सुवर्ण के शरीर जैसा विराजते हुए, हाथ को फैलाते-सिकोड़ते एवं उठाते-रखते हुए देखते थे। वे प्रमोद एवं प्रसन्नता पा कर बोधिसत्त्व को नमस्कार करते थे।

22....22. मूल, तृतीयं रत्नकूटागारम्। भोट, स्पोस् क्यि खङ् प व्र्चेगस् पो गसुम् प, तृतीयं गन्धकूटागारम्। भोट, पाठ उचित है।

बैठा जानकर बोधिसत्त्व धर्म की कथा द्वारा उन्हें (धर्म का) दर्शन कराते थे, (धर्म को) ग्रहण कराते थे, (धर्म के लिए) उत्तेजित करते थे, (धर्म से) हर्ष उपजाते थे। और जब वे जाना चाहते थे, तब बोधिसत्त्व उनके मन की बात मन से ही जान कर दाहिना हाथ उठा कर फैलाते थे, =59 क= फैला कर सिकोड़ते थे, और माता को कष्ट होने न देते थे। तब चातुर्महाराजिक देवताओं के मन में ऐसा होता था कि बोधिसत्त्व ने हमें बिदा कर दिया। (-68) वे बोधिसत्त्व की और बोधिसत्त्व की माता की तीन बार दक्षिणा करके चले जाते थे। यही हेतु है—यही कारण है जो बोधिसत्त्व 22क प्रशान्त हो रही रात में 22क दाहिना हाथ फैलाते थे और सिकोड़ते थे।

39. इसके अतिरिक्त जब—कभी बोधिसत्त्व के दर्शन के लिए स्त्री-पुरुष वा लड़की-लड़के आते थे, तब पहले बोधिसत्त्व उनसे कुशल-मंगल कहते थे, पीछे बोधिसत्त्व की माता। इस प्रकार हे भिक्षुओं, माता की कोख में विराजते हुए ही बोधिसत्त्व प्राणियों के कुशल-मंगल कहने में निपुण थे। कोई देवता, नाग, यक्ष, मनुष्य, वा अमनुष्य नहीं है, जो पहले ही बोधिसत्त्व से कुशल-मंगल कह सके प्रत्युत पहले बोधिसत्त्व ही कुशल-मंगल कहते थे, पीछे बोधिसत्त्व की माता।

40. पहले पहर के बीत जाने पर, दोपहर के आने पर, देवताओं के इन्द्र शक्र तथा त्रयस्त्रिंशत् लोक के देवपुत्र =59ख= निकल-निकल कर बोधिसत्त्व के दर्शन, वन्दन, पर्युपासन एवं धर्मश्रवण के लिए आते थे। उन्हें दूर से ही आते देख, बोधिसत्त्व सोने के रंग का दाहिना हाथ फैला कर, देवताओं के इन्द्र शक्र तथा त्रयस्त्रिंश लोक के देवताओं से कुशल-मंगल कहते थे, एक उंगली से आसनों की ओर संकेत करते थे। हे भिक्षुओं, देवताओं के इन्द्र, शक्र बोधिसत्त्व की आज्ञा टाल न सकते थे। देवताओं के इन्द्र, शक्र तथा दूसरे देवता बिछे आसनों पर बैठते थे। उन्हें बैठा जान कर बोधिसत्त्व धर्म की कथा द्वारा उन्हें (धर्म का) दर्शन कराते थे, (धर्म को) ग्रहण कराते थे, (धर्म के लिए) उत्तेजित करते थे, (-69-) (धर्म से) हर्ष उपजाते थे। जिस ओर बोधिसत्त्व हाथ फैलाते थे, उसी ओर बोधिसत्त्व की माता मुख करती थी। उससे उनके मन में ऐसा होता था कि बोधिसत्त्व हमसे कुशल-मंगल कह रहे हैं। प्रत्येक यही समझता था कि बोधिसत्त्व मुझसे ही बात कर रहे हैं, मुझ से ही कुशल-मंगल कह रहे हैं।

22 क····22क मूल, रात्रौ प्रशान्तायां। भोट, नुब् मो मि नस् नस् द्रष्टव्य टिप्पणी इसी परिवर्त में 27····27, तथा परिवर्त 1 टिप्पणी 62····62।

41. उस कूटागार पर देवताओं के इन्द्र शक्र तथा त्रयस्त्रिंश लोक के देवताओं की परछाई पड़ती दिखाई देती थी। माता की कोख मे विराजते हुए बोधिसत्त्व का परिभोग (=वासस्थान) जैसा परिशुद्ध होता है, वैसा अन्यत्र नही होता। हे भिक्षुओं, =60क=जब देवताओ के इन्द्र, शक्र तथा अन्य देवपुत्र जाना चाहते थे, तब बोधिसत्त्व उनके मन की बात से जान कर दाहिने हाथ को उठा कर फैलाते थे, फैला कर फिर सिकोड कर, स्मृति एवं ज्ञान के साथ (यथा-स्थान हाथ को) रखते थे, और माता को कष्ट न होने देते थे। उस समय देवताओ के इन्द्र शक्र तथा अन्य त्रयस्त्रिंश लोक के देवताओं के मन मे ऐसा होता था कि बोधिसत्त्व ने हमे बिदा कर दिया। वे बोधिसत्त्व की तथा बोधिसत्त्व की माता की तीन बार प्रदक्षिणा कर चले जाते थे।

42. हे भिक्षुओ, दोपहर के बीत जाने पर, संध्या के आने पर, सहापति ब्रह्मा अनेक–शतसहस्र देवपुत्रों से घिरे उनके आगे-आगे रह कर, उस दिव्य ओजोबिंदु को लेकर जहां बोधिसत्त्व होते थे, वहाँ पहुँचते थे, बोधिसत्त्व को देखने के लिए, वन्दना करने के लिए, पर्युपासना करने के लिए, और धर्म सुनने के लिए। हे भिक्षुओं, सहापति ब्रह्मा को परिवार के साथ आता देख बोधिसत्त्व स्वागत करते थे, फिर बोधिसत्त्व सोने के जैसे दाहिने हाथ को उठाकर सहापति ब्रह्मा तथा ब्रह्मकायिक देवपुत्रों से कुशल-मंगल =60ख= कहते थे, एवं एक उंगली से आसनों की ओर संकेत करते थे। हे भिक्षुओ, यह शक्ति न होती थी (–70–) सहापति ब्रह्मा की कि बोधिसत्त्व की आज्ञा को टाल सकें। हे भिक्षुओं, सहापति ब्रह्मा तथा अन्य ब्रह्मकायिक देवपुत्र बिछे हुए आसनों पर बैठते थे। उन्हें बैठा जान कर बोधिसत्त्व धर्म की कथा द्वारा उन्हें (धर्म का) दर्शन कराते थे, (धर्म को) ग्रहण कराते, (धर्म के लिए) उत्तेजित करते थे, (धर्म से) हर्ष उप-जाते थे। जिस ओर बोधिसत्त्व हाथ फैलाते थे, उसी ओर मायादेवी मुख करती थी। उससे उनमे से प्रत्येक के मन मे ऐसा होता था कि बोधिसत्त्व मुझसे ही बात कर रहे हैं, मुझ से ही कुशल-मंगल कह रहे है। हे भिक्षुओ,[23] जब सहा-पति ब्रह्मा तथा अन्य ब्रह्मकायिक देवपुत्र जाना चाहते थे, तब बोधिसत्त्व उनके मन की बात मन से जान कर सोने की जैसी [24]दाहिनी बाँह[24] को उठा कर

23....23. मूल यदा च, भोट-दुगे त्स्नोड् दग् गङ् छे, भिक्षव· यदा च, हे भिक्षुओ जबा।

24. मूल, दक्षिणबाहुम्। भोट, लग् प ग्यस् प, दक्षिणहस्तम्।

फैलाते थे, [25]फैलाकर सिकोड़ कर, अवसादनाकारेण अर्थात् विसर्जन या विदाई के ढग से हाथ फैलाते थे[25]। [26]और माता को कष्ट न होने देते थे[26]। उससे सहापति ब्रह्मा तथा अन्य ब्रह्मकायिक देवपुत्रों के मन में ऐसा होता था, कि बोधिसत्व ने हमे विदा कर दिया। =61क=बोधिसत्व की तथा बोधिसत्त्व की माता की तीन बार प्रदक्षिणा कर चले जाते थे। और (तब) बोधिसत्त्व स्मृति एवं ज्ञान के साथ (यथा स्थान) हाथ को रखते थे।

43. हे भिक्षुओ, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, तथा उत्तर की दिशाओ से, ऊपर से नीचे से, चारों ओर दश दिशाओं से बहुत से शतसहस्र बोधिसत्त्व (गण) बोधिसत्त्व के दर्शन, वन्दन, पर्युपासन, धर्मश्रवण, तथा धर्म-संगीति के संगायन के लिए आते थे। उनके आने पर बोधिसत्त्व अपने शरीर से प्रभा की सृष्टि कर प्रभामय सिंहासनों का निर्माण करते थे। उनका निर्माण कर उन बोधिसत्त्वों को उन आसनों पर बिठाते थे। तथा उन्हे बैठा हुआ जान कर पूछते थे, पुछवाते थे, इसी ही (–71-) बोधिसत्त्व के महायान (धर्म) के सविस्तर विभाग (विचय, विश्लेषण) को लेकर। उन्हें सभाग (=सदृश गुण-कर्म वाले) देवपुत्रों को छोड़

25····25. मूल, संचार्य विचारयति स्म। संचार्य विचार्यविसादनाकारेण पाणि संचारयति स्म। यह मूल पाठ स्पष्ट ही हैं। इसमें कठिन पद अवसादनाकारेण है। णिजन्त आसादयति का प्रयोग ग्रहण करने के अर्थ में होता है। अतः अवसादयति का अर्थ उससे विपरीत अर्थ विसर्जन अर्थ में युक्ति-युक्त है। इसी दृष्टि से अवसादनाकारेण का अर्थ विसर्जन या बिदाई के ढंग से किया गया है। अवसादना शब्द पर (बु० हा० सं० डि० पृष्ठ 76) एड्जेर्टन् साहब ने विशेष विचार नहीं किया है। वे इस सारे पाठ को ही प्रामादिक समझते हैं। भोट, दे दग् ह्दोड् बहि, बर्द स्लोन तो। दे ल्लर् ह्दोङ् बहि, बर्द ब्स्तन् नस् फियर् ब्स्कुम् प ब्यस् तो = तान् गन्तुं सकेतं दर्शयति स्म। गन्तुं संकेतं दर्शयित्वा पुनः संकोचयति स्म। मूल एवं भोट पाठों की भिन्नता विचारणीय है, पर साधनाभाव मे संभव नही।

26····26, मूल, मातरं च न बाधते स्म। इससे पूर्व भोट मे है—द्रन् शिङ् शेस् बशिन् लग् प बश्ग् = स्मृतः संप्रजानन् पाणि प्रतिष्ठाप्य, स्मृति और ज्ञान के साथ हाथ रख कर। यह पाठ स्थानोचित नही जान पड़ता क्योंकि बोधिसत्वो के विदा होने पर हाथ रखने की बात झट-पट आगे कही गई है।

कर कोई दूसरा नहीं देखता था । हे भिक्षुओ, यही हेतु है, यही कारण हैं, जो बोधिसत्त्व [27]प्रशान्त हो रही रात में[27] शरीर से प्रभा की सृष्टि करते थे ।

44. हे भिक्षुओ, बोधिसत्त्व के कोख में विराजते हुए मायादेवी (अपने) शरीर मे लघुता (अर्थात् हलके पन), मृदुता (अर्थात् अकड़ेपन के होने) तथा सौख्यता (अर्थात् नीरोगता) को छोड़ कर गुरुता (अर्थात् भारीपन को) न जानती थी और पेट के दु.खों का अनुभव न करती थी । =61ख= न (उन्हें) राग की जलन होती, न द्वेष की जलन, और न मोह की जलन । न (वे) काम-भोग का सोच-विचार करती थी, न व्यापाद (अर्थात् दूसरों के अनर्थ) का सोच-विचार करती थी, और न हिंसा (अर्थात् दूसरों के सताने) का सोच-विचार करती थी । (वे) सर्दी या गर्मी की, भूख या प्यास की, अंधेरे या धूल-धक्कड़ की तकलीफ़ न तो जानती थी और न देखती थी । (उन्हें) अच्छे न लगने वाले रूप, शब्द, गन्ध रस, तथा स्पर्शो का आभास भी न होने पाता था । (उन्हे) बुरे-बुरे सपने न दिखते थे । (उन्हे) स्त्रियों मे (स्वभाव से रहने वाली) न माया ही, न शठता ही, न ईर्ष्या ही (दुखाती थी और) न स्त्रियों के क्लेश ही (=मलिन भाव) ही दुःख देते थे । बोधिसत्त्व की माता उस समय पाँचो शिक्षापदों को ग्रहण कर, शील से युक्त हो, दस कुशल कर्मो मे स्थित रहती थी । बोधिसत्त्व की माता के के मन मे न किसी पुरुष के प्रति अनुराग उपजता था और न किसी पुरुष के मन मे ही बोधिसत्त्व की माता के प्रति । कपिलवस्तु नाम के श्रेष्ठ महानगर मे, अथवा अन्य जनपदों (=ग्रामो) मे जिन किन्ही स्त्री-पुरुषों तथा लड़की-लड़कों को देवता, नाग, यक्ष, गन्धर्व, असुर, गरुड़, तथा भूत लगे हुए होते थे, वे सब बोधिसत्त्व की माता के दर्शन भर से स्मृति लाभ कर स्वस्थ हो जाते थे । और वे अमनुष्य शीघ्र ही (उन के भीतर से निकल जाते थे । =62क= जिन प्राणियों को नाना रोगों की छूत लगी होती थी, (जो) वात, पित्त, कफ, तथा सनिपात से उपजे रोगों के कारण पीडित रहते थे । (जो) आँखों के रोग से, (–72–) कानो के रोग से, नाक के रोग से, जीभ के रोग से, होठो के रोग से, दाँतों के रोग से, गले के रोग से, गलगण्ड-रोग से, उरगण्ड (छाती के गण्ड), कुष्ठ (कोढ), किलास (श्वेत-कुष्ठ), शोष (सुखना नामक शिशुरोग), उन्माद, अपस्मार (मिर्गि), ज्वर, पिटक (फोड़े-फुंसी) विसर्प (दाह के साथ फैलने वाले फोड़े) तथा विचर्चिका (बहने वाले एग्जिमा) आदि रोगों से पीड़ित रहते थे, उनके माथे पर बोधिसत्त्व की माता दाहिना हाथ रखती थी (और) वे हाथ रखने के साथ ही साथ नीरोग होकर अपने-अपने घर चले जाते थे । यहाँ तक तक कि मायादेवी धरती के ऊपर

27....27. द्रष्टव्य परिवर्त 1, टिप्पणी 62....62 ।

से घास-फूस भी उठा कर यदि रोगी प्राणियों को दे देती थी तो वे लेने के साथ-साथ ही नीरोग तथा निर्विकार हो जाते थे। जब मायादेवी अपना दाहिना पासा देखती थीं, तब बोधिसत्त्व को कोख मे विराजते उस/प्रकार देखती थीं, जिस प्रकार अत्यन्त शुद्ध दर्पण के घेरे मे मुखमण्डल दीखता है। (इस प्रकार) देखकर संतुष्ट, आनन्दविभोर, उत्फुल्लमन, प्रमुदित प्रीतिमन्त तथा मन से सुखी होती थी।

45. हे भिक्षुओ, माता की कोख में विराजते हुए बोधिसत्व के अधिष्ठान[28] (=मंगलकामना) से नित्य-निरन्तर, रात-दिन दिव्य बाजे बजते रहते थे, दिव्य फूल = 62ख = बरसते रहते थे। समय पर देवता पानी बरसाते थे। समय पर हवाएँ चलती थी। समय पर ऋतु तथा नक्षत्र बदलते थे। राज्य कुशलक्षेम का, सुभिक्ष का, [29]सुसमाहित (–भाव) का तथा अनाकुलता का अनुभव करता था[29]। कपिलवास्तु नामक श्रेष्ठ महानगर मे शाक्य लोग तथा अन्यलोग खाते-पीते थे, आनन्द मनाते थे, खेलते थे,[30] गाते थे[30], दान देते थे, और पुण्य करते थे। चौमासे (के बाद की) चादनी (रात) की भाँति सभी[31] [32]परमप्रेम की क्रीडाओं के सुखमय विहारों से विहरते थे[32]। राजा शुद्धोदन भी ब्रह्मचर्य ग्रहण कर, राज-काज छोड़ कर, तपोवन मे गए (व्यक्ति) की भाँति अत्यन्त शुद्ध हो धर्म के ही पीछे लगे रहते थे।

28. मूल, अधिष्ठितं। अधिष्ठितेन पाठ होने से वाक्य ठीक बैठता है। तुलनीय भोट, ब्यिन् गिय र्लब्स् क्यिस्, अधिष्ठानेन, मंगल कामना से।

29....29. मूल, सुमनाकुलमनुभवति स्म। भोट, ह्खुग् प मेद् चिङ् ङग् मेद् पर् ग्युर् ते = अनाकुलं निःशब्दं भवति स्म। कदाचित् मूल पाठ सुसमाहित-मनाकुलमनुभवति स्म था।

30. मूल, प्रविचारयन्ति स्म = (आमोद-प्रमोद मे अपने को) चलाते थे। भोट, भ्गुर् स्प्योद् दो, गीतं चरन्ति स्म। संकुचित मे प्रविचारयन्ति स्म = गायन्ति स्म।

31. मूल, एकान्तरे। भोट, थम्स् चद् सर्वे। शब्द के अर्थ में एकान्तर शब्द अप्रचलित है।

32....32. मूल, क्रीडासुखविहारैर्विहरन्ति स्म। भोट, द्गह् म्छोग् गि र्चे शिङ् ब्दे बर् ग्नस् पस् ग्नस् पर् ग्युर् तो, वररतिक्रीडासुखविहारैर्विहरन्ति स्म।

कर कोई दूसरा नहीं देखता था। हे भिक्षुओ, यही हेतु है, यही कारण है, जो बोधिसत्त्व [27]प्रशान्त हो रही रात में[27] शरीर से प्रभा की सृष्टि करते थे।

44. हे भिक्षुओ, बोधिसत्व के कोख में विराजते हुए मायादेवी (अपने) शरीर मे लघुता (अर्थात् हलके पन), मृदुता (अर्थात् अकड़ेपन के होने) तथा सौख्यता (अर्थात् नीरोगता) को छोड़ कर गुरुता (अर्थात् भारीपन को) न जानती थी और पेट के दुःखों का अनुभव न करती थीं। =61ख= न (उन्हें) राग की जलन होती, न द्वेष की जलन, और न मोह की जलन। न (वे) काम-भोग का सोच-विचार करती थीं, न व्यापाद (अर्थात् दूसरों के अनर्थ) का सोच-विचार करती थीं, और न हिंसा (अर्थात् दूसरों के सताने) का सोच-विचार करती थीं। (वे) सर्दी या गर्मी की, भूख या प्यास की, अंधेरे या धूल-धक्कड़ की तकलीफ़ न तो जानती थी और न देखती थी। (उन्हें) अच्छे न लगने वाले रूप, शब्द, गन्ध रस, तथा स्पर्शो का आभास भी न होने पाता था। (उन्हे) बुरे-बुरे सपने न दिखते थे। (उन्हें) स्त्रियों मे (स्वभाव से रहने वाली) न माया ही, न शठता ही, न ईर्ष्या ही (दुखाती थी और) न स्त्रियों के क्लेश ही (=मलिन भाव) ही दुःख देते थे। बोधिसत्त्व की माता उस समय पाँचो शिक्षापदों को ग्रहण कर, शील से युक्त हो, दस कुशल कर्मो मे स्थित रहती थी। बोधिसत्त्व की माता के के मन मे न किसी पुरुष के प्रति अनुराग उपजता था और न किसी पुरुष के मन मे ही बोधिसत्त्व की माता के प्रति। कपिलवास्तु नाम के श्रेष्ठ महानगर मे, अथवा अन्य जनपदों (=ग्रामों) मे जिन किन्ही स्त्री-पुरुषों तथा लड़की-लड़कों को देवता, नाग, यक्ष, गन्धर्व, असुर, गरुड़, तथा भूत लगे हुए होते थे, वे सब बोधिसत्त्व की माता के दर्शन भर से स्मृति लाभ कर स्वस्थ हो जाते थे। और वे अमनुष्य शीघ्र ही (उन के भीतर से निकल जाते थे। =62क= जिन प्राणियों को नाना रोगो की छूत लगी होती थी, (जो) वात, पित्त, कफ, तथा सनिपात से उपजे रोगों के कारण पीडित रहते थे। (जो) आँखो के रोग से, (–72–) कानों के रोग से, नाक के रोग से, जीभ के रोग से, होठों के रोग से, दाँतों के रोग से, गले के रोग से, गलगण्ड-रोग से, उरगण्ड (छाती के गण्ड), कुष्ठ (कोढ़), किलास (श्वेत-कुष्ठ), शोष (सुखना नामक शिशुरोग), उन्माद, अपस्मार (मिर्गि), ज्वर, पिटक (फोड़े-फुंसी) विसर्प (दाह के साथ फैलने वाले फोड़े) तथा विचर्चिका (बहने वाले एग्जिमा) आदि रोगो से पीड़ित रहते थे, उनके माथे पर बोधिसत्त्व की माता दाहिना हाथ रखती थी (और) वे हाथ रखने के साथ ही साथ नीरोग होकर अपने-अपने घर चले जाते थे। यहाँ तक तक कि मायादेवी धरती के ऊपर

27....27. द्रष्टव्य परिवर्त 1, टिप्पणी 62....62।

से घास-फूस भी उठा कर यदि रोगी प्राणियों को दे देती थी तो वे लेने के साथ-साथ ही नीरोग तथा निर्विकार हो जाते थे। जब मायादेवी अपना दाहिना पासा देखती थी, तब बोधिसत्त्व को कोख में विराजते उस प्रकार देखती थीं, जिस प्रकार अत्यन्त शुद्ध दर्पण के घेरे में मुखमण्डल दीखता है। (इस प्रकार) देखकर संतुष्ट, आनन्दविभोर, उत्फुल्लमन, प्रमुदित प्रीतिमन्त तथा मन से सुखी होती थीं।

45. हे भिक्षुओ, माता की कोख मे विराजते हुए बोधिसत्त्व के अधिष्ठान[28] (=मंगलकामना) से नित्य-निरन्तर, रात-दिन दिव्य बाजे बजते रहते थे, दिव्य फूल =62ख= बरसते रहते थे। समय पर देवता पानी बरसाते थे। समय पर हवाएँ चलती थी। समय पर ऋतु तथा नक्षत्र बदलते थे। राज्य कुशलक्षेम का, सुभिक्ष का, [29]सुसमाहित (-भाव) का तथा अनाकुलता का अनुभव करता था[29]। कपिलवास्तु नामक श्रेष्ठ महानगर मे शाक्य लोग तथा अन्यलोग खाते-पीते थे, आनन्द मनाते थे, खेलते थे,[30] गाते थे[30], दान देते थे, और पुण्य करते थे। चौमासे (के बाद की) चादनी (रात) की भाँति सभी[31] [32]परमप्रेम की क्रीडाओं के सुखमय विहारों से विहरते थे[32]। राजा शुद्धोदन भी ब्रह्मचर्य ग्रहण कर, राज-काज छोड़ कर, तपोवन मे गए (व्यक्ति) की भाँति अत्यन्त शुद्ध हो धर्म के ही पीछे लगे रहते थे।

28. मूल, अधिष्ठितं। अधिष्ठितेन पाठ होने से वाक्य ठीक बैठता है। तुलनीय भोट, ब्यिन् ग्यि र्लबस् क्यिस्, अधिष्ठानेन, मंगल कामना से।

29....29. मूल, सुमनाकुलमनुभवति स्म। भोट, ह्खुग् प मेद् चिङ् ङग् मेद् पर् ग्युर् ते = अनाकुलं निःशब्दं भवति स्म। कदाचित् मूल पाठ सुसमाहित-मनाकुलमनुभवत्ति स्म था।

30. मूल, प्रविचारयन्ति स्म = (आमोद-प्रमोद में अपने को) चलाते थे। भोट, भ्लुर् स्प्योद् दो, गीतं चरन्ति स्म। संकुचित में प्रविचारयन्ति स्म = गायन्ति स्म।

31. मूल, एकान्तरे। भोट, थमस् चद् सर्वे। शब्द के अर्थ मे एकान्तर शब्द अप्रचलित है।

32....32. मूल, क्रीडासुखविहारैर्विहरन्ति स्म। भोट, द्गह् म्छोग् गि र्चे शिङ् व्दे बर् ग्नस् पस् ग्नस् पर् ग्युर् तो, वररतिक्रीडासुखविहारैर्विहरन्ति स्म।

46. (–73–) हे भिक्षुओं, इस तरह से माता की कोख मे विराजते हुए बोधिसत्त्व ऋद्धिप्रातिहार्यं (=ऋद्धि-सिद्धि के चमत्कार) के साथ समन्वित होकर रहते थे। वहाँ-उस समय भगवान् ने आनन्द से कहा—हे आनन्द ! क्या तुम बोधिसत्व के उस रत्नव्यूह परिभोग को देखोगे, जिसमे बोधिसत्त्व माता की कोख में विराजते हुए विहार करते थे। (आनन्द) बोले। देखूँगा भगवन्, देखूँगा सुगत। तथागत ने (तब) आयुष्मान् आनन्द, देवताओं के इन्द्र शक्र, चारों लोक के पालों, तथा =63 क = अन्य देवताओं एवं मनुष्यों को दिखाया। देख कर वे संतुष्ट, आनन्दविभोर, प्रफुल्लमन, प्रमुदित, प्रीतिमन्त, तथा मन से सुखी हुए। और फिर सहांपति ब्रह्मा ने उसे ब्रह्मलोक में चढ़ाकर चैत्य के लिए प्रतिष्ठापित किया।

47. तब भगवान् फिर भिक्षुओं से बोले। हे भिक्षुओ, इस प्रकार दस मास मास तक कोख में विराजते हुए बोधिसत्त्व ने छत्तीस खर्व देवताओं और मनुष्यों को तीन यानों में परिपाचित किया—पक्का किया। जिसके विषय में (गाथाओं द्वारा) यह कहा जाता है।

(माता की कोख में विराजमान बोधिसत्त्व का वर्णन)

(पंचम चामर छंद)

यद् बोधिसत्त्व[33]अग्रसत्त्वैव मातुः कुक्षि संस्थितः
प्रकम्पिता च षड्विकार मेदिनी सकानना।
सुवर्णवर्ण आभ मुक्ता सर्वापाय शोधिता
प्रहर्षिताश्च देवसंघ[43] धर्मगञ्जु भेष्यते[34] ॥178॥

जब उत्तम जीवधारी बोधिसत्त्व माता की कोख मे विराज गए, तब वनों के सहित (यह) धरती छह प्रकार से काँप उठी। सोने के रंग की प्रभा छूटी, सारे नरक शुद्ध हो गए। और "धर्म का खजाना खुलेगा"–(यह सोच कर) देव-गण आनन्द में मगन हो गए।

33. मूल, के बोधिसत्त्व के स्थान मे भोट पाठ गॺल् स्रस्,, राजपुत्रः अथवा जिनपुत्रः है।

34....34. धर्मगञ्जु भेष्यते (=धर्मगञ्जो भविष्यति = धर्म का खजाना खुलेगा) के स्थान मे भोट पाठ है—छोस् क्यि गॺल् पोर् हॖयुर्, (=धर्मराज भेष्यते, धर्मराजो भविष्यति, धर्म का राजा अवतार लेगा।

सुसंस्थितो महाविमानु नैकरत्नचित्रितो
यत्र विरु आरुहित्व तिष्ठते विनायकः।
गन्धोत्तमेन चन्दनेन पूरितो विरोचते
यस्यैककर्षु[35] त्रिसहस्र मूल्य[36] रत्नपूरिता ॥179॥

(वह) सुसंस्थित अर्थात् सुन्दर संस्थान वा आकार-प्रकार वाला, अनेकों रत्नों से चित्र-विचित्रित महाविमान था, जिस पर वीर विनायक (=बुद्ध) चढ़कर विराजते थे। (वह ऐसे) उत्तम-गन्ध के चन्दन से लिपा-पुता सोहाता था, जिसके एक कर्ष (=चौथाई पल वा 16 माषा) का दाम रत्नों से पूर्ण त्रिसाहस्र-महासाहस्र-जगती (पर्याप्त नहीं) है।

महासहस्रलोकधातु हेष्ठि भिन्दियित्वना
उदागतो गुणाकरस्य पद्म ओजबिन्दुको।
(-74-) सो सप्तरात्र[37] पुण्यतेज ब्रह्मलोकि उद्गतो
गृहीत्व ब्रह्म ओजबिन्दु बोधिसत्त्व[38] =63ख=नामयी ॥180॥

त्रिसहस्र-महासाहस्र-लोक धातु को नीचे से भेद कर गुणों के आकर (भगवान्) के लिए ओज-बिंदु वाला पद्म ऊपर आया था (और वह) सप्ताह भर में पुण्य के तेज से ब्रह्म लोक में जा निकला था। ब्रह्मा (उस) ओज-बिंदु को लेकर बोधिसत्त्व को अर्पित करते थे।

न अस्ति सर्वसत्त्वकोयि मुक्तु यो जरेय तं
अन्यत्र वीर[39] बोधिसत्त्व ब्रह्मकल्पसंनिभे।
अनेककल्प पुण्यतेज ओजविन्दु संस्थितो
भुजित्व सत्त्व काय चित्त ज्ञान शुद्ध गच्छिषु ॥181॥

सब प्राणियों के समूह में, ब्रह्मा के तुल्य वीर बोधिसत्त्व को छोड़कर (ऐसा कोई) नहीं, जो उसे खाकर पचा सकता। (वह) ओज-बिंदु अनेक कल्पों तक

35. एककर्षु = एक कर्ष। 1 कर्ष = 16 माषा = 1/4 पल = 1/400 तुला। भोटानुवाद में इसके लिए शब्द है स्रङ् फे्यद् और उसका अर्थ है अर्ध-पल (शरच्चन्द्रदास का भोट कोश)।
36. मूल, मूल्य। भोट, रेन् मि छोग्, मूल्यं न पर्याप्तम्, मूल्य काफी नहीं।
37. मूल, सप्तरात्र = भोट, गुशग् बदुन्, सप्ताह।
38. मूल, बोधिसत्त्व। भोट, गूर्यल् व हि् स्रस्, जिनपुत्र। दोनों पदों में शब्द भेद है, पर अर्थ भेद नहीं।
39. मूल, मूरि। भोट, द्पव बो, वीर।

(किए हुए) पुण्य के तेज से (कमल के भीतर) भली-भाँति स्थित हुआ था, जिसे खाकर प्राणियों के तन, मन तथा ज्ञान शुद्ध हो जाते थे।

> शक्रब्रह्मलोकपाल पूजनार्थ नायकं
> त्रीणि काल आगमित्व बोधिसत्त्व अन्तिकं।
> वन्दयित्वं पूजयित्व धर्म श्रुणुते वरं
> प्रदक्षिणं करित्व सर्व गच्छिषू यथागता ॥182॥

इन्द्र, ब्रह्मा, (तथा अन्य) लोकपाल नायक बोधिसत्त्व की पूजा के लिए तीनों बेला पास आकर, वंदना कर, पूजा कर, श्रेष्ठ धर्म सुनते थे (और) प्रदक्षिणा कर सब जैसे आते थे वैसे चले जाते थे।

> बोधिसत्त्व धर्मकाम एन्ति लोकधातुषु
> प्रभाविव्यूह आसनेषु ते निषण्ण दृश्यषु।
> परस्परं च श्रुत्व धर्म यानश्रेष्ठमुत्तमं
> प्रयान्ति सर्वि हृष्टचित्त वर्णमाल भाषतो ॥183॥

(अन्य) लोक-धातुओ से धर्म की कामना वाले बोधिसत्त्व आते थे, (और गर्भस्थ बोधिसत्त्व के तेज) की प्रभा से बने हुए आसनों पर वे बैठे दीखते थे। और परस्पर उत्तम महायान धर्म को सुनकर सब चित्त मे प्रसन्न हो स्तुतियाँ गाते चले जाते थे।

> ये च इष्टिदारका सुदुःखिता तदा अभूत्
> भूतस्पृष्ट क्षिप्तचित्त नग्न पांशुम्रक्षिता।
> ते च सर्व दृष्ट्व माय भोन्ति लब्धचेतना
> स्मृतीमतीगतीउपेत गेहि गेहि गच्छिषु ॥184॥

और उस समय जो स्त्रियाँ और बच्चे अत्यन्त दुःखी थे, जिन्हे भूत लगे हुए थे, जिनका चित्त ठिकाने न था, जो नंगे रहते थे, जो धूल लपेटे रहते थे, वे सब माया (-देवी) को देखकर होश मे आ जाते थे, वे स्मृति, मति, तथा गति पाकर अपने-अपने घर चले जाते थे।

> वाततो वा पित्ततो वा श्लेष्मसंनिपातकैः
> ये च चक्षुरोग श्रोतरोग कायचित्तपीडिता।
> नैकरूप नैकजाति व्याधिभिश्च ये हताः
> स्थापिते स्मः माय मूर्ध्नि पाणि भोन्ति निर्जरा ॥185॥

और जो वात से, या पित्त से, (या) कफ से, (या) संनिपात से, (या) आँख के रोग से (या) कान के रोग से, काया तथा चित्त में पीड़ित रहते थे,

तथा जो नाना-प्रकार की एवं नाना-जाति की व्याधियों के मारे हुए थे, वे माया (देवी) के द्वारा माथे पर हाथ रखते ही नीरोग हो जाते थे।

(–75–) अथापि वा तृणस्य तूलि भूमितो गृहीत्वना।
=64क= ददाति माय आतुराण सर्वि भोन्ति निर्जरा।
सौख्य प्राप्ति निर्विकार गेहि गेहि गच्छिषु
भैषज्यमूर्ति वैद्यराजि कुक्षि संप्रतिष्ठिते ॥186॥

इसके अतिरिक्त (सबरोगों के) भैषज्य स्वरूप, वैद्यराज (बोधिसत्त्व) के (माता की) कोख में विराजने के समय माया (–देवी) रोगियों को (यदि) तिनकों का गुच्छा भी धरती से उठाकर दे देती थी (तो) सब निरोग हो जाते थे, सुख पाकर, विकार से रहित हो, अपने-अपने घर चले जाते थे।

यस्मि कालि माया देवि स्वा तनुं निरीक्षते
अदृशाति बोधिसत्त्व कुक्षिये प्रतिष्ठितं।
यथैव चन्द्र अन्तरीक्ष तारकै परिवृतं
तथैव नाथु बोधिसत्व लक्षणैरलंकृतं ॥187॥

जिस समय माया देवी अपना तन देखती थी (उस समय) बोधिसत्त्व को (अपनी) कोख में विराजमान देखती थी। जैसे आकाश में चन्द्रमा नक्षत्रों से घिरा हुआ होता है, वैसे ही (जगत्–) नाथ बोधिसत्त्व लक्षणो से अलंकृत थे।

नो च तस्य राग-द्वेष नैव मोह बाधते
कामछन्दु नैव तस्य ईर्षि नैव हिंसिता।
तुष्टचित्त हृष्टचित्त प्रीतिसौमनस्थिता
क्षुधा पिपास शीत उष्ण नैव तस्य बाधते ॥188॥

उन (माया देवी) को न राग पीड़ा देता था, न द्वेष, और न मोह, न कामाभिलाष और ईर्ष्या, न हिंसा। मन से संतुष्ट, मन से प्रसन्न, प्रीत और सौमनस्य मे ठहरी हुई उन (माया देवी) को भूख-प्यास तथा सर्दी-गर्मी नहीं सताते थे।

अघट्टितास्च नित्यकाल दिव्यतूर्य वादिषु।
प्रवर्षयन्ति दिव्यपुष्प गन्धश्रेष्ठ शोभना।
देव पश्यि मानुषाश्च मानुषा अमानुषां
नो विहेठि नो विहिंसि तत्र ते परस्परं ॥189॥

बिना बजाए ही सब समय दिव्य बाजे बजते थे, शोभन उत्तम गन्ध वाले दिव्य पुष्प बरसते थे। देवता मनुष्यों को देखते थे और मनुष्य देवताओं को। वहां पर वे आपस मे न सताते थे, (और) न मार-काट करते थे।

रमन्ति सत्व कीडयन्ति अन्नपानु देन्ति च
आनन्दशब्द घोषयन्ति हृष्टतुष्टमानसाः।
क्षमारजो[40] अनाकुला च कालि देव वर्षते
तृणाश्च पुष्प ओषधीय तस्मि कालि रोहिषु ॥190॥

प्राणी मौज उड़ाते थे, क्रीडाएं करते थे, (एक दूसरे को) खान-पान देते थे, मन मे हर्ष और संतोष से युक्त हो आनन्द का नारा लगाते थे। राज्य कुशल-क्षेम वाला और उपद्रव से रहित था। समय पर देव बरसता था। घास, फूल, पुष्प तथा औषधियाँ उस समय उगती रहती थी।

राजगेहि सप्तरात्र रत्नवर्ष वर्षितो
यतो दरिद्र सत्त्व गृह्य दान देन्ति भुञ्जते।
(–76–) नासि सत्व यो दरिद्र यो च आसि दुःखितो
मेरुमूर्ध्नि नन्दनेव =64ख=एव सत्त्व नन्दिषु ॥191॥

राजभवन में सप्ताह भर रत्नों की वर्षा होती रही, जिसे धनहीन प्राणी लेकर दान देते थे (और) खाते थे। (ऐसा कोई) प्राणी नही था, जो धनहीन हो तथा दुःखी हो। सुमेरु के शिखर पर मानो नन्दन (वन) मे ही (हों) इस प्रकार प्राणी आनन्द मनाते थे।

सो च राजु शाकियान पोषधी उपोषितो
राज्यकार्यु नो करोति धर्मदेव गोचरी।
तपोवनं च सो प्रविष्ट माय–देवी पृच्छते
कीदृशेन्ति कायि सौख्य अग्रसत्त्वधार ति ॥192॥[41]

शाक्यों का वह राजा उपोसथ (के व्रत का) उपवास ग्रहण कर, धर्म के विषय में लगा रह कर, राज-काज नही करता था। वह तपोवन मे प्रवेश पा माया देवी से पूछता था कि हे श्रेष्ठ-सत्त्व को धारण करने वारी, तेरे शरीर का स्वास्थ्य कैसा है।

(इति ललितविस्तरे गर्भावक्रान्तिपरिवर्तो नाम षष्ठोऽध्यायः)

40. मूल, क्षमारजो = क्षेमं राज्यं। तुलनीय, भोट ग्र्यल् पो हि स्दे द्बदे, सुख (पूर्ण) राज्य।

41. इस परिवर्तन में आई हुई गाथाओं की संस्कृत छाया दी जा रही है......
हिमरजतनिभश्च षड्विषाणः सुचरणः (=पृष्ठ पादाभ्यां शोभनाभ्यां युक्तः) चारुभुजः (=अग्रपादाभ्यां शोभनाभ्यां युक्तः) सुरक्तशीर्षः। उदरमुपगतो गजप्रधानो ललितगतिर् वज्रदृढगात्रसंधि ॥156॥ न च

मम सुखं जातु—एवं रूपं दृष्टमपि श्रुतं नापि चानुभूतम् । कायसुखचित्त—सौख्यभावा यथैव ध्यानसमहिता—अभूवम् ॥157॥''''''''न स्मरामि रणशौण्ड—मूर्ध्नि संस्थस्य मम—एवं गुरु शरीरं मन्ये यादृशमद्य । स्वकुलगृह-मद्य न प्रभवामि प्रवेष्टुं किमिह मम भवेद् अङ्ग कमनुपृच्छेयं चाहम् ॥158॥ इति ।''''''''व्रततपोगुणयुक्तस् त्रिषु लोकेषु पूज्यो मैत्रीकरुणालाभी पुण्य-ज्ञानाभिषिक्तः । तुषितपुराच् च्युत्वा बोधिसत्त्वो महात्मा नृपते तव सुतत्वं (प्राप्य—इति शेषः) मायाकुक्षावुपपन्नः ॥159।... दशनखैः (अञ्जलिम् इतिशेष.) तदा कृत्वा स्वं शिरः कम्पयन् नृपतिरनुप्रविष्टः सत्कारानुयुक्तः । मायां तदा निरीक्ष्य मानदर्पापनीतां वद करवाणि किं ते, कं प्रयोगं भण ॥160॥''''हिमरजतनिकाशश्चन्द्रसूर्यातिरेकः सुचरणः सुविभक्तः षड्विषाणो महात्मा । गजवरो दृढसंधिर् वज्रकल्पः सुरूप उदरे मम प्रविष्टस् तस्य हेतुं शृणुष्व (श्रावय) ॥161॥ वितिमिरान् त्रिसाहस्रान् (लोक धातून्) पश्यामि भ्राजमानान् देवनयुता देवी स्तुवन्ति शयानाम । न च मम खिलदोषो नैव रोषो न मोहो ध्यानसुखसंगता जानामि शान्तचित्ता ॥162॥ साधु नृपते शीघ्रं ब्राह्मणानानयस्मन् वेदस्वप्नपाठेषु ग्रहेषु विधिज्ञान् । स्वप्नं मम हि ये—इमं व्याकुर्युस्तत्त्वयुक्तं किमनेन मम भवेच्छ्रेयः पापं (वा) कुलस्य ॥163॥ वचनमिदं श्रुत्वा पार्थिवस्तत्क्षणं ब्राह्मणान् कृतवेदानान-यच्छास्त्रपाठान् । माया पुरतः स्थित्वा ब्राह्मणानाम् अवोचत् स्वप्नो मयेह दृष्टस्तस्य हेतुं (=लक्षणं) शृणुष्व (=श्रावय) ॥164॥ 165 (=161) ॥ वचनमिदं श्रुत्वा ब्राह्मणा एवमाहुः, प्रीतिविपुला चिन्त्या (भोटानुसारं लभ्या) नास्ति पापं कुलस्य । पुत्रं त्वं जनयिष्यसि लक्षणै-र्भूषिताङ्गं राजकुल कुलीनं चक्रवर्तिनं महात्मानम् ॥166॥ स चेत् (यदि) पुरं विहाय कामं राज्यं च गेहं प्रव्रजितो निरपेक्षः सर्वलोकानुकम्पी बुद्धो भवति (=भविष्यति) एष दक्षिणीय स्त्रिलोक्याम् अमृतरसवरेण तर्पयेत् सर्वलोकम् ॥167॥ व्याकृत्य गिरं सौम्या भुक्त्वा पार्थिवभोजनम् । आच्छा-दनानि चोद्गृह्य प्रक्रान्ता ब्राह्मणास्ततः ॥168॥''''169 (अस्य श्लोकस्य भाषा तत्समैव केवलं तिष्ठ उपक्षको इति तिष्ठोपक्षकः—इति पठनीयः) ॥ ''''विमानाः''''ददाम्यहं ॥170॥''''ददाम्यहम् ॥171॥ यात्रैवोषितः पूर्वं तुषितेषु महायशाः । तदेव भवनं रम्यं बोधिसत्त्वस्य ददाम्यहम् ॥172॥'''' रत्नमयम् ।''''173॥ 0 ॥174॥ ॥ 0 ॥175॥''''''''वत्स्यति ॥176॥ ''''महाव्यूहे स्थितः समाधौ—अचिन्त्यान् निर्मितान् निर्माय । सर्वेषां देवा-नाम् अभिप्रायाः पूरिताः, नृपस्य पूर्णश्च तदा मनोरथः ॥177॥ ॥ 0 ॥ ॥ 0 ॥ ॥ 0 ॥ 0 ॥ ॥ 0 ॥ यदा बोधिसत्त्व (भोटानुसारमत्र पाठे

राजपुत्रो) ऽग्रसत्त्वो मातु. कुक्षौ संस्थित (तदा) प्रकम्पिता च षट्प्रकारं मेदिनी सकानना। सुवर्णवर्णा–आभा युक्ता सर्वापायाः शोधिताः प्रहर्षिताश्च देवसंघा धर्मगञ्जो (भोटानुसारं धर्मराजो) भविष्यति (–इति) ॥178॥ सुसंस्थितो महाविमानो नैकरत्नचित्रितो यत्र वीर आरुह्य तिष्ठति विनायकः। उत्तमगन्धेन चन्दनेन पूरितो विरोचते यस्यैककर्षो त्रिसाहस्र (महासाहस्रा जगती) मूल्यं (न पर्याप्तम् इति भोटानुवादानुसारमधिकम्) रत्नपूरिता ॥179॥ (त्रिसाहस्र–) महासाहस्रलोकधातुम् अधस्ताद् भित्वा उदागतो गुणाकरस्य पद्म ओजोबिन्दुकः। स सप्तरात्रेण पुण्यतेजसा ब्रह्मलोके उद्गतः, गृहीत्वा ब्रह्मा ओजोबिन्दुं बोधिसत्त्वाय उपाहरत। बोधिसत्त्वाय इत्यस्य स्थाने भोटभाषाया जिनपुत्राय इति पाठः ॥180॥ नास्ति सर्व-सत्त्व(नि)काये भुक्त्वा यो जारयेत् तम् अन्यत्र (= ऋते) भूरेः (भोटा-नुवादानुसारं वीरात्) बोधिसत्त्वाद् ब्रह्मकल्पसंनिभात् (संनिभपदमत्र पुनरुक्तं कल्पशब्देनैव सादृश्यबोधनात्) अनेककल्पपुण्यतेजसौजोबिन्दुः संस्थितो (यं) भुक्त्वा सत्त्वानां कायश्चित्तं ज्ञानं (च) शुद्धिमगमन् ॥181॥ शक्रब्रह्मलोक-पालाः पूजयितुं नायकं त्रीन् कालान् आगम्य बोधिसत्त्वमन्तिकम्। वन्दित्वा पूजयित्वा धर्मं शृण्वते वरं प्रदक्षिणां कृत्वा सर्वेऽगमन् यथागतम् ॥182॥ बोधिसत्त्वा धर्मकामा आयन्ति लोकधातुभ्यः, प्रभाव्यहेष्वासनेषु ते निषण्णा अदृश्यन्त। परस्परं च श्रुत्वा धर्मं यानश्रेष्ठमुत्तमं प्रयान्ति सर्वे हृष्टचित्ता वर्णमालां (= स्तुतिमालां = स्तुतीः) भाषमाणाः ॥183॥ ये च स्त्रीदारकाः सुदुःखितास्तदाभूवन् भूतस्पृष्ठाः क्षिप्तचित्ता नग्नाः पांसु-म्रक्षिताः। ते च सर्वे दृष्ट्वा मायां भवन्ति लब्धचेतनाः स्मृतिमतिगत्युपेता गेहे गेहे (= स्वं स्वं गेहं) आगमन् ॥184॥ वाततो वा पित्ततो वा श्लेष्म-संनिपातकैः ये चक्षूरोगेण श्रोत्ररोगेण कायचित्तयोः पीडिताः। नैकरूपाभि-र्नैकजातिभिर्व्याधिभिश्च ये हताः स्थापिते स्म मायया मूर्धनि पाणौ भवन्ति निर्ज्वराः ॥185॥ अथापि वा तृणस्य तूलिं (= गुच्छं) भूमितो गृहीत्वा ददाति मायातुरेभ्यः सर्वे भवन्ति निर्ज्वराः। सौख्ये प्राप्ते निर्विकारा गेहे गेहे (= स्वं स्वं गेह) आगमन् ॥186॥ यस्मिन् काले माया देवी स्वां तनुं निरीक्षते (स्म) अदर्शद् बोधिसत्त्वं कुक्षौ प्रतिष्ठितम्। यथैव चन्द्रोऽन्तरिक्षे तारकैः परिवृतस् तथैव नाथो बोधिसत्त्वो लक्षणै-रलंकृतः ॥187॥ न च तां रागद्वेषौ नैव मोहो बाधते कामच्छन्दो नैव तां ईर्ष्या नैव हिंसितम् : तुष्टचित्तां हृष्टचित्तां प्रीतिसौमनस्य–स्थितां क्षुधा पिपासा शीतम् उष्णं नैव तां बाधते ॥188॥ अघट्टिताश्च नित्यकालं दिव्यतूर्याण्यवादिषुः प्रवर्षन्ति दिव्यपुष्पाणि गन्धश्रेष्ठानि शोभनानि।

देवा अपश्यन् मानुषांश्च मानुषा अमानुषान्, नापि पीड नव्यहिंसिषुस्तत्र ते परस्परम् ॥189॥ रमन्ते सत्त्वाः क्रीडन्त्य् अन्नपानं ददति च, आनन्द-शब्द घोषयन्ति हृष्टतुष्टमानसाः। क्षेमं राज्यमनाकुलं च काले देवो वर्षति तृणानि च पुष्पाण्योषधयस् तस्मिन् कालेऽरुक्षन् ॥190॥ राजगेहे सप्त-रात्रं (=सप्ताहं) रत्नवर्षं वृष्टम्, यतो दरिद्राः सत्त्वा गृहीत्वा दानं ददति भुञ्जते। नासीत् सत्त्वो यो दरिद्रो यश्चासीद् दुःखितो मेरुमूर्ध्नि नन्दन इव-एव सत्त्वा अनन्दिषुः ॥191॥ स च राजा शाक्यानाम् उपवसथ (व्रत)म् उपोषितो राज्यकार्यं न करोति धर्मस्यैव गोचरः। तपोवनं च स प्रविष्टो मायादेवी पृच्छति कीदृशमिति काये सौख्यम् अग्रसत्त्वधारे ते ॥192॥

॥ ७ ॥

॥ जन्मपत्रिका ॥

मुद्रितग्रन्थ 76 (पंक्ति 8)—117 (पंक्ति 15)

मोदानुवाद 64ख (पंक्ति 2)—93क (पंक्ति 4)

जन्मपरिवर्त

1. हे भिक्षुओं, इस प्रकार दस मास निकल जाने पर, बोधिसत्त्व के जन्म का घड़ी-मुहूर्त आने पर, राजा शुद्धोदन के घर के उपवन में बत्तीस पूर्व निमित्त प्रकट हुए थे—(1) सब फूलों की[1] कलियाँ लग कर[1] न फूल रही थी, (2) पोखरों में उत्पल, पद्म, कुमुद, तथा पुण्डरीकों में मुकुल लग कर न खिल रहे थे, (3) उस समय फूल दे कर फल देने वाले वृक्ष धरती के तल से निकल कर [2]मुकुलित हो कर[2] (भी) न फल रहे थे, (4) आठ रत्नवृक्ष प्रकट हो रहे थे, (5) बीस लाख रत्नों के विधान ऊपर आकर ठहर रहे थे, (6) अन्तःपुर में रत्नों के अङ्कुर निकल रहे थे, (7) सुगन्धित तेल से सुवासित[3] ठंडे और गरम गन्धजल[3] बह रहे थे, (8) हिमालय पर्वत की तराई से सिंह के छौने आ-आकर गरजते हुए श्रेष्ठ कपिलवास्तु नगर की प्रदक्षिणा कर द्वार के पास ठहरे होते थे, (9) (वे) किसी प्राणी की हिंसा न करते थे, (10) पाँच सौ श्वेत रंग के हाथियों के छौने आकर राजा शुद्धोदन के चरणों को अपनी सूँड़ की उंगली से खुरचते =65 क= थे, (11) करधनी बाँधे हुए देवताओं के बच्चे राजा शुद्धोदन के अन्तःपुर में गोद से (-77-) गोद में पलथा लगाते दीखते थे, (12) गगन-तल में आधे शरीर से झूलती हुई, नाना-प्रकार की पूजा-सामग्री लिए, नाग-कन्याएँ दिखाई देती थी, (13) दस हजार नाग-कन्याएँ मोर-पंखे लिए गगन-तल पर खड़ी दीखती थी, (14) दस हज़ार (जल से) भरे घड़े महानगर कपिलवास्तु की प्रदक्षिणा करते दिखाई देते थे, (15) दस हजार देवकन्याएँ सुगन्धित जल से भरी झारियाँ लेकर (अपने-अपने) माथे पर उठाती हुई खड़ी दिखाई देती थीं, (16) दस हजार देवकन्याएँ छत्र, ध्वजाएं, तथा पताकाएँ

1....1. मूल, सुङ्गीभूतानि। भोट, ख ह्.बुस् नस्, कोरकितानि भूत्वा, कली लग कर। कली के अर्थ मे सुङ्ग शब्द संभवतः शुङ्गा (=शूक, सीकुर) का अपभ्रंश है। बु० हा० सं० डि० में इसका संग्रह होना चाहिए।

2....2. मूल, क्षारकजाताः। भोट, खह्.बुस् नस्, कोरकिताः सन्तः, मुकुलित हुए।

3....3. मूल, गन्धोदकशीतोष्णाः। भोट, स्पोस् छु,गन्धोदकाः।

जन्मपरिवर्त

1. हे भिक्षुओं, इस प्रकार दस मास निकल जाने पर, बोधिसत्व के जन्म का घड़ी-मुहूर्त आने पर, राजा शुद्धोदन के घर के उपवन में बत्तीस पूर्व निमित्त प्रकट हुए थे—(1) सब फूलों की[1] कलियाँ लग कर[1] न फूल रही थी, (2) पोखरों में उत्पल, पद्म, कुमुद, तथा पुण्डरीकों में मुकुल लग कर न खिल रहे थे, (3) उस समय फूल दे कर फल देने वाले वृक्ष धरती के तल से निकल कर [2]मुकुलित हो कर[2] (भी) न फल रहे थे, (4) आठ रत्नवृक्ष प्रकट हो रहे थे, (5) बीस लाख रत्नों के विधान ऊपर आकर ठहर रहे थे, (6) अन्तःपुर में रत्नों के अङ्कुर निकल रहे थे, (7) सुगन्धित तेल से सुवासित[3] ठंडे और गरम गन्धजल[3] बह रहे थे, (8) हिमालय पर्वत की तराई से सिंह के छौने आ-आकर गरजते हुए श्रेष्ठ कपिलवास्तु नगर की प्रदक्षिणा कर द्वार के पास ठहरे होते थे, (9) (वे) किसी प्राणी की हिंसा न करते थे, (10) पाँच सौ श्वेत रंग के हाथियों के छौने आकर राजा शुद्धोदन के चरणों को अपनी सूँड़ की उंगली से खुरचते =65 क= थे, (11) करधनी बाँधे हुए देवताओं के बच्चे राजा शुद्धोदन के अन्तःपुर में गोद से (–77–) गोद में पलथा लगाते दीखते थे, (12) गगन-तल में आधे शरीर से झूलती हुई, नाना-प्रकार की पूजा-सामग्री लिए, नाग-कन्याएँ दिखाई देती थी, (13) दस हजार नाग-कन्याएँ मोर-पंखे लिए गगन-तल पर खड़ी दीखती थी, (14) दस हज़ार (जल से) भरे घड़े महानगर कपिलवास्तु की प्रदक्षिणा करते दिखाई देते थे, (15) दस हजार देवकन्याएँ सुगन्धित जल से भरी झारियाँ लेकर (अपने-अपने) माथे पर उठाती हुई खड़ी दिखाई देती थीं, (16) दस हजार देवकन्याएँ छत्र, ध्वजाएं, तथा पताकाएँ

1....1. मूल, सुङ्गीभूतानि । भोट, ख ह्बुस् नस्, कोरकितानि भूत्वा, कली लग कर। कली के अर्थ मे सुङ्ग शब्द संभवतः शुङ्गा (=शूक, सींकुर) का अपभ्रंश है। बु० हा० सं० डि० में इसका संग्रह होना चाहिए।

2....2. मूल, क्षारकजाताः। भोट, खह्बुस् नस्, कोरकिताः सन्तः, मुकुलित हुए।

3....3. मूल, गन्धोदकशीतोष्णाः। भोट, स्पोस् छु,गन्धोदकाः।

लिए खडी दिखाई देती थीं, (17) कई लाख अप्सराएँ, (कोई) शंख, (कोई) भेरियां, (कोई) मृदङ्ग और (कोई) घंटे लिए हुए प्रतीक्षा करती खड़ी दिखाई देती थीं, (18) सब हवाएँ ठहरी हुई (थी) न चल रही थीं, (19) सब नदियाँ और झरने न बहते थे, (20) चन्द्रमा और सूर्य के विमान (=आकाशचारी रथ) तथा नक्षत्र एवं ज्योतिर्गण (=राशि-मण्डल) न घूम रहे थे, (21) पुष्य-नक्षत्र का योग था, (22) राजा शुद्धोदन का घर रत्न के समूह के समान चमकता-दमकता विराजमान था, (23) अग्निदेव न जल रहे थे, (24) कूटागारों (=अंटों) के, महलों के, (राज-द्वार के) तोरणों के, तथा द्वारकों अर्थात् बारादरियों के (सब) तलों में मणि तथा रत्न लटकते दिखाई देते थे, (25) दूष्यों अर्थात् धुस्सों (=वस्त्रविशेषों) के गंजों (=ख़ज़ानों) के तथा रत्नों के गन्जों के =65 ख=[4] दरवाजे खुले[4] दिखाई देते थे, (26) कौओं की, उल्लुओं की, गीधों की, भेड़ियों की, तथा सियारों की बोलियाँ अन्तर्धान हो गई थी, (27) शुभ (शकुन दरसाने वाले) शब्द उत्पन्न हो-हो कर सुनाई पड़ते थे, (28) सब जानपदों अर्थात् सर्वसाधारण लोगों के काम-काज निपट चुके थे, (29) उत्कूल-निकूल अर्थात् ऊँचे-नीचे पृथिवी-प्रदेश समतल हो गए थे, (30) सब वीथियाँ (=मार्ग),[5] चत्वर (चौराहे)[5], शृंगाटक (=तिराहे), रथ्याएँ (=मार्ग जिसके दोनों ओर घर हो), तथा[6] अन्तरापणमुख (अर्थात् नगर के मध्य में बने बाजारों के मण्डल)[6] हथेली जैसे मँजे-मँजाए, फूल बिखेर कर सजाए शोभा देते थे, (31) सब (गर्भ से) गुर्वी (भारी कोख वाली स्त्रियाँ) सुख ने प्रसव करती थीं, (32) सब शालन्वन के देवता पत्तों के बीच अर्धकायों (अर्थात् ऊपर के शरीरों) का (ऋद्धि से) निर्माण कर नमस्कार करते हुए खड़े दिखाई देते थे। बत्तीस पूर्व निमित्त प्रकट हुए थे।

2. (–78–) तदनन्तर माया देवी ने बोधिसत्त्व के जन्म के घड़ी-मुहूर्त को जान कर, बोधिसत्त्व के ही तेज के प्रताप से, रात के पहले पहर में राजा शुद्धोदन के पास जा कर, गाथाओं द्वारा (यों) कहा—

4····4 मूल, प्रावृता (=प्रगतं आवृतं येषां ते, जिनके द्वारा खुल चुके हैं वे)। भोट, स्गो फ्ये वर् (स्नङ् वा), विवृतद्वाराः (संदृश्यन्तेस्म), खुले दरवाजे वाले दिखाई देते थे।

5····5. चत्वर शब्द का अर्थ आँगन भी होता है। पर यहाँ अर्थ चौराहा है। तुलनीय, भोट, लम् ग्यि मृदो, चौराहा।

6····6. अन्तरापण मुख के लिए भोट में अन्तरापणमण्डल है। तुलनीय, छोङ् ह् दुस् क्यि ह् खोर्।

(मालिनी छन्द)

(शुद्धोदन के प्रति माया देवी की गाथाएँ)

देव शृणु हि मह्यं भाषतो यं मतं मे
अचिर[7] चिरचिरेणा[8] जात उद्यान वुद्धिः।
यदि च तव न रोषो नैव दोषो न मोहः[9]
क्षिप्रमहु व्रजेया कीडउद्यानभूमिं ॥193॥

हे देव, जो मुझे पसन्द है, (वह, कहती हुई मुझसे शीघ्र सुनिए। अतिचिर-काल के बाद उद्यान (जाने) का मन हुआ है। यदि आप को रोष न हो, दोष (=द्वेष) न हो, मोह न हो (तो) मैं शीघ्र क्रीड़ोद्यान भूमि को जाऊँ।

त्वमिह तपसि खिन्नो धर्मचित्तप्रयुक्तो
अहु च चिर प्रविष्टा[10] शुद्धसत्त्वं धरेन्ती।
द्रुमवर[11] प्रतिबुद्धाः फुल्लिता[11] शालवृक्षाः =66क=
युक्त भविय देवा गन्तुमुद्यानभूमिं ॥194॥

हे देव, तुम धर्म में चित्त लगा तप से खिन्न हो चुके हो। और मैं शुद्ध सत्त्व को धारण करती हुई चिर काल से भीतर पड़ी रही हूँ। वृक्षों में श्रेष्ठ शाल के वृक्ष फूल उठे हैं, (मानो वे सो कर अब) जग गए हों। उद्यानभूमि को जाना ठीक रहेगा।

ऋतु प्रवर वसन्तो योषितां मण्डनीयो
भ्रमखरविघुष्टाः कोकिलर्बाहिगीताः।
शुचिरुचिरविचित्रा भ्राम्यते पुष्परेणुः
साधु ददहि आज्ञां गच्छमो मा विलम्बः ॥195॥

स्त्रियों को सुन्दरता प्रदान करने वाला श्रेष्ठ ऋतु वसन्त है। इसमें भौंरे अच्छी तरह गूँज रहे हैं, कोयल और मोर गा रहे है, पवित्र, सुन्दर, तथा रंग बिरंगी फूलों की धूल उड़ रही है। अच्छा हो कि आज्ञा दें। (हम सब) चलें। देर न हो।

7. भोट में इस शब्द का अनुवाद नहीं हुआ है।
8. चिरचिरेणा का भोट में अनुवाद है—युन् रिङ् रिङ् पो ह्‌दस् नस्, चिर-चिरकालात्ययेन, बहुत-बहुत समय बीतने पर।
9. भोट, फ्रग् दोग्, ईर्ष्या।
10. भोट, लघुस् ल (=यिन् प), अस्मि।
11....11. भोट, मे तोग् ह्‌बुस् ते, फुल्लित पुष्पाः।

(परिचारकों को शुद्धोदन महाराज की आज्ञा)

वचनमिमु शुणित्वा देविये पार्थिवेन्द्रः
तुष्टो मुदितचित्तः पारिषद्यानवोचत् ।
[12]हयगजरथपंक्त्या वाहना योजयध्वं[12]
प्रवरगुणसमृद्धां लुम्बिनीं मण्डयध्वं ॥196॥

3. देवी के इस वचन को सुन कर पृथिवी के स्वामी (शुद्धोदन) ने संतुष्ट तथा प्रसन्न चित्त से परिजनो से कहा कि अश्वों (की सेना) के साथ, हाथियों (की सेना) के साथ, रथों की (की सेना) के साथ, तथा पंक्ति अर्थात् पत्ति (=पैदल सेना) के साथ गाड़ियाँ जुड़वाओ (और) श्रेष्ठ गुणो से समृद्ध लुम्बिनी को मण्डित करो ।

नीलगिरिनिकाशां मेघवर्णानुबुद्धां
विंशति च सहस्रान् योजयध्वं गजानां ।
(–79–) मणिकनकविचित्रां हेमजालोपगूढां
घण्टुरचिरपार्श्वान् षड्विषाणां गजेन्द्रान् ॥197॥

वीस हजार हाथियो को (हाथियों से खीचे जाने वाले रथो से) जुडवाओ । वे श्रेष्ठ हाथी नोल रंग के पर्वतो के समान, मेघो के रंग जैसे रंगीले, सोने के तथा मणियों (के आभूषणों) से विचित्र, हेमजाल अर्थात् सुवर्ण के बने कवच से ढँके हुए, दोनों ओर लटकते घण्टों से सुन्दर, तथा छह-छह दाँतों वाले होने चाहिए ।

हिमरजतनिकाशां मुञ्जकेशां सुकेशां
विंशति च सहस्रान् योजयध्वं हयानां ।
कनकरचितपार्श्वा किङ्किनीजालम्बा
पवनजवितवेगा वाहना पार्थिवस्य ॥198॥

वीस हजार घोड़ों को (घोड़ों से खीचे जाने वाले रथो से) जुड़वाओ । वे राजा (की सवारी) के घोड़े हिम तथा रजत जैसे (श्वेतवर्ण वाले), मूँज के समान केश वाले, सुन्दर केश वाले, दोनों ओर सोने के आभूषणों से सजे हुए घूँघरुओं (की मालाओं) को पहने, वायु की तेजी के वेग वाले होने चाहिए ।

12⋯12. भोट, ब्शोन् प बशोन् छे म् ग्योग्स् प हि. शुग्स् ल्दन् दग् क्यङ् ब्ल्तन् पर् गियस्, लघुरथमहयाना वाहना योजयध्वम्, (=क्षिप्रवेगवन्ति वाहनानि महावाहनानि योजयध्वम्) । मूल पाठ में पंक्ति शब्द अपभ्रंश है, वह पत्ति का स्थानापन्न है । पत्ति = पदाति = पैदल सेना ।

नरगण रणसोण्डान् शूर संग्रामकामान्
असिधनुशरशक्तिपाशखड्गाग्रहस्तान् ।
विंशति च सहस्रान् योजयध्वं सुशीघ्रं
माय सपरिवारां रक्षथ अप्रमत्ता ॥199॥

रण में कुशल, युद्ध से विरक्त न होने वाले, (अपने) पंजों में करवाल धनुष-बाण, छुरी, पाश, तथा खांड़ा लिए हुए, बीस हजार मनुष्यों के समूह को (कवचों से) अत्यन्त शीघ्र युक्त करो। (तथा) परिवार-सहित माया (देवी) की सावधान हो रक्षा करो।

मणिकनकनिषिक्तां लुम्बिनी कारयध्वं
=66ख= विविधवसनरत्नैः सर्ववृक्षां प्रवेथा।
विविधकुसुमचित्रं नन्दनं वा सुराणां
वदत च मम शीघ्रं सर्वमेतं विधाय ॥200॥

लुम्बिनी को सुवर्ण तथा मणियों से विभूषित करवा दो, सब वृक्षों को विविध प्रकार के पुष्पों से विचित्र नन्दन (वन) के समान, विविध प्रकार के वस्त्रों तथा रत्नों से ढँक दो। यह सब करके शीघ्र मुझसे कहो।

(परिचारकों द्वारा राजाज्ञा का पालन)

वचनमिमु निशम्या पारिषद्यै क्षणेन
वाहन कृत सज्जा लुम्बिनी मण्डिता ता।

पारिषद्य आहु

जय जय हि नरेन्द्रा आयु पालेहि दीर्घं
सर्व कृतु यथोक्तं कालु देव प्रतीक्ष ॥201॥

4. इस बात को सुन कर परिचारकों ने झट-पट यानों को सजा दिया, लुम्बिनी को विभूषित कर दिया। (तथा उनमें से एक) परिचारक ने (जा कर) कहा—जय हो नरेन्द्र, जय हो दीर्घ आयु पाएँ। जैसा कहा था सब कर दिया। हे देव काल (=मुहूर्त) की प्रतीक्षा करें।

(यात्रा की राजा द्वारा व्यवस्था करना)

सो च नरवरेन्द्रो हृष्टचित्तो भवित्वा
गृहवरमनुविष्टो इष्टिकामेवमाह।
यस्य अहु मनापो या च मे प्रीतिकामा
सा मि कुरुत आज्ञां मण्डयित्वात्मभावं ॥202॥

(परिचारकों को शुद्धोदन महाराज की आज्ञा)

वचनमिमु शुणित्वा देविये पार्थिवेन्द्रः
तुष्टो मुदितचित्तः पारिषद्यानवोचत् ।
[12]हयगजरथपंक्तया वाहना योजयध्वं[12]
प्रवरगुणसमृद्धां लुम्बिनीं मण्डयध्वं ॥196॥

3. देवी के इस वचन को सुन कर पृथिवी के स्वामी (शुद्धोदन) ने संतुष्ट तथा प्रसन्न चित्त से परिजनों से कहा कि अश्वों (की सेना) के साथ, हाथियों (की सेना) के साथ, रथों की (की सेना) के साथ, तथा पंक्ति अर्थात् पत्ति (=पैदल सेना) के साथ गाड़ियाँ जुडवाओ (और) श्रेष्ठ गुणों से समृद्ध लुम्बिनी को मण्डित करो ।

नीलगिरिनिकाशां मेघवर्णानुबुद्धां
विंशति च सहस्रान् योजयध्वं गजानां ।
(–79–) मणिकनकविचित्रां हेमजालोपगूढां
घण्टुरचिरपार्श्वान् षड्विषाणां गजेन्द्रान् ॥197॥

बीस हजार हाथियों को (हाथियों से खीचे जाने वाले रथो से) जुडवाओ। वे श्रेष्ठ हाथी नील रंग के पर्वतों के समान, मेघो के रंग जैसे रंगीले, सोने के तथा मणियों (के आभूषणों) से विचित्र, हेमजाल अर्थात् सुवर्ण के बने कवच से ढँके हुए, दोनो ओर लटकते घण्टों से सुन्दर, तथा छह-छह दाँतों वाले होने चाहिए ।

हिमरजतनिकाशां मुञ्जकेशां सुकेशां
विंशति च सहस्रान् योजयध्वं हयानां ।
कनकरचितपार्श्वा किङ्किनीजाललम्बा
पवनजवितवेगा वाहना पार्थिवस्य ॥198॥

बीस हजार घोडों को (घोड़ो से खीचे जाने वाले रथो से) जुड़वाओ । वे राजा (की सवारी) के घोड़े हिम तथा रजत जैसे (श्वेतवर्ण वाले), मूँज के समान केश वाले, सुन्दर केश वाले, दोनो ओर सोने के आभूषणों से सजे हुए घूँघरुओं (की मालाओ) को पहने, वायु की तेजी के वेग वाले होने चाहिए ।

12····12. भोट, ब्शोन् प बशोन् छे म् ग्योग स् प हि. शुग्स् ल्दन् दग् क्यङ् ब्ल्तन् पर् गियस्, लघुरथमहयाना वाहना योजयध्वम्, (=क्षिप्रवेगवन्ति वाहनानि महावाहनानि योजयध्वम्) । मूल पाठ में पंक्ति शब्द अपभ्रंश है, वह पत्ति का स्थानापन्न है । पत्ति = पदाति = पैदल सेना ।

नरगण रणसोण्डान् शूर संग्रामकामान्
असिधनुशरशक्तिपाशखड्गाग्रहस्तान् ।
विंशति च सहस्रान् योजयध्वं सुशीघ्रं
माय सपरिवारां रक्षथ अप्रमत्ता ॥199॥

रण में कुशल, युद्ध से विरक्त न होने वाले, (अपने) पंजों में करवाल धनुष-बाण, छुरी, पाश, तथा खांड़ा लिए हुए, बीस हजार मनुष्यों के समूह को (कवचों से) अत्यन्त शीघ्र युक्त करो। (तथा) परिवार-सहित माया (देवी) की सावधान हो रक्षा करो।

मणिकनकनिषिक्तां लुम्बिनीं कारयध्वं
=66ख= विविधवसनरत्नैः सर्ववृक्षां प्रवेथा।
विविधकुसुमचित्रं नन्दनं वा सुराणां
वदर्त च मम शीघ्रं सर्वमेतं विधाय ॥200॥

लुम्बिनी को सुवर्ण तथा मणियों से विभूषित करवा दो, सब वृक्षों को विविध प्रकार के पुष्पों से विचित्र नन्दन (वन) के समान, विविध प्रकार के वस्त्रों तथा रत्नों से ढँक दो। यह सब करके शीघ्र मुझसे कहो।

(परिचारकों द्वारा राजाज्ञा का पालन)

वचनमिमु निशम्या पारिषद्यै क्षणेन
वाहन कृत सज्जा लुम्बिनी मण्डिता ता।

पारिषद्य आह
जय जय हि नरेन्द्रा आयु पालेहि दीर्घं
सर्व कृतु यथोक्तं कालु देव प्रतीक्ष ॥201॥

4. इस बात को सुन कर परिचारकों ने झट-पट यानों को सजा दिया, लुम्बिनी को विभूषित कर दिया। (तथा उनमें से एक) परिचारक ने (जा कर) कहा—जय हो नरेन्द्र, जय हो दीर्घ आयु पाएँ। जैसा कहा था सब कर दिया। हे देव काल (= मुहूर्त) की प्रतीक्षा करें।

(यात्रा की राजा द्वारा व्यवस्था करना)
सो च नरवरेन्द्रो हृष्टचित्तो भवित्वा
गृहवरमनुविष्टो इष्टिकानेवमाह।
यस्य अहु मनापो या च मे प्रीतिकामा
सा मि कुरुत आज्ञां मण्डयित्वात्मभावं ॥202॥

5. और वे श्रेष्ठ राजा चित्त में प्रसन्न हो, उत्तम घर के भीतर जा स्त्रियों से यों कहा—मन से मैं जिसका प्रिय हूँ, और जो मेरा प्रिय करना चाहती हैं, वह (अपनी) देह सजा कर मेरी आज्ञा (का पालन) करे।

(–80–) वरसुरभिसुगन्धां भावरङ्गां विचित्रां
वसन मृदु मनोज्ञां प्रावृणोथा उदग्राः ।
उरसि विगलितानां मुक्तहारा भवेथा
आभरणविभूषां दर्शयेथाद्य सर्वाः ॥203॥

उत्तम धूपे हुए तथा सुगन्ध से बसाए हुए, मन-भाए रंग के, विचित्र, कोमल तथा मनोहर वस्त्रों को प्रमुदित हो कर पहनो। छाती पर लटकने वाले मोतियों के हारों से (अलंकृत) हो जाओ, आज सब-लोग अलंकारों की सजावट दिखाओ।

[13]तुणपणवमृदङ्गां वीणवेणूमुकुण्डा[13]
तूर्यशतसहस्रान् योजयध्वं मनोज्ञां ।
भूय कुरुत हर्षं देवकन्यान यूयं
श्रुत्व मधुरघोषं देवतापि स्पृहेयुः ॥204॥

[13]तूण (= एक मुँह वाले हुडुक), पणव (= ढोल), मृदङ्ग, वीणा, वेणु (= वंशी), तथा मुकुन्द (नामक ढोल)[13] तथा (अन्य) मनोहर लाखों बाजों को बजा दो। तुम-सब देवकन्याओ को और भी अधिक आनन्दित कर दो। (ऐसा करो कि तुम्हारे और तुम्हारे बाजों के) मधुर शब्द को सुन कर देवता भी स्पृहा करने लगें।

एक[14] रथवरेस्मिन्[15] तिष्ठतां मायादेवी
मा च पुरुष इस्त्री अन्य तत्राऽरुहेया।
नारि विविधवर्मा तं रथं =67क= वाहयन्तां
मा च प्रतिकूलं मामभापं शृणोध्वा ॥205॥

13···13. हूखर ङ्, Kettle drum, ग्युंद् ग्चिग्,, एकतंत्री, एक तारा, ग्लिङ् बु, वंशी, वेणु, पि वङ् वीणा, र्ज ङ्, मृदङ्ग, डुम् डुम् फग्, मुकुन्द नामक ढोल। मूल पाठ के इन भोट प्रतिशब्दों में कुछ भेद है। एकतंत्री या एकतारा मूल मे नही है।

14. एक शब्द एका के अर्थ में है। यह मायादेवी का विशेषण है। तुलनीय भोट, स्पुयु ह् फुल् ग्चिग् पु, एक (या अकेली) मायादेवी।

15. रथवरेस्मिन् = रथवेर अस्मिन्। तुलनीय भोट, शि र्त हि् स्छोग् ह् दिर्। एस्मिन् इस ग्रन्थ मे सप्तमी विभक्ति के एकवचन का प्रत्यय भी है। यथा गगणेस्मिन्। देखिए इसी अध्याय मे आगे टिप्पणी 18।

इस श्रेष्ठ रथ पर अकेली माया देवी बैठें। उस पर अन्य पुरुष या स्त्री न चढ़े। विविध प्रकार के कवच पहन कर नारियाँ उस रथ को चलाएँ। (मन को) बुरा लगने वाला तथा मन को भला न लगने वाला कुछ न सुनाई पड़े।

हयगजरथपत्तीं सैन्य श्रीमद् विचित्रां
द्वारि स्थित नृपस्या श्रूयते उच्चघोषाः।
क्षुभितजलनिधिर्वा श्रूयते एव शब्दो
माय येद गृहातो निर्गता द्वारमूलं
घण्ट शतसहस्रा लाडिता मङ्गलार्थं ॥206॥

विचित्र शोभायमान अश्व-गज-रथ-पदातिसेना राजा के द्वार पर खड़ी थी, उच्च घोप सुन पड़ रहा था, (वह शब्द) अशान्त समुद्र के शब्द जैसा था। (उस समय) जब मायादेवी घर से बाहर द्वार के पास आई, तब मंगल के निमित्त लाखों घण्टे बजाए जाने लगे।

सो च रथ विचित्रो मण्डितः पार्थिवेन
अपि चमरुसहस्रै[16] दिव्यसिंहासनेभिः।
चतुरि[17] रतनवृक्षाः पत्रपुष्पोपपेताः
अभिनदित मनोज्ञां हंसक्रोञ्चान् मयूरान् ॥207॥

राजा ने वह रथ सहस्रों चमरों और दिव्यसिंहासनों से चित्रि-विचित्र सजाया था। पत्तियों और फूलों से युक्त चार रत्नों के वृक्ष (उस पर सजाए गए थे तथा) हंस, क्रौञ्च, और मयूर मनोहर बोलियाँ बोल रहे थे।

16. चमरुसहस्रै इस मूल पाठ की दो प्रकार से व्याख्या हो सकती है चमर-सहस्रैः अर्थात् हजारों चवँरियों से, च मरुसहस्रै अर्थात् च = तथा मरुसहस्रै = अमर सहस्रै। भोट, ल्ह र्नमस् स्तोङ् गिस्, देवसहस्रैः। हिन्दी अनुवाद में पहली व्याख्या का सहारा लिया गया है। दूसरी व्याख्या के सहारे पूर्वार्ध अर्थ यह होगा—राजा ने वह रथ चित्र-विचित्र सजाया और हजारों देवताओं ने (उसे) दिव्य सिंहासनों से (मढ दिया)।
17. चतुरि = चत्वारः चार। भोट, बृशिन् ल्दन् पर् ब्यस्, संमुखीन किया। पाठ स्पष्ट नहीं है।

(-81-) छत्रध्वजपताकाश्चोच्छ्रिता वैजयन्त्यः
किङ्किनिवरजालैश्छादितं दिव्यवस्त्रैः ।
मरुवधु गगणेस्मिन्[18] तं रथं प्रेक्षयन्ते
दिव्यमधुरघोषं श्रावयन्त्यस्तुवन्ति[19] ॥208॥

छत्र तथा ध्वजाएँ पताकाएँ, एवं वैजयन्तियाँ फहरा रही थीं, उत्तम किंकिणियों अथवा छोटे-छोटे घुंघुरुओं तथा दिव्य वस्त्रों से सजाए उस रथ को आकाश से दिव्य एवं मधुर ध्वनि सुनाती हुई देवाङ्गनाएँ देखती थी और स्तुति करती थीं ।

उपविशति यदा सा माय सिंहासनाग्रे
प्रचलित त्रिसहस्रा मेदिनी षड्विकारां ।
पुष्प मरु क्षिपिसू अम्बरां भ्रामयिसू
अद्य जगति श्रेष्ठो जायते लुम्बिनीये ॥209॥

जब माया देवी सिंहासन के ऊपर बैठी, तब त्रिसाहस्र (-महासाहस्र लोकधातु के सहित) पृथिवी छह प्रकार से डोल उठी । देवताओं ने फूल फेंके, वस्त्र घुमाए । (क्योकि) आज लुम्बिनी मे जगत् का श्रेष्ठ (पुरुष) अवतार लेने वाला है ।

चतुरि जगति पालास्तं रथं वाहयन्ते
त्रिदशपतिरपीन्द्रो मार्गशुद्धिं करोति ।
ब्रह्म पुरतु गच्छी दुर्जनां वारयन्तो
अमरशतसहस्रा प्राञ्जलीका नमन्ते ॥210॥

चारों लोकपाल उस रथ को खीचते थे । देवताओ के राजा इन्द्र राह शोधते थे । ब्रह्मा दुर्जनों की रोक-थाम करते हुए आगे चलते थे । लाखों देवता अञ्जलि बाँध नमस्कार करते थे ।

18. गगणेस्मिन् = गगने । एस्मिन् विभक्ति प्रत्यय है । भोट, नम् मृ खह्, लस्, गगनात्, आकाश से ।

19. श्रावयन्त्यस्तुवन्ति यह ससंधि पद है । असंधिपद श्रावयन्त्यः स्तुवन्ति । इस संधिनियम को पाणिनीय व्याकरण मे खोजना केवल श्रम होगा । प्राकृतानुसार तीन व्यंजनो को एक साथ यहाँ नही रहने दिया है । भोट, ब्स्तोद् प हि. छिग्स् ब्र्जोद् दे, स्तुति पद कहती थीं ।

नृपति मुदितचित्तो=67ख=वीक्षते तां वियूहां
तस्य भवति एवं व्यक्तऽयं देवदेवो ।
यस्य चतुरि पाला ब्रह्म सेन्द्राश्च देवाः
कुरुत विपुलपूजां व्यक्तऽयं[20] बुद्धभावी[20] ॥211॥

राजा चित्त में आनन्दित हो उस व्यूह (=सजी-सजाई भीड) को देखते थे। उनके मन में ऐसा होता था कि ये स्पष्ट ही देवताओं के देवता होंगे। जिनकी चारों लोकपाल, ब्रह्मा, तथा इन्द्र के सहित (सब) देवता बहुत-बहुत पूजा कर रहे हैं, (वे) ये बुद्ध होंगे (यह बात) स्पष्ट (ही) है।

नास्ति त्रिभवि सत्त्वो यः सहेत्पूजमेतां
देव अथ च नागाः शक्र ब्रह्मा च पालाः ।
मूर्ध तद फलेया जीवितं चास्य नश्येत्
अयु पुन अतिदेवः सर्वपूजां सहाति ॥212॥

तीनों (कामधातु, रूपधातु, तथा अरूपधातु के) भवों में ऐसा प्राणी नहीं है, जो इस पूजा को सह सके, चाहे वह देवता हो अथवा नाग हो, चाहे इन्द्र हो, ब्रह्मा हो, या लोकपाल हो। (जब कोई ऐसी पूजा ग्रहण करेगा), तब उसका माथा ही फट जाएगा और जीवन ही नष्ट हो जाएगा। ये तो देवातिदेव हैं जो (इस) सब पूजा को सह लेते हैं।

6. तदनन्तर हे भिक्षुओं, मायादेवी बाहर हुई। (वे) सब अलंकारों से विभूषित चौरासी सहस्र घोड़े-जुते रथों से घिरी हुई थीं। (वे) सब अलंकारों से विभूषित चौरासी सहस्र हाथी-जुते रथों से घिरी हुई थी। (-82-) (वे) शूर-वीर उत्तम अङ्ग और रूप वाले, दृढ वर्मों तथा कवचों से भलीभाँति बँधे-नधे चौरासी सहस्र पदाति-सैनिकों से सब ओर सुरक्षित थीं। साठ सहस्र शाक्य-कन्याएँ उनके आगे-आगे थी। और राजा शुद्धोदन के सगे कुटुम्ब में उत्पन्न बूढ़े-बच्चे तथा अववैसू चालीस सहस्र शाक्य उनकी रखवाली करते थे। राजा शुद्धोदन के रनिवास की साठ सहस्र गीत एवं वाद्य में समीचीन (स्त्रियाँ) [21]ढोल और मंजीरों[21] के साथ चलने वाला गाना-बजाना करती हुई उन्हे घेरे हुई थी। वे चौरासी सहस्र देवकन्याओं से[22] घिरी हुई थी[22]। उनके पीछे-पीछे

20....20. मूल, शुद्धभावी। भोट, सङ्स् ग्र्यंस् ह्ग्युर्, बुद्धो भविता। भोट पाठ ही प्रकरणानुकूल है तथा उचित है। मूल में निश्चय ही बुद्ध भावी प्रथम पाठ था। जो प्रमाद से विकृत हो गया है।

21....21. मूल, तूर्यताड। भोट, ह्खर् बहि सिल् स्नोल् दङ् फेग् दोब्।

22....22. मूल, परिवृता। यह पाठ भोट में नहीं है।

चौरासी सहस्र नाग-कन्याएँ, चौरासी सहस्रगन्धर्व-कन्याएँ, चौरासी सहस्र किन्नर-कन्याएँ, तथा चौरासी सहस्र असुर-कन्याएँ, नाना-प्रकार के अलंकारों से अलकृत हो, नाना प्रकार के गाने-बजाने के साथ = 68 क = स्तुति करती हुई चल रही थी। और समूचा लुम्बिनी वन सुगंधित जल से सींचा हुआ था, (उसमे) दिव्य पुष्प सब ओर बिखरे हुए थे। उस श्रेष्ठ वन में सब वृक्ष बिना ऋतु-काल के पत्र, पुष्प, तथा फल देते थे। देवताओं ने उस वन को (ऐसा) अलंकृत किया था कि वह देवताओं द्वारा अलंकृत मिश्रकावन (मिसरिख-वन) जैसा लगता था।

7. तदनन्तर मायादेवी लुम्बिनी-वन मे प्रवेश कर, उस रथ से उतर देव-कन्याओं एवं मनुष्य-कन्याओं से घिरी हुई, वृक्ष से वृक्ष तक टहलती हुई, वन से वन तक घूमती हुई, क्रम से छहाँ प्लक्ष (= पकरिया) का वृक्ष था, उस वृक्ष के पास पहुँची। वह था बडे-बड़े वृक्षरूपी रत्नो मे श्रेष्ठातिश्रेष्ठ, उसकी शाखाएँ सुन्दरता से बँटी-छँटी थी, वह समान-भाव से पत्रों तथा मंजरियों से युक्त था, उस पर नाना-प्रकार के फूल फूले थे, जिनमें कितने ही देव लोक के फूल थे कितने ही मनुष्य-लोक के, उस पर वस्त्र लटक रहे थे जो उत्तम-अत्युत्तम गन्ध के थे—नाना-प्रकार के गन्ध के थे नाना प्रकार के रंग के थे, विविध [23]मणियों और रत्नों की[23] प्रभा (जैसी प्रभा) से वह जाज्वल्यमान था, सब रत्नों से उसकी मूल, उसका तना, उसकी शाखाएँ और पत्तियाँ भलीभाँति विभूषित थीं, उसकी शाखाएँ बँटी-छँटी और बहुत (दूर तक) फैली हुई थी, वह हथेली-जैसे (समतल) भूमिभाग के = 68ख = मोर के गले-जैसे नीले तृणों से युक्त बँटे-छँटे विस्तार के काचिलिन्दिक-वस्त्र-जैसे सुखद-स्पर्श के, धरातल पर भली भाँति स्थित था, पहले के बुद्धों की माताएँ उसके तले (पूर्व में) ठहर चुकी थी, देवता उसके नीचे संगीत गा रहे थे, [24]शुभ, विमल, विशुद्ध, [24]तथा (–83–) प्रशान्तचित्त के [25]शतसहस्र शुद्धावास देवता[25] जटा-मुकुटों के नीचे झुकाने से झुके हुए मस्तकों से उसका अभिनन्दन कर रहे थे।

8. तदनन्तर वह प्लक्ष (= पकरिया) का पेड़ बोधिसत्व के तेज के बल से

23⋯23. मूल, ०मणि० । भोट, नोर् बु दङ् रिन् पो छे, ०मणिरत्न० ।

24⋯24. मूल, विशुद्ध । उचित पाठ विशुद्धैः होना चाहिए। भोटानुसार शुद्धावासदेवों का यह विशुद्ध पद विशेषण है। भोट पाठ यों है—ग्नस् ग्चङ् महि् ल्ह व्भ्कङ् शिङ् द्रि मेद् प नंम् पर् दग् प रब् तु शि बहि् सेम्स् दङ् ल्दन् प नम्स् क्यिस्, शुद्धावासदेवैः शुभविमलविशुद्धप्रशान्तचित्तैः। मूल के शुद्धावासदेवशतसहस्रैः के स्थान में भोट, पाठ शुद्धावासदेवैः है।

25⋯25. देखिए इसी अध्याय की इससे पहले की टिप्पणी।

झुक कर प्रणाम करने लगा। तब मायादेवी [26]गगन-तल पर दिखाई देती बिजली के समान[26] दाहिनी भुजा फैला, प्लक्ष की शाखा पकड़, लीला के साथ गगन-तल की ओर निहारती हुई, जँभाई लेती खड़ी हो गई। उस समय काम-धातु के निवासी देवताओं में से साठ हजार अप्सराएँ (वहाँ) पहुँच कर मायादेवी की पूजा-सेवा करती थी।

9. इस प्रकार के ऋद्धिप्रातिहार्य से युक्त बोधिसत्त्व माता की कोख में विराजे थे। पूरे दस मास बीतने पर, (उन्हें) ऐरा-गैरा दूसरों का गर्भमल न कहा जाय (इसलिए) वे माता की कोख से गर्भ की गन्दगी से अछूते, स्मृतिमान् एवं जागरूक हुए निकले।

10. हे भिक्षुओ, उस समय देवताओं के इन्द्र, शक्र तथा सहापति ब्रह्मा सामने खड़े थे, जिन्होंने अत्यन्त गौरव के साथ, सब अङ्गों तथा प्रत्यङ्गों (की गति विधि में) स्मृतिमान् एवं जागरूक रहते हुए दिव्य काशी के बार रेशमी वस्त्र से =69क= बोधिसत्त्व को ओढा कर ग्रहण किया।

11. और जिस कूटागार में माता की कोख में रहते हुए बोधिसत्त्व विराजे थे, उसे सहापति ब्रह्मा तथा ब्रह्मलोक वासी देवपुत्र उठाकर, पूजा के निमित्त चैत्य बनाने के लिए, ब्रह्मलोक पहुँच आए। किसी मनुष्य-भूत (प्राणी) के द्वारा बोधिसत्त्व (पहले-पहल गोद में) नहीं लिए जाते तभी तो देवताओं ने पहले-पहल बोधिसत्त्व को (गोद में) लिया।

12. तदनन्तर उत्पन्न होते ही बोधिसत्त्व पृथिवी पर उतरे। बोधिसत्त्व महासत्त्व के उतरते-उतरते महापृथिवी को भेद कर महापद्म प्रकट हुआ। नागराज नन्द और उपनन्द ने गगन तल पर आधे शरीर से खड़े होकर शीत तथा उष्ण जलधाराओं का निर्माण कर बोधिसत्त्व को स्नान कराया। (-84-) [27]शक्र, ब्रह्मा, तथा लोकपाल इत्यादि ने[27] एवं दूसरे बहुत से सैकड़ों-हजारों देवपुत्रों ने उत्पन्न होते ही बोधिसत्त्व को नाना प्रकार के सुगन्धित जल से स्नान कराया तथा नाना प्रकार के सुगन्ध देने वाले पुष्पों को (उनके ऊपर) बरसाया। अन्त-

26....26. मूल, गगणतलगतेव विद्युद्दृष्टिं। भोट, नम् म्खहि् द्कियल् दु स्नङ् ब हि् ग्लोग् गि फ्रेङ् ब, गगणतलगतां विद्युत्स्रजमिव, गगनतल पर होने या चमकने वाली बिजली की माला के समान।

27....27. मूल, शक्रब्रह्मलोकपालाः पूर्वंगमाश्च। भोट, ब्र्ग्य बियन् दङ्, छ्ङ् स् प दङ् ह्जिग् र्तेन् स्क्योङ् ब ल सोग्स्, शक्रब्रह्मलोकपालादयः। पूर्वंगम (=आदि प्रभृति) शब्द से पहले लोकपाल शब्द पृथक् न हो कर समास में होना चाहिए। संभवतः ०लोकपालपूर्वंगमाः शुद्ध पाठ था।

रिक्ष मे से दो चँवर और (एक) रत्नछत्र प्रकट हुआ। उन्होंने उस महापद्म पर खड़े होकर चारों दिशाओं की ओर ताका। (चारो दिशाओं की ओर ताक कर) जैसे सिंह की चितवन होती है, जैसी महापुरुषों की चितवन होती है, उस चितवन से देखा।

13. उस समय अपने पूर्व (जन्मों मे किए गए) पुण्यमूल के फल से उत्पन्न हुए, [28]बे रोक-टोक की दैवी दृष्टि प्रकट करने वाले दिव्य चक्षु से[28] नगर, निगम (=कस्बा), जनपद (=देहात), राष्ट्र तथा राजधानी के सहित और देवताओ एवं मनुष्यो से युक्त =69ख= समूचे त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोकधातु को देखा। तथा सब प्राणियो के चित्तो में उठने वाले विचारों को जाना। और जान कर (मन-ही-मन) देखा कि क्या कोई प्राणी शील मे, समाधि मे, प्रज्ञा में, पुण्य की मूलभूत चर्या मे, मेरे समान है। पर जब बोधिसत्त्व ने त्रिसाहस्र महासाहस्र लोकधातु में अपने समान किसी प्राणी को नही देखा, तब (वे) बोधिसत्त्व उस समय सिंह के समान बिना भय-भीति के, बिना डर के, बिना घबराहट के, भलीभाँति सोचे हुए (तथ्य) का स्मरण एवं चिन्तन कर, सब प्राणियों के चित्त-विचारों को जान कर (यह जतलाने के लिए कि) मै सब पुण्यों के मूलभूत धर्मो पर पूर्व-पूर्व (आगे-आगे) चलता रहूँगा, बिना किसी का सहारा लिए बोधिसत्त्व पूर्व दिशा की ओर सात पैर चले। चलते-चलते उनके ऊपर उनका अनुसरण ऐसे दिव्य, विशाल एवं श्वेत वर्ण के छत्र और दो शोभन चवँर करते थे जिन्हे कोई (हाथों से) नही उठाए हुए (दीखता) था। जहाँ-जहाँ बोधिसत्त्व पैर रखते थे, वहाँ-वहाँ कमल प्रकट हो जाते थे। मैं देवताओं और मनुष्यों द्वारा दक्षिणीय (=पूजनीय) रहूँगा (यह जतलाने के लिए वे) दक्षिण दिशा की ओर सात पैर चले। (वे) सात पैर पश्चिम दिशा की ओर चले। सातवें पग पर खडे होकर सिंहनाद करते हुए आल्हादकारी वचन बोले—मैं लोक मे ज्येष्ठ हूँ, मैं (–84–) लोक मे श्रेष्ठ हूँ, यह मेरा पश्चिम (=अन्तिम) जन्म है, जन्म, है, जरा =70क= मृत्यु और दुःख का मैं अन्त करूँगा। सब प्राणियों के बीच मे अनुत्तर (अर्थात् जिससे उत्तर-बढ़ा-चढ़ा कोई नहीं है—ऐसा) मैं हूँगा—(यह जतलाने के लिए वे) उत्तर दिशा की ओर सात पैर चले। (वे) नीचे की दिशा की ओर सात पैर चले (यह जतलाने के लिए कि) मैं मार और मार-सेना को मार भगाऊँगा, सब नरक में पड़े (प्राणियों) की नरकाग्नि को बुझाने के लिए

28....28. मूल, अप्रतिहतेन दिव्यचक्षुप्रादुर्भूतेन दिव्येन चक्षुपा। भोट, ल्ह हि, मिग् थोगस् प मेद् प, अप्रतिहतेन दिव्येन चक्षुषा। यही पाठ टीक लगता है।

धर्म की महावर्षा करूँगा, जिससे वे सुख पाएँगे । (वे) ऊपर की दिशा की ओर सात पैर चले और ऊपर की ओर देखा (यह जतलाने के लिए कि) सब प्राणी (मुँह) उठा-उठा कर मुझे देखेंगे। बोधिसत्त्व ज्योंही यह वाणी बोले त्योंही त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोकधातु (उसकी) ध्वनि से (उस वाणी को) भलीभाँति जान गया। यह बोधिसत्त्व के (पुण्य–) कर्मों के फलस्वरूप अभिज्ञता-धर्मता (=जानकारी कराने की विशेषता) उत्पन्न होती है।

14. अन्तिम—अवतारधारी बोधिसत्त्व जब जब उत्पन्न होते हैं और जब अनुत्तर सम्यक् संबोधि को भलीभाँति बूझते हैं, तब ये—ऐसे ऋद्धिप्रातिहार्य (=दिव्यचमत्कार) हुआ करते हैं। हे भिक्षुओं, उस समय सब प्राणी रोमाञ्चित हो उठे। भयभीत और रोमाञ्चित करने वाला महान् भूकम्प लोक में प्रकट हुआ। बिना बजाए ही दैवी तथा मानुषी बाजे =70ख= बज उठे। उस समय त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोकधातु मे वृक्ष सब ऋतुकाल के फूलों और फलों से फूल-फल उठे। अत्यन्त निर्मल गगन-तल से मेघों का शब्द सुन पड़ा बिना मेघ केआकाश से धीरे-धीरे [29]पतली-पतली वर्षा हुई। नाना वर्णो अर्थात् देशों के तथा दिव्य अर्थात् देवलोक के पुष्पों, वस्त्रों, आभरणों, गन्धों और चूर्णो से मिश्रित स्पर्श मे अत्यन्त सुखदायक, सौम्य, सुगन्धित पवन बहने लगे। अंधकार धूल, धुएँ, तथा कोहरे से रहित सब दिशाएँ निर्मल हो चमकने लगी। ऊपर अन्तरिक्ष से अदृश्य भाव से ब्रह्मा के महाघोष सुनाई पड़े। चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, ब्रह्मा, लोकपालों (–86–) की सब प्रभा फीकी पड़ गई। स्पर्श में परम सुखदायिनी, सब प्राणियों की जातियों के चित्त में सुख उपजाने वाली, अलौकिक, अनेक-शतसहस्र वर्णो (रंगों) की कान्ति से सब त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोकधातु भासमान हो गया। बोधिसत्त्व के जन्म के साथ-साथ ही सब प्राणी पूरे-पूरे सुख के लाभी हुए। उनके सबके सब राग, द्वेष मोह, दर्प, अरति, विषाद, भय, लोभ, इर्ष्या, मात्सर्य (कंजूसी) दोष दूर हो गए। उनके सब अकुशल कर्म =71क= रुक गए। रोगी प्राणियों के रोग शान्त हो गए। भूखे प्यासे प्राणियों की भूख-प्यास बुझ गई। मदिरा के नशे में चूर प्राणियों का नशा उतर गया। पागलों का होश ठिकाने आ गया। जिनके नेत्र नहीं थे उन प्राणियों को नेत्र लाभ हुआ। जिन प्राणियों को कानों से नही सुन पड़ता था, वे कानों से सुनने लगे। जो अंग, प्रत्यङ्ग एवं इन्द्रियों से विकलाङ्ग थे, वे अविकलाङ्ग हो गए। दरिद्रों को धन मिला। बन्धन मे जो बँधे थे, वे बन्धन से छूट गए। अवीचि से लेकर (अन्य सब नरकों में पड़े

29. मूल, ०छन्नैः। पढ़िए छनैः शनैः। तुलनीय भोट, दल् बु दल्बुस् शनैः शनै मन्दं मन्दं, धीरे धीरे।

हुए) सब नारकीय जीवों के सब नरक की पीडा के दु:ख उस समय शान्त हो गए। तिर्यक् योनि अर्थात् पशु-पक्षियों की योनि मे पड़े जीवों का एक-दूसरे के द्वारा मार कर खा जाने का भय तथा यम-लोक मे गए प्राणियों की भूख प्यास का दुःख शान्त हो गया। जव जन्म लेने के साथ-साथ, कोटि-खर्व-शतसहस्र असंख्येय-कल्पो तक सदाचार के आचरण द्वारा महावीर्य, महाबल, तथा धर्मता (=तथता, परमार्थतत्त्व) की प्राप्ति के साथ, बोधिसत्त्व सात पैर चले, तब उस समय वज्रमय पृथिवी के प्रदेश पर दशों दिशाओं के लोक धातुओं मे रहने वाले भगवान् बुद्ध खड़े थे, ताकि उस स्थान पर महापृथिवी [30]नीचे नही जाए[30]। =71ख= जन्म के साथ-साथ, हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व उतने महान् बलवेग से युक्त हो सात पैर चले थे। सब लोकों के मध्यभाग उस समय महाप्रकाश से प्रकाशित हो उठे थे। उस समय महान् गीत-शब्द हुआ, महान् नृत्य-शब्द हुआ। उस समय पुष्पों के, चूर्णों के, गन्धो के, माल्यो के, रत्नो के, आभूषणो के तथा वस्त्रों के, अप्रमेय मेघ अति करके वरसे। सब प्राणी परम सुख के लाभी (–87–) हुए। संक्षेप से (कहें तो) वह (सब) क्रिया लीला अचिन्त्य थी, जब (सब लोकों के हितार्थ अवतारधारी) सब लोक मे श्रेष्ठ बोधिसत्त्व का लोक मे प्रादुर्भाव हुआ।

15. तदनन्तर आयुष्मान् आनन्द आसन से उठ कर, उत्तरासंग को एक कंधे पर कर, दाहिने जानु-मण्डल को धरती पर टेक कर, जिस ओर भगवान् थे, उस ओर अंजलि बाँध प्रणाम कर बोले। हे भगवान्, तथागत सब प्राणियों के बीच अचरज हो कर रहे हैं। बोधिसत्त्व होते हुए ही अद्भुत धर्मो से युक्त थे, अनुत्तर सम्यक् संबोधि पाए हुए के विषय मे कहना ही क्या। हे भगवान् यह मैं चार-पाँच वार भी, दश बार भी, यहाँ तक कि पचास बार भी, =72क= यहाँ तक कि सौवार-हजारवार भी हे भगवन्, मैं भगवान् बुद्ध की शरण जाता हूँ।

16. ऐसा कहने पर भगवान् आयुष्मान् आनन्द से यह बोले। हे आनन्द, अनागत काल मे कार्य की भावना न करने वाले, चित्त की भावना न करने वाले, शील की भावना न करने वाले, प्रज्ञा की भावना न करने वाले, बाल (मूढ़)—अपंडित, अभिमानी, उद्धत (=चंचल) उन्नत (=अर्थात् धरती पर पैर न रखने वाले गर्वित), असंवृत (=असंयमी), वे ठिकाने के मन वाले, संदेह से व्याकुल, बहु प्रकार की दुविधा वाले, श्रद्धारहित, श्रमणो में मल-स्वरूप (श्रमण न होते हुए भी) श्रमणों का स्वांग बनाए हुए, कोई-कोई भिक्षु होंगे। वे बोधिसत्त्व के गर्भ में जाने की अवस्था में इस प्रकार की शुद्धि पर श्रद्धा नहीं करेंगे। वे

30....30. मूल, नावतीर्यत (=नावतीर्येत)। भोट, शिग् पर् मि ह्ग्युर् बर् ब्य वहि् फ्यिर, नाश न होने के लिए, न नश्येदिति।

एकान्त मे इकट्ठे हो कर एक-दूसरे से यों कहेंगे। अरे, देखो तो यह बुढ़-भस ! माता की कोख पड़े, मल-मूत्र की कीच में सने, बोधिसत्त्व की यह विभूति !! गर्भ-मल से अछूते माता की दाहिनी कोख से उनका निकलना !!! यह सब कैसे युक्ति-युक्त हो सकता है ? वे मूढ पुरुष ऐसा नही समझेंगे। कि पुण्य कर्म करने वाले प्राणियों की काया मल-मूत्र के कीच से नही उपजती। हे भिक्षुओं[31], उस प्रकार के उत्तम-सत्वो[32] की [33]गर्भावक्रान्ति (=गर्भ मे जाना) तथा गर्भ मे स्थिति[33] =72ख=अत्यन्त भद्र[34] कल्याणमय होती है। (–88–) प्राणियों पर कृपा करके ही बोधिसत्त्व मनुष्य लोक में उत्पन्न होते हैं। वे देवता हो कर धर्मचक्र का प्रवर्तन नहीं करते। वह क्यों? हे आनन्द, (वह इस लिए कि) प्राणी निरुद्यमी न हो जाएँ कि भगवान् तथागत अर्हन् सम्यक् सबुद्ध देवता थे, हम तो कोरे मनुष्य हैं, हम वह स्थान परिपूर्ण करने में समर्थ नही हैं। उन धर्म के चोर मूढ़ पुरुषों के (मन मे) ऐसा नही होगा कि वे अचिन्त्य सत्त्व है, हमें उनको माप-जोख कर नही परखना चाहिए। वे आनन्द, उस समय वे तथागत-बुद्ध के ऋद्धिप्रातिहार्यो अर्थात् अलौकिक चमत्कारों पर भी विश्वास नहीं करेंगे, तथागत-बोधसत्त्व के बोधिसत्त्वावस्था के चमत्कारों की तो बात ही क्या ! हे आनन्द देखो-सोचो तो, वे मूढ़ पुरुष कितना अधिक अपुण्य-कर्म करेंगे, जो लाभ-सत्कार तथा प्रशंसा से दबे हुए, गन्दगी मे लत-पत, लाभ-सत्कार से दबे ऐरे-गैरे लोगो की भांति बुद्ध-धर्मो पर आक्षेप करेगे।

17. आनन्द बोले। हे भगवन्,[35] न हों ! न हों !![35] अनागत काल में =73क=इस प्रकार के भिक्षु, जो इस प्रकार के भद्र (=कल्याणमय) सूत्रान्तों पर आक्षेप करें और उनका[36] प्रतिवर्ण (=अपवाद) बकें[36]।

31. भोट, द्गे स्लोङ् दग्, भिक्षवः। मूल मे यह पाठ नही है।

32. मूल, सत्वानां। भोट, सेम्स चन् दम् प, उत्तमानां सत्त्वानां।

33....33. मूल, गर्भावक्रान्तिर्भवति। गर्भाविस्थितश्च····। भोट, म्ङल् दु ह्ग्रोब दङ् म्ङल् न ग्नस् प नि····। येन् नो गर्भावक्रान्तिर्भवति गर्भावस्थितिश्च।

34. मूल, भद्रिका। भोट, शिन् तुहुङ् ब्स्ङ् ब अतिभद्रिका, अतीव भद्रिका।

35····35. मूल, मा मा। भोट में यह पाठ नही है।

36····36. मूल, प्रतिपक्षं पक्षन्ति, प्रतिवक्ष्यन्ति। यह पाठद्वय अशुद्ध है। प्रतिवर्णं (=अपवादं) वक्ष्यन्ति पाठ सम्भवतः था। तुलनीय भोट, मि स्ङन् पर् ब्र्जोद् प, मि स्ङन् प ब्र्जोद् पर्,, अपवाद करेंगे, अपवदिष्यन्ति, प्रतिवर्णं वक्ष्यन्ति। प्रतिवर्णं यहां वर्ण (=प्रशंसा) का विरोधी शब्द है।

हुए) सब नारकीय जीवों के सब नरक की पीडा के दुःख उस समय शान्त हो गए। तिर्यक् योनि अर्थात् पशु-पक्षियों की योनि मे पडे जीवों का एक-दूसरे के द्वारा मार कर खा जाने का भय तथा यम-लोक मे गए प्राणियों की भूख प्यास का दुःख शान्त हो गया। जब जन्म लेने के साथ-साथ, कोटि-खर्व-शतसहस्र असंख्येय-कल्पो तक सदाचार के आचरण द्वारा महावीर्य, महाबल, तथा धर्मता (= तथता, परमार्थतत्त्व) की प्राप्ति के साथ, बोधिसत्त्व सात पैर चले, तब उस समय वज्रमय पृथिवी के प्रदेश पर दशों दिशाओं के लोक धातुओं मे रहने वाले भगवान् बुद्ध खड़े थे, ताकि उस स्थान पर महापृथिवी [30]नीचे नही जाए[30]। = 71ख = जन्म के साथ-साथ, हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व उतने महान् बलवेग से युक्त हो सात पैर चले थे। सब लोकों के मध्यभाग उस समय महाप्रकाश से प्रकाशित हो उठे थे। उस समय महान् गीत-शब्द हुआ, महान् नृत्य-शब्द हुआ। उस समय पुष्पो के, चूर्णो के, गन्धो के, माल्यो के, रत्नो के, आभूषणो के तथा वस्त्रो के, अप्रमेय मेघ अति करके बरसे। सब प्राणी परम सुख के लाभी (–87–) हुए। संक्षेप से (कहें तो) यह (सब) क्रिया लीला अचिन्त्य थी, जब (सब लोकों के हितार्थ अवतारधारी) सब लोक मे श्रेष्ठ बोधिसत्त्व का लोक मे प्रादुर्भाव हुआ।

15. तदनन्तर आयुष्मान् आनन्द आसन से उठ कर, उत्तरासंग को एक कंधे पर कर, दाहिने जानु-मण्डल को धरती पर टेक कर, जिस ओर भगवान् थे, उस ओर अंजलि बाँध प्रणाम कर बोले। हे भगवान्, तथागत सब प्राणियों के बीच अचरज हो कर रहे है। बोधिसत्त्व होते हुए ही अद्भुत धर्मो से युक्त थे, अनुत्तर सम्यक् संबोधि पाए हुए के विषय मे कहना ही क्या। हे भगवान् यह मैं चार-पाँच बार भी, दश बार भी, यहाँ तक कि पचास बार भी, = 72क = यहाँ तक कि सौबार-हजारबार भी हे भगवन्, मैं भगवान् बुद्ध की शरण जाता हूँ।

16. ऐसा कहने पर भगवान् आयुष्मान् आनन्द से यह बोले। हे आनन्द, अनागत काल मे कार्य की भावना न करने वाले, चित्त की भावना न करने वाले, शील की भावना न करने वाले, प्रज्ञा की भावना न करने वाले, बाल (मूढ़)— अपंडित, अभिमानी, उद्धत (= चंचल) उन्नत (= अर्थात् धरती पर पैर न रखने वाले गर्वित), असंवृत (= असंयमी), बे ठिकाने के मन वाले, संदेह से व्याकुल, बहु प्रकार की दुविधा वाले, श्रद्धारहित, श्रमणों में मल-स्वरूप (श्रमण न होते हुए भी) श्रमणों का स्वांग बनाए हुए, कोई-कोई भिक्षु होगे। वे बोधिसत्त्व के गर्भ मे जाने की अवस्था मे इस प्रकार की शुद्धि पर श्रद्धा नही करेंगे। वे

30....30. मूल, नावतीर्यत (= नावतीर्येत)। भोट, शिंग् पर् मि ह्ग्युर् बर् ब्य बहि् फ्यिर, नाश न होने के लिए, न नश्येदिति।

एकान्त मे इकट्ठे हो कर एक-दूसरे से यों कहेंगे। अरे, देखो तो यह बुढ़-भस ! माता की कोख पड़े, मल-मूत्र की कीच में सने, बोधिसत्त्व की यह विभूति !! गर्भ-मल से अछूते माता की दाहिनी कोख से उनका निकलना !!! यह सब कैसे युक्ति-युक्त हो सकता है ? वे मूढ पुरुष ऐसा नही समझेंगे। कि पुण्य कर्म करने वाले प्राणियों की काया मल-मूत्र के कीच से नही उपजती। हे भिक्षुओं[31], उस प्रकार के उत्तम-सत्वो[32] की [33]गर्भावक्रान्ति (=गर्भ मे जाना) तथा गर्भ मे स्थिति[33] =72ख=अत्यन्त भद्र[34] कल्याणमय होती है। (–88–) प्राणियों पर कृपा करके ही बोधिसत्त्व मनुष्य लोक मे उत्पन्न होते हैं। वे देवता हो कर धर्मचक्र का प्रवर्तन नहीं करते। वह क्यों? हे आनन्द, (वह इस लिए कि) प्राणी निरुद्यमी न हो जाएँ कि भगवान् तथागत अर्हन् सम्यक् संबुद्ध देवता थे, हम तो कोरे मनुष्य है, हम वह स्थान परिपूर्ण करने में समर्थ नही हैं। उन धर्म के चोर मूढ़ पुरुषों के (मन मे) ऐसा नही होगा कि वे अचिन्त्य सत्त्व है, हमे उनको माप-जोख कर नही परखना चाहिए। वे आनन्द, उस समय वे तथागत-बुद्ध के ऋद्धिप्रातिहार्यो अर्थात् अलौकिक चमत्कारों पर भी विश्वास नही करेंगे, तथागत-बोधसत्व के बोधिसत्वावस्था के चमत्कारो की तो बात ही क्या ! हे आनन्द देखो-सोचो तो, वे मूढ़ पुरुष कितना अधिक अपुण्य-कर्म करेंगे, जो लाभ-सत्कार तथा प्रशंसा से दबे हुए, गन्दगी मे लत-पत, लाभ-सत्कार से दबे ऐरे-गैरे लोगो की भाँति बुद्ध-धर्मो पर आक्षेप करेंगे।

17. आनन्द बोले। हे भगवन्,[35] न हों ! न हों !![35] अनागत काल में =73क=इस प्रकार के भिक्षु, जो इस प्रकार के भद्र (=कल्याणमय) सूत्रान्तों पर आक्षेप करे और उनका[36] प्रतिवर्ण (=अपवाद) बके[36]।

31. भोट, द्गे स्लोङ् दग्, भिक्षवः।मूल में यह पाठ नहीं है।
32. मूल, सत्त्वानां। भोट, सेम्स चन् दम् प, उत्तमानां सत्त्वानां।
33....33. मूल, गर्भावक्रान्तिर्भवति। गर्भावस्थितश्च····। भोट, म्ङल् दु ह्ग्रोव दङ् म्ङल् न ग्नस् प नि····। येन् नो गर्भावक्रान्तिर्भवति गर्भावस्थितिश्च।
34. मूल, भद्रिका। भोट, शिन् तुहुङ् ब्झङ् ब अतिभद्रिका, अतीव भद्रिका।
35····35. मूल, मा मा। भोट में यह पाठ नही है।
36····36. मूल, प्रतिपक्षं पक्षन्ति, प्रतिवक्ष्यन्ति। यह पाठद्वय अशुद्ध है। प्रतिवर्ण (=अपवादं) वक्ष्यन्ति पाठ सम्भवतः था। तुलनीय भोट, मि स्ङन् पर् व्र्जोद् प, मि स्ङन् प व्जोद् पर्, अपवाद करेंगे, अपवदिष्यन्ति, प्रति-वर्णं वक्ष्यन्ति। प्रतिवर्णं यहाँ वर्ण (=प्रशंसा) का विरोधी शब्द है।

हुए) सब नारकीय जीवों के सब नरक की पीडा के दुःख उस समय शान्त हो गए। तिर्यक् योनि अर्थात् पशु-पक्षियों की योनि मे पड़े जीवों का एक-दूसरे के द्वारा मार कर खा जाने का भय तथा यम-लोक मे गए प्राणियों की भूख प्यास का दुःख शान्त हो गया। जब जन्म लेने के साथ-साथ, कोटि-खर्व-शतसहस्र असंख्येय-कल्पो तक सदाचार के आचरण द्वारा महावीर्य, महाबल, तथा धर्मता (= तथता, परमार्थतत्व) की प्राप्ति के साथ, बोधिसत्त्व सात पैर चले, तब उस समय वज्रमय पृथिवी के प्रदेश पर दशों दिशाओं के लोक धातुओं मे रहने वाले भगवान् बुद्ध खडे थे, ताकि उस स्थान पर महापृथिवी [30]नीचे नही जाए[30]। = 71ख = जन्म के साथ-साथ, हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व उतने महान् बलवेग से युक्त हो सात पैर चले थे। सब लोकों के मध्यभाग उस समय महाप्रकाश से प्रकाशित हो उठे थे। उस समय महान् गीत-शब्द हुआ, महान् नृत्य-शब्द हुआ। उस समय पुष्पों के, चूर्णों के, गन्धो के, माल्यो के, रत्नो के, आभूषणो के तथा वस्त्रों के, अप्रमेय मेघ अति करके बरसे। सब प्राणी परम सुख के लाभी (–87–) हुए। संक्षेप से (कहें तो) यह (सब) क्रिया लीला अचिन्त्य थी, जब (सब लोकों के हितार्थ अवतारधारी) सब लोक मे श्रेष्ठ बोधिसत्त्व का लोक मे प्रादुर्भाव हुआ।

15. तदनन्तर आयुष्मान् आनन्द आसन से उठ कर, उत्तरासंग को एक कंधे पर कर, दाहिने जानु-मण्डल को धरती पर टेक कर, जिस ओर भगवान् थे, उस ओर अंजलि बाँध प्रणाम कर बोले। हे भगवान्, तथागत सब प्राणियों के बीच अचरज हो कर रहे है। बोधिसत्त्व होते हुए ही अद्भुत धर्मो से युक्त थे, अनुत्तर सम्यक् संबोधि पाए हुए के विषय मे कहना ही क्या। हे भगवान् यह मैं चार-पाँच बार भी, दश बार भी, यहाँ तक कि पचास बार भी, = 72क = यहाँ तक कि सौबार-हजारबार भी हे भगवन्, मैं भगवान् बुद्ध की शरण जाता हूँ।

16. ऐसा कहने पर भगवान् आयुष्मान् आनन्द से यह बोले। हे आनन्द, अनागत काल मे कार्य की भावना न करने वाले, चित्त की भावना न करने वाले, शील की भावना न करने वाले, प्रज्ञा की भावना न करने वाले, बाल (मूढ़)— अपंडित, अभिमानी, उद्धत (= चंचल) उन्नत (= अर्थात् धरती पर पैर न रखने वाले गर्वित), असंवृत (= असयमी), बे ठिकाने के मन वाले, संदेह से व्याकुल, बहु प्रकार की दुविधा वाले, श्रद्धारहित, श्रमणो में मल-स्वरूप (श्रमण न होते हुए भी) श्रमणों का स्वांग बनाए हुए, कोई-कोई भिक्षु होंगे। वे बोधिसत्त्व के गर्भ मे जाने की अवस्था मे इस प्रकार की शुद्धि पर श्रद्धा नही करेंगे। वे

30....30. मूल, नावतीर्यत (= नावतीर्येत)। भोट, शिग् पर् मि ह्.ग्युर् बर् व्य वहि् फ़्यिर, नाश न होने के लिए, न नश्येदिति।

एकान्त में इकट्ठे हो कर एक-दूसरे से यों कहेंगे। अरे, देखो तो यह बुढ-भस माता की कोख पड़े, मल-मूत्र की कीच में सने, बोधिसत्त्व की यह विभूति !! गर्भ मल से अछूते माता की दाहिनी कोख से उनका निकलना !!! यह सब कैसे युक्ति युक्त हो सकता है ? वे मूढ पुरुष ऐसा नही समझेंगे। कि पुण्य कर्म करने वा प्राणियों की काया मल-मूत्र के कीच से नही उपजती। हे भिक्षुओं[31], उस प्रका के उत्तम-सत्त्वों[32] की [33]गर्भावक्रान्ति (=गर्भ मे जाना) तथा गर्भ में स्थिति =72ख=अत्यन्त भद्र[34] कल्याणमय होती है। (-88-) प्राणियों पर कृ करके ही बोधिसत्त्व मनुष्य लोक मे उत्पन्न होते हैं। वे देवता हो कर धर्मच का प्रवर्तन नही करते। वह क्यों ? हे आनन्द, (वह इस लिए कि) प्राणी निरुद्य न हो जाएँ कि भगवान् तथागत अर्हन् सम्यक् सबुद्ध देवता थे, हम तो कोरे मनु है, हम वह स्थान परिपूर्ण करने में समर्थ नही हैं। उन धर्म के चोर मूढ़ पुरु के (मन मे) ऐसा नही होगा कि वे अचिन्त्य सत्त्व है, हमे उनको माप-जोख न नही परखना चाहिए। वे आनन्द, उस समय वे तथागत-बुद्ध के ऋद्धिप्रातिहा अर्थात् अलौकिक चमत्कारों पर भी विश्वास नहीं करेंगे, तथागत-बोधसत्त्व बोधिसत्त्वावस्था के चमत्कारो की तो बात ही क्या ! हे आनन्द देखो-सोचो वे मूढ पुरुष कितना अधिक अपुण्य-कर्म करेंगे, जो लाभ-सत्कार तथा प्रशंसा दवे हुए, गन्दगी मे लत-पत, लाभ-सत्कार से दबे ऐरे-गैरे लोगो की भाँति बु धर्मो पर आक्षेप करेगे।

17. आनन्द बोले। हे भगवन्,[35] न हों ! न हों !![35] अनागत काल = 73क = इस प्रकार के भिक्षु, जो इस प्रकार के भद्र (= कल्याणम सूत्रान्तों पर आक्षेप करें और उनका[36] प्रतिवर्ण (= अपवाद) वकें[36]।

31. भोट, द्गे स्लोङ् दग्, भिक्षवः। मूल में यह पाठ नही है।
32. मूल, सत्त्वाना। भोट, सेम्स चन् दम् प, उत्तमानां सत्त्वानां।
33....33 मूल, गर्भावक्रान्तिर्भवति। गर्भावस्थितश्च....। भोट, म्ङल् दु ह् दङ् म्ङल् न ग्नस् प नि....। येन् नो गर्भावक्रान्तिर्भवति गर्भावस्थितिश
34. मूल, भद्रिका। भोट, शिन् तुह्ङ् ब्सङ् ब अतिभद्रिका, अतीव भद्रिका
35....35. मूल, मा मा। भोट में यह पाठ नही है।
36....36. मूल, प्रतिपक्षं पक्षन्ति, प्रतिवक्ष्यन्ति। यह पाठद्वय अशुद्ध प्रतिवर्ण (=अपवादं) वक्ष्यन्ति पाठ सम्भवतः था। तुलनीय भोट, मि स पर् ब्र्जोद् प, मि स्ङन् प ब्र्जोद् पर्, अपवाद करेंगे, अपवदिष्यन्ति, वर्णं वक्ष्यन्ति। प्रतिवर्णं यहाँ वर्ण (=प्रशंसा) का विरोधी शब्द है।

18. भगवान् बोले । हे आनन्द, (होंगे इस प्रकार के भिक्षु) वे[37] इस प्रकार के सूत्रान्तों[37] पर आक्षेप करेंगे और उनका प्रतिवर्ण (अपवाद) वकेंगे)। तथा दूसरे अन्य प्रकार के पाप-कर्म करेंगे । वे[38] श्रमणता से[38] प्रयोजन न रखने वाले होंगे ।

19 आनन्द[39] बोले । हे भगवन्, उन जैसे असत्पुरुषों की क्या गति होगी ? उनका क्या अभिसपराय (=परलोक) होगा ?

20 भगवान् बोले । जो गति बुद्ध की बोधि पर परदा डालने से, अतीत, अनागत एवं वर्तमान भगवान् बुद्धों का अपवाद करने से होती हैं, उस गति को वे प्राप्त होंगे ।

21. (–89–) तब आयुष्मान् आनन्द रोमाञ्चित हो 'नमो बुद्धाय' कहते हुए, भगवान् से बोले । हे भगवन्, उन असत् पुरुषों की करनी-भरनी की बात सुन कर मेरी काया मूर्च्छित हो गई है ।

22. भगवान् बोले । हे आनन्द, उनका चाल-चलन सम न होगा, वे प्राणी विषम चाल-चलन के होंगे । वे उस चाल-चलन के कारण अवीचि नाम के = 73ख = महानरक में पड़ेंगे । वह किस कारण ? (वह इस कारण कि उन्होने तथागत के वचनो पर विश्वास नही किया) । हे आनन्द, जो कोई भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक अथवा उपासिकाएँ—इस प्रकार के सूत्रान्तों को सुन कर उन पर अधिमोक्ष (=अविचल विश्वास) नही करेंगे, श्रद्धा नही करेंगे, उन्हे प्राप्त नही करेंगे, वे[40] मरने के साथ-साथ[40] अवीचि नाम के महानरक में पड़ेगें । हे आनन्द, तथागत को[41] सब ओर से[41] माप-जोख कर न परखना

37....37. एवं रूपाश्च....सूत्रान्तां का संस्कृत पाठ एवं रूपांश्च सूत्रान्तान् होगा । तुलनीय भोट, म्दो स्दे ह्दि ल्त बु, इस प्रकार के सूत्र ।

38....38. मूल, श्रमण्यो न । शुद्धपाठ होगा श्रामण्येन । तुलनीय भोट, द्गे स्व्योङ् गि द्ङोस् पो दोन् दु मि ग्ञेर् ब दग् क्यङ्, अनर्थिकाश्च-श्रामण्येन ।

39. मूल, आनन्दः । यह भोट मे नहीं है ।

40....40. मूल, च्युताः समानाः (च्युताः सन्ताः, च्युत हुए) । भोट, शि ह् फोस् म थग् तु, च्युताः समनन्तरम्, मरने के साथ-साथ । समानाः अथवा सन्तः यहाँ समनन्तर के अर्थ मे ही है ।

41. मूल, आप्रामाणिकं (=सब ओर से माप-जोखकर) भोट मे केवल छद्दु (प्रामाणिकं) पाठ है ।

चाहिए। वह किस कारण ? हे आनन्द, (वह इस कारण कि) तथागत अप्रमेय हैं—मापे-जोखे नही जा सकते, (वे) गम्भीर है, विपुल है, दुरवगाह है उनकी थाह नही ली जा सकती। हे आनन्द, इस प्रकार के सूत्रान्तों को सुन कर जिन-किन्ही के (मन में)[42] प्रीति, प्रमोद, एवं श्रद्धा[42] उपजेगी, उन प्राणियों को लाभों का सुलाभ है। उनका जीवन सफल है, उनका मानुष्य सफल है और वे शोभन चरित्र का आचरण करने वाले है। उन्होने सार ले लिया है और तीनों अपायों (=दुर्गतियों) से मुक्त हो जाएँगे। वे तथागत के पुत्र हैं और उन्हें[43] सब अर्थ[43] मिल गया। उनकी श्रद्धा-प्राप्ति सफल हुई और राष्ट्र का पिण्ड (=अन्न) उन्होंने[44] भलीभाँति खाया[44]। वे अग्रसत्वों[45] अर्थात् बोधिसत्वों और बुद्धों मे प्रसन्न (=श्रद्धालु) है, तथा मार के बन्धनों को काट डाला है। आवागमन के जंगली कान्तार से वे पार पहुँच गए और शोक के शल्य (=चुभते हुए काँटे) को उन्होंने निकाल फेंका। प्रमोद की वस्तु उन्हें मिल गई और उन्होने शरणगमन को भलीभाँति ग्रहण =74क= कर लिया। वे दक्षिणा देने के योग्य है और उन (जैसे) पूजनीयो का में जन्म दुर्लभ होता है। लोक में दक्षिणा का पात्र करके (उन्हे) ग्रहण करना चाहिए। वह किस कारण ? (वह इस कारण कि) वे समूचे लोक मे इस प्रकार के तथागत के धर्म पर श्रद्धा करते है, जो (इस) समूचे लोक से विमुख हैं। हे आनन्द, वे प्राणी अवरक (=तुच्छ या छोटे-मोटे) कुशलमूल (=पुण्यमूल) से युक्त नही होते। वे (-90-) प्राणी, हे आनन्द मेरे एकजातिप्रतिबद्ध-मित्र अर्थात् केवल एक जन्म से बँधे नही[46] होंगे। वह किस कारण ? हे आनन्द, (वह इस कारण कि) कोई सुनने भर से ही प्यारा और मनोहर होता है, पर देखने से नही। हे आनन्द,

42⋯42. मूल, प्रीतिप्रामोद्यं प्रसाद०। भोट, द्गह् ब दङ् म् छोग् तु द्गह् ब दङ् दद् प, प्रीति प्रामोद्यं प्रसादश्च। मूल पाठ प्रीतिप्रामोद्यप्रसादा होगा।

43⋯43. मूल, सर्वकार्यं। भोट, द्गोस् प थम्स् चद्, सर्वार्थ। मूल, पाठ सर्वकार्य होगा।

44⋯44. सुविभक्तं के स्थान मे सुविभुक्तं पढ़िए। भोट, लेग्स् पर् ज़ोस् सो, सुविभुक्तम्, सम्यग् भुक्तम्।

45. मूल, अप्रसत्वैः। अग्रसत्वे अथवा अग्रसत्वेषु शुद्धपाठ होगा। तुलनीय भोट, सेम्स् चन् दम् प नम्स् ल, उत्तम सत्वों में।

46. यहाँ मूल में न तथा भोट मे म निषेधवाचक शब्द होना चाहिए। क्यो कि आगे मूल मे (पृष्ठ ९० पंक्ति ६-७) में न⋯ ममैक जातिप्रतिबद्धानि मित्राणि पाठ है। भोट में इस स्थान पर भी निषेधवाचक शब्द नहीं है।

कोई देखने से तो प्यारा और मनोहर होता है, पर सुनने से नहो । हे आनन्द, कोई देखने से भी प्यारा और मनोहर होता है, और सुनने से भी । हे आनन्द, उनमे से जिन-किन्ही को मै देखने से वा सुनने से प्यारा और मनोहर लगूँ, वहाँ[47] तुम निष्ठा[47] रखो, पक्का भरोसा रखो कि वे प्राणी मेरे एकजातिप्रतिबद्ध-मित्र अर्थात् केवल एक जन्म से बँधे सहज-मित्र नही है । तथागत ने उन्हें देखा है, तथागत को उन्हे मोक्ष दिलाना है,[48] उनमें (तथागत के) गुणों के अंशों के समान गुण है, उनमे तथागत के गुणांश है, तथागत को उन्हे उपासक बनाना है,[48] वे तथागत के शरणागत है, तथागत ने उन्हे[49] अपना लिया है[49] । हे आनन्द, पहले =74 ख= बोधिसत्त्वचर्या मे लगे रहते हुए, मेरे पास आकर प्राणी अभय की याचना करते तो मैं उन्हें अभय देता था । इस समय अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि पा लेने के बाद तो कहना ही क्या ? हे आनन्द, श्रद्धा में योग (=श्रद्धा लाभ के निमित्त यत्न) करना चाहिए । यह तथागत की विज्ञापना है । हे आनन्द, तुम्हारे लिए तथागत को जो करना था, वह कर दिया । मान के शल्य को (=चुभते हुए काँटे को) शोध डाला । हे आनन्द, (हमारा कोई) मित्र है, यह सुन कर भी (लोग) सौ-योजन दूर तक जाते है तथा पहले से अनदेखे मित्र को देखकर सुखी होते हैं । फिर मेरे सहारे कुशल-मूलों को जिन्होने रोपा, (मुझे देख कर) उन (के सुख) का कहना ही क्या ? तथागत, अर्हन्, सम्यक्संबुद्ध (उन्हे) जानेंगे कि ये प्राणी तथागतों के पहले के मित्र रहे है, (इसलिए) हमारे भी ये मित्र है । वह क्यो ? हेआनन्द, (वह इसलिए कि) मित्र का मित्र प्यारा और मनोहर लगता है,[50] उस मित्र का भी[50] जो प्यारा मित्र होता है, वह भी प्यारा और मनोहर लगता है । इसीलिए तो हे आनन्द, फुसलाता हूँ, समझाता-बुझाता हूँ कि एकमात्र श्रद्धा उपजाओ । हम अनुपरीन्दना करेगे–हम अनुरोध करेगे अना (–91–) गत के तथागत, =75क= अर्हत् सम्यक् संबुद्धों से, जिससे वे (ऐसे श्रद्धालु प्राणियों को) हमारा भी मित्र

47····47. मूल, निष्ठात्व तत्र गच्छेथा । शुद्ध पाठ होगा—निष्ठा (=निष्ठां) त्वं तत्र गच्छेगा । तुलनीय भोट, ब्थोद् क्यिस्....ङेस् पर् गतोंस् पर ब्य स्ते ।

48····48. मूल, ते समगुणप्रत्यंशास्ते तथागतगुणप्रत्यंशास्ते तथागतेन कर्तव्या उपासकास्० । देदग् नि दे ब्शिन् गशेग्स् प दङ् योन् तन् ग्यि छ मुम् प हो, ते तथागतसमगुणप्रत्यंशाः ।

49····49. मूल, उपान्तास्० । यह अशुद्ध है । भोट, ब्भङ् ब हो, उपात्ताः ।

50····50. मूल, तस्यापि (तदपि) प्रियमेव भवति, मित्रस्य । भोट, म्भह् बो दे हि., तस्य मित्रस्य । कोष्ठक पाठ निरर्थक है ।

जान कर उनका यथोचित मनोरथ पूरा करेंगे। हे आनन्द, उदाहरण से समझो। कोई आदमी हो, उसका एक छोटा बेटा हो। वह आदमी हो बूढा, सम भाव से बरतने वाला और बहुत से मित्रों वाला। वह (बेटा) अपने बापके मरने पर, अपने बाप के मित्रों से भलीभाँति संभाल लिया जाने से न नष्ट हो। इसी प्रकार, हे आनन्द, जो कोई मुझ पर श्रद्धा करेंगे, उन्हें मैं सभालूंगा। वे मेरे मित्र जैसे है, वे मेरे शरणागत हैं। और तथागत के वे मित्र सत्यवादी हैं, अनृतवादी नही। मैं सत्यवादियों के लिए, अनुपरीन्दना करता हूँ—अनुरोध करता हूँ उनसे, जो तथागत के मित्र हैं—अनागत के अर्हत् सम्यक् संबुद्ध हैं। हे आनन्द, श्रद्धा मे योग (=श्रद्धा लाभ के निमित्त यत्न) करना चाहिए। यहाँ मैं तुमसे विज्ञापना कर रहा हूँ।

23 इस प्रकार, हे भिक्षुओ,[51] बोधिसत्व के जन्म होने पर, आकाश में स्थित कोटि-खर्व-शतसहस्र अप्सराएँ मायादेवी के ऊपर पुष्प, धूप, गन्ध, माल्य विलेपन, तथा वस्त्राभूषणों की वर्षा करती थीं। उस विषय मे ऐसा कहा जाता है—

(भगवज्जन्म वर्णन)

(अष्टादशाक्षरा महामालिका (=वनमाला) छन्द)

शुभविमलविशुद्धहेमप्रभा चन्द्रसूर्यप्रभा
षष्टिदशसहस्र[52] देवाप्सरा मञ्जुघोषस्वराः।
तस्मि क्षणि उपेत्य तां लुम्बिनीं मायदेव्यब्रुवन्
मा खु जनि विषादु तुष्टा भवोपस्थायिकास्ते वयं ॥213॥

पवित्र, निर्मल तथा अत्यन्त शुद्ध सुवर्ण-जैसी कान्ति की, चन्द्रमा तथा सूर्य जैसी चमक की, मनोहर ध्वनि और स्वर की, साठ-दस हजार देवाप्सराएँ उसी क्षण लुम्बिनी पहुँच कर उन मायादेवी से बोलीं विषाद न करे, संतुष्ट हों, हम सब आप की सेविका है।

भण हि कि करणीयु किं कुर्महे केन कार्यं च ते
वयं तव सुसमर्थोपस्थायिका प्रेमभावस्थिताः।
अपि च भव उदग्र हर्षान्विता मा च खेदं जनेहि
जरामरणविघाति वैद्योत्तमं अद्य देवी जनेषी लधु ॥214॥

51. भोट, द्गे स्लोङ् दग्, भिक्षवः, हे भिक्षुओं।
52. भोट, स्तोङ् फग् द्रुग् चु, षष्टिसहस्र।

कोई देखने से तो प्यारा और मनोहर होता है, पर सुनने से नही। हे आनन्द, कोई देखने से भी प्यारा और मनोहर होता है, और सुनने से भी। हे आनन्द, उनमे से जिन-किन्हीं को मै देखने से वा सुनने से प्यारा और मनोहर लगूँ, वहाँ[47] तुम निष्ठा[47] रखो, पक्का भरोसा रखो कि वे प्राणी मेरे एकजातिप्रतिबद्ध-मित्र अर्थात् केवल एक जन्म से बँधे सहज-मित्र नही है। तथागत ने उन्हें देखा है, तथागत को उन्हे मोक्ष दिलाना है,[48] उनमें (तथागत के) गुणों के अंशो के समान गुण है, उनमे तथागत के गुणांश है, तथागत को उन्हे उपासक बनाना है,[48] वे तथागत के शरणागत है, तथागत ने उन्हे[49] अपना लिया है[49]। हे आनन्द, पहले =74 ख= बोधिसत्त्वचर्या मे लगे रहते हुए, मेरे पास आकर प्राणी अभय की याचना करते तो मैं उन्हे अभय देता था। इस समय अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि पा लेने के बाद तो कहना ही क्या? हे आनन्द, श्रद्धा में योग (=श्रद्धा लाभ के निमित्त यत्न) करना चाहिए। यह तथागत की विज्ञापना है। हे आनन्द, तुम्हारे लिए तथागत को जो करना था, वह कर दिया। मान के शल्य को (=चुभते हुए कांटे को) शोध डाला। हे आनन्द, (हमारा कोई) मित्र है, यह सुन कर भी (लोग) सौ-योजन दूर तक जाते है तथा पहले से अनदेखे मित्र को देखकर सुखी होते है। फिर मेरे सहारे कुशल-मूलो को जिन्होने रोपा, (मुझे देख कर) उन (के सुख) का कहना ही क्या? तथागत, अर्हन्, सम्यक्सबुद्ध (उन्हे) जानेंगे कि ये प्राणी तथागतों के पहले के मित्र रहे है, (इसलिए) हमारे भी ये मित्र है। वह क्यो? हेआनन्द, (वह इसलिए कि) मित्र का मित्र प्यारा और मनोहर लगता है,[50] उस मित्र का भी[50] जो प्यारा मित्र होता है, वह भी प्यारा और मनोहर लगता है। इसीलिए तो हे आनन्द, फुसलाता हूँ, समझाता-बुझाता हूँ कि एकमात्र श्रद्धा उपजाओ। हम अनुपरीन्दना करेंगे-हम अनुरोध करेंगे अना (-91-) गत के तथागत, =75क= अर्हत् सम्यक् संबुद्धों से, जिससे वे (ऐसे श्रद्धालु प्राणियो को) हमारा भी मित्र

47····47. मूल, निष्ठात्वं तत्र गच्छेया। शुद्ध पाठ होगा—निष्ठा (=निष्ठां) त्वं तत्र गच्छेया। तुलनीय भोट, ल्थोद् कियस्....ङेस् पर् गर्तोस् पर ब्य स्ते।

48····48. मूल, ते समगुणप्रत्यंशास्ते तथागतगुणप्रत्यंशास्ते तथागतेन कर्तव्या उपासकास्०। देदग् नि दे बशिन् गशेग्स् प दङ् योन् तन् ग्यि छ मम् प हो, ते तथागतसमगुणप्रत्यंशाः।

49····49. मूल, उपान्तास्०। यह अशुद्ध है। भोट, ब्भङ् ब हो, उपात्ताः।

50····50. मूल, तस्यापि (तदपि) प्रियमेव भवति, मित्रस्य। भोट, म्जह् बो दे हि., तस्य मित्रस्य। कोष्ठक पाठ निरर्थक है।

जान कर उनका यथोचित मनोरथ पूरा करेंगे। हे आनन्द, उदाहरण से समझो। कोई आदमी हो, उसका एक छोटा बेटा हो। वह आदमी हो बूढ़ा, नम्र भाव से बरतने वाला और बहुत से मित्रों वाला। वह (बेटा) अपने बापके मरने पर, अपने बाप के मित्रों से भलीभाँति संभाल लिया जाने से न नष्ट हो। इसी प्रकार, हे आनन्द, जो कोई मुझ पर श्रद्धा करेंगे, उन्हें मैं सभालूंगा। वे मेरे मित्र जैसे हैं, वे मेरे शरणागत हैं। और तथागत के वे मित्र सत्यवादी हैं, अनृतवादी नहीं। मैं सत्यवादियों के लिए, अनुपरोन्दना करता हूँ—अनुरोध करता हूँ उनसे, जो तथागत के मित्र हैं—अनागत के अर्हत् सम्यक् संबुद्ध हैं। हे आनन्द, श्रद्धा मे योग (=श्रद्धा लाभ के निमित्त यत्न) करना चाहिए। यहाँ मैं तुमसे विज्ञापना कर रहा हूँ।

23. इस प्रकार, हे भिक्षुओ,[51] वोधिसत्त्व के जन्म होने पर, आकाश में स्थित कोटि-खर्व-शतसहस्र अप्सराएँ मायादेवी के ऊपर पुष्प, धूप, गन्ध, माल्य विलेपन, तथा वस्त्राभूषणों की वर्षा करती थी। उस विषय में ऐसा कहा जाता है—

(भगवज्जन्म वर्णन)

(अष्टादशाक्षरा महामालिका (=वनमाला) छन्द)

शुभविमलविशुद्धहेमप्रभा चन्द्रसूर्यप्रभा
षष्टिदशसहस्र[52] देवाप्सरा मञ्जुघोषस्वरा: ।
तस्मि क्षणि उपेत्य तां लुम्बिनीं मायदेव्यब्रुवन्
मा खु जनि विषादु तुष्टा भवोपस्थायिकास्ते वयं ॥213॥

पवित्र, निर्मल तथा अत्यन्त शुद्ध सुवर्ण-जैसी कान्ति की, चन्द्रमा तथा सूर्य जैसी चमक की, मनोहर ध्वनि और स्वर की, साठ-दस हजार देवाप्सराएँ उसी क्षण लुम्बिनी पहुँच कर उन मायादेवी से बोली—विषाद न करें, संतुष्ट हों, हम सब आप की सेविका हैं।

भण हि कि करणीयु किं कुर्महे केन कार्यं च ते
वयं तव सुसमर्थोपस्थायिका प्रेमभावस्थिता: ।
अपि च भव उदग्र हर्षान्विता मा च खेदं जनेहि
जरामरणविघाति वैद्योत्तमं अद्य देवी जनेषी लघुं ॥214॥

51. भोट, द्गे स्लोङ् दग्, भिक्षवः, हे भिक्षुओं।
52. भोट, स्तोङ् फ्रग् द्रुग् चु, षष्टिसहस्र।

बोलिए क्या करना है ? (हम) क्या करें ? आपका किस (वस्तु) से प्रयोजन है ? हम प्रेम-भाव में स्थित, भली-भाँति समर्थ आपकी सेविकाएँ हैं। किं च आनन्दित हों, हर्ष से युक्त हो, खेद न करें। आज अभी शीघ्र ही देवी ने जरामरणरूपी (रोग के) नाशक श्रेष्ठ वैद्य को जन्म दिया है।

(–92–) यथ द्रुम परिफुल्ल संपुष्पिता शालवृक्षा इमे
यथ च मरु सहस्र पार्श्वे स्थिता भ्रामयन्तो भुजान्।
यथ च चलि ससागरा मेदिनी षड्विकारा इयं
दिवि भुवि च विघुष्ट लोकोत्तरं त्वं जनेषी सुतं ॥215॥

ये पेड जैसे चारों ओर से फूले हुए हैं, शालवृक्ष भलीभाँति पुष्पित हो गए हैं, और जैसे हजारों देवता पास में खड़े भुजाएँ घुमा रहे हैं, और जैसे सागरसहित पृथिवी छह प्रकार से डोल उठी है, आकाश और पृथिवी में विशेष घोष (भर गया) है, (उससे जान पड़ता है कि) आपने लोकोत्तर पुत्र को जन्म दिया है।

यथ च प्रभ विशुद्ध विभ्राजते स्वर्णवर्ण शुभा
तूर्यशत मनोज्ञा चाघट्टिता घुष्यन्तेऽम्बरे।
यथ च शत सहस्र शुद्धा शुभा वीतरागाः सुरा
नमिषु मुदितचित्ता अद्यो जने सर्वलोके हितं ॥216॥

जैसे सोने के रंग की शुभ एवं विशुद्ध प्रभा जगमगा रही है, बिना बजाए ही आकाश में मनोहर सैकड़ों बाजे बज रहे हैं, और जैसे शतसहस्र शुद्ध, शुभ तथा रागरहित देवता मुदित चित्त हो नमस्कार कर रहे हैं (उससे जान पड़ता है कि) आज (अपने) सर्वलोक-हितकारी को जन्म दिया है।

शक्रमपि च ब्रह्म पालापि चान्या च या देवता
तुष्ट मुदितचित्ता पार्श्वे स्थिता नामयन्तो भुजां।
सो च पुरुषसिंह शुद्धव्रतो भित्व[53] कुक्षि निर्धावितो
कनकगिरिनिकास शुद्ध=76*=व्रतो निष्क्रमी नायकः ॥217॥

53. भोट, गोम्स् नस्, भावयित्वा। यह पाठ भी उत्तम है। इसके अनुसार कुक्षि का संबन्ध निष्क्रमी से होगा तथा उसे द्वितीयान्त न मान पंचम्यन्त मानना होगा। *भोटग्रन्थ का छियत्तरवाँ पत्र लुप्त है। **मूल ग्रन्थ में संपादक ने संस्थिता पद के अन्तर कोष्ठक में ऽभूतदा, यत्र पद के अनन्तर चक्राङ्कचित्रेभिः, स्थितो के अनन्तरऽपि नायकः बढ़ाकर वनमाला छन्द बनाने का यत्न किया है। अन्तिम चरण दुष्टक स्पष्ट है, अतः पाठ

शक्र, ब्रह्मा, लोकपाल तथा अन्य जो-जो देवता हैं, वे (सब) संतुष्ट एवं प्रसन्नचित्त हो भुजाएँ नमाए पास में खड़े हैं। और वे शुद्ध-व्रत के पुरुषसिंह, नायक कोख भेद भली भाँति धोए हुए कनक-पर्वत के समान बाहर निकले।

शक्रमपि च ब्रह्म तौ पाणिभिः संप्रतीच्छा मुनि
क्षेत्र सहस्र संकम्पिता आभ मुक्ता शुभा।
अपि च त्रिषु अपायि सत्त्वा सुखी नास्ति दुःखं पुन
अमर शतसहस्र पुष्पां क्षिपी भ्रामयन्त्यम्वरान् ॥218॥

शक्र तथा ब्रह्मा दोनों ने हाथों से मुनि को लिया, सहस्रों (बुद्ध–) क्षेत्र काँप उठे, पवित्र आभा फूट पड़ी, तीनों (नरक, प्रेत तथा तिर्यक् नाम की) दुर्गतियों के प्राणी सुखी हो गए, दुःख नही रहा, और वस्त्र फहराते शत-सहस्रों देवताओं ने फूल बरसाए।

वीर्यबलउपेत, वज्रात्मिका मेदिनी संस्थिता, पद्म रुचिरचितु
अभ्युद्गतो, यत्र पद्भ्यां स्थितो;
सप्त पद क्रमित्व ब्रह्मस्वरो मुञ्च घोषोत्तमं जरामरण
विघाति वैद्योत्तमो भेष्यि सत्त्वोत्तमः। (–93–)

गगण तल स्थिहित्व ब्रह्मोत्तमो शक्र देवोत्तमः
सुचिरुचिरप्रसन्नगन्धोदकै विस्नपी नायकं,
अपि च उरगराजा शीतोष्ण द्वे वारिधारे शुभे व्यमुञ्चान्तरिक्षे
स्थिताः, अमर शतसहस्र गन्धोदकै विस्नपी नायकं लोकपालाश्च
संभ्रान्त संधारयन्ती करैः शोभनैः ॥219 दण्डकच्छन्दः‡‡॥

जहाँ वीर्य एवं बल से युक्त (भगवान्) खड़े हो, सात पैर चल कर, ब्रह्मस्वर से उत्तम घोषणा की कि (मैं) जरा-मरण का नाशक श्रेष्ठ वैद्य एवं श्रेष्ठ सत्व हूँगा, (वहाँ) धरती हीरे के जैसी (निर्मल एवं अभेद्य बन कर) भलीभाँति स्थित रही, सुन्दर रंग-बिरंगे कमल निकले। आकाश तल में खड़े होकर (ब्रह्मलोक के देवताओ मे) उत्तम ब्रह्म तथा देवताओ मे उत्तम शक्र ने पवित्र, रुचिर, एवं

पूरा दण्डक मानकर यहाँ दिया गया है। ■ मूल, (इति)। ■ उपजाति मे इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवजा का ही नही अन्य वृत्तो का भी मिश्रण देखा जाता है। छन्दोलक्षण भी कही ठीक, कही ढीला-ढाला होता है। × मूल, नयुता (स्थिता)। × × इसके आगे मूल में है (पंचकुलिकशतानि प्रसूयन्ते स्म), अर्थात् (पाँच सौ कुलिक अर्थात् नगराधिकारी विशेष उत्पन्न हुए)। × × × मूल, महकुलरत्नस्य (वृद्धिभूता)। × × × × मूल, (राज्ञि) शुद्धोदने।

निर्मल सुगन्धित जलों से (मुनि-) नायक को नहलाया, और नागराजाओं ने आकाश मे खडे होकर ठंडे तथा गरम जल की पवित्र धाराएँ छोडी, शतसहस्रों देवताओं ने सुगन्धित जलो से (मुनि-) नायक को नहलाया, (उस समय) संभ्रान्त (चकित) हुए लोकपाल उन्हे पवित्र हाथो से भलीभाँति थामे रहे ।

त्रिसहस्रा इयं भूमिः कम्पते सचराचरा ।
प्रभा च रुचिरा मुक्ता अपायाश्च विशोधिताः ।
क्लेश दुःखाश्च ते शान्ता जाते लोके विनायके ॥220॥

लोक मे विनायक (बुद्ध) के उत्पन्न होने पर यह चराचर सहित त्रिसाहस्र (-महासाहस्र) भूमि चंचल हो उठी, सुन्दर प्रभा निकल पडी, अपायो (नरको) में अन्धेरा साफ़ हो गया, तथा वे-सब (प्राणियों को पीड़ित करने वाले) क्लेश एवं दुःख शान्त हो गए ।

क्षिपन्ति सुरतः पुष्पं जातेऽस्मिन् नरनायके ।
क्रम सप्तपदां वीरः क्रमते बल वीर्यवान् ॥221॥

इन नर-नायक के उत्पन्न होने पर देवताओं ने फूल बरसाए । बल तथा वीर्य से युक्त वीर (भगवान्) सात कदम पैर (उठा) चले ।

पादौ निक्षिपते यत्र भूमौ पद्मवराः शुभाः ।
अभ्युद्गच्छन् ततो मह्यां सर्वरत्नविभूषिताः ॥222॥

जिस भूमि पर (भगवान्) ने पैर रखे, उस भूमि पर सब रत्नों से विभूषित, शुभ तथा उत्तम पद्म निकले ।

यदा सप्तपदां गत्वा ब्रह्मस्वरमुदाहरि ।
जरामरणविघाती भिषग्वर इवोद्गतः ॥223॥

(यह सब तब हुआ) जब सात पैर चल कर (भगवान्) ने ब्रह्मस्वर से कहा कि जरामरण के नाशक श्रेष्ठ वैद्य जैसा मैं उत्पन्न हुआ हूँ ।

(उपजातिच्छन्द)

व्यवलोकयित्वा च विशालदो दिशां
ततो गिरां मुञ्चति अर्थयुक्तां ।
ज्येष्ठोऽहं सर्वलोकस्य श्रेष्ठो लोके विनायकः
इयं च जातिर्मम पश्चिमा (ति) ॥224॥

विशारद अर्थात् निर्भीक (भगवान्) ने दिशाओं को देख कर फिर अर्थपूर्ण वचन कहे कि मैं सब लोक में बड़ा हूँ, (सब) लोक में श्रेष्ठ हूँ, (मैं) विनायक (उत्तम नेता) हूँ, यह मेरा अन्तिम जन्म है ।

हास्यं च मुक्तं नरनायकेन
सलोकपालैरमरुभिश्च सेन्द्रैः ।
प्रसन्नचित्तैर्वरगन्धवारिभिः
संस्कारितो लोकहितार्थकारी ॥225॥

नरनायक (भगवान्) मुसकराए। इन्द्र तथा लोकपालों के साथ प्रसन्न चित्त देवताओं ने लोक के हितकर प्रयोजन में लगे हुए (भगवान्) का उत्तम तथा सुगन्धित जलों से (स्नान) संस्कार किया।

अपि चोरगेन्द्रैः सहितैः समग्रैः
गन्धोग्रधाराविसरैः स्नपिंसु ।
अन्येऽपि देवा नयुताऽन्तरीक्षे
स्नपिन्सु गन्धाग्र जिनं स्वयंभु ॥226॥ (-94-)

(उन्होंने) सब नागराजो के साथ सुगन्धित एवं बलवती धाराओं के समूह से (भगवान् को) नहलाया। आकाश मे (ठहरे) अन्य खर्व-खर्व देवताओं ने उत्तम गन्ध (के जल) से स्वयंभू जिन को स्नान कराया।

श्वेतं च विपुलं छत्रं चामरांश्च शुभाम्बरान् ।
अन्तरीक्षे गता देवा स्नपयन्ति नरर्षभं ॥227॥

श्वेत रंग के विशाल छत्र, चवँर, तथा शुभवस्त्रों (के जोड़े) को (लेकर) आकाश मे विराजमान देवताओं ने मनुष्यों में श्रेष्ठ (भगवान्) को नहलाया × × ।

(अष्टादशाक्षरा महामालिका (=वनमाला) छन्द)

पुरुष त्वरितु गत्व शुद्धोदनमब्रवीत् हर्षितो
वृद्धि विपुल जातु देवा सुतो भूषितो लक्षणैः ।
महकुलरत्नस्य × × × व्यक्तो असौ चक्रवर्तीश्वरः
न च भवि प्रतिशतु जम्बुध्वजे एकछत्रो भवेत् ॥228॥

अविलवित एवं हर्ष से भरा एक पुरुष शुद्धोदन से जाकर बोला। बड़ी बढ़ती हो। हे देव, लक्षणो से विभूपित कुमार जन्मा है। (आपके) महान् कुलरत्न का वह स्पष्ट ही चक्रवर्तीश्वर होगा। जम्बू की ध्वजा वाले (इस द्वीप) मे (उस कुमार का) विरोधी शत्रु नही होगा। (वह) एक छत्र (राजा) होगा।

निर्मल सुगन्धित जलों से (मुनि–) नायक को नहलाया, और नागराजाओं ने आकाश में खड़े होकर ठंडे तथा गरम जल की पवित्र धाराएँ छोड़ी, शतसहस्रों देवताओं ने सुगन्धित जलों से (मुनि–) नायक को नहलाया, (उस समय) संभ्रान्त (चकित) हुए लोकपाल उन्हे पवित्र हाथों से भलीभाँति थामे रहे।

त्रिसहस्रा इयं भूमिः कम्पते सचराचरा।
प्रभा च रुचिरा मुक्ता अपायाश्च विशोधिताः।
क्लेश दुःखाश्च ते शान्ता जाते लोके विनायके ॥220॥

लोक मे विनायक (बुद्ध) के उत्पन्न होने पर यह चराचर सहित त्रिसाहस्र (–महासाहस्र) भूमि चचल हो उठी, सुन्दर प्रभा निकल पडी, अपायों (नरकों) में अन्धेरा साफ़ हो गया, तथा वे–सब (प्राणियों को पीड़ित करने वाले) क्लेश एवं दु.ख शान्त हो गए।

क्षिपन्ति मुरतः पुष्पं जातेऽस्मिन् नरनायके।
क्रम सप्तपदां वीरः क्रमते बल वीर्यवान् ॥221॥

इन नर–नायक के उत्पन्न होने पर देवताओ ने फूल बरसाए। बल तथा वीर्य से युक्त वीर (भगवान्) सात कदम पैर (उठा) चले।

पादौ निक्षिपते यत्र भूमौ पद्मवराः शुभाः।
अभ्युद्गच्छन् ततो मह्यां सर्वरत्नविभूषिताः ॥222॥

- जिस भूमि पर (भगवान्) ने पैर रखे, उस भूमि पर सब रत्नों से विभूषित, शुभ तथा उत्तम पद्म निकले।

यदा सप्तपदां गत्वा ब्रह्मस्वरमुदाहरि।
जरामरणविघाती भिषग्वर इवोद्गतः ॥223॥

(यह सब तब हुआ) जब सात पैर चल कर (भगवान्) ने ब्रह्मस्वर से कहा कि जरामरण के नाशक श्रेष्ठ वैद्य जैसा मैं उत्पन्न हुआ हूँ।

(उपजातिच्छन्द)

व्यवलोकयित्वा च विशालदो दिशां
ततो गिरां मुञ्चति अर्थयुक्तां।
ज्येष्ठोऽहं सर्वलोकस्य श्रेष्ठो लोके विनायकः
इयं च जातिर्मम पश्चिमा (ति) ॥224॥

विशारद अर्थात् निर्भीक (भगवान्) ने दिशाओं को देख कर फिर अर्थपूर्ण वचन कहे कि मैं सब लोक में बड़ा हूँ, (सब) लोक में श्रेष्ठ हूँ, (मैं) विनायक (उत्तम नेता) हूँ, यह मेरा अन्तिम जन्म है।

हास्यं च मुक्तं नरनायकेन
सलोकपालैरमरुभिश्च सेन्द्रैः ।
प्रसन्नचित्तैर्वरगन्धवारिभिः
संस्कारितो लोकहितार्थकारी ॥225॥

नरनायक (भगवान्) मुसकराए। इन्द्र तथा लोकपालों के साथ प्रसन्न चित्त देवताओं ने लोक के हितकर प्रयोजन में लगे हुए (भगवान्) का उत्तम तथा सुगन्धित जलों से (स्नान) संस्कार किया।

अपि चोरगेन्द्रैः सहितैः समग्रैः
गन्धोग्रधाराविसरैः स्नपिंसु ।
अन्येऽपि देवा नयुताऽन्तरीक्षे
स्नपिन्सु गन्धाग्र जिनं स्वयंभुं ॥226॥ (–94–)

(उन्होंने) सब नागराजो के साथ सुगन्धित एवं बलवती धाराओं के समूह से (भगवान् को) नहलाया। आकाश मे (ठहरे) अन्य खर्व-खर्व देवताओं ने उत्तम गन्ध (के जल) से स्वयंभू जिन को स्नान कराया।

श्वेतं च विपुलं छत्रं चामरांश्च शुभाम्बरान् ।
अन्तरीक्षे गता देवा स्नपयन्ति नरर्षभं ॥227॥

श्वेत रंग के विशाल छत्र, चवँर, तथा शुभवस्त्रों (के जोड़े) को (लेकर) आकाश में विराजमान देवताओं ने मनुष्यों में श्रेष्ठ (भगवान्) को नहलाया × × ।

(अष्टादशाक्षरा महामालिका (=वनमाला) छन्द)

पुरुष त्वरितु गत्व शुद्धोदनमब्रवीत् हर्षितो
वृद्धि विपुल जातु देवा सुतो भूषितो लक्षणैः ।
महकुलरत्नस्य × × × व्यक्तो असौ चक्रवर्तीश्वरः
न च भवि प्रतिशतु जम्बुध्वजे एकछत्रो भवेत् ॥228॥

अविलंबित एवं हर्ष से भरा एक पुरुष शुद्धोदन से जाकर बोला। बड़ी बढ़ती हो। हे देव, लक्षणों से विभूषित कुमार जन्मा है। (आपके) महान् कुलरत्न का वह स्पष्ट ही चक्रवर्तीश्वर होगा। जम्बू की ध्वजा वाले (इस द्वीप) मे (उस कुमार का) विरोधी शत्रु नही होगा। (वह) एक छत्र (राजा) होगा।

द्वितियु पुरुष गत्वं शुद्धोदने × × × × श्लेषयित्वा क्रमे = 77क=
वृद्धि विपुल देव जाता नृपे[54] शाकियानां कुले।
पञ्चविंशतिसहस्र जाताः सुताः शाकियानां गृहे
सर्वि बलउपेत नग्नाः[54क] समा दुष्प्रधर्षाः परैः ॥229॥

दूसरा पुरुष शुद्धोदन के पास जाकर, चरणालिंगन कर, (बोला)। हे देव, बड़ी बढती हो। शाक्यों के कुल मे राजा[54] जन्मा है। शाक्यों के घरों में पचीस सहस्र पुत्र जन्मे है। वे सबके सब बलवान्, एक-जैसे नग्न[54क] (अर्थात् नगन वा नगण, गणनातीत वीर भाव के), तथा शत्रुओं द्वारा न दबाए जा सकने वाले है।

अपरु पुरुष आह देवा श्रुणानन्दशब्दं ममा
छन्दकप्रमुखानि चेटीसुता जात अष्टौ शता।
अपि च दशसहस्र जाता हयाः कण्ठकस्य सखा
तुरगवरप्रधान हेमप्रभा मञ्जुकेशा वराः ॥230॥

दूसरा पुरुष बोला। हे देव, मेरा आनन्द का वचन सुनिए। चेटियों (= दासियो) के आठ सौ बेटे छन्दक आदि जन्मे है। इसके अतिरिक्त कण्ठक के साथी (–जैसे) श्रेष्ठ अश्वों मे भी श्रेष्ठ, सुवर्ण-जैसी चमक के, मनोहर केशो के, उत्तम दस सहस्र अश्व उत्पन्न हुए है।

विंशति च सहस्र पर्यन्तकाः कोट्टराजास्तथा
नृपति क्रमतलेभि चान्वाक्रमी साधु देवा जया।
आज्ञा खलु ददाहि गच्छाम कि वा करोमो नृपा
त्वमिह वशितु प्राप्तु भृत्या वयं भट्टदेवा जया ॥231॥

बीस हजार सीमा-प्रान्त की अटवियों के राजा, हे नृपते, (आपके) चरणों के तलवो की शरण आए है। (वे कहते है) साधु, देव, जय हो। आज्ञा दीजिए (यदि कही) जाना हो या कुछ करना हो।- आप (हमारे) ईश्वर है, और हम (आप के) सेवक है। हे भर्तृदेव, जय हो।

54. भोट, ग्र्यल् बु, राजपुत्रः।

54क. भोट, छ्न् पो छे, बहु। महापुरुष (ग्रेट् मैन्) बु० हा० सं० डि०। यह अत्यन्त संदिग्ध स्थल है। संभवतः न = नहीं गन = गण (अपभ्रंश गन)।

विंशति च सहस्र नागोत्तमा हेमजालोज्ज्वला
त्वरितमुपगमिन्सु राज्ञो गृहं गर्जमाना नभे[55]।
(-95-) कृष्णसबलवत्स गो-पामुखा जात षष्टिशता[56]
इयमपि सुति देव, देवोत्तमे वृद्धि राज्ञो गृहे ॥232

बीस हज़ार सुवर्णजाल अर्थात् सुनहली—झूल से चम-चमाते हुए, आकाश मे से गरजते हुए, उत्तम हाथी अभी-तुरन्त (महा) राज के घर पर आए हैं। गो-आदि (पशुओं) के साठ-सौ काले-चितकबरे बछड़े उत्पन्न हुए हैं। हे देव, देवताओं मे उत्तम (भगवान्) के जन्म पर (महा-) राज के घर में यह-सभी बढ़ती हुई हैं।

अपि च नृपति गच्छ प्रेक्ष स्वयं सर्वमेव प्रभो
[57] पुण्यतेजप्रमे।
नरमरुसहस्र ये हर्षिता दृष्ट्वा जाते[57] गुणा = 77ख =
बोधिवर अशोक संप्रस्थिताः क्षिप्र भोमो[58] जिनाः ॥233॥इति॥

किं च, हे राजन्, हे प्रभो, चलिए। पुण्य के तेज की प्रभावाले (भगवान्) के जन्म के गुणों को देखकर जो हजारों देवमनुष्य हर्षित हुए है, (उन) सभी को देखिए। (वे) शोक-रहित, श्रेष्ठ बोधि के लिए संप्रस्थित हो अर्थात् बोधि के निमित्त पारमिताओं को पूर्ण कर शीघ्र बुद्ध होंगे।

24. इस प्रकार, हे भिक्षुओ, बोधिसत्व के जन्म होने पर, उस क्षण ही बढ़-बढ़ कर दान दिया जाने लगा। पाँच सौ कुलिक अर्थात् कुलपुत्र जन्मे। यशोवती आदि दश सहस्र कन्याएँ, आठ सौ दासियाँ, छन्दक आदि आठ सौ दास, दस हजार बछेड़ियाँ, कण्ठक आदि दस हजार बकेड़े, पाँच हज़ार हथिनी-बच्चियाँ और पाँच हज़ार हाथी-बच्चे उत्पन्न हुए। उन सब को राजा शुद्धोदन

55. भोट, नम् म्खह् लस्, आकाश से। नभसः पाठ भोटानुसार होगा।
56. भोट मे इस पाद का अनुवाद यों है—स ग्सुम् ल सोग्स् नग् गु क्ष्ल् लु दग् दङ् बह् नि द्रुग् स्तोङ् ह् ब्रङ् स् (= ? त्रिभूमिकृष्णवर्णगावः षष्टि-सहस्राणि प्रसूता)।
57.....पुण्यतेज-प्रमे....जाते इस स्थान पर दोनों पद षष्ठी विभक्ति के हैं। तुलनीय भोट, व्सोद् नमस् ग्ज़ि ह्रोद् ल्दन् प ब्ल्तमस् प यि, पुण्यतेजःप्रभस्य जातस्य।
58. भोमो = भवामः। यहाँ पुरुष विभक्ति-विपर्यास है। भवतु, भवेत् इन पदों के अर्थ मे भोमो का यहाँ प्रयोग है। भोट, ग्युर् चिग्।

ने पुस्तवरोपेत[59] (कर) अर्थात् सुन्दर पुस्त (पुस्तक) पर लेख-युक्त कर कुमार की क्रीड़ा के लिए दिया। बोधिसत्त्व के भोग-विलास के लिए, बोधिसत्त्व के प्रताप से ही, चार-लाख करोड़ द्वीपों के बीच पृथिवी के प्रदेश मे से अश्वत्थ (पीपल) का तना निकला, [60]द्वीप के बीच मे[60] चन्दनवन प्रकट हुआ, बोधिसत्त्व के भोग-विलास के लिए नगर के चारों ओर पाँच सौ उपवनों का आविर्भाव हुआ, तथा धरती के तल से उछल कर पाँच हज़ार निधानों ने (अपने लाभ के) द्वार को दिखाया। इस प्रकार राजा शुद्धोदन के जो-जो मनोवांछित अर्थ थे, वे सब मनोवाछित वृद्धि संपन्न हो गए, भलीभाँति सिद्ध हो गए।

25. तब राजा शुद्धोदन के मन में यह हुआ। कुमार का मैं क्या नाम रखूं ? तब उनके मन में ऐसा हुआ। इनके उत्पन्न होते ही मेरे सब अर्थ सिद्ध हो गए। इनका = 78क = नाम इसलिए मैं सवार्थ—सिद्ध रखूं। तब राजा ने (–96–) बोधिसत्त्व को बड़े सत्कार से सत्कृत कर ये कुमार नाम से सर्वार्थसिद्ध हों—ऐसा (कह कर) उनका नामकरण किया।

26. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व के उत्पन्न होने पर, माता की कोख का पासा जैसा पहले बिना घाव का, तथा बिना चोट-चपेट का था, वैसा ही पीछे बना रहा। [61]तीन स्रोतों के जल वाले कुएँ[61] तथा सुगन्धित तेल की पुष्करणियाँ प्रकट हुई। पाँच हजार अप्सराएँ, देवलोक के सुगन्ध से परिवासित तेल ले, बोधिसत्त्व की माता के पास जाकर, भलीभाँति प्रसव हो जाने पर उनसे पूछती थी कि शरीर मे क्लान्ति तो नही है ? पाँच हज़ार अप्सराएँ देवलोक का अनुलेपन ले, बोधिसत्त्व की माता के पास जाकर भलीभाँति प्रसव हो जाने पर, उनसे पूछती थीं कि शरीर में क्लान्ति तो नही है ? पाँच हज़ार अप्सराएँ देवलोक के सुगन्धित जल से भरे कलश ले, बोधिसत्त्व की माता के पास जाकर, भलीभाँति प्रसव हो जाने पर, उनसे पूछती थी कि शरीर में क्लान्ति तो नहीं है ? पाँच हज़ार अप्सराएँ देवलोक के बच्चों के पहनाने योग्य वस्त्र ले, बोधिसत्व की माता के पास जाकर, भली-भाँति प्रसव हो जाने पर,

59. मूल, पुस्तवरोपेतानि। भोट, स्न ग्रङ्स् यिगेर् ब्रिस् ते, विविधाङ्काक्षरलिखितानि।

60····60. मूल, अन्तर्द्वीपे। भोट, ग्लिङ् फ्र मो र्नम्स् सु, क्षुद्रेषु द्वीपेषु, छोटे द्वीपों मे।

61····61. मूल, त्रितविष्यन्दाम्बुकूपाः। पाठान्तर त्रिवि०। भोट, ख्रोन् प ल्न् ग्सुम् ल्दुद् प दग्, कूपास् त्रिवारं जलदातारः। त्रि-विष्यन्द (= स्रोतः) अम्बुकूप पा० मानकर यहाँ अनुवाद किया गया है।

उनसे पूछती थी कि शरीर मे क्लान्ति तो नही है ? पांच हजार अप्सराएँ देवलोक के वच्चो के पहनाने योग्य आभूषण ले, =78ख= बोधिसत्व की माता के पास जाकर, भलीभांति प्रसव हो जाने पर, उनसे पूछती थी कि शरीर मे क्लान्ति तो नही है ? पाँच हजार अप्सराएँ देवलोक के गाने-बजाने के साथ बोधिसत्व की माता के पास जाकर, भली-भाँति प्रसव हो जाने पर, उनसे पूछती थी कि शरीर में क्लान्ति तो नही है ? जम्बू-द्वीप में जितने पाँचों अभिज्ञाओं के धनी बाह्य (=श्रमणेतर=ब्राह्मण) ऋषि थे, वे सब आकाशतल से आकर, राजा शुद्धोदन के सामने खड़े होकर जय हो बढ़ती हो शब्द सुनाते थे।

27. हे भिक्षुओ, इस प्रकार उत्पन्न होते-होते बोधिसत्व का लुम्बिनी-वन मे, देवलोक के तथा मनुष्य लोक के बाजे-गाजे के साथ सत्कार किया गया, गौरव किया गया, मान किया गया, पूजन किया गया। खाने के, भोजन के, तथा स्वाद लेने के पदार्थ बांटे गए। सब शाक्य गण के लोगों ने इकट्ठे हो आनन्द-ध्वनि की। दान दिए गये, (–97–) पुण्य किए गये, दिन-दिन बत्तीस लाख ब्राह्मणों को तृप्त किया गया, जिनका जिस वस्तु से प्रयोजन हुआ, उन्हें वह (वस्तु) दी गई, और देवताओं के अधिपति शक्र तथा ब्रह्मा ब्राह्मण-वटु का रूप धर कर, अग्रआसन पर बैठ मंगलमयी गाथाएँ पढ़ी। (वे गाथाएँ ये है—)

अपायाश्च यथा शान्ता सुखी सर्वं यथा जगत्। =79क=
ध्रुवं सुखावहो जातः सुखे स्थापयिता जगत् ॥234॥

जिस प्रकार दुर्गति (मे पड़े जीव) शान्त है, जिस प्रकार सब जगत् सुख से है, (उससे जान पड़ता है कि) जगत् को सुख मे स्थापित करने वाले सुख के देने हारे (भगवान् ही) निश्चय से जन्मे हैं।

यथा वितिमिरा चाभा रविचन्द्रसुरप्रभाः।
अभिभूता न भासन्ते ध्रुवं पुण्यप्रभोद्भवः ॥235॥

जिस प्रकार अन्धकार नही रहा है और प्रकाश-ही-प्रकाश है। सूर्य, चन्द्रमा, तथा (अन्य) देवताओं के तेज मन्द होकर (पहले जैसे) नहीं चमक रहे हैं। (उस से जान पड़ता है कि) पुण्य के तेज वाले (भगवान्) ही निश्चय से जन्मे है।

पश्यन्त्यनयना यद्वच् छ्रोत्रहीनाः श्रुणन्ति च।
उन्मत्तकाः स्मृतीमन्तो भविता लोकचेतियः ॥236॥

जिस प्रकार अंधे देख रहे है, बहरे सुन रहे है, पगले स्मृतिमान् हो गये है, (उससे जान पड़ता है कि ये) लोक के (पूजनीय) चैत्य होगे।

न बाधन्ते यथा क्लेशा जातं मैत्रजनं जगत् ।
निःसंशयं ब्रह्मकोटीनां भविता पूजनारहः ॥237॥

जिस प्रकार क्लेश–बाधा नही रही, जगत् के लोग मैत्री–भावना के हो गए, (उससे जान पड़ता है कि ये) निःसन्देह कोटि-कोटि ब्रह्माओं के लिए पूजा-योग्य होंगे ।

यथा संपुष्पिताः शाला मेदिनी च समा स्थिता ।
ध्रुवं सर्वजगत्पूज्यः सर्वज्ञोऽयं भविष्यति ॥238॥

जिस प्रकार साल (के पेड़) भलीभाँति फूले हुए है, धरती समतल हुई स्थित है, (उससे जान पड़ता है कि) ये निश्चय ही सारे जगत् के पूज्य सर्वज्ञ (बुद्ध) होंगे ।

यथा निराकुलो लोको महापद्मो यथोद्भवः ।
निःसंशयं महातेजा लोकनाथो भविष्यति ॥239॥

जिस प्रकार लोक मे व्याकुलता नहीं रही है, जिस प्रकार महापद्म का प्रादुर्भाव हुआ है, (उससे जान पड़ता है कि ये) निःसन्देह महान् तेजस्वी जगन्नाथ होंगे ।

यथा च मृदुका वाता दिव्यगन्धोपवासिताः ।
शमेन्ति व्याधि सत्त्वानां वैद्यराजो भविष्यति ॥240॥

जिस प्रकार दिव्य-गन्ध से सुवासित मन्द-मन्द चलते हुए पवन प्राणियों की व्याधि शान्त कर रहे है, (उससे जान पड़ता है कि ये) वैद्यराज होंगे ।

वीतरागा यथा चेमे रूपधातौ मरुच्छताः ।
कृताञ्जलि नमस्यन्ते दक्षिणीयो भविष्यति ॥241॥

जिस प्रकार रूपधातु (नामक देव-लोक) के ये सैकड़ों देवता अञ्जलि बाँध नमस्कार कर रहे हैं, (उससे जान पड़ता है कि ये) दक्षिणा के पात्र होंगे ।

यथा च मनुजा देवान् देवाः पश्यन्ति मानुषान् ।
हेठयन्ति न चान्योन्यं सार्थवाहो भविष्यति ॥242॥

जिस प्रकार मनुष्य देवताओं को तथा देवता मनुष्यों को देखते हैं, और परस्पर की हिंसा नही करते, (उससे जान पड़ता है कि ये मोक्ष-द्वीप के) सार्थवाह होंगे ।

(–98–) यथा च ज्वलनः शान्तः सर्वा नद्यश्च विस्थिताः ।
सूक्ष्मं च कम्पते भूमिः = 79ख = भविता तत्त्वदर्शकः ॥243॥

जिस प्रकार अग्नि शान्त है, सब नदियां ठहरी हुई है, धरती धीरे-धीरे हिल रही है, (उससे जान पड़ता है कि ये) तत्वद्रष्टा होंगे।

28. इस प्रकार, हे भिक्षुओं, जब बोधिसत्त्व को उत्पन्न हुए सप्ताह भर हो गया, तब (उनकी) माता मायादेवी काल कर गई। काल कर वे त्रयस्त्रिंश (लोक) मे देवताओं के बीच उत्पन्न हुई। हे भिक्षुओ, तुम्हारे मन मे ऐसा (संदेह) हो सकता है कि मायादेवी बोधिसत्त्व के दोप के कारण काल कर गई, पर तुम्हे ऐसा नही मन में लाना चाहिए। वह किस कारण ? (वह इस कारण कि) उनकी आयु का प्रमाण केवल इतना ही भर था। हे भिक्षुओ, अतीत (काल) के बोधिसत्त्वों को भी उत्पन्न हुए जब सप्ताह भर हो गया था, तभी उनकी माताएँ काल कर गई थी। वह किस कारण ? (वह इस कारण कि) वयस्क एवं परिपूर्णेन्द्रिय बोधिसत्त्व के अभिनिष्क्रमण पर—घर छोड़ कर चले जाने पर कही माता का हृदय न फूट जाय।

29. इस प्रकार, हे भिक्षुओ, जिस प्रकार के व्यूह से त्रनाव-सिगार से मायादेवी महानगर कपिलवास्तु से उद्यान-भूमि के लिए निकलीं थी, उससे भी करोड़ों—लाख गुने महान् व्यूह के साथ—बनाव-सिगार के साथ बोधिसत्त्व ने महानगर कंपिलवस्तु मे प्रवेश किया। उनके प्रवेश (करने के क्षण) मे पाँच हजार सुगन्धित जल से भरे पूर्णकलश आगे-आगे ले जाए जाते थे। इसी प्रकार पाँच हजार कन्याएँ [62]मयूरहस्तक (अर्थात् मोरछल) लेकर[62] आगे-आगे चलती थीं, [पाँच हजार कन्याएँ तालपत्र[63] ले कर आगे-आगे चलती थी] पाँच हजार कन्याएँ सुगन्धित जल की झारियाँ लेकर आगे-आगे चलती थीं तथा मार्ग पर जिडकाव करती जाती थी, [64]पाँच हजार कन्याएँ विचित्रपटलक अर्थात् चित्र-विचित्र पिटारियाँ लेकर आगे-आगे चलती थी[64], [65]पाँच हजार

62....62. मूल, मयूरहस्तकापरिगृहीतानि। पदच्छेद, मयूर-हस्तका-परिगृहीतानि। अपरिगृहीतानि पद नही है। भोट, **र्म न्य हि मृदोङ्स् लग् न म्योगस्**, ते, मयूरचन्द्रकान् हस्ते गृहीत्वा, मयूरचन्द्रक हाथ मे लेकर।

63. मूल, तालवृक्षक। भोट, **र्त (=त) ल हि् यल् ग**, तालशाखा। शुद्धपाठ तालवृन्तक (तालपत्र) हो सकता है।

64....64. मूल, पञ्च च कन्यासहस्राणि विचित्रपटलकपरिगृहीतानि। भोट, में यह पाठ नही है।

65....65. मूल, नवविचित्र प्रलम्बनमालापरिगृहीतानि। भोट, **नग्स् छूल् ग्यि मे तोग् गि फ्रेङ् ब ह्फ्यङ् ब ल्ये हु छेङ् स्न छोगस् योग्स्** ते, वनपुष्पविचित्रनव(तरुण)प्रलम्बनमालापरिगृहीतानि। मूल, के नव के अनन्तर अथवा माला से पूर्व वन शब्द बढ़ाना चाहिए।

कन्याएँ = 80क = रंग बिरंगी, (नीचे तक) लटकती हुई ताजी ताजी वनमालाएँ लेकर आगे-आगे चलती थी[65], पाँच हजार कन्याएँ [66]रत्नों के मांगलिक आभूषण लेकर [66]आगे-आगे चलती थी एवं मार्ग शोध करती थी, और पाँच हजार कन्याएँ भद्रासन लेकर आगे-आगे चलती थी। किं च पाँच (–99–) हजार ब्राह्मण घंटे लिए हुए मंगल शब्द सुनाते हुए आगे-आगे चलते थे। सब अलंकारों से विभूषित बीस हजार हाथी आगे-आगे चलते थे, सब अलंकारों से विभूषित, सोने के अलंकारों से ढके हुए बीस हजार घोड़े आगे-आगे चलते थे। ऊँचे किए गये छत्रों, ध्वजाओं, पताकाओं, तथा किंकिणियों के जालों से भली-भाँति अलंकृत अस्सी हजार रथ बोधिसत्त्व के पीछे-पीछे चलते थे। शूर-वीर, श्रेष्ठ अंग एवं रूप के, दृढ़ वर्म तथा कवच बाँधे, चालीस हजार पैदल सैनिक जाते हुए बोधिसत्त्व का अनुगमन करते थे। आकाश में ही रहते हुए, अपार एवं असंख्य, प्रसिद्ध-प्रसिद्ध, काम-धातु के तथा रूप-धातु के शतसहस्र-खर्व कोटि देव-पुत्र नाना-प्रकार से अनेकों व्यूहों के साथ—बनाव-सिंगारों के साथ बोधिसत्त्व की पूजा करते हुए पीछे-पीछे चलते थे। जिस श्रेष्ठ-अतिश्रेष्ठ रथ पर बोधिसत्त्व भली-भाँति चढ़े हुए थे, उसे काम-धातु के देवताओं ने अनेक प्रकार के व्यूहों से बनाव-सिंगारों से भलीभाँति सँवारा था। सब अलंकारों से विभूषित, = 80ख = रत्नों की मालाएँ लेकर (अथवा धारण कर) बीस हजार देव-कन्याएँ उस रथ को खींचती थी। दो अप्सराओं के बीच एक मानुषी कन्या तथा दो मानुषी कन्याओं के बीच एक अप्सरा थी। अप्सराओं को मानुषियों का आमगन्ध (कच्चे मांस के जैसा शरीर गन्ध) नाकों में न लगता था, और अप्सराओं का रूप देख कर मनुष्य प्रमत्त (= मतवाले) न होते थे। यह सब था बोधिसत्त्व के तेज के बल के कारण।

30. हे भिक्षुओ, इस प्रकार, कपिलवस्तु नाम के नगर में सर्वार्थसिद्ध के लिए पाँच सौ शाक्यों ने पाँच सौ घर बनवाए कि बोधिसत्त्व उनमे रहे। वे अपने-अपने घर के द्वारमूल पर खड़े हो कर, अंजलि बाँध कर, शरीर नवा कर, गौरव के साथ नगर मे प्रवेश करते हुए बोधिसत्त्व से यो बोले। हे सर्वार्थसिद्ध, यहाँ पधारें, हे देवातिदेव, यहाँ पधारें, हे शुद्धसत्त्व, यहाँ पधारें, हे सारथिवर, यहाँ पधारें, हे प्रीति एवं प्रमोद के देने हारे, यहाँ पधारें, हे (–100–) प्रशंसित यश

66····66. मूल, रत्नभद्रालंकारपरिगृहीतानि। भोट,बझ्ङ् पोर् स्पुर् ब हि् रिन् पो छे थोगस् ते, भद्रभूतरत्नपरिगृहीतानि।

के धनी, यहाँ पधारे, हे समन्तचक्षु (=सर्वत्र दर्शिन्), यहाँ पधारें, [67]हे असमसम (—असमानता के जगत् में अपने धर्म से समानता लाने वाले), यहाँ पधारें[67] [68]हे अतुलनीय गुण एवं तेज के धारण करने हारे[68], लक्षणों और अनुव्यंजनों से अलंकृत शरीर वाले, यहाँ पधारें ।*

31. वहाँ पर राजा शुद्धोदन ने उन सबके स्नेह सौजन्य की रक्षा के लिए बोधिसत्त्व को सब घरों में =81क= पधरा कर, चार मास बीतने पर, अपने घर में पधरवाया। वहाँ नानारत्नव्यूह नाम का (जो) महाप्रासाद था उस पर बोधिसत्त्व चढ़े। वहाँ बडे-बूढ़े शाक्य इकठ्ठे हो कर परामर्श करने लगे कि मन में हित के भाव से, मन मे मैत्री के भाव से, मन मे गुणवान् होने के भाव से, मन में सौम्य (अर्थात् स्नेह के) भाव से बोधिसत्त्व की रक्षा करने के लिए, उन्हें खेलाने के लिए, उनका प्यार-दुलार करने के लिए कौन सी (शाक्याङ्गना) समर्थ है। वहाँ पाँच सौ शाक्याङ्गनाओं में से एक-एक ने कहा कि मैं कुमार की परिचर्या करूँगी। तब बूढ़े-बूढ़े शाक्य यों बोले। ये सब स्त्रियाँ नए वयस की, कम वयस की, नवयुवती है। रूप और यौवन के मद में मतवाली ये समय-समय पर बोधिसत्त्व की परिचर्या करने मे समर्थ नही है। पर ये महाप्रजापती गौतमी कुमार की मौसी हैं। ये कुमार को भलीभाँति सुख से (पाल पोस कर) बड़ा करने में तथा राजा शुद्धोदन को आराधना करने में समर्थ हैं। इस प्रकार (मन मे सोच) वे सब एक साथ हो कर महाप्रजापती गौतमी को उत्साहित करने लगे। (उनसे) इस प्रकार (उत्साहित हो) महाप्रजापती गौतमी ने कुमार को (पाल-पोस कर) बड़ा किया। वहाँ बोधिसत्त्व के लिए बत्तीस धाएँ लगाई गई थीं—आठ धाएँ शरीर (की सेवा) के लिए, आठ =81ख= धाएँ दूध (पिलाने) के लिए, आठ धाएँ मल (—मूत्र साफ करने) के लिए, और आठ धाएँ खेलाने के लिए।

32. तदनन्तर राजा शुद्धोदन शाक्य-गण को इकठ्ठा करवा कर विचरवाने लगे कि ये कुमार क्या चक्रवर्ती राजा होंगे, अथवा प्रव्रज्या के लिए निकल पड़ेंगे।

67....67. मूल, इह भो असमसम प्रविश। भोट में यह वाक्य नही है।

68....68. मूल, असदृशगुणतेजोधर। भोट, मम्ञम् प दङ् म्ञम् शिङ् ह्द्र मेद् प हि् ग्झि् ब्जिद् म्ङह् ब, असमसमासदृश गुणतेजोधर।

* इस के आगे मूल में अधिक पाठ कोष्ठक में है—(ततश्चोपादाय कुमारस्येह सर्वार्थसिद्ध· सर्वार्थसिद्ध इति संज्ञामगमत्)। अर्थात् (उस कारण कुमार का सर्वार्थसिद्ध सर्वार्थसिद्ध यह नाम पड़ा)। भोट मे भी यह पाठ नहीं है।

33. (–101–) उस समय पर्वतराज हिमालय के (एक) पासे मे पाँच अभिज्ञाओं के जानने वाले अपने भांजे नरदत्त के साथ असित नाम के महर्षि रहते थे। उन्होंने बोधिसत्त्व के उत्पन्न होते-होते बहुत से अचरज से भरे अद्भुत प्रातिहार्य (= दिव्य चमत्कार) देखे। और (यह भी) देखा कि आकाश-तल पर विराजमान देवपुत्र 'बुद्ध' इस शब्द को सुनाते हुए, वस्त्र घुमाते हुए, प्रमोद के साथ इधर-उधर घूम रहे हैं। उनके मन मे यह हुआ कि मैं (दिव्य दृष्टि से) अवलोकन करूँ। उन्होंने दिव्य दृष्टि से समूचे जम्बूद्वीप को निहारते हुए देखा कि श्रेष्ठ महानगर कपिलवस्तु मे राजा शुद्धोदन के घर मे सैकड़ो पुण्यो के तेज से तेजस्वी, सब लोक के द्वारा पूजित, बत्तीस महापुरुष-लक्षणों द्वारा अलंकृत शरीर के कुमार का जन्म हुआ है। (यह) देख कर फिर नरदत्त माणवक से कहा। हे माणवक, (यह बात) जान लो कि जम्बूद्वीप में महारत्न उपजा है। महानगर कपिलवस्तु मे राजा शुद्धोदन के घर मे सैकड़ों पुण्यों के तेज से = 82क = तेजस्वी, सब लोक के द्वारा पूजित, बत्तीस महापुरुष लक्षणों से युक्त कुमार का जन्म हुआ है। यदि वे घर-बारी रहेंगे तो चतुरङ्गिणी सेना से युक्त, विजित (जीते हुए देश) के धनी, धर्मात्मा, धर्म के शासक, जनपद (= राज्य) की शक्ति तथा बल को प्राप्त, सात रत्नों से युक्त चक्रवर्ती राजा होंगे। उनके सात रत्न ये हैं—चक्र-रत्न, हस्ति-रत्न, अश्व-रत्न, मणि-रत्न, स्त्री-रत्न, गृहपति-रत्न, तथा परिणायक (= मन्त्रि) रत्न। ऐसे सात रत्नों से वे पूर्ण होंगे। उनके हजार पुत्र होंगे। (जो) शूर-वीर, श्रेष्ठ अंगों तथा रूप वाले, तथा दूसरे (शत्रुओं) की सेना को मसल डालने वाले होंगे। वे समुद्र की परिखा (= खाई) वाले इस पृथिवी-मंडल को बिना दण्ड के, बिना शस्त्र के, [69]धर्म के साथ, अपने बल से[69] वश में कर, जीत कर, ऐश्वर्य के साथ—स्वामित्व के साथ राज्य करेंगे। वे अगर बे-घरबारी हो परिव्राजक हो जाएँगे, तो तथागत, अर्हत्, सम्यक्संबुद्ध, दूसरों के द्वारा न ले जाए जाने वाले नेता, शास्ता (= शिक्षक), तथा [70]लोक में घोषित नाम के[70] होंगे। इसलिए इस समय उन्हे देखने चलें।

34. (–102–) तब असित महर्षि अपने भांजे नरदत्त = 82ख = के साथ राजहंस की भाँति आकाश-तल से ऊपर-ऊपर चलकर, ऊपर-ऊपर उछल कर, जहाँ कपिलवस्तु (नाम का) महानगर था, वहाँ पहुँचे, पहुँच कर, ऋद्धि का

69····69. मूल, स्वेन (धर्मेण) बलेन। भोट, छेस् दङ् म्थुन् पर् रङ् नि म्थुस् ख्यिल् ग्यिस्, सह धर्मेण स्वेन बलेन।

70····70. मूल, लोके संबुद्धः। भोट, ह्जिग् र्तेन् दु स्ग्र नंम् पर् ग्रगस् पर्, लोके विघुष्ठशब्दः।

परित्याग कर, पैरों से ही कपिलवस्तु (नाम के) महानगर में प्रवेश कर, जहाँ राजा शुद्धोदन का निवास-स्थान था, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर राजा शुद्धोदन के घर के द्वार पर खड़े हुए।

35. हे भिक्षुओ, इस प्रकार, राजा शुद्धोदन के घर के द्वार पर (खड़े हो कर) असित महर्षि ने अनेक शतसहस्र प्राणियों को एकत्रित देखा। तब असित महर्षि ने द्वारपाल के पास जा कर कहा। हे, पुरुष, तू जा, राजा शुद्धोदन को जना कि द्वार पर ऋषि खड़े हैं। बहुत अच्छा—यह उत्तर असित महर्षि को दे, द्वारपाल जहाँ राजा शुद्धोदन थे वहाँ गया—जा कर, हाथ जोड़, राजा शुद्धोदन से यों कहा—हे देव, जाने, जीर्ण, वृद्ध, बूढ़े ऋषि द्वार पर खड़े हैं, ऐसा कहते हैं कि मैं राजा को देखना चाहता हूँ। तब राजा शुद्धोदन ने असित महर्षि के लिए आसन बिछवा कर उस पुरुष से कहा कि ऋषि प्रवेश करें। तब वह पुरुष राजकुल से निकल कर असित महर्षि से ऐसे बोला कि प्रवेश करें।

36. तब असित महर्षि जहाँ राजा शुद्धोदन थे, वहाँ गए। जा कर सामने खड़े हो कर, राजा शुद्धोदन से यों बोले। महाराज, जय हो, = 83क = जय हो। चिरायुष हों। धर्म से राज्य चलाएँ।

37. तदनन्तर राजा शुद्धोदन ने असित महर्षि की पाद्य तथा अर्घ से पूजा कर, भलीभाँति—ठीक-ठीक सत्कार कर, आसन पर विराजने की प्रार्थना की। यह जान कर कि ये सुख से विराज रहे हैं, गौरव के साथ पूजा के साथ[71] (राजा) यों बोले। हे ऋषे, (पहले कब) आप को देखा, (यह) मुझे स्मरण नहीं। किस अर्थ के लिए आए हैं ? क्या प्रयोजन है ?

38. (–103–) ऐसा बोलने पर असित महर्षि ने राजा शुद्धोदन से कहा। हे महाराज, आप के यहाँ पुत्र-जन्म हुआ है, उनके दर्शन की इच्छा से मैं आया हूँ। राजा बोले। हे महर्षे, कुमार सोए हैं। उठने तक मुहूर्त भर प्रतीक्षा करें। ऋषि बोले। हे महाराज, वैसे महापुरुष देर तक नहीं सोते हैं। वैसे सत्पुरुष जागरणशील होते हैं। इस प्रकार हे भिक्षुओं, असित महर्षि पर अनुकम्पा के कारण (कुमार ने) जागने (को जनाने) का निमित्त किया। तब राजा शुद्धोदन कुमार सर्वार्थसिद्ध को भलीभाँति—अच्छी तरह दोनों हाथों से लेकर असित महर्षि के पास ले गए।

---

71. मूल, सुप्रतीसः। पाठान्तर सप्रतीसः। तुलनीय पालिशब्द सप्पतिस्स। संभवतः पाठ होगा—सप्रतिश्यः। तुलनीय भोट, गुस् पर् दङ् ब् चस् पर्, सादरः, सभक्तिः।

33. (–101–) उस समय पर्वतराज हिमालय के (एक) पासे मे पाँच अभिज्ञाओं के जानने वाले अपने भांजे नरदत्त के साथ असित नाम के महर्षि रहते थे। उन्होंने बोधिसत्त्व के उत्पन्न होते-होते बहुत से अचरज से भरे अद्भुत प्रातिहार्य (= दिव्य चमत्कार) देखे। और (यह भी) देखा कि आकाश-तल पर विराजमान देवपुत्र 'बुद्ध' इस शब्द को सुनाते हुए, वस्त्र घुमाते हुए, प्रमोद के साथ इधर-उधर घूम रहे हैं। उनके मन मे यह हुआ कि मैं (दिव्य दृष्टि से) अवलोकन करूँ। उन्होंने दिव्य दृष्टि से समूचे जम्बूद्वीप को निहारते हुए देखा कि श्रेष्ठ महानगर कपिलवस्तु मे राजा शुद्धोदन के घर मे सैकडों पुण्यों के तेज से तेजस्वी, सब लोक के द्वारा पूजित, बत्तीस महापुरुष-लक्षणों द्वारा अलंकृत शरीर के कुमार का जन्म हुआ है। (यह) देख कर फिर नरदत्त माणवक से कहा। हे माणवक, (यह बात) जान लो कि जम्बूद्वीप में महारत्न उपजा है। महानगर कपिलवस्तु मे राजा शुद्धोदन के घर मे सैकडों पुण्यो के तेज से = 82क = तेजस्वी, सब लोक के द्वारा पूजित, बत्तीस महापुरुष लक्षणों से युक्त कुमार का जन्म हुआ है। यदि वे घर-बारी रहेगे तो चतुरङ्गिणी सेना से युक्त, विजित (जीते हुए देश) के धनी, धर्मात्मा, धर्म के शासक, जनपद (= राज्य) की शक्ति तथा बल को प्राप्त, सात रत्नों से युक्त चक्रवर्ती राजा होंगे। उनके सात रत्न ये हैं—चक्र-रत्न, हस्ति-रत्न, अश्व-रत्न, मणि-रत्न, स्त्री-रत्न, गृहपति-रत्न, तथा परिणायक (= मन्त्रि) रत्न। ऐसे सात रत्नों से वे पूर्ण होंगे। उनके हजार पुत्र होंगे। (जो) शूर-वीर, श्रेष्ठ अंगों तथा रूप वाले, तथा दूसरे (शत्रुओ) की सेना को मसल डालने वाले होंगे। वे समुद्र की परिखा (= खाई) वाले इस पृथिवी-मंडल को बिना दण्ड के, बिना शस्त्र के, [69]धर्म के साथ, अपने बल से[69] वश मे कर, जीत कर, ऐश्वर्य के साथ—स्वामित्व के साथ राज्य करेंगे। वे अगर बे-घरबारी हो परिव्राजक हो जाएँगे, तो तथागत, अर्हत्, सम्यक्संबुद्ध, दूसरों के द्वारा न ले जाए जाने वाले नेता, शास्ता (= शिक्षक), तथा [70]लोक में घोषित नाम के[70] होंगे। इसलिए इस समय उन्हे देखने चलें।

34. (–102–) तब असित महर्षि अपने भांजे नरदत्त = 82ख = के साथ राजहंस की भाँति आकाश-तल से ऊपर-ऊपर चलकर, ऊपर-ऊपर उछल कर, जहाँ कपिलवस्तु (नाम का) महानगर था, वहाँ पहुँचे, पहुँच कर, ऋद्धि का

69····69. मूल, स्वेन (धर्मेण) बलेन। भोट, छेस् दङ् म्थुन् पर् रङ् नि म्थुस् क्यिल् ग्यिस्, सह धर्मेण स्वेन बलेन।

70····70. मूल, लोके संबुद्धः। भोट, ह्जिग् र्तेन् दु स्ग्र नंस् पर् ग्रगस् पर्, लोके विघुष्टशब्दः।

परित्याग कर, पैरों से ही कपिलवस्तु (नाम के) महानगर में प्रवेश कर, जहाँ राजा शुद्धोदन का निवास-स्थान था, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर राजा शुद्धोदन के घर के द्वार पर खड़े हुए।

35. हे भिक्षुओ, इस प्रकार, राजा शुद्धोदन के घर के द्वार पर (खड़े हो कर) असित महर्षि ने अनेक शतसहस्र प्राणियों को एकत्रित देखा। तब असित महर्षि ने द्वारपाल के पास जा कर कहा। हे, पुरुष, तू जा, राजा शुद्धोदन को जना कि द्वार पर ऋषि खड़े है। बहुत अच्छा—यह उत्तर असित महर्षि को दे, द्वारपाल जहाँ राजा शुद्धोदन थे वहाँ गया—जा कर, हाथ जोड़, राजा शुद्धोदन से यों कहा—हे देव, जाने, जीर्ण, वृद्ध, बूढ़े ऋषि द्वार पर खड़े हैं, ऐसा कहते हैं कि मैं राजा को देखना चाहता हूँ। तब राजा शुद्धोदन ने असित महर्षि के लिए आसन बिछवा कर उस पुरुष से कहा कि ऋषि प्रवेश करें। तब वह पुरुष राजकुल से निकल कर असित महर्षि से ऐसे बोला कि प्रवेश करें।

36. तब असित महर्षि जहाँ राजा शुद्धोदन थे, वहाँ गए। जा कर सामने खड़े हो कर, राजा शुद्धोदन से यों बोले। महाराज, जय हो, = 83क = जय हो। चिरायुष हो। धर्म से राज्य चलाएँ।

37. तदनन्तर राजा शुद्धोदन ने असित महर्षि की पाद्य तथा अर्घ से पूजा कर, भलीभाँति–ठीक-ठीक सत्कार कर, आसन पर विराजने की प्रार्थना की। यह जान कर कि ये सुख से विराज रहे हैं, गौरव के साथ पूजा के साथ[71] (राजा) यों बोले। हे ऋषे, (पहले कब) आप को देखा, (यह) मुझे स्मरण नहीं। किस अर्थ के लिए आए है ? क्या प्रयोजन है ?

38. (–103–) ऐसा बोलने पर असित महर्षि ने राजा शुद्धोदन से कहा। हे महाराज, आप के यहाँ पुत्र-जन्म हुआ है, उनके दर्शन की इच्छा से मैं आया हूँ। राजा बोले। हे महर्षे, कुमार सोए है। उठने तक मुहूर्त भर प्रतीक्षा करें। ऋषि बोले। हे महाराज, वैसे महापुरुष देर तक नहीं सोते है। वैसे सत्पुरुष जागरणशील होते हैं। इस प्रकार हे भिक्षुओं, असित महर्षि पर अनुकम्पा के कारण (कुमार ने) जागने (को जनाने) का निमित्त किया। तब राजा शुद्धोदन कुमार सर्वार्थसिद्ध को भलीभाँति—अच्छी तरह दोनों हाथों से लेकर असित महर्षि के पास ले गए।

---

71. मूल, सुप्रतीसः। पाठान्तर सप्रतीसः। तुलनीय पालिशब्द सप्पतिस्स। संभवतः पाठ होगा—सप्रतिक्ष्यः। तुलनीय भोट, गुस् पर् दङ् व् चस् पर्, सादरः, सभक्तिः।

39. इस प्रकार असित महर्षि ने बोधिसत्त्व को निहार कर, (उन्हें) महापुरुषों के बत्तीस लक्षणों से युक्त, अस्सी अनुव्यञ्जनों से सुन्दर एवं विचित्र देह वाला, =83ख= शक्र, ब्रह्मा, एवं लोकपालों से अधिक विशेषताओं से युक्त शरीर का शत-सहस्र सूर्यों से भी अधिक तेजस्वी, तथा सब अंगों मे सुन्दर देख, (यों) उदान (=हर्ष, विस्मय, एवं प्रीति बोधक वाक्य) को अभिव्यक्त किया—अहो, लोक मे ये आश्चर्य पुरुष प्रकट हुए है, [72]अहो, लोक मे ये महाश्चर्य पुरुष प्रकट हुए है[72]। तदनन्तर आसन से उठ कर, अञ्जलि बांध कर, बोधिसत्त्व के चरणों मे प्रणाम कर, प्रदक्षिणा कर, बोधिसत्त्व को गोद मे लेकर, विचारते हुए, बैठे। उन्होंने देखा बोधिसत्त्व के बत्तीस महापुरुष-लक्षणों को, जिनसे युक्त-पुरुष-विशेष की दो गतियाँ होती है, तीसरी नही। वह यदि घरबारी रहता है, तो चतुरङ्गिणी सेना से युक्त चक्रवर्ती राजा होता है और जैसा पहले वर्णन हो चुका है, ऐश्वर्य के साथ—स्वामित्व के साथ राज्य करता है। वह यदि बे-घरबारी हो परिव्राजक हो जाता है, तो तथागत, [73]प्रसिद्ध घोष का सम्यक्संबुद्ध होता है[73]। वे (ऋषि) उन (बोधिसत्त्व) को देख कर रो पड़े, आँसू बहाते हुए, गहरी सांस लेने लगे।

40. (–104–) राजा शुद्धोदन ने असित महर्षि को रोते, आँसू बहाते, (एवं) गहरी सांस लेते हुए देखा। देख कर, रोमाञ्चित हो कर तुरन्त मन में दुःखी हो, असित महर्षि से =84क= बोले। हे ऋषे, क्यों ऐसे रो रहे हैं, आँसू बहा रहे है, (एवं) गहरी सास ले रहे है ? कुमार पर कोई विपदा तो नही आने वाली है ?

41. ऐसा कहने पर असित महर्षि राजा शुद्धोदन से बोले। हे महाराज, मैं कुमार के लिए नही रो रहा हूं, इन पर कोई भी विपदा नही आने वाली है। पर मैं रो रहा हूँ अपने लिए। वह किस कारण। हे महाराज, मैं जीर्ण, वृद्ध, (एवं) बड़ी वयस का हूँ। और ये सर्वार्थसिद्ध कुमार अवश्य अनुत्तर सम्यक्-

72.····72. मूल (महाश्चर्य पुद्गलो वतार्य लोके प्रादुर्भूत.)। भोट, क्येम ह्जिग् र्तेन् दुडो मूर्छर् छेन् पो दङ् ल्दन् प हि गङ् ऋग् ह्दि ब्युङ् ङो, मूल पाठ बिना ब्रेकेट के होना चाहिए।

73····73. मूल, भविष्यति विघुष्टशब्दः सम्यक् सम्बुद्धः। भोट, यङ् दग् पर् र्जोग्स् प हि् सङ्स् ग्र्यस् सु ग्रगस् प ग्शन् गिय द्रङ् मि ह् जोग् पर् ह्ग्युर् ब, भविष्यति प्रसिद्धो नेताऽनन्यनेयः सम्यक्सम्बुद्धः। प्रक्रमानुसार भविष्यति के स्थान मे भवति पाठ चाहिए।

सम्बोधि का साक्षात्कार करेंगे, सम्बोधि का साक्षात्कार कर, (ऐसे) धर्मचक्र का प्रवर्तन करेगे (जिसे आज तक) किसी श्रमण, ब्राह्मण, देवता, मार तथा लोक मे अन्य किसी ने धर्म के साथ नही प्रवर्तन किया है। (ये) देवताओ सहित लोक के हित के लिए, सुख के लिए धर्म की देशना करेगे, (तथा) आदि मे कल्याण, मध्यमे कल्याण, अन्त मे कल्याण, स्वर्थ अर्थात् शोभन अर्थ से युक्त सुव्यञ्जन अर्थात् शोभन वचन से युक्त, केवल अर्थात् खरा (मिलावट से रहित), परिपूर्ण, परिशुद्ध, पर्यवदात अर्थात् सब प्रकार की मलिनताओ से रहित, ब्रह्मचर्य प्राणियों के लिए प्रकाशित करेंगे। इनसे उस धर्म को सुन कर जातिधर्मी प्राणी जाति से मोक्ष-प्राप्त करेंगे। इसी प्रकार =84ख= [74]जरा, व्याधि, मरण, शोक, परिदेव (=विलाप), दुःख, दौर्मनस्य (मानसिक असौख्य), तथा उपायास (क्षोभ) धर्मा प्राणी[74] जरा, व्याधि, मरण, शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य, तथा उपायास से मोक्ष प्राप्त करेंगे। (ये) राग, द्वेष, (तथा) मोह की आग से सन्ताप पाते हुए प्राणियों को सद्धर्म की वर्षा से आल्हादित करेंगे। नाना प्रकार की कुदृष्टियों के [76]तिमिर रोग में पड़े[75], (एवं) कुमार्ग में चलने वाले प्राणियों को सीधी राह से निर्वाण के पथ पर ले जाएँगे। संसार (=आगागमन) के पिंजडे जैसे कारागार में बन्द किए गए, क्लेश (=राग, द्वेष, मोह,) रूपी बन्धनों मे बँधे हुए प्राणियों के बन्धन पूर्णरूप से खोलेगे, अज्ञान के अन्धकार और धुँधलेपन के परदे से ढके हुए नेत्रों वाले प्राणियों में ज्ञान के नेत्र उत्पन्न करेंगे, क्लेश के शल्य (=काँटे) से बिंधे हुए प्राणियो का शल्य (=काँटा) निकालेगे। जैसे (-105-) महाराज, गूलर का फूल कभी किसी स्थान पर लोक मे उत्पन्न होता है, वैसे ही, महाराज, कभो किसी स्थान पर खर्व कोटि कल्पों में भगवान् बुद्ध लोक में उत्पन्न हुआ करते हैं। ये कुमार अवश्य अनुत्तर सम्यक्सम्बोधि का =85क= साक्षात्कार करेंगे। सम्बोधि का साक्षात्कार कर, शतसहस्र-खर्व कोटि प्राणियों को ससार सागर से पार उतारेगे और अमृत मे

74....74. मूल, में यह अंश नही हैं। भोट, सेम्स् चन् गं ब दङ् न ब दङ्, ह् छि ब दङ् म्य ङन् दङ् स्म्रे स्ङग्स् ह् दोन् प दङ् स्डुग् ब्स्ङल् ब दङ् यिद् मि ब्दे ब दङ् ह् खुग्स् प हि् छोस् चन् नंम्स् नि, जराव्याधिमरण-शोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासधर्माण. सत्त्वा।

75....75. मूल, ०ग्रहणप्रस्कन्ध०। यह पाठ विचारणीय है। भोट, यिब्स् पोस् खेब्स् प, गहन या तिमिर रोग वाला। सम्भवतः मूल मे गहनप्रस्कन्द का कोई अपभ्रंश रूप होगा जो संस्कृत करने मे ग्रहणप्रस्कन्ध हो गया है। वह अपभ्रंश स्यात् गहनप्पक्खन्ध हो।

प्रतिष्ठित करेंगे। हम उन बुद्ध-रत्न को न देखेंगे। हे महाराज, इसलिए मैं रोता हूँ, और मन मे अत्यन्त दुःखी हो लम्बी सांस लेता हूँ कि (इस शरीर के त्याग के अनन्तर मेरा) आरोग्य (=अमरत्व) यद्यपि होगा तथापि मैं इनकी आराधना न कर पाऊँगा।

42. हे महाराज, जैसा हमारे मन्त्रमय वेदशास्त्रों में आता है, (उसके अनुसार) सर्वार्थसिद्ध कुमार घरबारी होनें योग्य नहीं है। वह किस कारण। महाराज, (वह इस कारण) कि सर्वार्थसिद्ध कुमार बत्तीस महापुरुष के लक्षणों से युक्त है। (वे) कौन से बत्तीस (लक्षण हैं)? वे ये हैं—हे महाराज, (1) सर्वार्थसिद्ध कुमार उष्णीष शीर्ष (=पगडी के समान उभड़े शिर वाले) है। हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार इस प्रथम महापुरुष-लक्षण से युक्त है। (2) (हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार[76], के केश भिन्नांजन (=काजल से काले किए) मयूर के कलाप (पंख) जैसे अत्यन्त नीले, लहराते हुए तथा दक्षिणावर्त (=दाहिनी ओर से चक्कर देकर घुँघराले) हैं। (3) उनका ललाट (=माथा) सम तथा विशाल है। (4) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार की भौहों के बीच में हिम तथा रजत (=चांदी) के समान चमकती हुई ऊर्णा (=रोम) है। (5) (हे महाराज, =85ख=सर्वार्थसिद्ध कुमार[76], गोपक्ष्मनेत्र है अर्थात् इनकी पलके वृषभकी पलकों जैसी है। (6) इनके नेत्र अभिनील (=अत्यन्त काले) हैं। (७) इनके दांत सम तथा (संख्यामे) चालीस है। (8) इनके दांत अविरल अर्थात् छिद्र-रहित है। (9) इनके दांत श्वेत है। (10) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार का स्वर ब्रह्मा के स्वर के समान है। (११) ये रसरसाग्र अर्थात् बड़े ही रसीले है। (12) इनकी जिह्वा लम्बी और पतली हैं। (13) ये सिंह हनु है अर्थात् इनकी ठुड्डी सिंह की ठुड्डी-जैसी है। (14) ये सुसंवृत्त स्कन्ध है अर्थात् इनके कंधे सुन्दर तथा गोल-गोल हैं। (15) ये सप्तोत्सद हैं अर्वात् इनकी लम्बाई सात बित्ते की है। (16) ये चितान्तरांस है अर्थात् इनके दोनों कन्धो के बीच का स्थान भरा-पूरा है। (17) ये सूक्ष्मसुवर्णवर्णछवि के है अर्थात् इनकी त्वचा पतली है तथा उसका रंग सोने के जैसा है। (18) इनकी भुजाएँ खड़े-खड़े बिना झुके (जानुओं तक) लटकती हैं अर्थात् ये आजानुबाहु है। (19) इनका पूर्वार्धकाय (=कटि से ऊपर का शरीरभाग) सिंह के समान (विशाल) है। (20) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार न्यग्रोधपरिमण्डल है अर्थात् इनके शरीर की लवाई, चौड़ाई, ऊँचाई, आदि

---

76. भोट, ग्र्यल् पो छेन् पो ग्शोन् नु दोन् थम्स् चद्ग्रुब् प, महाराज सर्वार्थसिद्धकुमारः।

वटवृक्ष के समान उचित अनुपात मे है। (21) ये एकैकरोमा है अर्थात् इनके एक-एक रोमकूप से एक-एक रोम निकला है। (22) ये ऊर्ध्वाग्राभिप्रदक्षिणावर्तरोमा है अर्थात् इनके रोमों की अगली नोकें दाहिनी ओर से मुड़ी हुई हैं। (23) ये कोशोपगतवस्ति गुह्य हैं अर्थात् इनकी जननेन्द्रिय अश्वादि की भाँति कोश (=थैली) से युक्त हैं। (24) ये सुविवर्तितोरु है अर्थात् इनके दोनों ऊरु अच्छे मोड़ के है। (25) ये एणेयमृगराजजङ्घ है अर्थात् इनकी पिंडलियाँ एणेय नाम के मृगों में श्रेष्ठ मृग की पिंडलियों जैसी है। (26) ये दीर्घाङ्गुलि हैं अर्थात् इनकी उँगलियाँ लम्बी है। (27) इनके पैरों की एड़ियाँ आयत (=विस्तृत) है। (-106-) (28) ये उत्संगपाद है अर्थात् इनके पैरों के तलवों के मध्यभाग ऊपर उठे है। (29) ये मृदु-तरुण-हस्त पाद के है अर्थात् इनके हाथ-पैर कोमल एवं सुकुमार है। (30) ये जालाङ्गुलिहस्तपाद[77] हैं अर्थात् इनके पैरो की उँगलियाँ जाल से बँधी जैसी है—बीच में-छेद नही दिखाई पड़ता है। (31) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार के पैरो के तलवों के नीचे विचित्र[78] (लपट निकालने वाले, चमकते हुए, तथा श्वेत[79] सहस्र अरों के, नेमियों (=पुट्ठियों) से युक्त, तथा नाभि (=नाह) सहित चक्र उत्पन्न हुए हैं। (32) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार सुप्रतिष्ठित-समपाद है अर्थात् इनके पैर समभाव से धरती पर बैठने वाले है। =86 क=हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार इस बत्तीसों लक्षण से युक्त है। हे महाराज चक्रवर्तियों के इस प्रकार के लक्षण नही होते। ऐसे लक्षण बोधिसत्त्वों के हुआ करते है।

43. हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार के शरीर में अस्सी अनुव्यंजन (=विशेष चिह्न) हैं। जिनसे युक्त (होने के कारण) सर्वार्थसिद्ध कुमार घरबारी होकर रहने के योग्य नही है। वे अवश्य प्रव्रज्या के लिए निकलेंगे। हे महाराज, वे अस्सी अनुव्यञ्जन कौन से है ? वे ये है—(1) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार तुङ्गनख है अर्थात् उनके नख उङ्गलियों के पोर-पोर पर उभरे हुए है—दबे हुए नही। (2) ये (कुमार) ताम्रनख है अर्थात् इनके नख ताँबे जैसे लाल रंग के हैं। (3) ये स्निग्धनख हैं अर्थात् इनके नख चिकने हैं। (4) ये वृत्ताङ्गुलि है

77. इसके आगे मूल मे दीर्घाङ्गुलिः पाठ है। यह लिपिकार का प्रमाद है। यह पाठ पूर्व मे 26 वें लक्षण में आ चुका है। भोट में भी यह नहीं है।
78. मूल, चित्रे। भोट, बक्ररुङ् शिङ्, शुभे।
79. (अचिष्मती प्रभास्वरे सिते)। इस कोष्ठस्थ पाठ का भोट से समर्थन नहीं होता।

अर्थात् इनकी उँगलियाँ गोल-गोल हैं—चिपटी-चिपटी नही। (5) ये अनुपूर्व-विचित्राङ्गुलि है अर्थात् इनकी उँगलियाँ विचित्र तथा क्रम से नोकीली हो गई है। (6) ये गूढशिर है अर्थात् इनके शरीर में नसें उभरी हुई नही हैं—छिपी हुई है। (7) ये गूढ़गुल्फ है अर्थात् इनके टखने ऊपर उभरे हुए नही हैं—छिपे-छिपे से है। (8) ये घनसंधि[80] है अर्थात् इनके शरीर मे जोड़ ऐसे घने है जिनका पता नही चलता। (9) इनके (दोनो दाएँ बाएँ) पैर सम है विषम नही। (10) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार के पैरों की एडियाँ विशाल है (11) इनके हाथों की रेखाएँ स्निग्ध है (—उनमे रूखापन नहीं है)।(12) इनके (दोनों) हाथों की रेखायें एक जैसी है। (13) इनके हाथों की रेखाएँ गहरी है। (14) इनके हाथों की रेखाएँ टेढी-मेढ़ी नहीं हैं। (15) इनके हाथों की रेखाएँ अनुपूर्व हैं अर्थात् क्रम से स्थूल या सूक्ष्म हुई है। (16) इनके होंठ बिम्बफल के समान हैं। (17) इनके बोलने की ध्वनि ऊँची (=चीखने की जैसी) नहीं है। (18) इनकी जीभ = 86 ख = कोमल, सुकुमार, ताँबे जैसी लाल है। (19) इनका घोष हाथी की चिंघाड़ तथा गरजते मेघ के नाद के समान मधुर एवं मनोहर है। (20) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार के (शरीर में सब) व्यञ्जन (=मंगलचिह्न) परिपूर्ण है। (21) इनकी बाँहें लंबी है। (22) इनका शरीर पवित्र वस्तुओ से धनी है। (23) इनका शरीर कोमल है। (24) इनका शरीर विशाल है। (25) इनका शरीर दैन्य रहित है। (26) [81]इनका शरीर क्रम से ऊँचा उठा है[81]। (27) इनका शरीर सुन्दर एवं समाहित (=धीर भाव से स्थित) है। (28) इनका शरीर सुविभक्त अर्थात् बाँका और कटा-छँटा है। (29) इनका जानुमंडल (पैरो के घुटनों का घेरा) पृथु-विपुल (अति विस्तृत) तथा परिपूर्ण (भरा-पूरा) है। (30) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार का शरीर वृत्त (= गोल-मटोल) है। (31) इनका शरीर सुपरिमृष्ट (=भलीभाँति मँजा हुआ) है। (32) [82]इनका शरीर वृषभ के समान अजिह्म (=सुडौल, टेढ़े-मेढ़ेपने से रहित)

80. मूल, घनसंधि.। भोट छिग्स् (? छिङ्स्) मि म्ङोन् प दङ्, अनभिव्यक्त-संधिः अथवा गूढसंधि.।

81....81 मूल, अनुपर्वोन्नतगात्रश्च। भोट, रिम् पर् ह्छम् प हि. स्कु दङ्, अनुपूर्वगात्रश्च। मूल पाठ अनुपूर्वोन्नतगात्रश्च जान पड़ता है।

82....82. मूल, अजिम्हवृषभगात्रश्च। भोट, स्कु ग यो प म्छिस् प दङ्, अजिह्मगात्रश्च।

है[82]। (33) [83]इनके शरीर मे (एक उचित) क्रम है[83]। (34) इनकी नाभि गहरी है। (35) इनकी नाभि अजिह्म (=सुडौल, टेढ़े-मेढे पने से रहित) है। (36) [84] इनकी नाभि क्रम से (नीची हुई) है[84]। (37) [85] इनका आचार (ऋषि के समान दृढ एव) शुचि (=पवित्र) है[85]। (38) (–107–) [86]ये ऋषभ (=वृषभ) के समान समन्तप्रासादिक अर्थात् सब ओर से सुन्दर है[86]। (39) इनके चारों ओर आलोक की प्रभा फूट रही है, जो परम-अत्यन्त शुद्ध है, उसमे धुँधलापन नही है। (40) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार हाथी के समान मन्द गामी है। (41) ये सिह के समान विक्रमगामी है। (42) ये वृषभ के समान विक्रमगामी है। (43) ये हंस के समान विक्रमगामी है। (44) ये दक्षिण की ओर मुडकर चलने वाले है। (45) इनकी कोख गोल है। (46) इनकी कोख मँजी हुई है। (47) इनकी कोख अजिह्म (=सीधी-सुडौल) है। (48) इनका उदर धनुष की मूठ जैसा पतला है। =87क= (49) इनके शरीर मे न [87]रग का दोष[87] है और न नीले काले धब्बों का दोष है। (50) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार की दाढ़ें गोल है। (51) इनकी दाढ़े तीक्ष्ण है। (52) इनकी दाढ़ें अनुपूर्व (=क्रम से उतार-चढाव वाली) है। (53) इनकी नासिका ऊँची है। (54) इनकी आँखें शुचि है। (55) इनकी आँखें निर्मल है। (56) इनकी आँखें हँसीली है। (57) इनकी आँखें आयत (=फैली हुई) है। (58) इनकी आँखें बडी-बड़ी है। (59) इनकी आँखें नीले कुवलय (=कमल-विशेष) की पंखुड़ियों के समान है। (60) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार की भौहे सहित (=समान भाव से स्थित रोएँ वाली) है। (61) इनकी भौहें विचित्र है (=चित्र लिखित सी है)। (62) इनकी भौहे काली है। (63) इनकी भौहे संगत (=ठीक-ठीक बराबर चली गई) है (=कही बिखरी या ...

अर्थात् इनकी उँगमियाँ गोल-गोल हैं—चिपटी-चिपटी नही। (5) ये अनुपूर्व-विचित्राङ्गुलि है अर्थात् इनकी उँगलियाँ विचित्र तथा क्रम से नोकीली हो गई है। (6) ये गूढशिर है अर्थात् इनके शरीर मे नसें उभरी हुई नही है—छिपी हुई है। (7) ये गूढ़गुल्फ है अर्थात् इनके टखने ऊपर उभरे हुए नही है—छिपे-छिपे से है। (8) ये घनसंधि[80] है अर्थात् इनके शरीर मे जोड ऐसे घने है जिनका पता नही चलता। (9) इनके (दोनों दाएँ बाएँ) पैर सम है विषम नहीं। (10) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार के पैरो की एड़ियाँ विशाल हैं (11) इनके हाथों की रेखाएँ स्निग्ध है (—उनमे रूखापन नही हैं)।(12) इनके (दोनों) हाथों की रेखायें एक जैसी है। (13) इनके हाथों की रेखाएँ गहरी है। (14) इनके हाथों की रेखाएँ टेढी-मेढ़ी नही हैं। (15) इनके हाथों की रेखाएँ अनुपूर्व है अर्थात् क्रम से स्थूल या सूक्ष्म हुई है। (16) इनके होठ बिम्बफल के समान है। (17) इनके बोलने की ध्वनि ऊँची (=चीखने की जैसी) नही है। (18) इनकी जीभ = 86 ख = कोमल, सुकुमार, ताँबे जैसी लाल है। (19) इनका घोष हाथी की चिंघाड़ तथा गरजते मेघ के नाद के समान मधुर एवं मनोहर है। (20) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार के (शरीर मे सब) व्यञ्जन (=मंगलचिह्न) परिपूर्ण है। (21) इनकी बाँहें लंबी है। (22) इनका शरीर पवित्र वस्तुओं से घनी है। (23) इनका शरीर कोमल है। (24) इनका शरीर विशाल है। (25) इनका शरीर दैन्य रहित है। (26) [81]इनका शरीर क्रम से ऊँचा उठा है[81]। (27) इनका शरीर सुन्दर एवं समाहित (=धीर भाव से स्थित) है। (28) इनका शरीर सुविभक्त अर्थात् बाँका और कटा-छँटा है। (29) इनका जानुमंडल (पैरो के घुटनों का घेरा) पृथु-विपुल (अति विस्तृत) तथा पूरिपूर्ण (भरा-पूरा) है। (30) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार का शरीर वृत्त (= गोल-मटोल) है। (31) इनका शरीर सुपरिमृष्ट (=भलीभाँति मँजा हुआ) है। (32) [82]इनका शरीर वृषभ के समान अजिह्म (=सुडौल, टेढ़े-मेढ़पने से रहित)

80. मूल, घनसंधि। भोट छिग्स् (? छिङ्स्) मि मुडोन् प दङ्, अनभिव्यक्त-संधिः अथवा गूढसंधि.।

81....81 मूल, अनुपर्वोन्नतगात्रश्च। भोट, रिम् पर् ह्छम् प हि. स्कु दङ्, अनुपूर्वगात्रश्च। मूल पाठ अनुपूर्वोन्नतगात्रश्च जान पडता है।

82....82. मूल, अजिम्हवृषभगात्रश्च। भोट, स्कु य यो प म्छिस् प दङ्, अजिह्मगात्रश्च।

है[83]। (33) [83]इनके शरीर मे (एक उचित) क्रम है[83]। (34) इनकी नाभि गहरी है। (35) इनकी नाभि अजिह्म (=सुडौल, टेढ़े-मेढ़े पने से रहित) है। (36) [84] इनकी नाभि क्रम से (नीची हुई) है[84]। (37) [85] इनका आचार (ऋषि के समान दृढ़ एव) शुचि (=पवित्र) है[85]। (38) (–107–) [86]ये ऋषभ (=वृषभ) के समान समन्तप्रासादिक अर्थात् सब ओर से सुन्दर है[86]। (39) इनके चारों ओर आलोक की प्रभा फूट रही है, जो परम-अत्यन्त शुद्ध है, उसमें धुँधलापन नही है। (40) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार हाथी के समान मन्द गामी है। (41) ये सिंह के समान विक्रमगामी है। (42) ये वृषभ के समान विक्रमगामी है। (43) ये हंस के समान विक्रमगामी है। (44) ये दक्षिण की ओर मुडकर चलने वाले है। (45) इनकी कोख गोल है। (46) इनकी कोख मँजी हुई है। (47) इनकी कोख अजिह्म (=सीधी-सुडौल) है। (48) इनका उदर धनुष की मूठ जैसा पतला है। =87क= (49) इनके शरीर मे न [87]रग का दोष[87] है और न नीले काले धब्बों का दोष है। (50) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार की दाढ़ें गोल है। (51) इनकी दाढ़ें तीक्ष्ण है। (52) इनकी दाढ़े अनुपूर्व (=क्रम से उतार-चढ़ाव वाली) है। (53) इनकी नासिका ऊँची है। (54) इनकी आँखे शुचि हैं। (55) इनकी आँखें निर्मल है। (56) इनकी आँखें हँसोली है। (57) इनकी आँखें आयत (=फैली हुई) है। (58) इनकी आँखें बडी-बड़ी है। (59) इनकी आँखें नीले कुवलय (=कमल-विशेष) की पखुड़ियों के समान है। (60) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार की भौहें सहित (=समान भाव से स्थित रोएँ वाली) है। (61) इनकी भौहें विचित्र हैं (=चित्र लिखित सी है)। (62) इनकी भौहे काली है। (63) इनकी भौहें सगत (=ठीक-ठीक बराबर चली गई) है (=कही विरली या कहीं

83....83. मूल, अनुपूर्वगात्रश्च। भोट, स्कु रिम् गियस् लेग्स् पर् ग्रुब प दङ्, अनुपूर्वसुसिद्धगात्रश्च। द्रष्टव्य टिप्पणी 7। 81....81।

84....84. मूल, अनुपूर्वनाभिश्च। भोट, ल्ते ब रिम् गियस् ग्शोल् ब दङ्। अनुपूर्वनिम्ननाभिश्च।

85....85. मूल, शुच्याचारश्च। भोट, द्रङ् स्रोङ् ल्तर् ग्चङ् स्त्रेस् स्पोद् प दङ्, ऋषिसदृशदृढशुच्याचारश्च।

86....86. मूल, ऋषभवत्समन्तप्रासादिकश्च। भोट, कुन् नस् म् जेस् प, समन्तप्रासादिकश्च।

87....87. मूल, ०छन्ददोष०। भोट, म्दोग् सि अेस् प वर्णदोष। मूल, पाठ सम्भवतः० रागदोष० (=रंग का दोष) होगा।

घनी नही है, सर्वत्र एक सी है)। (64) इनकी भौहे अनुपूर्व (= क्रम से उतार-चढ़ाव वाली) है। (65) इनके कपोल पीन (= फूले हुए-पुष्ट) हैं। (66) इनके कपोल विषम नहीं है। (67) इनके कपोल दोषहीन है। (68) [88]इनमें रागद्वेष-क्रोध का रंग नही है[88]। (69) ये शोभन ज्ञानेन्द्रियों के है। (70) हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार[89] भली-भाँति परिपूर्ण इन्द्रियों के है[89]। (71) इनका चेहरा तथा माथा संगत (= ठीक-ठीक उतार-चढाव वाला) है (72) इनका उत्तमाङ्ग (=शिर) परिपूर्ण है (=टेढा-मेढा नहीं है)। (73) इनके केश काले है। (74) इनके केश सहित (= समान भाव से स्थित = बराबर) हैं (एवं [90]इनके केश सुसगत है[90]। (75) इनके केशों मे सुगन्ध है। (76) इनके केशो मे रूखापन नही है। (77) इनके केश अनाकुल (=विना उलझन के) है। (78) [91]इनके केश अनुपूर्व है अर्थात् क्रम से सजे है[91]। (79) इनके केश भली-भाँति घुँघराले है। (80) हे महाराज, सिद्धार्थकुमार के केशों का संस्थान (=आकार-प्रकार) श्रीवत्स, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त तथा वर्धमान के जैसा है। =87ख= हे महाराज, सर्वार्थसिद्ध कुमार के ये अस्सी अनुव्यञ्जन (=विशेष मंगल चिह्न) है, जिनसे युक्त (होने के कारण) सर्वार्थसिद्ध कुमार घरबारी होकर रहने के कारण योग्य नही है। (ये) अवश्य प्रव्रज्या के लिए निकलेगे।

44. तदनन्तर राजा शुद्धोदन असित महर्षि से कुमार के सबन्ध मे यह व्याकरण (=भविष्यवाणी) सुन संतुष्ट हुए, प्रसन्न हुए, मन मे फूले न समाए, प्रमुदित हुए, प्रीति तथा सौमनस्य प्राप्त हुए, आसन से उठ कर बोधिसत्त्व के चरणों मे प्रणाम कर यह गाथा कही—

> वन्दितस्त्वं सुरैः सेन्द्रैः ऋषिभिश्चासि पूजितः।
> चैत्यं[91क] सर्वस्य लोकस्य वन्देऽहमपि त्वां विभो ॥244॥

88 ·· 88. मूल, अनुपहतक्रुष्टश्च। भोट, स्दङ् व दङ् रब्रो ब हि, म्दोग् मेद् प दङ्, अद्वेषक्रोधरागवर्णश्च।

89····89. मूल, सुपरिपूरेणेन्द्रियश्च। भोट, म्जोद् स्पु योङ्स् सु र्जोग्स् पर् दङ् ल्दन् प, परिपूर्णोणाकोपश्च। जिनका ऊर्णाकोश (= तिलकस्थान का रोम) परिपूर्ण है।

90····90. मूल, (सुसगत केशश्च)। इस कोष्ठस्थ पाठ का भोट से समर्थन नहीं होता।

91····91 मूल, अनुपूर्वकेशश्च। भोट, द्बु स्क्र ब्यिन् ग्यिस् फ्र ब, सुसूक्ष्मकेशश्च।

91क. मूल, वैद्यं। भोट म्छोद् र्तेन् पस्, चैत्यं।

इन्द्र के सहित देवताओं ने तुम्हारी वन्दना की है, ऋषियों ने तुम्हारी पूजा की है, हे प्रभो, मैं भी तुम्हारी–सब लोक के चैत्य की वन्दना करता हूँ।

45. (–108–) इस प्रकार, हे भिक्षुओं, राजा शुद्धोदन ने असित महर्षि को उनके भानजे नरदत्त के साथ भोजन से तृप्त कराया। तृप्त करा, (वस्त्रों से) आच्छादित कर, प्रदक्षिणा की। तदनन्तर असित महर्षि वहीं से ऋद्धि (बल) द्वारा आकाश से चले गए। जहाँ अपना आश्रम था, वहाँ पहुँचे। तदनन्तर[92] वहां पर असित महर्षि ने माणवक (=ब्रह्मचारीवटुक) नरदत्त से यह कहा। हे नरदत्त, जब तुम सुनना कि लोक में बुद्ध हुए हैं, तब तुम जाकर उनके शासन में प्रव्रजित होना। वह चिरकाल तक तुम्हारे अर्थ के लिए, हित के लिए, सुख के लिए होगा।

46. इस विषय में (गाथाओं द्वारा) यह कहा गया है

(असित महर्षि के आगमन संबन्धी गाथाएँ)

(शार्दूलविक्रीड़ित छन्द)

दृष्ट्वा देवगणान् नभस्तलगतान् बुद्धश्रवोद्गारिणो
देवर्षीरसितोऽद्रिकन्दर =88क=गतः प्रीतिं परां प्राप्तवान्।
बुद्धो नाम पदं किमेतदिह भोः हर्षावहं प्राणिनां
प्रल्हादं मम काये एति सुखितं शान्तं च चित्तं परं ॥245॥

देवर्षि असित (हिमालय–) पर्वत की गुहा में बैठे-बैठे गगनतलस्थ देवगणों को "बुद्ध" इस शब्द की ध्वनि करते हुए देख अत्यन्त प्रेम में मग्न हो गए। अहो! "बुद्ध" यह शब्द यहाँ प्राणियों को हर्षित करने वाला (सुन पड़ रहा है जिससे) मेरी काया को आनन्द प्राप्त हो रहा है, तथा चित्त अत्यन्त शान्त एवं सुखी (हो गया) है।

किं देवो त्वसुरो ऽथवापि स भवेद् गरुडोऽथवा किंनरः
बुद्धो नाम किमेतदश्रुतपदं प्रीतिकरं मोदनं।
दिव्या चक्षुष प्रेक्षते दश दिशः शैलान् मही सागरान्
भूपः पश्यति चाद्भुतं बहुविधं भूमौ गिरौ सागरे ॥246॥

वह (बुद्ध) क्या देवता है? अथवा असुर है? गरुड़ है? अथवा किंनर है? "बुद्ध" यह न सुना हुआ शब्द (भी) क्या ही प्रीति करने वाला, (क्या ही) मुदित करने वाला है? दिव्य-दृष्टि से (उन्होंने) दसों दिशाओं को, पर्वतों को,

92. मूल, अथ (खलु द्वयं संक्रम्य)। भोट, दे नस्, अथ। कोष्ठस्थ पाठ का भोट से समर्थन नहीं होता।

पृथिवी को, तथा सागरों को निहारा। फिर पृथिवी, पर्वत एवं सागरों के ऊपर बहुत प्रकार का आश्चर्य देखा।

आभेयं प्रविराजते सुरुचिरा प्रल्हादयन्ती तनुं
जाताश्चैव तथा हि शैलशिखरे स्निग्धाः प्रवाडाङ्कुराः।
वृक्षाश्चैव यथा सुपुष्पभरिता नानाफलैर्मण्डिताः
सुव्यक्तं त्रिभवे भविष्यति लघु रत्नोद्भवः शोभनः ॥247॥

यह अत्यन्त रुचिर आभा शरीर को आनन्दित करती हुई भली-भांति विराज रही है, पर्वत की चोटी (=चोटी) पर चिकने मूँगे के जैसे लाल-लाल अङ्कुर निकल आए हैं, तथा जिस प्रकार पेड़ सुन्दर पुष्पों से भर गए हैं, तथा नाना प्रकार के फलो से भूषित हो रहे हैं, उससे स्पष्ट ही है कि त्रिभव (=त्रिलोकी) में शीघ्र ही शोभन रत्न का आविर्भाव होने वाला है।

(–109–) भूमिर्भाति यथा च पाणिसदृशा सर्वा समा निर्मला
देवाश्चैव यथा प्रहृष्टमनसः खे भ्रामयन्त्यम्बरान्।
यद्वत्सागर नागराजनिलये रत्नाः प्लवन्तेऽद्भुताः
सुव्यक्तं जिनरत्न जम्बुनिलये धर्माकरस्योद्भवः ॥248॥

जिस प्रकार सब धरती हथेली जैसी बराबर और निर्मल शोभा दे रही है, जिस प्रकार देवता, मन मे हरषाए हुए, आकाश मे वस्त्र हिला रहे हैं, जिस प्रकार नागराज के निवास स्थान समुद्र में अद्भुत-अद्भुत रत्न उतरा रहे हैं, उससे अत्यन्त स्पष्ट है कि जम्बू-द्वीप में धर्म के आकर जिनरत्न का आविर्भाव होना है।

यद्वच्छान्त अपाय दुःखविगताः सत्त्वाश्च सौख्यान्विताः
यद्वद्देवगणा नमस्तलगता गच्छन्ति हर्षान्विताः।
यथ च स्निग्ध रवं मनोज्ञ शृणुया दिव्यान संगीतिनां
रतनस्या इव प्रादुर्भावु त्रिभवे यस्या निमित्ता इमे ॥249॥

जिस प्रकार नरक शान्त तथा दुःख से रहित हो गए हैं, और प्राणी सुख से युक्त हैं, जिस प्रकार आकाश तल पर विराजमान देव-गण हर्ष से युक्त हो चल-फिर रहे हैं, जिस प्रकार दिव्य संगीतों की रसीली तथा मन को भाने वाली ध्वनि (सबको) सुन पड़ रही है, उससे मानो (उस) रत्न का प्रादुर्भाव होना है, जिसके कि ये—सब निमित्त हैं। =88ख=

असितः प्रेक्षति जम्बुसाह्वयमिदं दिव्येन वै चक्षुषा
सोऽद्राक्षीत् कपिलाह्वये पुरवरे शुद्धोदनस्यालये।
जातो लक्षणपुण्यतेजभरितो नारायणस्थामवान्
दृष्ट्वा चात्तमना उदग्रमनसः स्यामास्य संवर्धितः ॥250॥

असित दिव्य दृष्टि से इस जम्बू-द्वीप को देखने लगे। उन्होंने देखा कि कपिलवस्तु नामक श्रेष्ठ नगर मे, शुद्धोदन के घर में, नारायण के समान बलवान् पुण्य के तेज तथा लक्षणों से पूर्ण (शिशु) का जन्म हुआ है। देख कर वे मन मे हर्षित हुए, मन मे आनंदित हुए। उनका बल बढ़ गया।

उद्युक्तस्त्वरितोऽतिविस्मितमना चासौ स्वशिष्यान्वितः
आगत्वा कपिलाह्वयं पुरवरं द्वारि स्थितो भूपतेः।
अनुबद्धा बहुप्राणिकोटिनयुता दृष्ट्वा ऋषिजीर्णकः
अवची सारथि राज्ञ वेदय लघुं द्वारे ऋषिः तिष्ठति ॥251॥

वे अपने शिष्य के साथ तैयार हो जल्दी-जल्दी कपिलवस्तु नाम के श्रेष्ठ नगर आ राजा के द्वार पर खड़े हो गए। बूढ़े ऋषि ने (वहाँ) आगे-पीछे क्रमबद्ध बहुत से कोटि-नयुत (=खर्वों कोटि) प्राणियों को देख कर सारथि से कहा—शीघ्र राजा से निवेदन करो कि द्वार पर ऋषि खड़े हैं।

श्रुत्वा चाशु प्रविश्य राजभवनं राज्ञस्तमाख्यातवान्
द्वारे देव तपस्वि तिष्ठति महान् जीर्णो ऋषिर्जर्जरः।
सो चापि अभिनन्दते ऋषिवरः प्रावेष्टु राज्ञो गृहं
आज्ञा दीयतु ताव पार्थिववरा [93]देमि प्रवेशं न वा[93] ॥252॥

वह (संदेश) सुन कर तथा राजभवन में प्रवेश कर (सारथि ने) राजा से कहा हे देव, द्वार पर बड़े-बूढ़े, जीर्ण-शीर्ण (-शरीर के), तपस्वी ऋषि खड़े हैं, और वे ऋषि वर राजभवन में प्रवेश पाने के लिए लालायित हो रहे हैं। हे श्रेष्ठ राजन्, आज्ञा दें (कि मैं उन्हे) प्रवेश दूं वा न दूँ।

स्थाप्या चासनमस्य चाह नृपतिः गच्छ प्रवेशं दद
असितः सारथिवाक्य श्रुत्व मुदितः प्रीत्या सुखेनान्वितः।
शीतंवारियथाभिकाङ्क्षितृषितो [94]भुक्षार्दितो[94] चाशनं
तद्वत्सुख्यभिनन्दितो ऋषिवरस्तं द्रष्टु सत्त्वोत्तमं ॥253॥

93....93. मूल, देमि प्रवेशं तया। पाठान्तर, देमि प्रवेशं तसा। दोनों का संस्कृत रूपान्तर होगा—ददामि प्रवेशं तस्य। भोट, नङ् दु ब्तङ् ङ्म् मि ब्तङ्, प्रवेशं ददामि नवा ददामि। भोटानुसार मूल को यहाँ शुद्ध किया गया। तया अथवा तसा के स्थान मे **न वा** कर दिया गया है।

94....94. मूल, भुक्त्वादितो। अर्थ, आरम्भ में खाकर। यह पाठ अत्यन्त अशुद्ध है। यहाँ भोट पाठ है—**ब्क्रेस् पस् गृदुङ् स् प** (=बुभुक्षया पीडितः,

आसन बिछवा कर कर राजा ने उससे कहा—जाओ, (ऋषि को) भीतर आने दो। सारथि के द्वारा (भीतर आने के) वचन को सुन कर असित (महर्षि) मुदित हो गए, प्रीति और सुख से युक्त हो गए। जैसे प्यासा शीतल जल के लिए तथा भूख का मारा भोजन के लिए लालायित होता है, वैसे ही सुख में मगन वे ऋषिवर उन उत्तम (बोधि–) सत्त्व को देखने के लिए लालायित हो गए।

जय भोः पार्थिव इत्युवाच मुदितो चायुं चिरं पालय
वृद्धि कृत्व निषण्ण दान्तमनसः शान्तेन्द्रियः सूरतः।
राजा वै अभिवाद्य तं मुनिभृतं प्रोवाच किं कारणं
आगामस्तव पार्थिवेन्द्रनिलये तद् = 89क = ब्रूहि शीघ्रं मुने ||254||

आनंदित (ऋषि) बोले। हे राजन्, जय हो। चिर (काल) तक आयु का भोग करें। (धर्म को) वृद्धि कर, मन में संयमी, इन्द्रियों में अचंचल, तथा (सर्वत्र) सूरत अर्थात् कृपालु होकर विराजें। राजा उन (मुनि) को, बड़े विनय के साथ अभिवादन कर बोले। क्या कारण है जो आप राजभवन में पधारे हैं। हे मुने, उसे शीघ्र बताएँ।

पुत्रस्ते वररूप पारमिगतो जातो महातेजवान्
द्वात्रिंशद्वरलक्षणैः कवचितो नारायणस्थामवान्।
तं द्रष्टुं हि ममेप्सितं नरपते सर्वार्थ सिद्धं शिशुं
इत्यर्थं समुपागतोऽस्मि नृपते नास्त्यन्यकार्यं मम ||255||

सुन्दर रूप का, पारमिताओं का धनी, महातेजस्वी, बत्तीस (महापुरुषों के) श्रेष्ठ लक्षणों के कवच से युक्त, नारायण के समान बली आपके यहाँ पुत्र का जन्म हुआ है। हे राजन्, उन सर्वार्थसिद्ध शिशु को देखने की मेरी इच्छा है। इसलिए मैं आया हूँ। हे राजन्, ओर मेरा कुछ कार्य नहीं है।

भूख से पीड़ित)। इस नोट के रूपान्तर को देखने से अनुमान होता है कि मूल पाठ सम्भवतः भुक्खादितो या भुक्कादितो होगा। भुक्ख (भुक्क, हिन्दी भूख)। भूख से अदित (= अर्दित) अर्थात् पीड़ित। बौद्ध संस्कृतीकरण भुक्षार्दितो होना चाहिए।

साधु स्वागतु याचसे किलमितः प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात्
एषोऽसौ शयितः कुमार वरदो द्रष्टुं न शक्योऽधुना ।
साधुं तावं मुहूर्तमागम इहा यद् द्रक्ष्यसे निर्मलं
चन्द्रं वा यथ पूर्णमासि विमलं तारागणैर्मण्डितं ॥256॥

साधु, स्वागत हो, याचना (आपने) की, इस कारण आपके दर्शन से प्रसन्न हुआ हूँ। हे वरदायक (मुने), कुमार नींद मे है। अभी देखना न होगा। अच्छा हो, आप कुछ ठहरें। तब (जगने पर) निर्मल कुमार को पूर्णमासी (की रात) मे तारागणों से मण्डित निर्मल चन्द्रमा के समान देख सकेंगे।

यद चासौ प्रतिबुद्ध सारथिवरः परिपूर्णचन्द्रप्रभः
तद राजा प्रतिगृह्य वन्हिवपुषं सूर्यातिरेकप्रभं ।
हन्ता पश्य ऋषे नृदेवमहित हेमाग्रबिम्बोपमं
असितो दृष्ट च तस्य तौ सुचरणौ चक्राङ्कितौ शोभनौ ॥257॥

जब वे परिपूर्ण चन्द्रमा की जैसी कान्ति का, श्रेष्ठ सारथि मे, तब सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान, अग्नि के समान (तेजस्वी) शरीर के (शिशु) को गोद मे उठा कर राजा (बोले)। अहो ऋषे ! देवताओं तथा मनुष्यों से पूज्य, खरे सुवर्ण सदृश शरीर के (कुमार को) देखें। असित ने उनके चक्र के चिह्नों से युक्त शोभन चरणों को निहारा।

प्रत्युथाय ततः कृताञ्जलिपुटो चरणानि सो वन्दते
अङ्के गृह्य महात्म शास्त्रकुशलो विध्यायतो प्रेक्षते ।
सोऽपश्यद् वरलक्षणैः कवचितं नारायणस्यामवं
शीर्षं कम्प्य स वेदशास्त्रकुशलो द्वे तस्य पश्यद्गती ॥258॥

तब उठ कर, अञ्जलि बाँध, उन्होंने (उनके) चरणो की वंदना की। शास्त्रों में कुशल महात्मा ने गोद मे लेकर चिन्तन करते हुए (उन्होंने) निहारा। फिर सिर हिलाकर वेद-शास्त्रों मे चतुर उन (ऋषि) ने नारायण के समान बली (तथा) श्रेष्ठ लक्षणों के कवच से युक्त उनको देखा और उनकी दो गतियाँ देखी।

(–111–) राजा वा भवि चक्रवर्ति बलवान् बुद्धो व लोकोत्तमः
=89ख= बाष्पं त्यक्त सुदीनकायमनसो गम्भीर निश्वस्य च ।
उद्विग्नश्च बभूव पार्थिववरः किं ब्रह्मणो रोदिती
मा विघ्नं खलु पश्यतेऽयमसितः सर्वार्थसिद्धस्य मे ॥259॥

(ये) या तो बलवान् चक्रवर्ती राजा होंगे, या लोक मे श्रेष्ठ बुद्ध होंगे। (तदनन्तर) गहरी साँस ले, तन और मन से अत्यन्त दुःखी हो आँसू बहाए।

आसन बिछवा कर कर राजा ने उससे कहा—जाओ, (ऋषि को) भीतर आने दो। सारथि के द्वारा (भीतर आने के) वचन को सुन कर असित (महर्षि) मुदित हो गए, प्रीति और सुख से युक्त हो गए। जैसे प्यासा शीतल जल के लिए तथा भूख का मारा भोजन के लिए लालायित होता है, वैसे ही सुख में मगन वे ऋषिवर उन उत्तम (बोधि-) सत्त्व को देखने के लिए लालायित हो गए।

जय भोः पार्थिव इत्युवाच मुदितो चायुं चिरं पालय
वृद्धि कृत्व निषण्ण दान्तमनसः शान्तेन्द्रियः सूरतः।
राजा वै अभिवाद्य तं मुनिभृतं प्रोवाच किं कारणं
आगामस्तव पार्थिवेन्द्रनिलये तद् = 89क = ब्रूहि शीघ्रं मुने ॥254॥

आनदित (ऋषि) बोले। हे राजन्, जय हो। चिर (काल) तक आयु का भोग करें। (धर्म को) वृद्धि कर, मन मे संयमी, इन्द्रियों में अचंचल, तथा (सर्वत्र) सूरत अर्थात् कृपालु होकर विराजें। राजा उन (मुनि) को, बड़े विनय के साथ अभिवादन कर बोले। क्या कारण है जो आप राजभवन में पधारे हैं। हे मुने, उसे शीघ्र बताएँ।

पुत्रस्ते वररूप पारमगतो जातो महातेजवान्
द्वात्रिंशद्वरलक्षणैः कवचितो नारायणस्थामवान्।
तं द्रष्टुं हि ममेप्सितं नरपते सर्वार्थं सिद्धं शिशुं
इत्यर्थं समुपागतोऽस्मि नृपते नास्त्यन्यकार्यं मम ॥255॥

सुन्दर रूप का, पारमिताओं का धनी, महातेजस्वी, बत्तीस (महापुरुषों के) श्रेष्ठ लक्षणों के कवच से युक्त, नारायण के समान बली आपके यहाँ पुत्र का जन्म हुआ है। हे राजन्, उन सर्वार्थसिद्ध शिशु को देखने की मेरी इच्छा है। इसलिए मैं आया हूँ। हे राजन्, ओर मेरा कुछ कार्य नहीं है।

भूख से पीड़ित)। इस भोट के रूपान्तर को देखने से अनुमान होता है कि मूल पाठ सम्भवतः भुक्खादितो या भुक्कादितो होगा। भुक्ख (भुक्क, हिन्दी भूख)। भूख से अदित (= अर्दित) अर्थात् पीड़ित। बौद्ध संस्कृतीकरण भुक्षादितो होना चाहिए।

साधु स्वागतु याचसे किलमितः प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात्
एषोऽसौ शयितः कुमार वरदो द्रष्टुं न शक्योऽधुना ।
साधुं ताव मुहूर्तमागम इहा यद् द्रक्ष्यसे निर्मलं
चन्द्रं वा यथ पूर्णमासि विमलं तारागणैर्मण्डितं ॥256॥

साधु, स्वागत हो, याचना (आपने) की, इस कारण आपके दर्शन से प्रसन्न हुआ हूँ। हे वरदायक (मुने), कुमार नींद में है। अभी देखना न होगा। अच्छा हो, आप कुछ ठहरें। तब (जगने पर) निर्मल कुमार को पूर्णमासी (की रात) में तारागणों से मण्डित निर्मल चन्द्रमा के समान देख सकेंगे।

यद चासौ प्रतिबुद्ध सारथिवरः परिपूर्णचन्द्रप्रभः
तद राजा प्रतिगृह्य वन्हिवपुषं सूर्यातिरेकप्रभं।
हन्ता पश्य ऋषे नृदेवमहितं हेमाग्रबिम्बोपमं
असितो दृष्ट च तस्य तौ सुचरणौ चक्राङ्कितौ शोभनौ ॥257॥

जब वे परिपूर्ण चन्द्रमा की जैसी कान्ति का, श्रेष्ठ सारथि मे, तब सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान, अग्नि के समान (तेजस्वी) शरीर के (शिशु) को गोद में उठा कर राजा (बोले)। अहो ऋषे ! देवताओं तथा मनुष्यों से पूज्य, खरे सुवर्ण सदृश शरीर के (कुमार को) देखें। असित ने उनके चक्र के चिह्नों से युक्त शोभन चरणों को निहारा।

प्रत्युत्थाय ततः कृताञ्जलिपुटो चरणानि सो वन्दते
अङ्के गृह्य महात्म शास्त्रकुशलो विध्यायतो प्रेक्षते।
सोऽपश्यद् वरलक्षणैः कवचितं नारायणस्यामवं
शीर्ष कम्प्य स वेदशास्त्रकुशलो द्वे तस्य पश्यद्गती ॥258॥

तब उठ कर, अञ्जलि बाँध, उन्होंने (उनके) चरणो की वंदना की। शास्त्रों में कुशल महात्मा ने गोद मे लेकर चिन्तन करते हुए (उन्होंने) निहारा। फिर सिर हिलाकर वेद-शास्त्रों मे चतुर उन (ऋषि) ने नारायण के समान बली (तथा) श्रेष्ठ लक्षणों के कवच से युक्त उनको देखा और उनकी दो गतियाँ देखी।

(–111–) राजा वा भवि चक्रवर्ति बलवान् बुद्धो व लोकोत्तमः
=89ख= बाष्पं त्यक्त सुदीनकायमनसो गम्भीर निश्वस्य च।
उद्विग्नश्च बभूव पार्थिववरः किं ब्रह्मणो रोदिती
मा विघ्नं खलु पश्यतेऽयमसितः सर्वार्थसिद्धस्य मे ॥259॥

(ये) या तो बलवान् चक्रवर्ती राजा होंगे, या लोक में श्रेष्ठ बुद्ध होंगे। (तदनन्तर) गहरी सांस ले, तन और मन से अत्यन्त दुःखी हो आँसू बहाए।

(यह देख) श्रेष्ठ राजा घबरा गए। ब्राह्मण (–देवता) क्यों रोने लगे। कहीं असित मेरे सर्वार्थसिद्ध का कुछ अनिष्ट तो नहीं देख रहे हैं !!

भूतं व्याहर किं तु (?नु) रोदिषिऋषे श्रेयोऽथ किं पापकं
पापं नास्ति न चान्तरायमिह भोः सर्वार्थसिद्धस्य ते।
आत्मानं बहु सोचमी नरपते जीर्णोऽस्मि यज्जर्जरः
यदयं भेष्यति बुद्ध लोकमहितो धर्मं यदा वक्ष्यते ॥260॥

हे ऋषे, सत्य कह दे। क्यो रो रहे हैं ? कुशल होने वाला या अकुशल ? तुम्हारे सर्वार्थसिद्ध का न अकुशल होने वाला है और न विघ्न। हे राजन्, मैं अपने लिए बहुत शोक कर रहा हूँ, क्योंकि जब ये लोकपूजित बुद्ध होंगे तथा धर्म का प्रवचन करेंगे।

न द्रक्षे अहु लब्धप्रीतिमनसो इत्यर्थं रोदाम्यहं
यस्या कायि भवन्ति लक्षण वरा द्वात्रिंशति निर्मला।
द्वे तस्या गतयो न अन्य तृतीया जानीष्व एवं नृप
राजा वा भवि चक्रवर्ति बलवान् बुद्धोऽथ लोकोत्तमः ॥261॥

(तब) मैं प्रीतिभरे मन से (इन्हें) न देख पाऊँगा। इसीलिए मैं रो रहा हूँ। हे राजन्, (ऐसा जानो कि) जिसकी देह पर बत्तीस श्रेष्ठ एवं निर्मल लक्षण होते हैं, उसकी दो (ही) गतियाँ होती हैं, तीसरी नही। (वह) या तो बलवान् चक्रवर्ती राजा होता है, या लोक मे श्रेष्ठ बुद्ध होता है।

नायं कामगुणेभिरर्थिकु पुनः बुद्धो अयं भेष्यति
श्रुत्वा व्याकरणं ऋषेः स नृपतिः प्रीतिं सुखं लब्धवान्।
प्रत्युत्थाय ततः कृताञ्जलिपुटो चरणावसौ वन्दते
देवैस्त्वं स्वभिपूजितः सुबलवान् ऋषिभिश्च संवर्णीतः ॥262॥

ये कामभोगों के अभिलाषी न होंगे प्रत्युत् ये बुद्ध होंगे। ऋषि के इस व्याकरण (=भविष्यद् व्याख्यान) को सुन कर राजा को प्रीतिसुख का लाभ हुआ। तदनन्तर उठ कर, अञ्जलि बाँध कर, उन्होंने चरणों में वन्दना की। (और कहा कि) तुम देवताओ द्वारा भलीभाँति पूजित हो, अत्यन्त बलवान् हो, और ऋषि भी तुम्हारा सम्यक् वर्णन करते हैं।

वन्दे त्वां वर-सार्थवाह त्रिभवे सवे जगे पूजितं
असितः प्राह च भागिनेय मुदितः संश्रूयतां भाषतो।
बुद्धा बोधि यदा शृणोसि जगतो वर्तेति चक्रं ह्ययं
शीघ्रं प्रव्रज शासनेऽस्य मुनये तत्प्राप्स्यसे निर्वृतिं ॥263॥

(इसलिए) हे श्रेष्ठ सार्थवाह, तीनों भुवनों मे, संपूर्ण जगत् में, पूजित तुम्हें मैं प्रणाम करता हूँ। और (उस समय) प्रसन्न हो असित (ऋषि) अपने भानजे

से बोले। मेरा कहना सुनो। जब सुनो कि इन्होंने बोधि पा ली है और जगत् में धर्मचक्र का प्रवर्तन कर रहे हैं, तब शीघ्र इन मुनि के शासन में प्रव्रजित हो जाना। उससे तुम्हें निर्वाण-लाभ होगा।

वन्दित्वा चरणौ[94क] ह्यसौ मुनिवरः[94क]=90ग=कृत्वा च प्रादक्षिणं
लाभा ते नृपते सुलब्ध विपुला यस्येदृशस्ते सुतः।
(-112-) एषो लोक सदेवकं समनुजं धर्मेण तर्पेष्यति
निष्क्रामं कपिलाह्वयादृषिवरोऽरण्ये स्थितः स्वाश्रमे ॥264॥इति॥

उन मुनिवर ने (बोधिसत्त्व के) चरणों की वन्दना कर, प्रदक्षिणा कर (कहा—) हे नृपते, जिनका पुत्र ऐसा है, (उन) तुमको महालाभ प्राप्त हुआ है। ये देवताओं से युक्त तथा मनुष्यों से समन्वित जगत् को धर्म से तृप्त करेंगे। (ऐसा कह) ऋषिवर कपिलवस्तु (नगर) से निकल अरण्य में अपने आश्रम में जा विराजे। इति।

47. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व का ज्यों ही जन्म हुआ त्यों ही देवपुत्र महेश्वर ने शुद्धावासकायिक देवपुत्रों को संबोधन कर यों कहा। हे मार्षा (सुहृदों), ये जो महात्मा बोधिसत्त्व मनुष्य लोक मे उत्पन्न हुए है, वे शीघ्र ही सम्यक् संबोधि का अभिसबोधन (=साक्षात्कार) करेंगे। इन्होंने शत-सहस्र-खर्व-कोटि असंख्येय कल्पों तक पुण्य कर्मो का, दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, तथा, प्रज्ञा (नाम की पारमिताओं) का उपाय, श्रुत (=धर्मश्रवण तथा विद्या-श्रवण), (सत्-आचरण, व्रत, तथा तप का भलीभाँति आचरण किया है। ये महा-करुणा, महामैत्री, यथा महामुदिता से युक्त है। इनके चित्त मे उपेक्षा का सम्यक् उदय हुआ है। ये सब प्राणियो के सुख के निमित्त उद्योगी रहे हैं। ये दृढ़ वीर्य (=वीरभाव) रूपी कवच के सुन्दर सनाह से सज्जित है। इन्होने अतीत के बुद्धों के आश्रय से कुशल (=पुण्य) के मूल को रोपा है। ये शत-पुण्यों के लक्षणों से भलीभाँति अलंकृत है। इन्होने पराक्रम करने का भलीभाँति निश्चय किया है। परचक्र (=माररूपी शत्रु के सैन्य) के मथन करने हारे है। ये निर्मल एवं शुद्ध=90 ख=आशय (=भाव) की सपत्ति से युक्त है।[95] ये शोभन चरित्र का आचरण करने हारे हैं[95]। इनके ध्वज (दंड) मे महान् ज्ञान की पताका फहराती है। ये मारबल का अन्त करने वाले है। ये त्रिसाहस्र-महा साहस्र

94क····94क. मूल, ह्यसौ मुनिवरः। भोट, द्रङ् स्रोङ् दम् दे यिस् असौ मुनिवरः।

95····95. मूल, सुचरितचारणो। यह पाठ भोट मे नही है।

(लोक-धातु) के सार्थवाह है। [96] ये देवताओं तथा मनुष्यों के द्वारा पूजित है। महायज्ञों द्वारा इनकी पूजा की गई है[96]। [97]इनके पुण्य की राशि अत्यन्त समृद्ध है। इनका अभिप्राय (संसार से) निःसरण (= मोक्ष) का है[97]। ये जन्म, जरा, तथा मरण के अन्त करने वाले है। इनका जन्म सुन्दर जन्म है। ये इक्ष्वाकु-राजवंश मे उत्पन्न हुए है, (और इस) जगत् को बोधि का लाभ कराने वाले है। अहो, हम-सब चलें उनकी वंदना करने के लिए, सत्कार करने के लिए, पूजा करने के लिए, स्तुति करने के लिए, तथा दूसरे घमंड मे चूर देवपुत्रों अभिमान, अहंकार, और मत्तता को छिन्न-भिन्न करने के लिए। वे हम-सब को वन्दना करते देख बोधिसत्त्व की वन्दना करेंगे, सत्कार करेंगे, पूजा करेंगे। उससे उनका चिरकाल तक प्रयोजन सिद्ध होगा, हित होगा, सुख होगा, यहाँ तक कि (अन्त में) अमृत (= मोक्ष) का लाभ होगा। और राजा शुद्धोदन की जयवृद्धि सबके कानों मे पड़ेगी। तत्त्वव्याकरण (अर्थात् यथार्थ बात की व्याख्या) द्वारा बोधिसत्त्व की होनहार का वर्णन कर फिर लौट आयेगे।

48. (–113–) तदनन्तर देवपुत्र महेश्वर = 91 क = बारह हजार देवपुत्रों के साथ आगे-आगे हो समूचे कपिलवस्तु महानगर को प्रकाश से प्रकाशित कर जहाँ राजा शुद्धोदन का निवास था, वहाँ जाकर, द्वारपाल से निवेदन कर, राजा की अनुमति पा कर, राजकुल मे प्रवेश कर, बोधिसत्त्व के चरणों में सिर से नमस्कार कर, उत्तरासंग को एक कंधे पर कर, अनेक शत-सहस्र बार प्रदक्षिणा कर, बोधिसत्त्व को गोद में लेकर, राजा शुद्धोदन को आश्वासन दिया कि हे महाराज, सतुष्ट रहे, परम प्रीतिमान् रहे। वह किस लिए ? (वह इस लिए कि) जैसे हे महाराज, बोधिसत्त्व का शरीर लक्षणों और अनुव्यञ्जनो से अलंकृत हैं, और जैसे अपने रङ्ग, तेज, यश, तथा शोभा से कुमार देवताओं और मनुष्यों से युक्त इस लोक को मात कर रहे है, (उससे जान पड़ता है कि) महाराज, बोधिसत्त्व निःसन्देह अनुत्तर सम्यक् संबोधि का अभिसंबोधन (= साक्षात्कार) करेंगे।

96....96 मूल, देवमनुष्यपूजितमहायज्ञयष्टः। भोट, ल्ह दङ् मिस् म्छोद् प, म्छोद् स्ब्यिन् छेन् पो हि. म्छोद् स्ब्यिन् ब्यस् प, = देवमनुष्यपूजितः। महायज्ञयष्टः। भोटानुसार मूल मे दो समस्तपद थे।

97....97. मूल, सुसमृद्धपुण्यनिचयनिस्सरणाभिप्रायो। भोट, ब्सोद् नम्स् क्यि छोगस् फुन् सुम् छोगस् प दङ् ल्दन् प। ह्ब्युङ् बहि ब्सम् चन्। = सुसमृद्धपुण्यनिचयो निस्सरणाभिप्राय.। भोटानुसार मूल में दो समस्तपद है।

49. इस प्रकार हे भिक्षुओ, देवपुत्र महेश्वर शुद्धावासकायिक देवपुत्रों के साथ बोधिसत्त्व की बडी पूजा एवं उपासना कर, तत्त्वव्याकरण (अर्थात् यथार्थ बात की व्याख्या) द्वारा होनहार बोधिसत्त्व का वर्णन कर फिर अपने भवन को लौट गए।

50. इस विषय में यह (गाथाओं द्वारा) कहा जाता है—

(शुद्धावासकायिक देवताओं द्वारा बोधिसत्त्व की पूजा)

(वसन्ततिलका छंद)

=91ख= जातस्य तस्य [98]गुणसागरपारगस्य[98]
ज्ञात्वा सुरेश्वरसुरद् ब्रुवते उदग्रः।
यस्या सुदु (र्) ल्लभ श्रवो वहुकल्पकोट्या
हन्तेथ तं व्रजम पूजयितुं मुनीन्द्रं ॥265॥

उन गुणों के समुद्र के पारगामी को उत्पन्न हुआ जान कर सुरेश्वर देवता ने प्रसन्न होकर कहा। बहुत कोटि कल्पों तक जिस (के नाम) का सुनना भी यहाँ दुर्लभ है, अहो, उस मुनीन्द्र को पूजने के लिए हम चलें।

परिपूर्णद्वादिशसहस्र मुरद् विशुद्धा
मणिरत्नचूडसमलंकृत ईर्यवन्तः।
कपिलाह्वयं पुरवरं समुपेत्य शीघ्रं
द्वारि स्थिता नरपतेः सुविलम्बचूडाः ॥266॥

पूरे-पूरे बारह सहस्र शुद्धावासकायिक देवता, ईर्यापथ से युक्त हो, अपनी चोटियां मणियों और रत्नो से अलंकृत कर, (उन) चोटियों को भलीभाँति लटकाए हुए, श्रेष्ठ कपिलवस्तु नगर में शीघ्र जा कर, राजा के द्वार पर खड़े हो गए।

(–114–) ते द्वारपालमवदन् सुमनोज्ञघोषाः
प्रतिवेदयस्व नृपते भवनं प्रविश्य।
दौवारिको वचन श्रुत्व गृहं प्रविष्टः
प्रह्व (:) कृताञ्जलिपुटो नृपति बभाषे ॥267॥

अत्यन्त मनोहर बोलने वाले उन-सब ने द्वारपाल से कहा कि महल में जा कर राजा से निवेदन करो। द्वारपाल (यह) यह वचन सुन कर महल के भीतर गया और नम्र हो एवं अंजलि बाँध राजा से कहा।

98····98. मूल, गुणसागर-सागरस्य। भोट, योन् तन् ग्र्यम् छो हि् फ रोल् फ्यिन् प, गुणसागरपारग। फलतः शुद्धपाठ गुणसागरपारगस्य होगा।

जय देव नित्यमनुपालय दीर्घमायुः
द्वारे भिथता विपुलपुण्यविशुद्धभासः ।
मणिरत्नचूडसुविभूषित ईर्यवन्तः
परिपूर्णचन्द्रवदना शशिनिर्मलाभाः ॥268॥

हे देव, नित्य जय हो । दीर्घ आयु का भोग करे । द्वार पर विपुल पुण्य के कारण विशुद्ध आभा वाले, मणियों एवं रत्नो से चोटियो को अलंकृत किए हुए, ईर्यापथ मे स्थित, परिपूर्ण चन्द्रमा के समान बदन वाले, एवं चन्द्रमा की जैसी निर्मल छवि के (बहुत से लोग) खड़े है ।

छायां न तेष नृपते क्वचिदप्यपश्यन्
शब्दं च नैव चरणोत्क्षिपणे शृणोमि ।
न च मेदिनीं विचरतो रजमुत्क्षिपन्ति
तृप्ति न यान्ति च जना [99]समुदीक्ष तां वै[99] ॥269॥

हे राजन्, उनकी परछाई कही न देखी । पैर उठाने पर पैरों की चाप न सुनी । धरती पर चलते हुए (वे) धूल नही उड़ाते । और उन्हे देख कर लोगों का मन नहीं भरता ।

कायप्रभा सुविपुला च विभाति तेषां
वाचा मनोज्ञ यथ नास्ति ह मानुषाणां ।
गम्भीरश्लक्ष्णसुशिला[100] च सुआकरा च
शङ्का हि मे सुरगणा न हि ते मनुष्याः ॥270॥

उनके शरीर की अत्यन्त विपुल प्रभा विशेष रूप से भा रही है । उनकी वाणी जैसी मनोहर, गंभीर, चिकनी, सुनने में प्रिय, तथा सुन्दर आकर की (अर्थात् खरी) है वैसी मनुष्यों की नही होती । मुझे संदेह है कि वे देवगण हैं, मनुष्य नही ।

वरपुष्पमाल्य अनुलेपनपट्टदामा
पाणी गृहीत्वन उदीक्षिषु गौरवेण ।
निस्संशयं नृपति द्रष्टु कुमारमेते=92क=
देवाधिदेव मरुतागत पूजनार्थं ॥271॥

99⋯99. मूल, समुदीक्षता वै । शुद्धपाठ, समुदीक्ष ता वै (=समुदीक्ष्य तान् वै) । तुलनीय भोट, दे दग् थोड् न, तान् दृष्ट्वा ।

100. सुशिला को बु० हा० मं० डि० मे सुशीला का अपभ्रंश माना गया है । भोट मे सूञन् प (=श्रव्य, प्रिय) शब्द से इस का अनुवाद हुआ है । संभवतः सुश्लीला का अपभ्रंश सुशिला है ।

श्रेष्ठ पुष्पों की मालाएँ, अनुलेपन (चन्दन आदि) तथा पट्टमालाएँ हाथ में लेकर (वे लोग) गौरव से प्रतीक्षा कर रहे हैं। हे राजन्, इसमें संदेह नहीं, ये सब देवता देवाधिदेव कुमार के दर्शन और पूजन के लिए आए हुए हैं।

राजा निशाम्य वचनं परमं उदग्रो
गच्छा भणाहि प्रविशन्तु गृहं भवन्तः।
(–115–) न हि मानुषाण इयमीदृश ऋद्धि काचि
यथ भाषसे च गुण तेष यथा च ईर्या ॥272॥

राजा बात सुन कर अत्यन्त प्रसन्न हो (बोला)। जाओ, बोल दो कि आप-सब महल के भीतर आ जाएँ। जिस प्रकार उनके गुणों तथा जिस प्रकार उनके ईर्यापथ को तुम कह रहे हो (उससे जान पड़ता है) इस प्रकार की कोई ऋद्धि मनुष्यों में नहीं होती।

दौवारिकः कृतपुटो मरुतैवमाह
प्रविशी भवन्त अनुज्ञातु नराधिपेन।
ते हृष्टतुष्टमनसो वरमाल्यहस्ता
गेहं प्रविस्ट नृपतेरमरालयं वा ॥273॥

द्वारपाल अंजलि बाँध कर देवताओं से यों बोला। आप-लोग भीतर जाएँ। राजा ने (आप-सब को) अनुज्ञा दे दी है। (तब) मन में हर्ष एवं संतोष से भर कर, हाथों मे श्रेष्ठ मालाएँ लिए हुए, वे अमरावती के समान राजमंदिर के भीतर गए।

दृष्ट्वा च तां सुरवरां प्रविशन्त गेहं
प्रत्युत्थितो नृपतिरञ्जलि संप्रगृह्य।
संविद्यन्त इम आसन रत्नपादा
अत्रा निषीदत भवन्ननुकम्प्य बुद्धेया ॥274॥

उन श्रेष्ठ देवताओं को घर के भीतर आते देख राजा अँजलि बाँध कर खड़े हो गए। (और बोले) ये रत्नों से जड़े पाए वाले आसन यहाँ विद्यमान हैं, हृदय से अनुकम्पा करके इन पर विराजें।

ते मानदर्पविगता स्थित आसनेषु
यस्यार्थि आगत इह नृपते श्रृणुष्व।
पुत्रस्तवातिपृथुपुण्यविशुद्धकायो
जातः सुजातचरणं वय द्रष्टुकामाः ॥275॥

अभिमान और अहंकार से रहित वे-सब आसनो पर बैठे। (और बोले) हे राजन्, जिस प्रयोजन के लिए यहाँ आना हुआ है, उसे सुनें। आपके यहाँ अत्यन्त

अधिक पुण्य के कारण विशुद्ध शरीर के पुत्र का जन्म हुआ है। हम-सब उन पुण्यजन्म वाले (बोधिसत्त्व) के चरणों के दर्शन करना चाहते है।

अस्मो विधिज्ञ वरलक्षणलक्षणज्ञा
येषां तथा भवति या गति यः प्रयोगः।
तत्साधु पार्थिववर प्रजहस्व खेदं
पश्याम लक्षणविचित्रविभूषिताङ्गं ॥276॥

(हम लोग) दैवज्ञ है (उन) श्रेष्ठ लक्षणों के चिह्नों को पहचानते हैं, जिनके वैसा (होने से) जो गति होती है और (जिसके साथ) जो योग होता है। इसलिए हे श्रेष्ठ राजन्, अच्छा हो, (आप) खिन्न न हों। (और हम उन) विचित्र लक्षणों से अलंकृत अंगों वाले (कुमार) के दर्शन करें।

स स्त्रीगणैः परिवृतो नृपतिः प्रहृष्टो
गृह्य कुमारमसमं ज्वलनार्चिवर्णं।
उपनामयन् सुरवरां सुविलम्बचूडां
द्वारात्तु = 92 ख = निष्क्रमतु कम्पित त्रिसहस्राः ॥277॥

वे राजा स्त्रीगणों से घिरे हुए, अत्यन्त आनन्दित हो, अग्निशिखा के जैसे रंग के अतुलनीय कुमार को लेकर, सुन्दरता से चोटियाँ लटकाए हुए श्रेष्ठ देवताओं के पास ले गए, (जिसके) द्वार से निकलते हुए (विश्वमंडल के) तीनों सहस्र कांप उठे।

(–116–) दृष्ट्वैव ते सुरवरा क्रम नायकस्य
ताम्रां नखां[101] विमलवर्ण[101]-विशुद्धतेजां।
ते उत्थिता त्वरितरूप विलम्बचूडा
मूर्ध्नाभिवन्दिषु क्रमां विमलप्रभस्य ॥278॥

वे श्रेष्ठ देवता नायक के चरणों को, ताम्बे के जैसे लाल, निर्मल रंग के और विशुद्ध तेज वाले नखों को देखते ही, हड़बड़ा कर चोटियाँ लटकाए हुए उठ खड़े हुए। (और उन्होंने) निर्मल प्रभा वाले (बोधिसत्त्व) के चरणों में सिर से वन्दना की।

101····101. मूल, विमलपत्र०। भोट, मदोग् द्रि मेद्, विमलवर्णा०।

यथ लक्षणा यथ च दर्शित लक्षिता[102] च
यथ पुण्यतेजि[103] शिरि मूर्धविलोकितं[104] च।
यथ इर्यनेत्र[105 106] विमलाप्रभ ऊर्णकोशा[106]
निःसंशयं स्पृशति बोधि विजित्य मारं ॥279॥

जैसे लक्षण है, और जिस प्रकार लक्ष्मी दीख पड़ती है, जैसा पुण्य तेज है, तथा शिर-मस्तक (उठा कर) अवलोकन है, जैसे ईर्या (=शिष्टाचार) से युक्त नेत्र है, तथा (जैसे) ऊर्णाकोश (भौहो के बीच की रोमावली) विमलप्रभा से युक्त है, (उससे जान पड़ता है कि ये) मारविजय कर सचमुच बोधिलाभ करेंगे।

ते तं स्तुवन्ति गुणभूत यथार्थदर्शी
ध्यायी गुणां विगतक्लेशतमोनुदस्य।
सुचिरेण सत्वरतनस्य हि प्रादुर्भावो
जातीजरामरणक्लेशरणंजहस्य ॥280॥

वे क्लेशों से रहित, (अज्ञान रूपी) अन्धकार के नाशक, (बोधिसत्त्व) के गुणों का ध्यान कर, उन यथार्थदर्शी सत्यगुण वाले (बोधिसत्त्व) की स्तुति करने लगे कि अति चिर काल के बाद जाति (=जन्म), जरा, मरण, तथा क्लेशो के रण का प्रहाण करने वाले सत्त्वरत्न का प्रादुर्भाव हुआ है।

आदीप्त सर्वत्रिभवं त्रिभिरग्नितप्तं
संकल्परागविषयारणिउच्छ्रितेन ।
त्वं धर्ममेघ त्रिसहस्र स्फरित्व धीरा
अमृतोदकेन प्रशमेष्यसि क्लेशतापं ॥281॥

संकल्प तथा राग के विषयों की अरणि के उत्पन्न तीन अग्नियो से तप-तप कर (ये) सब तीनो भव जल रहे हैं। हे धीर, तुम धर्ममेघ हो (सब ओर) छाकर अमृत (=मोक्ष) के जल से क्लेशो के ताप को शान्त करोगे।

102. मूल, दर्शित लक्षिता। भोट, ल्त ब द्पल् चन्, लक्ष्मीवद्दर्शनम्। मूल मे लक्षि लक्ष्मी का अपभ्रंश है।

103. भोट, ब्सोद् नम्स् ग्झि् ब्र्जिद्, पुण्यतेजः।

104. भोट, स्प्य (=मूर्ध) ग्चुग् म (मूर्ध) म्थोङ् (=विलोकितं) .

105. मूल में पाठ असमस्त है। भोट मे यह पाठ नही है।

106····106. भोट, म्जोद् स्पु नस नि ग्र्य छेन् ह्.ोद् ह्.ब्युङ्., विपुलप्रभ ऊर्णकोशः।

त्वं मैत्रवाक्य करुणान्वित, श्लक्ष्णवाक्य,
ब्रह्मस्वरारचितघोष, मनोज्ञवाणि ।
[107]त्रिसहस्त्र-आज्ञ, परिविज्ञपनी जगस्य[107]
क्षिप्तं प्रमुञ्च भगवन् महबुद्धघोषं ॥282॥

हे मैत्रमय वचन वाले, हे करुणा से युक्त, हे कोमल वचन वाले, हे ब्रह्मा के स्वर के समान घोष करने वाले, हे हृदयंगम वाणी वाले, हे त्रिसहस्र (विश्व-मण्डल) मे विज्ञात, हे जगत् को सब प्रकार से बोध कराने वाले, हे भगवन्, तुम शीघ्र महान् बुद्ध-घोष की घोषणा करो ।

भग्ना कुतीर्थिकगणा विपरीतदृष्टि:
[108]भवरागबन्धननिमग्न स्थिता भवाग्रे[108]।
(–117–) हेतु प्रतीत्य भव शून्य शुणित्व धर्मा
सिहस्य = 93 क = कोष्टुकगणेव पलायिनस्ते ॥283॥

विपरीत (दार्शनिक) दृष्टि वाले, भव-राग के बन्धन मे फँसे हुए, भव (–सागर) के (पार करने के लिए) किनारे पर खडे हुए, कुतीर्थिक-गण (अब) भग्न (ही) है । सिंह के (दिख जाने पर) शृगालों के झुंडो की भाँति वे हेतु के प्रत्यय से होने वाले (अतएव सब) धर्मो को शून्य सुन कर भाग पड़ने वाले है ।

भित्वा अविद्यपटलं महक्लेशधूमं
पर्युत्थिता जनतये नियत प्रकाशे ।
ज्ञानाचिप्रज्ञप्रभविद्युविलोकितेन
सर्वं जगे विधमये महदन्धकारं ॥284॥

सब ओर से (व्याकुलतावश) उठी जनता के (व्याकुल करने हारे) महाक्लेशों के घुएँ वाले अविद्या के परदे को भेद कर निश्चय से प्रकाश करने वाले ज्ञान-रूपी ज्वाला, प्रज्ञा-रूपी प्रभा, तथा विद्या-रूपी दृष्टि से (हे भगवन्) जगत् के घने अँधेरे को फूँक उड़ाएँ ।

107....107. मूल, त्रिसहस्र आज्ञपरिविज्ञपनी जगस्य । वु० हा० सं० डि० में इसे ही ठीक मान लिया है । भोट, स्तोङ् ग्सुम् कुन् तु गो शिङ् ह्ब्रोन गोर् ह्ग्युर् व । त्रिसहस्रविज्ञातम्, ज्यातः परिविज्ञापकम् ।
108....108. मूल, भवरागबन्धनिमग्नस्थिता भवाग्रे । भोट, स्रिद् प हि ह्दोद् छग्स् बचिङ्स् ब्यिङ्, भवरागबन्धननिमग्नाः स्रिद् प हि छुर् ग्नस् प, स्थिता भवाग्रे ।

लाभा सुलब्धं विपुला मरुमानुषाणां
यत्रोद्भवोऽद्भुत इहेदृशि शुद्धसत्त्वे ।
पिथिता अपायपथ स्फीत मरुत्पथानि
भेष्यन्ति सत्त्वरत्नेन विबोधकेन ॥285॥

जहाँ ऐसे अद्भुत शुद्धसत्त्व का जन्म हुआ है, (वहाँ) देवताओं और मनुष्यों को बहुत-बहुत लाभ सुलभ हुआ है । (इन) बोध करने वाले सत्त्वरत्न के द्वारा नरक-पथ बन्द हो जाएँगे तथा स्वर्ग-पथ खुल जाएँगे ।

वर्षित्व दिव्यकुसुमां कपिलाह्वयेऽस्मिन्
कृत्वा प्रदक्षिण स्तवित्व च गौरवेण ।
बुद्ध सुबुद्ध इति वाक्यमुदीरयन्तः
प्रकान्त ते सुरगणा गगणे सलीलाः ॥286॥इति॥[109]

कपिलवस्तु (नगर) मे दिव्य पुष्प बरसा कर, गौरव के साथ स्तुति कर, तथा प्रदक्षिणा कर, बुद्ध-सुबुद्ध इस प्रकार के वचनों को कहते हुए, वे देवता आकाश मे लीला के साथ चले गए । इति ।

॥ इति श्रीललितविस्तरे जन्मपरिवर्तो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

109. 193–286 गाथाओं की संस्कृत छाया देव शृणु हि मम भाषमाणाया यन्मतं मे ऽचिरम्, चिर-चिरेण जाता उद्यान (गमन) बुद्धिः । यदि च तव न रोषो नैव दोषो न मोहः क्षिप्रमहं व्रजेयं क्रीडोद्यानभूमिम् ॥193॥ त्वमिह तपसि खिन्नो धर्मचित्तप्रयुक्तो ऽहं च चिरं प्रविष्टा (= अभ्यन्तरे स्थिता) शुद्धसत्त्वं धारयन्ती । द्रुम-वराः प्रतिबुद्धाः फुल्लिताः शालवृक्षा युक्तं भवेद् देव गन्तुम् उद्यानभूमिम् ॥194॥ ऋतुः प्रवरो वसन्तो योषितां मण्डनीयो भ्रमरवरविघुष्टः कोकिलबर्हिगीतः । शुचिरुचिरविचित्रो भ्राम्यति (= उत्पतति) पुष्परेणुः साधुः देह्याज्ञा गच्छाम मा (भूत्) विलम्बः ॥195॥ वचनमिदं श्रुत्वा देव्याः पार्थिवेन्द्रस् तुष्टमुदितचित्तः पारिषद्यानवोचत् । हयगजरथपत्त्या वाहनानि योजयध्वं प्रवरगुणसमृद्धा लुम्बिनी मण्डयध्वम् ॥196॥ नीलगिरिनीकाशान् मेघवर्णानुबद्धान् विंशति च सहस्राणि योजयध्वं गजानाम् । मणिकनकविचित्रान् हेमजालोपगूढान् घण्टारुचिरपार्श्वान् षड्विषाणान् गजेन्द्रान् ॥197॥ हिमरजतनीकाशान् मुञ्जकेशान् सुकेशान् विंशति च सहस्राणि योजयध्वं हयानां । कनकरचितपार्श्वान् लम्बकिङ्किणीजालान् पवनजविनवेगान् वाहान् (वाहनानि-इति यथारुतं च्छाया) पार्थिवस्य ॥198॥ नरगणान् रणशौण्डान् शूरान् संग्रामकामान्

असिधनु:शरशक्तिपाशखड्गाग्रहस्तान् । विंशतिं च सहस्राणि योजयध्वं सुशीघ्रं ।। मायां सपरिवारां रक्षताप्रमत्ताः ।।199।। मणिकनकनिषिक्तां लुम्बिनी कारयध्वं विविधवसनरत्नैः सर्ववृक्षान् प्रवयत (= प्रावृतान् कुरुत) । विविधकुसुमचित्रं नन्दनमिव सुराणाम् ।। वदत च मम शीघ्रं सर्वमेतद् विधाय ।।200।। वचनमिदं निशम्य पारिषद्यैः क्षणेन वाहनानि कृतानि सज्जानि लुम्बिनी मण्डिता सा । पारिषद्य आह—जयँ जय हि नरेन्द्र, आयुः पालय दीर्घम्, सर्वं कृतं यथोक्तम्, कालं देव प्रतीक्षस्व ।।201।। स च वर-नरेन्द्रो हृष्टचित्तो भूत्वा वरगृहम् अनु (प्र) विष्टः स्त्रिय एवमाह । यस्या अहं मनःप्रियः या च मे प्रीतिकामा सा मे कुरुताम् आज्ञां मण्डयित्वा ऽऽत्मभावम् (= शरीरम्) ।।202।। वरसुरभिसगन्धीनि भावराणि विचित्राणि वसनानि मृदूनि मनोज्ञानि प्रावृणुत प्रमुदिताः (उदग्राः इति प्रमुदिता इत्यर्थे बौद्धसंस्कृत एव) । उरसि विगलितानां (= विलम्बितानां) मुक्तानां हारैः (अलंकृताः) भवति, आभरणविभूषां दर्शयताद्य सर्वाः ।।203।। तूणपणवमृदङ्गान् वेणुवीणामुकुन्दान् तूर्यशतसहस्राणि योजयध्वं मनोज्ञान् । भूयः कुरुत हर्षं देव कन्यानां यूयं श्रुत्वा मधुरघोषां देवता अपि स्पृहयेयुः ।।204।। एका रथवरेऽस्मिन् तिष्ठतु मायादेवी मा पुरुषः स्त्री चान्या तत्रारोहेत् । नार्यो विविधवर्मणः तं रथं वाहयन्ता मा प्रतिकूलं मा ऽमनोज्ञं च शृणुयात् ।।205।। हयगजरथपत्ति सैन्यं श्रीमद् विचित्रं द्वारि स्थितं नृपस्य श्रूयते उच्चघोषः क्षुभितजलनिधेरिव श्रूयते (सैष) एव शब्दः । माया यदा गृहतो निर्गता द्वारमूलं घण्टाशतसहस्राणि ताडितानि मङ्गलार्थं ।।206।। स च रथो विचित्रो मण्डितः पार्थिवेन, अपि चामर-सहस्रैर्दिव्यसिंहासनैः । चत्वारो रत्नवृक्षाः पत्रपुष्पोपपेता अभिनदिता मनोज्ञं हंस-क्रौञ्चा मयूराः ।।207।। छत्रध्वजपताकाश्चोच्छ्रिता वैजयन्त्यः किङ्किणी-वरजालैश्छादितं दिव्यवस्त्रैः । अमरवध्वो गगने (ननु गगने ऽस्मिन्) तं रथं प्रेक्षन्ते दिव्यमधुरघोषं श्रावयन्त्यः स्तुवन्ति ।।208।। उपविशति यदा सा माया सिंहासनाग्रे (= सिंहासनस्योपरि) प्रचलिता त्रिसाहस्रा मेदिनी षड्विकारं । पुष्पाण्यमरा अक्षैप्सुः, अम्बराणि-अविभ्रमन्, अद्य जगतः श्रेष्ठो जायते लुम्बिन्याम् ।।209।। चत्वारो जगत. पालाः (= लोकपालाः) तं रथं वहन्ते त्रिदशपतिरपीन्द्रो मार्गशुद्धि करोति । ब्रह्मा पुरतो ऽगच्छत् दुर्जनान् वारयन्, अमरशतसहस्राणि प्राञ्जलीनि नमन्ति ।।210।। नृपतिर्मुदितचित्तो वीक्षते तं व्यूहं तस्य भत्येवं व्यक्तमयं देवदेवः । यस्य चत्वारः पाला ब्रह्मा सेन्द्राश्च देवाः कुर्वते विपुलां पूजां व्यक्तमयं बुद्धो भविता ।।211।। नास्ति त्रिभवे सत्त्वो यः सहेत पूजामेता देवो ऽथ च नागः शक्रो

ब्रह्मा च पालः। मूर्धा तदा फलेत् जीवितं चास्य नश्येद् अयं पुनरतिदेवः सर्वपूजां सहते ॥212॥ शुभविमलविशुद्धप्रभाणां चन्द्रसूर्यप्रभाणां षष्टिदश-सहस्राणि देवाप्सरसां मञ्जुघोषस्वराणाम्। तस्मिन् क्षणे उपेत्य तां लुम्बिनी मायादेवीमब्रुवन् मा खलु जीजनो विषादं तुष्टा भव-उपस्थायिकास् (=सेविकास्) ते वयम् ॥213॥ वद हि किं करणीयं किं कुर्महे केन कार्यं च ते वयं तव सुसमर्थोपस्थायिकाः प्रेमभावस्थिताः। अपि च भव-उदग्रा (=आनंदिता) हर्षान्विता मा च खेदं जीजनो जरामरणविघातिनं वैद्योत्तमं अद्य देवी अजीजनो लघु (=क्षिप्रं) ॥214॥ यथा द्रुमाः परिफुल्लाः संपुष्पिता शालवृक्षा इमे यथा चामराः सहस्राणि पार्श्वे स्थिताः भ्रामयन्तो भुजान् यथाचाचालीद् ससगरा मेदिनी षड्विकारा इयं दिवि भुवि च विघुष्टं लोकोत्तरं त्वम् अजीजनः सुतं ॥215॥ यथा च प्रभा विशुद्धा विभ्राजते स्वर्णवर्णा शुभा तूर्यशतानि मनोज्ञानि चाघट्टितानि घुष्यन्तेऽम्बरे। यथा च शतसहस्राणि शुद्धाः शुभा वीतरागाः सुराः अनंसिषुर् मुदितचित्ता अद्याजीजनः सर्वलोके हितम् ॥216॥ शक्रोऽपि च ब्रह्मा (लोक) पाला अपि चान्या च या देवतास् तुष्टा मुदितचित्ताः पार्श्वे स्थिता नमयन्त्यो भुजान्। स च पुरुषसिंहः शुद्धव्रतो भित्त्वा कुक्षिं निर्धावितः कनकगिरि-निकाशः शुद्धव्रतो निरक्रमीन्नायक. ॥217॥ शक्रोऽपि च ब्रह्मा तौ पाणिभ्यां संप्रत्यैच्छतां मुनिं, क्षेत्राणि सहस्राणि संकम्पितानि, आभा मुक्ता शुभा। अपि च त्रिषु अपायेषु (=नरक प्रेततिर्यक्षु) सत्त्वाः सुखिनः, नास्ति दुःखं पुनर् अमराः शतसहस्राणि पुष्पाण्यक्षैप्सुः भ्रामयन्तोऽम्बराणि ॥218॥ वीर्यबलोपेतो वज्रात्मिका मेदिनी संस्थिता पद्मो रुचिरचित्रो ऽभ्युद्गतो यत्र पद्भ्यां स्थितो नायकः, सप्त पदानि क्रान्त्वा ब्रह्मस्वरो ऽमुचद् घोषोत्तमं जरामरणविघाती वैद्योत्तमो भविष्यामि सत्त्वोत्तमः। गगनतले स्थित्वा ब्रह्मोत्तमः शक्रो देवोत्तम. शुचिरुचिरप्रसन्नगन्धोदकैर् व्यसिस्नपद् नायकम्, अपि चोरगराजौ शीतोष्णे द्वे वारिधारे शुभे व्यमुञ्चताम् अन्तरिक्षे स्थितौ अमराः शतसहस्राणि गन्धोदकैर् व्यसिस्नपन् नायकं लोकपालाश्च संभ्रान्ता संधारयन्ति करैः शोभनैः ॥219॥ दण्ड-कच्छन्दः ॥ त्रिसहस्रेयं भूमिः कम्पते (स्म) सचराचरा। प्रभा च रुचिरा मुक्ता, अपायाश्च विशोधिताः क्लेशा दुःखाश्च ते शान्ता जाते लोकविनायके ॥220॥ क्षिपन्ति मरुत. पुष्पाणि जातेऽस्मिन् नरनायके क्रमान् सप्तपदान् वीरः क्रमते (स्म) बलवीर्यवान् ॥221॥ पादौ निक्षिपते यत्र भूमौ पद्मवराः शुभाः। अभ्युद्गच्छंस्ततो मह्यां सर्वरत्नविभूषिताः ॥222॥ यदा सप्तपदानि

गत्वा ब्रह्मस्वरम् उदाहार्षीत् जरामरणविघातीमिपग्वर इवोद्गतः ।।223।। व्यवलोक्य च विशारदो दिशस् ततो गिरं मुञ्चत्यर्थयुक्तां । ज्येष्ठोऽहं सर्वलोकस्य श्रेष्ठो लोके विनायकः, इयं च जातिर्मम पश्चिमे (ति) ।।224।। हास्यं च मुक्तं नरनायकेन सलोकपालैरमरैश्च सेन्द्रैः । प्रसन्नचित्तैर्वरगन्धवारिभिः संस्कारितोलोकहितार्थकारी ।।225।। अपि चोरगेन्द्रैः सहिताः (ते इति शेषः) समग्रैर् गन्धोग्रधाराविसरैर् असिस्नपन् अन्येऽपि देवा नयुतानि अन्तरिक्षे ऽसिस्नपन् गन्धाग्रैर् जिनं स्वयंभुवं ।।226।। श्वेतं च विपुलं छत्रं चामरे च शुभे ऽम्बरे (गृहीत्वा इतिशेषः) । अन्तरिक्षे गता देवाः स्नपयन्ति (स्म) नरर्षभम् ।।227।। पुरुषस्त्वरितो गत्वा शुद्धोदनमब्रवीत् हर्षितो, वृद्धिर्विपुला, जातो देव सुतो भूषितो लक्षणैः । महाकुलरत्नस्य (वृद्धिर्भूता) व्यक्तोऽसौ ॰चक्रवर्तीश्वरः, न च भवेत् प्रतिशत्रुर् जम्बुध्वजे एकच्छत्रो भवेत् ।।228।। द्वितीयः पुरुषो गत्वा (राजानम्) शुद्धोदनं, श्लेषित्वा (=शिल्ष्ट्वा) क्रमौ (चरणौ) (आह-इति शेषः) वृद्धिर्विपुला जातो नृपः शाक्यानां कुले । पञ्चविंशतिसहस्राणि जाताः सुताः शाक्यानां गृहे सर्वे बलोपेताः नग्नाः (=नगणाः) समा दुष्प्रधर्षाः परैः ।।229।। अपरः पुरुष आह देव शृण्वानन्दशब्दं मम छन्दकप्रमुखाणि चेटीसुतानां (यथारुतं तु चेटीसुताः इति प्रथमैव) जातन्यष्टौ शतानि । अपि च दसहस्राणि जाता हयाः कण्ठकस्य सखायस् तुरगवरप्रधाना हेमप्रभा मञ्जुकेशा वराः ।।230।। विंशतिश्च सहस्राणि पर्यन्तकाः कोट्टराजास्तथा नृपते (तव) क्रमतले (=चरणतले) नत्वा क्रमिपुः, .(आहुश्चेति शेषः) साधु देव जय । आज्ञा खलु देहि (क्व) गच्छाम किं वा करवाम नृप, त्वमिह वशितां (=ऐश्वर्यम्) प्राप्तः, भृत्या वयम्, भर्तृदेव, जय ।।231।। विंशतिश्च सहस्राणि नागोत्तमा हेमजालोज्वलास् त्वरितमुपागमन् राज्ञो गृहं गर्जन्तो नभसि (नभसः इति भोटानुसारम्) । कृष्णशबलाः वत्सा गोप्रमुखाः जाताः (=प्रसूताः) षष्टिशतानि, इयमपि (प्र) सूते देव देवोत्तमे वृद्धिः राज्ञो गृहे ।।232।। अपि च नृपते गच्छ प्रेक्षस्व स्वयं सर्वान् एव प्रभो पुण्यतेजः प्रभस्य । नरमरुतः सहस्राणि ये हर्षिता दृष्ट्वा जातस्य गुणान् बोधिं वरामशोकां संप्रस्थितः क्षिप्रं भवेज्जिनः (=अपि च नृपते प्रभो) गच्छ पुण्यतेजप्रभस्य जातस्य गुणान् दृष्ट्वा ये सहस्राणि नरमरुतो हर्षिताः तान् सर्वानेव स्वयं पश्य । अशोकां वरां बोधिं संप्रस्थित. सः क्षिप्रं जिनो भवेत्—इत्यन्वयः) ।।233।। × × × × × × ।। अपायाश्च यथा शान्ताः सुखि सर्वं यथा जगत् । ध्रुवं सुखावहो जातः सुखे स्थापयिता जगत्

॥234॥ यथा वितिमिरा चाभा, रविचन्द्रसुरप्रभाः अभिभूता न भासन्ते ध्रुवं पुण्यप्रभोद्भवः ॥235॥ पश्यन्त्यनयना यद्वच् छ्रोत्रहीनाः शृण्वन्ति च। उन्मत्तकाः स्मृतिमन्तो भविता लोकचैत्यः ॥236॥ न बाधन्ते यथा क्लेशा जातं मैत्रजनं जगत्। निःसंशयं ब्रह्मकोटीनां भविता पूजनार्हः ॥237॥ यथा संपुष्पिताः शाला मेदिनी च समा स्थिता ध्रुवं सर्वजगत्पूज्यः सर्वज्ञोऽयं भविष्यति ॥238॥ यथा निराकुलो लोको महापद्मोद्भवो यथा (यथाश्तम्-महापद्मो यथोद्भवः इति अत्र यथा इत्यनेन व्यवधानं समासे)। निः संशयं महातेजा लोकनाथो भविष्यति ॥239॥ यथा च मृदुका वाता द्वियगन्धोपवासिताः। शमयन्ति व्याधिं सत्वानां वैद्यराजो भविष्यति ॥240॥ वीतरागा यथा चेमे रूपधातौ मरुच्छतानि। कृताञ्जलि नमस्यन्ति दक्षिणीयो भविष्यति ॥241॥ यथा च मनुजा देवान् देवाः पश्यन्ति मानुषान्। हिंसन्ति न चान्योन्यं सार्थवाहो भविष्यति ॥242॥ यथा च ज्वलनः शान्त. सर्वा नद्यश्च विष्ठिताः। सूक्ष्मं च कम्पते भूमिर्भविता तत्त्वदर्शकः ॥243॥ × × × × × × × × × ॥ वन्दितस्त्वं सुरैः सेन्द्रैर् ऋषिभिश्चासि पूजितः। चैत्यं सर्वस्य लोकस्य वन्देऽहमपि त्वां विभो ॥ (तत्समैवात्रभाषा) 244॥ × × × × × × × × ॥ दृष्ट्वा देवगणान् नभस्तलगतान् बुद्धश्रवोद्गारिणो देवर्षिरसितोऽद्रिकन्दरगतः प्रीतिं परां प्राप्तवान्। बुद्धो नाम पदं (=बुद्ध इतिपदं) किमेतदिह भो हर्षावहं प्राणिनां प्रल्हादं मम काय एति (=मम कायः-प्रल्हादं एति-प्राप्रोति) सुखितं शान्तं च चित्तं परम् ॥245॥ किं देवस्त्वसुरोऽथवापि स भवेद् गरुडोऽथवा किनरो बुद्धो नाम किमेतदश्रुतपदं प्रीतिकरं मोदनम्। द्वियया चक्षुषा प्रेक्षते (स्म) दश दिशः शैलान् मही सागरान् भूयः पश्यति चाद्भुतं बहुविधं भूमौ गिरौ (=गिरिषु) सागरे (=सागरेषु) ॥246॥ इतः पर पद्यं तत्सममेव ॥247॥ भूमिर्भाति यथा च पाणि (–तल–) सदृशी सर्वा समा निर्मला देवाश्चैव यथा प्रहृष्टमनसः खे भ्रामयन्ति-अम्बराणि। यद्वत् सागरे नागराजनिलये रत्नानि प्लवन्तेऽद्भुतानि सुव्यक्तं जिनरत्नस्य जम्बूनिलये (=जम्बूद्वीपे) धर्माकिरस्योद्भवः ॥248॥ यद्वच्छान्ता अपाया दुःखविगताः सत्त्वाश्च सौख्यान्विता यद्वद्देवगणा नभस्तलगता गच्छन्ति हर्षान्विताः। यथा च स्निग्धं रवं मनोज्ञं शृणुयाद् दिव्यानां संगीतीनाम् रत्नस्येव प्रादुर्भावस् त्रिभवे यस्य निमित्तानि-इमानि ॥249॥ असितः प्रेक्षते जम्बूसाह्वयमिमं दिव्येन वै चक्षुषा सोऽद्राक्षीत् कपिलाह्वये पुरवरे शुद्धोदनस्यालये। जातो लक्षणपुण्यतेजोभरितो नारायणस्यामवान्

दृष्ट्वा चात्तमना उदयग्रमनाः (= मनसि हृष्टः मनसि तुष्टः) स्थामम् अस्य संवर्धितम् ॥250॥ उद्युक्तस्त्वरितोऽतिविस्मितमनाश्चासौ स्वशिष्यान्वित आगत्य कपिलाह्वयं पुरवरं द्वारि स्थितो भूपतेः। अनुबद्धानि बहुप्राणिकोटिनयुतानि दृष्ट्वार्षिजीर्णकोऽवोचत् सारथिं राज्ञ (आ) वेदय लघु द्वारि ऋषिस्तिष्ठति ॥251॥ श्रुत्वा चाशु प्रविश्य राजभवनं राज्ञस्तमाख्यातवान् द्वारि देव तपस्वी तिष्ठति महान् जीर्ण ऋषिर्जर्जरः। स चाप्यभिन्दत ऋषिवरः प्रवेष्टुं राज्ञो गृहम् आज्ञा दीयता तावत् पार्थिववर ददामि प्रवेशं न वा ॥252॥ स्थापयित्वा चासनमस्य चाह नृपतिर्गच्छ प्रवेशं देहि, असितः सारथिवाक्यं श्रुत्वा मुदितः प्रीत्या सुखेनान्वितः। शीतं वारि यथाभिकांक्षी (भवति) तृषितो बुभुक्षार्दितश् (= बुभुक्षया पीडितश्चेति यावत् ।) चाशनं तद्वत् सुख्याभिनन्दित ऋषिवरस्तं द्रष्टु सत्त्वोत्तमम् ॥253॥ जय भोः पार्थिव-इत्युवाच मुदितश्चायुश्चिरं पालय वृद्धिं कृत्वा निषीद (यथारुतं तु निषण्णो भव) दान्तमनाः शान्तेन्द्रियः सूनृतः। राजा वा अभिवाद्य तं सुनिभृतं प्रोवाच किं कारणम् आगमस्तव पार्थिवेन्द्रनिलये तद् ब्रूहि शीघ्रं मुने ॥254॥ पुत्रस्ते वररूपः पारमितां गतो जातो महातेजोवान् द्वात्रिंद्वरलक्षणैः कवचितो नारायणस्थामवान्। तं द्रष्टुं हि ममेप्सित नरपते सर्वार्थसिद्धं शिशुम् इत्यर्थं समुपागतोऽस्मि नृपते नास्त्यन्यत् कार्यं मम ॥255॥ साधु स्वागतम्, याचसे किल, इतः प्रीतोऽस्मि ते दर्शनाद् एषोऽसौ शयितः कुमारो वरद द्रष्टुं न शक्योऽधुना। साधु तावन्मुहूर्तमागमयस्वेह या (व) द् दक्ष्यसि निर्मलं चन्द्रं वै यथा पूर्णमास्यां विमलं तारागणैर्मण्डितम् ॥256॥ यदा चासौ प्रतिबुद्धः सारथिवरः परिपूर्णचन्द्रभस्तदा राजा प्रतिगृह्य वह्निवपुषं सूर्यातिरेकप्रभम्। हन्त पश्य ऋषे, नृदेवमहितं हेमाग्रबिम्बोपमम् असितो दृष्ट (वाश्) च तस्य तौ सुचरणौ चक्राङ्कितौ शोभनौ ॥257॥ प्रत्युत्थाय ततः कृताञ्जलिपुटश्चरणौ स वन्दतेऽङ्के गृहीत्वा महात्मा शास्त्रकुशलो निध्यायन् प्रेक्षते। सोऽपश्यद् वरलक्षणैः कवचितं नारायणस्थामवन्तं शीर्षं कम्पयित्वा स वेदशास्त्रकुशलो द्वे तस्यापश्यद् गती ॥258॥ राजा वा भवेत् चक्रवर्ती बलवान् बुद्धो वा लोकोत्तमो बाष्पांस्त्यक्तवान् सुदीनकायमना गम्भीरं निश्वस्य च। उद्विग्नश्च बभूव पार्थिववरः किं ब्रह्मणो रोदिति मा विघ्नं खलु पश्यत्ययमसितः सर्वार्थसिद्धस्य मे ॥259॥ भूतं व्याहर किंनु रोदिषि ऋषे श्रेयोऽथ किं पापकं पाप नास्ति न चान्तराय इह भोः सर्वार्थसिद्धस्य ते। आत्मानं बहु शोचामि नरपते जीर्णोऽस्मि यज्जर्जरो यदायं भविष्यति बुद्धो लोकमहितो धर्मं यदा वक्ष्यति ॥260॥ न द्रक्ष्याम्यहं

लब्धप्रीतिमना इत्यर्थं रोदिम्यहम्, यस्य काये भवन्ति लक्षणानि वराणि द्वात्रिंशन्निर्मलानि। द्वे तस्य गती नान्या तृतीया जानीष्वैवं नृप राजा वा भवेच्चक्रवर्ती बलवान् बुद्धोऽथ लोकोत्तमः ॥261॥ नायं कामगुणैरर्थिकः पुनः बुद्धोऽयं भविष्यति श्रुत्वा व्याकरणमृषेः स नृपतिः प्रीतिसुखं लब्धवान्। प्रत्युत्थाय ततः कृताञ्जलिपुटश्चरणावसौ वन्दते देवैस्त्वं स्वामिपूजितः सुबलवान् ऋषिभिश्च संवर्णितः ॥262॥ वन्दे त्वां वरसार्थवाह त्रिभवे सर्वस्मिन् जगति पूजितम्। असितः प्राह च भागिनेयं मुदितः संश्रूयतां भाषमाणस्य (मे) बुद्धा बोधिर् (इति) यदा शृणोषि जगति (प्र) वर्तयति चक्रं ह्ययं (तदा) शीघ्रं प्रव्रज शासनेऽस्य मुने तत् प्राप्स्यसि निर्वृतिम् ॥263॥ वन्दित्वा चरणौ ह्यसौ मुनिवरः कृत्वा च प्रदक्षिणां लाभास्ते नृपते सुलब्धा विपुला यस्येदृशस्ते सुतः। एष लोकं सदेवकं समनुजं धर्मेण तर्पयिष्यति निष्क्राम्यन् कपिलाह्वयादृषिवरोऽरण्ये स्थितः स्वाश्रमे ॥264॥ इति ॥

जातस्य तस्य गुणसागरपारगस्य ज्ञात्वा सुरेश्वरो मरुद् ब्रूते—उदग्रः। यस्य सुदुर्लभश्रवो बहुकल्पकोट्या हन्तेह तं व्रजाम पूजयितुं मुनीन्द्रम् ॥265॥ परिपूर्णद्वादशसहस्राणि मरुतो विशुद्धाः मणिरत्नसमलंकृतचूडा ईर्यावन्तः। कपिलाह्वयं पुरवरं समुपेत्य शीघ्रं द्वारि स्थिता नरपतेः सुविलम्बचूडाः ॥266॥ ते द्वारपालमवदन् सुमनोज्ञघोषाः प्रतिवेदयस्व नृपतेर्भवनं प्रविश्य। दौवारिको वचनं श्रुत्वा गृहं प्रविष्टः प्रह्वः कृताञ्जलिपुटो नृपतिं बभाषे ॥267॥ जय देव नित्यमनुपालय दीर्घमायुर्द्वारि स्थिता विपुलपुण्यविशुद्धभासः। मणिरत्नसुविभूषितचूडा ईर्यावन्तः परिपूर्णचन्द्रवदनाः शशिनिर्मलाभाः ॥268॥ छायां न तेषां नृपते क्वचिदप्यपश्यम्, शब्दं च नैव चरणोत्क्षेपणे शृणोमि। न च मेदिनी विचरन्तो रज उत्क्षिपन्ति तृप्तिं न यान्ति च जना समुदीक्ष्य तान् वै ॥269॥ कायप्रभा सुविपुला च विभाति तेषां वाग् मनोज्ञा यथा नास्ति ह मानुषाणाम्। गंभीरलक्षणसुरलीला च स्वाकरा च शङ्का हि मे सुरगणा न हि ते मनुष्याः ॥270॥ वरपुष्पमाल्यानि—अनुलेपनपट्टदामानि पाणौ गृहीत्वा-उदैक्षिषत गौरवेण। निस्संशयं नृपते द्रष्टुं कुमारमेते देवाधिदेवं मरुत आगताः पूजनार्थम् ॥271॥ राजा निशम्य वचनं परमम् उदग्रः (= प्रसन्नः) गच्छ, वद प्रविशन्तु गृहं भवन्तः। न हि मानुषाणामियमीदृशी-ऋद्धिः काचिद् यथा भाषसे च गुणांस्तेषां यथा चेर्याम् ॥272॥ दौवारिकः कृतपुटो मरुत एवमाह प्रविशेयुर्भवन्तो ऽनुज्ञाता नराधिपेन। ते हृष्टतुष्टमनसो वरमाल्यहस्ता गेहं प्रविष्टा

नृपतेरमरालयमिव ॥273॥ दृष्ट्वा च तान् सुरवरान् प्रविशतो गेहे प्रत्युत्थितो नृपतिरञ्जलिं संप्रगृह्य। संविद्यन्ते इमान्यासनानि रत्नपादानि अत्र निषीदत भवन्तो ऽनुकम्प्य बुद्ध्या ॥274॥ ते मानदर्पविगता स्थिता आसनेषु-यस्यार्थे-आगता इह नृपते शृणुष्व। पुत्रस्तवातिपृथुपुण्यविशुद्धकायो जातः सुजातचरणौ वयं द्रष्टुकामाः ॥275॥ स्मो विधिज्ञा वरलक्षणलक्षणज्ञा येषां (सतां) भवति या गतिर्यः प्रयोगः। तत्साधु पार्थिववर प्रजहीहि खेदं पश्याम विचित्रलक्षणविभूषिताङ्गम् ॥276॥ स स्त्रीगणैः परिवृतो नृपतिः प्रहृष्टो गृहीत्वा कुमारमसमं ज्वलनार्चिर्वर्णम्। उपानामयत् (=उपानयत्) सुरवरान् सुविलम्बचूडान् द्वारात्तु निष्क्राम्यतः कम्पितानि त्रिःसहस्राणि ॥277॥ दृष्ट्वैव ते सुरवराः क्रमौ (=चरणौ) नायकस्य ताम्रान् नखान् विमलवर्णविशुद्धतेजसः। त उत्थिता त्वरितरूपा विलम्बचूडा मूर्ध्नाभ्य-वन्दिषत क्रमौ (=चरणौ) विमलप्रभस्य ॥278॥ यथा लक्षणानि यथा च दर्शितक्ष्मीवत्वं च यथा पुण्यतेजः श्रीर्मूर्धविलोकितं च। यथा ईर्या नेत्रे विमलप्रभ ऊर्णाकोशो निःसंशयं स्पृशति बोधिं विजित्य मारम् ॥279॥ ते त स्तुवन्ति गुणभूतं (=भूतगुणं=सत्यगुणं) यथार्थदर्शिनं ध्यात्वा गुणान् विगतक्लेशतमोनुदस्य सुचिरेण सत्त्वरत्नस्य हि प्रादुर्भावो जातिजरामरण-क्लेशरणहानकरस्य ॥280॥ आदीप्तं सर्वत्रिभवं त्रिभिरग्निभिस्तप्तं संकल्प-रागविषयारण्युच्छ्रितैः। त्वं धर्ममेघः त्रिसहस्राणि स्फरित्वा धीर, अमृतोदकेन प्रशमयिष्यसि क्लेशतापम् ॥281॥ त्वं मैत्रवाक्य करुणान्वित श्लक्ष्णवाक्य ब्रह्मस्वरारचितघोष मनोज्ञवाणे। त्रिसहस्राज्ञात परिज्ञापनं जगतः क्षिप्रं प्रमुञ्च भगवन् महाबुद्धघोषम् ॥282॥ भग्नाः कुतीर्थिकागणा विपरीत-दृष्टयो भवरागबन्धननिमग्नाः स्थिता भवाग्रे। हेतुं प्रतीत्य भवान् (=उत्पन्नान्) शून्यान् श्रुत्वा धर्मान् सिंहस्य (दृष्टस्य) क्रोष्टृगणा इव पला-यिनस्ते ॥283॥ भित्त्वा ऽविद्यापटलं महाक्लेशधूमं पर्युत्थिताया जनताया नियतं प्रकाशेन (=प्रकाशकेन) ज्ञानार्चिः प्रज्ञाप्रभाविद्याविलोकितेन सर्वं जगति विधमेद् महदन्धकारम् ॥284॥ लाभाः सुलब्धा विपुला अमर-मानुषाणां यत्रोद्भवो ऽद्भुतस्य इहेदृशस्य शुद्धसत्त्वस्य। पिहिता अपायपथाः स्फीता मरुत्पथा भविष्यन्ति सत्त्वरत्नेन विबोधकेन ॥285॥ वर्षयित्वा दिव्यकुसुमानि कपिलाह्वये कृत्वा प्रदक्षिणां स्तुत्वा च गौरवेण। बुद्धसुबुद्ध— इति वाक्यमुदीरयन्तः प्रक्रान्ता ते सुरगणा गगने सलीलाः ॥286॥ इति ॥

॥ ८ ॥

॥ दैवकुलोपनयनप रिवर्त ॥

मुद्रित ग्रन्थ 117 (पंक्ति 16)–120 (पंक्ति 22)
भोटानुवाद 93क (पंक्ति 5)–95ख (पंक्ति 1)

॥ ८ ॥

॥ देवकुलोपनयनपरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओ, इस प्रकार जिस रात को बोधिसत्व का जन्म हुआ, उसी रात में महाशाल-कुल[1] (अर्थात् बड़े-बड़े घर के कुलीन) ब्राह्मण-क्षत्रिय, नैगम[2] (=नागरक=रईस) तथा गृहपति (सेठ) लोगों के यहाँ बीस हजार कन्याओं का जन्म हुआ। और उन सबको उनके माता-पिताओं ने बोधिसत्व की पूजा-सेवा के लिए दिया। और राजा शुद्धोदन ने बीस हजार कन्याएँ बोधिसत्व की सेवा-पूजा के लिए दी। और बीस हजार कन्याएँ मित्रों ने, अमात्यों ने, (-118-) अपनी जाति के लोगों ने, तथा सगे-कुनबे के लोगों ने बोधिसत्त्व की =93ख=सेवा-पूजा के लिए दीं। और अमात्यों के पार्षदों ने अर्थात् अमात्यों की मंडली मे बैठने वाले लोगों ने बीस हजार कन्याएँ बोधिसत्त्व की सेवा-पूजा के लिए दीं।

2. और हे भिक्षुओं, उस समय बड़े-बूढ़े शाक्य इकट्ठे होकर राजा शुद्धोदन के पास जाकर बोले। हे देव, (आपको) विदित हो (कि अब) कुमार को देवकुल ले जाना चाहिए। राजा बोले। अच्छा, कुमार को ले जाना है, तो नगर को सजाओ, वीथियों (=मार्गों), चत्वरों (=चौराहों), शृंगाटकों (=तिराहों), [3]रथ्याओं (=दोनों ओर घर से युक्त मार्गो) तथा अन्तरापणों (अर्थात् नगर के मध्य में बने बाजारों) के प्रवेश द्वारों[3] को सुशोभित करो। मङ्गल (=शुभ-शकुन) के अयोग्य काने-कुबड़े, अंधे-बहरे, गूँगे, टेढ़े-मेढ़े अंग वाले, बिना रूप के, तथा अपूर्ण इन्द्रियों से युक्त लोगों को हटा दो। मंगल (वस्तुओं)

1. मूल, ०महासालकुलेषु। भोट, रिग्स् शिङ् स ल छेन् पो नंम्स् सु, महासाल-वृक्षसदृशकुलेषु। वस्तुतः ०महासालकुलेषु (=महाशालकुलेषु) में साल शब्द शाला का समासान्तर्गत रूप है न कि शाल (सालवृक्ष) का।
2. मूल, ०नैगम० भोट में नही है।
3....3. मूल, वीथिचत्वरशृङ्गाटकान्तरापणरथ्यामुखानि। भोट, वीथिचत्वर-शृङ्गाटकान्तरापणानि (स्रङ् दङ्, लम्ग्यि बशि म्दो दङ्, म्दो सुम् दङ्, छोङ् ह्दुस् दग् नि)। द्रष्टव्य परिवर्त 7, टिप्पणी 6। वहाँ मुख का समास रथ्या से न करके अन्तरापण से किया गया है।

को लाओ। पुण्य-भेरियाँ बजने दो। मंगल-घंटे घनघनाने दो। श्रेष्ठ नगर के द्वारों को अलंकृत करो। अत्यन्त मनोहर झाँझ-मृदङ्ग बजवाओ। अब अटवियों के राजाओं को एकत्रित करो। सेठ, गृहपति, अमात्य, द्वारपाल, तथा (राजकीय) बैठक में बैठने वाले राजदरबारी लोग इकट्ठे हों। कन्याओं के (बैठने योग्य) रथ जुत जाएँ। जल से भरे कलश रख दिये जाएँ। वेदपाठी ब्राह्मण एकत्रित किये जाएँ। देवकुल अलंकृत कर दिए जाएँ।

3. हे भिक्षुओ, इस प्रकार जैसा-जैसा (राजा ने) पूर्वोक्त रीति से कहा वैसा-वैसा सब कर दिया गया। तब =94क= राजा शुद्धोदन अपने भवन में प्रवेश कर, महाप्रजापती गौतमी को संबोधन कर, यों कहा—कुमार को अलंकृत करो, (उन्हे) देवकुल ले जाना होगा। अच्छा, यह कह कर महाप्रजापती गौतमी कुमार को अलंकृत करने लगी।

4. तदनन्तर अलंकृत किए जाते हुए कुमार ने विना भृकुटि चढ़ाए, हँसी-मुख से, अत्यन्त मीठी बोली मे मौसी से पूछा। अम्मा, मुझे कहाँ ले जाया जायगा? (मौसी ने) उत्तर दिया। पुत्र (तुम्हे) देवकुल (ले जाया जाएगा)। तदनन्तर हसमुख कुमार मुसकराते हुए मौसी से गाथाओ मे बोले—

(बोधिसत्त्व का मातृष्वसा से कथन)

(वसन्ततिलका छन्द)

जातस्य मह्यमिह कम्पित त्रिसहस्रं
शक्रश्च ब्रह्म असुराश्च महोरगाश्च।
(–119–) चन्द्रश्च सूर्य तथ वैश्रवण (:) कुमारो
मूर्ध्ना क्रमेषु निपतित्व नमस्ययन्ति ॥287॥

यहाँ मेरे जनमते त्रिसाहस्र-लोकधातु काँप उठे थे। इन्द्र ब्रह्मा, असुरगण, महानाग-गण, चन्द्र सूर्य, कुबेर, तथा कार्तिकेय ने चरणों मे गिर कर शिर से (मुझे) नमस्कार किया था।

कतमो ऽन्यु देव मम उत्तरियो विशिष्टो
यस्मिन् मम प्रणयसे त्वमिहाद्य अम्ब।
देवातिदेव अहु उत्तमु सर्वदेवैः
देवो न मे ऽस्ति सदृशः कुत उत्तरं वा ॥288॥

हे अम्ब, कौन सा और देवता मुझसे बढ़ा-चढ़ा श्रेष्ठ है, जिसके यहाँ तुम आज मुझे ले जा रही हो। मैं सब देवताओं में उत्तम, देवताओं का भी श्रेष्ठ देवता हूँ। देवता मेरी बराबरी का भी नहीं है, फिर मुझसे बढ़ कर हो ही कैसे सकता है।

लोकानुवर्तन प्रती इति अम्ब यास्ये
दृष्ट्वा विकुर्वित ममा जनता उदग्राः।
अधिमात्रु गौरव करिष्यति चित्रकारः
ज्ञास्यन्ति देवमनुजा स्वय देवदेवः ॥289॥

हे अम्ब, लोक में जो चलन है उसे रखने के लिए जाऊँगा। मेरा विशेष रूप से किया गया (चमत्कारी कृत्य) देख कर आनन्दित लोग अत्यन्त मान एवं पूजा करेंगे। देवता और मनुष्य जान लेंगे कि ये वही देवों के देवता (भगवान बुद्ध) है।

5. हे भिक्षुओ, इस प्रकार जब सब प्रकार से स्तुतियाँ तथा मंगल (-ध्वनियाँ) =94ख= हो रही थीं, वीथियां (मार्ग), चत्वर (चौराहे), शृंगाटक (तिराहे), रथ्याएँ (अर्थात् दोनों ओर घरों से युक्त मार्ग), तथा अन्तरापणों (अर्थात् नगर के मध्य मे बने बाजारों) के प्रवेश-द्वार अपरिमित अलंकारों से अलंकृत थे, तब अन्तःपुर मे कुमार के रथ को सजा कर, ब्राह्मणों, नैगमों (=नागरकों=रईसों), सेठों, गृहपतियों, अमात्यों, अटवियों के राजाओं, द्वारपालों, तथा (राजकीय) बैठक मे बैठने वाले राजदरबारी लोगों, मित्रों, तथा जाति के बन्धुओं से घिरे हुए, राजा शुद्धोदन कुमार को लेकर (उस सजे) मार्ग पर जाने लगे (जिस पर) आगे-आगे धूप दी जा रही थी, मोती और पुष्प बिखेरे हुए थे, हाथी, घोड़े, रथ, तथा पैदल सेना की चहल-पहल हो रही थी, छत्र, ध्वजा, तथा पताकाएँ फहरा रही थी, एवं नाना प्रकार के बाजे बज रहे थे। शतसहस्र देवता बोधिसत्त्व का रथ खीच रहे थे। अनेकों कोटियों के नियुतों (खर्वों) के शतसहस्रों (की संख्या मे) आकाश में स्थित देवपुत्र सहित अप्सराएँ पुष्पवृष्टि कर रही थी और बाजे बजा रही थी।

6. हे भिक्षुओ, राजा शुद्धोदन इस प्रकार महान् राजसमूह के साथ, महती राज-समृद्धि तथा महान् राजप्रताप के सहित कुमार को लेकर देवकुल मे प्रविष्ट हुए। (प्रविष्ट होने के) साथ-साथ (जब) उस देवकुल मे बोधिसत्त्व ने दोनों चरणों में से दाहिने चरण का तलवा रखा, तब वे अचे (-120-) तन देवप्रतिमाएँ—यथा-शिव, स्कन्द, नारायण, कुबेर, चन्द्र, सूर्य, वैश्रवण, शक्र, ब्रह्मा, तथा लोकपालों की प्रतिमाएँ-सबकी सब अपने-अपने स्थानों से उठ कर =95 क= बोधिसत्त्व के चरण-तलो मे गिर पड़ी। उस समय लक्ष-लक्ष देवता तथा मनुष्य मुख से ही-ही करते, किल-कारियाँ मारते, लक्ष-लक्ष बार कलकलनाद करते थे, वस्त्र हिलाते थे। कपिलवस्तु महानगर छह प्रकार से काँप उठा था। दिव्य-पुष्पों की वर्षा हुई थी। बिना बजाए ही लक्ष-लक्ष बाजे बजने लगे थे।

को लाओ। पुण्य-भेरियाँ बजने दो। मंगल-घंटे घनघनाने दो। श्रेष्ठ नगर के द्वारों को अलंकृत करो। अत्यन्त मनोहर झाँझ-मृदङ्ग बजवाओ। अब अटवियों के राजाओं को एकत्रित करो। सेठ, गृहपति, अमात्य, द्वारपाल, तथा (राजकोय) बैठक में बैठने वाले राजदरबारी लोग इकट्ठे हो। कन्याओं के (बैठने योग्य) रथ जुत जाएँ। जल से भरे कलश रख दिये जाएँ। वेदपाठी ब्राह्मण एकत्रित किये जाएँ। देवकुल अलंकृत कर दिए जाएँ।

3. हे भिक्षुओ, इस प्रकार जैसा-जैसा (राजा ने) पूर्वोक्त रीति से कहा वैसा-वैसा सब कर दिया गया। तब =94क= राजा शुद्धोदन अपने भवन में प्रवेश कर, महाप्रजापती गौतमी को संबोधन कर, यों कहा—कुमार को अलंकृत करो, (उन्हे) देवकुल ले जाना होगा। अच्छा, यह कह कर महाप्रजापती गौतमी कुमार को अलंकृत करने लगी।

4. तदनन्तर अलंकृत किए जाते हुए कुमार ने विना भृकुटि चढ़ाए, हँसी-मुख से, अत्यन्त मीठी बोली मे मौसी से पूछा। अम्मा, मुझे कहाँ ले जाया जायगा? (मौसी ने) उत्तर दिया। पुत्र (तुम्हे) देवकुल (ले जाया जाएगा)। तदनन्तर हसमुख कुमार मुसकराते हुए मौसी से गाथाओं मे बोले—

(बोधिसत्व का मातृष्वसा से कथन)

(वसन्ततिलिका छन्द)

जातस्य मह्यमिह कम्पित त्रिसहस्रं
शक्रश्च ब्रह्म असुराश्च महोरगाश्च।
(–119–) चन्द्रश्च सूर्य तथ वैश्रवण (:) कुमारो
मूर्ध्ना क्रमेषु निपतित्व नमस्ययन्ति ॥287॥

यहाँ मेरे जनमते त्रिसाहस्र-लोकधातु काँप उठे थे। इन्द्र ब्रह्मा, असुरगण, महानोग-गण, चन्द्र सूर्य, कुबेर, तथा कार्तिकेय ने चरणों मे गिर कर शिर से (मुझे) नमस्कार किया था।

कतमो ऽन्यु देव मम उत्तरियो विशिष्टो
यस्मिन् मम प्रणयसे त्वमिहाद्य अम्ब।
देवातिदेव अह उत्तमु सर्वदेवैः
देवो न मे ऽस्ति सदृशः कुत उत्तरं वा ॥288॥

हे अम्ब, कौन सा और देवता मुझसे बढ़ा-चढ़ा श्रेष्ठ है, जिसके यहाँ तुम आज मुझे ले जा रही हो। मै सब देवताओं में उत्तम, देवताओं का भी श्रेष्ठ देवता हूँ। देवता मेरी बराबरी का भी नहीं है, फिर मुझसे बढ़ कर हो ही कैसे सकता है।

लोकानुवर्तन प्रती इति अम्ब यास्ये
दृष्ट्वा विकुर्वित ममा जनता उदग्राः।
अधिमात्रु गौरव करिष्यति चित्रकारः
ज्ञास्यन्ति देवमनुजा स्वय देवदेवः ॥289॥

हे अम्ब, लोक में जो चलन है उसे रखने के लिए जाऊँगा। मेरा विशेष रूप से किया गया (चमत्कारी कृत्य) देख कर आनन्दित लोग अत्यन्त मान एवं पूजा करेंगे। देवता और मनुष्य जान लेंगे कि ये वही देवों के देवता (भगवान बुद्ध) है।

5. हे भिक्षुओ, इस प्रकार जब सब प्रकार से स्तुतियाँ तथा मंगल (–ध्वनियाँ) =94ख= हो रही थी, वीथियाँ (मार्ग), चत्वर (चौराहे), शृंगाटक (तिराहे), रथ्याएँ (अर्थात् दोनों ओर घरों से युक्त मार्ग), तथा अन्तरापणों (अर्थात् नगर के मध्य मे बने बाजारों) के प्रवेश-द्वार अपरिमित अलंकारों से अलंकृत थे, तब अन्तःपुर मे कुमार के रथ को सजा कर, ब्राह्मणों, नैगमों (=नागरकों=रईसों), सेठों, गृहपतियों, अमात्यों, अटवियों के राजाओं, द्वारपालों, तथा (राजकीय) बैठक मे बैठने वाले राजदरबारी लोगों, मित्रों, तथा जाति के बन्धुओं से घिरे हुए, राजा शुद्धोदन कुमार को लेकर (उस सजे) मार्ग पर जाने लगे (जिस पर) आगे-आगे धूप दी जा रही थी, मोती और पुष्प बिखेरे हुए थे, हाथी, घोड़े, रथ, तथा पैदल सेना की चहल-पहल हो रही थी, छत्र, ध्वजा, तथा पताकाएँ फहरा रही थी, एवं नाना प्रकार के बाजे बज रहे थे। शतसहस्र देवता बोधिसत्त्व का रथ खीच रहे थे। अनेकों कोटियों के नियुतों (खर्वो) के शतसहस्रो (की संख्या मे) आकाश मे स्थित देवपुत्र सहित अप्सराएँ पुष्पवृष्टि कर रही थी और बाजे बजा रही थीं।

6. हे भिक्षुओ, राजा शुद्धोदन इस प्रकार महान् राजसमूह के साथ, महती राज-समृद्धि तथा महान् राजप्रताप के सहित कुमार को लेकर देवकुल मे प्रविष्ट हुए। (प्रविष्ट होने के) साथ-साथ (जब) उस देवकुल मे बोधिसत्व ने दोनों चरणो में से दाहिने चरण का तलवा रखा, तब वे अचे (–120–) तन देवप्रतिमाएँ—यथा–शिव, स्कन्द, नारायण, कुबेर, चन्द्र, सूर्य, वैश्रवण, शक्र, ब्रह्मा, तथा लोकपालों की प्रतिमाएँ–सबकी सब अपने-अपने स्थानों से उठ कर =95क= बोधिसत्त्व के चरण-तलों मे गिर पड़ी। उस समय लक्ष-लक्ष देवता तथा मनुष्य मुख से ही-ही करते, किल-कारियाँ मारते, लक्ष-लक्ष वार कलकलनाद करते थे, वस्त्र हिलाते थे। कपिलवस्तु महानगर छह प्रकार से काँप उठा था। दिव्य-पुष्पो की वर्षा हुई थी। बिना बजाए ही लक्ष-लक्ष बाजे बजने लगे थे।

को लाओ। पुण्य-भेरियाँ बजने दो। मंगल-घंटे घनघनाने दो। श्रेष्ठ नगर के द्वारों को अलंकृत करो। अत्यन्त मनोहर झाँझ-मृदङ्ग बजवाओ। अब अटवियों के राजाओं को एकत्रित करो। सेठ, गृहपति, अमात्य, द्वारपाल, तथा (राजकीय) बैठक में बैठने वाले राजदरबारी लोग इकट्ठे हों। कन्याओं के (बैठने योग्य) रथ जुत जाएँ। जल से भरे कलश रख दिये जाएँ। वेदपाठी ब्राह्मण एकत्रित किये जाएँ। देवकुल अलंकृत कर दिए जाएँ।

3. हे भिक्षुओ, इस प्रकार जैसा-जैसा (राजा ने) पूर्वोक्त रीति से कहा वैसा-वैसा सब कर दिया गया। तब =94क= राजा शुद्धोदन अपने भवन में प्रवेश कर, महाप्रजापती गौतमी को संबोधन कर, यों कहा—कुमार को अलंकृत करो, (उन्हे) देवकुल ले जाना होगा। अच्छा, यह कह कर महाप्रजापती गौतमी कुमार को अलंकृत करने लगी।

4. तदनन्तर अलंकृत किए जाते हुए कुमार ने विना भृकुटि चढ़ाए, हँसी-मुख से, अत्यन्त मीठी बोली मे मौसी से पूछा। अम्मा, मुझे कहाँ ले जाया जायगा? (मौसी ने) उत्तर दिया। पुत्र (तुम्हे) देवकुल (ले जाया जाएगा)। तदनन्तर हसमुख कुमार मुसकराते हुए मौसी से गाथाओं मे बोले—

(बोधिसत्व का मातृष्वसा से कथन)

(वसन्ततिलिका छन्द)

जातस्य मह्यमिह कम्पित त्रिसहस्रं
शक्रश्च ब्रह्म असुराश्च महोरगाश्च।
(–119–) चन्द्रश्च सूर्य तथ वैश्रवण (:) कुमारो
मूर्ध्ना क्रमेषु निपतित्व नमस्ययन्ति ॥287॥

यहाँ मेरे जनमते त्रिसाहस्र-लोकधातु काँप उठे थे। इन्द्र ब्रह्मा, असुरगण, महानाग-गण, चन्द्र, सूर्य, कुबेर, तथा कार्तिकेय ने चरणों मे गिर कर शिर से (मुझे) नमस्कार किया था।

कतमो ऽन्यु देव मम उत्तरियो विशिष्टो
यस्मिन् मम प्रणयसे त्वमिहाद्य अम्ब।
देवातिदेव अह उत्तमु सर्वदेवैः
देवो न मे ऽस्ति सदृशः कुत उत्तरं वा ॥288॥

हे अम्ब, कौन सा और देवता मुझसे बढ़ा-चढ़ा श्रेष्ठ है, जिसके यहाँ तुम आज मुझे ले जा रही हो। मैं सब देवताओं में उत्तम, देवताओं का भी श्रेष्ठ देवता हूँ। देवता मेरी बराबरी का भी नही है, फिर मुझसे बढ़ कर हो ही क्या सकता है।

लोकानुवर्तन प्रती इति अम्ब यास्ये
दृष्ट्वा विकुर्वित मम। जनता उदग्राः।
अधिमात्रु गौरव करिष्यति चित्रकारः
ज्ञास्यन्ति देवमनुजा स्वय देवदेवः ॥289॥

हे अम्ब, लोक में जो चलन है उसे रखने के लिए जाऊँगा। मेरा विशेष रूप से किया गया (चमत्कारी कृत्य) देख कर आनन्दित लोग अत्यन्त मान एवं पूजा करेंगे। देवता और मनुष्य जान लेंगे कि ये वही देवों के देवता (भगवान बुद्ध) हैं।

5. हे भिक्षुओ, इस प्रकार जब सब प्रकार से स्तुतियाँ तथा मंगल (-ध्वनियाँ) =94ख= हो रही थी, वीथियाँ (मार्ग), चत्वर (चौराहे), शृंगाटक (तिराहे), रथ्याएँ (अर्थात् दोनों ओर घरों से युक्त मार्ग), तथा अन्तरापणों (अर्थात् नगर के मध्य में बने बाजारों) के प्रवेश-द्वार अपरिमित अलंकारों से अलंकृत थे, तब अन्तःपुर मे कुमार के रथ को सजा कर, ब्राह्मणों, नैगमों (=नागरको=रईसों), सेठों, गृहपतियों, अमात्यों, अटवियों के राजाओं, द्वारपालों, तथा (राजकीय) बैठक मे बैठने वाले राजदरबारी लोगों, मित्रों, तथा जाति के बन्धुओं से घिरे हुए, राजा शुद्धोदन कुमार को लेकर (उस सजे) मार्ग पर जाने लगे (जिस पर) आगे-आगे धूप दी जा रही थी, मोती और पुष्प बिखेरे हुए थे, हाथी, घोड़े, रथ, तथा पैदल सेना की चहल-पहल हो रही थी, छत्र, ध्वजा, तथा पताकाएँ फहरा रही थी, एवं नाना प्रकार के बाजे बज रहे थे। शतसहस्र देवता बोधिसत्त्व का रथ खीच रहे थे। अनेकों कोटियों के नियुतों (खर्वों) के शतसहस्रों (की संख्या मे) आकाश मे स्थित देवपुत्र सहित अप्सराएँ पुष्पवृष्टि कर रही थी और बाजे बजा रही थी।

6. हे भिक्षुओ, राजा शुद्धोदन इस प्रकार महान् राजसमूह के साथ, महती राज-समृद्धि तथा महान् राजप्रताप के सहित कुमार को लेकर देवकुल में प्रविष्ट हुए। (प्रविष्ट होने के) साथ-साथ (जब) उस देवकुल मे बोधिसत्त्व ने दोनों चरणों में से दाहिने चरण का तलवा रखा, तब वे अचे (-120-) तन देवप्रतिमाएँ—यथा—शिव, स्कन्द, नारायण, कुबेर, चन्द्र, सूर्य, वैश्रवण, शक्र, ब्रह्मा, तथा लोकपालो की प्रतिमाएँ—सबकी सब अपने-अपने स्थानों से उठ कर =95 क= बोधिसत्त्व के चरण-तलों में गिर पड़ी। उस समय लक्ष-लक्ष देवता तथा मनुष्य मुख से ही-ही करते, किल-कारियाँ मारते, लक्ष-लक्ष बार कलकलनाद करते थे, वस्त्र हिलाते थे। कपिलवस्तु महानगर छह प्रकार से काँप उठा था। दिव्य-पुष्पो की वर्षा हुई थी। बिना बजाए ही लक्ष-लक्ष बाजे बजने लगे थे।

जिन देवताओं की वे प्रतिमाएँ थीं, उन सबने अपना-अपना रूप दिखा कर ये गाथाएँ कहीं—

(देवता गाथाएँ, शार्दूलविक्रीड़ित छन्द)

नो मेरु गिरिराज पर्वतवरो जातू नमे सर्षपे
नो वा सागर नागराजनिलयो जातू नमे गोष्पदे।
चन्द्रादित्य प्रभंकरा प्रभकरा खद्योतके नो नमे
प्रज्ञापुण्यकुलोदितो गुणधरः कस्मान्नमे देवते ॥290॥

पर्वतों में श्रेष्ठ, पर्वतों का राजा सुमेरु कभी सरसों के आगे नहीं झुक सकता। नागराजों का निवास स्थान समुद्र गोष्पद (धरती पर गोके पैर चिन्ह मे पड़े जल) के आगे कभी नहीं झुक सकता। चमकती किरणों वाले, प्रकाश करने वाले, चन्द्र एवं सूर्य जुगनू के आगे कभी नहीं झुक सकते। फिर गुणवान्, प्रज्ञा एवं पुण्य तथा (महा–) कुल से प्रादुर्भूत (बोधिसत्त्व) देवताओं के आगे कैसे झुक सकते हैं।

यद्वत् सर्षप गोष्पदे व सलिलं खद्योतका वा भवेत्
एवं च त्रिसहस्रदेवमनुजा ये केचि मानाश्रिताः।
मेरुसागरचन्द्रसूर्यसदृशो लोके स्वयंभूत्तमो
यं लोको ह्यभिवन्द्य लाभ लभते स्वर्गं तथा निर्वृतिं ॥291॥[4]

त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोक-धातु में जो कोई मान मे भरे देव-मनुष्य है, वे ऐसे ही है जैसे सरसों, गोष्पद मे जल, अथवा जुगनू। लोक में उत्तम स्वयंभू (भगवान्) सुमेरु, समुद्र, चन्द्रमा तथा सूर्य के समान हैं, जिनकी वंदना कर लोग स्वर्ग तथा निर्वाण का लाभ पाते है।

हे भिक्षुओ, महात्मा बोधिसत्त्व के द्वारा देवकुल मे प्रवेश के प्रदर्शन के समय बत्तीस सहस्र देवपुत्रों का अनुत्तर सम्यक् संबोधि के निमित्त बोधिचित्त उत्पन्न हुआ। हे भिक्षुओ, =95ख= यही हेतु है, यही प्रत्यय (=निमित्त) है, जिससे बोधिसत्त्व देवकुल ले जाए जाते हुए उपेक्षक रहते है—विरोध नहीं करते।

॥इति श्री ललितविस्तरे देवकुलोपनयनपरिवर्तो नामाष्टमोऽध्यायः॥

4. इस परिवर्त में आई हुई 287–291 गाथाओ की संस्कृतच्छाया जातस्य ममेह कम्पितं त्रिसाहस्रं शक्रश्च ब्रह्मा (च) असुराश्च महोरगाश्च चन्द्रश्च सूर्यस्तथा वैश्रवणः कुमारः (स्कन्दः) मूर्ध्ना क्रमेषु निपत्य नमस्यन्ति (स्म) ॥287॥ कतमोऽन्यो देवो मदुत्तरीयो विशिष्टो यस्मिन् प्रणयसे त्वमिहाद्याम्ब। देवातिदेवो ऽहम् उत्तमः सर्वदेवेषु देवो न मे (=मया) ऽस्ति सदृशः कुत

उत्तरो वा ॥288॥ लोकानुवर्तनं प्रतीत्य (=लोकानुवर्तनार्थम्) इति अम्ब यास्यामि दृष्ट्वा विशेषकृतं मम जनता उदग्रा । अधिमात्रं गौरवं करिष्यति चित्रीकारं (=पूजनं) ज्ञास्यन्ति देवमनुजाः सोऽयं देवदेवः (इति) ॥289॥ नो मेरुर्गिरिराजः पर्वतवरो जातु नमेत् सर्षपं न वा सागरो नागराजनिलयो जातु नमेत् गोष्पदम् । चन्द्रादित्यौ प्रभाकरौ प्रभकरौ खद्योतकं नो नमेताम्, प्रज्ञापुण्यकुलोदितो गुणधरः कस्मान्नमेद् देवताः ॥290॥ यद्वत् सर्षपो गोष्पदे वा सलिलं खद्योतको वा भवेद् एवं च त्रिसाहस्रदेवमनुजा ये केचिद् मानाश्रिताः । मेरुसागरचन्द्रसूर्यसदृशो लोके स्वयंभूरुत्तमः यं लोको ह्यभिवन्द्य लाभं लभते स्वर्गं तथा निर्वृतिम् ॥291॥

॥ ९ ॥

॥ आभरणपरीक्षा ॥

मुद्रितग्रन्थ 121 (पंक्ति 1)—123 (पंक्ति 14)

भोटानुवाद 95ख (पंक्ति 1)—97क (पंक्ति 2)

॥ ९ ॥

॥ आभरणपरिवर्त ॥

1. (–121–) हे भिक्षुओ, तदनन्तर उदायी के पिता उदयन नाम के राज-पुरोहित ब्राह्मण ने पाँच सौ ब्राह्मणों के मंडल साथ हस्त नक्षत्र के बाद के चित्र नक्षत्र मे राजा शुद्धोदन के पास जाकर यों कहा। हे देव, आप को विदित हो कि कुमार के आभरण (गहने) बनने चाहिएँ। राजा ने उन (विप्र) से कहा। हाँ–हाँ, अवश्य बनने चाहिएँ।

2. तब राजा शुद्धोदन तथा पाँच सौ शाक्यों ने पाँच-पाँच सौ आभरण बनवाए। यथा—हाथो के आभरण, पैरों के आभरण, शिर के आभरण, कंठ के आभरण, मुद्रिकाओं, (मुँदरियों) के (रूप में बने) आभरण, कर्णिकाएँ अर्थात् कर्णाभरण, केयूर अर्थात् बाजूबन्द, [1](सुवर्ण की) मेखलाएँ अर्थात् कमरबन्द, सुवर्ण के सूत्र[1], किंकिणियों अर्थात् घुँघुरुओ के जाल, रत्नजाल, जड़ाऊ पादुकाएँ, नाना प्रकार के रत्नों से अलंकृत हार (=मुक्ता-मालाएँ), कटक (=कड़े) अर्थात् हाथों में पहनने के शंख आदि के बने वलय, हर्ष अर्थात् कंठ मे पहनने के कंठश्री नामक आभूषण, तथा मुकुट। (इन सब आभरणों को) बनवा कर पुष्य नक्षत्र के योग से संयुक्त (मुहूर्त) में वे शाक्य राजा शुद्धोदन के पास जाकर यों बोले। अहो, देव, कुमार का मंडन करें। राजा बोले। बस, (इतने से ही) आप लोगों के द्वारा कुमार अलंकृत एवं पूजित हो गए। = 96क = मैने भी कुमार के लिए सब आभरण बनवाए हैं। वे (सब) बोले। कुमार सात-सात दिन रात (अर्थात् एक-एक सप्ताह) हम लोगों के (बनवाए हुए) आभरण शरीर पर धारण करें। उससे हम–लोगो (के आभरण बनवाने) का उद्योग सफल हो जाएगा।

3. उस रात के बीत जाने पर, सूर्योदय हो जाने पर, बोधिसत्त्व वहाँ गए, जहाँ विमलव्यूह नाम का उपवन था। जहाँ महाप्रजापती गौतमी बोधिसत्त्व को गोद में लिए हुए थी। अस्सी हजार स्त्रियाँ पास जाकर बोधिसत्त्व का मुख निहारती थी। दस हजार कन्याएँ पास जाकर बोधिसत्त्व के मुख का अवलोकन

1– 1. मूल, मेखलासुवर्णसूत्राणि। भोट, ग्सेर् ग्यि स्क रग्स् दग् दङ् ग्सेर् स्कुद् दग् दङ्, सुवर्णमेखलाः सुवर्णसूत्राणि।

करती थीं । [2]दस हज़ार शाक्य पास जाकर बोधिसत्व का मुख देखते थे[2] पांच हज़ार ब्राह्मण पास जाकर (122–) बोधिसत्त्व के मुख का दर्शन करते थे । वहाँ पर शाक्यराज भद्रिक ने जो आभरण बनवाए थे, वे कुमार के शरीर पर धारण कराए गए । वे (आभरण) धारण करने के अनन्तर ही बोधिसत्त्व के शरीर की प्रभा से विवर्ण हो न चमकते थे, न दमकते थे, (और) न शोभा देते थे । जैसे जम्बूनद से उत्पन्न सुवर्ण के सामने रखा गया मषि (अर्थात् काजल) का पिंड न चमकता है, न दमकता है, न शोभा देता है, उसी प्रकार वे आभरण बोधिसत्त्व के शरीर की = 96ख = प्रभा के द्वारा [3]छू जाने पर[3] न चमकते थे, न दमकते थे, (और) न शोभा देते थे । इस प्रकार आभरणों की जो-जो कलाकृति बोधिसत्त्व के शरीर पर धारण कराई जाती थी, वह-वह विवर्ण (=फीकी) हो जाती थी, मानों वह [4](जम्बूनद से उत्पन्न सुवर्ण के सामने रखी गई) मषि की पिण्डी हो[4] ।

4. उस समय विमला नाम की उद्यान-देवता ने अपने औदारिक (=स्थूल) आत्मभाव (=शरीर) को दिखला कर, सामने खड़ी होकर, राजा शुद्धोदन तथा उस शाक्यगण से गाथाओं द्वारा कहा—

(विमला की गाथाएँ । सप्तदशाक्षर अत्यष्टिजातीय छन्द ।)

सर्वयं त्रिसहस्रमेदिनी सनगरनिगमा।
पूर्णा काञ्चन संचिता भवेत् सुरुचिर विमला।
एका काकिनि जाम्बुकाञ्चने भवति उपहता
ना भासी इतरः स काञ्चन प्रभासिरिरहितः ॥292॥

नगरों तथा निगमों (=क़सबों) के साथ यह त्रिसाहस्र-महासाहस्रधातु से युक्त सब-की-सब पृथिवी यदि सुवर्ण से भर कर पूर्ण होकर अत्यन्त सुन्दर तथा निर्मल हो जाए, (तो भी वह) एक कौडी भर जांबूनद के सुवर्ण के साथ (रखी जाने पर चमक-दमक में) दबी-दबी रहेगी । (जाम्बूनद के आगे) दूसरा सुवर्ण शोभा और कांति से रहित हो नहीं चमकता ।

2····2. भोट, शाक्य स्तोङ् फग् बचुस् ब्यङ् छुब् सेम्स् द्पह् ब्सु स्ते ग्दोङ् दु ल्त शिङ् ह् खोद् पर् ग्युर् तो, दश च शाक्य सहस्राणि प्रत्युद्गम्य बोधिसत्त्वस्य वदनं प्रेक्षन्ते स्मः ।

3····3. मूल, पृष्टानि (= स्पृष्टानि) । तुलनीय, भोट, फोग् न, स्पृष्टानि ।

4····4. मूल, तद्यथापि नाम मसिपिण्डः । भोट, ह् दि ल्तर स्ते द्पेर् न, जम्बु छु वो. हि ग्सेर् ग्यि गन् दु स्नग् छ हि युग् ब्शग् प शिन् नो, तद्यथापि नाम जाम्बूनदस्य सुवर्णस्य पुरतो मषिपिण्ड उपनिक्षिप्तः ।

जाम्बूकाञ्चनसंनिभा पुनर्भवेत् सकर इय मही
रोमे आभ प्रमुक्त नायके हिरिसिरिमरिते ।
ना भासी न तपी न सोभते न च प्रभवति
आभाये सुगतस्य कायि नो भवति यथ मसिः ॥293॥

यह सम्पूर्ण पृथिवी यदि जाम्बूनद के सुवर्ण जैसी चमकने लगे तो भी नायक के रोम-रोम से फूटने वाली कोमल शोभा से पूर्ण आभा के सामने न चमकेगी, न तपेगी, न शोभा देगी, और न (सामने) टिक ही सकेगी । सुगत के शरीर की आभा के सामने वह नही सी लगेगी, जैसे (सुवर्ण के सामने) स्याही ।

स्वे तेजेन अयं स्वलंकृतो गुणशतभरितो
नो तस्याभरणाविरोचिषू सुविमलवपुषः ।
(–123–) चन्द्रसूर्य प्रभश्च ज्योतिषा तथ मणि ज्वलनाः
शक्रिब्रह्म प्रभा न भासते पुरत शिरिघने ॥294॥

शत-शत गुणों से पूर्ण ये अपने तेज से सुभूषित है, इनके अत्यन्त निर्मल शरीर पर आभूषण नही फबेंगे । चंद्र और सूर्य की, तारा (–गण) की, मणि की तथा अग्नि की प्रभा, इन्द्र तथा ,ब्रह्मा की प्रभा श्रीघन के सम्मुख न जगमगाएगी ।

यस्या लक्षणि कायु चित्रितः पुरिमशुमफलैः
किं तस्याभरणेभिरित्वरैः परकृतकरणैः ।
अपनेथाभरणा न हेठता अबुध बुधकरं
नायं कृत्तिमभूषणार्थिक परममतिकरः ॥295॥

पूर्व (जन्म) के पुण्यों के फलस्वरूप जिसकी काया लक्षणों से चित्रित है, उसको दूसरों के बनाए हुए क्षणिक (चमक-दमक दिखाने वाले) आभूषणों से क्या ? उतार लो आभूषणों को । अरे बुद्धुओं, (इन) बुद्धिमान् बनाने वाले (बोधिसत्व को आभूषणों से) मत सताओ । ये परम बुद्धि के देने वाले बनावटी आभूषणों को नहीं चाहते ।

चेटस्या = 97क = भरणानि देथिमे सुरुचिर विमला
सहजातो य सुभूषि छन्दको नृपतिकुलशुभे ।
तुष्टा शाकिय विस्मिताश्च अभवन् प्रमुदितमनसो
वृद्धिः शाक्यकुलनन्दस्य चोत्तमा भविष्यति विपुला ॥296॥[5]

5. इस परिवर्त में आई हुई 292-296 गाथाओं की संस्कृत छाया—सर्वेयं त्रिसहस्रा मेदिनी सनगरनिगमा पूर्णा काञ्चनसंचिता भवेत् सुरुचिरा विमला । एकस्याः काकिण्या जाम्बू (नद) काञ्चनेन भवत्युपहता न भासेत

शुभ राजकुल में जो (बोधिसत्व के) साथ छन्दक (नाम का) दास उत्पन्न हुआ है, उसे इन अच्छी बनावट के अत्यन्त सुन्दर (तथा) निर्मल आभूषणों को दे डालो। शाक्य संतुष्ट, विस्मित एवं प्रसन्नचित्त हुए। (उनके मन में हुआ) कि शाक्यकुलनन्दन की विपुल एवं उत्तम वृद्धि होगी।

ऐसा कह कर वह देवता बोधिसत्व पर दिव्य पुष्पों की वर्षा कर अन्तर्हित हो गई।

॥ इति श्रीललितविस्तरे आभरणपरिवर्तो नाम नवमोऽध्यायः ॥

तद् इतरत् काञ्चनं प्रभाश्रीरहितम् ॥292॥ जाम्बू (नद)-काञ्चनसंनिभा पुनर्भवेत् सकलेयं मही रोमस्य आभायां प्रमुक्तायां नायकेन ह्रीश्रीभरितायाम्—न भासेत न तपेत् न शोभेत न च प्रभवेत् आभायाः सुगतस्य कायस्य (पुरतः) न भवेद् यथा मषिः ॥293॥ स्वेन तेजसायं स्वलंकृतो गुणशतभरितो नो तस्याभरणानि विरोचेरन् सुविमलवपुषः। चन्द्रसूर्ययोः प्रभा च ज्योतिषो मणे र्ज्वलनस्य शक्रब्रह्मणोः प्रभा न भासते पुरतः श्रीघनस्य ॥294॥ यस्य लक्षणैः कायश् चित्रितः पूर्वशुभफलैः किं तस्याभरणैरित्वरैः परकृतकरणैः। अपनयताभरणानि मा पीडयताबुधा बुधकरं नायं कृत्रिमभूषणार्थिकः परममतिकरः ॥295॥ चेटस्याभरणानि ददतिमानि सुरुचिराणि विमलानि सहजातो यः सुभूषितानि छन्दको नृपतिशुभकुले। तुष्टाः शाक्या विस्मिताश्चाभवन् प्रमुदितमनसो वृद्धिः शाक्यकुलनन्द (न) स्य चोत्तमा भविष्यति विपुला ॥296॥

॥१०॥

॥ लिपिशालासंदर्शनपरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ १२३ (पंक्ति १५)—१२८ (पंक्ति १४)

भोटानुवाद ९७क (पंक्ति ३)—१०१क (पंक्ति २)

॥१०॥

॥ लिपिशालासंदर्शनपरिवर्त ॥

1. भिक्षुओं, इस प्रकार कुमार जब बड़े हुए, तब उन्हें शतसहस्रों मंगलाचारों के साथ लिपिशाला में ले जाया गया। आदर के साथ दस हज़ार बालकों द्वारा वे घिरे हुए थे। दस हजार रथ चबाने-खाने तथा स्वाद लेने की वस्तुओं से परिपूर्ण थे, हिरण्य तथा सुवर्ण से भरे-पूरे थे, (उन वस्तुओं की) कपिलवस्तु महानगर की वीथियों (मार्गों) में, चत्वरों (चौराहों) में, शृंगाटकों (तिराहों) में, रथ्याओं (अर्थात् दोनों ओर घरों से युक्त मार्गों) मे, तथा अन्तरापणों (अर्थात् नगर के मध्य मे बने बाजारों) के प्रवेश-द्वारों पर बौछार की जाती थी, [1]उनका वितरण किया जाता था[1]। साथ-साथ आठ हजार बाजे बजते थे, तथा फूलों की महावृष्टि होती थी। वितर्दियों (चबूतरों), निर्यूहों (अटारियों) तोरणों (द्वार के बाह्यभागों), गवाक्षों (गोखों अर्थात् हवा जाली वाले झरोखों) (–124–) हर्म्यों (महलों) पर बने कूटागारों (अंटों), घरों तथा प्रासादों (राजभवनों) के तलों पर शत-सहस्रों कन्याएँ सब आभूषणों से भूषित खड़ी थीं। (वे) बोधिसत्त्व को देखती हुई फूल फेंकती थी। अष्ट सहस्र देवकन्याएँ[2] अभी-अभी मानो गिर ही पड़ेंगे-ऐसे अलंकारों एवं आभूषणो से सजी हुई[2], हाथ मे रत्नभद्र (= मंगल रत्न) लिए, मार्ग का =97 ख=शोधन करती हुई, बोधिसत्त्व के आगे-आगे चलती थी। देवता, नाग, यक्ष, गंधर्व, असुर, गरुड़, किन्नर, तथा महोरग (ऊपर के) आधे शरीर से प्रकट हो, आकाश से पुष्पमालाएँ तथा पट्टमालाएँ (= रेशमी सूत्र की मालाएँ) लटकाते थे। सब शाक्यगण राजा शुद्धोदन को आगे कर बोधिसत्त्व के आगे-आगे चलते थे। इस प्रकार के बनाव-चुनाव के साथ बोधिसत्त्व को लिपिशाला में ले जाया गया था।

1....1. मूल, अभि विश्राम्यन्ते। यह पाठ संदिग्ध है। संभवतः अभिविश्राण्यन्ते पाठ था। भोट, मृङोन् पर् बि़यन् नो, अभिविश्राण्यन्ते (= दीयन्ते)।

2....2. मूल, विगलितालंकाराभरणालंकृतानि। भोट, ग्यंन् नंमूस् कि्यस् ल्हुग् ल्हुग् पोर् ग्र्यन् ते। विगलित संभवतः विकलित (= घृत) का अपभ्रंश है। द्रष्टव्य पांचवें परिवर्त की टिप्पणी 54।

2. बोधिसत्त्व को ज्यों ही लिपिशाला में प्रवेश कराया गया, त्यों ही शिशुओं के आचार्य विश्वामित्र बोधिसत्त्व की श्री तथा तेज को न सह पाते हुए धरती पर बैठ मुँह के बल गिर पड़े। उन्हे उस प्रकार गिरा हुआ देख, तुषित लोक के निवासी शुभाङ्ग नाम के देवपुत्र ने दाहिनी हथेली से पकड़ कर उठाया। उठा कर आकाश मे ही विराजते हुए राजा शुद्धोदन तथा उस महान् जन-समूह से गाथाओं द्वारा कहा।

(शुभाङ्गदेवपुत्रगाथाएँ। वसन्ततिलका छन्द)

शास्त्राणि यानि प्रचरन्ति मनुष्यलोके
संख्या लिपिश्च गणनापि च धातुतन्त्रं।
ये शिल्पयोग पृथु लौकिक अप्रमेयाः
तेष्वेषु शिक्षितु पुरा बहुकल्पकोट्यः ॥297॥

संख्या, लिपि, गणना, धातुतन्त्र (= अण्ड–पिण्डविज्ञान) आदि जो शास्त्र मनुष्य–लोक मे प्रचलित हैं, तथा जो बहुत से अप्रमेय शिल्पयोग लोकानुबन्धी है, उनमे बहुत कल्प-कोटियों तक इन (बोधिसत्त्व) ने शिक्षा पाई है।

किं तू जनस्य अनुवर्तनतां करोति
लिपिशालमागतु सुशिक्षितः शिष्यणार्थं।
परिपाचनार्थं बहु दारक अग्रयाने
अन्यांश्च सत्त्वनयुतानमृते = 98क = विनेतुं ॥298॥

किं तु (ये) लोकानुवर्तन अर्थात् लोक के बँधे-बँधाए आचार का पालन कर रहे है (और इसीलिए) सम्यक् शिक्षित होते हुए (भी) बहुत से बालकों को अग्रयान (= बोधिसत्त्वयान) में पक्का करने के लिए, एवं दूसरे खर्ब-खर्ब प्राणियों को अमृत (= मोक्ष) में विनीत करने के लिए, लिपिशाला में सीखने के लिए आए है।

(–125–) लोकोत्तरेषु चतुसत्यपथे विधिज्ञो
हेतु प्रतीत्य कुशलो यथ संभवन्ति।
यथा चा निरोध क्षयु संस्थितु सीतिभावः
तस्मिन् विधिज्ञ किमथो लिपिशास्त्रमात्रे ॥299॥

(ये) चतुरार्यसत्य के लोकोत्तर मार्ग की विधि जानते है। (धर्म) जैसे हेतु के प्रत्यय से उत्पन्न है, (उनके ज्ञान में ये) कुशल है। और जिस प्रकार (उन धर्मों का) निरोध, क्षय, संस्थिति (= मरण), तथा शीतीभाव होता है, उसकी विधि भी जानते हैं, फिर केवल लिपि-शास्त्र की बात ही क्या ?

नेतस्य आचरिय उत्तरि वा त्रिलोके
सर्वेषु देवमनुजेष्वयमेव जेष्ठः ।
नामापि तेष लिपिनां न हि वित्थ यूयं
यत्रेष शिक्षितु पुरा बहुकल्पकोटयः ॥300॥

तीनों लोको में अथवा उनसे ऊपर इन (बोधिसत्त्व) का कोई आचार्य नहीं है। ये ही सब देवताओ और मनुष्यों मे ज्येष्ठ है। तुम—सब उन लिपियों का नाम भी नही जानते हो, जिनको बहुत कल्प-कोटियों तक इन (बोधिसत्त्व) ने पहले सीखा है।

यो[3] चित्तधार जगतां विविधा विचित्रा
एकक्षणेन अयु जानति शुद्धसत्त्वः ।
अदृश्यरूपरहितस्य गति च वेत्ति
किं वा पुनोऽथ लिपिनो ऽक्षरदृश्यरूपां ॥301॥

लोगो की विविध एवं विचित्र जो चित्तधारा या चित्त-संतति है, उसे ये शुद्धसत्त्व एक क्षण मे जान जाते हैं। अदृश्य तथा रूपरहित (भाव) की गति जानते है। फिर अक्षरो की दिखाई पड़ने वाली, रूपवती लिपियो (के जानने) की बात ही क्या ?

ऐसा कह कर वह देवपुत्र बोधिसत्त्व की दिव्य पुष्पो से पूजा कर वही अन्तर्हित हो गए।

3. तब धायों तथा चोटियों का दल वही ठहरा रहा शेष शुद्धोदन आदि शाक्य [4]लौट गए[4]। तब बोधिसत्त्व उरग सारचन्दन के बने, [5]दिव्यरंग के, सुनहले तिलक के[5], चारो ओर मणियो और रत्नों से जड़े हुए लिपिफलक लेकर आचार्य विश्वामित्र से यो कहा। हे उपाध्याय, मुझे कौन सी लिपि = 98ख = सिखाएँगे। (1) ब्राह्मी, (2) खरोष्ठी, (3) पुष्करसारी, (4) अङ्गलिपि, (5) वङ्गलिपि, (6) मगधालिपि, (7) मङ्गल्यलिपि, (8) अङ्गुलीयलिपि, (9) [6]शकारलिपि, (10) ब्रम्हवलिलिपि[6], (11) पारुष्यलिपि, (12) द्राविड़लिपि,

3. मूल, सो। भोट, गङ्, यः, या, यत् इत्यादि, जो।
4····4. मूल, प्रक्रामन्त.। अर्थ, लौट गए। तुलनीय भोट, फ्यिर् दोङ् ङो।
5····5. मूल, दिव्यार्पसुवर्णतिरकं। यह पाठ सदिग्ध है। सभवत: मूल दिव्यवर्ण-सुवर्णतिरक हो। तुलनीय भोट, ल्ह हि. छोन् ब्युग् प, ग्सेर् गियि यङ् मिग् गिस् ब्त्गस् प, दिव्यवर्णलिप्त, सुवर्णतिलकखचितं।
6····6. मूल, सकारलिपि ब्रह्मवलिलिपि। भोट, श्कन् हि. यि गे ह.मु, य-व-न हि. यि गे ह.मु, ब्कल् व हि. यि गे ह.मु, शकनलिपि, यवनलिपि, भारलिपि।

(13) किरातलिपि, (14) दाक्षिण्यलिपि, (15) उग्रलिपि, (16) संख्यालिपि, (17) अनुलोमलिपि, (18) अवमूर्धलिपि, (19) दरदलिपि, (20) खाष्यलिपि, (21) चीनलिपि, (22) लूनलिपि, (23) हूनलिपि, (24) मध्याक्षरविस्तरलिपि, (25) पुष्पलिपि, (= पुष्यलिपि[7]), (26) देवलिपि, (27) नागलिपि, (28) यक्षलिपि, (29) गन्धर्वलिपि, (30) किन्नरलिपि, (31) महोरगलिपि (32) असुरलिपि, (33) गरुडलिपि, (34) मृगचक्रलिपि, (35) वायसरुतलिपि- (36) भौमदेवलिपि, (37) अन्तरिक्षदेवलिपि, (38) उत्तरकुरुद्वीपलिपि, (39) अपरगोदानीयलिपि, (40) पूर्वविदेहलिपि, (41) उत्क्षेपलिपि, (42) निक्षेपलिपि, (43) [8]विक्षेपलिपि, (44) प्रक्षेपलिपि[8], (45) सागरलिपि, (46) वज्रलिपि, (47) [9]लेखप्रतिलेखलिपि, (48) अनुपद्रुतलिपि, (= अशीघ्रलिपि[9], (49) शास्त्रावर्तलिपि[10], (50) गणनावर्त = 99क = लिपि, (51) उत्क्षेपावर्तलिपि, (52) निक्षेपावर्तलिपि[11], (53) पादावर्तलिपि[12], (54) द्विरुत्तरपदसंधिलिपि, यावद्दशोत्तरपदसंधिलिपि, (= दो वर्णों से लेकर दश वर्णों को उत्तरोत्तर एक मे मिला कर लिखने की लिपि), (55) अध्याहारिणीलिपि[13], (56) सर्वरुतसंग्रहणीलिपि, (57) विद्यानुलोमाविमिश्रितलिपि[14], (58)

7····7. मूल, पुष्पलिपि, । भोट, ग्र्यॅल ग्यि यिगे, पुष्यलिपि ।

8····8. मूल, विक्षेपलिपि प्रक्षेपलिपि । भोट, ब्स्नन् प हि. यि गे, प्रक्षेपलिपि ।

9····9. मूल, लेखप्रतिलेखलिपि अनुद्रुतलिपि । भोट, स्प्रिङ् यिग् दङ् लन् ग्यि यि गे ह.म्. नॅम् ह्.योर् ग्यि यि गे ह.म्. रिङ्स् मेद् क्यि यि गे ह.म्, लेखप्रतिलेखलिपि, विक्षेपलिपि, अनुपद्रुतलिपि ।

10. मूल, शास्त्रावर्ता । भोट, ब्स्तन् ब्चोस् ब्स्कोर् व हि. यि गे, शास्त्रावर्तलिपि ।

11. मूल, (निक्षेपावर्तलिपि) । यह कोष्ठकान्तर्गत पा० भोट में है । ग्शोग् प ब्स्कोर् ब हि. यि गे ह.म् ।

12. मूल, पादलिखितलिपि । भोट, कॅङ् पस् ब्स्कोर् व हि. यि गे, पादावर्तलिपि ।

13. मूल, मध्यहारिणीलिपि । भोट, ब्ल थब्स् सु ब्स्नन् प हि. यि गे ह.म्, उपायोत्तरगुणनलिपि, ऐसी लिपि जिसके द्वारा उत्तरोत्तर उपाय द्वारा गुणन किया जा सके । इस अर्थ को देखते हुए पाठान्तरानुसार अध्याहारिणीलिपि, संभवत: मूल, पाठ होगा ।

14. मूल विद्यानुलोमाविमिश्रितलिपि । भोट, रिग् प दङ् म्थुन् प हि. यि गे ह.म्, नॅम् पर् ह.द्रेस् प हि. यि गे ह.म्, विद्यानुलोमलिपि, विमिश्रितलिपि ।

ऋषितपस्तप्ता (=ऋषियों के तप से तपी हुई लिपि), (59) रोचमाना[15] (=देखने मे सुन्दर लगने वाली लिपि), (60) धरणीप्रेक्षणीलिपि, (61) गगन-प्रेक्षणीलिपि, (62)[15क] सर्वौषधिनिष्यन्दा (-लिपि), (63) सर्वसारसंग्रहणीलिपि, तथा (64) सर्वभूतरुतग्रहणीलिपि,[15क] (नाम की) चौसठ लिपियों मे से, हे उपाध्याय, कौन सी लिपि सिखाएँगे।

4. तब बालकों के आचार्य विश्वामित्र विस्मित होकर, मद, मान तथा दर्प (=घमंड) से रहित हो, चेहरे पर हँसी लाकर इन गाथाओं को कहा।

(आचार्य-विश्वामित्रोक्त गाथाएँ)

[16]महाश्चर्यः शुद्धसत्त्वो[16] लोके लोकानुवर्तने[17] ।
शिक्षितः सर्वशास्त्रेषु लिपिशालामुपागतः ॥302॥

महान् आश्चर्य वाले, सब शास्त्रो मे शिक्षित, (ये) शुद्धसत्त्व लोक मे लोक (के आचार का) अनुवर्तन करने के लिए–पालन करने के लिए लिपिशाला में आए हैं।

येषामहं नामधेयं लिपीनां न प्रजानमि ।
तत्रैष शिषित (:) सन्तो लिपिशालामुपागतः ॥303॥

जिन लिपियो का नाम मैं नही जानता, उनमे अनुशासन पा कर (भी) ये लिपिशाला मे आए हैं।

वक्त्रं चास्य न पश्यामि मूर्धानं तस्य =99ख=नैव च ॥
शिष्ययिष्ये कथं ह्येनं लिपिप्रज्ञाय पारगं ॥304॥

मुझे (तेज की अधिकता के कारण) न तो इनका मुख दिखाई पड़ रहा है, और न शिर ही। इन लिपि—विषयक प्रज्ञा के पारगामी को मैं कैसे सिखाऊँगा ?

15. मूल, रोचमाना। भोट, ल्ह ङेस् पहि. यि गे ह.म्, दिव्यनिर्वचनीलिपि।

15क····15क. मूल, सर्वौषधनिष्यन्दां सर्वसारसंग्रहणीं सर्वभूतग्रहणी। भोट, स्मन् थमस् चद् विय ग्यु म्युन् प हि. यि गे ह.म्, स्निङ् पो थमस् चद् कुन् तु स्दुद् प हि. यि गे ह.म्, ह.ब्युङ् वो थमस् चद् विय स्ग्र स्डु द् प हि. यि गे ह.म्, सर्वौषनिष्यन्दालिपि, सर्वसार संग्रहणीलिपि, सर्वभूतग्रहणीलिपि।

16····16. मूल, आश्चर्य शुद्ध-सत्वस्य। भोट, सेमस् चन् दग् पा ङो म्छर् छे, महाश्चर्य शुद्धसत्त्वः।

17. मूल, लोकानुवर्तिनः। भोट, ह.जिग् तेन् र्जेस् सु.अग् फ्यिर्, लोकानुवर्तनार्थम्। मूल का शुद्ध पाठ स्यात् लोकानुवर्तने (निमित्तसप्तमी) था।

देवदेवो ह्यतिदेवः सर्वदेवोत्तमो विभुः ।
असमश्च विशिष्टश्च लोकेष्वप्रतिपुद्गलः ॥305॥

ये देवताओं के भी देवता हैं, अतिदेव अर्थात् महादेव हैं, सब देवताओं मे श्रेष्ठ हैं, विभु अर्थात् प्रभु हैं, इनकी समता किसी से नही हो सकती, ये विशेष-(-पुरुष) हैं, लोकों मे इनकी बराबरी का अन्य पुरुष नही है ।

(-127-) अस्यैव त्वनुभावेन प्रज्ञोपाये विशेषतः ।
शिक्षितं शिष्ययिष्यामि सर्वलोकपरायणं ॥306॥

इन्हीं के प्रभाव से प्रज्ञा तथा उपाय (के विषय) मे विशेष रूप से सब लोक को आश्रय देनी वाली शिक्षा को सिखाऊँगा ?

5. हे भिक्षुओं, इस प्रकार दस हजार बालक बोधिसत्त्व के साथ लिपि की शिक्षा पाते थे । वहां बोधिसत्त्व के अधिष्ठान (संकल्प अथवा मंगल कामना) से मातृका (= वर्णमाला) बाँचते समय वे जब अ पढ़ते थे, तब अनित्य हैं सब संस्कार ऐसा शब्द निकलता था । जब आ पढ़ते थे, तब आत्मपरहित शब्द निकलता था । इ पढ़ने पर इन्द्रिय विकल शब्द, उ पढने पर उपद्रव की बहुतायत वाला जगत्—ऐसा शब्द, ऊ पढ़ने पर ऊनसत्त्व अर्थात् हीन प्राणियों वाला जगत् ऐसा शब्द, ए पढने पर एषणा (इच्छा) से दोष उपजते है ऐसा शब्द, ऐ पढने पर ऐर्यापथ (ईर्यापथ) श्रेयस्कर है ऐसा शब्द, ओ पढ़ने पर ओघ (संसार की बाढ़ से) उत्तर (पार होने) का शब्द, औ पढने पर औपपादुक दिव्य जन्म वाले प्राणी) शब्द, अं पढने पर अमोघोत्पत्ति (सफलजन्म) शब्द तथा अः पढने पर अस्तंगमन (पापों के अस्त हो जाने का) शब्द निकलता था । क पढ़ने पर कर्मवि=100 क=पाकावतार (अर्थात् कर्म-फल मे प्रवेश) का शब्द, ख पढ़ने पर खसम (गगन-तुल्य) हैं सब धर्म ऐसा शब्द, ग पढने पर गम्भीरधर्म (के) प्रतीत्यसमुत्पाद (मे) अवतार (= प्रवेश) का शब्द, घ पढ़ने पर घनपटल के समान अविद्या, मोह तथा अन्धकार के विध्वंस का शब्द, ङ पढ़ने पर अङ्ग-विशुद्धि शब्द, च पढ़ने पर चतुरार्यसत्य शब्द, छ पढने पर छन्द (=इच्छा) राग-प्रहाण शब्द, ज पढने पर जरा-मरण से अतिक्रमण (पार निकलने) का शब्द, झ पढने पर झषध्वज (अर्थात् काम) की सेना के निग्रह का शब्द, ञ पढ़ने पर ज्ञापन शब्द, ट पढने पर पट (= ज्ञानवरण) के उपच्छेद (नाश) का शब्द, ठ पढने पर ठपनीयप्रश्न (= स्थापनीय प्रश्न अर्थात् व्याख्या के अयोग्य प्रश्न) शब्द, ड पढ़ने पर डमर (= दंगा वाले) मार के निग्रह का शब्द, ढ पढ़ने पर मीढविषय (मल के तुल्य विषय-भोग है ऐसा) शब्द, ण पढ़ने पर रेणु—(के समान आँखो में धूल झोकने वाले) क्लेश (होते है ऐसा) शब्द, त पढ़ने पर तथता असंभेद अर्थात् द्वैतभाव से अमिश्रित है ऐसा शब्द, थ पढ़ने पर थाम (= स्थाम अर्थात् स्थिरता)—बल—

वेग–वैशारद्य (निर्भयता) शब्द, द पढ़ने पर दान-दम–संयम–[18] सौरम्य (सौख्य-वाकृपालुता)–शब्द[18], घ पढ़ने पर धन आर्यो का =100ख=सात प्रकार का अर्थात् श्रद्धा, शील, ह्री (=आत्मलज्जा) अपत्राप्य (=लोकलज्जा), श्रुत, त्याग तथा प्रज्ञा रूपी सात प्रकार का होता है ऐसा शब्द, न पढ़ने पर नाम (=चित्त तथा चैत धर्म) तथा रूप (भूत तथा भौतिक अर्थ) की परिज्ञा (=पूर्णज्ञता) का शब्द, प पढ़ने पर परमार्थ शब्द, फ पढ़ने पर फल-प्राप्ति की साक्षात्क्रिया (=प्रत्यक्षज्ञान) का शब्द, ब पढ़ने पर बन्धनमोक्ष शब्द, (–128–) भ पढ़ने पर भव (=उत्पाद) तथा (विभव) (=विनाश) का शब्द, म पढ़ने पर मद तथा मान के उपशमन (=शान्तिभाव) का शब्द, य पढ़ने पर यथावत् (=सम्यक् रूप से) धर्म के प्रतिवेध (=अन्तः प्रवेश) का शब्द, र पढ़ने पर रति-अरति-परमार्थरति शब्द, ल पढ़ने पर लता (तृष्णा-रूपिणी वल्लरी) के छेदन का शब्द, व पढ़ने पर वरयान (=बोधिसत्त्वयान वा महायान) शब्द, श पढ़ने पर शमथ (=शान्तचित्तता) तथा विपश्यना (=तत्त्वदर्शन) का शब्द, ष पढ़ने पर षडायतन (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा चित्त) के निग्रहण (=वशीकरण) तथा षडभिज्ञाओं (अर्थात् दिव्यचक्षु, दिव्यश्रोत्र, परचित्तज्ञान, पूर्वनिवासानुस्मृति, ऋद्धि, तथा आस्रवक्षयज्ञान) की विद्या की प्राप्ति का शब्द, स पढ़ने पर सर्वज्ञ (=बुद्ध) ज्ञान के अभिसम्बोधन (=समझने-बूझने) का शब्द, ह पढ़ने पर हतक्लेश अर्थात् नष्ट हुए क्लेश वाले विराग का शब्द, तथा क्ष पढ़ने पर क्षणपर्यन्त क्षण मे अन्त को प्राप्त होने वाले सभी अभिलाप्य (=शब्द-व्यवहार द्वारा प्रकाश्य) धर्म हुआ करते हैं ऐसा शब्द निकलता था।

6. हे भिक्षुओ, इस प्रकार उन बालकों के द्वारा मातृका (=वर्णमाला) बाँचते समय बोधिसत्त्व के प्रभाव से ही प्रमुख-प्रमुख असंख्येय शतसहस्र धर्ममुख अर्थात् धर्म मे प्रवेश कराने वाले शब्द निकलते थे।

7. उस समय क्रम से बोधिसत्व ने =101क= लिपिशाला में रहते हुए बत्तीस हज़ार बालकों को अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि मे पक्का किया। [19]बत्तीस हजार बालिकाओं ने (बोधि) चित्त उपजाया[19]। यही हेतु था यही प्रत्यय

18····18. मूल, ०सौरम्यशब्दः। पठनीय ०सौख्यशब्दः भोट, **देस् प हि् स्ग्र्**, सौख्य अर्थात् कृपालुता का शब्द। "स्याद् दयालुः कारुणिकः कृपालुः सूरतः समाः (अमरकोष)"।

19····19. मूल चित्तान्युत्पादितानि द्वात्रिंशद्दारिकासहस्राणि। भोट मे यह पाठ नहीं है।

(=कारण) था जिसके वश शिक्षित होते हुए भी बोधिसत्त्व लिपिशाला में गए थे।[20]

॥ इति श्रीललितविस्तरे लिपिशालासंदर्शनपरिवर्तो नाम दशमोऽध्यायः ॥

20. इस परिवर्त में आई हुई गाथाओं की संस्कृत छाया आगे दी जा रही है—
शास्त्राणि यानि प्रचरन्ति मनुष्यलोके संख्या लिपिश्च गणनापि च धातुतन्त्रम्। ये शिल्पयोगाः पृथवः (=बहवः) लौकिका अप्रमेयास् तेषु—एष शिक्षितः पुरा बहुकल्पकोटीः ॥297॥ किं तु जनस्यानुवर्तनतां करोति लिपिशालामागतः सुशिक्षितः शिक्षणार्थम्। परिपाचनार्थं बहून् दारकान् अग्रयानेऽन्यांश्च सत्त्वनयुतान्यमृते विनेतुम् ॥298॥ लोकोत्तरे चतुःसत्यपथे विधिज्ञो हेतुं प्रतीत्य कुशलो यथा सम्भवन्ति (धर्मा इति शेषः)। यथा च निरोधः क्षयः सुस्थितः शीतीभावस् तस्मिन् विधिज्ञः किमथो लिपिशास्त्रमात्रे ॥299॥ नैतस्याचार्य उत्तरे वा त्रिलोके सर्वेषु देवमनुजेष्वयमेव ज्येष्ठः। नामापि तासां लिपीना न हि वित्थ यूयं यत्रैष शिक्षितः पुरा बहुकल्पकोट्यः ॥300॥ या चित्तधारा (=चित्तसंततिः) जगतां विविधा विचित्रा (ताम् इति शेषः) एकक्षणेनायं जानाति शुद्धसत्त्वः। अदृश्यरूपरहितस्य गतिं च वेत्ति किं वा पुनरथ लिपीरक्षरदृश्यरूपाः ॥301॥ महाश्चर्यः शुद्धसत्त्वो लोके लोकानुवर्तने। शिक्षितः सर्वशास्त्रेषु लिपिशालामुपागतः ॥302॥ यासामहं नामधेयं लिपीनां न प्रजानामि। तत्रैष शिष्टः सन् लिपिशालामुपगतः ॥303॥ वक्त्रं चास्य न पश्यामि मूर्धानम् एतस्य नैव च। शिक्षयिष्ये कथं ह्येनं लिपिप्रज्ञायाः पारगम् ॥304॥ देवदेवो ह्यतिदेवः सर्वदेवोत्तमो विभुः। असमश्च विशिष्टश्च लोकेष्वप्रतिपुद्गलः ॥305॥ अस्यैव त्वनुभावेन प्रज्ञोपाये विशेषतः। शिक्षितं शिक्षयिष्यामि सर्वलोकपरायणम् ॥306॥

॥११॥

॥ हूँ षिश्रामप रेवर्ते ॥

मुद्रितग्रन्थ 128 (पंक्ति 15)—136 (पंक्ति 9)

भोटानुवाद 101 क (पंक्ति 2)—105 क पंक्ति 7)

॥११॥

॥ कृषिग्रामपरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओ, इस प्रकार कुमार (सिद्धार्थ) बड़े हुए। अनन्तर किसी अन्य समय कुमार दूसरे कुमारों और मन्त्रिपुत्रों के साथ कृषिग्राम को देखने के लिए गए तथा खेती का काम-काज देख कर उद्यानभूमि में प्रवेश किया। मन में उद्वेग से भरे हुए, दूसरे किसी को साथ न लेकर अकेले घूमते हुए, वहाँ पर बोधिसत्त्व ने एक प्रसन्नता देने वाला देखने में मनोहर जम्बूवृक्ष देखा। वहाँ बोधिसत्त्व छाया में पलथी मार कर बैठ गए।

2. बैठते ही बोधिसत्व को चित्त की एकाग्रता प्राप्त हो गई (–129–)। जिसे पाकर काम-वासनाओं से अलग हुए, अशुभ-पाप धर्मों से अछूते, वितर्क तथा विचार अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्म चिन्तन से युक्त, विवेक (=एकान्त) में उत्पन्न प्रीति तथा सुख से युक्त, प्रथम ध्यान को पाकर विहार करने लगे।

3. वे (फिर) वितर्क तथा विचार अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्म चिन्तन के शान्त हो जाने के कारण अध्यात्म में अर्थात् अपने आत्म के भीतर निर्मल होने से, चित्त की एक-सन्तानता के कारण अर्थात् एक धारा में चित्त के बहने के कारण वितर्क तथा विचार अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्म चिन्तन से रहित, समाधि से उत्पन्न[1] प्रीति तथा सुख से युक्त द्वितीय ध्यान को पाकर विहार करने लगे।

4. वे (फिर) प्रीति में =101ख= राग न रहने के कारण, उपेक्षक हो कर—उदासीन होकर विहार करने लगे। वे स्मृति से युक्त, जानते-पहचानते हुए शरीर द्वारा सुख का अनुभव करने लगे। जिसका बखान आर्य लोग यों करते हैं कि वे उपेक्षक, स्मृतिमान्, सुख से विहार करते हुए प्रीति से रहित तृतीय ध्यान को पाकर विहार करने लगे।

5. वे (फिर) सुख के परित्याग कर देने से, तथा पहले से ही दुःख का परित्याग हो जाने के कारण सौमनस्य तथा दौर्मनस्य के अस्त हो जाने से, दुःख

1. मूल, समाधितं। भोट, तिङ् ङे ह्जिन् लस् स्क्येस् प हि, समाधिजं वैद्यजीने समाधिजं पाठ रख कर लेफमन् का पाठ पाद टिप्पणी में रखा है।

से रहित, सुख से रहित, उपेक्षा एवं स्मृति से परिशुद्ध चतुर्थ ध्यान को पाकर विहार करने लगे।

6. उस समय पांच (बौद्ध धर्म से) बाहर के ऋषि, जिन्हें पांच अभिज्ञाएँ प्राप्त थीं, जो ऋद्धिमान् थे, तथा आकाश-मार्ग से जाने का जिनमें सामर्थ्य था, वे दक्षिण दिशा से उत्तर दिशा की ओर जा रहे थे। वे जब उस वन-खण्ड के ऊपर जाने लगे तब न जा पाए, मानो उन्हें किसी ने रोक लिया हो। उनके रोंगटे खड़े हो गए और उन्होंने यह गाथा कही—

(ऋषिजन-कथित गाथा)

(दण्डक-छंद)

वयमिह मणिवज्रकूटं गिरिं
मेरुमभ्युद्गतं तिर्यगत्यर्थवैस्तारिकं,
गज इव सहकारशाखाकुलां
वृक्षवृन्दां प्रदारित्व निघाविताानेकशः।
वयमिह मरुणां पुरे चाप्यसक्ता गता
यक्षगन्धर्ववेश्मानि चोर्ध्वं नभे निश्रिता,
इम पुन वनखण्डमासाद्य सीदाम भोः
कस्य लक्ष्मी निवर्तेति ऋद्धेर्बलं ॥इति॥307॥

हम यहाँ पर तिरछे अत्यन्त दूर तक फैले हुए, ऊपर उठे हुए मणियों और हीरों की चोटी वाले सुमेरु पर्वत तक उस प्रकार दौड़ कर गए हैं, जिस प्रकार हाथी आम की शाखाओं से भरे-पुरे वृक्षों के झुरमुटों को तोड़-फोड़ कर दौड़ा करते हैं। हम यहाँ देवताओं के नगर में भी बिना किसी रुकावट के, ऊपर आकाश में स्थित यक्षों तथा गन्धर्वों के महलों में गए हैं, पर इस वन-कुञ्ज के ऊपर पहुँच कर हमें रुकना पड़ा है, अहो, यह किसकी लक्ष्मी ऋद्धि के बल को रोक रही है।

7. (–130–) तब (यह गाथा सुन कर) उस वन-कुञ्ज की देवता ने उन ऋषियों को गाथा में (यों) कहा—

(देवता—कथित प्रतिवचन—गाथा)

(दण्डक—छन्द)

नृपतिपति =102 क= कुलोदितः शाक्यराजा-
त्मजो बालसूर्यप्रकासप्रभः
स्फुटितकमलगर्भवर्णप्रभश्
चारुचन्द्राननो लोकज्येष्ठो विदः।

अयमिह वनमाश्रितो ध्यानचिन्तापरो
देवगन्धर्वनागेन्द्रयक्षार्चितो,
भवशतगुणकोटिसंवर्धितस्
तस्य लक्ष्मी निवर्तेति ऋद्धेर्बलं ।।इति।।308।।

राजाधिराज–वंश में उत्पन्न, शाक्यों के राजा (शुद्धोदन) के पुत्र, प्रभात के सूर्य के आतप के समान प्रभा वाले, खिले हुए कमल के अन्तर्भाग के रंग जैसी रंगीली कान्ति वाले, निर्मल चन्द्र जैसे मुख वाले, लोक में सबसे बड़े विद्वान्, देवताओं, गन्धर्वों, तथा नागेन्द्रों से पूजित, शत-शत जन्मों में कोटि-कोटि पुण्य-गुणों से समृद्ध हुए, ये यहाँ इस वन में बैठे ध्यान-चिन्तन में लगे हुए हैं। इन्हीं की लक्ष्मी ऋद्धिबल को रोक रही है।

8. तब उन्होंने नीचे निहारते हुए तेज और लक्ष्मी से अत्यन्त उज्ज्वल कुमार (सिद्धार्थ) को देखा। उनके मन में यह भाव उठा। यह कौन यहाँ बैठा है। कहीं ये धनाधिपति वैश्रवण न हो। कहीं कामाधिपति मार न हों। ये या तो महा-नागेन्द्र (शेष) हैं, या वज्रपाणि महेन्द्र है, या कुष्माण्डाधिपति रुद्र है, अथवा महोत्साही कृष्ण है, अथवा देवपुत्र चन्द्र है, अथवा सहस्रकिरण सूर्य है, हो न हो ये होने वाले चक्रवर्ती राजा हों।

उन्होंने उस समय यह गाथा कही—

(ऋषि जनों की वितर्कमयी गाथा)

(शार्दूलविक्रीड़ित छन्द)

रूपं वैश्रवणातिरेकवपुषं व्यक्तं कुबेरो ह्ययं
आहो वज्रधरस्य चैव प्रतिमा चन्द्रोऽथ सूर्यो ह्ययं।
कामाग्राधिपतिश्च वा प्रतिकृती रुद्रस्य कृष्णस्य वा
श्रीमान् = 102ख =. लक्षणचित्रिताङ्गमनघो
बुद्धोऽथवा स्यादयं ।।309।।

रूप तो वैश्रवण से अधिक (दिव्य) शरीर का है, स्पष्ट ही ये कुबेर है, अथवा ये वज्रधर (इन्द्र) की प्रतिमा है, अथवा ये चन्द्र या सूर्य है या काम के श्रेष्ठ अधिपति-(मार) हैं। या फिर ये रुद्र या कृष्ण की चित्रित-छवि है, अथवा लक्षणों से विचित्र अङ्गों वाले ये श्रीधन, निष्पाप, बुद्ध है।

10. तब उस वन-देवता ने उन ऋषियों को गाथा में उत्तर दिया—

(वन–देवता की प्रतिवचन–गाथा)

(शार्दूलविक्रीड़ित छन्द)

या श्री वैश्रवणे च वै निवसते या वा सहस्रेक्षणे
लोकानां परिपालकेषु चतुषु या चासुरेन्द्रश्रिया।

ब्रह्मे या च सहापतौ निवसते कृष्णे च या च श्रिय।
सा श्री प्राप्य इमं हि शाक्यतनयं नोपेति कांचित् कलां ॥310॥

जो श्री वैश्रवण (कुबेर) में अथवा इन्द्र में निवास करती है, कि वा जो श्री चारों लोकपालो में अथवा असुराधिराज में निवास करती है, कि वा जो श्री सहापति ब्रह्मा मे अथवा कृष्ण मे निवास करती है, वह श्री इन शाक्यकुमार के पास पहुँच कर (इनकी श्री की) किसी कला के बराबर भी नहीं पहुँच पाती '

11. (-131-) तब वे ऋषि उस देवता के वचन को सुन कर भूतल पर उतरे और बोधिसत्त्व को शरीर से अचञ्चल, प्रज्वलित अग्निराशि के समान देखा। वे बोधिसत्त्व का ध्यान करते हुए गाथाओं द्वारा स्तुति करने लगे।

उनमे से एक ने कहा—

लोके क्लेशाग्निसंतप्ते प्रादुर्भूतो ह्ययं ह्रदः।
अयं तं प्राप्स्यते धर्मं यज्जगद् ह्लादयिष्यति ॥311॥

क्लेश की आग से तपे हुए लोक में ये सरोवर उत्पन्न हुए हैं। ये उस धर्म को प्राप्त करेंगे जो जगत् को आह्लादित करेगा।

एक और ने कहा—

अज्ञानतिमिरे लोके प्रादुर्भूतः प्रदीपकः।
अयं तं प्राप्स्यते धर्मं यज्जगद् भासयिष्यति ॥312॥

अज्ञान में अँधेरे लोक में (ये) प्रदीप उत्पन्न हुए है। ये उस धर्म को प्राप्त करेंगे, जो जगत् मे उजाला फैलाएगा।

एक और ने कहा—

शोकसागरकान्तारे यान श्रेष्ठमुपस्थितं।
अयं तं प्राप्स्यते धर्मं यज्जगत् तारयिष्यति ॥313॥

(संसार के इस) कान्तार अर्थात् निर्जन में जहाँ शोक-समुद्र लहरा रहा है वहाँ ये श्रेष्ठ यान बन कर उपस्थित हुए है। ये उस धर्म को प्राप्त करेंगे जो जगत् को तार देगा।

एक और ने कहा—

क्लेशबन्धनबद्धानां प्रादुर्भूतः प्रमोचकः। = 103क =
अयं तं प्राप्स्यते धर्मं यज्जगद् मोचयिष्यति ॥314॥

क्लेश के बन्धन मे बँधे लोगों के ये छुडाने वाले उत्पन्न हुए हैं। ये उस धर्म को प्राप्त करेंगे जो इस जगत् को मुक्ति दिलाएगा।

एक और ने कहा—

जराव्याधिक्लिष्टानां प्रादुर्भूतो भिषग्वरः।
अयं तं प्राप्स्यते धर्मं जातिमृत्युप्रमोचकं ॥315॥

बुढ़ौती तथा व्याधियों से भुगतने वाले लोगों के लिए ये श्रेष्ठ वैद्य उत्पन्न हुए हैं। ये उस धर्म को प्राप्त करेंगे जो जरा-मरण से मुक्त करेगा।

वे ऋषि बोधिसत्त्व की इन गाथाओं द्वारा स्तुति करने के बाद उनकी तीन प्रदक्षिणाएँ की और आकाश से चले गए।

12. राजा शुद्धोदन भी बोधिसत्त्व को न देख, बोधिसत्त्व के बिना, निरानन्द थे। वे बोले—कुमार नहीं दिखाई पड़ रहे हैं, कहाँ चले गए? तब बहुत से लोग दौड़ पड़े (–132–) कुमार की खोज करते हुए। उस समय एक राजमन्त्री ने बोधिसत्त्व को जम्बूवृक्ष की छाया में पलथी मारकर ध्यान करते हुए देखा। सब पेड़ों की छाया पलट चुकी थी पर जम्बूवृक्ष की छाया बोधिसत्त्व के शरीर को न छोड़ रही थी। उन्हें देखकर उसे अचरज हुआ, वह संतुष्ट हुआ, फूला न समाया, (मन कहीं उछल न जाए इसलिए) मन को पकड़े हुए, प्रमोद से पूर्ण, प्रीति और सौमनस्य से भरे हुए उसने जल्दी-जल्दी दौड़ राजा शुद्धोदन के पास पहुँच कर दो गाथाओं द्वारा कहा।

(अमात्य द्वारा कही गईं गाथाएँ)

पश्य देव कुमारोऽयं जम्बूछाया हि ध्यायति।
यथा शक्रोऽथवा ब्रह्मा श्रिया तेजेन शोभते ॥316॥
यस्य वृक्षस्य छायायां निषण्णो वरलक्षणः।
सैनं न जहते छाया =103ख= ध्यायन्तं पुरुषोत्तमं ॥317॥

देव, देखिए। ये कुमार जम्बूवृक्ष की छाया में ध्यान कर रहे हैं, ये इन्द्र अथवा ब्रह्मा की भाँति श्री तथा तेज से शोभायमान हैं। जिस वृक्ष की छाया में ये उत्तम लक्षण वाले विराजमान हैं, वह छाया ध्यान करते हुए उन पुरुषोत्तम को नहीं छोड़ रही है।

13. तब राजा शुद्धोदन जहाँ पर जम्बूवृक्ष था, वहाँ पर गए। बोधिसत्त्व को श्री तथा तेज से जलते देखा, देखकर उन्होंने इस गाथा को कहा—

(शुद्धोदन की आश्चर्य-भाव से भरी गाथा)

(महीपजाति छन्द) (१२,११,१२,११ अक्षर)

हुताशनो वा गिरिमूर्ध्नि संस्थितः शशीव नक्षत्रगणानुचीर्णः।
वेपन्ति गात्राणि मि पश्यतो इमं ध्यायन्तु तेजो नु प्रदीपकल्पं ॥318॥

पर्वत के शिखर पर स्थित अग्नि के समान, नक्षत्रगण जिसके पीछे-पीछे चल रहे है, ऐसे चन्द्रमा के समान, तथा प्रदीप के समान इस तेज को ध्यान करते हुए देख कर मेरे अंग-अंग काँप रहे है।

14. उन्होंने बोधिसत्त्व के चरणों की वन्दना कर इस गाथा को कहा—

(शुद्धोदन की वन्दना-गाथा)

यदा चासि मुने जातो यदा ध्यायसि चार्चिमन् ।
एवं द्विरपि[2] ते नाथ पादौ वन्दे विनायक ॥319॥

हे मुने, जब तुम उत्पन्न हुए थे, तब की तरह ही, (आज) हे तेजोमय विनायक जब तुम ध्यान कर रहे हो, मैं तुम्हारे चरणों में दूसरी बार वन्दना कर रहा हूँ।

15. वहाँ पर त्रिफलवाहक (अर्थात् तीन फड की बनी मंचिकाएँ ढोने वाले) बालक हल्ला-गुल्ला मचाते थे। उनसे राजमंत्रियों ने कहा। हल्ला-गुल्ला मत मचाओ, हल्ला-गुल्ला मत मचाओ। यह क्यों ? राजमन्त्री बोले—

(राजमन्त्रियों की घटनाप्रकाशिका गाथा)

(प्रहर्षिणी छन्द)

व्यावृत्ते तिमिरनुदस्य मण्डले ऽपि
व्यामाभं[3] शुभवरलक्षणाग्रधारिं ।
ध्यायन्तं गिरिनिचलं नरेन्द्रपुत्रं
सिद्धार्थं न जहति सैव वृक्षछाया ॥320॥

2. मूल, एकद्विरपि । भोट, ह्वि ल्तर् ल्न् ग्ञिस् सु, एवं द्वितीयवारम् । भोटानुवाद से जान पड़ता है कि मूल पाठ एवं द्विरपि था।

3. मूल, व्योमाभं । यह पाठ अशुद्ध है व्यामाभं होना चाहिए, क्योंकि महापुरुषों के प्रभामण्डल का अर्धव्यास व्याम (=लगभग छह फ़ीट) का होता है। भोट, ह्दोद् ह्दोम् गङ् ब म्ङह् ब, व्यामप्रभावन्तम् । भोट से व्यामाभं पाठ ही सिद्ध होता है।—ॐइस अध्याय में गाथाएँ दो भागों में विभक्त हैं। प्रथम भाग मे कथा-संबन्धी फुटकर गाथाएँ विभिन्न छन्दों में है। उनको ही गद्य के भीतर गूँथ दिया गया है। ये गाथाएँ संभवतः अत्यन्त पुरानी हैं। दूसरे भाग की गाथाएँ वसन्ततिलका छन्द में हैं तथा इनमें भी वही कथा है जो प्रथम भाग मे है। ये गाथाएँ सभवतः एक ही कवि की है। प्रथम भाग की गाथाओं से ये पुरानी हैं। अत एव प्रथम भाग की कथा को प्रमाणित करने के लिए इनको तत्रेदमुच्यते (इस विषय मे यों कहा जाता है) इस वाक्य द्वारा उद्धृत किया गया है।

सूर्य-मंडल के ढल जाने पर भी व्याम-प्रभ (अर्थात् तिरछे हाथों को फैलाने से जितना प्रदेश मापा जा सकता है उसको अर्धव्यास मान कर जो मण्डल बनता है, उस प्रकार के प्रभामण्डल वाले) शुभ तथा श्रेष्ठ एवं उत्तम कोटि के लक्षणों को धारण करने वाले, ध्यान करते हुए पर्वत के समान निश्चल, राजपुत्र सिद्धार्थ को वह वृक्ष की छाया नहीं छोड़ रही है।

16. (–133–) इस विषय में यों कहा जाता है—

(परंपरा द्वारा प्राप्त कृषिग्राम की घटना संबन्धी गाथाएँ)

(वसन्ततिलक छन्द)

ग्रीष्मे वसन्त समुदागत ज्येष्ठमासे
संपुष्पिते कुसुमपल्लवसंप्रकीर्णे।
क्रोञ्चामयूरशुकसारिकसंप्रघुष्टे
भूयिष्ठ = 104क = साकियसुता अभिनिष्क्रमन्ति ॥321॥

ग्रीष्म और वसन्त (की संधि) में ज्येष्ठ मास के लग जाने पर जब सब ओर फूल-ही-फूल होते है, फूल और पत्ते चारों ओर बिखरे हुए होते हैं, सारस, मोर, शुक तथा शारिकाएँ चहचहाती रहती है तब, बहुत से शाक्य-कुमार बाहर घूमने निकलते है।

छन्दोऽप्यवाच परिवारितु दारिकेभिः
हन्ता कुमार वनि गच्छम लोचनार्थम्।
किं ते गृहे निवसतो हि यथा द्विजस्य
हन्त व्रजाम वय चोदन नारिसंघं ॥322॥

लडकों की मंडली के साथ (आकर) छंद ने कहा। अहो, कुमार चलें, वन देखने के लिए। ब्राह्मण की भाँति तुम्हारे घर में पडे रहने से क्या? अहो चले हम भी महिलाओ के समूह पर छीटे छोड़े।

मध्याह्नकालसमये सुविशुद्धसत्त्वः
पञ्चाशतैः परिवृतैः सह चेटकेभिः।
न च मातु नैव च पितु प्रतिवेदयित्वा
ऽबुद्ध निष्क्रमिति गच्छि कृपाणग्रामं ॥323॥

वे पवित्र मन वाले (कुमार) दोपहर के समय पाँच सौ लडको की मण्डली को साथ ले, न माता को ही और न पिता को ही जना कर, अनजाने में ही निकल कर कृपिग्राम चले गए।

पर्वत के शिखर पर स्थित अग्नि के समान, नक्षत्रगण जिसके पीछे-पीछे चल रहे हैं, ऐसे चन्द्रमा के समान, तथा प्रदीप के समान इस तेज को ध्यान करते हुए देख कर मेरे अंग-अंग काँप रहे हैं।

14. उन्होंने बोधिसत्व के चरणों की वन्दना कर इस गाथा को कहा—

(शुद्धोदन की वन्दना-गाथा)

यदा चासि मुने जातो यदा ध्यायसि चार्चिमन्।
एवं द्विरपि[2] ते नाथ पादौ वन्दे विनायक ॥319॥

हे मुने, जब तुम उत्पन्न हुए थे, तब की तरह ही, (आज) हे तेजोमय विनायक जब तुम ध्यान कर रहे हो, मैं तुम्हारे चरणों में दूसरी बार वन्दना कर रहा हूँ।

15. वहाँ पर त्रिफलवाहक (अर्थात् तीन फड की बनी मंचिकाएँ ढोने वाले) बालक हल्ला-गुल्ला मचाते थे। उनसे राजमंत्रियों ने कहा। हल्ला-गुल्ला मत मचाओ, हल्ला-गुल्ला मत मचाओ। यह क्यों? राजमन्त्री बोले—

(राजमन्त्रियों की घटनाप्रकाशिका गाथा)

(प्रहर्षिणी छन्द)

व्यावृत्ते तिमिरनुदस्य मण्डलेऽपि
व्यामाभं[3] शुभवरलक्षणाग्रधारिं।
ध्यायन्तं गिरिनिचलं नरेन्द्रपुत्रं
सिद्धार्थं न जहति सैव वृक्षछाया ॥320॥

2. मूल, एकद्विरपि। भोट, ह्वि ल्तर् लन् ग्ञिस् सु, एवं द्वितीयवारम्। भोटानुवाद से जान पड़ता है कि मूल पाठ एवं द्विरपि था।

3. मूल, व्योमाभं। यह पा० अशुद्ध है व्यामाभं होना चाहिए, क्योंकि महापुरुषों के प्रभामण्डल का अर्धव्यास व्याम (=लगभग छह फ़ीट) का होता है। भोट, ह्दोद् ह्दोम् गङ् ब मृङ्ह् ब, व्यामप्रभावन्तम्। भोट से व्यामाभं पा० ही सिद्ध होता है।—🙏इस अध्याय में गाथाएँ दो भागों में विभक्त हैं। प्रथम भाग में कथा-संबन्धी फुटकर गाथाएँ विभिन्न छन्दों में हैं। उनको ही गद्य के भीतर गूँथ दिया गया है। ये गाथाएँ संभवतः अत्यन्त पुरानी हैं। दूसरे भाग की गाथाएँ वसन्ततिलका छन्द में हैं तथा इनमें भी वही कथा है जो प्रथम भाग में है। ये गाथाएँ सम्भवतः एक ही कवि की हैं। प्रथम भाग की गाथाओं से ये पुरानी हैं। अत एव प्रथम भाग की कथा को प्रमाणित करने के लिए इनको तत्रेदमुच्यते (इस विषय में यों कहा जाता है) इस वाक्य द्वारा उद्धृत किया गया है।

सूर्य-मंडल के ढल जाने पर भी व्याम-प्रभ (अर्थात् तिरछे हाथों को फैलाने से जितना प्रदेश मापा जा सकता है उसको अर्धव्यास मान कर जो मण्डल बनता है, उस प्रकार के प्रभामण्डल वाले) शुभ तथा श्रेष्ठ एवं उत्तम कोटि के लक्षणों को धारण करने वाले, ध्यान करते हुए पर्वत के समान निश्चल, राजपुत्र सिद्धार्थ को वह वृक्ष की छाया नहीं छोड़ रही है।

16. (–133–) इस विषय में यों कहा जाता है—

(परंपरा द्वारा प्राप्त कृषिग्राम की घटना संबंन्धी गाथाएँ)

(वसन्ततिलक छन्द)

ग्रीष्मे वसन्त समुदागत ज्येष्ठमासे
संपुष्पिते कुसुमपल्लवसंप्रकीर्णे।
क्रोञ्चामयूरशुकसारिकसंप्रघुष्टे
भूयिष्ठ = 104क = साकियसुता अभिनिष्क्रमन्ति ॥321॥

ग्रीष्म और वसन्त (की संधि) में ज्येष्ठ मास के लग जाने पर जब सब ओर फूल-ही-फूल होते है, फूल और पत्ते चारों ओर बिखरे हुए होते हैं, सारस, मोर, शुक तथा शारिकाएँ चहचहाती रहती हैं तब, बहुत से शाक्य-कुमार बाहर घूमने निकलते हैं।

छन्दोऽप्यवाच परिवारितु दारिकेभि:
हन्ता कुमार वनि गच्छम लोचनार्थम्।
किं ते गृहे निवसतो हि यथा द्विजस्य
हन्त व्रजाम वय चोदन नारिसंघं ॥322॥

लड़कों की मंडली के साथ (आकर) छंद ने कहा। अहो, कुमार चलें, वन देखने के लिए। ब्राह्मण की भाँति तुम्हारे घर में पड़े रहने से क्या ? अहो चलें हम भी महिलाओं के समूह पर छींटे छोड़ें।

मध्याह्नकालसमये सुविशुद्धसत्त्व:
पञ्चाशतै: परिवृतै: सह चेटकेभि:।
न च मातु नैव च पितु प्रतिवेदयित्वा
ऽबुद्ध निष्क्रमिति गच्छि कृपाणग्रामं ॥323॥

वे पवित्र मन वाले (कुमार) दोपहर के समय पाँच सौ लड़कों की मण्डली को साथ ले, न माता को ही और न पिता को ही जना कर, अनजाने में ही निकल कर कृषिग्राम चले गए।

पर्वत के शिखर पर स्थित अग्नि के समान, नक्षत्रगण जिसके पीछे-पीछे चल रहे हैं, ऐसे चन्द्रमा के समान, तथा प्रदीप के समान इस तेज को ध्यान करते हुए देख कर मेरे अंग-अंग काँप रहे है।

14. उन्होंने बोधिसत्त्व के चरणों की वन्दना कर इस गाथा को कहा—

(शुद्धोदन की वन्दना-गाथा)

यदा चासि मुने जातो यदा ध्यायसि चार्चिमन् ।
एवं द्विरपि[2] ते नाथ पादौ वन्दे विनायक ॥319॥

हे मुने, जब तुम उत्पन्न हुए थे, तब की तरह ही, (आज) हे तेजोमय विनायक जब तुम ध्यान कर रहे हो, मैं तुम्हारे चरणों में दूसरी बार वन्दना कर रहा हूँ।

15. वहाँ पर त्रिफलवाहक (अर्थात् तीन फड की बनी मंचिकाएँ ढोने वाले) बालक हल्ला-गुल्ला मचाते थे। उनसे राजमंत्रियों ने कहा। हल्ला-गुल्ला मत मचाओ, हल्ला-गुल्ला मत मचाओ। यह क्यों? राजमन्त्री बोले—

(राजमन्त्रियों की घटनाप्रकाशिका गाथा)

(प्रहर्षिणी छन्द)

व्यावृत्ते तिमिरनुदस्य मण्डलेऽपि
व्यामाभं[3] शुभवरलक्षणाग्रधारिं ।
ध्यायन्तं गिरिनिचलं नरेन्द्रपुत्रं
सिद्धार्थं न जहति सैव वृक्षछाया ॥320॥

2. मूल, एकद्विरपि। भोट, ह्वि ल्तर् लन् ग्ञिस् सु, एवं द्वितीयवारम्। भोटानुवाद से जान पड़ता है कि मूल पाठ एवं द्विरपि था।

3. मूल, व्योमाभं। यह पाठ अशुद्ध है व्यामाभं होना चाहिए, क्योंकि महापुरुषों के प्रभामण्डल का अर्धव्यास व्याम (=लगभग छह फ़ीट) का होता है। भोट, ह्दोद् ह्दोम् गङ् ब मृङह् ब, व्यामप्रभावन्तम्। भोट से व्यामाभं पाठ ही सिद्ध होता है।—इस अध्याय मे गाथाएँ दो भागो मे विभक्त है। प्रथम भाग मे कथा संबन्धी फुटकर गाथाएँ विभिन्न छन्दों मे हैं। उनको ही गद्य के भीतर गूँथ दिया गया है। ये गाथाएँ संभवतः अत्यन्त पुरानी है। दूसरे भाग की गाथाएँ वसन्ततिलका छन्द मे हैं तथा इनमें भी वही कथा है जो प्रथम भाग मे है। ये गाथाएँ संभवतः एक ही कवि की है। प्रथम भाग की गाथाओं से ये पुरानी हैं। अत एव प्रथम भाग की कथा को प्रमाणित करने के लिए इनको तत्रेदमुच्यते (इस विषय मे यों कहा जाता है) इस वाक्य द्वारा उद्धृत किया गया है।

सूर्य-मंडल के ढल जाने पर भी व्याम-प्रभ (अर्थात् तिरछे हाथों को फैलाने से जितना प्रदेश मापा जा सकता है उसको अर्धव्यास मान कर जो मण्डल बनता है, उस प्रकार के प्रभामण्डल वाले) शुभ तथा श्रेष्ठ एवं उत्तम कोटि के लक्षणों को धारण करने वाले, ध्यान करते हुए पर्वत के समान निश्चल, राजपुत्र सिद्धार्थ को वह वृक्ष की छाया नही छोड रही है।

16. (-133-) इस विषय में यों कहा जाता है—

(परंपरा द्वारा प्राप्त कृषिग्राम की घटना संबंन्धी गाथाएँ)

(वसन्ततिलक छन्द)

ग्रीष्मे वसन्त समुदागत ज्येष्ठमासे
संपुष्पिते कुसुमपल्लवसंप्रकीर्णे।
क्रोञ्चामयूरशुकसारिकसंप्रघुष्टे
भूयिष्ठ = 104क = साकियसुता अभिनिष्क्रमन्ति ॥321॥

ग्रीष्म और वसन्त (की संधि) में ज्येष्ठ मास के लग जाने पर जब सब ओर फूल-ही-फूल होते है, फूल और पत्ते चारों ओर बिखरे हुए होते हैं, सारस, मोर, शुक तथा शारिकाएँ चहचहाती रहती हैं तब, बहुत से शाक्य-कुमार बाहर घूमने निकलते हैं।

छन्दोऽभ्यवाच परिवारितु दारिकेभिः
हन्ता कुमार वनि गच्छम लोचनार्थम्।
किं ते गृहे निवसतो हि यथा द्विजस्य
हन्त व्रजाम वय चोदन नारिसंघं ॥322॥

लडकों की मंडली के साथ (आकर) छंद ने कहा। अहो, कुमार चलें, वन देखने के लिए। ब्राह्मण की भाँति तुम्हारे घर मे पडे रहने से क्या? अहो चलें हम भी महिलाओ के समूह पर छींटे छोडें।

मध्याह्नकालसमये सुविशुद्धसत्त्वः
पञ्चाशतैः परिवृतैः सह चेटकेभिः।
न च मातु नैव च पितु प्रतिवेदयित्वा
ऽबुद्ध निष्क्रमिति गच्छि कृषाणग्रामं ॥323॥

वे पवित्र मन वाले (कुमार) दोपहर के समय पाँच सौ लड़को की मण्डली को साथ ले, न माता को ही और न पिता को ही जना कर, अनजाने में ही निकल कर कृपिग्राम चले गए।

पर्वत के शिखर पर स्थित अग्नि के समान, नक्षत्रगण जिसके पीछे-पीछे चल रहे हैं, ऐसे चन्द्रमा के समान, तथा प्रदीप के समान इस तेज को ध्यान करते हुए देख कर मेरे अंग-अंग काँप रहे हैं।

14. उन्होंने बोधिसत्त्व के चरणों की वन्दना कर इस गाथा को कहा—

(शुद्धोदन की वन्दना-गाथा)

यदा चासि मुने जातो यदा ध्यायसि चार्चिमन्।
एवं द्विरपि[2] ते नाथ पादौ वन्दे विनायक ॥319॥

हे मुने, जब तुम उत्पन्न हुए थे, तब की तरह ही, (आज) हे तेजोमय विनायक जब तुम ध्यान कर रहे हो, मैं तुम्हारे चरणों में दूसरी बार वन्दना कर रहा हूँ।

15. वहाँ पर त्रिफलवाहक (अर्थात् तीन फड की बनी मंचिकाएँ ढोने वाले) बालक हल्ला-गुल्ला मचाते थे। उनसे राजमंत्रियों ने कहा। हल्ला-गुल्ला मत मचाओ, हल्ला-गुल्ला मत मचाओ। यह क्यों? राजमन्त्री बोले—

(राजमन्त्रियों की घटनाप्रकाशिका गाथा)

(प्रहर्षिणी छन्द)

व्यावृत्ते तिमिरनुदस्य मण्डले ऽपि
व्यामाभं[3] शुभवरलक्षणाग्रधारिं।
ध्यायन्तं गिरिनिचलं नरेन्द्रपुत्रं
सिद्धार्थं न जहति सैव वृक्षछाया ॥320॥

2. मूल, एकद्विरपि। भोट, ह्दि ल्तर् लन् ग्ञिस् सु, एवं द्वितीयवारम्। भोटानुवाद से जान पड़ता है कि मूल पाठ एवं द्विरपि था।

3. मूल, व्योमाभं। यह पाठ अशुद्ध है व्यामाभ होना चाहिए, क्योंकि महापुरुषों के प्रभामण्डल का अर्धव्यास व्याम (=लगभग छह फ़ीट) का होता है। भोट, ह्दोद् ह्दोम् गङ् ब मङह् ब, व्यामप्रभावन्तम्। भोट से व्यामाभं पाठ ही सिद्ध होता है।—❀इस अध्याय मे गाथाएँ दो भागों मे विभक्त हैं। प्रथम भाग मे कथा-संबन्धी फुटकर गाथाएँ विभिन्न छन्दों मे हैं। उनको ही गद्य के भीतर गूँथ दिया गया है। ये गाथाएँ संभवतः अत्यन्त पुरानी हैं। दूसरे भाग की गाथाएँ वसन्ततिलका छन्द में हैं तथा इनमें भी वही कथा है जो प्रथम भाग मे है। ये गाथाएँ सभवतः एक ही कवि की हैं। प्रथम भाग की गाथाओं से ये पुरानी हैं। अत एव प्रथम भाग की कथा को प्रमाणित करने के लिए इनको तत्रेदमुच्यते (इस विषय मे यों कहा जाता है) इस वाक्य द्वारा उद्धृत किया गया है।

सूर्य-मंडल के ढल जाने पर भी व्याम-प्रभ (अर्थात् तिरछे हाथों को फैलाने से जितना प्रदेश मापा जा सकता है उसको अर्धव्यास मान कर जो मण्डल बनता है, उस प्रकार के प्रभामण्डल वाले) शुभ तथा श्रेष्ठ एवं उत्तम कोटि के लक्षणों को धारण करने वाले, ध्यान करते हुए पर्वत के समान निश्चल, राजपुत्र सिद्धार्थ को वह वृक्ष की छाया नहीं छोड़ रही है।

16. (–133–) इस विषय में यों कहा जाता है—

(परंपरा द्वारा प्राप्त कृषिग्राम की घटना संबंधी गाथाएँ)

(वसन्ततिलक छन्द)

ग्रीष्मे वसन्त समुदागत ज्येष्ठमासे
संपुष्पिते कुसुमपल्लवसंप्रकीर्णे।
क्रोञ्चामयूरशुकसारिकसंप्रघुष्टे
भूयिष्ठ = 104क = साकियसुता अभिनिष्क्रमन्ति ॥321॥

ग्रीष्म और वसन्त (की संधि) में ज्येष्ठ मास के लग जाने पर जब सब ओर फूल-ही-फूल होते है, फूल और पत्ते चारों ओर बिखरे हुए होते हैं, सारस, मोर, शुक तथा शारिकाएँ चहचहाती रहती है तब, बहुत से शाक्य-कुमार बाहर घूमने निकलते है।

छन्दोऽप्यवात्र परिवारितु दारिकेभिः
हन्ता कुमार वनि गच्छम लोचनार्थम्।
किं ते गृहे निवसतो हि यथा द्विजस्य
हन्त व्रजाम वय चोर्दन नारिसंघं ॥322॥

लडकों की मंडली के साथ (आकर) छंद ने कहा। अहो, कुमार चलें, वन देखने के लिए। ब्राह्मण की भाँति तुम्हारे घर मे पड़े रहने से क्या? अहो चलें हम भी महिलाओं के समूह पर छींटे छोड़ें।

मध्याह्नकालसमये सुविशुद्धसत्वः
पञ्चाशतैः परिवृतैः सह चेटकेभिः।
न च मातु नैव च पितु प्रतिवेदयित्वा
ऽबुद्ध्य निष्क्रमिति गच्छि कृषाणग्रामं ॥323॥

वे पवित्र मन वाले (कुमार) दोपहर के समय पाँच सौ लड़कों की मण्डली को साथ ले, न माता को ही और न पिता को ही जना कर, अनजाने में ही निकल कर कृषिग्राम चले गए।

तस्मिञ्च पार्थिववरस्य कृषाणग्रामे
जम्बुद्रुमोऽ भवदनेकविशालशाखः ।
दृष्ट्वा कुमार प्रतिबुद्ध[4] दुःखेन चोत्तो[4]
धिक् संस्कृतेति बहुदुःख कृषी करोति ॥324॥

उस श्रेष्ठ राजा के कृषि ग्राम में अनेक विशाल शाखाओं वाला एक जम्बू-वृक्ष था। (उसे) देख कर, धिक्कार है इस बहुत दुःख वाली बनावटी दुनिया को, (जो) दुःख से तपी-तपी खेती करती है, (यों मन में) चेत कर, वे कुमार—

सो जम्बुछायमुपगम्य विनीतचित्तो
तृणकानि गृह्य स्वय संस्तुर संस्तरित्वा ।
पर्यङ्कमाभुजिय उज्जु करित्व कायं
चत्वारि ध्यान शुभ ध्यायि स बोधिसत्त्व ॥325॥

वे विनीतचित्त बोधिसत्व जम्बूवृक्ष की छाया मे जाकर तिनके उठा कर, स्वयं आसन बिछा कर, पलथी मार कर, शरीर को सीधा कर, चार शुभ ध्यानों का ध्यान करने लगे।

(–134–) पञ्चा ऋषि खगपथेन हि गच्छमाना
जम्बूय मूर्ध्नि न प्रभोन्ति पराक्रमेतुं ।
ते विस्मिता निहतमानमदाश्च भूत्वा
सर्व समग्र सहिता समुदीक्षयन्तो ॥326॥

पांच ऋषि आकाश-मार्ग से जाते हुए (उस) जम्बूवृक्ष की चोटी पर से न लांघ सके। वे सब के सब एक साथ इधर-उधर देखते हुए, अपना मान—मद खो कर, रुक गए।

वय मेरु पर्वतवरं तथ चक्रवाडान्
निर्भिद्य गच्छम जवेन असज्जमानाः ।
ते जम्बुवृक्ष = 104ख = न प्रभोम अतिक्रमेतुं
को न्वत्र हेतुरयमद्य भविष्यतीह ॥327॥

4⋯4. दुःखेन चोत्तो इस मूल पाठ के स्थान मे पाठान्तर दुःखेन चात्तो है। एड्जेर्टन् महोदय इस पाठान्तर को ही ठीक समझते है। दे० उत्त (बु० हा० सं० डि० पृष्ठ 122)। वस्तुतः उत्तप्त का उत्तत्त हो कर अन्त में उत्त रह गया है। भोट, ञम् थग् सुडुग् बुस्ङल् फोग् ग्युर् ते, श्रान्तिदुःख-पीड़ितः, श्रान्तिदुःखोत्तप्तः श्रान्तिदुःखार्तः इत्यादि।

हम पर्वतराज सुमेरु तथा लोकालोकपर्वतों को भेद कर अपने वेग से कहीं न अटकते हुए जाते हैं, वे आज यहाँ पर (इस) जम्बूवृक्ष को नहीं लांघ पा रहे हैं। इसका यहाँ क्या हेतु हो सकता है ?

अवतीर्य मेदिनि तले च प्रतिष्ठिहित्वा।
पश्यन्ति शाक्यतनयं तहि जम्बुमूले।
जम्बूनदार्चिसदृशं – प्रभतेजरश्मिं
पर्यङ्कबन्धु तद् ध्यायतु बोधिसत्वं ॥328॥

(आकाश से) उतर कर, भूतल पर ठहर कर, उन्होंने उस समय जम्बूवृक्ष के तले, सुवर्ण के रग की ज्वाला के समान कान्ति तथा तेज की किरणों वाले, पलथी मार कर ध्यान करते हुए, शाक्यकुमार बोधिसत्त्व को देखा।

ते विस्मिता दश नखा करियान मूर्ध्नि
प्रणता कृताञ्जलिपुटा निपतन् क्रमेषु।
साधो सुजात सुमुखं - करुणा जगस्य
शीघ्रं विबुद्ध अमृते विनयस्व सत्त्वान् ॥329॥

वे अचरज में होकर दसों नखों को माथे पर कर, अंजलि बाँध कर, प्रणाम करते हुए, पैरों पर पड़ गए। (और बोले) हे साधुपुरुष, हे शोभन जन्म वाले, हे सुमुख (अच्छे रूप वाले), जगत् पर करुणा से शीघ्र बोधि प्राप्त करो (और) प्राणियों को अमृत की ओर ले जाओ।

परिवृत्त सूर्य न जही सुगतस्य छाया
ओलम्बते द्रुमवरं पथ पद्मपत्रं।
देवा सहस्र बहवः स्थित अञ्जलीभिः
वन्दन्ति तस्य चरणौ कृतनिश्चयस्य ॥330॥

सूर्य ढल गया है। छाया सुगत को नहीं छोड़ रही है, (वह) पद्म-पत्र की भाँति (उस) श्रेष्ठ वृक्ष से लटक रही है। बहुत से (संख्या में) हजारों देवता खड़े हैं (और) उस (बोधि के लिए) निश्चय किए हुए (बोधिसत्त्व) के चरणों में अञ्जलि बाँधे वन्दना कर रहे हैं।

शुद्धोदनश्च स्वगृहे परिमार्गमानः
संपृच्छते क्व नु गतः स हि मे कुमारः।
(–135–) मातृस्वसा अवचि मार्गत नो लभामि
संपृच्छता नरपते क्व गतः कुमारः ॥331॥

शुद्धोदन अपने घर मे ढूँढ़ते हुए पूछ-ताछ करने लगे कि वह मेरा राजकुँवर कहाँ गया ? मौसी (प्रजापती) ने कहा—खोजो, मुझे भी (कुमार) नहीं (ढूँढ़) मिल रहा है। हे राजन्, खोज-बीन करो राजकुवँर कहाँ गया ?

शुद्धोदनस्त्वरितु पृच्छति काञ्चुकीयं
दौवारिकं तथपि चान्तजनं समन्तात् ।
दृष्टं कुमार मम केनचि निष्क्रमन्तो
शृणुतेवरूपगतु देव कृषाणग्रामं ॥332॥

शुद्धोधन ने तुरन्त कंचुकी, द्वारपाल तथा चारों ओर (खड़े) अन्तः पुर के लोगों से पूछा—क्या मेरे कुमार को किसी ने बाहर निकलते हुए देखा है ? (उन्होंने उत्तर दिया) हे देव, सुनो, आपके (वे) श्रेष्ठ (कुमार) कृषिग्राम गए हुए हैं।

सो शीघ्रमेव त्वरितं सह साकियेभिः
निष्क्रान्तु प्रेक्षि कृषिग्राम[5] शिरिं प्रविष्टं[5] ।
यथ सूर्यकोटिनियुतानि समुद्गतानि
तथ प्रेक्षते हितकरं शिरिया ज्वलन्तं ॥333॥

वे झट-पट, ज़ल्दी ही शाक्यों के साथ निकले, कृपिग्राम को श्री मैं प्रविष्ट अर्थात् शोभा से भरा-पुरा देखा। जैसे खर्व-खर्व कोटि सूर्य उगे हों, वैसे ही श्री से दहकते हितकारी (कुमार सिद्धार्थ) को देखा।

= 105क = मुकुटं च खड्ग तथ पादुक छोरयित्वा
कृत्वा दशाङ्गुलि शिरे अभिवन्दिते तं ।
साधू- सुभूतवचना ऋषयो महात्मा
व्यक्तं कुमार अभिनिष्क्रमि बोधिहेतोः ॥334॥

मुकुट, खांड़ा, तथा खड़ाऊँ छोड़ कर सिर पर दसो उंगलियों को कर, (शुद्धोदन ने) उनकी वन्दना की (और) बोले, महात्मा ऋषियों की बात ठीक पूरी तरह सच थी। कुमार स्पष्ट ही बोधि के लिए (घर से) निकले हैं।

परिपूर्ण द्वादस शता सुप्रसन्न देवाः
पंचा शता उपगता यथ साकियानां ।
दृष्ट्वा च ऋद्धि सुगते गुणसागरस्य
संबोधिचित्तु जनयं दृढ आशयेन ॥335॥

5....5. मूल, ०गिरि प्रविष्ट । मोट, द्पल् शुगस् ग्युर् प हि., श्रीव्यापृतं । मूल पाठ निश्चय ही शिरि प्रविष्टं था।

अत्यन्त प्रसन्न (अर्थात् अत्यन्त श्रद्धा से संपन्न) पूरे बारह सौ देवता, उसी तरह पांच सौ शाक्य (वहां) पहुंचे थे। (उन्होंने) गुणसागर सुगत की ऋद्धि को देख कर दृढ हृदय से बोधिचित्त उपजाया।

सो कम्पयित्व त्रिसहस्र अशेषभूमि
स्मृतु संप्रजानु प्रतिबुद्ध ततः समाधेः।
ब्रह्मस्वरः पितरमालपते द्युतीमान्
उत्सृज्य तात कृषि [6]काम परं[6] गवेष ॥336॥

तीन सहस्र वाली अशेष- जगती को कँपा कर वे (बोधिसत्त्व) स्मृतिमान् एवं जानते-बूझते उस समाधि से जगे। (वे) प्रकाशमान् ब्रह्मा के घोष के समान घोष वाले पिता से बोले तात, खेती छोड़ कर दूसरा काम (परहितकार्य) खोजो।

(–136–) यदि स्वर्ण कार्यु अहु स्वर्ण प्रवर्षयिष्ये
यदि वस्त्र कार्यु अहमेव प्रदास्यि वस्त्रां।
अथ धान्य कार्यु अहमेव प्रवर्षयिष्ये
सम्यक् प्रयुक्त भव सर्वजगे नरेन्द्र ॥337॥

यदि सोने से मतलब हो, मैं सोने की वृष्टि करूँगा। यदि कपड़ों से मतलब हो, मैं ही कपडे दूँगा, यदि अन्न से मतलब हो, मै ही अन्न की वर्षा करूँगा। हे नरेन्द्र, सब जगत् (के हित) के लिए अच्छी तरह जुट जाओ।

अनुशासयित्व पितरं जनपारिषद्यां
तस्मिन् क्षणे पुरवरं पुन सो प्रवेक्षी।
अनुवर्तमान जगतः स्थिहते पुरेस्मिन्
नैष्क्रम्ययुक्तमनसः सुविशुद्धसत्त्वः ॥338॥[7]

6····6. शृणुते वस्तुत' शृणु ते है। ते पृथक् पद है। वरूपगतु (वरः उपगतः)। वरः वस्तुतः कुमार के लिए है। यह ग्राम का विशेषण नही जैसा कि एड्जेर्टन् साहब के विश्लेषण (वरम् उपगतो, द्रष्टव्य बु०हा० सं० ग्रा० 4/31 पृष्ठ 34 से जान पडता है। इस पाद का भोटानुवाद यों है— ल्ह ग्चिग् ग्सोन् म्छोग् दे शिङ् प हि. ग्रोङ् दु ब्शुद् (= देव त्व शृणु वरः स कृषिग्रामम् उपगतः)।

7···7 मूल, ग्रामभतो। भोट, ग्शन् लस्, कार्यम् अन्यत्, कार्यम् अपरम्, कर्म परम्। संभवतः मूल पाठ काम परं था।

पिता को तथा लोगों की परिषद् को उपदेश दे कर उसी क्षण वे (बोधिसत्व) फिर श्रेष्ठ नगर में प्रवेश कर गए। चित्त में (घर से) निकल पड़ने के भाव से युक्त वे अत्यन्त पवित्र मन वाले लोकाचार पालते हुए नगर में रहने लगे।

(इति श्री ललितविस्तरे कृषिग्रामपरिवर्तो नाम एकादशोऽध्यायः)

■

इस परिवर्त में आई गाथाओं की छाया दी जा रही है वयमिह मणिवज्रकूटं गिरिं मेरुमभ्युद्गतं तिर्यग् अत्यर्थं (=अत्यन्त) वैस्तारिकं, गजा इव सहकारशाखाकुलानि वृक्षवृन्दानि प्रदार्य निर्धाविता अनेकशः। वयमिहामराणां पुरे चाप्यसक्ता गता यक्षगन्धर्ववेश्मानि चोर्ध्वं नभो निश्रितानि, इमं पुनर्वनषण्डमासाद्य सीदामो भोः कस्य लक्ष्मीनिवर्तयत्यद्धे बलम् ॥ इति ॥307॥ नृपतिप्रतिकुलोदितः शाक्यराजात्मजो बालसूर्यप्रकाशप्रभः, स्फुटितकमलगर्भवर्णप्रभस् चारुचन्द्राननो लोकज्येष्ठो विद्वान्। अयमिह वनमाश्रितो ध्यानचिन्तापरो देवगन्धर्वनागेन्द्रयक्षार्चितो, भवशतगुणकोटिसंवर्धितस् तस्य लक्ष्मीनिवर्तयत्यृद्धेर्बलम् ॥ इति ॥308॥ रूपं वैश्रवणातिरेकवपुर् व्यक्तं कुवेरो ह्ययम् आहोस्विद् वज्रधरस्य चैव प्रतिमा चन्द्रोऽथ सूर्यो ह्ययम्। कामाग्राधिपतिश्च वा प्रतिकृती रुद्रस्य कृष्णस्य वा श्रीमान् लक्षणचित्रिताङ्गोऽनघो बुद्धोऽथवा स्यादयम् ॥309॥ या श्रीर् वैश्रवणे च वै निवसति या वा सहस्रेक्षणे लोकानां परिपालकेषु चतुर्षु या चासुरेन्द्रे श्रीः। ब्रह्मणि या च सहापतौ निवसति कृष्णे च या च श्रीः सा श्रीः प्राप्येमं हि शाक्यतनयं नोपैति कांचित् कलाम् ॥310॥ लोके क्लेशाग्निसंतप्ते प्रादुर्भूतो ह्ययं ह्रदः। अयं तं प्राप्स्यति धर्मं यो जगद् ह्लादयिष्यति ॥311॥ अज्ञानतिमिरे लोके प्रादुर्भूतः प्रदीपकः। अयं तं प्राप्स्यति धर्मं यो जगद् भासयिष्यति ॥312॥ शोकसागरकान्तारे यानश्रेष्ठमुपस्थितम्। अयं तं प्राप्स्यति धर्मं यो जगत् तारयिष्यति ॥313॥ क्लेशबन्धनबद्धानां प्रादुर्भूत प्रमोचकः। अयं तं प्राप्स्यति धर्मं यो जगद् मोचयिष्यति ॥314॥ जराव्याधिक्लिष्टानां प्रादुर्भूतो भिषग्वरः। अयं तं प्राप्स्यति धर्मं (यो) जातिमृत्युप्रमोचकः ॥315॥ पश्य देव कुमारोऽयं जम्बूछायां ध्यायति। यथा शक्रोऽथवा ब्रह्मा श्रिया तेजसा शोभते ॥ यस्य वृक्षस्य च्छायाया निषण्णो वरलक्षणः। नैनं न जहाति च्छाया ध्यायन्तं पुरुषोत्तमम् ॥316॥317॥ हुताशनो वा गिरिमूर्ध्नि संस्थितः शशीव

नक्षत्रगणानुचरितः। वेपन्ते गात्राणि मे पश्यत इमं ध्यायन्तं तेजो नु प्रदीपकल्पम् ॥318॥ यदा चासि मुने जातो यदा ध्यायस्य अर्चिष्मन् । एवं द्विरपि ते नाथ पादौ वन्दे विनायक ॥319॥ व्यावृत्ते तिमिरनुदस्य मण्डलेऽपि ध्यामाभं शुभनरलक्षणाग्रधारिणम्। ध्यायन्तं गिरिनिश्चलं नरेन्द्रपुत्रं सिद्धार्थं न जहाति सैव वृक्षच्छाया ॥320॥ ग्रीष्मे वसन्ते (=ग्रीष्मवसन्तयोः संधौ) समुदागते ज्येष्ठमासे, संपुष्पिते कुसुमपल्लवसंप्रकीर्णे कोञ्चमयूर-शुकशारिकासंप्रघुषिते भूयिष्ठाः शाक्यसुता अभिनिष्क्रामन्ति ॥321॥ छन्दोऽप्युवाच परिवारितो दारकैः हन्त कुमार वनं गच्छाम लोचनार्थम्। किं गृहे निवसतो हि यथा द्विजस्य हन्त व्रजाम वयं च (=अपि) उदानयितुं (=विनोदवचनैरुत्तेजयितुं) नारीसंघम् ॥322॥ मध्याह्नकालसमये सुविशुद्ध-सत्वः पञ्चभिः शतैः परिवृतैः सह चेटकैः। न च मातरं नैव च पितरं प्रतिवेद्य सो ऽबुद्धो (=ऽज्ञातो) निष्क्रम्यागच्छत् कर्षणग्रामम् ॥323॥ तस्मिश्च पार्थिववरस्य कर्षणग्रामे जम्बूद्रुमोऽभवदनेकविशालशाखः। दृष्ट्वा कुमारः प्रतिबुद्धः दुःखेन चोत्तप्तो धिक् संस्कृतम् इति बहुदुखं कृषि करोति ॥324॥ स जम्बूच्छायमुपगम्य विनीतचित्तस् तृणकानि गृहीत्वा स्वयं संस्तरं संस्तीर्य। पर्यङ्कम् आभुज्य— ऋजुं कृत्वा कायं चत्वारि ध्यानानि शुभानि-अध्यायत् स बोधिसत्वः ॥325॥ पञ्चर्षयः खगपथेन हि गच्छन्तो जम्ब्वा मूर्ध्नि न प्रभवन्ति पराक्रमितुम्। ते विष्ठिता निहतमानमदाश्च भूत्वा सर्वे समग्राः सहिता समुदीक्षमाणाः ॥326॥ वयं मेरुं पर्वतवरं तथा चक्रवालान् निर्भिद्य गच्छामो जवेन असज्यमानाः। ते जम्बूवृक्ष न प्रभवामोऽतिक्रान्तुं को न्वत्र हेतुरयमद्य भविष्यतीह ॥327॥ अवतीर्य मेदिनीतले च प्रतिष्ठाय पश्यन्ति शाक्यतनयं तस्मिन् जम्बूमूले। जम्बूनदार्चिःसदृशप्रभातेजोरश्मिं पर्यङ्कबन्धं तदा ध्यायन्तं बोधिसत्त्वम् ॥328॥ ते विस्मिता दश नखान् कृत्वा मूर्ध्नि प्रणताः कृताञ्जलिपुटा न्यपतन् क्रमेषु (=चरणेषु)। साधो सुजात सुमुख करुणया जगतः शीघ्रं विबुध्यस्व विनयस्व सत्वान् ॥329॥ परिवृत्तः सूर्यो न—अहासीत् सुगतस्य छाया, अवलम्बते द्रुमवरं यथा पद्मपत्रं। देवाः सहस्राणि बहवः स्थिता अञ्जलिभिः, वन्दन्ते तस्य चरणौ कृतनिश्चयस्य ॥330॥ शुद्धोदनश्च स्वगृहे परिमार्गमाणः संपृच्छते क्व नु गतः स हि मे कुमारः। मातृष्वसावोचद् मार्गध्वं नो लभे संपृच्छध्व नरपते क्व गतः कुमारः ॥331॥ शुद्धोदनस्त्वरितं पृच्छति काञ्चुकीयं दौवारिकं तथापि चान्तर्जनं समन्तात्। दृष्टः कुमारो मम केनचिन्निष्क्रामन् शृणु ते वर उपगतो देव कृषाणग्रामम् ॥332॥ स शीघ्रमेव त्वारतं सह शाक्यै निष्क्रान्तः प्रेक्षिष्ट कृषिग्रामं श्रियं प्रविष्टं। यथा सूर्यकोटिनियुतानि

समुद्गतानि तथा प्रेक्षते हितकरं श्रिया ज्वलन्तम् ।।333।। मुकुटं च खड्गं तथा पादुके परित्यज्य, कृत्वा दशाङ्गुलि शिरसि अभिवन्दते (स्म) तम् । साधु-सुमूतवचना ऋषयो महात्मानो व्यक्तं कुमारो ऽभिनिष्क्रांस्त बोधिहेतोः ।।334।। परिपूर्णानि द्वादशशतानि सुप्रसन्ना देवाः, पंच शतानि-उपगतानि यथा (=एवम्) शाक्यानाम् । दृष्ट्वा च ऋद्धिं सुगतस्य गुणसागरस्य संबोधि-चित्तम् अजीजनन् दृढेन-आशयेन ।।335।। स कम्पयित्वा त्रिसाहस्राम् अशेषभूमिं स्मृतिमान् संप्रजानन् प्रतिबुद्धस्ततः समाधेः । ब्रह्मेस्वरः पितर-मालपति द्युतिमान् उत्सृज्य तत कृषिं कर्म परं गवेषस्व ।।336।। यदि स्वर्णेन कार्यम् अहं स्वर्णं प्रवर्षिष्यामि, यदि वस्त्रैः कार्यम् अहमेव प्रदास्ये वस्त्राणि । अथ धान्येन कार्यम् अहमेव प्रवर्षिष्यामि, सम्यक् प्रयुक्तो भव सर्वजगति नरेन्द्र ।।337।। अनुशिष्य पितरं जनपरिषदं तस्मिन् क्षणे पुरवरं पुनः स प्राविक्षत् । अनुवर्तमानो जगतस् तिष्ठति पुरे नैष्क्रम्ययुक्तमनाः सुविशुद्धसत्त्वः ।।338।।

॥ १२ ॥

॥ शिल्पसंदर्शनपरिवर्त ॥

मुद्रित ग्रन्थ 136 (पंक्ति 10)—159 (पंक्ति 18)
भोटानुवाद 105क (पंक्ति 7)—121ख (पंक्ति 2)

समुद्गतानि तथा प्रेक्षते हितकरं श्रिया ज्वलन्तम् ।।333।। मुकुटं च खड्गं तथा पादुके परित्यज्य, कृत्वा दशाङ्गुलि शिरसि अभिवन्दते (स्म) तम् । साधु-सुभूतवचना ऋषयो महात्मानो ब्यक्तं कुमारो ऽभिनिष्क्रांस्त बोधिहेतोः ।।334।। परिपूर्णानि द्वादशशतानि सुप्रसन्ना देवाः, पंच शतानि-उपगतानि यथा (=एवम्) शाक्यानाम् । दृष्ट्वा च ऋद्धि सुगतस्य गुणसागरस्य संबोधि-चित्तम् अजीजनन् दृढेन-आशयेन ।।335।। स कम्पयित्वा त्रिसाहस्राम् अशेषभूमिं स्मृतिमान् सप्रजानन् प्रतिबुद्धस्ततः समाधेः । ब्रह्मस्वरः पितर-मालपति द्युतिमान् उत्सृज्य तत कृषिं कर्म परं गवेषस्व ।।336।। यदि स्वर्णेन कार्यम् अहं स्वर्णं प्रवर्षिष्यामि, यदि वस्त्रैः कार्यम् अहमेव प्रदास्ये वस्त्राणि । अथ धान्येन कार्यम् अहमेव प्रवर्षिष्यामि, सम्यक् प्रयुक्तो भव सर्वजगति नरेन्द्र ।।337।। अनुशिष्य पितरं जनपरिषदं तस्मिन् क्षणे पुरवरं पुनः स प्राविक्षत् । अनुवर्तमानो जगतस् तिष्ठति पुरे नैष्क्रम्ययुक्तमनाः सुविशुद्धसत्त्वः ।।338।।

॥ १२ ॥

॥ शिल्पसंदर्शनपरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओं, इस प्रकार कुमार के=105ख=बड़े होने पर एक बार राजा शुद्धोदन शाक्यगण के साथ संस्थागार (=सभाभवन) में बैठे थे। वहाँ जो बूढ़े-बूढ़े शाक्य थे उन्होने राजा शुद्धोदन से कहा। महाराज को यह जान-बूझ लेना चाहिए कि इन सर्वार्थसिद्ध कुमार के विषय मे ज्योतिष जानने वाले ब्राह्मणों ने तथा निश्चितमति वाले देवताओ ने भविष्यवाणी की है कि यदि कुमार घर से निकल (कर साधु हो) जाएँगे तो अर्हत् सम्यक्-संबुद्ध होंगे, यदि घर से न निकलेंगे तो चतुरंगिणी सेना वाले विजितों (=जीते हुए राष्ट्रों) से युक्त, धार्मिक, धर्म से राज्य करने वाले, सात रत्नों से युक्त चक्रवर्ती राजा होंगे। उनके ये सात रत्न होंगे—यथा, चक्ररत्न, हस्तिरत्न, अश्वरत्न, स्त्रीरत्न, मणिरत्न, गृहपतिरत्न, तथा परिणायकरत्न अर्थात् अमात्यरत्न। ये सात रत्न, उनके पूरे हजार पुत्र शूर-वीर, उत्तम अग-अग वाले एवं रूपवान्, तथा परायी सेना को मसल डालने वाले होंगे। वे इस पृथिवीमण्डल को बिना दण्ड के, बिना शस्त्र के, धर्म से, जीतकर विराजेंगे। (–127–) इसलिए कुमार का (घर) बसा दीजिए (अर्थात् कुमार का विवाह कर डालिए)। वहाँ स्त्रीगणो से घिरे रहने पर =106क=वे रति का अनुभव करेंगे (और) घर से न निकलेंगे। इस प्रकार हमारे चक्रवर्तियों के वंश का उच्छेद न होगा। और सब गढो के स्वामी राजाओ द्वारा पूजित एवं प्रशंसित होते रहेंगे।

2. तब राजा शुद्धोदन ने इस प्रकार कहा। यदि यही बात है तो देखो कौन सी कन्या कुमार के योग्य है। वहाँ पर पाँच सौ शाक्य थे। एक एक ने इस प्रकार कहा। मेरी बेटी कुमार के योग्य है, मेरी बेटी अत्यन्त रूपवती है। राजा ने कहा। कुमार को पाना कठिन है। अतः कुमार से ही निवेदन करे कि उन्हें कैसी कन्या पसंद है। तब उन सबने मिल कर यह बात कुमार को बतलाई। कुमार ने उनसे कहा। सातवें दिन (इस बात का) उत्तर (तुम सबको) सुन मिलेगा।

3. तब बोधिसत्व के मन में यह भाव उत्पन्न हुआ—

॥ १२ ॥

॥ शिल्पसंदर्शनपरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओं, इस प्रकार कुमार के=105ख=बड़े होने पर एक बार राजा शुद्धोदन शाक्यगण के साथ सस्थागार (=सभाभवन) में बैठे थे। वहां जो बूढ़े-बूढ़े शाक्य थे उन्होंने राजा शुद्धोदन से कहा। महाराज को यह जान-बूझ लेना चाहिए कि इन सर्वार्थसिद्ध कुमार के विषय मे ज्योतिष जानने वाले ब्राह्मणो ने तथा निश्चितमति वाले देवताओ ने भविष्यवाणी की है कि यदि कुमार घर से निकल (कर साधु हो) जाएंगे तो अर्हत् सम्यक्-संबुद्ध होगे, यदि घर से न निकलेगे तो चतुरंगिणी सेना वाले विजितो (=जीते हुए राष्ट्रो) से युक्त, धार्मिक, धर्म से राज्य करने वाले, सात रत्नो से युक्त चक्रवर्ती राजा होगे। उनके ये सात रत्न होगें—यथा, चक्ररत्न, हस्तिरत्न, अश्वरत्न, स्त्रीरत्न, मणिरत्न, गृहपतिरत्न, तथा परिणायकरत्न अर्थात् अमात्यरत्न। ये सात रत्न, उनके पूरे हजार पुत्र शूर-वीर, उत्तम अंग-अंग वाले एवं रूपवान्, तथा परायी सेना को मसल डालने वाले होगें। वे इस पृथिवीमण्डल को बिना दण्ड के, बिना शस्त्र के, धर्म से, जीतकर विराजेंगे। (–127–) इसलिए कुमार का (घर) बसा दीजिए (अर्थात् कुमार का विवाह कर डालिए)। वहां स्त्रीगणो से घिरे रहने पर =106क=वे रति का अनुभव करेगे (और) घर से न निकलेगें। इस प्रकार हमारे चक्रवर्तियो के वंश का उच्छेद न होगा। और सब गढो के स्वामी राजाओ द्वारा पूजित एवं प्रशंसित होते रहेगे।

2. तब राजा शुद्धोदन ने इस प्रकार कहा। यदि यही बात है तो देखो कौन सी कन्या कुमार के योग्य है। वहाँ पर पाँच सौ शाक्य थे। एक एक ने इस प्रकार कहा। मेरी बेटी कुमार के योग्य है, मेरी बेटी अत्यन्त रूपवती है। राजा ने कहा। कुमार को पाना कठिन है। अतः कुमार से ही निवेदन करे कि उन्हे कैसी कन्या पसंद है। तब उन सबने मिल कर यह बात कुमार को बतलाई। कुमार ने उनसे कहा। सातवें दिन (इस बात का) उत्तर (तुम सबको) सुन मिलेगा।

3. तब बोधिसत्व के मन में यह भाव उत्पन्न हुआ—

(छन्द पुष्पिताग्रा)

विदित मम अनन्त कामदोषाः
रण सवैर सशोकाः दुःखमूलाः।
भयकर विषपत्रसंनिकाशाः
ज्वलननिभा असिधार- तुल्यरूपाः ॥339॥

मुझे पता है कि काम-भोगों में दोष अनन्त होते हैं, इनके कारण ही लड़ाई-झगड़ा होता है, इनके कारण ही वैर होता है, इन्हीं के कारण (लोग) शोक से (जान) है, ये ही दुःखों की जड़ है, ये भयानक है, विष के पत्तों जैसे हैं, आग के समान (जलाने वाले) है, तलवार की धारा जैसे (तीखे) हैं।

(छन्द पुष्पिताग्राविकृति)

कामगुणि न मेऽस्ति छन्दरागो
न च अहु सोभमि इस्त्रिगारमध्ये।
यन्तु अहु वने वसेय तूष्णीं
ध्यानसमाधिसुखेन शान्तचित्तः ॥340॥

कामगुणो मे मेरा प्रेम एव अनुराग नहीं है। अन्तःपुर में मेरी उतनी शोभा नही है जितनी कि ध्यानसमाधि के सुख से शान्तचित्त हो वन मे मौनी होकर रहने में है।

4. वे फिर भी मीमासा से अर्थात् तर्क द्वारा विचार से (प्राणियों को धर्म मे दीक्षित करने के) =106ख=उपाय की निपुणता को सामने रख, प्राणियों को (धर्म मे) पक्का (कैसे किया जाए इस बात) को देखते हुए, महाकरुणा उत्पन्न कर उस समय ये गाथाएँ कही—

(छन्द वसन्ततिलका)

संकीर्णि पङ्कित्त पदुमानि विवृद्धिमन्ति
आकीर्ण राज नरमध्यि सभाति पूजां।
(–138–) यद बोधिसत्त्व परिवारवलं[1] लभन्ते
तद सत्त्वकोटिनयुतान्यमृते विनेन्ति ॥341॥

ढेर-ढेर कीचड मे कमल बढते हैं, झुण्ड-के-झुण्ड लोगो के बीच राजा पूजा पाते है, जब बोधिसत्त्व परिवार को प्राप्त करते है तब खर्व-खर्व कोटि प्राणियों को अमृत के निमित्त विनीत करते है।

1. मूल का परिवारवल वस्तुत. परिवारवर का अपभ्रंश है, जिसमे वकार का वकार तथा रेफ का लकार हो गया है। तुलनीय भोट, ह्खोर् मृछोग्, परिवारवरम्।

ये चापि पूर्वक अभूद् विदु बोधिसत्त्वाः
सर्वेभि भार्य सुत दर्शित इस्त्रिगाराः।
न च रागरक्त ने च ध्यानसुखेभि भ्रष्टाः
हन्तानुशिक्षयि अहं पि गुणेषु तेषां ॥342॥

पहले जो विद्वान् बोधिसत्त्व हो चुके है, उन सबने भार्या, पुत्र, तथा अन्तःपुर का (लोक-व्यवहार मे) दिखलावा किया है, (फिर भी) वे न तो अनुराग में अनुरक्त रहे है और न ध्यान-सुख से ही भ्रष्ट हुए है। अहो, मैं भी उनके गुणों से शिक्षा लूँ।

न च प्राकृता मम वधू अनुकूल या स्याद्
यस्या न इष्पतु[2] गुणा सद सत्यवाक्यं।
या[3] चित्ति मह्यं[3] अभिराधयते ऽप्रमत्ता
रूपेण जन्मकुलगोत्रतया सुशुद्धा ॥343॥

जिसमे ईर्यापथ (अर्थात् खड़े होने, चलने, बैठने और लेटने का) शऊर नही है, जो सदा सच बात नही बोलती है, वह साधारण स्त्री मेरे अनुकूल नही हो सकती। मेरे लिए वह स्त्री अनुकूल हो सकती है, जो प्रमाद न कर मेरे चित्त को अत्यन्त आनन्दित कर सके तथा रूप, जन्म, कुल, तथा गोत्र से अत्यन्त शुद्ध हो।

सो गाथ लेख लिखिते गुण अर्थयुक्ता
या कन्य ईदृश भवे मम तां वरेथा।
न ममार्थु प्राकृतजनेन असंवृतेन
यस्या गुणा कथयमी मम तां वरेथा ॥344॥

उन (सिद्धार्थ कुमार ने) गुण तथा अर्थ से उक्त गाथाएँ लेख रूप मे लिखी कि जो कन्या ऐसी हो, उसे मेरे लिए चुनें। मेरा नंगे-लुच्चे साधारण (स्त्री) जन से प्रयोजन नही है। जिसमें कहे गुण हो, मेरे लिए उसे चुने।

या रूपयौवनवरा न च रूपमत्ता
माता स्वसा व यथ वर्तति मैत्रचित्ता।
त्यागे रता श्रमणब्राह्मणदानशीला
तां तादृशां मम वधू वरयस्व तात ॥345॥

2. इष्पतु-गुणा वस्तुतः इष्पतु गुणा है। इस्पतु अपभ्रंश है ईर्यापथ का। भोट, स्प्योद् लम् योन् तन्, ईर्यापथगुणाः।

3 . . 3. मूल, चिन्ति मह्यम्। यह वस्तुतः चित्ति मह्यम् (=चित्तं मम) है। तुलनीय भोट, ब्दग् गि सेम्स् नि, मम चित्तम्।

जो उत्तम रूप और यौवन से युक्त हो, पर रूप से मदमाती न हो, जिसके चित्त में माता तथा बहन के समान मैत्री हो, (जो) त्याग मे रत हो, श्रमणों तथा ब्राह्मणों को दान देने का जिसका शील-स्वभाव हो, हे तात, वैसी बहू का मेरे लिए वरण करो ।

यस्या न मानु न खिलो न च दोषमस्ति = 107क =
न च शाठ्य ईर्ष्य न च माय न उज्जुभ्रष्टा ।
स्वप्नान्तरेऽपि पुरुषे न परेऽभिरक्ता
तुष्टा स्वकेन पतिना शयतेऽप्रमत्ता ।।346।।

जिसमे मान न हो, चित्त की कठोरता न हो, द्वेष न हो, शठता न हो, ईर्ष्या न हो, माया न हो, जो सीधी (राह) से गिरने वाली न हो, स्वप्न मे भी पर-पुरुष से प्रेम करने वाली न हो, अपने पति से संतुष्ट रहने वाली हो, सावधान हो कर सोनेवाली हो ।

(–139–) न च गर्विता नपि च उद्धत न प्रगल्भा
निर्मान मानविगतापि च चेटिभूता ।
न च पानगृद्ध न रसेषु न शब्द गन्धे
निर्लोभ भिध्यविगता स्वधनेन तुष्टा ।।347।।

जो घमंडी न हो, चुलबुली न हो, ढीठ न हो, जिसमे मान न हो, जो मान-रहित परिचारिका—जैसी हो, जो न मदिरा मे, न जिह्वा-के स्वादों में, न शब्द और गन्ध मे आसक्त हो, जो लोभ-रहित हो, जो दूसरे की धन-दौलत का ध्यान न कर अपने धन से संतुष्ट हो ।

सत्ये स्थिता नपि च चञ्चल नैव भ्रान्ता
न च उद्धतोन्नतस्थिता ह्रिरिवस्त्रछन्ना
न च दृष्टिमंगलरता सद धर्मयुक्ता
कायेन वाच मनसा सद शुद्धभावा ।।348।।

जो सत्य मे स्थित हो, जो चंचल न हो, जिसमें भ्रम न हो, जो न चुलबुली ही हो और न घमण्डी ही हो, लज्जा से वस्त्रों मे अपने को छिपाए रखती हो, मिथ्या-दृष्टि वश जो मंगल के लिए किए जाने वाले पाखण्डों मे न लगती हो, सदा धर्म मे जिसका योग रहता हैं, मन-वचन-कर्म से जो सदा शुद्ध भाव वाली हो ।

न च स्त्यानमिद्धवहुला न च मानमूढा
मीमांसयुक्त सुकृता सद धर्मचारी ।
स्वश्रौ च तस्य स्वशुरे यथ शास्तृप्रेमा
दासीकलत्रजनि यादृशमात्मप्रेम ।।349।।

जिसमें अलसाहट तथा नींद बहुत न हो, जो, घमण्ड में भूली हुई न हो, जो विचार-युक्त, सत्कर्म करने वाली, तथा सदा धर्मचारिणी हो, जिसकी सास और ससुर में गुरु के समान प्रीति हो, दासी-स्त्रियों तथा दास-पुरुषों में जिसका प्रेम वैसा हो जैसा अपने से हुआ करता है।

शास्त्रे विधिज्ञ कुशला गणिका यथैव
पश्चात् स्वपेत् प्रथममुत्थिहते च शय्यात्।
मैत्रानुवर्ति अकुहापि च मातृभूता
एतादृशीं मि नृपते वधुकां वृणीष्व ॥350॥

जो शास्त्र की रीति-नीति जानती हो, गणिका के समान गुणी हो, पीछे सोती हो और सेज से पहले उठ पड़ती हो, जो मैत्री के अनुसार बरतती हो, जिसमें पाखण्ड न हो, जो मातृमयी हो, हे राजन्, मेरे लिए ऐसी बहू चुनें।

5. इसके अनन्तर राजा शुद्धोदन ने इन गाथाओं को बाँच कर पुरोहित से कहा—हे महाब्राह्मण, आप कपिलवस्तु महानगर में सब घरों में जा-जा कर कन्याएँ=107ख= देखें। जिसमें ये गुण हों, वह चाहे क्षत्रिय की कन्या हो, चाहे ब्राह्मण की कन्या हो, चाहे वैश्य की कन्या हो, और चाहे वह शूद्र की कन्या हो, उस कन्या के बारे में हमें जनाएँ। वह किस कारण? कुमार कुल नहीं चाहते, गोत्र नहीं चाहते? कुमार गुण ही चाहते हैं। (–140–) और उस समय ये गाथाएँ कहीं—

ब्राह्मणी क्षत्रियां कन्यां वैश्यां शूद्रीं तथैव च।
यस्या एते गुणा सन्ति तां मे कन्यां प्रवेदय ॥351॥
न कुलेन न गोत्रेण कुमारो मम विस्मितः।
गुणे सत्ये च धर्मे च तत्रास्य रमते मनः ॥352॥

ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या, तथा शूद्रा कन्याओं में से जिसमें ये गुण हो, उस कन्या के बारे में मुझे जनाओ। मेरे कुमार को न कुल से अचरज होता है और न गोत्र से। उनका मन गुण, सत्य, तथा धर्म में रमता है।

6. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर वह पुरोहित उस गाथा-लेख को लेकर कपिलवस्तु महानगर में घूम-घूम, घर-घर जा कर देख, कन्या खोजने लगा। वैसे गुणो वाली कन्या न देख वह क्रम से (एक-एक घर) छानता हुआ जहां दण्डपाणि शाक्य का घर था वहां पहुँचा। उस घर में घुस कर उसने कन्या देखी (जो) परम-रूपवती, प्रसन्नता उत्पन्न करने वाली, देखने योग्य, अत्यन्त उत्तम

रंग की पुष्कलता[4] (=प्रचुरता वा श्रेष्ठता) से युक्त, न बहुत लंबी, न बहुत नाटी, न बहुत मोटी, न बहुत पतली, न बहुत गोरी, न बहुत काली, नई =108क= जवानी की अवस्था वाली (थी)। जान पड़ता था कि वह मानो स्त्रीरत्न हो।

7. उस कन्या ने पुरोहित के चरणों को छू कर यों कहा—हे महाब्राह्मण, आपका क्या काम है? पुरोहित ने कहा—

(पुरोहितवचन, छंद वसन्ततिलका)

शुद्धोदनस्य तनयः परमाभिरूपो
द्वात्रिंशलक्षणधरो गुणतेजयुक्तः।
तेनेति गाथ लिखिता गुणये वधूनां
यस्या गुणास्ति हि इमेस हि तस्य पत्नी ॥353॥

शुद्धोदन के परम-रूपवान्, बत्तीस महापुरुप-लक्षणों से युक्त, गुणवान् एवं तेजस्वी कुमार (सिद्धार्थ) है। उन्होंने स्त्रियों के गुणों के विषय में ये गाथाएँ लिखी है। जिसमें ये गुण होंगे वह उसकी पत्नी होगी। (यह कह) उसने वह लेख उस (कन्या) को दिया।

8. उस कन्या ने उस गाथा लेख को वाँच कर मुसकरा कर उस पुरोहित को गाथा-द्वारा कहा—

(कन्यावचन, छंद वसन्ततिलका)

(--141--) मह्येति ब्राह्मण गुणा अनुरूप सर्वे
सो मे पतिर्भवतु सौम्य सुरूपरूपः।
भणहि कुमारु यदि कार्य म हू विलम्ब
मा हीनप्राकृतजनेन भवेय वासः ॥354॥

हे ब्राह्मण, ये सब उत्तम गुण मुझ में है। वह सौम्य, परम-रूपवान् मेरा पति हो। कुमार से कहो कि यदि मुझसे कार्य है तो विलम्ब न करना। ताकि साधारण-हीन जन के साथ रहना न पड़े।

9. उनके बाद उस पुरोहित ने राजा शुद्धोदन के पास जाकर उस वृत्तान्त को यों कहा। हे देव, मैंने (ऐसी) कन्या देखी है, जो कुमार के योग्य है।

4. मूल पुष्करतया। यह वस्तुतः पुष्कलतया का अपभ्रंश है जिसमें रेफ के स्थान में लकार हो गया है। तुलनीय भोट, ग्र्यंस् प, पुष्कलता, प्रचुरता एवं श्रेष्ठता।

(राजा ने) पूछा। वह किसकी है ? (पुरोहित ने) कहा—देव, दण्डपाणि शाक्य की बेटी है।

10. तदनन्तर राजा शुद्धोदन के मन मे यह बात आई कि कुमार तक किसी की पहुँच कठिनता से हो सकती है, और =108ख= उनकी आस्था शुभ (वस्तु) में है। प्रायः स्त्रियाँ (ऐसे) गुणों के भी अपने मे होने का दावा करती है, जो उनमें नही होते। इसके लिए मैं अशोकभाण्डो (अर्थात् पुरस्कार वस्तुओं) की व्यवस्था करूँ जिन्हे कुमार सब कन्याओं को बाँटें। वहाँ जिस कन्या में कुमार की आँख लग जाएगी, उसे मै कुमार के लिए वर लूँगा।

11. तब राजा शुद्धोदन ने अशोकभाण्ड बनवाए—सुवर्णमय, रजतमय, विविधरत्नमय। (ऐसा) कर कपिलवस्तु महानगर में डुग्गी पिटवा दी कि आज से सातवें दिन कुमार दर्शन देंगे और कन्याओं को अशोकभाण्ड बाँटेंगे[5]। वहाँ संस्थागार (सभाभवन) मे सब कन्याओं को इकट्ठा हो जाना चाहिए।

12. हे भिक्षुओ, इस प्रकार सातवे दिन बोधिसत्त्व सस्थागार (सभाभवन) में जाकर भद्रासन (=सिंहासन) पर बैठे। राजा शुद्धोदन ने भी छिप-छिप कर देखने वाले पुरुषों को नियुक्त कर आज्ञा दी कि जिस कन्या मे कुमार की आँख लगे उसकी सूचना मुझे दो।

13. (–142–) हे भिक्षुओं, इस प्रकार कपिलवस्तु महानगर मे जितनी कन्याएँ थी वे सब, संस्थागार मे जहाँ बोधिसत्त्व थे वहाँ, बोधिसत्त्व के दर्शन तथा अशोकभाण्ड लेने पहुँची।

14. हे भिक्षुओं, यो बोधिसत्त्व जैसे-जैसे कन्याएँ आतीं उन्हे अशोकभाण्ड =109क=देते। वे कन्याएँ बोधिसत्त्व की श्री तथा तेज को न सह पाती थी। वे अशोकभाण्डों को लेकर जल्दी-जल्दी लौट पड़ती थी।

15. तदनन्तर दण्डपाणि शाक्य की बेटी गोपा नाम की शाक्यकुमारी अपनी दासियों से घिरी हुई उनके आगे-आगे चलती हुई संस्थागार (सभाभवन) मे जहाँ बोधिसत्त्व थे वहाँ पहुँच कर एक ओर बोधिसत्त्व को बिना पलक मारे आंखों से देखते हुए खडी रही। और जैसे ही बोधिसत्त्व सब अशोकभाण्ड बाँट चुके वैसे ही बोधिसत्त्व के पास पहुँच हँसमुख चेहरे से यों बोधिसत्त्व से कहा—कुमार, मैंने आपका क्या बिगाड़ा जो आप मेरा अपमान कर रहे है।

5. मूल, विश्रामयिष्यति। भोट, स्बिन्‌ प ब्येद्‌ क्यिसस्‌, दास्यति। शुद्धमूलपाठ मे देने का अर्थ होना चाहिए, वह विश्राणयिष्यति पाठ होने से सभव है और वही मूल पाठ था। णकार के स्थान मे मकार प्रमाद वश हुआ है।

(कुमार ने) कहा—मैं तुम्हारा अपमान नहीं कर रहा हूँ पर तुम सबसे पीछे आई हो। उन्होने कई लाखों के दाम की अँगूठी निकाल कर उसे दी उसने कहा। कुमार क्या मैं आपसे केवल यही पाने के योग्य हूँ। (कुमार ने) कहा इन मेरे आभूषणों को ग्रहण करो। उसने कहा—हम कुमार को अनलंकृत नहीं करेंगी, हम कुमार को अलंकृत करेंगी। ऐसा कह कर वह कन्या चली गई।

16. =109ख= तब उन गुप्तपुरुषों ने जाकर यह वृत्तान्त राजा शुद्धोदन के आगे निवेदन किया। हे देव, दण्डपाणि शाक्य की बेटी गोपा नाम की शाक्यकुमारी है। उसमे कुमार की आँख लगी है और दोनो का क्षणभर वार्तालाप भी हुआ है।

17. (–143–) इस बात को सुन कर राजा शुद्धोदन ने दण्डपाणि शाक्य के यहाँ पुरोहित को दूत के रूप मे भेजकर कहलवाया कि जो तुम्हारी बेटी है वह मेरे कुमार को दो।

18 दण्डपाणि ने कहा। आर्य, कुमार घर मे सुख से बढ़े हैं। हमारा यह कुलधर्म है कि कन्या शिल्पज्ञ को देनी चाहिए, अशिल्पज्ञ को नहीं। कुमार शिल्पज्ञ नही है, वे खाँडा चलाने, धनुष खीचने, एवं युद्ध करने का ढंग, तथा कुश्ती के दाँव-पेचो को नही जानते। तब भला अशिल्पज्ञ को मैं कैसे अपनी बेटी दूँ।

19. यह बात राजा को बताई गई। तब राजा के मन में यह विचार आया। यह दूसरा अवसर है जब इसने धर्म की दुहाई देकर मेरी निन्दा की है। जब मैंने कहा था कि राजकुमार की परिचर्या के लिए शाक्यकुमार क्यो नही आते? तब भी इसने मुझसे कहा क्या हम मेढ़े की परिचर्या करेंगे। इस अवसर पर भी उसी तरह कहा है। यों सोचते-सोचते गुम-सुम बैठे रहे।

20. बोधिसत्व ने यह वृत्तान्त सुना। और सुन कर राजा =110क= शुद्धोदन जहाँ थे वहाँ जा कर यों कहा—हे देव, यह क्या? दुःखी मन से क्यों बैठे है? राजा ने कहा—कुमार इसे मत पूछो। कुमार ने कहा—देव, कुछ भी क्यों न हो, बताना ही पड़ेगा। इस प्रकार तीन बार बोधिसत्व ने राजा शुद्धोदन से पूछा। तब राजा शुद्धोदन ने वह बात बताई। उसे सुन कर बोधिसत्व ने कहा—देव, इस नगर में क्या कोई है जो शिल्प दिखाने मे अपने शिल्प से मेरे साथ बराबरी कर सके। तब राजा शुद्धोदन ने चेहरे पर हँसी लाकर बोधिसत्व से यों कहा बेटा, क्या तुम शिल्प दिखा सकोगे। उन्होने कहा। हाँ, सकूँगा। (–144–) इसलिए हे देव, सब शिल्पज्ञों को इकट्ठा करो जिनके सामने मुझे अपना शिल्प दिखाना है।

21. तब राजा शुद्धोदन ने कपिलवस्तु नाम के उत्तम महानगर में डुग्गी पिटवाई कि सातवें दिन कुमार अपना शिल्प दिखाएँगे। वहाँ सब शिल्पज्ञों को इकट्ठा हो जाना चाहिए।

22. उस सातवें दिन पूरे पाँच सौ शाक्य कुमार इकट्ठे हुए। दण्डपाणि शाक्य की बेटी गोपा नाम की शाक्यकुमारी जयपताका ठहराई गई। जो खाँडा चलाने में, धनुष खींचने में, युद्ध में, कुश्ती में = 110ख = जीतेगा, उसकी यह होगी।

23. उस समय सबसे पहले कुमार देवदत्त नगर से बाहर निकले। बहुत-बड़ा श्वेत रंग का हाथी बोधिसत्त्व के लिए नगर के भीतर लाया जा रहा था। तब देवदत्त कुमार ने ईर्ष्या के कारण शाक्य-कुल के अहंकार तथा अपने पराक्रम के अभिमान में मदमत्त हो कर उस श्रेष्ठ हाथी को अपने बाएँ हाथ द्वारा सूँड़ से पकड़ कर दाहिने हाथ के द्वारा चपेटे के एक ही प्रहार से मार डाला।

24. उसके बाद कुमार सुन्दरनन्द निकले। उन्होंने उस श्रेष्ठ हाथी को नगर के द्वार पर मारा गया पड़ा देखा। देख कर पूछा—किसने मारा है? लोगों की भीड़ ने कहा—देवदत्त ने (मारा है)। उन्होंने कहा—यह देवदत्त का काम ठीक नहीं। उन्होंने उस श्रेष्ठ हाथी को पूँछ से पकड़ कर नगर के द्वार से दूर खींच कर डाल दिया।

25. उसके बाद बोधिसत्त्व रथ पर चढ़ कर निकले। बोधिसत्त्व ने उस हाथी को मारा गया पड़ा देखा और देख कर पूछा—किसने मारा है? (लोगों ने कहा) देवदत्त ने (मारा है)। (उन्होंने) कहा (यह) देवदत्त का काम ठीक नहीं। किसने (–145–) फिर नगर के द्वार से दूर खींच कर डाला है? (लोगों ने) कहा सुन्दरनन्द ने। (उन्होंने) कहा—सुन्दरनन्द का यह काम ठीक है पर यह प्राणी बड़े शरीर का है, सड़ेगा तो सारे नगर को दुर्गन्ध से = 111क = व्याकुल कर देगा।

26. तदनन्तर रथ पर बैठे ही बैठे कुमार ने एक पैर फैला कर पैर के अँगूठे से उस श्रेष्ठ हाथी को पूँछ से पकड़ कर सात परकोटे और सात खाइयों के पार नगर के बाहर एक कोस की दूरी पर फेंक दिया। जिस स्थान पर वह हाथी गिरा उस स्थान पर बहुत—बड़ा बिल बन गया जो आज कल हस्तिगर्त कहलाता है।

27. उस समय लाखों देवताओं और मनुष्यों ने लाखों बार हाहाकार किया, किलकारियाँ छोड़ीं, ठहाके मारे और कपड़े हिलाए। आकाश में विराजमान देवपुत्रों ने ये दो गाथाएँ कहीं—

(देवपुत्रों की गाथाएँ, छंद वेगवती)

यथा मत्तगजेन्द्रगतीनां (मा) पादाङ्गुष्ठतलेन गजेन्द्रं ।
सप्त पुरापरिखा अतिक्रम्य क्षिप्तु वहि षुपुरातु अयं हि ॥355॥
निःसंशयमेष सुमेधा मानबलेन समुच्छ्रितकायान् ।
संसारपुरातु बहिर्धा एक क्षपिष्यति प्रज्ञबलेन ॥356॥

जैसे मतवाले गजराज की चाल वाले इन्होंने गजेन्द्र को सात परकोटों और खाइयों के पार सुन्दर नगर के बाहर फेंका है, वैसे ही ये उत्तम बुद्धिवाले अकेले ही मान-बल से फूले-फाले शरीर वालो को संसार-रूपी नगर के बाहर प्रज्ञावल से फेंक देंगे ।

28.[6] हे भिक्षुओं, इसके बाद[6] पूरे पाँच सौ शाक्यकुमार नगर से निकल कर, धरती के उस एक स्थान पर जहाँ शाक्यकुमारों को शिल्प दिखाना था, पहुँचे । राजा शुद्धोदन भी तथा बूढ़े-बूढे शाक्य भी, और लोगो का बडा दल-बल भी, जहाँ वह धरती का स्थान था वहाँ, बोधिसत्व तथा अन्य शाक्य = 111ख = कुमारों के विशेष शिल्पो को देखने से मनोरथ से पहुँचे ।

29. वहाँ आरम्भ से ही जो शाक्यकुमार लिपि में चतुर थे (लिपि की) विधियों को जानते थे, जिन्हे बोधिसत्व के साथ लिपि में विशेषता दिखानी थे, उनके बीच उस समय उन शाक्यो ने आचार्य विश्वामित्र को साक्षी ठहराया (और कहा) आप देखिए इनमे कौन (–146–) कुमार लेख में अथवा अनेक लिपियो की पारंगतता में विशिष्ट है । तब आचार्य विश्वामित्र ने, जिन्हे बोधिसत्त्व का लिपिज्ञान प्रत्यक्ष था, मुसकराते हुए ये दो गाथाएँ कहीं—

(आचार्य विश्वामित्र की गाथाएँ, छंद उपजाति)

मानुष्य लोकेऽथ च देवलोके
गन्धर्वलोके ऽप्यसुरेन्द्रलोके ।
यावन्ति केचिल्लिपि सर्वलोके
तत्रैष पारंगतु शुद्धसत्वः ॥357॥
नामापि यूयं च अहं च तेषां
लिपीन जानाम न चाक्षराणां ।
यान्येष जानाति मनुष्यचन्द्रो
अहमत्र प्रत्यक्षु विजेष्यतेऽयं ॥358॥

6····6. मूल, इति हि । भोट, द्गे स्लोङ् दग् दे नस्, इति हि भिक्षवः । *करफु शब्द के स्थान में वैद्य का पाठ करकु है ।

(यहाँ) मनुष्यलोक मे, देवलोक मे, गन्धर्वलोक मे, असुरेन्द्रलोक में, (संक्षेप से कहें तो) संपूर्णलोक में जितनी भी लिपियाँ है, उनमे ये शुद्धसत्त्व पारंगत हैं। ये मनुष्यो में चन्दमा के समान शोभायमान जिन (लिपियो और अक्षरों) को जानते हैं, उन लिपियों और अक्षरो के नाम का भी न तुम्हे पता है और न मुझे। इस विषय मे मुझे प्रत्यक्ष है। ये (कुमार सिद्धार्थ ही) जीतेगे।

30. शाक्यो ने कहा—लिपिज्ञान मे कुमार विशिष्ट हों तो हों, संख्याज्ञान में कुमार के विषय मे जान लेना चाहिए कि (वे) विशिष्ट है (या नही) ? उस समय संख्या—गणना में पारंगत शाक्यों के गणकमहामात्र गणित के ज्योतिषी महामन्त्री को जिनका नाम अर्जुन था साक्षी ठहराया गया (और उनसे कहा गया कि)=112क=आप देखिए संख्याज्ञान में कौन कुमार विशिष्ट होता है। उस समय बोधिसत्त्व उद्देश करते थे अर्थात् गणित का प्रश्न पूछते थे और एक शाक्यकुमार निक्षेप करता था अर्थात् गणित के प्रश्न को हल करता था। पर बोधिसत्व (के उत्तर तक) न पहुँच पाता था। अनन्तर एक, दो, तीन, चार, पाँच, दस, बीस, तीस, चालीस, पचास, सौ, यहाँ तक कि पांच सौ शाक्यकुमार एक साथ निक्षेप करने लगे—हिसाब लगाने लगे पर (अन्त तक) न पहुँच पाते थे। तदनन्तर बोधिसत्व ने कहा। तुम-सब उद्देश करो—प्रश्न पूछो, मैं निक्षेप करूँगा—हिसाब लगाऊँगा। तब एक कुमार बोधिसत्त्व से उद्देश करता था (निक्षेप करते हुए—हिसाब लगाते हुए बोधिसत्त्व के उत्तर तक) न पहुँच पाता था। (तदनन्तर) दो, तीन, (चार), पांच, दस, बीस, तीस, चालीस, पचास, सौ, यहाँ तक कि पांच सौ शाक्यकुमार एक साथ उद्देश करते थे—प्रश्न पूछते थे, पर निक्षेप करते हुए—हिसाब लगाते हुए बोधिसत्त्व (के उत्तर तक) न पहुँच पाते थे।

31. (तदनन्तर) बोधिसत्व ने कहा। इस लड़-झगड़ से क्या ? इस समय सब एक होकर मुझसे उद्देश करो—प्रश्न पूछो। मैं निक्षेप करूँगा—हिसाब लगाऊँगा। तब पूरे पांच सौ शाक्यकुमार (–137–) एक ध्वनि से बोल कर पहले =112ख=से अप्रचिलित उद्देश करने लगे, प्रश्न पूछने लगे। बोधिसत्व बिना घबराए निक्षेप करने लगे, हिसाब लगाने लगे। इस प्रकार सब शाक्यकुमार (हिसाब के) अन्त तक न पहुँचते, पर बोधिसत्व अन्त तक पहुँच जाते थे।

32. तदनन्तर गणकमहामात्र (गणित के ज्योतिषी महामन्त्री) अर्जुन ने अचरज में आकर ये दो गाथाएँ कहीं—

(देवपुत्रों की गाथाएँ, छंद वेगवती)

यथा मत्तगजेन्द्रगतीनां (मा) पादाङ्गुष्ठतलेन गजेन्द्रं ।
सप्त पुरापरिखा अतिक्रम्य क्षिप्तु वहि षुपुरातु अयं हि ॥355॥
निःसंशयमेष सुमेधा मानबलेन समुच्छ्रितकायान् ।
संसारपुरातु बहिर्धा एक क्षपिष्यति प्रज्ञबलेन ॥356॥

जैसे मतवाले गजराज की चाल वाले इन्होंने गजेन्द्र को सात परकोटों और खाइयों के पार सुन्दर नगर के बाहर फेंका है, वैसे ही ये उत्तम बुद्धिवाले अकेले ही मान-बल से फूले-फाले शरीर वालो को संसार-रूपी नगर के बाहर प्रज्ञाबल से फेक देंगे ।

28.[6] हे भिक्षुओं, इसके बाद[6] पूरे पाँच सौ शाक्यकुमार नगर से निकल कर, धरती के उस एक स्थान पर जहाँ शाक्यकुमारों को शिल्प दिखाना था, पहुँचे । राजा शुद्धोदन भी तथा बूढ़े-बूढ़े शाक्य भी, और लोगों का बडा दल-बल भी, जहाँ वह धरती का स्थान था वहाँ, बोधिसत्त्व तथा अन्य शाक्य =111ख=कुमारो के विशेष शिल्पों को देखने से मनोरथ से पहुँचे ।

29. वहाँ आरम्भ से ही जो शाक्यकुमार लिपि में चतुर थे (लिपि की) विधियों को जानते थे, जिन्हे बोधिसत्त्व के साथ लिपि में विशेषता दिखानी थे, उनके बीच उस समय उन शाक्यों ने आचार्य विश्वामित्र को साक्षी ठहराया (और कहा) आप देखिए इनमे कौन (—146—) कुमार लेख में अथवा अनेक लिपियो की पारगतता में विशिष्ट है । तब आचार्य विश्वामित्र ने, जिन्हे बोधिसत्त्व का लिपिज्ञान प्रत्यक्ष था, मुसकराते हुए ये दो गाथाएं कहाँ—

(आचार्य विश्वामित्र की गाथाएँ, छंद उपजाति)

मानुष्य लोकेऽथ च देवलोके
गन्धर्वलोके ऽप्यसुरेन्द्रलोके ।
यावन्ति केचिल्लिपि सर्वलोके
तत्रैष पारंगतु शुद्धसत्त्वः ॥357॥
नामापि यूयं च अहं च तेषां
लिपीनं ज्ञानाम न चाक्षराणां ।
यान्येष जानाति मनुष्यचन्द्रो
अहमत्र प्रत्यक्षु विजेष्यतेऽयं ॥358॥

6⋯6. मूल, इति हि । भोट, द्गे स्लोङ् दग् दे नस्, इति हि भिक्षवः । *करफु शब्द के स्थान में वैद्य का पाठ करकु है ।

(यहाँ) मनुष्यलोक में, देवलोक में, गन्धर्वलोक में, असुरेन्द्रलोक में, (संक्षेप से कहें तो) संपूर्णलोक में जितनी भी लिपियाँ है, उनमे ये शुद्धसत्त्व पारंगत है। ये मनुष्यो में चन्दमा के समान शोभायमान जिन (लिपियो और अक्षरों) को जानते हैं, उन लिपियों और अक्षरों के नाम का भी न तुम्हे पता है और न मुझे। इस विषय में मुझे प्रत्यक्ष है। ये (कुमार सिद्धार्थ ही) जीतेंगे।

30. शाक्यो ने कहा—लिपिज्ञान मे कुमार विशिष्ट हों तो हों, संख्याज्ञान में कुमार के विषय मे जान लेना चाहिए कि (वे) विशिष्ट है (या नही) ? उस समय संख्या—गणना में पारंगत शाक्यों के गणकमहामात्र गणित के ज्योतिषी महामन्त्री को जिनका नाम अर्जुन था साक्षी ठहराया गया (और उनसे कहा गया कि)=112क=आप देखिए संख्याज्ञान में कौन कुमार विशिष्ट होता है। उस समय बोधिसत्त्व उद्देश करते थे अर्थात् गणित का प्रश्न पूछते थे और एक शाक्यकुमार निक्षेप करता था अर्थात् गणित के प्रश्न को हल करता था। पर बोधिसत्व (के उत्तर तक) न पहुँच पाता था। अनन्तर एक, दो, तीन, चार, पाँच, दस, बीस, तीस, चालीस, पचास, सौ, यहाँ तक कि पाँच सौ शाक्यकुमार एक साथ निक्षेप करने लगे—हिसाब लगाने लगे पर (अन्त तक) न पहुँच पाते थे। तदनन्तर बोधिसत्व ने कहा। तुम-सब उद्देश करो—प्रश्न पूछो, मैं निक्षेप करूँगा—हिसाब लगाऊँगा। तब एक कुमार बोधिसत्त्व से उद्देश करता था (निक्षेप करते हुए—हिसाब लगाते हुए बोधिसत्त्व के उत्तर तक) न पहुँच पाता था। (तदनन्तर) दो, तीन, (चार), पाँच, दस, बीस, तीस, चालीस, पचास, सौ, यहाँ तक कि पाँच सौ शाक्यकुमार एक साथ उद्देश करते थे—प्रश्न पूछते थे, पर निक्षेप करते हुए—हिसाब लगाते हुए बोधिसत्त्व (के उत्तर तक) न पहुँच पाते थे।

31. (तदनन्तर) बोधिसत्त्व ने कहा। इस लड़-झगड़ से क्या ? इस समय सब एक होकर मुझसे उद्देश करो—प्रश्न पूछो। मै निक्षेप करूँगा—हिसाब लगाऊँगा। तब पूरे पाँच सौ शाक्यकुमार (–137–) एक ध्वनि से बोल कर पहले =112ख=से अप्रचिलित उद्देश करने लगे, प्रश्न पूछने लगे। बोधिसत्त्व बिना घबराए निक्षेप करने लगे, हिसाब लगाने लगे। इस प्रकार सब शाक्यकुमार (हिसाब के) अन्त तक न पहुँचते, पर बोधिसत्त्व अन्त तक पहुँच जाते थे।

32. तदनन्तर गणकमहामात्र (गणित के ज्योतिषी महामन्त्री) अर्जुन ने अचरज में आकर ये दो गाथाएँ कही—

(गणकमहामात्र अर्जुनकी गाथाएँ)

ज्ञानस्य शीघ्रता साधु वृद्धे संपरिपृच्छता।
पञ्चमात्रशतान्येते धिष्ठिता गणनापथे ॥359॥
ईदृशी च इयं प्रज्ञा वृद्धिर्ज्ञानं स्मृतिर्मतिः।
अद्यापि शिक्षते चायं गणितं ज्ञानसागरः ॥360॥

वाह ! ज्ञान की इतनी तेजी !! (इन) ज्ञानवान् से सब तरह पूछते हुए ये पूरे पाँच सौ (शाक्यकुमार) गणना की राह में ठहर गए—अपनी गाड़ी आगे न चला सके। यह ऐसी प्रज्ञा, (ऐसी) वृद्धि, (ऐसा) ज्ञान, (ऐसी) स्मृति, (ऐसी) मति !!! आज भी ये ज्ञान के सागर गणित की शिक्षा ले रहे है।

33. तब तो सपूर्ण शाक्यगण को अचरज हुआ, अत्यन्त विस्मय हुआ। एक कंठ से उन्होने यह वचन कहा—जय है, अहो जय है, सर्वार्थसिद्ध कुमार की। सब आसन से उठ कर अंजलि बाँध कर, बोधिसत्त्व को नमस्कार कर, राजा शुद्धोदन से बोले—महाराज, लाभ हैं आपके, अत्यन्त सुलाभ हैं (आपके) जो आपका पुत्र प्रश्नो के पूछे जाने पर इस प्रकार की शीघ्र, त्वरित, तेज, और अविलम्बित प्रतिभा वाला है।

34 तदनन्तर उन राजा शुद्धोदन ने बोधिसत्त्व से यों कहा बेटा, गणकमहामात्र अर्जुन के साथ संख्या-ज्ञान की कुशलता में तथा गणना की रीति-नीति मे क्या प्रवेश कर पार पा सकोगे। बोधिसत्त्व ने कहा। हाँ, देव। (पार पा) सकूँगा। (राजा ने) कहा = 113क = तब गिनो।

35. तदनन्तर गणकमहामात्र अर्जुन ने बोधिसत्त्व से यों कहा। कुमार, क्या तुम कोटिशतोत्तर गणना की रीति जानते हो ? (बोधिसत्त्व ने) कहा—जानता हूँ। (अर्जुन ने) कहा—कोटिशतोत्तर गणना की रीति में कैसे प्रवेश करना होता है।

36. बोधिसत्त्व ने कहा—

सौ कोटियों का नाम अयुत कहा जाता है।
सौ अयुतो का नाम नियुत कहा जाता है।
सौ नियुतों का नाम कङ्कर कहा जाता है।
सौ कंकरों का नाम विवर कहा जाता है।
सौ विवरों का नाम अक्षोभ्य कहा जाता है।
सौ अक्षोभ्यो का (–148–) नाम विवाह कहा जाता है।
सौ विवाहों का नाम उत्सङ्ग कहा जाता है।
सौ उत्संगों का नाम वहुल कहा जाता है।

सौ वहुलों का नाम नागबल कहा जाता है ।
सौ नागवलों का नाम तिटिलंभ कहा जाता है ।
सौ तिटिलंभों का नाम व्यवस्थानप्रज्ञाप्ति कहा जाता है ।
सौ व्यवस्थानप्रज्ञाप्तियों का नाम हेतुहिल कहा जाता है ।
सौ हेतुहिलों का नाम करफू कहा जाता है ।
सौ करफुओं का नाम हेत्विन्द्रिय कहा जाता है ।
सौ हेत्विन्द्रियों का नाम समाप्तलम्भ कहा जाता है ।
सौ समालम्भों का नाम गणनागति कहा जाता है ।
सौ गणनागतियों का नाम निरवद्य कहा जाता है ।
सौ निरवद्यों का नाम =113ख= मुद्राबल कहा जाता है ।
सौ मुद्रावलों का माम सर्वबल कहा जाता है ।
सौ सर्वबलों का नाम विसंज्ञागति कहा जाता है ।
सौ विसंज्ञागतियों का नाम सर्वसंज्ञा कहा जाता है ।
सौ सर्वसंज्ञाओं का नाम विभूतंगमा कहा जाता है ।
सौ विभूतंगमाओं का नाम तल्लक्षण कहा जाता है ।

इस प्रकार तल्लक्षण-गणना से लक्षनिक्षेप क्रिया करें—लाख बार हिसाव लगाएँ तो पर्वतराज सुमेरु का परिक्षय (पूरी तरह खातमा) हो जाता है । इससे ऊपर भी ध्वजाग्रवती नाम की गणना है । जिस गणना में गङ्गानदी-वालिकासमा (गंगानदी की रेणुओं जितने पदार्थ) लक्षनिक्षेपक्रिया द्वारा—लाख बार हिसाब करने से परिक्षय को प्राप्त हो सकते हैं । इसके ऊपर भी ध्वजाग्रनिशामणि नाम की गणना है । इसके ऊपर भी वाहन प्रज्ञप्ति नाम की । इसके ऊपर भी इङ्गा नाम की । इसके ऊपर भी कुरुटु नाम की । इसके ऊपर कुरुटावी नाम की । इसके ऊपर सर्वनिक्षेपा नाम की गणना है । इस गणना में दस गङ्गानदीवालिकासमा (दस गङ्गा नदियों के रेणुओं जितने पदार्थ) लक्ष-निक्षेपक्रियाद्वारा—लाख बार हिसाब करने से परिक्षय को प्राप्त हो सकते हैं । इसके ऊपर भी अग्रसारा नाम की गणना है जिसमें कोटिशतगङ्गानदीवालिका-समा (सौ करोड़ गङ्गा नदियों के रेणुओं के जितने पदार्थ) परिक्षय को प्राप्त हो सकते हैं । इसके ऊपर भी परमाणुरजःप्रवेशनुगता नाम की गणना है अर्थात् ऐसी गणना है जिससे परमाणुओं के वरावर के रजः कणों की संख्या में प्रवेश कर उनका अनुगमन किया जा सकता है—उनका हिसाब लगाया जा सकता है । =114क= तथागत को, वोधि के श्रेष्ठ एवं उत्तम कोटि के सार तक पहुँचे हुए तथा सब धर्मों के अभिषेक के योग्य वोधिसत्त्व को छोड कर और कोई प्राणी (–149–) प्राणियों के समूह में नहीं है, जो इस गणना को जानता हो ।

इसके अतिरिक्त मुझे तथा मेरे जैसे, इसी प्रकार-अन्तिम जन्म ग्रहण करने वाले, घर के निवास को त्याग निकल पड़े हुए बोधिसत्त्व को (छोड़ कर और कोई नहीं है, जो इस गणना को जानता हो)।

37 अर्जुन ने कहा—कुमार, परमाणुरजः प्रवेशगणना में कैसे प्रवेश किया जाता है ? बोधिसत्त्व ने कहा—

सात परमाणुरज (एक) अणु है।
सात अणु (एक) त्रुति (त्रुटि) है।
सात त्रुटि एक वातायन रज है।
सात वातायन रज एक शशरज है।
सात शशरज एक एड़करज है।
सात एडकरज एक गोरज है।
सात गोरज एक लिक्षा[7] है।
सात लिक्षाएँ[8] (एक) सर्षप (=सरसों) है
सात सर्षपों का (एक) यव होता है।
सात यवों का (एक) अगुली-पर्व (=अंगुल) होता है।
बारह अङ्गुलीपर्व या अगुल (एक) वितस्ति (=बित्ता) होते है।
दो वितस्ति या बित्ते (एक) हस्त (=हाथ) होते हैं।
चार हस्त या हाथ (एक) धनुः (=धनुष)
चार धनुष (एक) धनुः (....धनुष) होते हैं।
हजार धनुप (एक) मागधक्रोश[9] (अर्थात् मगध देश का प्रचलित कोस) है।

चार क्रोश (=कोस) (एक) योजन है

तुम लोगों में से योजनपिण्ड को कौन जानता है ? उसमें कितने परमाणुरज = 114भ = होते हैं ?

38 अर्जुन ने कहा। कुमार मैं ही भूल-भूलइया में पड गया हूँ। तब जो और अल्पबुद्धि के लोग हैं उनका कहना ही क्या ? कुमार बतलाएँ योजनपिण्ड में कितने परमाणुरज होते हैं ? बोधिसत्त्व ने कहा—योजनपिण्ड में अक्षोभ्यों के एक नयुत (=खर्व), कोटि—नयुतों के तीस लक्ष, कोटियों के साठ सैकड़े, बत्तीस कोटि, पाँच दशशतसहस्र अर्थात् पाँच गुने दस लाख, बारह सहस्र

7. मूल, लिक्षारजः। भोट, स्रो म, लिक्षा।
8. मूल, लिख्याः। पहले इस शब्द का पाठ लिक्षा आया है। भोट, स्रोम।
9 मूल, मार्गध्वजाक्रोशः। भोट, युल् म ग ध हि ग्र्यङ -ग्रग्स, मगधक्रोशः। मूलपाठ 'मागधक्रोशः' होना चाहिए।

परमाणुरज होते हैं। इतना योजनपिण्ड होता है। परमाणुरजोनिक्षेप के परमाणुरजों की गिनती के हिसाब के इस प्रवेशद्वारा जम्बूद्वीप सात सहस्र योजन का है। अपरगोदानीय[10] आठ सहस्र योजन का है। पूर्वविदेह नौ सहस्र योजन का है। उत्तरकुरु दश सहस्र योजन का है। इस (गणना के) प्रवेशद्वारा चार-द्वीपों-वाले लोकधातु को प्रमुख मान कर पूरे सौ कोटि चारों-द्वीपों-वाले लोकधातुओं को त्रिसाहस्र-महासाहस्र-लोकधातु कहते हैं। जो विशाल एवं विस्तृत है, जिसमें सौ कोटि महासागर हैं। सौ कोटि (–150–) चक्रवाल और (सौ कोटि) महाचक्रवाल हैं। सौ कोटि पर्वतराज[11] सुमेरु है। सौ कोटि चातुर्महाराजिक देव हैं। सौ कोटि त्रयस्त्रिंश (देव) हैं। सौ कोटि याम (देव) हैं। सौ कोटि तुषित (देव) हैं। सौ कोटि निर्माणरति (देव) हैं। सौ कोटि परनिर्मितवशवर्ती (देव) हैं। सौ कोटि ब्रह्मकायिक (देव) हैं। सौ कोटि ब्रह्मपुरोहित =115क= (देव) हैं। सौ कोटि ब्रह्मपार्षद्य (देव) हैं। सौ कोटि महाब्रह्मा (देव) हैं। सौ कोटि परीत्ताभ (अर्थात् स्वल्प प्रभावाले देव) हैं। सौ कोटि अप्रमाणाभ (अर्थात् अपरिमित प्रभावाले देव) हैं। सौ कोटि आभास्वर (देव) हैं। सौ कोटि परीत्तशुभ (अर्थात् अल्प पुण्यवाले देव) हैं। सौ कोटि अप्रमाणशुभ (अर्थात् अपरिमित-पुण्य-वाले देव) हैं। सौ कोटि शुभकृत्स्न (अर्थात् पूरे पुण्य वाले देव) हैं। सौ कोटि अनभ्रक (देव) हैं। सौ कोटि पुण्य-प्रसव (देव) हैं। सौ कोटि बृहत्फल (देव) हैं। सौ कोटि असंज्ञि-सत्त्व (देव) हैं। सौ कोटि अवृह (=अमहान् देव) हैं। सौ कोटि अतप (देव) हैं। सौ कोटि सुदृश (देव) हैं। सौ कोटि अकनिष्ठ देव हैं। उस (त्रिसाहस्रमहासाहस्रलोकधातु में परमाणुरज) जितने सैकड़ों योजन जितने सहस्रयोजन, जितने कोटि योजन, जितने नयुत योजन, यहाँ तक कि जितने योजन अग्रसारा-गणना से होते हैं वे सब कितने परमाणुरज होते हैं, ऐसा (कोई कहे तो) कहना होगा कि इनकी गिनती संख्याओं द्वारा की जाने वाली गिनती से परे है, इसीलिए उन्हें असंख्येय कहा जाता है। इसलिए त्रिसाहस्रमहासाहस्रलोकधातु में जो परमाणुरज हैं वे सर्वथा असंख्येय हैं।

39. =115ख= बोधिसत्त्व ने जब इस गणना के अध्याय का (इस प्रकार) व्याख्यान किया तब गणकमहामात्र अर्जुन तथा संपूर्ण शाक्यगण संतुष्ट हुए, हर्ष से भर गए, मन में फूले न समाये, प्रमुदित हुए, अचरज में भर गए,

10. मूल, गोदानीयः। भोट, नुब् क्यि ब लङ् स्प्योद्, अपरगोदानीयः।
11. मूल, पर्वतरजानां। भोट, रि हि. गृर्यल् पो, पर्वतराज। मूल में राजानां का प्रामादिक पाठ रजानां हो गया है।

अद्भुत भाव से ओत-प्रोत हो गए। वे सब एक-एक वस्त्र पहने रह गए और शेष वस्त्रों तथा आभूषणों से बोधिसत्त्व को आच्छादित कर दिया।

40. (-151-) तदनन्तर गणकमहामात्र अर्जुन ने ये दो गाथाएँ कही—

(गणकमहामात्र अर्जुन की गाथाएँ)

(छंद वसन्ततिलका)

कोटीशतं च अयुता अयुतास्तथैव[12]
नियुता नु कङ्करगती तथ बिम्बराश्च।
अक्षोभिणी परम ज्ञानु न मे स्त्यतोर्ध्व[13]
मत उत्तरे गणनमप्रतिमस्य ज्ञानं ॥361॥

सौ कोटि अयुत होते हैं, उसी प्रकार अयुत, नियुत, कङ्कर, बिम्बर तथा अक्षोभिणी (शतोत्तर) होते है। मेरे ज्ञान की परम (सीमा) यही है, इससे ऊपर नहीं। इससे ऊपर की गणना में अनुपम (बोधिसत्त्व) का ज्ञान है।

इसके अतिरिक्त, हे शाक्यों,

(छंद औपच्छन्दसिक)

त्रिसाहस्रि[14] रजाश्च यन्तका[14]
तृष वन ओषधियो जलस्य बिन्दून्।
हुंकारेण न्यसेय एकिनैषो
कि पुनि विस्मयु पञ्चभिः शतेभिः ॥362॥

त्रिसाहस्र (—महासाहस्र-लोक धातु) मे, जितने (परमाणुओं के) रज हैं, तिनके हैं, वन है, औषधियां है, जल के बूँद है, उनको ये (बोधिसत्त्व) एक हुँकार में अर्थात् हुँ को एक-बार कहने में जितना समय लगता है उतने समय में गिन सकते हैं, फिर पाँच सौ (हुँ-के क्षणो) में (गिन डाले तो) अचरज ही क्या ?

12. मूल, नयुतस्तथैव। भोटानुसार पा० अयुतस्तथैव। यही ठीक है। पूर्ण चरण भोट में यो है—ब्ये व ग्र्य न थेर् .ह्.बुम् थेर् .ह्.बुम् दे ब्शिन् डु, काटीशतं (च) अयुता अयुतस्तथैव।

13. मूल, अतोऽर्थं। भोट, दे गोङ्, तत ऊर्ध्वम्। मूल पा० निश्चय ही अतोर्ध्वं था।

14⋯14. मूल, रजाश्रयन्तका। शुद्धपाठ रजाश्च यन्तका (=रजांसि च यावन्ति) होना चाहिए। तुलनीय भोट, र्डुल् दङ् जि स्नेद् योद् प.दङ्, रजांसि च यावन्ति सन्ति। यन्तक-के लिए पालि यत्तक संस्कृत यावत्क तुलनीय है।

41. उस समय लाखों देवताओ और मनुष्यों ने लाखों बार हाहाकार किया, किलकारियाँ मारी, ठहाके छोड़े। आकाश में स्थित देवपुत्रों ने यह गाथा कही।

(देवपुत्रगाथा, छंद वसन्ततिलका)

यावन्त सत्व निखिलेन त्रियध्व युक्ताः
चित्तानि चैतसिक संज्ञि वितर्कितानि।
हीनाः प्रणीत तथ संक्षिप विक्षिपा ये
एकस्मि चित्तपरिवर्ति प्रजानि सर्वान् ॥363॥

तीनों कालों में मिलकर जितने प्राणी (हो सकते) हैं (तथा उनके जितने) चित्त, चैत्त (= चित्तवृतियाँ) संज्ञाएँ (= सविकल्पक ज्ञान), और वितर्क हीन, उत्तम, संक्षिप्त, एवं विस्तृत (प्रकार के हो सकते) हैं, उन्हें ये चित्त के एक परिवर्त में जान सकते है।

42. हे भिक्षुओं, इस प्रकार सब शाक्यकुमार = 116क=पराजित हो गए। वोधिसत्व ही विशिष्ट निकले। उसके बाद, लंघित मे अर्थात् लंबी कूद मे ऊवित में अर्थात् ऊँची कूद में, जवित में अर्थात् तेज-दौड़ में वोधिसत्व ही विशिष्ट हुए। और आकाश मे स्थित देवपुत्रों ने ये गाथाएँ कहीं—

(देवपुत्रगाथाएँ)

(छंद पुष्पिताग्रा)

व्रततपसगुणेन संयमेन
क्षमदममैत्रबलेन कल्पकोटयः।
अथ कृतु लघु कायचित्त नेता
तस्य जवस्य विशेषता शृणोथ ॥364॥

व्रत तथा तपश्चर्या के गुण से, संयम से, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, तथा मैत्री के बल से काय एवं चित्त को लघु (हलका) करके करोड़ों कल्प (जिन्होंने) बिताए है, उनके वेग की विशेषता को सुनो।

(छंद मालिनी)

(–152–) इह गृहगत युष्मे पश्यथा सत्त्वसारं
अपि च दशसु दिक्षु गच्छतेऽयं क्षणेन।
अपरिमितजिनानां पूजनामेष कुर्वन्
मणिकनक विचित्रैर्लोकधातुष्वनन्ता ॥365॥

यहां पर तुम-सब (इन) इन श्रेष्ठ (वोधि) सत्व को घर में विराजमान देखते हो। फिर भी ये क्षण-क्षण में दसों दिशाओ में (स्थित) अनन्त लोक-

धातुओं मे (वर्तमान) अपरिमित बुद्धों की विचित्र मणियो एवं सुवर्णो से पूजा करते हुए जाते-रहत है ।

(छंद पुष्पिताग्रा)

न च पुन गति आगति च अस्या
यूयं प्रजानथ, तावदृद्धि प्राप्तो ।
कोऽत्र जविति विस्मयो जनेया
असदृश एष करोथ गौरवोऽस्मिन् ॥366॥

(इन्हे) उतनी ऋद्धि प्राप्त है कि तुम-सब इनके आने-जाने को नहीं जान (सक) ते हो । (तब) इस बेग मे यहाँ किसको विस्मय हो सकता है । इनकी बराबरी नहीं हो सकती । इनके प्रति गौरव करो ।

इस प्रकार से बोधिसत्त्व ही विशिष्ट (सिद्ध) हुए ।

43. तब शाक्यों ने कहा । युद्धविषय मे जान लेना चाहिए कि कुमार विशिष्ट है (या नहीं) ? उस (अवसर) पर बोधिसत्त्व एक ओर खड़े हो गए =116 ख= और वे पूरे पाँच सौ शाक्यकुमार एक साथ युद्ध करने लगे । इस प्रकार (भी जब बोधिसत्त्व ही विशिष्ट सिद्ध हुए तब) बत्तीस शाक्यकुमार मल्लयुद्ध (=कुश्ती) के लिए खड़े हुए । उस समय नन्द और आनन्द कुश्ती के लिए बोधिसत्त्व के सम्मुख आ डटे । उन्हें बोधिसत्त्व ने ज्यों ही हाथ से छुआ त्यों ही वे बोधिसत्त्व के तेज और बल को न सह पा कर धरती पर गिर पडे । उसके बाद गर्वीले, अभिमानी, बलवान् एवं अकडवाले,[15] बलके अभिमान से तथा शाक्यकुल के अभिमान से अकड़े हुए[15], बोधिसत्त्व के साथ स्पर्धा करते हुए कुमार देवदत्त समूचे रंगमण्डल (=अखाड़े) की प्रदक्षिणा कर खिलाड़ी-पना दिखाते हुए बोधिसत्त्व पर झपटे । इस पर बोधिसत्त्व बिना घबराए-बिना झट-पटाहट किए ही कुमार देवदत्त को लीला के साथ अपने दाहिने हाथ से पकड़ कर तीन बार आकाश में घुमा कर अभिमान मिटाने के लिए अहिंसा की भावना तथा मैत्री के चित्त से धरती पर डाल दिया, पर शरीर मे चोट न लगी ।

44. तदनन्तर बोधिसत्त्व ने भी कहा । इस लड-झगड से क्या ? सब लोग एक होकर अब कुश्ती लड़ने आ जाओ । (–153–) तब वे सब हर्षित होकर बोधिसत्त्व पर झपटे । बोधिसत्त्व ने =117क= छू भर दिया । वे बोधिसत्त्व

15····15. मूल, शाक्यमानेन च तब्धो । भोट, स्तोब्स् क्यि ङ-ग्र्यल् दङ् शाक्यहि ङ-ग्र्यल् दङ् ल्जेम्स्-प, बलमानेन शाक्यमानेन च स्तब्धः ।

की श्री, तेज, शरीर-बल तथा दृढ़ता को न सह पा कर छूने के साथ ही साथ धरती पर गिर पड़े। लाखों देवताओं और मनुष्यों ने लाखों ही-हीकार किए, किलकारियाँ मारी, ठहाके छोड़े। और आकाश मे स्थित देवपुत्रो ने पुष्पों की महावर्षा कर एक स्वर से ये गाथाएँ कही—

(देवपुत्र-गाथाएँ, छन्द वसन्ततिलका)

यावन्त सत्त्वनयुता दशसू दिशासू
ते दुष्टमल्ल महनग्नसमा भवेयुः।
एकक्षणेन निपतेयु (= निपतेत्व)[16] नरर्षभस्य
संस्पृष्टमात्र निपतेयु क्षितीतलेस्मि ॥367॥

दसों दिशाओं में जितने खर्ब-खर्ब प्राणी है, वे यदि महानग्न (महाबली रुद्र) के समान प्रतिपक्षी मल्ल (पहलवान) हों तो भी आक्रमण कर एक क्षण मे श्रेष्ठ पुरुष के छूने भर से ही भूतल पर गिर पड़ेगे।

मेरु: सुमेरु तथा वज्रकचक्रवाडाः
ये चान्य पर्वत क्वचिद् दशसू दिशासु।
पाणिभ्य गृह्य मसिचूर्णनिभां प्रकुर्यात्
को विस्मयो मनुजआश्रयके असारे ॥368॥

मेरु या सुमेरु, तथा वज्र-मणिमय चक्रवाल (अर्थात् लोकालोक पर्वत) एवं जो अन्य पर्वत दसों दिशाओं मे कही पर है, उन्हे हाथो से पकड़ कर (ये बोधिसत्त्व) काजल के चूरा जैसा कर सकते है, फिर सार-हीन मनुष्य-शरीर के विषय में अचरज ही क्या ?

एषो द्रुमेन्द्रप्रवरे महदुष्टमल्लं
मारं ससैन्य सबलं [17]सहयं ध्वजाग्रे[17]।
मैत्रीबलेन विनिहत्य हि कृष्णबन्धुं
यावत् पृसिष्यति अनुत्तर बोधि सान्तं ॥369॥

16. निपतेयु इस पद का प्रयोग तीसरे तथा चौथे दोनों पादों मे हैं। दोनों स्थानों पर वही अर्थ हो तो एक पुनरुक्त है और सम्भवतः अपपाठ है। भोट मे प्रथम का अनुवाद रुब् ग्युर् क्यङ् (आक्रम्य,—धावित्वा) है तथा दूसरे का (पंक्ति 10) अनुवाद ह्ग्येल् बर् ग्युर् (निपतेयुः, अधः पतिता भवेयुः) है। सम्भवतः निपतेयु (पंक्ति 9) निपत्य का ही अपभ्रंश है। निपतेत्व पाठ उचिततर तथा स्पष्ट होता।

17....17. सहयं ध्वजाग्रे का भोटानुवाद ग्यंल् म्छन् र्ङ्र् ब्चस् प (ध्वजाग्रसहितं) है। जान पड़ता है सहयं शब्द का हय के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं

ये श्रेष्ठ वृक्षों के राजा (पीपल-वृक्ष) के नीचे महान् प्रतिपक्षी मल्ल, कृष्ण के बन्धु (= पाप के भाई) आगे-आगे ध्वजा से युक्त सेना-बल समेत, मार को जीत कर अनुत्तर एवं शान्त बोधि को स्पर्श करेंगे ।

इस प्रकार बोधिसत्त्व ही विशिष्ट सिद्ध हुए ।

45. इसके अनन्तर दण्डपाणि ने शाक्यकुमारों से यह कहा । यह जान लिया और देख लिया । अब बाण फेकने (की कला) का प्रदर्शन करो । उस समय आनन्द की = 117ख = दो कोस की दूरी पर (–154–) लोहे की बनी भेरी लक्ष्य बना कर स्थापित की गई थी । उसके अनन्तर देवदत्त की बनी भेरी चार कोस की दूरी पर स्थापित की गई थी । सुन्दरनन्द की लोहे की बनी भेरी छह कोस की दूरी पर स्थापित की गई थी । दण्डपाणि की लोहे की बनी भेरी दो योजन की दूरी पर स्थापित की गई थी । बोधिसत्त्व की लोहे की बनी भेरी दस कोस की दूरी पर स्थापित की गई थी । उसके बाद सात ताल (वृक्षों के बराबर) ऊँची लोहे की बनी यन्त्र से युक्त वराह की प्रतिमा स्थापित की गई थी । तब आनन्द ने दो कोस पर की भेरी पर चोट की पर उसके आगे न बढ सके। देवदत्त ने चार कोस पर स्थित भेरी पर चोट की पर उसके आगे न बढ सके। सुन्दरनन्द ने छह कोस पर स्थित भेरी पर चोट की पर उसके आगे न बढ सके। दण्डपाणि ने दो योजन पर स्थित भेरी पर चोट की और उसे भेद डाला, पर आगे न बढ सके । (उस समय) वहाँ पर बोधिसत्त्व को जो-जो धनुष दिया जाता था वह-वह (चढाने पर) टूट जाता था । इस कारण = 118क = बोधिसत्त्व ने कहा । हे देव, इस नगर मे क्या और कोई धनुष है जो मेरा आरोपण (अर्थात् प्रत्यंच का दोनों कोटियों पर चढाया जाना) तथा शरीर-बल के सामर्थ्य को सहन कर सके ? राजा ने कहा । है पुत्र । कुमार ने कहा । हे देव । वह कहाँ है ? राजा ने कहा— तुम्हारे पितामह सिंहहनु नाम के थे । उनका जो धनुष था वही इस-समय [18]देव-कुल (= मंदिर) में सुगन्ध और पुष्पों से पूजा जाता है । उस धनुष को कोई चढा ही नही पाता, खीचने की तो बात ही क्या ? बोधिसत्त्व ने कहा—देव, वह धनुप मँगाइए, उसकी हम परीक्षा करना चाहते हैं ।

46. तब ज्यों ही धनुष लाया गया त्यों ही सब शाक्यकुमार अत्यन्त यत्न से परिश्रम करते हुए उस धनुप को न चढा सके, खीचने की तो बात ही क्या ?

है । सह शब्द के आगे यं फिर भी विचारणीय है । साकं की छाया पर बने सहकं से सहयं व्युत्पन्न जान पड़ता है ।

18. मूल, तर्हि । भोट, द ल्तर्, एतर्हि, इस समय ।

तब वह धनुष दण्डपाणि शाक्य के पास लाया गया। तदनन्तर दण्डपाणि शाक्य अपने कायबल का पूरा सामर्थ्य लगा कर उस धनुष को चढ़ाने लगे, पर न चढ़ा सके। यों (क्रम से वह धनुष) बोधिसत्त्व के पास लाया गया। (–155–) उसे ले कर आसन से बिना उठे ही, आधी पलथी मार, बाएँ हाथ से पकड़ कर, बोधिसत्त्व ने दाहिने हाथ की एक उँगली के अगले पोर से चढ़ा दिया। चढ़ाए जाते हुए धनुष के शब्द से संपूर्ण कपिलवस्तु महानगर में विज्ञापन हो गया। सब नागरिक =118ख=लोग विह्वल हो एक-दूसरे से पूछने लगे, यह ऐसा शब्द किसका है। और लोगों ने कहा। कुमार सिद्धार्थ ने अपने पितामह का धनुष चढ़ाया है। उसका यह शब्द है। तब लाखों देवताओं तथा मनुष्यों ने लाखों बार हाहाकार किया, किलकारियाँ मारीं, ठहाके छोड़े। और आकाश में स्थित देवपुत्रों ने राजा शुद्धोदन से तथा लोगों की उस बड़ी भीड़ से गाथा-द्वारा कहा—

(देवपुत्रगाथा, छंद तोटक)

यथ पूरित एष धनुर्मुनिना
न च उत्थितु आसनि नो च भुमी।
निःसंशयु पूर्णमभिप्रायु मुनिर्
लघु भेष्यति जित्व च मारचमूं ॥370॥

जिस प्रकार (इन) मुनि ने इस धनुष को बिना आसन से तथा बिना भूमि से उठे ही पूर्ण किया है, (उसी प्रकार) ये निःसन्देह (अपने) मनोरथ को पूर्ण कर शीघ्र ही मारसेना को जीत कर बुद्ध होंगे।

47. हे भिक्षुओ, इस प्रकार बोधिसत्त्व ने बाण लेकर धनुष पर चढ़ा कर वैसे बल-सामर्थ्य से उस बाण को फेंका कि वह बाण जो-जो जहाँ-जहाँ आनन्द की, देवदत्त की,—सुन्दरनन्द की, यहाँ तक कि—दण्डपाणि की भेरी थी, उन सब को भेद कर दस कोस दूरी पर स्थित अपनी लोहे की बनी भेरी तथा सात ताल ऊँची यन्त्र-युक्त वराह-प्रतिमा को (भी) भेद कर भूतल में समा कर (ऐसा) अदृश्य हुआ कि उसकी झलक भी न दीख पड़ी। जिस स्थान पर वह बाण भूतल भेद कर भीतर घुस गया था उस स्थान पर कुआँ हो गया, जो आज भी =119क=शरकूप कहलाता है। उस (अवसर) पर लाखों देवताओं और मनुष्यों ने लाखों बार ही-हीकार किया, किलकारियाँ मारी, ठहाके छोड़े। समूचे शाक्यगण को विस्मय हुआ, आश्चर्य लगा। अहो, आश्चर्य है (–156–) कि इन्होंने योग्य (विद्या-सिद्धि) न की (फिर भी इनकी) यह ऐसी शिल्प में चतुरता। और आकाश में स्थित देवपुत्रों ने राजा शुद्धोदन से तथा लोगों की

ये श्रेष्ठ वृक्षों के राजा (पीपल-वृक्ष) के नीचे महान् प्रतिपक्षी मल्ल, कृष्ण के बन्धु (= पाप के भाई) आगे-आगे ध्वजा से युक्त सेना-बल समेत, मार को जीत कर अनुत्तर एवं शान्त बोधि को स्पर्श करेंगे ।

इस प्रकार बोधिसत्त्व ही विशिष्ट सिद्ध हुए ।

45. इसके अनन्तर दण्डपाणि ने शाक्यकुमारों से यह कहा । यह जान लिया और देख लिया । अब बाण फेंकने (की कला) का प्रदर्शन करो । उस समय आनन्द की = 117ख = दो कोस की दूरी पर (–154–) लोहे की बनी भेरी लक्ष्य बना कर स्थापित की गई थी । उसके अनन्तर देवदत्त की बनी भेरी चार कोस की दूरी पर स्थापित की गई थी । सुन्दरनन्द की लोहे की बनी भेरी छह कोस की दूरी पर स्थापित की गई थी । दण्डपाणि की लोहे की बनी भेरी दो योजन की दूरी पर स्थापित की गई थी । बोधिसत्त्व की लोहे की बनी भेरी दस कोस की दूरी पर स्थापित की गई थी । उसके बाद सात ताल (वृक्षों के बराबर) ऊँची लोहे की बनी यन्त्र से युक्त वराह की प्रतिमा स्थापित की गई थी । तब आनन्द ने दो कोस पर की भेरी पर चोट की पर उसके आगे न बढ़ सके। देवदत्त ने चार कोस पर स्थित भेरी पर चोट की पर उसके आगे न बढ सके। सुन्दरनन्द ने छह कोस पर स्थित भेरी पर चोट की पर उसके आगे न बढ सके। दण्डपाणि ने दो योजन पर स्थित भेरी पर चोट की और उसे भेद डाला, पर आगे न बढ़ सके । (उस समय) वहाँ पर बोधिसत्त्व को जो-जो धनुष दिया जाता था वह-वह (चढ़ाने पर) टूट जाता था । इस कारण = 118क = बोधिसत्त्व ने कहा । हे देव, इस नगर मे क्या और कोई धनुष है जो मेरा आरोपण (अर्थात् प्रत्यंच का दोनों कोटियों पर चढाया जाना) तथा शरीर-बल के सामर्थ्य को सहन कर सके ? राजा ने कहा । है पुत्र । कुमार ने कहा । हे देव । वह कहाँ है ? राजा ने कहा— तुम्हारे पितामह सिंहहनु नाम के थे । उनका जो धनुष था वही इस-समय [18]देवकुल (= मंदिर) में सुगन्ध और पुष्पों से पूजा जाता है । उस धनुष को कोई चढा ही नही पाता, खीचने की तो बात ही क्या ? बोधिसत्त्व ने कहा—देव, वह धनुष मँगाइए, उसकी हम परीक्षा करना चाहते है ।

46. तब ज्यों ही धनुष लाया गया त्यों ही सब शाक्यकुमार अत्यन्त यत्न से परिश्रम करते हुए उस धनुष को न चढा सके, खीचने की तो बात ही क्या ?

है । सह शब्द के आगे यं फिर भी विचारणीय है । साकं की छाया पर बने सहकं से सहयं व्युत्पन्न जान पडता है ।

18. मूल, तर्हि । भोट, द ल्तर्, एतर्हि, इस समय ।

तब वह धनुष दण्डपाणि शाक्य के पास लाया गया। तदनन्तर दण्डपाणि शाक्य अपने कायबल का पूरा सामर्थ्य लगा कर उस धनुष को चढ़ाने लगे, पर न चढ़ा सके। यों (क्रम से वह धनुष) बोधिसत्व के पास लाया गया। (–155–) उसे ले कर आसन से बिना उठे ही, आधी पलथी मार, बाएँ हाथ से पकड़ कर, बोधिसत्व ने दाहिने हाथ की एक उँगली के अगले पोर से चढ़ा दिया। चढ़ाए जाते हुए धनुष के शब्द से संपूर्ण कपिलवस्तु महानगर में विज्ञापन हो गया। सब नागरिक =118ख=लोग विह्वल हो एक-दूसरे से पूछने लगे, यह ऐसा शब्द किसका है। और लोगों ने कहा। कुमार सिद्धार्थ ने अपने पितामह का धनुष चढ़ाया है। उसका यह शब्द है। तब लाखों देवताओं तथा मनुष्यों ने लाखों बार हाहाकार किया, किलकारियाँ मारीं, ठहाके छोड़े। और आकाश में स्थित देवपुत्रों ने राजा शुद्धोदन से तथा लोगो की उस बड़ी भीड़ से गाथा-द्वारा कहा—

"(देवपुत्रगाथा, छंद तोटक)

यथ पूरित एष धनुर्मुनिना
न च उत्थितु आसनि नो च भुमी।
निःसंशयु पूर्णमभिप्रायु मुनिर्
लघु भेष्यति जित्व च मारचमू ॥370॥

जिस प्रकार (इन) मुनि ने इस धनुष को बिना आसन से तथा बिना भूमि से उठे ही पूर्ण किया है, (उसी प्रकार) ये निःसन्देह (अपने) मनोरथ को पूर्ण कर शीघ्र ही मारसेना को जीत कर बुद्ध होंगे।

47. हे भिक्षुओ, इस प्रकार बोधिसत्त्व ने बाण लेकर धनुष पर चढ़ा कर वैसे बल-सामर्थ्य से उस बाण को फेंका कि वह बाण जो-जो जहाँ-जहाँ आनन्द की, देवदत्त की,—सुन्दरनन्द की, यहाँ तक कि—दण्डपाणि की भेरी थी, उन सब को भेद कर दस कोस दूरी पर स्थित अपनी लोहे की बनी भेरी तथा सात ताल ऊँची यन्त्र-युक्त वराह-प्रतिमा को (भी) भेद कर भूतल में समा कर (ऐसा) अदृश्य हुआ कि उसकी झलक भी न दीख पड़ी। जिस स्थान पर वह बाण भूतल भेद कर भीतर घुस गया था उस स्थान पर कुआँ हो गया, जो आज भी =119क=शरकूप कहलाता है। उस (अवसर) पर लाखों देवताओं और मनुष्यों ने लाखों बार ही-हीकार किया, किलकारियाँ मारी, ठहाके छोड़े। समूचे शाक्यगण को विस्मय हुआ, आश्चर्य लगा। अहो, आश्चर्य है (–156–) कि इन्होंने योग्य (विद्या-सिद्धि) न की (फिर भी इनकी) यह ऐसी शिल्प में चतुरता। और आकाश में स्थित देवपुत्रों ने राजा शुद्धोदन से तथा लोगों की

उस बड़ी भीड़ से इस प्रकार कहा। हे मनुष्यों, इसमें विस्मय कौन ? वह किसलिए ?

(देवपुत्रगाथा, छन्द मालिनी)

एष (हि) धरणिमण्डे पूर्वबुद्धासनस्थः
समथ धनु गृहीत्वा शून्यनैरात्मबाणैः।
क्लेश (?किलिश) रिपु निहत्वा दृष्टिजालं च भित्वा
शिवविरजमशोकां प्राप्स्यते बोधिमग्र्यां ॥371॥

ये पृथिवी के सार (–भूत गया मंगल में) पूर्व के बुद्धों के आसन पर बैठ, शान्ति के धनुष को पकड़ कर शून्यता तथा नैरात्म्य के बाणों से, क्लेश-शत्रुओं को मार कर, दृष्टियों के जाल को भेद कर, रजोहीन, कल्याण, शोकरहित, उत्तम बोधि को प्राप्त करेंगे।

ऐसा कह कर वे देवपुत्र बोधिसत्त्व को दिव्य पुष्पों से आच्छादित कर चले गए।

48. इस प्रकार जैसे पहले वर्णन किया गया है उसी प्रकार लौकिक तथा देवताओं और मनुष्यों के (ज्ञान से) परे (अलौकिक) इन सब (अनन्तरोक्त) शिल्प-कलाओं में बोधिसत्त्व ही विशिष्ट सिद्ध हुए—

1. लंघित में अर्थात् लंबी कूद में।
2. लिपि में अर्थात् अक्षरविद्या में।
3. मुद्रा में अर्थात् हस्तरेखाविद्या में।
4. गणना में अर्थात् गणितशास्त्र में।
5. संख्या में अर्थात् अंकशास्त्र में।
6. सालम्भ में अर्थात् मल्लविद्या में।
7. धनुर्वेद में अर्थात् दूरवेधविद्या में[19]।
8. जवित में अर्थात् दौड़ में।
9. प्लवित में अर्थात् ऊँची कूद में।
10. तरण में अर्थात् तैरने में।
11. इष्वस्त्र में अर्थात् बाणविद्या में।
12. हस्तिग्रीवा में अर्थात् हाथी की सवारी में।

19. मूल, धनुर्वेदे। भोट, गर्यङ् नस् फोग् प, दूरवेध। इस प्रकरण में धनुर्वेद, इष्वस्त्र, धनुष्कलाप तीन शब्द पर्याय होते हुए भी अर्थ में कुछ-कुछ भिन्न हैं।

13. अश्वपृष्ठ मे अर्थात् घोड़े की सवारी में ।
14. रथ मे अर्थात् रथ चलाने में ।
15. धनुष्कलाप में अर्थात् धनुर्विद्या सम्बन्धी युक्तियों में ।
16. स्थैर्य-स्थाम में अर्थात् स्थिरता एवं सामर्थ्य में ।
17. सुशौर्य में अर्थात् शूरता-वीरता में ।
18. बाहुव्यायाम में अर्थात् बाहों की कसरत में =119ख=
19. अङ्कुशग्रह में अर्थात् महावत की विद्या में ।
20. पाशग्रह में अर्थात् जाल लगाने की विद्या में ।
21. उद्यान में अर्थात् ऊपर आक्रमण में ।
22. निर्याण में अर्थात् आगे निकलने में ।
23. अवयान में अर्थात् पीछे हटने में ।
24. मुष्टिग्रह में अर्थात् मुट्ठी की पकड़ में ।
25. पदबन्ध में अर्थात् विशेष विधि से क़दम रखने में ।
26. शिखाबन्ध में अर्थात् जूडा बाँधने में ।
27. छेद्य में अर्थात् काटने की कला में ।
28. भेद्य में अर्थात् बींधने की कला में ।
29. दालन (दारण) में अर्थात् छेद करने की कला में ।
30. स्फालन में अर्थात् उछालने की कला में ।
31. अक्षुण्णवेधित्व मे अर्थात् बिना वेदना किए बींधने में ।
32. मर्मवेधित्व में अर्थात् मर्म के बींधने मे ।
33. शब्दवेधित्व मे अर्थात् शब्द सुन कर लक्ष्य बींधने मे ।
34. दृढप्रहारित्व में अर्थात् दृढ़ आघात करने में ।
35. अक्षक्रीड़ा में अर्थात् द्यूत खेलने में ।
36. काव्यकरण में अर्थात् कविता की रचना में ।
37. ग्रन्थ में अर्थात् गद्य-पद्य की प्रबन्ध रचना में ।
38. चित्र में अर्थात् चित्र कला में ।
39. रूप में अर्थात् रूप के बोध मे ।
40. रूपकर्म मे अर्थात् रूप के निर्माण में ।
41. (अ–) धीत में अर्थात् अध्ययन-कार्य में ।
42. अग्निकर्म मे अर्थात् अग्नि उत्पन्न करने की युक्तियों में ।
43. वीणा में अर्थात् वीणा के बजाने में ।
44. वाद्य में अर्थात् सब प्रकार के बाजे बजाने में ।
45. नृत्य में अर्थात् नाच की कला में ।

46. गीत में अर्थात् गानविद्या में।
47. पठित में अर्थात् ग्रंथ बाँचने की कला में।
48. आख्यान में अर्थात् इतिहास तथा कहानी कहने मे।
49. हास्य में अर्थात् विनोद करने में।
50. लास्य में अर्थात् सुकुमार नृत्य में।
51. नाट्य में अर्थात् अभिनय-कला में।
52. विडम्बित में अर्थात् स्वाग बनाने में।
53. माल्यग्रंथन में अर्थात् माला गूँथने मे।
54. संवाहित में अर्थात् संवाहन या अंगों के दबाने की कला में।
55. मणिराग मे अर्थात् श्वेत मणियों को रँगने मे।
56. वस्त्रराग में अर्थात् कपड़ो के रंगने में।
57. मायाकृत मे अर्थात् जादूगरी या इन्द्रजाल विद्या मे।
58. स्वप्नाध्याय में अर्थात् स्वप्न के फल कहने में।
59. शकुनिरुत में अर्थात् पक्षियों को बोली तथा उसके शुभाशुभ फल कहने में।
60. स्त्री लक्षण मे अर्थात् स्त्री के शरीर चिह्नों से भाग्य कहने में।
61. पुरुष लक्षण में अर्थात् पुरुष के शरीर चिह्नों से भाग्य कहने में।
62. अश्वलक्षण में अर्थात् घोड़े के खरे-खोटे फल होने के लक्षण कहने में।
63. हस्तिलक्षण में अर्थात् हाथी के खरे-खोटे फल होने के लक्षण कहने में।
64. गोलक्षण में अर्थात् गाय-बैल के खरे-खोटे फल होने के लक्षण कहने में।
65. अजलक्षण में अर्थात् बकरा-बकरी के खरे-खोटे फल होने के लक्षण कहने में।
66. मिशूलक्षण (मेषलक्षण) में[20] अर्थात् भेडा-भेड़ी के खरे-खोटे फल के लक्षण कहने में।
67. श्वरलक्षण (=श्वलक्षण) में[21] अर्थात् कुत्ता-कुत्तियों के खरे-खोटे फल के लक्षण कहने में।
68. कौटुभ (=कल्पविद्या) में अर्थात् श्रौत तथा गृह्य कर्मकाण्ड में।

20. मूल, मिशूलक्षणे। मिशू यहाँ मेष का अपभ्रंश है। तुलनीय भोट, लुग्गि मृछन् (मेषलक्षणे)। प्रो० एड्जेर्टन् इसे मिण्ढ (=मेढ़ा) की विरूपता समझते है। वैद्य जी ने इसे मिश्रलक्षण कर डाला है।
21. मूल, श्वरलक्षणे वस्तुतः श्वलक्षणे का भ्रष्ट पाठ है। तुलनीय भोट, ख्यि हि. मृछन् (श्वलक्षणे) द्र० बु० हा० सं० डि० कैटभ (पृष्ठ 193) शब्द पर। मूल ग्रन्थ में कौटुभे पूर्व में है तथा श्वरलक्षणे तदनन्तर है। लेफमन तथा वैद्य इन दोनो पदों को पृथक् नही करते। यह असाधारण मूल है।

69. निर्घण्ट (= निघण्टु) अर्थात् पदसंकलनात्मक कोशशास्त्र में।
70. निगम मे अर्थात् मन्त्र-वचनो में।
71. पुराण में अर्थात् पुरावृत्त विद्या के पुराण नामक ग्रथ समूह मे।
72. इतिहास में अर्थात् देव, ऋषि, नृप आदि के चरित्रो में।
73. वेद में अर्थात् मन्त्र-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् ग्रन्थो में विभक्त वाङ्मय में।
74. व्याकरण में अर्थात् शब्दो के वर्गीकरण तथा प्रकृतिप्रत्यय द्वारा विवेचन की विद्या में।
75. निरुक्त में अर्थात् निर्वचन-शास्त्र में।
76. शिक्षा (= शिक्षा) मे अर्थात् वर्णोच्चारण–विद्या में।
77. छन्दस्विनी में अर्थात् छन्दो विचिति नामक छन्दः शास्त्र में।
78. यज्ञकल्प में अर्थात् यज्ञो की विधि में।
79. ज्योतिष मे अर्थात् नक्षत्रो तथा उनके शुभाशुभ फलों की विद्या मे।
80. सांख्य में अर्थात् तत्त्वो को गिन कर बतलाने की विद्या मे =120क=
81. योग मे अर्थात् ध्यान-समाधि की विद्या मे।
82. क्रियाकल्प मे अर्थात् शृंगार करने की विद्या में।
83. वैशिक मे अर्थात् गणिकाओ के मायाजाल की विद्या मे।
84. वैशेषिक में अर्थात् वैशेषिक-शास्त्र मे।
85. अर्थविद्या मे अर्थात् अर्थ के अर्जन एवं पालन की विद्या मे।
86. बार्हस्पत्य में अर्थात् बृहस्पति के बनाए नीति शास्त्र मे।
87. आम्भिर्य मे अर्थात् वृष्टि विद्या मे।
88. आसुर्य मे अर्थात् असुरो की माया में।
89. मृगपक्षिरुत मे अर्थात् पशु-पक्षियो की बोली समझने में।
90. हेतुविद्या में अर्थात् तर्कशास्त्र में।
91 जलयन्त्र मे अर्थात् दूर जल फेंकने की यन्त्र-विद्या में।
92. मधूच्छिष्टकृत मे अर्थात् मोम (और लाख जैसी वस्तुओं) द्वारा किए जाने वाले शिल्प में।
93. सूचीकर्म मे अर्थात् सिलाई और कढाई के शिल्प में।
94. विदलकर्म में अर्थात् नक्काशी (बूर्को बूशोग्) के कार्य मे।
95. पत्रच्छेद्य मे अर्थात् मुख पर शृंगारार्थ फलपत्ते काढने में।
96. गन्धयुक्ति मे अर्थात् तेल आदि को सुगन्धित करने के उपाय में।

तथा (–157–) इसी प्रकार की जो-जो कलाएँ हैं (उन सब शिल्प कलाओ) मे।

49. तब फिर उस समय दण्डपाणि शाक्य ने अपनी बेटी गोपा नाम की

शाक्यकुमारी को बोधिसत्व के लिए अर्पित किया और राजा शुद्धोदन ने (विवाह-विधि के) क्रम से उसका बोधिसत्व के लिए वरण किया।

50. वहाँ बोधिसत्व चौरासी हजार स्त्रियों के बीच रहते हुए अपने-आप को जैसे लोक का व्यवहार है वैसे रमते हुए, खेलते हुए, सेवा किए जाते हुए दिखाते थे। उन उब चौरासी हजार स्त्रियों की बीच शाक्यकुमारी गोपा पटरानी के रूप में अभिषिक्त थी।

51. वहाँ शाक्यकुमारी गोपा किसी को देख कर मुँह न ढँकती थी, चाहे वह सास हो या ससुर हो, चाहे भीतर का कोई और (स्त्री-पुरुष) व्यक्ति हो। वे खीझते थे और सोचते थे कि नई बहू सिमटी-सिमटी रहती है यह तो सदा खुल्लमखुल्ला रहती है। = 120ख = तब शाक्यकुमारी गोपा ने यह बात[22] सुन कर भीतर के सब लोगों के सामने खड़ी होकर ये गाथाएँ कही—

(गोपा की गाथाएँ)

(अवगुण्ठन-प्रथा का प्रत्याख्यान)

विवृतः शोभते आर्य आसनस्थानचङ्क्रमे।
मणिरत्नं ध्वजाग्रे वा भासमानं प्रभास्वरं ॥372॥

आर्य बैठने, उठने, और टहलने मे ध्वजा की नोक पर जड़े हुए चमचमाते चमकीले मणिरत्न के समान खुला ही शोभा देता है।

गच्छन् वै शोभते आर्य आगच्छन्नपि शोभते।
स्थितो वाथ निषण्णो वा आर्यः सर्वत्र शोभते ॥373॥

आर्य जाते हुए भी शोभा देता है और आते हुए भी शोभा देता है। आर्य चाहे खड़ा हो, चाहे बैठा हो, सब जगह शोभा देता है।

कथयं शोभते आर्यस्तूष्णींभूतोऽपि शोभते।
कलविङ्को यथा पक्षी दर्शनेन स्वरेण वा ॥374॥

जैसे कलविङ्क (गौरैया) पक्षी रूप मे वा स्वर में शोभा देता है, वैसे ही आर्य बोलता हुआ भी शोभा देता है, मौन रहता हुआ भी शोभा देता है।

22. मूल, प्रकृति। भोट, गृतम् (वृत्तान्त)। जान पड़ता है प्रकृति शब्द शायद प्रवृत्ति का पाठान्तर हो। वृत्तान्तपर्याय प्रवृत्ति शब्द ही प्रसिद्ध है, प्रकृति शब्द भी यहाँ यही अर्थ बतलाने के लिए है और वह विशेष ध्यान देने के योग्य है। वृत्तान्त के अर्थ में ही प्रकृति शब्द पहले (पृष्ठ 143 पंक्ति 18) भी आया है तथा आगे भी (पृष्ठ 200 पंक्ति 16) आएगा। इन स्थानों पर भी संभवतः शुद्धपाठ प्रवृत्ति ही है।

कुशचीरनिवस्तो वा मन्दचैलः कृशंतनुः।
शोभते ऽसौ स्वतेजेन गुणवान् गुणभूपितः ॥375॥

वह चाहे कुशचीर पहने हो, चाहे गुदड़ी के वेश में हो, गुणी, गुण से विभूषित दुबला-पतला अपने तेज से शोभा देता है।

(–158–) सर्वेण शोभते आर्यो यस्य पापं न विद्यते।
कियद्विभूषितो बालः पापचारी न शोभते ॥376॥

आर्य, जिसमें पाप नही हैं, सब (अवस्थाओं) में शोभा देता है। मूर्ख एवं पापाचारी कितना ही बना-ठना क्यों न हों, शोभा नही देता।

(छद वसन्ततिलका)

ये किल्विषा स्वहृदये मधुरा सुवाचं
कुम्भी विषस्मि परिषिक्तु यथामृतेन।
दुस्पर्शशैलशीलवत् कथि(?ठि)नान्तरात्म
सर्पस्य वा बिरसु दर्शन तादृशानां ॥377॥

अपने हृदय में जो पापी है, अपनी वाणी में जो मीठे हैं, विष के घट जैसे जो अमृत से सीचे हुए हैं, कठोर स्पर्श की पत्थर शिला जैसा जिनका अन्तरात्म कठिन है, वैसे (लोगों) का दर्शन साँप की भाँति निरानन्द है।

सर्वेषु ते नमिषु सर्वमुपैति सौम्या
सर्वेषु तीर्थमिव सर्वजगोपजीव्यः।
दधिक्षीरपूर्णघटतुल्य सदैव आर्या
शुद्धात्म दर्शनु सुमङ्गलु तादृशानां ॥378॥

वे सब (लोगों) के प्रति नम्र होते हैं, सौम्य रहते सब के पास पहुँचते हैं, सब (लोगों) के लिए तीर्थ जैसे हैं, सब जगत के आश्रय है, (वे) आर्य दूध-दही से भरे घड़ों के समान शुद्धात्मा हैं। वैसे (आर्यो) का दर्शन शोभन-मङ्गल है।

यैः पापमित्र परिवर्जित दीर्घरात्रं
कल्यानमित्ररतनैश्च=121क=परिगृहीताः।
पापं विवर्जयि निवेशयि बुद्धधर्मे
सफलं सुमङ्गलु सुदर्शनु तादृशानां ॥379॥

जिन्होने चिरकाल से पापी मित्र दूर कर रखे हैं, कल्याणमित्र-रूपी रत्नों ने जिन्हे अपना रखा है, (जिन्होंने) पाप छोड़ रखा है, बुद्ध-धर्म में (जो) विश्राम ले रहे हैं, वैसे (आर्यो) का शोभन दर्शन सुमङ्गल है, सफल हैं।

शाक्यकुमारी को बोधिसत्त्व के लिए अर्पित किया और राजा शुद्धोदन ने (विवाह-विधि के) क्रम से उसका बोधिसत्त्व के लिए वरण किया।

50. वहाँ बोधिसत्त्व चौरासी हजार स्त्रियों के बीच रहते हुए अपने-आप को जैसे लोक का व्यवहार है वैसे रमते हुए, खेलते हुए, सेवा किए जाते हुए दिखाते थे। उन सब चौरासी हजार स्त्रियों की बीच शाक्यकुमारी गोपा पटरानी के रूप में अभिषिक्त थी।

51. वहाँ शाक्यकुमारी गोपा किसी को देख कर मुँह न ढँकती थी, चाहे वह सास हो या ससुर हो, चाहे भीतर का कोई और (स्त्री-पुरुष) व्यक्ति हो। वे खीझते थे और सोचते थे कि नई बहू सिमटी-सिमटी रहती है यह तो सदा खुल्लमखुल्ला रहती है। = 120ख = तब शाक्यकुमारी गोपा ने यह बात[22] सुन कर भीतर के सब लोगों के सामने खड़ी होकर ये गाथाएँ कहीं—

(गोपा की गाथाएँ)

(अवगुण्ठन-प्रथा का प्रत्याख्यान)

विवृतः शोभते आर्य आसनस्थानचङ्क्रमे।
मणिरत्नं ध्वजाग्रे वा भासमानं प्रभास्वरं ॥372॥

आर्य बैठने, उठने, और टहलने में ध्वजा की नोक पर जड़े हुए चमचमाते चमकीले मणिरत्न के समान खुला ही शोभा देता है।

गच्छन् वै शोभते आर्य आगच्छन्नपि शोभते।
स्थितो वाथ निषण्णो वा आर्यः सर्वत्र शोभते ॥373॥

आर्य जाते हुए भी शोभा देता है और आते हुए भी शोभा देता है। आर्य चाहे खड़ा हो, चाहे बैठा हो, सब जगह शोभा देता है।

कथयं शोभते आर्यस्तूष्णींभूतोऽपि शोभते।
कलविङ्को यथा पक्षी दर्शनेन स्वरेण वा ॥374॥

जैसे कलविङ्क (गौरैया) पक्षी रूप में वा स्वर में शोभा देता है, वैसे ही आर्य बोलता हुआ भी शोभा देता है, मौन रहता हुआ भी शोभा देता है।

22. मूल, प्रकृति। भोट, गृतम् (वृत्तान्त)। जान पड़ता है प्रकृति शब्द शायद प्रवृत्ति का पाठान्तर हो। वृत्तान्तपर्याय प्रवृत्ति शब्द ही प्रसिद्ध है, प्रकृति शब्द भी यहां यही अर्थ बतलाने के लिए है और वह विशेष ध्यान देने के योग्य है। वृत्तान्त के अर्थ में ही प्रकृति शब्द पहले (पृष्ठ 143 पंक्ति 18) भी आया है तथा आगे भी (पृष्ठ 200 पंक्ति 16) आएगा। इन स्थानों पर भी संभवतः शुद्धपाठ प्रवृत्ति ही है।

कुशचीरनिवस्तो वा मन्दचैलः कृशतनुः।
शोभतेऽसौ स्वतेजेन गुणवान् गुणभूषितः ॥375॥

वह चाहे कुशचीर पहने हो, चाहे गुदड़ी के वेश में हो, गुणी, गुण से विभूषित दुबला-पतला अपने तेज से शोभा देता है।

(-158-) सर्वेण शोभते आर्यो यस्य पापं न विद्यते।
कियद्विभूषितो बालः पापचारी न शोभते ॥376॥

आर्य, जिसमें पाप नहीं है, सब (अवस्थाओं) में शोभा देता है। मूर्ख एवं पापाचारी कितना ही बना-ठना क्यों न हों, शोभा नहीं देता।

(छद वसन्ततिलका)

ये किल्विषा स्वहृदये मधुरा सुवाचं
कुम्भी विषस्मि परिषिक्तु यथामृतेन।
दुस्पर्शशैलशीलवत् कथि(?ठि)नान्तरात्म
सर्पस्य वा बिरसु दर्शन तादृशानां ॥377॥

अपने हृदय में जो पापी है, अपनी वाणी में जो मीठे है, विष के घट जैसे जो अमृत से सीचे हुए है, कठोर स्पर्श की पत्थर शिला जैसा जिनका अन्तरात्म कठिन है, वैसे (लोगों) का दर्शन साँप की भाँति निरानन्द है।

सर्वेषु ते नमिषु सर्वमुपैति सौम्या
सर्वेषु तीर्थमिव सर्वजगोपजीव्यः।
दधिक्षीरपूर्णघटतुल्य सदैव आर्या
शुद्धात्म दर्शनु सुमङ्गलु तादृशानां ॥378॥

वे सब (लोगों) के प्रति नम्र होते है, सौम्य रहते सब के पास पहुँचते हैं, सब (लोगों) के लिए तीर्थ जैसे है, सब जगत के आश्रय है, (वे) आर्य दूध-दही से भरे घडों के समान शुद्धात्मा है। वैसे (आर्यो) का दर्शन शोभन-मङ्गल है।

यैः पापमित्र परिवर्जित दीर्घरात्रं
कल्याणमित्ररतनैश्च=121क=परिगृहीताः।
पापं विवर्जयि निवेशयि बुद्धधर्मे
सफलं सुमङ्गलु सुदर्शनु तादृशानां ॥379॥

जिन्होने चिरकाल से पापी मित्र दूर कर रखे है, कल्याणमित्र-रूपी रत्नों ने जिन्हे अपना रखा है, (जिन्होने) पाप छोड़ रखा है, बुद्ध-धर्म में (जो) विश्राम ले रहे है, वैसे (आर्यो) का शोभन दर्शन सुमङ्गल है, सफल है।

ये कायसंवृत सुसंवृतकायदोषाः
ये वाचा-संवृत सदानवकीर्णवाचः।
गुप्तेन्द्रिया सुनिभृताश्च मनः प्रसन्नाः
किं तादृशान वदनं प्रतिछादयित्वा ॥380॥

जो शरीर को संयम से रखते हैं, शरीर के दोषों को जिन्होंने संयम से भलीभाँति रोक रखा है, जो वाणी को बेलगाम नही होने देते, सदा (जो) अंट-संट नही बोलते, (जो) जितेन्द्रिय है, भलीभाँति शान्त हैं, मन से निमल है, वैसे (लोगों) का मुँह ढाँपने से क्या ?

वस्त्रासहस्र यदि छादयि आत्मभावं
चित्तं च येषु विवृतं न हिरी न लज्जा।
न च येयु ईदृशगुणा नपि सत्यवाक्यं
नग्ने विनग्नतर ते विचरन्ति लोके ॥381॥

कोई हज़ार वस्त्रों से अपने-आप को ढके पर जो मनके नंगे हैं, जिन्हे (मन ही मन) न शरम है न (दुनिया से जिन्हे) लाज है, न जिनमे ऐसे गुण हैं और न सत्यवाणी है, वे इस नगे जगत में बहुत अधिक नंगे हो कर विचरते हैं।

(–159–) याश्चित्तगुप्त सततेन्द्रियसंयताश्च
न च अन्यसत्त्वमनसा स्वपतीन तुष्टाः।
आदित्यचन्द्रसदृशा विवृतप्रकाशा
किं तादृशार्न वदनं प्रतिछादयित्वा ॥382॥

जो मन की मालकिन हैं, निरन्तर इन्द्रियों को वश मे रखती है, अपना दिल किसी-दूसरे से नही लगाती, अपने पति से सन्तुष्ट रहती हैं, चाँद और सूरज जैसी खुली–बिना छुपे रहती है, उन–जैसी (स्त्रियो) का मुँह ढकने से क्या ?

इसके अतिरिक्त—

जानन्ति आशयु मम ऋषयो महात्मा
परचित्तबुद्धि कुशलास्तथ देवसंघाः।
यथ मह्य शील गुण संवरु अप्रमादो
वदनावगुण्ठनमतः प्रकरोमि किं मे ॥383॥

दूसरों के मन की बातें जानने मे चतुर महात्मा ऋषि तथा देवगण मेरे भीतर की बात जानते है (तथा) जैसा मुझमें शील है, गुण है, संयम है, सावधानता है (उसे भी जानते है)। फिर मै अपना मुँह घूँघट से क्यों ढकूं।

52. हे भिक्षुओं, राजा शुद्धोदन ने शाक्यकुमारी गोपा की इन सब इस प्रकार की प्रतिभा दरसाने वाली गाथाओं को सुना। सुन कर सन्तुष्ट हुए, फूले न समाए, आनन्द से हृदय थाम रह गए, प्रमोद में भर गए, उनमें प्रीति उत्पन्न हुई, मन का सुख उपजा =121ख= और अनेक रत्नों से पिरोए हुए दुशाले तथा लाख करोड़ दाम के मुक्ताहार एवं उत्तम जाति के लोहित-मुक्ताओं (अर्थात् लालमणियों) को पिरो कर बनाई सुवर्णमाला से शाक्यकुमारी गोपा को आच्छादित कर यह उदान (हर्षवाक्य) कहा—

(छंद वंशस्थ)

यथा च पुत्रो मम भूषितो गुणैः
तथा च कन्या स्वगुणा प्रभासते।
विशुद्धसत्त्वौ तदुभौ समागतौ
समेति सर्पिर्यथ सर्पिण्डे ॥384॥[23]

जैसा मेरा पुत्र गुणों से विभूषित है, वैसे ही कन्या अपने गुणों से शोभा दे रही है। इस प्रकार दोनों शुद्ध मन के परस्पर यों मिले हैं, ज्यों घी और घी का सार परस्पर मिलते हैं।

॥ इति श्रीललितविस्तरे शिल्पसंदर्शनपरिवर्तो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

23. इस परिवर्त में आई गाथाओं को छाया यों है—
विदितं मम—अनन्ताः कामदोषाः सरणाः सवैराः सशोकाः दुःखमूलानि। भयंकरा विषपत्रसंनिकाशा ज्वलननिभा असिधारया तुल्यरूपा ॥339॥ कामगुणे न मेऽस्ति छन्दरागो न चाहं शोभे स्त्र्यगार-मध्ये। यन्वहं वने वसेयं तूष्णी ध्यानसमाधिसुखेन शान्तचित्तः ॥340॥ संकीर्णे पङ्के पद्मानि विवृद्धिमन्ति, आकीर्णे राजानो नरमध्ये लभन्ते पूजाम्। यदा बोधिसत्त्वाः परिवारवरं लभन्ते, तदा सत्त्वकोटिनयुतान्यमृते विनयन्ति ॥341॥ ये चापि पूर्वका अभूवन् विद्वांसो बोधिसत्त्वाः सर्वे भार्या सुता दर्शितानि स्त्र्यगाराणि हन्त—अनुशिक्षेय—अहमपि गुणेषु तेषाम् ॥342॥ न च प्राकृता मम वधू अनुकूला या स्याद् यस्या न ईर्यापथ—गुणा सदा सत्यवाक्यम्। या चित्तं ममाभिराध्नोति (=अभिराध्नोति=आनन्दयति) अप्रमता रूपेण जन्मकुल-गोत्रतया सुशुद्धा ॥343॥ स गाथाः लेखं लिखति (स्म) गुणार्थयुक्ताः, या कन्या—ईदृशी भवेन्मम तां वृणीथाः। न ममार्थ प्राकृतजनेनासंवृतेन, यस्या

गुणान् कथयामि मम तां वृण्वीथाः ॥344॥ या रूपयौवनवरा न च रूपमत्ता माता स्वसा वा यथा वर्तते मैत्रीचित्ता त्यागे रता श्रमणब्राह्मणदानशीला तां तादृशीं मम वधूं वरयस्व तात ॥345॥ यस्या न मानो न खिलो (= मनसः कठोरता) न च दोषः (= द्वेषः) अस्ति, न च शाठ्यम् ईर्ष्या न च माया न–ऋजुभ्रष्टा (= आर्जवभ्रष्टा)। स्वप्नान्तरेऽपि पुरुषे न परेऽभिरक्ता तुष्टा स्वकेन पत्या शेते ऽप्रमत्ता ॥346॥ न न गर्विता नापि चोद्धता न प्रगल्भा निर्मानां मानविगतापि च चेटीभूता। न च पाने गृद्धा न शब्दे गन्धे निर्लोभा–अभिध्याविगता स्वधनेन तुष्टा ॥347॥ सत्ये स्थिता नापि च चञ्चला नापि भ्रान्ता न चोद्धतोन्नतस्थिता ह्रीवस्त्रच्छन्ना। न च मङ्गलरता सदा धर्मयुक्ता कायेन वाचा मनसा सदा शुद्धभावा ॥348॥ न च स्त्यानमिद्धबहुला न च मानमूढा मीमांसायुक्ता सुकृता सदाधर्मचारिणी श्वश्र्वां च तस्याः श्वशुरे यथा शास्तृप्रेमा दासीकलत्रजने यादृशम् आत्मप्रेम ॥349॥ शास्त्रे विधिज्ञा कुशला गणिका यथैव, पश्चाद् स्वपिति प्रथममुत्तिष्ठति च शय्यायाः। मैत्र्यनुवर्तिनीअकुहा (= अपाषण्डा) पि च मातृभूता, एतादृशी मे नृपते वधूं वृणीष्व ॥350॥ ब्राह्मणी क्षत्रियां कन्यां वैश्यां शूद्रां तथैव च। यस्या एते गुणाः सन्ति तां मे कन्यां प्रवेदय ॥351॥ न कुलेन न गोत्रेण कुमारो मम विस्मितः। गुणे सत्ये च धर्मे च तत्रास्य रमते मनः ॥352॥ शुद्धोदनस्य तनयः परमाभिरूपी द्वात्रिंशल्लक्षणधरो गुणतेजोयुक्तः। तेनैता गाथा लिखिता गुणे वधूनां यस्या गुणाः सन्ति हीमे सा हि तस्य पत्नी ॥353॥ ममैते ब्राह्मण गुणा अनुरूपाः सर्वे स मे पतिर्भवतु सौम्यः सुरूपरूपः। वद कुमारं यदि कार्यं मा खलु विलम्बस्व मा हीनप्राकृतजनेन भवेद् वासः ॥354॥ यथा मत्तगजेन्द्रगतिमान् पादाङ्गुष्ठतलेन गजेन्द्रं। सप्त पुर (= प्रकार) परिखा अतिक्रम्य क्षिप्तवान् बहिः सुपुराद् अयं हि ॥355॥ निःसंशयमेष सुमेधा मानबलेन समुच्छ्रितकायान्। संसारपुराद् बहिर्धा–एकः क्षेप्स्यति प्रज्ञाबलेन ॥356॥ मनुष्यलोकेऽथ च देवलोके गन्धर्वलोकेऽप्यसुरेन्द्रलोके। यावन्त्यः काश्चिल्लिपयः सर्वलोके तत्रैष पारंगतः शुद्धसत्त्वः ॥357॥ नामपि यूयं चाहं च तासां लिपीनां जानीमो न चाक्षराणाम्। या एष जानाति मनुष्यचन्द्रो ऽहमत्र प्रत्यक्षो विजेष्यते ऽयम् ॥358॥ ज्ञानस्य शीघ्रता साधु बुद्धं संपरिपृच्छन्तः। पञ्चमात्रगतान्येते ऽधिष्ठिता गणनापथे ॥359॥ ईदृशी चेयं प्रज्ञा बुद्धिर्ज्ञानं स्मृतिर्मतिः। अद्यापि शिक्षते चायं गणितं ज्ञानसागरः ॥360॥ कोटिशतं च–अयुतो ऽयुतास्तथैव नियुतो नु कङ्करगतिस्तथा विम्बरश्च।

अक्षोभिणी (इति मे) परमं ज्ञानं न मेऽस्त्यत ऊर्ध्वम् अत उत्तरं गणनम-प्रतिमस्य ज्ञानम् ॥361॥ त्रिसाहस्रे रजांसि च यावन्ति तृणानि वनानि ओषधयो जलस्य बिन्दवः। (तानि) हुंकारेण न्यस्येद् एकेनैव कःपुनर् विस्मयः पञ्चभिः शतैः ॥362॥ यावन्तः सत्त्वा निखिलेन व्यध्वना युक्ताश् चित्तानि चैतसिकानि संज्ञा वितर्कितानि। हीनानि प्रणीतानि संक्षिप्तानि विक्षिप्तानि (=असंक्षिप्तानि) यानि-एकस्मिंश् चित्तपरिवर्ते जानीयात् सर्वाणि ॥363॥ व्रततपोगुणेन संयमेन क्षमादममैत्रीबलेन कल्पकोटीः। अथ कृत्वा लघु कायचित्तं नेता तस्य जवस्य विशेषतां शृणुत ॥364॥ इह गृहगतं यूयं पश्यत सत्त्वसारम् अपि च दशसु दिक्षु गच्छत्ययं क्षणेन। अपरिमितजिनानां पूजनामेष कुर्वन् मणिकनकैर्विचित्रैर्लोकधातुष्वनन्तेषु ॥365॥ न च पुनर्गतिमागतिं चास्य यूयं प्रजानीथ तावतीं ऋद्धिं प्राप्तः। कोऽत्र जवे-एतस्मिन् विस्मयं जनयेद् असदृश एष कुरुत गौरवमस्मिन् ॥366॥ यावन्तः सत्त्वनियुता दशसु दिशासु ते द्विष्टमल्लमहानग्न (=महा-बलवद्) समा भवेयुः। एकक्षणेन निपत्य (=आक्रम्य) नरर्षभस्य संस्पृष्ट-मात्रा निपतेयुः क्षितितले ॥367॥ मेरुः सुमेरुस्तथा वज्रचक्रवाला ये चान्ये पर्वताः क्वचिद् दशसु दिशासु। पाणिभ्यां गृहीत्वा मषिचूर्णनिभान् प्रकुर्यात् को विस्मयो मनुजाश्रयके (=मनुजशरीरे) असारे ॥368॥ एष द्रुमेन्द्रप्रवरे महाद्विष्टमल्लं मारं ससैन्यं सबलं सहितं ध्वजाग्रेण। मैत्रीबलेन विनिहत्य हि कृष्णबन्धुं यावत् स्प्रक्ष्यति-अनुत्तरां बोधिं शान्ताम् ॥369॥ यथा पूरितमेतद् धनुर्मुनिना न चोत्थितम् आसनाद् न च भूमेः। निःसंशयं पूरयित्वाभिप्रायं मुनिर्लघु भविष्यति जित्वा च मारचमूम् ॥370॥ एष (हि) धरणिमण्डे (=धरणिसारे) पूर्वबुद्धासनेस्थः शमथं धनुर् गृहीत्वा शून्यनैरात्म्यबाणैः। क्लेशरिपून् निहत्य दृष्टिजालं च भित्वा शिवविरज-समशोकां प्राप्स्यति बोधिमग्र्याम् ॥371॥ विवृतः शोभत आर्य आसन-स्थानचङ्क्रमे। मणिरत्नं ध्वजाग्रे वा (=इव) भासमानं प्रभास्वरम् ॥372॥ गच्छन् वै शोभत आर्य आगच्छन्नपि शोभते। स्थितो वाथ निषण्णो वार्यः सर्वत्र शोभते ॥373॥ कथयञ्छोभत आर्यस्तूष्णींभूतोऽपि शोभते कलविङ्को यथा पक्षी दर्शनेन स्वरेण वा ॥374॥ कुशचीरनिवसितो वा मन्दचैलः कृशतनुः। शोभतेऽसौ स्वतेजसा गुणवान् गुणभूषितः ॥375॥ सर्वेण शोभत आर्यो यस्य पापं न विद्यते। कियद्विभूषितो बालः पापचारो न शोभते ॥376॥ ये किल्बिषाः स्वहृदये मधुराः स्ववाचि कुम्भो विषस्य परिषिक्तो यथामृतेन। दुस्पर्शशैलशिलावत् कठिनान्तरात्मानः सर्पस्येव

विरसं दर्शनं तादृशानाम् ॥377॥ सर्वेषु तेऽनंसिषुः सर्वमुपयन्ति सौम्याः सर्वेषु तीर्थमिव सर्वजगदुपजीव्याः । दधिक्षीरपूर्णघटतुल्याः सदैवार्याः शुद्धात्मानः दर्शनं सुमङ्गलं तादृशानाम् ॥378॥ यैः पापमित्राणि परिवर्जितानि दीर्घरात्रं कल्याणमित्ररत्नैश्च परिगृहीताः । पापं व्यवोवृजन् न्यविक्षन् बुद्धधर्मे सफलं सुमङ्गलं सुदर्शनं तादृशानाम् ॥379॥ ये कायसंवृताः सु-संवृतकायदोषाः ये वाक्-संवृताः सदाऽनवकीर्णवाचः । गुप्तेन्द्रियाः सुनिभृताश्च मनः प्रसन्नाः किं तादृशाना वदनं प्रतिच्छाद्य ॥380॥ वस्त्रसहस्रैर्यदि छादयेद् आत्मभावं (=शरीरं) चित्त च येषां विवृतं न ह्री न लज्जा । न च येषामीदृशगुणा नापि सत्यवाक्यं नग्ने विनग्नतरास्ते विचरन्ति लोके ॥381॥ याश्चित्त-गुप्ताः सततेन्द्रियसंयताश्च न चान्यसत्वमनसः स्वपतिना तुष्टाः । आदित्य-चन्द्रसदृशा विवृतप्रकाशाः किं तादृशीनां वदनं प्रतिच्छाद्य ।382॥ जानन्त्याशयं मम ऋषयो महात्मानः परचित्तबुद्धिकुशलास्तथा देवसघाः । यथा शीलं गुणः सवरो ऽप्रमादो वदनावगुण्ठनमतः प्रकरोमि किं मे ॥383॥ यथा च पुत्रो मम भूषितो गुणैस् तथा च कन्या स्वगुणैः प्रभासते । विशुद्ध-सत्वौ तदुभौ समागतौ समेति सर्पिर्यथा सर्पिर्मण्डे ॥384॥

॥१३॥

॥ संबोद्नाथ रिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 159 (पंक्ति 19)—185 (पंक्ति 17)
भोटानुवाद 121ख (पंक्ति 3)—141क (पंक्ति 7)

॥१३॥

॥ संचोदनापरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओं, इस प्रकार जब बोधिसत्त्व अन्तःपुर में रहने लगे तब अपनी-अपनी हर्षध्वनि करते हुए वे अनेक देवता, नाग, यक्ष, गन्धर्व, असुर, गरुड, किनर, महोरग (–160–) इन्द्र, ब्रह्मा, तथा लोकपाल वहाँ जाया करते थे, जिनकी बोधिसत्त्व की पूजा करने मे उत्सुकता हुआ करती थी।

2. तब किसी दूसरे समय हे भिक्षुओं, बहुत से देवताओं, नागों, यक्षों, गन्धर्वो, असुरों, गरुड़ों, किनरों, महोरगों, इन्द्रों और ब्रह्माओं के मन में यह बात आई। =122क= इस सत्पुरुष ने अन्तःपुर में बहुत काल तक रहकर विलम्ब किया है। और ये जो प्राणी लम्बे समय तक चार संग्रह-वस्तुओं के द्वारा, दान के द्वारा, प्रियवचन के द्वारा, अर्थक्रिया अर्थात् प्रयोजनसिद्धि के द्वारा, एवं समानार्थता अर्थात् समान लक्ष्य (में आस्था) के द्वारा (धर्म-भाव में) पक्के हो चुके हैं और (जो ये प्राणी) बोधि प्राप्त कर लेने पर इनके धर्मोपदेश को समझ-बूझ सकेंगे, वे सब धर्म के पात्र (पहले ही) लुप्त हो जाएँगे और ये बोधिसत्त्व पीछे घर से निकल कर अनुत्तर सम्यक्संबोधि प्राप्त करेंगे।

3. तदनन्तर उन लोगों ने गौरव के साथ, पूज्य भाव के साथ, अञ्जलि बाँध कर बोधिसत्त्व को नमस्कार किया और उत्कण्ठा से देखते हुए यह अभिप्राय मन मे रख कर खड़े हुए कि वह समय कब आएगा जब हम श्रेष्ठातिश्रेष्ठ शुद्धसत्त्व को घर से निकलते हुए, उस महान् वृक्षराज के तले बैठ कर, मार को पराजित कर अनुत्तर सम्यक्संबोधि प्राप्त कर विराजमान, [1]तथागत के दसबलों से युक्त, तथागत के चार वैशारद्यों (=निर्भीकताओं) से युक्त, अट्ठारह आवेणिक (=विशेष) बुद्ध धर्मो से युक्त, तेहरे बारह आकार वाले धर्मचक्र को[1] =122ख= प्रवर्तित करते हुए देवताओ, मनुष्यों तथा असुरों के सहित इस लोक को जिसकी जैसी अधिमुक्ति (=श्रद्धा) उसको वैसे ही सुभाषित द्वारा संतुष्ट करते हुए देखेंगे।

4. हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व चिरकाल से, असंख्येय कल्पों से लेकर, निरन्तर लगातार सब लौकिक एवं लोकोत्तर धर्मो पर दूसरों के चलाने से नहीं चलते

1....1. द्रष्टव्य, महाव्युत्पत्ति अनुच्छेद 7,8,9,64।

आ रहे थे प्रत्युत वे स्वयं सब कुशलों या पुण्यों की मूलभूत धर्मचर्या के आचार्य थे। चिरकाल से वे काल के जानने वाले, वेला के जानने वाले, समय के जानने वाले, भूल-चूक न करने वाले जानकार रहे थे, [2]पाँच अभिज्ञाओं से युक्त रहे थे, ऋद्धिपादों की लीला करने वाले, सब इन्द्रियों मे कुशल, [2]काल तथा अकाल के जानकार कालदर्शी[3] महा (=161=) सागर की भाँति [4]प्राप्त वेला[4] का अतिक्रमण नही करते थे। वे अभिज्ञाओ के ज्ञान के बल से स्वयं ही सब जानते थे कि यह प्रग्रह का-पकड़ का काल है, यह निग्रह का-दण्ड का काल है, यह संग्रह का—मिलाने का काल है, यह अनुग्रह का—दया का काल है, यह उपेक्षा का—चुपचाप रहने का काल है, यह बोलने का काल है, यह मौन रहने का काल है, यह निष्क्रमण का—घर त्यागने का काल है, यह प्रव्रज्या का—संन्यास का काल है, = 123क = यह स्वाध्याय का काल है, यह योनिशो मनस्कार का—विधिपूर्वक मनन का काल है, यह विवेक का—एकान्त वास का काल है, यह क्षत्रिय—परिषद् में जाने का काल है, यहाँ तक कि यह ब्राह्मणों और गृहपतियों की परिषद् मे जाने का काल है, यह देवताओं, नागों, यक्षों, गन्धर्वों, असुरों, गरुड़ों, किनरों, महोरगो, इन्द्रों, ब्राह्मणों, लोकपालों, भिक्षुओं, भिक्षुणियो, उपासकों, उपासिकाओं की परिषद् में जाने का काल है। यह धर्मदेशना का काल है, यह प्रतिसंलयन का—भीतर कुटी मे रहने का काल है। सब जगह, बोधिसत्त्व सब समम काल के जानकार थे, कालेवेषी (=कालावेक्षी)[3] या काल दर्शी थे।

5. फिर इसके अतिरिक्त हे भिक्षुओं, यह धर्मताप्रतिलम्भ है—अर्थात् तथागत—धर्म की मान्यता है कि अन्तिम-जन्म-धारी बोधिसत्त्वो के लिए अवश्य ही अन्तःपुर मे जाकर दसों दिशाओ की लोकधातुओं मे स्थित भगवान् बुद्धों को धर्म की द्वारभूत गाने-बजाने की इन-जैसी ध्वनियों द्वारा प्रेरणा करनी चाहिए।

2....2. द्रष्टव्य, महाव्युत्पत्ति, अनुच्छेद 14, 40, 41।

3. मूल, कालवेषी। यह कालावेक्षी का अपभ्रंश है। भोट, दुस् ल ल्त शिड्, (कालावेक्षी, कालदर्शी)। इस शब्द का प्रयोग पृष्ठ 161 (पंक्ति 11) पर भी है।

4....4. मूल, प्राप्तां वेलां। वेला में श्लेष है। सागर—पक्ष में इसका अर्थ मर्यादा है, काल नहीं। भोट, दुस् रन् प, ठीक समय। यहाँ एक ही अर्थ की अभिव्यक्ति हो पाई है।

6. इस विषय में यह (गाथाओं द्वारा) कहा जाता है -

(दशदिग्बुद्धप्रेरणा गाथा, छंद भ्रमरविलसित)

ये सत्त्वाग्रा दशदिग्लोके, तेषु विशेषात् तत्र रति तुरियैः ।=123ख=
गाथा गीता इस रतिमधुरा, संचोदेन्ती नरवरप्रवरं ॥385॥

जो श्रेष्ठ सत्त्व (बुद्ध) दसों दिशाओं में लोक में (विराजमान) थे उनके विशेष (अनुभाव) से वहाँ आनन्द के वाद्यों ने रति (उपजाने वाली), मधुर, श्रेष्ठ पुरुषों में अति श्रेष्ठ पुरुष को प्रेरणा देने वाली, ये गाथाएँ गाईं।

पूर्वि तुभ्यं अयु कृतु प्रणिधी, दृष्ट्वा सत्वान् दुःखशतभरितान् ।
लेनं त्राणं जग-निज-शरणं, भेष्ये नाथो हितकरु परमः ॥386॥

पहले तुमने प्राणियों को सैकड़ों दुःखों से भरा हुआ देख कर यह संकल्प किया था कि मैं जगत् का नित्य-शरण, त्राण, लयन (आलय) एवं हितकर परम नाथ होऊँगा।

साधो वीरा स्मर चरि पुरिमां, या ते आसीज्जगहितप्रणिधिः ।
कालो वेला अयु तव समयो, निष्क्रम्याही ऋषिवरप्रवरा ॥387॥

हे साधो, हे वीर, पहले की चर्या का तथा जगत् हित के लिए जो संकल्प किया था उसका स्मरण करो। यह तुम्हारा काल है, वेला है, समय है, हे ऋषिवरों में प्रवर ऋषे, घर से निकलो।

(–162–) यस्यार्थे ते धनवर विविधा, त्यक्ता पूर्वे शिरकरचरणा ।
भेष्ये बुद्धो नरमरुदमको, लोकस्याग्रो गुणशतनिचितः ॥388॥

जिस प्रयोजन के लिए तुमने पहले विविध प्रकार के श्रेष्ठ धनों, (यहाँ तक कि) सिर, हाथ-पैर (आदि अंगों) का दान दिया था (वह प्रयोजन यह था कि मैं) सैकड़ों गुणों से पूर्ण, लोक में सबसे बड़ा, देवताओं और मनुष्यों को विनीत करने वाला बुद्ध होऊँगा।

त्वं शीलेन व्रततपचरितः, त्वं क्षान्तीये जगहितकरणः ।
त्वं वीर्येणा शुभगुणनिचितो, ध्याने प्रज्ञे न तु समु त्रिभवे ॥389॥

तुमने शीलद्वारा व्रतपालन एवं तपश्चर्या की है, तुमने क्षान्ति (क्षमा) से जगत् का हित किया है, तुमने वीर्य (उद्योग) से शुभ गुणों को जोड़ा-बटोरा है, ध्यान और प्रज्ञा में तुम्हारे समान तीनों भुवनों में नहीं है।

क्रोधाविष्टा खिलमलबहुला, ते मैत्रीये त्वयि स्फुट सुगता ।
कारुण्यं ते बहुविधमबुधे, मिथ्यात्वेषू शुभगुणरहिते ॥390॥

क्रोध से भभकते हुए, बहुत कठोरता एवं मलिनता वाले जो थे उन्हे हे सुगत, तुमने मैत्री से व्याप्त किया है। शुभ-गुणों से रहित मिथ्या (दृष्टि) वाले, नाना-रंगढंग के अपण्डित (जगत्) पर तुम्हारी करुणा है।

पुण्यज्ञाने (?नो) शुभनिचितात्मा, ध्यानाभिज्ञो प्रतपसि विरजो।
ओभासेसी दश इम दिशतो, मेघामुक्तः शशिरिव विमलः ॥391॥

पुण्यज्ञान वाले, शुभ से भरे आत्मा वाले, रजो (गुण) हीन, ध्यानों से अभिज्ञ, तुम तप रहे हो, इन दसों दिशाओं को मेघों से मुक्त चन्द्रमा के समान चमका रहे हो।

एते चान्ये बहुविध रुचिरा, तूर्येभ्‌ = 124क = घोषा जिनरुतरवना।
ये चोदेन्ती सुरनरमहितं, निष्क्रम्याही अयु तव समयु ॥392॥इति॥

बुद्धों के शब्दों को ध्वनित करने वाले, ये तथा दूसरे, बहुत प्रकार के घोष वाद्यों से निकलते थे, जो देवताओं तथा मनुष्यो से पूजित (बोधिसत्त्व) को प्रेरणा देते थे कि यह तुम्हारा समय है, घर से निकलो।

7. हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व जिस प्रधान श्रेष्ठ घर मे रहते थे, वह सब उपकरणो अर्थात् आवश्यक—वस्तुओं की समृद्धि वाला था, जैसी इच्छा हो वैसे उसमे सुख के साथ अनुकूलता से रहा जा सकता था, वह अमरावती के भवन जैसा प्रकाशमान था, वह वितर्दियों (चबूतरों), निर्यूहों (अटारियों) तोरणों (द्वार के बाह्य भागो), गवाक्षो (गोखों अर्थात् हवा-जाली वाले झरोखों), तथा कूटागारों (सबसे ऊपर के तल पर बने अटों) से युक्त श्रेष्ठ अतिश्रेष्ठ प्रासादों (राजनिवास के योग्य भवनों) से संयुक्त था, सब रत्नों की बनी साज-सामग्री से वहाँ नाना प्रकार की सजावट सुघड़ता से की गई थी, ऊँची-ऊँची छतरियों ध्वजाओं पताकाओं तथा अनेक रत्नों की जड़ाऊ किंकिणियों अर्थात् छोटी-छोटी घंटियों से वह विभूषित था, वहाँ लाखो नाना-भाँति की रेशमी धागो से बनी मालाएँ लटक रही थी, नाना प्रकार के रत्नो से पिरोए मोतियो के हार झूल रहे थे, विविध रत्नों से जड़े पटरो से बने वहाँ पुल थे, रेशम की तथा फूलों की मालाओं के गुच्छे के गुच्छे वहाँ लटक रहे थे, धूपपात्रियों से भली भाँति धूप दी गई थी, अवश्यायपट (अर्थात् ओस रोकने के लिए बने विशेष वस्त्र) के वहाँ चँदवे तने हुए थे, वहाँ सब ऋतुओं के सुन्दर और उत्तम सुगन्ध वाले फूल फैले हुए थे, श्वेत-कमल वन[5] की पुष्करिणियो तथा नलिनियों (अर्थात् लाल कमलो

5. मूल, नव। भोट मे यह शब्द अनूदित नही हुआ है। वन पाठ से अर्थ ठीक बैठता है।

की लताओं) के जलाशयों[6] में चारों ओर से खूब आनन्द मनाया जाता था वहाँ पर पत्रगुप्त (=पक्षगुप्त), शुक, सारिका, कोकिल, हंस, मयूर, चक्रवाक, कुणाल (=अत्यन्तकूजने वाले हिमवन्त के कोयल), कलविङ्क (=चटक या गौरैया) =124ख= तथा जीवंजीव (=चकोर) आदि नाना प्रकार के पक्षिगण मीठे स्वर से कूजते रहते थे, वैदूर्य—मणि जैसे नीले धरणी-तल का स्थान वहाँ सब ओर से उपभोग मे आता था, सब प्रकार के रूप की छाया वहाँ दिखाई पड़ती थी, वहाँ की रमणीयता से आँखों को तृप्ति न होती थी, वहाँ परम प्रीति और प्रमोद उपजा करता था (–163–)। विस्तृत और उत्तम शरण (=छत) वाले भवन मे, अमल, विमल, एवं निर्मल-अंग वाले, पुष्प-मालाएँ और आभूषण पहने हुए, अत्यंत उत्तम सुगन्ध-युक्त अनुलेपन शरीर पर लगाए, शुक्ल वर्ण के मांगलिक निर्मल एवं पवित्र वस्त्र शरीर पर धारण किए हुए, अनेक प्रकार के दिव्य सूक्ष्म भली भाँति रच-रच करके रखे हुए काचिलिन्द-वस्त्र के समान सुखदायक स्पर्श वाले धूसों (दुशालों) से जिसका प्रत्येक श्रेष्ठ अवयव सजाया गया था ऐसे उत्तम सोने के पलंग के ऊपर लेटे हुए, परम-रूपवती देवाङ्गनाओं के समान सब ओर से अनिन्दनीय और प्रति-कूलभाव रहित दर्शन वाली पवित्र शिष्टाचार का आचरण करने वाली अन्तः पुर की स्त्रियों के बीच विराजते हुए, बोधिसत्त्व शंख, भेरी, मृदङ्ग, पणव, तूणव[7], वीणा, वल्लकी[8] शम्यातल[9] किम्पल[10], नकुल (नेवले के मुख जैसी

6. मूल, जालसंस्थान। भोट, छु ह्दि्ग्नस् (जल संस्थान) अर्थात् जलाशय।
7. मूल, तुणव। शुद्ध रूप, तूणव। गाथा 498 के अनुसार तुणव एक प्रकार की तंत्री है। कितने ही लोगों ने इसकी पहँचान मुरली से की है। इस स्थान पर इस शब्द का भोटानुवाद नहीं हुआ है। यहाँ भोटशब्द ह्खर् ङ (कांस्यढक्का) है। हिन्दी मे इसे घडियाल या विजय घंट कहते हैं। देखिए बु० हा० सं० डि० पृष्ठ 255 पर यह शब्द।
8. मूल, वल्लकि। शुद्ध रूप, वल्लकी। भोट मे इसका अनुवाद **ग्युद् गसुम् प** (=त्रितन्त्री) शब्द से हुआ है।
9. मूल, सम्पताड। यह शब्द शम्याताल (शम्पाताल) का अपभ्रंश है। यहाँ भोट शब्द ह्खर् ब हि् सिल् ञोल् (कांस्यझल्लरी) है। भाषा मे झाँझ या करताल नाम से प्रसिद्ध बाजे का यह पुराना पर्याय है।
10. मूल, किपिल। भोट, किम्पल। भोट में अनुवाद न कर केवल संस्कृत शब्द का अनुलेखन किया गया है। किम्पल संभवतः मँजीरा है।

तुरही), सुघोषक (पुराने समय की शहनाई) तथा वेणु (वंशी) के मधुर-मधुर बजाए जाने से उत्पन्न स्वरों की ध्वनि से एवं नाना प्रकार के बाजों के सम्यक् प्रयोग के साथ गाए गए गानों से जगा करते थे। और जो झुंड की झुंड स्त्रियाँ = 125क=अपने रसीले, मीठे, मनोहर स्वर से वेणु (वंशी) बजा-बजा उसकी स्वर और ध्वनि से बोधिसत्त्व को जगाती थी, उनके वेणु (वंशी) वाद्यों के बजने से उत्पन्न स्वर—ध्वनियो से दस दिशाओं में स्थित भगवान् बुद्धों के अधिष्ठान (दृढ एवं अटल संकल्प) के कारण ये बोधिसत्त्व को प्रेरणा देनेवाली गाथाएँ निकला करती थीं।

(बोधिसत्त्व को प्रेरणा देने वाली गाथाएँ)

(छन्द प्रहर्षिणी)

या नार्यो मुदितमनाः प्रसन्नचित्ता।
वेणुभ्यो मधुरमनोरमं रणन्ते।
आवेशाद् दशदिग्गतां जिनोत्तमानां
गाथेमा विविधविचित्रचित्ररूपाः ॥393॥

मनमें आनन्दित एव चित्त में प्रसन्न जो स्त्रियाँ वेणु मधुर और मनोहर स्वर से बजाती रहती थीं, (उनके वाद्य-स्वरों से) दसो दिशाओं मे विराजमान उत्तम—पुरुष बुद्धों के आवेश से ये विविध प्रकार की विचित्र-विचित्र गाथाएँ निकला करती थी।

पूर्वे ते अयु पणिधी अभूषि वीरा
दृष्ट्वेमां जनत सदा अनाथभूतां।
मोचिष्ये[11] जरमरणात् तथान्यदुःखाद्
बुद्धित्वा पदमजरं परं अशोकं ॥394॥

हे वीर, सदा से अनाथ बनी हुई इस जनता को देख कर पहले तुम्हारी यह प्रणिधि हुई थी (अर्थात् यह दृढ़ संकल्प हुआ था) कि (मैं) शोकरहित, जरा-रहित, उस परम पद को बोध कर इसे जरामरण तथा अन्य (सब प्रकार के) दुःख से मुक्त करूँगा।

(छन्द मात्रासमक, चौपाई)

तत्साधो पुरवर इत शीघ्रं। निष्क्रम्या पुरिमऋषिभि चीर्णं।
आक्रम्या धरणितलप्रदेशं। संबुद्ध्या असदृश जिनज्ञानं ॥395॥

11. मूल, शोचिष्ये। इस पाठ से अर्थ नहीं बैठता पर सम्पादकों ने इस पर प्रश्न चिह्न तक नहीं लगाया है। भोटानुसार पाठ मोचिष्ये होना चाहिए। यहाँ भोट शब्द दृग्रोल् है।

इसलिए हे सत्पुरुष, शीघ्र इस उत्तम नगर से निकल कर, पुराने ऋषियों द्वारा विचरे हुए भूतल-प्रदेश पर विजय पा, उस बुद्ध-ज्ञान का सम्यक् बोध करो जिसकी बराबरी का ज्ञान और नही है।

(–164–) पूर्वे ते धनरतन विचित्रा। त्यक्ताभूत् करचरणप्रियात्मा।
एषोऽद्या तव समयु महर्षे। धर्मोघं जगि विभज अनन्तां ॥396॥

हे महर्षे, पूर्व (युगों) मे तुमने विचित्र धन और रत्न हाथ-पैर प्रिय शरीर तक का त्याग किया है। यह आज तुम्हारा समय है कि जगत् को धर्म का महा-प्रवाह प्रदान करो।

शीलं ते शुभविमलमखण्डं। पूर्वान्ते[12] कर सततमभूषी[13]।
[14]शीलेना न ति सदृशु[14] महर्षे। मोचेही[15] जगु = 125ख = विविध-किलेशैः ॥397॥

हे महर्षे, तुम्हारा अपना शुभ एवं निर्मल शील पूर्व (युगों) में अखण्ड (रह कर) निरंतर उत्तमता से विभूषित हुआ है। शील मे तुम्हारे समान (कोई) नही है। जगत को विविध क्लेशों से मुक्त करो।

क्षान्तीये भव शत चरितस्त्वं। क्षान्त्यास्(?क्षान्तास्)ते जगिविविध दुरुक्ताः।
क्षान्तीये क्षमदमनिरतात्मा। नैष्क्रम्ये मति कुरु द्विपदेन्द्रा ॥398॥

सौ जन्मो तक तुमने क्षान्तिचर्या की है, विविध प्रकार के (इस) दुनिया के दुर्वचनों को तुमने सहा है, (सब कुछ) सहते-सहते अपने-आपको तुमने क्षमा और विनय मे तल्लीन रखा है, हे दो पैर वाले (मनुष्यो) में श्रेष्ठ, घर से निकल पड़ने का मन करो।

12. मूल, पूर्वान्ते। यह **पूर्वं ते** इन दो पदों का प्रतिनिधि है। तुलनीय भोट, **स्ङोन् छद् ख्योद् नि** (= पूर्वं त्वं)।
13. अभूषी यह पद भू धातु तथा भूष् धातु दोनो का अद्यतनी (लुङ्) रूप है। भोटभाषान्तर के अनुसार यहाँ धातु भूष् है क्योंकि इसका अनुवाद **ब्र्ग्यॅन्** (भूष्, अलंकृ, मड्) शब्द से किया गया है।
14....14. मूल, शीलेनानतिसदृशु। यहाँ पदच्छेद करना चाहिए था। शुद्ध पदच्छेद यो होगा शीलेना न ति सदृशु (=शीलेन न ते सदृशः)। तुलनीय भोट, **ख्यो द् ख्रिम्स् ह्द्र ब मेद्** (त्वच्छीलसदृशो न)।
15. मूल, सोचेही। वैद्य ने इसे सोचेही करने में अपनी कला दिखाई है। यहाँ भोटानुसार पाठ मोचेही होना चाहिए। अर्थसंगति भी उसी से होती है। भोट में ह्ग्रोल् ब धातु के ख्रोल् इस रूप से यहाँ अनुवाद हुआ है।

वीर्यं ते दृढमचलमकम्प्यं । पूर्वान्ते[16] पृथु सुगत अभूवन् ।
धर्षयित्वा नमुचि शठ ससैन्यं । सोषिष्ये त्रय सकल अपायान् ॥399॥

हे सुगत, तुम्हारा वीर्य (वीरभाव, उद्योग) दृढ, अचल, एवं अडिग रहा है, (वह) तुम्हारा (वीर्य) पहले महान् हुआ था (जब तुमने प्रतिज्ञा की थी कि) सेना के सहित धूर्त मार को पराजित कर मैं सम्पूर्ण रूप से तीनों दुर्गतियों (अर्थात् नरकगति, प्रेतगति, और असुरगति) को सुखा डालूँगा ।

यस्यार्थे व्रततप चरितस्त्वं । ध्यायि(?पि) त्वा कलिकलुषक्लिेषां ।
त्वं वर्षा अमृतजलममोघं । तर्पेहि चिरतृषित अनाथां ॥400॥

जिसके लिए तुमने कलि की मलिनता वाले क्लेशों को जलाकर व्रत और तप का आचरण किया है (उसका अब समय है) । निष्फल न होने वाली अमृत रूपी जल की वर्षा करो, चिर काल के प्यासे अनाथ (जनों) को तृप्त करो ।

तां पूर्वा गिरवरमनुचिन्त्या । निष्क्रम्या पुरवर इत शीघ्रं ।
बुद्धित्वा पदममृतमशोकं । तर्पिष्ये अमृतरसि तृषार्ता ॥401॥

मैं अमृत और अशोक पद का बोध कर अमृत रस से तृषा से पड़ितों को तृप्त करूँगा—इस पहले की श्रेष्ठ वाणी का अनुचिन्तन कर-स्मरण कर इस श्रेष्ठ नगर से शीघ्र निकल पड़ो ।

प्रज्ञाया परिचरि कुशल त्वं । ज्ञानं ते पृथु विपुलमनन्तं ।
मूढानां विमतिपर्यस्थितानां । प्रज्ञाभां शुभरुचिर कुरु त्वं ॥402॥

प्रज्ञा की परिचर्या अर्थात् बुद्धि के प्रयोग मे तुम पंडित हो, तुम्हारा ज्ञान महान्, विस्तृत, और अनन्त है । दुविधा की राह पर खड़े मूढों के लिए प्रज्ञा का शुभ एवं सुन्दर प्रकाश करो ।

मैत्रायां भव शत चरितस्त्वं । कारुण्ये वरमुदित उपेक्षे ।
यामेवा वरचरि चरितस्त्वं । तामेव चरि विभज जगस्य ॥403॥

सैकड़ों जन्म तुमने आचरण किया है मैत्री का, करुणा का, उत्तम मुदिता का, और उपेक्षा का । तुमने जिस उत्तम चर्या का आचरण किया है, वही चर्या जगत को सिखाओ ।

एवं ता दश दिश जिनतेजैः । गाथा वै गुणकुसुमविचित्राः ।
तूर्येभ्यो विविधमनुरवन्ते । =126क=चोदेन्ती शयनगत कुमारं ॥404॥

---

16. पूर्वान्ते यहाँ भी पूर्वं ते का प्रतिनिधि है । द्रष्टव्य टिप्पणी 13/12 । भोटानुवाद यहाँ पूर्व-अन्ते पाठ को मान कर स्डोन् म्थर् हुआ है ।

इस प्रकार दसों दिशाओं के बुद्धों के तेज से गुण रूपी फूलों से विचित्र, सेज पर लेटे कुमार को प्रेरणा देने वाली गाथाएँ बाजों से नानारूप में स्फुटित होती थी।

(छन्छ शरभ अथवा शशिकला=14 लघु + क्षर 1 गुरु अक्षर = मात्राएँ[16])

यद पुन प्रमुदित रतिकर प्रमदा
सुरुचिर सुमधुर प्रभणिषु तुरियैः।
अथ जिन दशदिशि सुरनरदमकाः
गिरि (?र)वरमनुरवि ततु रवि तुरियैः ॥405॥

फिर जब प्रमुदित, रति उपजाने वाली, मदभरी स्त्रियाँ बाजों द्वारा परम मनोहर एवं परम मधुर गाने लगी तब देवताओं और मनुष्यो को विनीत करने वाले दसों दिशाओं के बुद्धों ने उत्तम वाणी का गान किया तदनन्तर बाजों से वही गान फूट पड़ा।

(–165–) कृत[17] त्वयि हितकर बहुगुण जनतो
निजि[17] नितु जिनगुण विचरति गतिषु।
स्मर स्मर पुरिमक व्रततपचरण।
लघु व्रज द्रुमवर स्पृश पदममृतं ॥406॥

जनता के हितकारी बहुगुणी तुमने गतियों मे विचरण करते हुए नित्य बुद्ध-गुणों को अपना बना लिया है। पूर्व (जन्मों) के व्रतों तथा तथा तपश्चर्याओ का स्मरण करो-(फिर-फिर) स्मरण करो, शीघ्र श्रेष्ठ वृक्ष के पास जाओ, अमृत पद का अनुभव करो।

सुतृषित नरमरु जिनगुणरहितात्वयि मति[18]प्रतिबलु अमृतरसददा।-
दशबलगुणधर-बुधजन-महितं लघु त्वयि नरपति विभजहि अमृतं ॥407॥

बुद्ध के गुणों से हीन देवता और मनुष्य बड़े प्यासे हैं, तुम अमृत रस पिला देने मे अत्यन्त समर्थ हो। दशबल (बुद्ध) के गुणों को धारण करने वाले पंडित-जनों द्वारा पूजित अमृत को हे मनुष्यो के स्वामी, तुम शीघ्र बांटो।

17····17. कृत····निजि = कृता निजाः। तुलनीय भोट, ग्ञुग् मर् ब्यस्, निजीकृताः। निजि के अनन्तर नितु सभवतः नित्याः का प्रतिनिधि है। भोटानुवाद में यह पद अनूदित नही हुआ है अतः यहाँ पाठनिश्चय करना कठिन है।

18. मति = अति। तुलनीय भोट, शिन् तु।

वीर्यं ते दृढमचलमकम्प्यं । पूर्वान्ते[16] पृथु सुगत अभूवन् ।
धर्षित्वा नमुचि शठ ससैन्यं । सोषिष्ये त्रय सकल अपायान् ॥399॥

हे सुगत, तुम्हारा वीर्य (वीरभाव, उद्योग) दृढ़, अचल, एवं अडिग रहा है, (वह) तुम्हारा (वीर्य) पहले महान् हुआ था (जब तुमने प्रतिज्ञा की थी कि) सेना के सहित धूर्त मार को पराजित कर मैं सम्पूर्ण रूप से तीनों दुर्गतियों (अर्थात् नरकगति, प्रेतगति, और असुरगति) को सुखा डालूँगा ।

यस्यार्थे व्रततप चरितस्त्वं । ध्यायि(?पि) त्वा कलिकलुषकिलेषां ।
त्वं वर्षा अमृतजलममोघं । तर्पेहि चिरतृषित अनाथां ॥400॥

जिसके लिए तुमने कलि की मलिनता वाले क्लेशों को जलाकर व्रत और तप का आचरण किया है (उसका अब समय है) । निष्फल न होने वाली अमृत रूपी जल की वर्षा करो, चिर काल के प्यासे अनाथ (जनों) को तृप्त करो ।

तां पूर्वा गिरवरमनुचिन्त्या । निष्क्रम्या पुरवर इत शीघ्रं ।
बुद्धित्वा पदममृतमशोकं । तर्पिष्ये अमृतरसि तृषार्ता ॥401॥

मैं अमृत और अशोक पद का बोध कर अमृत रस से तृषा से पड़ितों को तृप्त करूँगा—इस पहले की श्रेष्ठ वाणी का अनुचिन्तन कर-स्मरण कर इस श्रेष्ठ नगर से शीघ्र निकल पड़ो ।

प्रज्ञाया परिचरि कुशल त्वं । ज्ञानं ते पृथु विपुलमनन्तं ।
मूढानां विमतिपथस्थितानां । प्रज्ञाभां शुभरुचिर कुरु त्वं ॥402॥

प्रज्ञा की परिचर्या अर्थात् बुद्धि के प्रयोग मे तुम पंडित हो, तुम्हारा ज्ञान महान्, विस्तृत, और अनन्त है । दुविधा की राह पर खड़े मूढो के लिए प्रज्ञा का शुभ एवं सुन्दर प्रकाश करो ।

मैत्रायां भव शत चरितस्त्वं । कारुण्ये वरमुदित उपेक्षे ।
यामेवा वरचरि चरितस्त्वं । तामेव चरि विभज जगस्य ॥403॥

सैकड़ों जन्म तुमने आचरण किया है मैत्री का, करुणा का, उत्तम मुदिता का, और उपेक्षा का । तुमने जिस उत्तम चर्या का आचरण किया है, वही चर्या जगत को सिखाओ ।

एवं ता दश दिश जिनतेजैः । गाथा वै गुणकुसुमविचित्राः ।
तूर्येभ्यो विविधमनुरवन्ते । =126क= चोदेन्ती शयनगत कुमारं ॥404॥

---

16. पूर्वान्ते यहाँ भी पूर्वं ते का प्रतिनिधि है । द्रष्टव्य टिप्पणी 13/12 । भोटानुवाद यहाँ पूर्व-अन्ते पाठ को मान कर स्ङोन् म्थर् हुआ है ।

इस प्रकार दसों दिशाओं के बुद्धों के तेज से गुण रूपी फूलों से विचित्र, सेज पर लेटे कुमार को प्रेरणा देने वाली गाथाएँ बाजों से नानारूप में स्फुटित होती थीं।

(छन्द शरभ अथवा शशिकला=14 लघु+अक्षर 1 गुरु अक्षर = मात्राएँ[16])

यद पुन प्रमुदित रतिकर प्रमदा
सुरुचिर सुमधुर प्रभणिषु तुरियैः।
अथ जिन दशदिशि सुरनरदमका:
गिरि (?र)वरमनुरवि ततु रवि तुरियैः ॥405॥

फिर जब प्रमुदित, रति उपजाने वाली, मदभरी स्त्रियाँ बाजों द्वारा परम मनोहर एवं परम मधुर गाने लगी तब देवताओं और मनुष्यों को विनीत करने वाले दसों दिशाओं के बुद्धों ने उत्तम वाणी का गान किया। तदनन्तर बाजों से वही गान फूट पड़ा।

(-165-) कृत[17] त्वयि हितकर बहुगुण जनतो
निजि[17] नितु जिनगुण विचरति गतिषु।
स्मर स्मर पुरिमक व्रततपचरणा
लघु व्रज द्रुमवरु स्पृश पदममृतं ॥406॥

जनता के हितकारी बहुगुणी तुमने गतियों में विचरण करते हुए नित्य बुद्ध-गुणों को अपना बना लिया है। पूर्व (जन्मों) के व्रतों तथा तथा तपश्चर्याओं का स्मरण करो-(फिर-फिर) स्मरण करो, शीघ्र श्रेष्ठ वृक्ष के पास जाओ, अमृत पद का अनुभव करो।

सुतृषित नरमरु जिनगुणरहितात्वयि मति[18]प्रतिबलु अमृतरसददा।
दशबलगुणधर-बुधजन-महितं लघु त्वयि नरपति विभजहि अमृतं ॥407॥

बुद्ध के गुणों से हीन देवता और मनुष्य बड़े प्यासे हैं, तुम अमृत रस पिला देने में अत्यन्त समर्थ हो। दशबल (बुद्ध) के गुणों को धारण करने वाले पंडित-जनों द्वारा पूजित अमृत को हे मनुष्यों के स्वामी, तुम शीघ्र बाँटो।

17....17. कृत....निजि = कृता निजाः। तुलनीय भोट, ग्ञुग् मर् ब्यस्, निजीकृताः। निजि के अनन्तर नितु सम्भवतः नित्याः का प्रतिनिधि है। भोटानुवाद में यह पद अनूदित नहीं हुआ है अतः यहाँ पाठनिश्चय करना कठिन है।

18. मति = अति। तुलनीय भोट, शिन् तु।

त्यजि त्वयि पुरि भवि धनमणि कनक।
सखि प्रिय सुत महिं सनगरनिगमा।
शिरमपि त्यजि स्वकु करचरनयन।
जगतिय[19] हितकरु जिनगुणनिरता। ॥408॥

तुमने पूर्व-जन्मों में धन, मणि, सुवर्ण, प्रिय-सखी (=पत्नी), प्रिय-पुत्र-पुत्रियों और नगरों तथा निगमो (=कस्बो) से युक्त पृथिवी का त्याग किया है। हे जगती के हित कारक बुद्ध गुणों में रमने वाले तुमने अपने हाथ-पैरो एवं नेत्रों को यहाँ तक कि सिर को भी दे डाला है।

पुरि तुम नरवर सुतु[20] नृपु यदमू
नरु तव अभिमुख इम गिरमवची।
दद मम इम महि सनगरनिगमा।
त्यजि तद प्रमुदितु न च मनु क्षुभितो ॥409॥

हे मनुष्यों मे श्रेष्ठ, पहले जब तुम पुण्य नृप थे तब एक पुरुष तुम्हारे सम्मुख यह वचन बोला कि मुझे नगरों तथा निगमों (=कस्बों) से युक्त यह पृथिवी दो। उस समय प्रमुदित हो तुमने दे डाला। तुम्हारे मन मे क्षोभ न हुआ।

पुरि=126ख=नरपति स्वकु[21] द्विज यदमू
गुरुजनि परिचरि न च द्रुहि परतो
स्थपयिसु द्विजवर बहुजन कुशले
च्युतु ततु भवगतु सुरपुरनिलयं ॥410॥

पहले जब तुम सुकृत् (=पुण्यवान्) ब्राह्मण नरपति थे तब तुमने गुरुजन की सेवा की, दूसरे से वैर न बाँधा। उत्तम ब्राह्मणों तथा (अन्य) बहुत से लोगों को पुण्य (की राह) में स्थापित किया। वहाँ से शरीर त्याग देवताओं के नगर के स्थान मे जन्म ग्रहण किया।

19. मुद्रित पाठ जगति य शुद्ध नही है। वस्तुतः जगतिय (=जगत्याः) एक पद है। भोटानुवाद ह्ग्रो ल है। य (=यः) पद भोटानुवाद में नहीं है उससे भी यही प्रमाणित होता है।

20. सुतु=शुद्धः। तुलनीय भोट, ग्र्यल् पो द्गे बर् ग्युर् प हि् छे (पुण्यनृपभवनकाले)। एड्जेर्टन् साहब के बु० हा० सं० डि० मे इस शब्द का संग्रह होना चाहिए।

21. स्वकु=सुकृत्। तुलनीय भोट, ब्रम् ज़े द्गे बर् ग्युर् ब हि् छे (शुभब्राह्मणभवनकाले)। बु० हा० सं० डि० मे इस शब्द का भी संग्रह होना चाहिए।

पुरि तुम नृपसुत ऋषिवर यदभू
छिनि तव तनुरुह कलिनृपु रुषितो ।
(–166–) कृत त्वयि कलक्रिय[22] न च मनु क्षुभितो
पयु तव स्रवि तद करतलचरणैः ॥411॥

पहले तुम जब राजपुत्र होकर ऋषिवर हो गए थे, तब रुष्ट हुए एक दुष्ट राजा ने तुम्हारे अंग काट डाले थे। उस समय तुम्हारा मन न झुंझलाया था और तुमने कालक्रिया की थी (=शरीर त्याग दिया था), तुम्हारी हथेली और चरणों से दूध बह पड़ा था।

श्यमु पुन ऋषुसुतु त्वयि पुरि यदभू
[23]व्रतरतु गुरुभरु[23] गिरिवरनिलये।
हत भव नृपतिन विषकृत इषुणा
कृप तव तहि नृप न च मनु क्षुभितो ॥412॥

फिर पहले जब तुम ऋषिपुत्र श्याम (–नामक) हुए थे (और) श्रेष्ठ पर्वत के आश्रम में गुरुजन का पालन-पोषण करते व्रत में रमे रहते थे (तब) एक राजा ने विष-बुझे बाण से तुम्हें मारा पर उस राजा पर तुम्हारी कृपा (ही) रही, तुम्हारा मन न बौखलाया।

पुरि तुम गुणधर मृगपति यदभू
गिरिनदिबहुजलि दुयमनु[24] पुरुषो।
हित भव त्वयि नरु स्थलपथि स्थपितो
उपनयि तव अरि न च मनु क्षुभितो ॥413॥

पहले जब तुम गुणवान् मृगराज हुए थे, (तब एक बार एक) आदमी पहाड़ी नदी के बढ़े जल में बहा जा रहा था। हितू हो तुमने आदमी को सूखे में राह पर डाल दिया। (पर वह आदमी) तुम्हारे शत्रु को ले आया। फिर भी तुम्हारा मन न बौखलाया।

22. मूल, कुलक्रिय। इसके स्थान में शुद्धपाठ कलक्रिय (=कालक्रिया) होना चाहिए। तुलनीय भोट, ह्छि बहि दुस् ब्यस् ते (=मृत्युकालः कृतः)।

23....23. व्रतरत गुरुभरु (=व्रतरतः गुरुभृत्) के लिए भोट में व्रतरतो गुरुरतोऽपि पाठ है। तुलनीय भोट, ब्र्तुल् शुगस् द्गह् शिङ् ब्ल म ल यङ् द्गह्।

24. दुयमनु (=दूयमानः) के स्थान में भोट पाठ ख्येर् बर् ग्युर् प न (=उह्यमानः) है। संभवतः दुयमनु अपभ्रंश है उह्यमानः का। दकारागम मुखसुखार्थ है, तथा हकार का लोप हो गया है।

पुरि तुम नरवर द्विजसुतु[25] यदभू
मणि तव प्रपतितु जलधरि विपुले।
च्यवयितु क्षपयितु त्वय महउदधिं
लभि तद धनमणि दृढबल वृषभी ॥414॥

हे नरश्रेष्ठ, पहले तुम जब ब्राह्मणकुमार हुए थे (तब) तुम्हारी मणि महासागर में गिर पड़ी थी। महासागर में कूदे थके-थकाए हे दृढ़ बलवाले (पुरुष-) पुंगव, तुमने उस समय (उस) महँगी मणि को प्राप्त कर लिया था।

पुरि तुम सुपुरुष ऋषिवरु यदभू
द्विज तव उपगतु भव मम शरणं।
भणि = 127क = ऋषि द्विजवरु मम रिपु उपने
त्यजि त्वय स्वकि तनु न च द्विज त्यजसे ॥415॥

हे सुपुरुष, पहले जब तुम महर्षि हुए थे (तब एक) ब्राह्मण तुम्हारे पास आया (और) बोला हे ब्राह्मण श्रेष्ठ, हे ऋषे! मुझे शरण दो, मेरा शत्रु उत्पन्न हुआ है, (तब) तुमने अपना शरीर त्याग दिया पर ब्राह्मण को न त्यागा।

स्यमु ऋषि उपगतु पुरि द्रुमनिलये
रुचि भणि तरुरुह कति इम गणये।
सुविदित सुगणित यथ तहिं किशला
तथ तव अवितथ सम गिर रचिता ॥416॥

श्याम (नाम के एक) ऋषि पहले (तुम्हारे) वृक्ष के आवास पर आए और प्रेम से बोले—गिनो पेड़ के पत्ते कितने है? उसपर (संख्या में) जैसे—जितने पत्ते थे तुमने (उन्हें) भलीभाँति गिना, भलीभाँति जाना और वैसी नपी-तुली बात कही जो सच निकली।

[26]सुकु लसु गुणधर[26]पुरि द्रुमि वसतो
क्षयगतु न च त्यजि कृतु स्मरि पुरिमं।
मरुपति प्रमुदितु तव गुण स्मरतो
श्रिय करि द्रुमवरि यथरिव पुरिमा ॥417॥

25. मूल, त्यजिसुतु। भोट, ब्रम झे हि, बुर् त्सि (= द्विगजसुतः)। वैद्य ने त्यजि को सुतु से पृथक् करके कुछ चातुर्य दिखाया है। पर अर्थ संगति पुत्र त्याग देने से बैठ नहीं सकती।

26....26. सुकु लसु गुणधर (शुकः लसः गुणधरः)। इसे वैद्य ने सुकुल सुगुणधर (= सुकुलः सुगुणधरः) कर डाला है। सल शब्द का अर्थ है भास्वर या हरिद्रावर्ण वाला। यह अलस शब्द का अंशभूत लसशब्द ही तो अर्थ

शिशिरे हि यथा हिमवातु[50] महान्
तृणगुल्मवनौषधिओजहरो ।
तथ ओजहरो अहु व्याधिजरो
परिहीयति इन्द्रियरूपबलं ॥471॥

जैसे शिशिर-ऋतु में अति शीत-वायु तृणों का, झाड़ियों का, तथा वनोपधियों का ओज हर लेती है, अहो वैसे ही व्याधि तथा जरा भी ओज को हर लेती है, (एवं) इन्द्रियों की, रूप की, तथा बल की परिहाणि होती है ।

धनधान्यमहार्थक्षयान्तकरो
परितापकरो सह[51] व्याधिजरो ।
प्रतिघातकरः प्रियुद्वेषकरः
परिदाहकरो यथ सूर्य नभे ॥472॥

व्याधि और जरा (लोगों के) धन-धान्य को, महान् अर्थ को क्षय कर-कर समाप्त कर डालती है (अर्थात् उनकी धन-दौलत चिकित्सकों के हाथों चली जाती है और वे खाली हाथ हो जाते हैं) साथ साथ में ये बुरी तरह सताती (भी) रहती है, सब ओर से हानि करती है, इनके कारण प्रिय (वस्तुओं से भी) द्वेष हो जाता है । जैसे आकाश का सूर्य जलाता है, वैसे (ये भी) दाह-पीड़ा उपजाती रहती है ।

मरणं = 132ख = च्यवनं चुति कालक्रिया
प्रियद्रव्यजनेन वियोगु सदा ।
अपुनागमनं च असंगमनं
द्रुमपत्रफला नदिस्रोत यथा ॥473॥

मरना-गिरना, गिराव, काल करना (तथा) सदा के लिए प्यारे धन-धाम एवं साथियों से बिछुड़ना पेड़ से गिरे फल-पत्तों जैसा (तथा) नदी के प्रवाह जैसा है जहां फिर लौटना तथा मिलना नहीं हो पाता ।

मरणं वशितामवशीकुरुते
मरणं हरते नदि दारु यथा ।
असहायु नरो व्रजतेऽद्वितियो
स्वककर्मफलानुगता विवशः ॥474॥

50. मूल, हिमधातु । भोट, लुङ् दङ् ख व (= हिम और वात) । फलतः हिमवातु ठीकपाठ है ।

51. सह के स्थान में भोटानुसार पाठ सद । तुलनीय भोट, तंग् तु (= सदा) । सह पाठ में प्रयोग वैचित्र्य है । उसकी रक्षा होनी चाहिए ।

मृत्यु जहाँ वश है वहाँ वश चलने नही देती, मृत्यु (प्राणि को) वैसे ले जाती है, जैसे नदी लकडी को बहा ले जाती है। बेबस, बिचारा आदमी अपने कर्म के फल के अनुसार अकेला जाता है।

मरणो ग्रसते बहुप्राणिशतं
मकरेव जलाहरि भूतगणं।
गरुडो उरगं मृगराजु गजं
ज्वलनेन तृणोषधिभूतगणं ॥475॥

मृत्यु उस तरह सैकड़ों बहुत जीवों को खा जाती है, जिस तरह मगरमच्छ जल लेने के लिए गए जीवों के समूह को, गरुड सर्प को, सिंह हाथी को, तथा जैसे (वन की) आग घास-फूस, ओषधि, तथा जीवों के समूह को खा जाती है।

इम ईदृशकै बहुदोषशतैः
जगु मोचयितुं कृत या प्रणिधि।
स्मर तां पुरिमां प्रणिधानचरीं
अयु कालु तवा अभिनिष्क्रमितुं ॥476॥

इस प्रकार के इन बहुत-बहुत सैकड़ों-सैकड़ों दोषों से जगत् को मुक्ति दिलाने का जो संकल्प किया था उस, तथा संकल्प के पूरा करने के लिए की गई पहले की उस चर्या का स्मरण करो। घर से निकलने का यह तुम्हारा समय है।

(छन्द वैतालीय)

यद नारिगण प्रहर्षितो
बोधयती तुरियैर्महामुनि।
तद गाथ विचित्र निश्चरी
तूर्यशब्दात् सुगतानुभावतः ॥477॥

जब महिलाओं के समूह ने वाद्यो से महामुनि को जगाया, तब बुद्धों की महिमा वश वाद्यो के शब्द से विचित्र गाथाएँ ध्वनित हुईं।

लघु तद्‌भज्यति सर्वसंस्कृतं
अचिरस्थायि नभेव विद्युतः।
अयु कालु तवा उपस्थितः
समयो निष्क्रमणाय सुव्रत ॥478॥

यह सब संस्कृत (= बनावटी-जगत्) शीघ्र टूट जाता है, आकाश की बिजली जैसे क्षण-भर टिकने वाली है। हे उत्तम-व्रत वाले, तुम्हारे घर से निकलने का यह काल है—(यह) समय है।

संस्कार अनित्य अध्रुवाः
आमकुम्भोपम भेदनात्मकाः ।
परकेरकयाचितोपमाः
पांशुनगरोपम तावकालिकाः ॥479॥

संस्कार (=बनावटी-पदार्थ) एक जैसे न रहने वाले, न टिकने वाले, कच्चे घड़े के जैसे टूटने के स्वभाववाले, दूसरे से उधार लिए जैसे, धूल से बनाए नगर के समान क्षणिक है ।

संस्कार=133क= प्रलोपधर्मिमे
वर्षाकालि चलितं व लेपन ।
नदिकूप इवा सवालुक
प्रत्ययाधीनस्वभावदुर्बलाः ॥480॥

इन संस्कारो (=बनावटी पदार्थों) का धर्म (=स्वभाव) लोप होने का अर्थात् नष्ट होने का है । (ये) वर्षाकाल मे किए गए लेपन-पोतन के जैसे मिट जाने वाले, बालुका वाले नदी के किनारे के जैसे ढह जाने वाले, प्रत्ययो अर्थात् कारण सामग्री के अधीन रहने वाले, स्वभाव स दुर्बल (=भगुर) है ।

(–176–) सस्कार प्रदीपअर्चिवत्
क्षिप्रउत्पत्तिनिरोधधर्मिकाः ।
अनवस्थित मारुतोपमाः
फेनपिण्डेव असार दुर्बलाः ॥481॥

सस्कार (=बनावटी-पदार्थ) प्रदीप की शिखा के समान शीघ्र उत्पन्न हो-हो कर निरुद्ध हो जाने वाले, वायु के समान अस्थिर, फेन के पिण्डो जैसे सार-हीन एवं दुर्बल है ।

सस्कार निरीह शून्यकाः
कदलीस्कन्धसमा निरीक्षतः ।
मायोपमचित्तमोहना
बालउल्लापनरिक्त[52] मुष्ठिवत् ॥482॥

सस्कार (=बनावटी-पदार्थ) चेष्टाहीन, शून्य, कदली-काण्ड के समान परीक्षा करने पर निःसार, माया के जैसे चित्त को मोहित करने वाले, बच्चो की बूझ-बुझौवल मे रीती मुट्ठी के तुल्य है ।

52. मूल, उक्तमुष्टिवत् । शुद्धपाठ रिक्तमुष्टित् । तुलनीय भोट, लग् ब्चङ्स् स्तोङ् पस् । द्रष्टव्य शिक्षा-समुच्चय पृष्ठ 338 पर उद्धृत यही गाथा ।

हेतुभि च प्रत्ययेभि चा
सर्वसंस्कारगतं प्रवर्तते ।
अन्योन्यप्रतीत्यहेतुत:
तदिदं बालजनो न बुध्यते ॥483॥

सब संस्कारो (= बनावटी-पदार्थो) में (जो कुछ) होता है (वह) हेतु-प्रत्ययों अर्थात् कारण-सामग्री से होता है। (यह सारी हल-चल) परस्पर के हेतु-प्रत्यय के कारण से है, यह (बात) बाल-जन (= मूढ-जन) नहीं समझ-बूझ पाते।

यथ मुञ्ज प्रतीत्य वल्वजं
रज्जु व्यायामबलेन वर्तिता ।
घटियन्त्र सचक्र वर्तते
एष एकैकस नास्ति वर्तना ॥484॥

जैसे मूंज या बैंज के प्रत्यय से (= उपादान-सामग्री से) श्रम के बल से रस्सी बट ली जाती है, (और उस रस्सी से) रहँट चाके के साथ घूमता है। यह घूमना एक-एक का (स्वतन्त्र) नहीं।

तथ सर्वभवाङ्गवर्तिनी
अन्यमन्योपचयेन निश्रिता ।
एकैकस तेषु वर्तिनी
पूर्वपरान्तत नोपलभ्यते ॥485॥

वैसे ही भव के सब अंगो की प्रवृत्ति परस्पर की सामग्री पर निर्भर रहती है, उनमें एक-एक की प्रवृत्ति पूर्वकोटि से भी नही मिलती पर कोटि से भी नहीं मिलती। [भव के द्वादश अंगों का आर्यशालिस्तम्बसूत्र में वर्णन है। अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, तथा जाति ये द्वादश अंग है।]

बीजस्य सतो यथाङ्कुरो
न च यो बीज स चैव अङ्कुरो ।
[53]न च अन्य ततो[53]न चैव तत्
एवमनुच्छेद – अशाश्वत – धर्मता ॥486॥

उदाहरण : बीज होने पर अंकुर होता है, पर जो बीज है वही अंकुर नही है। किंच न उस (बीज) से भिन्न और ही तथा न वही ही (अंकुर) होता है।

53....53. मूल, न च ततो। वैद्य का भी पाठ यही है। शिक्षासमुच्चय पृष्ठ 238-पर यह गाथा उद्धृत है, वहां पर यह पाठ न च अन्य ततो है। भोटानुवाद भी यही साक्ष्य देता है दे लस् गशन् मिन्।

इस प्रकार (अंकुर की तथा अंकुरोपम सब पदार्थों की) अनुच्छेद-धर्मता अर्थात् अनश्वरता एवं अशाश्वतधर्मता अर्थात् अनित्यता (सिद्ध) होती है।

संस्कार अविद्यप्रत्यया:
ते संस्कारे न सन्ति तत्वत: ।=133ख=
संस्कार अविद्य चैव हि
शून्य एके प्रकृती निरीहका: ॥487॥

अविद्या के प्रत्यय से (=कारण सामग्री से) संस्कार होते हैं, इसलिए वे संस्कार वस्तुत: नही है। संस्कार और अविद्या एक-एक (=अपने आप) स्वभाव-शून्य हैं, चेष्टा-रहित हैं।

मुद्रात्प्रतिमुद्र दृश्यते
मुद्रसंक्रान्ति न चोपलभ्यते।
न च तत्र [54]न चैव अन्यतो[54]
एव संस्कारानुच्छेद अशाश्वता:[55] ॥488॥

मुद्रा से की गई छाप दिखाई पड़ती है पर (उस छाप में) मुद्रा का जाना नहीं ढूंढ मिलता। उस (छाप) वह (मुद्रा) नहीं है और न किसी अन्य से (वह छाप हुई है)। उसी प्रकार संस्कार न तो उच्छिन्न होते हैं और न नित्य होते हैं।

चक्षुश्च प्रतीत्य रूपत:
चक्षुविज्ञानमिहोपजायते।
न चक्षुषि रूपनिश्रितं
रूपसंक्रान्ति न चैव चक्षुषि ॥489॥

चक्षु तथा रूप के प्रत्यय से (=कारण सामग्री से) यहाँ चक्षुविज्ञान उत्पन्न होता है। (यद्यपि) चक्षु न तो रूप के आश्रित है और न चक्षु में रूप का संचार ही होता है।

नैरात्म्यशुभाश्च धर्मिमे
पुनरात्मेति शुभाश्च कल्पिता:।
विपरीतमसद्विकल्पितं
चक्षुविज्ञान ततोपजायते ॥490॥

ये धर्म (=पदार्थ) आत्म-हीन तथा शुभ-हीन है, फिर भी उन्हे आत्मा और शुभ सोचा जाता है। (यह) उलटी एवं असत्य कल्पना है। उस (कल्पित वस्तु) से चक्षुविज्ञान उत्पन्न होता है।

54....54. मूल, न चैव शाश्वतो। यह मूल है। भोट, ग्शन् लस् मयिन् ते, अन्यतो नास्ति। मूल मे शाश्वतो के स्थान में अन्यतो पढ़ना ठीक है।

55. मूल, शाश्वता: भोट: तंग मेद (अशाश्वता:)।

हेतुभि च प्रत्ययेभि चा
सर्वसंस्कारगतं प्रवर्तते ।
अन्योन्यप्रतीत्यहेतुत:
तदिदं बालजनो न वुध्यते ।।483।।

सब संस्कारो (=बनावटी-पदार्थो) में (जो कुछ) होता है (वह) हेतु-प्रत्ययों अर्थात् कारण-सामग्री से होता है। (यह सारी हल-चल) परस्पर के हेतु-प्रत्यय के कारण से है, यह (बात) बाल-जन (=मूढ-जन) नही समझ-बूझ पाते।

यथ मुञ्ज प्रतीत्य वल्वजं
रज्जु व्यायामवलेन वर्तिता।
घटियन्त्र सचक्र वर्तते
एष एकैकस नास्ति वर्तना ।।484।।

जैसे मूँज या बँज के प्रत्यय से (=उपादान-सामग्री से) श्रम के बल से रस्सी वट ली जाती है, (और उस रस्सी से) रहँट चाके के साथ घूमता है। यह घूमना एक-एक का (स्वतन्त्र) नही।

तथ सर्वभवाङ्गवर्तिनी
अन्यमन्योपचयेन निश्रिता।
एकैकस तेषु वर्तिनी
पूर्वपरान्तत नोपलभ्यते ।।485।।

वैसे ही भव के सब अंगो की प्रवृत्ति परस्पर की सामग्री पर निर्भर रहती है, उनमें एक-एक की प्रवृत्ति पूर्वकोटि से भी नहीं मिलती पर कोटि से भी नही मिलती। [भव के द्वादश अंगो का आर्यशालिस्तम्बसूत्र में वर्णन है। अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, तथा जाति ये द्वादश अंग है।]

बीजस्य सतो यथाङ्कुरो
न च यो बीज स चैव अङ्कुरो।
[53]न च अन्य ततो[53]न चैव तत्
एवमनुच्छेद – अशाश्वत – धर्मता ।।486।।

उदाहरण : बीज होने पर अंकुर होता है, पर जो बीज है वही अंकुर नही है। किन्तु न उस (बीज) से भिन्न और ही तथा न वही ही (अंकुर) होता है।

53....53. मूल, न च ततो। वैद्य का भी पाठ यही है। शिक्षासमुच्चय पृष्ठ 238-पर यह गाथा उद्धृत है, वहाँ पर यह पाठ न च अन्य ततो है। भोटानुवाद भी यही साक्ष्य देता है दे लस् ग्शन् मिन्।

इस प्रकार (अंकुर की तथा अंकुरोपम सब पदार्थों की) अनुच्छेद-धर्मता अर्थात् अनश्वरता एवं अशाश्वतधर्मता अर्थात् अनित्यता (सिद्ध) होती है।

संस्कार अविद्यप्रत्यया:
ते संस्कारे न सन्ति तत्त्वत: ।=133ख=
संस्कार अविद्य चैव हि
शून्य एके प्रकृती निरीहका: ॥487॥

अविद्या के प्रत्यय से (=कारण सामग्री से) संस्कार होते हैं, इसलिए वे संस्कार वस्तुत: नही है। संस्कार और अविद्या एक-एक (=अपने आप) स्वभाव-शून्य है, चेष्टा-रहित है।

मुद्रात्प्रतिमुद्र दृश्यते
मुद्रसंक्रान्ति न चोपलभ्यते।
न च तत्र [54]न चैव अन्यतो[54]
एव संस्कारानुच्छेद अशाश्वता:[55] ॥488॥

मुद्रा से की गई छाप दिखाई पड़ती है पर (उस छाप मे) मुद्रा का जाना नही ढूँढ मिलता। उस (छाप) वह (मुद्रा) नही है और न किसी अन्य से (वह छाप हुई है)। उसी प्रकार संस्कार न तो उच्छिन्न होते है और न नित्य होते हैं।

चक्षुश्च प्रतीत्य रूपत:
चक्षुविज्ञानमिहोपजायते।
न चक्षुषि रूपनिश्रितं
रूपसंक्रान्ति न चैव चक्षुषि ॥489॥

चक्षु तथा रूप के प्रत्यय से (=कारण सामग्री से) यहाँ चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है। (यद्यपि) चक्षु न तो रूप के आश्रित है और न चक्षु में रूप का संचार ही होता है।

नैरात्म्यशुभाश्च धर्मिमे
पुनरात्मेति शुभाश्च कल्पिता:।
विपरीतमसद्विकल्पितं
चक्षुविज्ञान ततोपजायते ॥490॥

ये धर्म (=पदार्थ) आत्म-हीन तथा शुभ-हीन है, फिर भी उन्हे आत्मा और शुभ सोचा जाता है। (यह) उलटी एवं असत्य कल्पना है। उस (कल्पित वस्तु) से चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है।

54....54. मूल, न चैव शाश्वतो। यह भूल है। भोट, ग्शन् लस् मयिन् ते, अन्यतो नास्ति। मूल मे शाश्वतो के स्थान में अन्यतो पढ़ना ठीक है।
55. मूल, शाश्वता: भोट, तंग् मेद् (अशाश्वता:)।

विज्ञाननिरोधुसंभवं
विज्ञानोत्पादव्ययं विपश्यति।
अकहिं च गतं अनागतं
शून्य मायोपम योगि पश्यति ॥491॥

(एक) विज्ञान के निरोध से उत्पन्न (दूसरे) विज्ञान को (लोग) उत्पत्ति और व्यतीत-वस्तु के रूप मे देखते है। पर योगी (पदार्थ मात्र को) कही न आने वाला, न जाने वाला, शून्य, माया के समान देखता है।

(–177–) अरणि च यथोत्तरारणि
हस्तव्यायाम त्रयेभि संगति।
इति प्रत्ययतोऽग्निर् जायते
जातु कृतार्थ लघु निरुध्यते ॥492॥

(अन्य) उदाहरण—अधरारणि, उत्तरारणि, तथा हाथो का उद्योग (इन) तीन के संयोग के प्रत्यय से अग्नि उत्पन्न होती है और उत्पन्न होकर अपना प्रयोजन सिद्ध कर शीघ्र निरुद्ध हो जाती है।

अथ पण्डितु कश्चि मार्गते
कुतयं आगतु कुत्र याति वा।
विदिशो दिशि सर्वि मार्गते
नागति नास्य गतिश्च लभ्यते ॥493॥

अनन्तर कोई पण्डित खोजता है कि यह (अग्नि) कहाँ से आई और कहाँ चली गई। दिशाओं और विदिशाओं मे सब जगह खोजते हुए उस (अग्नि) के न आने का पता चलता है और न जाने का ही पता चलता है।

[56]स्कन्धायतनानि धावत:[56]
तृष्ण अविद्य इति कर्म प्रत्यया।
सामग्रि तु सत्त्वसूचना
स च परमार्थतु = 134क =नोपलभ्यते ॥494॥

(उपादान—) स्कन्ध, आयतन, तथा धातुओं की तृष्णा, अविद्या, एवं कर्म के प्रत्यय से गठित सामग्री ही तो जीव (अर्थात् आत्मा) कह कर प्रकाशित की जाती है, पर वह परमार्थतया नही जाना जाता है।

56. मूल, स्कन्धधात्वायतनानि धातव:। यहाँ मध्य का धातु अधिक है। तुलनीय भोट, फुङ् पो दग् स्क्ये म्छेद् खम्स् नम्स् क्यि।

कण्ठोष्ठ प्रतीत्य तालुकं
जिह्वापरिवर्ति अक्षरा ।
न च कण्ठगता न तालुके
अक्षरैकैक तु नोपलभ्यते ॥495॥

(अन्य उदाहरण—) कण्ठ, ओष्ठ, तालु के प्रत्यय से जिह्वा के परिवर्तन से अक्षर उत्पन्न होते है, (वे) न कण्ठ में होते है और न तालु में ही । एक-एक अक्षर तो नही जाना जाता ।

सामग्रि प्रतीत्यश्च सा
वाच मनबुद्धिवशेन निश्चरी ।
मनवाच अदृश्यरूपिणी
बाह्यतोऽभ्यन्तरतो नोपलभ्यते ॥496॥

सामग्री अर्थात् कारणसमूह के प्रत्यय से वह वाणी मन और बुद्धि के आधिपत्य से निकली है । मन और वाणी दोनो का रूप अदृश्य है, उसकी उपलब्धि न तो (शरीर के) बाहर होती है और न भीतर ही ।

उत्पादव्ययं विपश्यतो
वाचरुतघोषस्वरस्य पण्डितः ।
क्षणिकां वशिकां तदा दृशी
सर्वा वाच प्रतिश्रुतकोपमां ॥497॥

(जब) वाणी, ध्वनि, घोष एवं स्वर के उत्पन्न होने और अतीत होने को पंडित देखता है तब वाणी-मात्र को प्रतिध्वनि के समान क्षणिक और शून्य देखता है ।

यथ तन्त्रि प्रतीत्य दारु च
हस्तव्यायाम त्रयेभि संगति ।
तुणवीणसुघोषकादिभिः
शब्दो निश्चरते तदुद्भव: ॥498॥

(अन्य) उदाहरण—तन्त्री, काष्ठ, तथा हाथों का उद्योग, (इन) तीन के संयोग के प्रत्यय से, एकतारा, वीणा, तथा सुघोषक आदि द्वारा, उनसे उत्पन्न हुआ शब्द निकलता है ।

अथ पण्डितु कश्चि मार्गते
कुतयं आगतु कुत्र याति वा ।
विदिशो दिशि सर्वि मार्गतः
शब्दगमनागमनं न लभ्यते ॥499॥

अनन्तर कोई पण्डित खोजता है कि यह (शब्द) कहाँ से आया और कहाँ चला गया। दिशाओं और विदिशाओं में सब जगह खोजते हुए (उस) शब्द के न आने का पता चलता है, न जाने का ही पता चलता है।

तथ हेतुभि प्रत्ययेभि च
सर्वसंस्कारगतं प्रवर्तते।
योगी पुन भूतदर्शनात्
शून्य संस्कार निरीह पश्यति ॥500॥

उसी प्रकार हेतु-प्रत्ययों द्वारा संस्कार-गत (=बनावट से बनने वाली) सब (वस्तुओं) की प्रवृत्ति (=उत्पत्ति और निरोध की गति) होती रहती है। पर योगी भूतपूर्व अर्थात् परमार्थ दर्शन के कारण संस्कारो को शून्य तथा चेष्टा-हीन देखता है।

स्कन्धायतनानि धातवः
शून्य अध्यात्मिक शून्य बाह्यकाः।
सत्त्वात्मविविक्तमनालया
धर्माकाशस्वभावलक्षणाः ॥501॥

स्कन्ध, आयतन, धातु, शरीर के भीतर के भी शून्य है, (एवं) शरीर के बाहर के भो शून्य है, (वे) जीव से आत्मा से अछूते है, (वे) आलय अर्थात् स्थान से रहित है। (वे) धर्म के लक्षण वाले है, (वे) आकाश के स्वभाव वाले है।

=134ख=इय ईदृश धर्मलक्षणा
बुद्ध दीपंकरदर्शने त्वया।
अनुबुद्ध स्वयं यथात्मना
तथ बोधेहि सदेव मानुषां ॥502॥

यह ऐसा। धर्म का लक्षण तुमने दीपंकर का दर्शन पाने पर समझा-बूझा था। जैसे अपने-आपने तुमने फिर समझा-बूझा है, वैसा ही देवताओं और मनुष्यों सहित (लोक) को समझाओ-बुझाओ।

विपरीत अभूतकल्पितैः
रागदोषैः परिदह्यते जगत्।
कृपमेघ समाम्बुशीतलां
मुञ्च धाराममृतस्य नायका ॥503॥

उलटी-पलटी मिथ्या-कल्पनाओ से उत्पन्न राग और द्वेष से जगत् जल रहा है। हे नायक, कृपारूपी मेघ से शान्तिरूपी जल की शीतल अमृत-धारा छोड़ो।

त्वयि यस्य कृतेन पण्डिता
दत्तु दानं बहुकल्पकोटिषु ।
संप्राप्य हि बोधिमुत्तमां
आर्यधन संग्रह करिष्ये प्राणिनां ॥504॥
तां पूर्वचरीमनुस्मरा—
नु-आर्यधनहीन[57] दरिद्र दुःखितां
मा उपेक्षहि सत्त्वसार थे
आर्यधन संग्रहि तेषु कुर्वहि ॥505॥

उत्तम बोधि का लाभ कर मैं प्राणियों का आर्यधन से संग्रह करूँगा (ऐसा संकल्प कर) जिसके लिए, हे पण्डित, तुमने अनेक-कोटि कल्पों तक दान दिया है, उस पूर्व (काल) की चर्या का फिर से स्मरण करो, आर्यधन से हीन, दरिद्र, दुःखितों की, हे प्राणियों के सारथि, उपेक्षा मत करो। आर्यधन से उनका संग्रह करो।

त्वयि शील सदा सुरक्षितं
पिथनार्थाय अपायभूमिनां ।
स्वर्गामृतद्वारमुत्तमां
दर्शयिष्ये बहुसत्त्वकोटिनां ॥506॥
तां पूर्वचरीमनुस्मरा
बद्ध्वा द्वार निरयाय-भूमिनां ।
स्वर्गामृतद्वार मुञ्चही
ऋद्ध्यहि शीलवतो (वि)चिन्तितं ॥507

(अनेक-कोटि प्राणियों को मैं स्वर्ग का उत्तम द्वार दिखाऊँगा (यह संकल्प) तुमने नरकभूमियों को ढँक देने के लिए सदा शील की रक्षा की है। (अपनी) उस पूर्व (काल) की चर्या का फिर से स्मरण करो। नरक-भूमियों के द्वारों को बंद कर, स्वर्ग और अमृत के द्वारो को खोलो। (तुम्हारा) शीलवान् होने का सोचा-विचारा (संकल्प) सिद्ध हो।

त्वयि, क्षान्ति सदा सुरक्षिता
प्रतिघक्रोधसमार्थं देहिनां ।
भावार्णव सत्त्व तारिया
स्था (? स्थ) पयिष्ये सिवि क्षेमि निर्ज्वले ॥508॥

57. नार्यधनहीन में आर्य से पूर्व नकारागम मुखसुखार्थ है। भोटानुवाद ह्फग्स् प हि. नोर् ग्यिस् दमन् (= आर्यधनहीन) से भी यही सिद्ध होता है।

तां पूर्वचरीमनुस्मर।
वैरव्यापादविहिंसआकुलां ।=135क=
मा उपेक्ष विहिंसचारिण:
क्षान्तिभूमीय स्थपे इमं जगत् ॥509॥

भवसागर से प्राणियों को तार कर शान्ति में, कुशल-क्षेम में, आरोग्य में, स्थापित करूँगा (यह संकल्प कर) तुमने प्राणियों के हिंसाभाव और क्रोध को शान्त करने के लिए सर्वदा क्षमा की रक्षा की है। (अपनी) उस पूर्व (काल) की चर्या का स्मरण करो। वैर से, हत्या करने के भाव से, हिंसा से व्याप्त हिंसा का आचरण करने वालों की उपेक्षा मत करो। इस जगत् को क्षमा-भूमि पर स्थापित करो।"

त्वयि वीर्यं यदर्थं सेवितं
धर्मनावं समुदानयित्वना।
उत्तार्य जगद्भवार्णवात्
था (?थ) पयिष्ये सिवि क्षेमिनिर्ज्वले ॥510॥

तां पूर्वचरीमनुस्मर।
चतुरोघैरिवन्मु-उह्यते जगत्।
लघु वीर्य बलं परक्रमा
सत्त्व संतारयही अनायकां ॥511॥

धर्म की नौका गढ कर लोक को भवसागर से उतार कर शान्ति में, कुशल-क्षेम में, आरोग्य में, स्थापित करूँगा (यह संकल्प कर) जिसके अर्थ तुमने वीर्य (=वीर भाव से उद्योग) का आचरण किया है, (अपनी) उस पूर्व (काल) की चर्या का स्मरण करो। (इस) जगत् को (काम, भव, दृष्टि और अविद्या नामक) चारों ओघ मानो बहाए ले जा रहे हैं। शीघ्र (अपने) वीर्य से, बल से, पराक्रम से अनाथ प्राणियो को तारो।

त्वय ध्यान किलेशधर्षणा[58]
भाविता यस्य कृतेन सूरता।
भ्रान्तेन्द्रिय प्रकृतेन्द्रियां
कपिचित्ता[59]ऽर्थपथे स्थपेष्यहं ॥512॥

58. मूल, किलेशध्येषणा। भोट, नोन् मोङ्स् व्शिल् प हि. (=क्लेशधर्षणा-)।
59. मूल, क्वपि चित्ता। भोट, स्प्रेह .ह्.द्र हि. सेमुस् (=कपिचित्त)।

तां पूर्वचरीमनुस्मर।
क्लेशजालैरिह-मु-आकुलं जगत् ।
मा उपेक्षहि क्लेशपद्रुतां
ध्यानैकाग्रि स्थपेहिमां प्रजां ॥513॥

जिनकी इन्द्रियाँ भ्रम में पड़ी है, . जिनकी इन्द्रियाँ प्राकृत (= संस्कारहीन) है, जिनके चित्त वानर के समान (चचल) है, उनको मैं अर्थपथ पर—प्रयोजन वाले मार्ग पर स्थापित करूँगा, (ऐसा सकल्प कर) जिसके लिए हे 'सूरत (= कारुणिक), तुमने क्लेशो को पराजित करने वाले ध्यान की भावना की है, (अपनी) उस पूर्व (काल) की चर्या का स्मरण करो । क्लेशो के उपद्रव मे पड़े हुओ की उपेक्षा मत करो । अद्वितीय एव श्रेष्ठ ध्यान मे इस प्रजा को स्थापित करो ।

(–179–) त्वयि प्रज्ञा पुरा सुभाविता।
मोहविद्यान्धतमोवृते जगे ।
बहुधर्मशताभिलोकने
दास्ये चक्षुषि तत्त्वदर्शनं ॥514॥
तां पूर्वचरीमनुस्मर।
मोहविद्यान्धतमोवृते जगे ।
ददही वर प्रज्ञा सुप्रभा
धर्मचक्षुं विमलं निरञ्जनं ॥515॥

बहुत से सैकडो धर्मो को देखने वाले, मोह तथा अविद्या के अन्धकार से ढके हुए जगत् को मैं तत्त्वदर्शी नेत्र दूँगा, (यह सकल्प कर) तुमने पूर्व (काल) में प्रज्ञा की सम्यक् भावना की है । (अपनी) उस पूर्व (काल) की चर्या का स्मरण करो । मोह और अविद्या के अन्धकार से ढके हुए जगत् को उत्तम एव शोभन प्रभा-वाली प्रज्ञा, निर्मल एवं निरञ्जन (=क्लेश रहित) धर्म चक्षु दो ।

इयमीदृश गाथ निश्चरी
तूर्यसंगीतिरवातु नारिणां =135ख=
यं श्रुत्व मिद्धं विवर्जिया
चित्तु प्रेषेति वराग्रबोधये ॥516॥

ये इस प्रकार की गाथाएँ महिलाओ के गीतवाद्य के घोष से निकली । जिन्हें सुन कर (अपनी) तन्द्रा छोड़ कर चित्त श्रेष्ठ एवं उत्तम बोधि के लिए चल पड़ते है ।

8. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व अन्तःपुर के बीच विराजते हुए धर्म के श्रवण से रहित न थे, धर्म के चिन्तन से रहित न थे। वह किस कारण से ? हे भिक्षुओ, उसका कारण यह है कि बोधिसत्त्व चिरकाल से धर्म में, धर्म की कथा करने वालो में गौरव करने वाले थे। (अपनी) अन्तरात्मा से धर्म के प्रार्थी, धर्म के अभिलाषी, धर्म के अनुराग में रमने वाले, धर्म की खोज मे अतृप्त रहने वाले, सुने हुए धर्म को जैसा पाया वैसा प्रकाशित करने वाले, धर्म के दान देने में सबसे बढ़ कर महान् अधिपति, निरामिष (=निःस्वार्थ) भाव से धर्म का उपदेश करने वाले, धर्म का दान देने में कृपणता न करने वाले, आचार्यमुष्टि (अर्थात् शिष्यो से विद्या छिपाने के स्वभाव) से रहित, धर्म की अनुसरण करते धर्म की साधना करने वाले, धर्म के लिए उद्योग करने में शूर, धर्म के आश्रय से रहने वाले, धर्म को अपना रक्षक मानने वाले, धर्म की शरण जाने वाले, धर्म का प्रतिशरण (अर्थात् भरोसा) करने वाले, धर्म में अत्यन्त लगन रखने वाले, [60]धर्म की निध्याति अर्थात् निश्चित चिन्तन से (प्राप्त) क्षमा के द्वारा (साधारण लोगो से ऊपर हो कर) निकले हुए[60], प्रज्ञापारमिता का आचरण किए हुए, उपाय की कुशलता की गति-विधि को बूझने वाले थे।

9. भिक्षुओं, वहाँ पर बोधिसत्त्व ने उपाय की परम कुशलता की लीला से सम्पूर्ण अन्त पुर को जिसकी जैसी अधिमुक्ति अर्थात् रुचि थी उसको वैसा— ईर्यापथ अर्थात् वैसी दिन चर्या =136क= दिखला कर, पूर्व (काल) के बोधिसत्त्वों की, जो कि लोक के विषयो से सर्वथा दूर चल गए थे अर्थात् वीतराग थे उनकी, लोकाचार पालन करने की धर्मता (अर्थात् स्वभाव) का अनुसरण कर, चिर काल तक काम के दोषो को भलीभांति जानते हुए (भी) प्राणियों को (धर्म मार्ग पर) पक्का करने के लिए, कामना न होते हुए भी कामों का उपभोग दिखला कर, अपरिचित कुशलो अर्थात् शुभों के मूल की वृद्धि से बढे पुण्य की परिपूर्णता के विशेष बल से अनुपम लोक-प्रभुता दिखला कर, देवताओं और मनुष्यों की पहुँच से बाहर के, सारवान्, मूल्यवान्, विविध और विचित्र प्रकार के रूपों से शब्दों से गन्धो से, रसों से, स्पर्शो से, उत्तम रति देने में रमणीय काम–रति के सुख को दिखला कर, सब कामो की (–180–) रति के जो विषय है, उनके अनन्त होने से अपने चित्त की वशवर्तिता (वश में होने

60⋯60. मूल, धर्मनिध्याप्तिः क्षान्तिनिर्यातः (=धर्मनिध्याप्तिक्षान्तिनिर्यातः)। तुलनीय भोट, छॅस् पर् सेमस् प हि.द्ब्योद् पस् ङेस् पर ब्युङ् ब। समास के भीतर यहाँ प्रथमाविभक्ति नही है प्रत्युत विसर्ग व्यंजनभक्ति है। निध्याप्ति, तुलनीय पालि का निज्झत्ति। निध्याति, निश्चित ध्यान वा चिन्तन।

की भावना) को दिखला कर, पूर्व (काल) के संकल्प को बल की सहायता से जिनके कुशलमूल की वृद्धि हो गई है ऐसे प्राणियों को साथ-साथ रहने के द्वारा पूरी तरह पक्का कर, लोक के क्लेश-रूपी मलो से क्लेशरहित–बिना कालिख के चित्त होने के कारण अन्तःपुर के बीच रहते हुए, जीवो के जगत् को (मोक्ष के लिए) जैसा पहले निमंत्रण दिया था उसके अनुसार उनके (धर्ममार्ग में) पूर्ण रूप से पक्के होने के समय की प्रतीक्षा करते हुए पहले की प्रतिज्ञा का उस समय अत्यन्त-अत्यन्त स्मरण किया। = 136ख = बोधिसत्त्व ने बुद्धधर्मों को (अपने) सामने किया, प्रणिधान अर्थात् संकल्प के बल का अभिनिर्हार किया (–सत्त्वकार्यार्थ सिद्ध किया), सत्त्वों के मोक्ष (लाभ के विषय) पर चिन्तन किया, सब सम्पतियों का अन्त विपत्ति में होता है—ऐसा विचारा, संसार को अनेकों उपद्रवों से युक्त बहुत-बहुत भय वाला देखा, मारके कलि के पाशो को काट डाला, संस्कार के अटूट–प्रवाह से अपने को उतारा, निर्वाण में चित्त को ठीक-ठीक लगाया।

10. हे भिक्षुओं, यहाँ पर बोधिसत्त्व पूर्वकोटि से ही संसार के दोषों को सम्यक् जानते हुए अपनी अन्तरात्मा से संस्कृत अर्थात् बनावटी जगत् से अपना प्रयोजन न रखने वाले, सब (प्रकार के) उपादानो के परिग्रह करने से प्रयोजन न रखने वाले, [61]बुद्ध के धर्म से प्रयोजन रखने वाले[61], निर्वाण के सम्मुख रहने वाले, संसार से विमुख रहने वाले, [62]तथागत के विषय–क्षेत्र में अत्यन्त रमने वाले[62], मार के विषय–क्षेत्र से मिसामिसी न करने वाले, (राग-द्वेष से) जल रहे भव में (= संसार में) दोष देखने वाले, तीनों (काम, रूप तथा अरूप) धातुओं से निकलने की बात सोचने वाले, संसार के दोषों तथा आदीनवों (अर्थात् गलतियों या भूल–चूकों) से निकलने मे कुशल, प्रवज्या में = 137 क = अभिलाषा–वाले, घर से निकलने की बात सोचने वाले, दुनिया से अलग रहने की ओर झुके हुए, दुनिया से अलग रहने की ओर नमे

61····61. मूल, बुद्धधर्म–। यहाँ पढना चाहिए—बुद्धधर्मणार्थिक। तुलनीय भोट, सङ्स् ग्र्यस् क्यि छोस् दोन् दु ग्ञेर् ब यिन्।

62····62. मूल तथागतगोचराभिरतः। इससे अगले वाक्य (मारविषयगोचरा ससृष्टः भोट, बुदुद् क्यि स्प्योद् युल् दङ् म ह्द्रेस् प यिन् मे केवल गोचर शब्द न होकर विषयगोचर शब्द है। भोट मे दोनों स्थलों का अनुवाद स्प्योद् युल् शब्द से किया गया है। प्रक्रम समता के अनुसार यहाँ भी तथागतविषयगोचराभिरतः (भोट दे ब्शिन् ग्शेग्स् प हि स्प्योद् युल् म्ङोन् दु द्गह्-ब यिन्) पढ़ना चाहिए।

हुए, दुनिया से अलग रहने पर उतारू हुए, वन-बागों की ओर मुँह करने वाले, एकान्त और शान्ति को चाहने वाले, अपने तथा पराए के हित में लगने वाले, अनुत्तर (मोक्ष) के उद्योग मे शूर, लोक के इच्छुक, हित के इच्छुक, सुख के इच्छुक, लोक के ऊपर कृपालु, हितबुद्धि वाले, मैत्री से रहने वाले-महाकरुणा वाले, संग्रह की (चारों) वस्तुओं (दान, प्रियवचन, अर्थचर्या, एवं समानार्थता या समुदुखसुखता) में कुशल, सर्वदा-निरन्तर खेद से रहित मन वाले, प्राणियो को (धर्म मे) पक्का करने तथा विनय सिखाने मे निपुण, सब प्राणियों के विषय मे इकलौते बेटे मे होने वाले प्रेमभाव से सोचने वाले, सब वस्तुओ का बिना (किसी स्वार्थ की) अपेक्षा से परित्याग करने वाले, दान को भलीभाँति बाँटने में प्रीति-वाले, दान देने मे उदार, खुले-हाथ-वाले, त्यागशूर, यज्ञों को पूर्ण कर चुकने वाले, पुण्यो की सुन्दर-समृद्धि वाले, [63]पुण्यो के परिष्कारों (=पदार्थों) का सुन्दर संग्रह वाले,[63] (-181-) मलिनता तथा मक्खीचूसी से रहित, चित्त को भलीभाँति अपनी मे पकड रखने वाले, जिस (दान) से बढ कर और कोई दान नही हो सकता ऐसे दान के महाप्रभु, =137ख= दान-देकर (भी) उसके फल की चाह न करने वाले, दानवीर, इच्छा, महेच्छा, लोभ, द्वेष, मद, मान, मोह, मात्सर्य (कृपणता) जिनमे प्रधान है, ऐसे सब के वैरी क्लेश-समूह-रूपी शत्रुओ का निग्रह करने के लिए उठे हुए, [64]सर्वज्ञता (=बुद्धता) के लिए उपजाए हुए चित्त की परपरा (निरन्तर बनाए रखने) से न-डिगने-वाले [64], महान्, त्याग करने के चित्तरूपी कवच से भलीभाँति नधे-नधाये हुए, लोक पर दया करने वाले, हित के चाहने वाले, वीर्य (=वीरभाव) का कंचुक पहने हुए, वीर्य (वीर-भाव) का कवच पहने हुए, प्राणियो की भलीभाँति मुक्ति दिलाने के आलबन पर डटे हुए, महाकरुणा के-बलके-विक्रम के-पराक्रम के धनी, पीछे न लौटने वाले, सब प्राणियो के प्रति एक समान चित्त वाले, त्याग-रूपी-शस्त्र-वाले, जिस (प्राणी) का जैसा अभिप्राय, उस प्राणी के हृदय को वैसा संतोष देने वाले, बोधि के पात्र बने हुए, काल के द्वारा वेधन न किए जा सकने वाले धर्म का वेधन करने वाले

63····63. मूल, सुसंगृहीतपुण्यः परिष्कार। परिष्कार को लेफ़मन् ने अगले वाक्यांश के साथ समास करके पढा है। वैद्य ने उसी का अनुकरण किया है। वस्तुत यह पाठ अर्थ दृष्टि से सुसंगृहीतपुण्यपरिष्कारः है। तुलनीय भोट, **बसोद् नमस् यो ब्यद् शिन् तु ब्सुड् ब यिन्**। ग्रन्थ में जो पाठ है उसकी विचित्रता के लिए रक्षा होनी चाहिए। समास का अन्तिम पद विभक्ति-रहित है, तथा मध्य के पद मे एक प्रथमा विभक्तियन्त पद आ गया है।

64. मूल, अच्चलित (=अचलित)। तुलनीय भोट, **मि ग्यो ब यिन्**।

अर्थात् धर्म के भीतर प्रवेश कर उसका मर्म जानने वाले, अपने संकल्प को बोधि में परिणत करने वाले, (धर्म) के झण्डे को न झुकने देने वाले, त्रिमण्डल अर्थात् दातृ-प्रति-ग्रहीतृ-दानचित्त रूपी तीनों मंडलों की पवित्रता के साथ दान देने वाले, उत्तम ज्ञान के वज्र का दृढ़ शस्त्र (धारण करने) वाले, क्लेशरूपी शत्रुओं का भलीभाँति निग्रह कर चुकने वाले, शील, = 138क = गुण, तथा सच्चरित्रता के व्रती, भली भाँति काय के, वचन के, तथा मन के कर्मों की रक्षा करने वाले, अणु-भर भी बुराई में भय देखने वाले, सब ओर से अति शुद्ध शील वाले, अमल, विमल, एवं निर्मल चित्त वाले, सब (प्रकार के) कुभाषितों के, कुभाव से कहे वचन–पथ के कोसने के, गाली-गलौज के, निन्दा के, मार-पीट के, धमकी-घुड़की के, वध-बन्धन के तथा पकड़-धकड़ के क्लेशों से चित्त में विचलित न होने वाले, चित्त में व्याकुल न होने वाले, क्षमा तथा सौरम्य (=सौरत्य, सूरत-भाव, करुणा) की सम्पदा वाले, चित्त मे हानि पहुँचाने के, हनन करने के, हत्या करने के भाव से रहित, सब प्राणियों के हित के लिए गरमागरमी से वीरता का काम करने वाले, दृढ-समादान (= दृढव्रत) वाले, सब कुशलों के मूलभूत धर्मों की सिद्धि करने मे पीछे न लौटने वाले, स्मृतिमान्, उत्तम प्रज्ञा वाले, उत्तम समाधि वाले, अचचल मन वाले, अद्वितीय एवं उत्तम ध्यान का चिन्तन करने वाले, धर्म का विश्लेषण करने मे कुशल, प्रकाश पा चुकने वाले, अन्ध करने वाले, अन्धेरे से विहीन, अनित्य के, दु.ख के, अनात्मा के[65] = 138ख = तथा अशुभ के प्रकारों के द्वारा सब ओर से चित्त को भावित कर चुकने वाले, स्मृत्युपस्थानो में सम्यक्-प्रहाणो में, ऋद्धि-पादों में, इन्द्रियों में, बलों में, बोध्यङ्गों में, मार्ग में, आर्यसत्यों में, तथा सब बोधिपाक्षिक धर्मों में सुपरिकर्म के साथ (–खूब तयारी के साथ) चिन्तन कर चुकने वाले, शमथ (शान्तिभाव में स्थिति) के द्वारा तथा विपश्यना (दार्शनिक विशिष्टता) के द्वारा सब ओर से अत्यन्त शुद्ध बुद्धि वाले, प्रतीत्यसमुत्पाद का दर्शन करने वाले, सत्य के निजी अनुभव के कारण दूसरे पर (धर्म के विषय मे) निर्भर न रहने वाले, तीनों (शून्यता, वनिमित्त और अप्रणिहित) विमोक्षों मे सुख से क्रीड़ा करने वाले, माया के समान, मृगतृष्णा के समान, स्वप्न के समान, जल मे प्रतिबिंबित चन्द्रमा के समान, प्रतिध्वनि के समान, प्रतिभास (अर्थात् असद्-वस्तु की झलक) के समान (मान कर) सब धर्मों मे न्याय से (= औचित्य से) प्रवेश करने वाले थे।

65. मूल, ०आत्मा०। यहाँ पढ़ना चाहिए ०अनात्मा०। तुलनीय भोट, दग् मेद् प।

11. (–182–) हे भिक्षुओ, यों[66] वे बोधिसत्त्व स्वभाव से[67] ऐसे[68] थे, (वे स्वभाव से) ऐसे धर्मविहारी थे, (वे स्वभाव से)[68] ऐसे ज्ञानविहारी थे, (वे स्वभाव से) ऐसे गुण-माहात्म्यविहारी थे, (वे स्वभाव से) ऐसे प्राणियों के अर्थ (=प्रयोजन) के निमित्त उद्योगविहारी थे। दसों दिशाओं में स्थित बुद्धों के अधिष्ठान (अचल सकल्प) से वाद्यों की संगीति द्वारा निकली इन गाथाओं से प्रेरणा पा उन्होंने उस समय अन्तिम–जन्मधारी पहले के बोधिसत्त्वों के अन्तःपुर को (धर्ममार्ग में) पक्के करने वाले चार धर्म के मुखों (=द्वारों) को अपने सम्मुख किया। कौन से चार ? यह जो दान है, प्रियवचन है, अर्थ-क्रिया (=प्रयोजनसिद्धि) है, = 139क = समानार्थकता (=समसुखदुःखता) है। इन चारों संग्रह वस्तुओं के प्रयोग तथा निर्हार (=सिद्धि) की विशुद्धि जहाँ होती है ऐसे नामी धर्ममुख को अपने सम्मुख किया। तीनों रत्नों के वंश को[69] भलीभाँति धारण करने के[69] अभिप्राय का जिसमें अविप्रणाश[70] होता है (कभी नाश नहीं होता) ऐसे सर्वज्ञता अर्थात् बुद्धता (प्राप्ति करने) के चित्त-प्रणिधान (=मन के संकल्प) में बल का आधान (स्थापन) करने के विषय में, जहाँ पीछे लौटना नहीं होता है, ऐसे नामी धर्ममुख को अपने सम्मुख किया। सब प्राणियों का अपरित्याग करने के अर्थात् अपनालेने के उत्तम आशय से जहाँ महाकरुणा में प्रवेश किया जाता है, ऐसे नामी धर्ममुख को अपने सम्मुख किया। सब बोधिपाक्षिक धर्मों के (बताने वाले) पदों का प्रभेद कर (=विश्लेषण

66....66. मूल, बोधिसत्त्वस्यैवं। यह बोधिसत्त्व (:) स एवं का संधिवर्श रूप है। तुलनीय भोट, व्यङ् छुब् सेम्स् द्पह् दे नि दे ल्तर्। बोधिसत्त्व स्मैवं (=बोधिसत्त्वः स्म एवं) पाठ संभवतः मूल का था, लिपि के हेर-फेर से स्मैवं का स्यैवं हो गया है। यह मेरा विचार है। यद्यपि इसे प्रमाणित करना इस अवस्था में सम्भव नहीं है।

67. मूल, प्रतिकृत्या (प्रतिकृत्येव=प्रतिकृत्या एवं)। शुद्ध पाठ, प्रकृत्या, तुलनीय भोट, रङ् बृशिन् ग्यिस्। वैद्य का पाठ यहाँ प्रतिकृतिः वस्तुतः ग्रंथ का सत्यानाश है।

68....68. भोट, देल्तर् ये शेस् ल ग्नस् प यिन् (=एवं ज्ञानविहारी)। मूल में यह पाठ छूटा हुआ है पर पाठान्तर में है।

69....69. मूल साधरणा (=सधारणा), तुलनीय भोट, यङ् दग् पर् ह्ग्जिन् प हि्। सम्यक् धारणा।

70. मूल, विप्रणाश। शुद्ध पाठ, अविप्रणाश मूल में अभिप्राय था विप्रणाश पढ़ना चाहिए। तुलनीय भोट, छुद् मि ज़ु व हि्।

शिशिरे हि यथा हिमवातु[50] महान्
तृणगुल्मवनौषधिओजहरो ।
तथ ओजहरो अहु व्याधिजरो
परिहीयति इन्द्रियरूपवलं ॥471॥

जैसे शिशिर-ऋतु मे अति शीत-वायु तृणों का, झाड़ियों का, तथा वनौषधियों का ओज हर लेती है, अहो वैसे ही व्याधि तथा जरा भी ओज को हर लेती है, (एवं) इन्द्रियों की, रूप की, तथा बल की परिहाणि होती है ।

धनधान्यमहार्थक्षयान्तकरो
परितापकरो सह[51] व्याधिजरो ।
प्रतिघातकरः प्रियुद्वेषकरः
परिदाहकरो यथ सूर्य नभे ॥472॥

व्याधि और जरा (लोगो के) धन-धान्य को, महान् अर्थ को क्षय कर-कर समाप्त कर डालती है (अर्थात् उनकी धन-दौलत चिकित्सकों के हाथों चली जाती है और वे खाली हाथ हो जाते है) साथ साथ में ये बुरी तरह सताती (भी) रहती है, सब ओर से हानि करती है, इनके कारण प्रिय (वस्तुओं से भी) द्वेष हो जाता है। जैसे आकाश का सूर्य जलाता है, वैसे (ये भी) दाह-पीड़ा उपजाती रहती है ।

मरणं = 132ख = च्यवनं चुति कालक्रिया।
प्रियद्रव्यजनेन वियोगु सदा ।
अपुनागमनं च असंगमनं
द्रुमपत्रफला नदिस्रोत यथा ॥473॥

मरना-गिरना, गिराव, काल करना (तथा) सदा के लिए प्यारे धन-धाम एवं साथियो से बिछुड़ना पेड़ से गिरे फल-पत्तों जैसा (तथा) नदी के प्रवाह जैसा है जहां फिर लौटना तथा मिलना नही हो पाता ।

मरणं वशितामवशीकुरुते
मरणं हरते नदि दारु यथा ।
असहायु नरो व्रजतेऽद्वितियो
स्वककर्मफलानुगता विवशः ॥474॥

50. मूल, हिमधातु । भोट, लुंङ् दङ् ख व (= हिम और वात) । फलतः हिमवातु ठीकपाठ है ।

51. सह के स्थान में भोटानुसार पाठ सद । तुलनीय भोट, तंग् तु (= सदा) । सह पाठ में प्रयोग वैचित्र्य है । उसकी रक्षा होनी चाहिए ।

मृत्यु जहाँ वश है वहाँ वश चलने नहीं देती, मृत्यु (प्राणि को) वैसे ले जाती है, जैसे नदी लकडी को बहा ले जाती है। बेवस, बिचारा आदमी अपने कर्म के फल के अनुसार अकेला जाता है।

मरणो ग्रसते बहुप्राणिशतं
मकरेव जलाहरि भूतगणं।
गरुडो उरगं मृगराजु गजं
ज्वलनेन तृणोषधिभूतगणं ॥475॥

मृत्यु उस तरह सैकड़ों बहुत जीवों को खा जाती है, जिस तरह मगरमच्छ जल लेने के लिए गए जीवों के समूह को, गरुड़ सर्प को, सिंह हाथी को, तथा जैसे (वन की) आग घास-फूस, ओषधि, तथा जीवों के समूह को खा जाती है।

इम ईदृशकै बहुदोषशतैः
जगु मोचयितुं कृत या प्रणिधि।
स्मर तां पुरिमां प्रणिधानचरी
अयु कालु तवा अभिनिष्क्रमितुं ॥476॥

इस प्रकार के इन बहुत-बहुत सैकड़ो-सैकडों दोषों से जगत् को मुक्ति दिलाने का जो संकल्प किया था उस, तथा संकल्प के पूरा करने के लिए की गई पहले की उस चर्या का स्मरण करो। घर से निकलने का यह तुम्हारा समय है।

(छन्द वैतालीय)

यद नारिगण प्रहर्षितो
बोधयती तुरियैर्महामुनि।
तद गाथ विचित्र निश्चरी
तूर्यशब्दात् सुगतानुभावतः ॥477॥

जब महिलाओं के समूह ने वाद्यो से महामुनि को जगाया, तब बुद्धों की महिमा वश वाद्यों के शब्द से विचित्र गाथाएँ ध्वनित हुईं।

लघु तद्भञ्जति सर्वसंस्कृतं
अचिरस्थायि नभेव विद्युतः।
अयु कालु तवा उपस्थितः
समयो निष्क्रमणाय सुव्रत ॥478॥

यह सब संस्कृत (= बनावटी-जगत्) शीघ्र टूट जाता है, आकाश की बिजली जैसे क्षण-भर टिकने वाली है। हे उत्तम-व्रत वाले, तुम्हारे घर से निकलने का यह काल है—(यह) समय है।

संस्कार अनित्य अध्रुवाः
आमकुम्भोपम भेदनात्मकाः ।
परकेरकयाचितोपमाः
पांशुनगरोपम तावकालिकाः ॥479॥

संस्कार (=बनावटी-पदार्थ) एक जैसे न रहने वाले, न टिकने वाले, कच्चे घडे के जैसे टूटने के स्वभाववाले, दूसरे से उधार लिए जैसे, धूल से बनाए नगर के समान क्षणिक है ।

संस्कार = 133क = प्रलोपधर्मिमे
वर्षाकालि चलितं व लेपनं ।
नदिकूप इवा सवालुक
प्रत्ययाधीनस्वभावदुर्बलाः ॥480॥

इन संस्कारों (=बनावटी पदार्थों) का धर्म (=स्वभाव) लोप होने का अर्थात् नष्ट होने का है । (ये) वर्षाकाल मे किए गए लेपन-पोतन के जैसे मिट जाने वाले, बालुका वाले नदी के किनारे के जैसे ढह जाने वाले, प्रत्ययो अर्थात् कारण सामग्री के अधीन रहने वाले, स्वभाव से दुर्बल (=भंगुर) हैं ।

(–176–) संस्कार प्रदीपअर्चिवत्
क्षिप्रउत्पत्तिनिरोधधर्मिकाः ।
अनवस्थित मारुतोपमाः
फेनपिण्डेव असार दुर्बलाः ॥481॥

सस्कार (=बनावटी-पदार्थ) प्रदीप की शिखा के समान शीघ्र उत्पन्न हो-हो कर निरुद्ध हो जाने वाले, वायु के समान अस्थिर, फेन के पिण्डों जैसे सार-हीन एवं दुर्बल है ।

सस्कार निरीह शून्यकाः
कदलीस्कन्धसमा निरीक्षतः ।
मायोपमचित्तमोहना
बालउल्लापनरिक्त[52] मुष्ठिवत् ॥482॥

संस्कार (=बनावटी-पदार्थ) चेष्टाहीन, शून्य, कदली-काण्ड के समान परीक्षा करने पर निःसार, माया के जैसे चित्त को मोहित करने वाले, बच्चों की बूझ-बुझौवल मे रीती मुट्ठी के तुल्य है ।

52. मूल, उक्तमुष्टिवत् । शुद्धपाठ रिक्तमुष्टित् । तुलनीय भोट, लग् बूचङ्स् स्तोङ् पस् । द्रष्टव्य शिक्षा-समुच्चय पृष्ठ 338 पर उद्धृत यही गाथा ।

मृत्यु जहाँ वश है वहाँ वश चलने नही देती, मृत्यु (प्राणि को) वैसे ले जाती है, जैसे नदी लकड़ी को बहा ले जाती है। बेबस, बिचारा आदमी अपने कर्म के फल के अनुसार अकेला जाता है।

मरणो ग्रसते बहुप्राणिशतं
मकरेव जलाहरि भूतगणं।
गरुडो उरगं मृगराजु गजं
ज्वलनेन तृणोषधिभूतगणं ॥475॥

मृत्यु उस तरह सैकड़ों बहुत जीवो को खा जाती है, जिस तरह मगरमच्छ जल लेने के लिए गए जीवों के समूह को, गरुड़ सर्प को, सिंह हाथी को, तथा जैसे (वन की) आग घास-फूस, ओषधि, तथा जीवों के समूह को खा जाती है।

इम ईदृशकै बहुदोषशतैः
जगु मोचयितु कृत या प्रणिधि।
स्मर तां पुरिमां प्रणिधानचरीं
अयु कालु तवा अभिनिष्क्रमितु ॥476॥

इस प्रकार के इन बहुत-बहुत सैकडो-सैकडो दोषो से जगत् को मुक्ति दिलाने का जो संकल्प किया था उस, तथा संकल्प के पूरा करने के लिए की गई पहले की उस चर्या का स्मरण करो। घर से निकलने का यह तुम्हारा समय है।

(छन्द वैतालीय)

यद नारिगण प्रहर्षितो
बोधयती तुरियैर्महामुनि।
तद गाथ विचित्र निश्चरी
तूर्यशब्दात् सुगतानुभावतः ॥477॥

जब महिलाओं के समूह ने वाद्यो से महामुनि को जगाया, तब बुद्धों की महिमा वश वाद्यो के शब्द से विचित्र गाथाएँ ध्वनित हुईं।

लघु तद्भज्जति सर्वसंस्कृतं
अचिरस्थायि नभेव विद्युतः।
अयु कालु तवा उपस्थितः
समयो निष्क्रमणाय सुव्रत ॥478॥

यह सब संस्कृत (= बनावटी-जगत्) शीघ्र टूट जाता है, आकाश की बिजली जैसे क्षण-भर टिकने वाली है। हे उत्तम-व्रत वाले, तुम्हारे घर से निकलने का यह काल है—(यह) समय है।

संस्कार अनित्य अध्रुवा:
आमकुम्भोपम भेदनात्मका: ।
परकेरकयाचितोपमा:
पांशुनगरोपम तावकालिका: ॥479॥

संस्कार (=बनावटी-पदार्थ) एक जैसे न रहने वाले, न टिकने वाले, कच्चे घड़े के जैसे टूटने के स्वभाववाले, दूसरे से उधार लिए जैसे, धूल से बनाए नगर के समान क्षणिक हैं।

संस्कार = 133क = प्रलोपधर्मिमे
वर्षाकालि चलितं व लेपनं ।
नदिकूप इवा सवालुक
प्रत्ययाधीनस्वभावदुर्बला: ॥480॥

इन संस्कारों (=बनावटी पदार्थों) का धर्म (=स्वभाव) लोप होने का अर्थात् नष्ट होने का है। (ये) वर्षाकाल में किए गए लेपन-पोतन के जैसे मिट जाने वाले, बालुका वाले नदी के किनारे के जैसे ढह जाने वाले, प्रत्ययो अर्थात् कारण सामग्री के अधीन रहने वाले, स्वभाव से दुर्बल (=भंगुर) हैं।

(–176–) संस्कार प्रदीपअर्चिवत्
क्षिप्रउत्पत्तिनिरोधधर्मिका: ।
अनवस्थित मारुतोपमा:
फेनपिण्डेव असार दुर्बला: ॥481॥

संस्कार (=बनावटी-पदार्थ) प्रदीप की शिखा के समान शीघ्र उत्पन्न हो-हो कर निरुद्ध हो जाने वाले, वायु के समान अस्थिर, फेन के पिण्डों जैसे सार-हीन एवं दुर्बल हैं।

संस्कार निरीह शून्यका:
कदलीस्कन्धसमा निरीक्षत: ।
मायोपमचित्तमोहना
बालउल्लापनरिक्त[52] मुष्ठिवत् ॥482॥

संस्कार (=बनावटी-पदार्थ) चेष्टाहीन, शून्य, कदली-काण्ड के समान परीक्षा करने पर निःसार, माया के जैसे चित्त को मोहित करने वाले, बच्चों की बूझ-बुझौवल में रीती मुट्ठी के तुल्य हैं।

52. मूल, उक्तमुष्टिवत् । शुद्धपाठ रिक्तमुष्टित् । तुलनीय भोट, लग् ब्चङ्स् स्तोङ् पस् । द्रष्टव्य शिक्षा-समुच्चय पृष्ठ 338 पर उद्धृत यही गाथा ।

हेतुभि च प्रत्ययेभि चा
सर्वसंस्कारगतं प्रवर्तते ।
अन्योन्यप्रतीत्यहेतुत:
तदिद बालजनो न बुध्यते ॥483॥

सब संस्कारों (=बनावटी-पदार्थों) में (जो कुछ) होता है (वह) हेतु-प्रत्ययों अर्थात् कारण-सामग्री से होता है। (यह सारी हल-चल) परस्पर के हेतु-प्रत्यय के कारण से है, यह (बात) बाल-जन (=मूढ-जन) नही समझ-बूझ पाते।

यथ मुञ्ज प्रतीत्य वल्वजं
रज्जु व्यायामबलेन वर्तिता।
घटियन्त्र सचक्र वर्तते
एष एकैकस नास्ति वर्तना ॥484॥

जैसे मूँज या बैंज के प्रत्यय से (=उपादान-सामग्री से) श्रम के बल से रस्सी बट ली जाती है, (और उस रस्सी से) रहँट चाके के साथ घूमता है। यह घूमना एक-एक का (स्वतन्त्र) नही।

तथ सर्वभवाङ्गवर्तिनी
अन्यमन्योपचयेन निश्रिता।
एकैकस तेषु वर्तिनी
पूर्वपरान्तत नोपलभ्यते ॥485॥

वैसे ही भव के सब अंगों की प्रवृत्ति परस्पर की सामग्री पर निर्भर रहती है, उनमें एक-एक की प्रवृत्ति पूर्वकोटि से भी नही मिलती पर कोटि से भी नही मिलती। [भव के द्वादश अंगों का आर्यशालिस्तम्बसूत्र में वर्णन है। अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, तथा जाति ये द्वादश अंग है।]

बीजस्य सतो यथाङ्कुरो
न च यो बीज स चैव अङ्कुरो।
[53]न च अन्य ततो[53]न चैव तत्
एवमनुच्छेद — अशाश्वत — धर्मता ॥486॥

उदाहरण : बीज होने पर अंकुर होता है, पर जो बीज है वही अंकुर नही है। किंच न उस (बीज) से भिन्न और ही तथा न वही ही (अंकुर) होता है।

53....53. मूल, न च ततो। वैद्य का भी पाठ यही है। शिक्षासमुच्चय पृष्ठ 238 पर यह गाथा उद्धृत है, वहाँ पर यह पाठ **न च अन्य ततो** है। भोटानुवाद भी यही साक्ष्य देता है—दे लस् गृशन् मिन्।

इस प्रकार (अंकुर की तथा अंकुरोपम सब पदार्थों की) अनुच्छेद-धर्मता अर्थात् अनश्वरता एवं अशाश्वतधर्मता अर्थात् अनित्यता (सिद्ध) होती है।

संस्कार अविद्यप्रत्यया:
ते संस्कारे न सन्ति तत्त्वत: ।=133ख=
संस्कार अविद्य चैव हि
शून्य एके प्रकृती निरीहका: ॥487॥

अविद्या के प्रत्यय से (=कारण सामग्री से) संस्कार होते हैं, इसलिए वे संस्कार वस्तुत: नही है। संस्कार और अविद्या एक-एक (=अपने आप) स्वभाव-शून्य हैं, चेष्टा-रहित हैं।

मुद्रात्प्रतिमुद्र दृश्यते
मुद्रसंक्रान्ति न चोपलभ्यते।
न च तत्र [54]न चैव अन्यतो[54]
एव संस्कारानुच्छेद अशाश्वता:[55] ॥488॥

मुद्रा से की गई छाप दिखाई पड़ती है पर (उस छाप में) मुद्रा का जाना नही ढूँढ मिलता। उस (छाप) वह (मुद्रा) नही है और न किसी अन्य से (वह छाप हुई है)। उसी प्रकार संस्कार न तो उच्छिन्न होते है और न नित्य होते है।

चक्षुश्च प्रतीत्य रूपतः
चक्षुविज्ञानमिहोपजायते।
न चक्षुषि रूपनिश्रितं
रूपसंक्रान्ति न चैव चक्षुषि ॥489॥

चक्षु तथा रूप के प्रत्यय से (=कारण सामग्री से) यहाँ चक्षुविज्ञान उत्पन्न होता है। (यद्यपि) चक्षु न तो रूप के आश्रित है और न चक्षु में रूप का संचार ही होता है।

नैरात्म्यशुभाश्च धर्मिमे
पुनरात्मेति शुभाश्च कल्पिता:।
विपरीतमसद्विकल्पितं
चक्षुविज्ञान ततोपजायते ॥490॥

ये धर्म (=पदार्थ) आत्म-हीन तथा शुभ-हीन है, फिर भी उन्हे आत्मा और शुभ सोचा जाता है। (यह) उलटी एवं असत्य कल्पना है। उस (कल्पित वस्तु) से चक्षुविज्ञान उत्पन्न होता है।

54....54. मूल, न चैव शाश्वतो। यह भूल है। भोट, गृशन् लस् मयिन् ते, अन्यतो नास्ति। मूल में शाश्वतो के स्थान मे अन्यतो पढ़ना ठीक है।
55. मूल, शाश्वता: भोट, तंग् मेद् (अशाश्वता:)।

विज्ञाननिरोधुसंभवं
विज्ञानोत्पादव्ययं विपश्यति ।
अकहि च गतं अनागतं
शून्य मायोपम योगि पश्यति ॥491॥

(एक) विज्ञान के निरोध से उत्पन्न (दूसरे) विज्ञान को (लोग) उत्पत्ति और व्यतीत-वस्तु के रूप में देखते है। पर योगी (पदार्थ मात्र को) कही न आने वाला, न जाने वाला, शून्य, माया के समान देखता है।

(–177–) अरणि च यथोत्तरारणि
हस्तव्यायाम त्रयेभि संगति ।
इति प्रत्ययतोऽग्निर् जायते
जातु कृतार्थ लघु निरुध्यते ॥492॥

(अन्य) उदाहरण—अधरारणि, उत्तरारणि, तथा हाथों का उद्योग (इन) तीन के संयोग के प्रत्यय से अग्नि उत्पन्न होती है और उत्पन्न होकर अपना प्रयोजन सिद्ध कर शीघ्र निरुद्ध हो जाती है।

अथ पण्डितु कश्चि मार्गते
कुतयं आगतु कुत्र याति वा ।
विदिशो दिशि सर्वि मार्गते
नागति नास्य गतिश्च लभ्यते ॥493॥

अनन्तर कोई पण्डित खोजता है कि यह (अग्नि) कहाँ से आई और कहाँ चली गई। दिशाओं और विदिशाओ मे सब जगह खोजते हुए उस (अग्नि) के न आने का पता चलता है और न जाने का ही पता चलता है।

[56]स्कन्धायतनानि धावतः[56]
तृष्ण अविद्य इति कर्म प्रत्यया ।
सामग्रि तु सत्त्वसूचना।
स च परमार्थतु = 134क=नोपलभ्यते ॥494॥

(उपादान—) स्कन्ध, आयतन, तथा धातुओ की तृष्णा, अविद्या, एवं कर्म के प्रत्यय से गठित सामग्री ही तो जीव (अर्थात् आत्मा) कह कर प्रकाशित की जाती है, पर वह परमार्थतया नही जाना जाता है।

56. मूल, स्कन्धधात्वायतनानि धातवः। यहाँ मध्य का धातु अधिक है। तुलनीय भोट, फुङ् पो दग् स्क्ये मुछेद् खम्स् नंम्स् क्यि।

कण्ठोष्ठ प्रतीत्य तालुकं
जिह्वापरिवर्ति अक्षरा।
न च कण्ठगता न तालुके
अक्षरैकैक तु नोपलभ्यते ॥495॥

(अन्य उदाहरण–) कण्ठ, ओष्ठ, तालु के प्रत्यय से जिह्वा के परिवर्तन से अक्षर उत्पन्न होते हैं, (वे) न कण्ठ में होते हैं और न तालु में ही। एक-एक अक्षर तो नही जाना जाता।

सामग्रि प्रतीत्यश्च सा
वाच मनबुद्धिवशेन निश्चरी।
मनवार्च अदृश्यरूपिणी
बाह्यतोऽभ्यन्तरतो नोपलभ्यते ॥496॥

सामग्री अर्थात् कारणसमूह के प्रत्यय से वह वाणी मन और बुद्धि के आधिपत्य से निकली है। मन और वाणी दोनों का रूप अदृश्य है, उसकी उपलब्धि न तो (शरीर के) बाहर होती है और न भीतर ही।

उत्पादव्ययं विपश्यतो
वाचरुतघोषस्वरस्य पण्डितः।
क्षणिकां वशिकां तदा दृशी
सर्वा वाच प्रतिश्रुतकोपमां ॥497॥

(जब) वाणी, ध्वनि, घोष एवं स्वर के उत्पन्न होने और अतीत होने को पंडित देखता है तब वाणी-मात्र को प्रतिध्वनि के समान क्षणिक और शून्य देखता है।

यथ तन्त्रि प्रतीत्य दारु च
हस्तव्यायाम त्रयेभि संगति।
तुणवीणसुघोषकादिभिः
शब्दो निश्चरते तदुद्भवः ॥498॥

(अन्य) उदाहरण—तन्त्री, काष्ठ, तथा हाथों का उद्योग, (इन) तीन के संयोग के प्रत्यय से, एकतारा, वीणा, तथा सुघोपक आदि द्वारा, उनसे उत्पन्न हुआ शब्द निकलता है।

अथ पण्डितु कश्चि मार्गते
कुतयं आगतु कुत्र याति वा।
विदिशो दिशि सर्वि मार्गतः
शब्दगमनागमनं न लभ्यते ॥499॥

अनन्तर कोई पण्डित खोजता है कि यह (शब्द) कहाँ से आया और कहाँ चला गया। दिशाओं और विदिशाओं में सब जगह खोजते हुए (उस) शब्द के न आने का पता चलता है, न जाने का ही पता चलता है।

तथ हेतुभि प्रत्ययेभि च
सर्वसंस्कारगतं प्रवर्तते।
योगी पुन भूतदर्शनात्
शून्य संस्कार निरीह पश्यति ॥500॥

उसी प्रकार हेतु-प्रत्ययों द्वारा संस्कार-गत (=बनावट से बनने वाली) सब (वस्तुओं) की प्रवृत्ति (=उत्पत्ति और निरोध की गति) होती रहती है। पर योगी भूतपूर्व अर्थात् परमार्थ दर्शन के कारण संस्कारों को शून्य तथा चेष्टा-हीन देखता है।

स्कन्धायतनानि धातवः
शून्य अध्यात्मिक शून्य बाह्यकाः।
सत्त्वात्मविविक्तमनालया
धर्माकाशस्वभावलक्षणाः ॥501॥

स्कन्ध, आयतन, धातु, शरीर के भीतर के भी शून्य है, (एवं) शरीर के बाहर के भी शून्य हैं, (वे) जीव से आत्मा से अछूते हैं, (वे) आलय अर्थात् स्थान से रहित हैं। (वे) धर्म के लक्षण वाले हैं, (वे) आकाश के स्वभाव वाले हैं।

=134ख=इय ईदृश धर्मलक्षणा।
बुद्ध दीपंकरदर्शने त्वया।
अनुबुद्ध स्वयं यथात्मना
तथ बोधेहि सदेव मानुषां ॥502॥

यह ऐसा। धर्म का लक्षण तुमने दीपंकर का दर्शन पाने पर समझा-बूझा था। जैसे अपने-आपने तुमने फिर समझा-बूझा है, वैसा ही देवताओं और मनुष्यों सहित (लोक) को समझाओ-बुझाओ।

विपरीत अभूतकल्पितैः
रागदोषैः परिदह्यते जगत्।
कृपमेघ समाम्बुशीतलां
मुञ्च धाराममृतस्य नायका ॥503॥

उलटी-पलटी मिथ्या-कल्पनाओं से उत्पन्न राग और द्वेष से जगत् जल रहा है। हे नायक, कृपारूपी मेघ से शान्तिरूपी जल की शीतल अमृत-धारा छोड़ो।

त्वयि येस्य कृतेन पण्डिता
दत्तु दानं बहुकल्पकोटिषु ।
संप्राप्य हि बोधिमुत्तमां
आर्यधनं संग्रह करिष्ये प्राणिनां ॥504॥
तां पूर्वचरीमनुस्मरा—
नु-आर्यधनहीन[57] दरिद्र दुःखितां
मा उपेक्षहि सत्त्वसार थे
आर्यधन संग्रहि तेषु कुर्वहि ॥505॥

उत्तम बोधि का लाभ कर मैं प्राणियों का आर्यधन से संग्रह करूँगा (ऐसा संकल्प कर) जिसके लिए, हे पण्डित, तुमने अनेक-कोटि कल्पों तक दान दिया है, उस पूर्व (काल) की चर्या का फिर से स्मरण करो, आर्यधन से हीन, दरिद्र, दुःखितों की, हे प्राणियों के सारथि, उपेक्षा मत करो। आर्यधन से उनका संग्रह करो।

त्वयि शील सदा सुरक्षितं
पिथनार्थाय अपायभूमिनां ।
स्वर्गामृतद्वारमुत्तमां
दर्शयिष्ये बहुसत्त्वकोटिनां ॥506॥
तां पूर्वचरीमनुस्मरा
बद्ध्वा द्वार निरयाय-भूमिनां ।
स्वर्गामृतद्वार मुञ्चही
ऋध्यहि शीलवतो (वि)चिन्तितं ॥507

अनेक-कोटि प्राणियों को मैं स्वर्ग का उत्तम द्वार दिखाऊँगा (यह संकल्प) तुमने नरकभूमियों को ढँक देने के लिए सदा शील की रक्षा की है। (अपनी) उस पूर्व (काल) की चर्या का फिर से स्मरण करो। नरक-भूमियों के द्वारों को बंद कर, स्वर्ग और अमृत के द्वारो को खोलो। (तुम्हारा) शीलवान् होने का सोचा-विचारा (संकल्प) सिद्ध हो।

त्वयि क्षान्ति सदा सुरक्षिता
प्रतिघक्रोधसमार्थ देहिनां ।
भवार्णव सत्त्व तारिया
स्था (? स्थ) पयिष्ये सिवि क्षेमि निर्ज्वले ॥508॥

57. नार्यधनहीन में आर्य से पूर्व नकारागम मुखसुखार्थ है। भोटानुवाद ह्फग्स् प हि. नोर् गियस् द्मन् (= आर्यधनहीन) से भी यही सिद्ध होता है।

तां पूर्वचरीमनुस्मरा
वैरव्यापादविहिंसआकुलां ।=135क=
मा उपेक्ष विहिंसचारिणः
क्षान्तिभूमीयि स्थपे इमं जगत् ॥509॥

भवसागर से प्राणियों को तार कर शान्ति में, कुशल-क्षेम में, आरोग्य में, स्थापित करूँगा (यह संकल्प कर) तुमने प्राणियों के हिंसाभाव और क्रोध को शान्त करने के लिए सर्वदा क्षमा की रक्षा की है। (अपनी) उस पूर्व (काल) की चर्या का स्मरण करो। वैर से, हत्या करने के भाव से, हिंसा से व्याप्त हिंसा का आचरण करने वालों की उपेक्षा मत करो। इस जगत् को क्षमा-भूमि पर स्थापित करो।

त्वयि वीर्य यदर्थ सेवितं
धर्मनावं समुदानयित्वना।
उत्तार्य जगद्भवार्णवात्
था (?थ) पयिष्ये सिवि क्षेमिनिर्ज्वले ॥510॥
तां पूर्वचरीमनुस्मरा
चतुरोवैरिव-सु-उह्यते जगत्।
लघु वीर्य बलं परक्रमा
सत्त्व, संतारयही अनायकां ॥511॥

धर्म की नौका गढ कर लोक को भवसागर से उतार कर शान्ति में, कुशल-क्षेम मे, आरोग्य मे, स्थापित करूँगा (यह संकल्प कर) जिसके अर्थ तुमने वीर्य (=वीर भाव से उद्योग) का आचरण किया है, (अपनी) उस पूर्व (काल) की चर्या का स्मरण करो। (इस) जगत् को (काम, भव, दृष्टि और अविद्या नामक) चारों ओघ मानो बहाए ले जा रहे है। शीघ्र (अपने) वीर्य से, बल से, पराक्रम से अनाथ प्राणियों को तारो।

त्वय ध्यान किलेशवर्षणा[58]
भाविता यस्य कृतेन सूरता।
भ्रान्तेन्द्रिय प्रकृतेन्द्रियां
कपिचित्ता[59] स्वर्थपथे स्थपेष्यहं ॥512॥

58. मूल, किलेशध्येषणा। भोट, ञोन् मोङ्स् ब्शिग्स् प हि. (=क्लेशधर्षणा–)।
59. मूल, चपि चित्ता। भोट, स्प्रेह .ह.ड्र हि. सेम्स् (=कपिचित्त)।

तां पूर्वचरीमनुस्मर।
क्लेशजालैरिह-म्-आकुलं जगत् ।
मा उपेक्षहि क्लेशपद्रुतां
ध्यानैकाग्रि स्थपेहिमां प्रजां ॥513॥

जिनकी इन्द्रियाँ भ्रम मे पड़ी है, जिनकी इन्द्रियाँ प्राकृत (= संस्कारहीन) हैं, जिनके चित्त वानर के समान (चंचल) है, उनको मै अर्थपथ पर—प्रयोजन वाले मार्ग पर स्थापित करूँगा, (ऐसा संकल्प कर) जिसके लिए हे सूरत (= कारुणिक), तुमने क्लेशों को पराजित करने वाले ध्यान की भावना की है, (अपनी) उस पूर्व (काल) की चर्या का स्मरण करो । क्लेशों के उपद्रव मे पड़े हुओं की उपेक्षा मत करो । अद्वितीय एवं श्रेष्ठ ध्यान में इस प्रजा को स्थापित करो ।

(–179–) त्वयि प्रज्ञा पुरा सुभाविता।
मोहविद्यान्धतमोवृते जगे ।
बहुधर्मशताभिलोकने
दास्ये चक्षुषि तत्त्वदर्शनं ॥514॥
तां पूर्वचरीमनुस्मर।
मोहविद्यान्धतमोवृते जगे ।
ददही वर प्रज्ञा सुप्रभा
धर्मचक्षुं विमलं निरञ्जनं ॥515॥

बहुत से सैकड़ों धर्मो को देखने वाले, मोह तथा अविद्या के अन्धकार से ढके हुए जगत् को मैं तत्त्वदर्शी नेत्र दूँगा, (यह संकल्प कर) तुमने पूर्व (काल) में प्रज्ञा की सम्यक् भावना की है । (अपनी) उस पूर्व (काल) की चर्या का स्मरण करो । मोह और अविद्या के अन्धकार से ढके हुए जगत् को उत्तम एवं शोभन प्रभा-वाली प्रज्ञा, निर्मल एवं निरञ्जन (=क्लेश रहित) धर्म चक्षु दो ।

इयमीदृश गाथ निश्चरी
तूर्यसंगीतिरवातु नारिणां =135ख=
यं श्रुत्व मिद्धं विवर्जिया।
चित्तु प्रेषेति वराग्रबोधये ॥516॥

ये इस प्रकार की गाथाएँ महिलाओं के गीतवाद्य के घोष से निकली । जिन्हें सुन कर (अपनी) तन्द्रा छोड़ कर चित्त श्रेष्ठ एवं उत्तम बोधि के लिए चल पड़ते है ।

8. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व अन्तःपुर के बीच विराजते हुए धर्म के श्रवण से रहित न थे, धर्म के चिन्तन से रहित न थे। वह किस कारण से ? हे भिक्षुओं, उसका कारण यह है कि बोधिसत्त्व चिरकाल से धर्म में, धर्म की कथा करने वालों में गौरव करने वाले थे। (अपनी) अन्तरात्मा से धर्म के प्रार्थी, धर्म के अभिलाषी, धर्म के अनुराग में रमने वाले, धर्म की खोज मे अतृप्त रहने वाले, सुने हुए धर्म को जैसा पाया वैसा प्रकाशित करने वाले, धर्म के दान देने में सबसे बढ़ कर महान् अधिपति, निरामिष (=निःस्वार्थ) भाव से धर्म का उपदेश करने वाले, धर्म का दान देने में कृपणता न करने वाले, आचार्यमुष्टि (अर्थात् शिष्यों से विद्या छिपाने के स्वभाव) से रहित, धर्म की अनुसरण करते धर्म की साधना करने वाले, धर्म के लिए उद्योग करने में शूर, धर्म के आश्रय से रहने वाले, धर्म को अपना रक्षक मानने वाले, धर्म की शरण जाने वाले, धर्म का प्रतिशरण (अर्थात् भरोसा) करने वाले, धर्म में अत्यन्त लगन रखने वाले, [60]धर्म की निध्याप्ति अर्थात् निश्चित चिन्तन से (प्राप्त) क्षमा के द्वारा (साधारण लोगो से ऊपर हो कर) निकले हुए[60], प्रज्ञापारमिता का आचरण किए हुए, उपाय की कुशलता की गति-विधि को बूझने वाले थे।

9. भिक्षुओं, वहाँ पर बोधिसत्त्व ने उपाय की परम कुशलता की लीला से सम्पूर्ण अन्तःपुर को जिसकी जैसी अधिमुक्ति अर्थात् रुचि थी उसको वैसा— ईर्यापथ अर्थात् वैसी दिन चर्या =136क= दिखला कर, पूर्व (काल) के बोधिसत्त्वों की, जो कि लोक के विषयो से सर्वथा दूर चल गए थे अर्थात् वीतराग थे उनकी, लोकाचार पालन करने की धर्मता (अर्थात् स्वभाव) का अनुसरण कर, चिर काल तक काम के दोषों को भलीभाँति जानते हुए (भी) प्राणियों को (धर्म मार्ग पर) पक्का करने के लिए, कामना न होते हुए भी कामों का उपभोग दिखला कर, अपरिचित कुशलो अर्थात् शुभों के मूल की वृद्धि से बढ़े पुण्य की परिपूर्णता के विशेष बल से अनुपम लोक-प्रभुता दिखला कर, देवताओ और मनुष्यों की पहुँच से बाहर के, सारवान्, मूल्यवान्, विविध और विचित्र प्रकार के रूपों से शब्दों से गन्धो से, रसों से, स्पर्शो से, उत्तम रति देने मे रमणीय काम-रति के सुख को दिखला कर, सब कामो की (-180-) रति के जो विषय हैं, उनके अनन्त होने से अपने चित्त की वशवर्तिता (वश में होने

60⋯60 मूल, धर्मनिध्याप्तिः क्षान्तिनिर्यातः (=धर्मनिध्याप्तिक्षान्तिनिर्यातः)। तुलनीय भोट, ड्स् पर् सेमस् प हि.व्ब्मोद् पस् ड्स् पर् व्यङ् व। समास के भीतर यहाँ प्रथमाविभक्ति नहीं है प्रत्युत विसर्ग व्यंजनभक्ति है। निध्याप्ति, तुलनीय पालि का निज्झत्ति। निध्याति, निश्चित ध्यान वा चिन्तन।

की भावना) को दिखला कर, पूर्व (काल) के संकल्प को बल की सहायता से जिनके कुशलमूल की वृद्धि हो गई है ऐसे प्राणियों को साथ-साथ रहने के द्वारा पूरी तरह पक्का कर, लोक के क्लेश-रूपी मलों से क्लेशरहित—बिना कालिख के चित्त होने के कारण अन्तःपुर के बीच रहते हुए, जीवों के जगत् को (मोक्ष के लिए) जैसा पहले निमंत्रण दिया था उसके अनुसार उनके (धर्ममार्ग में) पूर्ण रूप से पक्के होने के समय की प्रतीक्षा करते हुए पहले की प्रतिज्ञा का उस समय अत्यन्त-अत्यन्त स्मरण किया। =136ख= बोधिसत्व ने बुद्धधर्मों को (अपने) सामने किया, प्रणिधान अर्थात् संकल्प के बल का अभिनिर्हार किया (—सत्त्वकार्यार्थ सिद्ध किया), सत्त्वों के मोक्ष (लाभ के विषय) पर चिन्तन किया, सब सम्पत्तियों का अन्त विपत्ति में होता है—ऐसा विचारा, संसार को अनेकों उपद्रवों से युक्त बहुत-बहुत भय वाला देखा, मार के कलि के पाशों को काट डाला, संस्कार के अटूट—प्रवाह से अपने को उतारा, निर्वाण में चित्त को ठीक-ठीक लगाया।

10. हे भिक्षुओ, यहाँ पर बोधिसत्व पूर्वकोटि से ही संसार के दोषों को सम्यक् जानते हुए अपनी अन्तरात्मा से संस्कृत अर्थात् बनावटी जगत् से अपना प्रयोजन न रखने वाले, सब (प्रकार के) उपादानों के परिग्रह करने से प्रयोजन न रखने वाले, [61]बुद्ध के धर्म से प्रयोजन रखने वाले[61], निर्वाण के सम्मुख रहने वाले, संसार से विमुख रहने वाले, [62]तथागत के विषय—क्षेत्र में अत्यन्त रमने वाले[62], मार के विषय—क्षेत्र से मिसामिसी न करने वाले, (राग-द्वेष से) जल रहे भव में (=संसार में) दोष देखने वाले, तीनों (काम, रूप तथा अरूप) धातुओं से निकलने की बात सोचने वाले, ससार के दोषों तथा आदीनवों (अर्थात् गलतियों या भूल—चूकों) से निकलने में कुशल, प्रव्रज्या में =137 क= अभिलाषा—वाले, घर से निकलने की बात सोचने वाले, दुनिया से अलग रहने की ओर झुके हुए, दुनिया से अलग रहने की ओर नमे

61····61. मूल, बुद्धधर्म— । यहाँ पढ़ना चाहिए बुद्धधर्मणार्थिकः । तुलनीय भोट, सङ्स् ग्र्यस् क्यि छोस् दोन् दु ग्ञेर् ब यिन् ।

62····62. मूल तथागतगोचराभिरतः । इससे अगले वाक्य (मारविषयगोचरा संसृष्टः भोट, बुदुद् क्यि स्प्योद् युल् दङ् म ह्द्रेस् प यिन् मे केवल गोचर शब्द न होकर विषयगोचर शब्द है । भोट मे दोनों स्थलों का अनुवाद स्प्योद् युल् शब्द से किया गया है । प्रक्रम समता के अनुसार यहाँ भी तथागतविषयगोचराभिरतः (भोट दे ब्शिन् ग्शेग्स् प हि स्प्योद् युल् म्ङोन् दु द्गह् ब यिन्) पढ़ना चाहिए ।

हुए, दुनिया से अलग रहने पर उतारू हुए, वन—बागों की ओर मुँह करने वाले, एकान्त और शान्ति को चाहने वाले, अपने तथा पराए के हित में लगाने वाले, अनुत्तर (मोक्ष) के उद्योग मे शूर, लोक के इच्छुक, हित के इच्छुक, सुख के इच्छुक, लोक के ऊपर कृपालु, हितबुद्धि वाले, मैत्री से रहने वाले-महाकरुणा वाले, संग्रह की (चारों) वस्तुओं (दान, प्रियवचन, अर्थचर्या, एवं समानार्थता या समुदु खसुखता) में कुशल, सर्वदा-निरन्तर खेद से रहित मन वाले, प्राणियो को (धर्म मे) पक्का करने तथा विनय सिखाने मे निपुण, सब प्राणियों के विषय मे इकलौते बेटे मे होने वाले प्रेमभाव से सोचने वाले, सब वस्तुओ का बिना (किसी स्वार्थ को) अपेक्षा से परित्याग करने वाले, दान को भलीभाँति बाँटने में प्रीति-वाले, दान देने मे उदार, खुले-हाथ-वाले, त्यागशूर, यज्ञों को पूर्ण कर चुकने वाले, पुण्यो की सुन्दर-समृद्धि वाले, [63]पुण्यों के परिष्कारों (=पदार्थों) का सुन्दर संग्रह वाले,[63] (–181–) मलिनता तथा मक्खीचूसी से रहित, चित्त को भलीभाँति अपनी मे पकड़ रखने वाले, जिस (दान) से बढ कर और कोई दान नही हो सकता ऐसे दान के महाप्रभु, =137ख= दान-देकर (भी) उसके फल की चाह न करने वाले, दानवीर, इच्छा, महेच्छा, लोभ, द्वेष, मद, मान, मोह, मात्सर्य (कृपणता) जिनमे प्रधान है, ऐसे सब के वैरी क्लेश-समूह-रूपी शत्रुओं का निग्रह करने के लिए उठे हुए, [64]सर्वज्ञता (=बुद्धता) के लिए उपजाए हुए चित्त की परपरा (निरन्तर बनाए रखने) से न-डिगने-वाले [64], महान्, त्याग करने के चित्तरूपी कवच से भलीभाँति नधे-नधाये हुए, लोक पर दया करने वाले, हित के चाहने वाले, वीर्य (=वीरभाव) का कंचुक पहने हुए, वीर्य (वीर-भाव) का कवच पहने हुए, प्राणियो को भलीभाँति मुक्ति दिलाने के आलबन पर डटे हुए, महाकरुणा के-बलके-विक्रम के-पराक्रम के घनी, पीछे न लौटने वाले, सब प्राणियो के प्रति एक समान चित्त वाले, त्याग-रूपी-शस्त्र-वाले, जिस (प्राणी) का जैसा अभिप्राय, उस प्राणी के हृदय को वैसा संतोष देने वाले, बोधि के पात्र बने हुए, काल के द्वारा वेधन न किए जा सकने वाले धर्म का वेधन करने वाले

63····63. मूल, सुसंगृहीतपुण्यः परिष्कार। परिष्कार को लेफमन् ने अगले वाक्यांश के साथ समास करके पढा है। वैद्य ने उसी का अनुकरण किया है। वस्तुत यह पाठ अर्थ दृष्टि से सुसगृहीतपुण्यपरिष्कारः है। तुलनीय भोट, बसोद् नमस् यो ब्यद् शिन् तु बस्नुङ् व यिन्। ग्रन्थ में जो पाठ है उसकी विचित्रता के लिए रक्षा होनी चाहिए। समास का अन्तिम पद विभक्ति-रहित है, तथा मध्य के पद मे एक प्रथमा विभक्तियन्त पद आ गया है।

64. मूल, अचचलित (=अचलित)। तुलनीय भोट, मि ग्यो व यिन्।

ार्थात् धर्म के भीतर प्रवेश कर उसका मर्म जानने वाले, अपने संकल्प को बोधि ं परिणत करने वाले, (धर्म) के झण्डे को न झुकने देने वाले, त्रिमण्डल अर्थात् ातृ-प्रति-ग्रहीतृ-दानचित्त रूपी तीनो मंडलों की पवित्रता के साथ दान देने वाले, उत्तम ज्ञान के वज्र का दृढ शस्त्र (धारण करने) वाले, क्लेशरूपी शत्रुओं का भलीभाँति निग्रह कर चुकने वाले, शील, =138क= गुण, तथा सच्चरित्रता के व्रती, भली भाँति काय के, वचन के, तथा मन के कर्मों की रक्षा करने वाले, ाणु-भर भी बुराई मे भय देखने वाले, सब ओर से अति शुद्ध शील वाले, अमल, विमल, एवं निर्मल चित्त वाले, सब (प्रकार के) कुभाषितो के, कुभाव से कहे वचन-पथ के कोसने के, गाली-गलौज के, निन्दा के, मार-पीट के, धमकी-घुड़की के, बध-बन्धन के तथा पकड-धकड के क्लेशो से चित्त मे विचलित न होने वाले, चित्त में व्याकुल न होने वाले, क्षमा तथा सौरम्य (=सौरत्य, सूरत-भाव, करुणा) की सम्पदा वाले, चित्त मे हानि पहुँचाने के, हनन करने के, हत्या करने के भाव से रहित, सब प्राणियो के हित के लिए गरमागरमी से वीरता का काम करने वाले, दृढ-समादान (=दृढव्रत) वाले, सब कुशलों के मूलभूत धर्मों की सिद्धि करने मे पीछे न लौटने वाले, स्मृतिमान्, उत्तम प्रज्ञा वाले, उत्तम समाधि वाले, अचचल मन वाले, अद्वितीय एवं उत्तम ध्यान का चिन्तन करने वाले, धर्म का विश्लेषण करने मे कुशल, प्रकाश पा चुकने वाले, अन्ध करने वाले, अन्धेरे से विहीन, अनित्य के, दुःख के, अनात्मा के[65] =138ख= तथा अशुभ के प्रकारों के द्वारा सब ओर से चित्त को भावित कर चुकने वाले, स्मृत्युपस्थानो मे सम्यक्-प्रहाणो मे, ऋद्धि-पादो में, इन्द्रियों में, बलों मे, बोध्यङ्गों में, मार्ग में, आर्यसत्यो मे, तथा सब बोधिपाक्षिक धर्मों में सुपरिकर्म के साथ (=खूब तयारी के साथ) चिन्तन कर चुकने वाले, शमथ (शान्तिभाव मे स्थिति) के द्वारा तथा विपश्यना (दार्शनिक विशिष्टता) के द्वारा सब ओर से अत्यन्त शुद्ध बुद्धि वाले, प्रतीत्यसमुत्पाद का दर्शन करने वाले, सत्य के निजी अनुभव के कारण दूसरे पर (धर्म के विषय मे) निर्भर न रहने वाले, तीनो (शून्यता, वनिमित्त और अप्रणिहित) विमोक्षों मे सुख से क्रीड़ा करने वाले, माया के समान, मृगतृष्णा के समान, स्वप्न के समान, जल में प्रतिबिंबित चन्द्रमा के समान, प्रतिध्वनि के समान, प्रतिभास (अर्थात् असद्-वस्तु की झलक) के समान (मान कर) सब धर्मों मे न्याय से (=औचित्य से) प्रवेश करने वाले थे ।

65. मूल, ०आत्मा० । यहाँ पढ़ना चाहिए ०अनात्मा० । तुलनीय भोट, दग् मेद् प ।

हुए, दुनिया से अलग रहने पर उतारू हुए, बन-बागों की ओर मुँह करने वाले, एकान्त और शान्ति को चाहने वाले, अपने तथा पराए के हित में लगने वाले, अनुत्तर (मोक्ष) के उद्योग मे शूर, लोक के इच्छुक, हित के इच्छुक, सुख के इच्छुक, लोक के ऊपर कृपालु, हितबुद्धि वाले, मैत्री से रहने वाले-महाकरुणा वाले, संग्रह की (चारों) वस्तुओं (दान, प्रियवचन, अर्थचर्या, एवं समानार्थता या समदुःखसुखता) में कुशल, सर्वदा-निरन्तर खेद से रहित मन वाले, प्राणियो को (धर्म मे) पक्का करने तथा विनय सिखाने मे निपुण, सब प्राणियों के विषय में इकलौते बेटे मे होने वाले प्रेमभाव से सोचने वाले, सब वस्तुओ का बिना (किसी स्वार्थ को) अपेक्षा से परित्याग करने वाले, दान को भलीभाँति बाँटने में प्रीति-वाले, दान देने मे उदार, खुले-हाथ-वाले, त्यागशूर, यज्ञों को पूर्ण कर चुकने वाले, पुण्यो की सुन्दर-समृद्धि वाले, [63]पुण्यों के परिष्कारों (=पदार्थों) का सुन्दर संग्रह वाले,[63] (-181-) मलिनता तथा मक्खीचूसी से रहित, चित्त को भली-भाँति अपनी मे पकड रखने वाले, जिस (दान) से बढ कर और कोई दान नही हो सकता ऐसे दान के महाप्रभु, =137ख= दान-देकर (भी) उसके फल की चाह न करने वाले, दानवीर, इच्छा, महेच्छा, लोभ, द्वेष, मद, मान, मोह, मात्सर्य (कृपणता) जिनमे प्रधान है, ऐसे सब के वैरी क्लेश-समूह-रूपी शत्रुओं का निग्रह करने के लिए उठे हुए, [64]सर्वज्ञता (=बुद्धता) के लिए उपजाए हुए चित्त की परपरा (निरन्तर बनाए रखने) से न-डिगने-वाले[64], महान्, त्याग करने के चित्तरूपी कवच से भलीभाँति नधे-नधाये हुए, लोक पर दया करने वाले, हित के चाहने वाले, वीर्य (=वीरभाव) का कंचुक पहने हुए, वीर्य (वीर-भाव) का कवच पहने हुए, प्राणियों को भलीभाँति मुक्ति दिलाने के आलबन पर डटे हुए, महाकरुणा के-बलके-विक्रम के-पराक्रम के धनी, पीछे न लौटने वाले, सब प्राणियो के प्रति एक समान चित्त वाले, त्याग-रूपी-शस्त्र-वाले, जिस (प्राणी) का जैसा अभिप्राय, उस प्राणी के हृदय को वैसा संतोष देने वाले, बोधि के पात्र बने हुए, काल के द्वारा वेधन न किए जा सकने वाले धर्म का वेधन करने वाले

63····63. मूल, सुसंगृहीतपुण्यः परिष्कार। परिष्कार को लेफमन् ने अगले वाक्यांश के साथ समास करके पढा है। वैद्य ने उसी का अनुकरण किया है। वस्तुत. यह पाठ अर्थ दृष्टि से सुसंगृहीतपुण्यपरिष्कारः है। तुलनीय भोट, **व्सोद् नमस् यो व्यद् शिन् तु ब्ज़ुङ् ब यिन्।** ग्रन्थ में जो पाठ है उसकी विचित्रता के लिए रक्षा होनी चाहिए। समास का अन्तिम पद विभक्ति-रहित है, तथा मध्य के पद मे एक-प्रथमा विभक्तियन्त पद आ गया है।

64. मूल, अच्चलित (=अचलित)। तुलनीय भोट, **मि ग्यो व यिन्।**

अर्थात् धर्म के भीतर प्रवेश कर उसका मर्म जानने वाले, अपने संकल्प को बोधि मे परिणत करने वाले, (धर्म) के झण्डे को न झुकने देने वाले, त्रिमण्डल अर्थात् दातृ-प्रति-ग्रहीतृ-दानचित्त रूपी तीनों मंडलों की पवित्रता के साथ दान देने वाले, उत्तम ज्ञान के वज्र का दृढ़ शस्त्र (धारण करने) वाले, क्लेशरूपी शत्रुओं का भलीभाँति निग्रह कर चुकने वाले, शील, = 138क = गुण, तथा सच्चरित्रता के व्रती, भली भाँति काय के, वचन के, तथा मन के कर्मो की रक्षा करने वाले, अणु-भर भी बुराई मे भय देखने वाले, सब ओर से अति शुद्ध शील वाले, अमल, विमल, एवं निर्मल चित्त वाले, सब (प्रकार के) कुभाषितों के, कुभाव से कहे वचन-पथ के कोसने के, गाली-गलौज के, निन्दा के, मार-पीट के, धमकी-घुड़की के, बध-बन्धन के तथा पकड़-धकड के क्लेशो से चित्त मे विचलित न होने वाले, चित्त में व्याकुल न होने वाले, क्षमा तथा सौरभ्य (=सौरत्य, सुरत-भाव, करुणा) की सम्पदा वाले, चित्त मे हानि पहुँचाने के, हनन करने के, हत्या करने के भाव से रहित, सब प्राणियों के हित के लिए गरमागरमी से वीरता का काम करने वाले, दृढ-समादान (= दृढव्रत) वाले, सब कुशलों के मूलभूत धर्मो की सिद्धि करने मे पीछे न लौटने वाले, स्मृतिमान्, उत्तम प्रज्ञा वाले, उत्तम समाधि वाले, अचचल मन वाले, अद्वितीय एवं उत्तम ध्यान का चिन्तन करने वाले, धर्म का विश्लेषण करने मे कुशल, प्रकाश पा चुकने वाले, अन्ध करने वाले, अन्धेरे से विहीन, अनित्य के, दु:ख के, अनात्मा के[65] = 138ख = तथा अशुभ के प्रकारों के द्वारा सब ओर से चित्त को भावित कर चुकने वाले, स्मृत्युपस्थानों में सम्यक्-प्रहाणो मे, ऋद्धि-पादों में, इन्द्रियों में, बलों मे, बोध्यङ्गों में, मार्ग में, आर्यसत्यो में, तथा सब बोधिपाक्षिक धर्मो में सुपरिकर्म के साथ (-खूब तयारी के साथ) चिन्तन कर चुकने वाले, शमथ (शान्तिभाव में स्थिति) के द्वारा तथा विपश्यना (दार्शनिक विशिष्टता) के द्वारा सब ओर से अत्यन्त शुद्ध बुद्धि वाले, प्रतीत्यसमुत्पाद का दर्शन करने वाले, सत्य के निजी अनुभव के कारण दूसरे पर (धर्म के विषय मे) निर्भर न रहने वाले, तीनों (शून्यता, वनिमित्त और अप्रणिहित) विमोक्षों मे सुख से क्रीड़ा करने वाले, माया के समान, मृगतृष्णा के समान, स्वप्न के समान, जल मे प्रतिविंबित चन्द्रमा के समान, प्रतिध्वनि के समान, प्रतिभास (अर्थात् असद्-वस्तु की झलक) के समान (मान कर) सब धर्मो मे न्याय से (= औचित्य से) प्रवेश करने वाले थे।

65. मूल, ०आत्मा०। यहाँ पढ़ना चाहिए ०अनात्मा०। तुलनीय भोट, दग् मेद् प।

11. (–182–) हे भिक्षुओ, यों[66] वे बोधिसत्त्व स्वभाव से[67] ऐसे[68] थे, (वे स्वभाव से) ऐसे धर्मविहारी थे, (वे स्वभाव से)[68] ऐसे ज्ञानविहारी थे, (वे स्वभाव से) ऐसे गुण-माहात्म्यविहारी थे, (वे स्वभाव से) ऐसे प्राणियों के अर्थ (=प्रयोजन) के निमित्त उद्योगविहारी थे। दसों दिशाओं में स्थित बुद्धों के अधिष्ठान (अचल संकल्प) से वाद्यों की संगीति द्वारा निकली इन गाथाओं से प्रेरणा पा उन्होंने उस समय अन्तिम-जन्मधारी पहले के बोधिसत्त्वों के अन्तःपुर को (धर्ममार्ग में) पक्के करने वाले चार धर्म के मुखों (=द्वारों) को अपने सम्मुख किया। कौन से चार? यह जो दान है, प्रियवचन है, अर्थ-क्रिया (=प्रयोजनसिद्धि) है, =139क= समानार्थकता (=समसुखदुःखता) है। इन चारो संग्रह वस्तुओं के प्रयोग तथा निर्हार (=सिद्धि) की विशुद्धि जहाँ होती है ऐसे नामी धर्ममुख को अपने सम्मुख किया। तीनों रत्नों के वंश को[69] भलीभाँति धारण करने के[69] अभिप्राय का जिसमे अविप्रणाश[70] होता है (कभी नाश नही होता) ऐसे सर्वज्ञता अर्थात् बुद्धता (प्राप्ति करने) के चित्त-प्रणिधान (=मन के संकल्प) मे बल का आधान (स्थापन) करने के विषय में, जहाँ पीछे लौटना नही होता है, ऐसे नामी धर्ममुख को अपने सम्मुख किया। सब प्राणियों का अपरित्याग करने के अर्थात् अपनालेने के उत्तम आशय से जहाँ महाकरुणा मे प्रवेश किया जाता है, ऐसे नामी धर्ममुख को अपने सम्मुख किया। सब बोधिपाक्षिक धर्मों के (बताने वाले) पदों का प्रभेद कर (=विश्लेषण

66....66. मूल, बोधिसत्त्वस्यैवं। यह बोधिसत्त्व (:) स एवं का संधिवश रूप है। तुलनीय भोट, व्यङ् छुब् सेम्स् द्पह् दे नि दे ल्तर्। बोधिसत्त्व स्मैवं (=बोधिसत्त्वः स्म एवं) पाठ संभवतः मूल का था, लिपि के हेर-फेर से स्मैवं का स्यैवं हो गया है। यह मेरा विचार है। यद्यपि इसे प्रमाणित करना इस अवस्था मे सम्भव नही है।

67. मूल, प्रतिकृत्या (प्रतिकृत्येव=प्रतिकृत्या एवं)। शुद्ध पाठ, प्रकृत्या, तुलनीय भोट, रङ् ब्शिन् ग्यिस्। वैद्य का पाठ यहाँ प्रतिकृतिः वस्तुतः ग्रंथ का सत्यानाश है।

68....68. भोट, देल्तर् ये शेस् ल ग्नस् प यिन् (=एवं ज्ञानविहारी)। मूल में यह पाठ छूटा हुआ है पर पाठान्तर मे है।

69....69. मूल साधरणा (=सधारणा), तुलनीय भोट, यङ् दग् पर् ह्, जिन् प हि्। सम्यक् धारणा।

70. मूल, विप्रणाश। शुद्ध पाठ, अविप्रणाश मूल में अभिप्राया विप्रणाश पढ़ना चाहिए। तुलनीय भोट, छुद् मि ज़् व हि.।

कर) अर्थ का पूर्णरूप से निश्चय करने के ज्ञान के संभार[71] का (=ज्ञान के संचय का) विशेष बल जहां सिद्ध होता है, जहां (उस बल का) महान् व्यूह बनाया जाता है, ऐसे नामी धर्ममुख को अपने सम्मुख किया। इन चारों धर्ममुखों को अपने सम्मुख कर बोधिसत्त्व ने सम्पूर्ण अन्तःपुर को (धर्ममार्ग में) पक्का करने के लिए उस समय वैसा ऋद्धि का चमत्कार कर दिखाया, जैसे ऋद्धि के चमत्कार से चमत्कृत हो बोधिसत्त्व के प्रभाव से उन संगीत की ध्वनियों से ये इस प्रकार के लाखों धर्ममुख निकल पड़े। यथा—

(वाद्यों से धर्ममुख-शब्दों की अभिव्यक्ति)
(छन्द उपजाति)

उदार छन्देन च आशयेन
अध्याशयेना करुणाय प्राणिषु।
उत्पद्यते चित्तु वराग्रबोधये
[72]शब्देव रूपस्[72] तुरियेभि निश्चरी ॥517॥

उदार इच्छा (=दरियादिली) से, (उदार) भाव से, उत्तम भाव से, प्राणियों के प्रति करुणा से, श्रेष्ठ उत्तम बोधि के लिए चित्त उत्पन्न होता है। इस प्रकार का शब्द वाद्यों से निकल पड़ा।

=139ख=श्रद्धा प्रसादो अधिमुक्ति गौरवं
निर्माणिता ओनमना गुरूणां।
परिपृच्छता किं-कुशलं-गवेषणा
अनुस्मृती भावनु शब्द निश्चरी ॥518॥

श्रद्धा, प्रसाद (=चित्त की निर्मलता), अधिमुक्ति (=अभिरुचि अथवा विश्वास) परिपृच्छा (जिज्ञासा के लिए प्रश्न), कुशल क्या है—इसकी खोज, अनुस्मृति और भावना का शब्द निकल पड़ा।

(-183-) दाने दमे संयम शीलशब्दः
क्षान्तीय शब्दस्तथ वीर्यशब्दः।
ध्यानाभिनिर्हारसमाधिशब्दः
प्रज्ञा उपायस्य च शब्द निश्चरी ॥519॥

71. मूल, ससार। शुद्ध पाठ संभार, तुलनीय भोट, छोगस् (=संभार, संचय, समूह)।

72....72. मूल, शब्दे च रूपस्। पठनीय, शब्ददेवरूपस् (=शब्द एवं रूपस्), तुलनीय भोट, दे .ह्.द्र हि. स्त्र।

दान, दम (= विनय), संयम, (और) शील का शब्द, क्षमा का शब्द तथा वीर्य का शब्द, ध्यान, सिद्धि एवं समाधि का शब्द, प्रज्ञा और उपाय का शब्द निकल पड़ा।

मैत्राय शब्दः करुणाय शब्दो
मुदिता उपेक्षाय अभिज्ञशब्दः।
चतुसंग्रहावस्तुविनिश्चयेन
सत्वान परिपाचनशब्द निश्चरी ॥520॥

मैत्री का शब्द, करुणा का शब्द, मुदिता का, उपेक्षा का, अभिज्ञा का शब्द, चार संग्रह-वस्तुओं के विशेष रूप से निश्चय के द्वारा प्राणियों को (धर्म-मार्ग में) पक्का करने का शब्द निकल पड़ा।

स्मृतेरुपस्थानप्रभेदशब्दः
सम्यक्प्रहाणास्तथ ऋद्धिपादाः।
पञ्चेन्द्रिया पञ्च बलप्रभेदा
बोध्यङ्ग शब्दस्तुरियेभि निश्चरी ॥521॥

स्मृत्युपस्थान के पृथक्-पृथक् भेदों का शब्द, सम्यक्-प्रहाण, ऋद्धिपाद, पंच इन्द्रिय, बल के पंच प्रभेद, बोधि के अङ्ग (इत्यादि-प्रकारक) शब्द वाद्यों से निकल पड़ा।

अष्टाङ्गिको मार्गबलप्रभेदः[73]
समथस्य शब्दोऽथ विपश्यनायाः।
अनित्यदुःखार्त्तिअनात्मशब्दः
अशुभार्तिशब्दो तुरियेभि निश्चरी ॥522॥

आठ अंगो वाले उत्तम मार्ग के प्रभेद का, शमथ (= शान्ति) का, और विपश्यना (= तत्त्वदर्शन) का शब्द, अनित्य, दुःख, आर्ति (= पीड़ा), एवं अनात्मा का शब्द, अशुभ एवं आर्ति (=पीड़ा) का शब्द वाद्यों से निकल पड़ा।

---

73. मूल, का मार्गबलप्रभेदः वस्तुतः मार्गवरप्रभेदः का अपभ्रंश है। वर शब्द के अन्तःस्थ वकार के स्थान में ओष्ठ्य-स्पर्श बकार हो गया है तथा रेफ के स्थान मे लकार हो गया। इस प्रकार के अपभ्रंश पाठ की रक्षा होनी चाहिए। भोटानुवाद काल में बल वस्तुतः वर का अपभ्रंश है यह ज्ञात था अतएव वहाँ अनुवाद हुआ है—लम्-मछोग्-द्ब्ये (मार्ग-वर-प्रभेद)। वर = म्छोग्। बल शब्द का भोट में अनुवाद स्तोब्स् शब्द से किया जाता है।

विरागशब्दश्च विवेकशब्दः
क्षयज्ञानशब्दो अनुत्पादशब्दः ।
अनिरोधशब्दश्च अनालयं च
निर्वाणशब्दस्तुरियेभि निश्चरी ॥523॥

विराग का शब्द और विवेक (=जनसंसर्ग से पृथग्भाव) का शब्द, (क्लेशों के) क्षय के ज्ञान का शब्द, (क्लेशों के) अनुत्पाद का शब्द, अनिरोध (=निरोध-रहित मोक्ष) का शब्द और अनालय (=आलय-रहित मुक्ति) का एवं निर्वाण का शब्द वाद्यों से निकल पड़ा ।

इम एवरूपास्तुरियेभि शब्दः
[74]संबोधिसत्त्वस्यनुभाव[74] निश्चरी ।
यं श्रुत्व सर्वा प्रमदानुशिक्षिता
वराग्रसत्त्वे प्रणिधेन्ति बोधये ॥524॥

ये इस प्रकार के शब्द संबोधिसत्त्व के प्रभाव से निकले । जिनका श्रवण कर सब महिलाओं ने श्रेष्ठ एवं उत्तम सत्त्व (राजकुमार सिद्धार्थ) का अनुसरण करने की शिक्षा ली (और स्वयं) बोधि (प्राप्ति करने) के लिए (चित्त में) प्रणिधान (=संकल्प) किया ।

हे भिक्षुओ, इस प्रकार =140क= बोधिसत्त्व ने अन्तःपुर के भीतर रहते हुए उन चौरासी हजार (महिलाओं) को तथा (उन) लाखों देवताओं को जो वहाँ पर पहुँचे हुए थे अनुत्तर-सम्यक्-संबोधि (पाने के मार्ग) में पक्का किया ।

12. इस-के-बाद[75] बोधिसत्त्व के घर से निकलने के उस समय तुषित-देवनिकाय के ह्रीदेव नामक देवपुत्र जो अनुत्तर-सम्यक्-सम्बोधि[76] (पाने के पथ में) अवैवर्तिक(अर्थात् पीछे न लौटने वाला था) वह[77] प्रशान्त हो रही रात में[77] बत्तीस हजार देवपुत्रों की मंडली के साथ आगे-आगे चल जहाँ बोधिसत्त्व

74....74. मूल, सम्बोधिसत्त्वश्चनुभाव । पठनीय, सम्बोधिसत्त्वस्यनुभाव । तुलनीय भोट, जोंग्स् प हि. व्यङ् छुब् सेम्स् द्पहि. म्थु यिस् (=बोधिसत्त्वस्यानुभावेन) ।

75. मूल, तथा० । पठनीय, अथा० । तुलनीय भोट दे नस् । (वाक्यांश मूल में तथाभिनिष्क्रमणकाले है, उसे अथाभिनिष्क्रमणकाले पढ़ना होगा) ।

76. मूले, सम्यक्संबोधे. । पठनीय, सम्यक् संबोधेः अवैवर्तिकः । तुलनीय भोट, जोंग्स् प हि ब्यङ् छुब् लस् फियर् मि ल्दोग् प ।

77....77. मूल, रात्रौ प्रशान्तायाम् । भोट, म्छ्न् मो मि लल् चम् न । द्रष्टव्य प्रथम परिवर्त में टिप्पणी 62....62 ।

का उपस्थान प्रसाद (अर्थात् दरबार) था, वहाँ पहुँचा। पहुँच कर गगन-तल में ही रह कर बोधिसत्त्व से गाथाओं द्वारा यों बोला।

(तुषित-देवनिकाय के देवपुत्र ह्रीदेव की गाथाएँ)

(छन्द आर्या)

च्युति दर्शिता अतिशया[78] जन्म च संदर्शितं पुरुषसिंह।
अन्तःपुरं विदर्शितु कृतानुवृत्तिस्त्वया लोके ॥525॥

हे पुरुषसिंह, तुमने (तुषित लोक से अपना) अवतरण चमत्कार से दिखाया, जन्म भी खूब दिखाया, रनिवास (भी) विचित्रता से दिखाया। (इस प्रकार) लोकाचार का पालन कर लिया।

(–184–) परिपाचिता ति बहवो देव मनुज लोकि धर्ममनुप्राप्य।
अयमद्य कालसमयो निष्क्रम्ये मति विचिन्तेहि ॥526॥

तुमने लोक में धर्म पाकर बहुत से देवताओं और मनुष्यों को (धर्म-मार्ग पर) पक्का किया है। आज यह काल है समय है, (घर से) निकलने की बात पर मन में सोचो।

न हि बद्ध मोचयाती न चान्धपुरुषेन दर्शियति मार्गः।
मुक्तस्तु मोचयाती सचक्षुषा दर्शियति मार्गः ॥527॥

(स्वयं) बन्धन में पड़ा (दूसरे को) मुक्त नहीं करता और अन्धा आदमी (दूसरे को) मार्ग नहीं दिखाता (स्वयं) मुक्त ही (दूसरे को) मुक्त करता है, (तथा) आँखों वाला (दूसरे को) मार्ग दिखाता है।

ये सत्त्व कामदासा गृहे-धने-पुत्र-भार्य-परिगृद्धाः।
ते तुभ्य शिष्यमाणा=140ख= नैष्क्रम्यमतौ स्पृहां कुर्युः ॥528॥

जो प्राणी काम-भोग के दास हैं, जिनकी घर मे, धन मे, पुत्र में, एवं पत्नी मे सब ओर आसक्ति है, वे तुमसे शिक्षा ले कर (घर से) निकलने की बात पर मन में लालायित होंगे।

ऐश्वर्य कामक्रीडा चतु द्वीपा सप्त रत्न विजहित्वा।
निष्क्रान्त त्वां विदित्वा स्पृहयेत् सनरामरो लोकः ॥529॥

78. मूल, अतियशा। पठनीय, अतिशया। तुलनीय भोट, शिन् तु (=अति, अत्यन्त, अतिशय)।

प्रभुता, भोगविलास, चारों द्वीपों तथा सातों रत्नों का त्याग कर तुम्हें (घर से) निकला जान कर देवताओ तथा मनुष्यो से युक्त (यह) लोक लालायित होगा।

किं चापि ध्यानसौख्यैर्विहरसि धर्मैर्न चासि कामरतः।
अथ पुन चिरप्रसुप्तां बोधय मरुमानुषशतानि ॥530॥

इसके अतिरिक्त (तुम) धर्म-कर्मो से एवं ध्यानसुखों से विहार करते हो, कामपरायण नहीं हो। तब फिर (यही अच्छा है कि) चिरकाल से सोए हुए सैकड़ों देवताओं और मनुष्यों को जगा दो।

अतिपति (?त) त (?ति) यौवनमिदं गिरिनदि यथ चञ्चलप्रचलवेगा।
गतयौवनस्य भवतो नैष्क्रम्यमतिर्न शोभेते ॥531॥

यह जवानी अत्यन्त चलते-चलते हुए वेग वाली पहाड़ी नदी जैसी बीती जा रही है। जवानी बीत जाने पर (घर से) निकलने की बात आपको सूझी भी तो (दुनिया की आँखों में) अच्छी न लगेगी।

तत्साधु तरुणरूपे प्रथमे वरयौवने ऽभिनिष्क्रम्य।
उत्तारय प्रतिज्ञां[79]) कुरुष्व चार्थं सुरगणानां ॥532॥

इसलिए अच्छा (यही है कि) तरुणाई-के-रूप-वाली नई-नई उत्तम जवानी में (घर से) निकल कर (अपनी) प्रतिज्ञा को पार करो तथा देवगणों का अर्थ सिद्ध करो।

न च कामगुणरतीभिस्तृप्तिर्लवणोदधेर्यथाम्भोभिः।
ते तृप्त येष प्रज्ञा आर्या लोकोत्तरा विरजा ॥533॥

खारे समुद्र के पानी की तरह कामगुणों मे रमने से तृप्ति नहीं होती। जिनको प्रज्ञा आर्य, लोकोत्तर एवं रजोगुणहीन होती है, वे ही तृप्त होते है।

त्वमिह प्रिया मनापो राज्ञः शुद्धोदनस्य राष्ट्रस्य।
शतपत्रसदृशवदना नैष्क्रम्यमतिं विचिन्तेहि ॥534॥

तुम राजा शुद्धोदन को तथा राष्ट्र को प्रिय हो, मन मे भाने वाले हो। हे कमल के समान वदन वाले, (घर से) निकलने की बात सोचो।

आदीप्त क्लेशतापैर् अग्निः सरणैर्गाढबन्धनैर्बद्धां।
शीघ्रं प्रमोक्षमार्गे स्थापय शान्ते असमवीरा ॥535॥

हे अनुपम वीर, क्लेशों की गरमी से सब ओर से जलते हुए तथा निकलने की राह न पाते हुए, दृढ़ बन्धनों द्वारा बँधे (लोगों) को शीघ्र शान्त एवं उत्तम मोक्ष के मार्ग पर स्थापित करो।

79. भोटानुवाद युगस् दम् प्रतिज्ञां पाठ का ही समर्थक है

का उपस्थान प्रसाद (अर्थात् दरबार) था, वहाँ पहुँचा। पहुँच कर गगन-तल में ही रह कर बोधिसत्त्व से गाथाओं द्वारा यो बोला।

(तुषित-देवनिकाय के देवपुत्र ह्रीदेव की गाथाएँ)

(छन्द आर्या)

च्युति दर्शिता अतिशया[78] जन्म च संदर्शितं पुरुषसिंह।
अन्तःपुरं विदर्शितु कृतानुवृत्तिस्त्वया लोके ॥525॥

हे पुरुषसिंह, तुमने (तुषित लोक से अपना) अवतरण चमत्कार से दिखाया, जन्म भी खूब दिखाया, रनिवास (भी) विचित्रिता से दिखाया। (इस प्रकार) लोकाचार का पालन कर लिया।

(-184-) परिपाचिता ति बहवो देव मनुज लोकि धर्ममनुप्राप्य।
अयमद्य कालसमयो निष्क्रम्ये मति विचिन्तेहि ॥526॥

तुमने लोक मे धर्म पाकर बहुत से देवताओं और मनुष्यो को (धर्म-मार्ग पर) पक्का किया है। आज यह काल है समय है, (घर से) निकलने की बात पर मन में सोचो।

न हि बद्ध मोचयाती न चान्धपुरुषेन दर्शियति मार्गः।
मुक्तस्तु मोचयाती सचक्षुषा दर्शयति मार्गः ॥527॥

(स्वयं) बन्धन में पड़ा (दूसरे को) मुक्त नही करता और अन्धा आदमी (दूसरे को) मार्ग नही दिखाता (स्वयं) मुक्त ही (दूसरे को) मुक्त करता है, (तथा) आँखों वाला (दूसरे को) मार्ग दिखाता है।

ये सत्त्व कामदासा गृहे-धने-पुत्र-भार्य-परिलब्धाः।
ते तुभ्य शिक्ष्यमाणा=140ख= नैष्क्रम्यमतौ स्पृहां कुर्युः ॥528॥

जो प्राणी काम-भोग के दास है, जिनकी घर में, धन मे, पुत्र में, एवं पत्नी में सब ओर आसक्ति है, वे तुमसे शिक्षा ले कर (घर से) निकलने की बात पर मन में लालायित होगे।

ऐश्वर्य कामक्रीडा चतु द्वीपा सप्त रत्न विजहित्वा।
निष्क्रान्त त्वां विदित्वा स्पृहयेत् सनरामरो लोकः ॥529॥

78. मूल, अतियशा। पठनीय, अतिशया। तुलनीय भोट, शिन् तु (=अति, अत्यन्त, अतिशय)।

प्रभुता, भोगविलास, चारों द्वीपों तथा सातों रत्नों का त्याग कर तुम्हें (घर से) निकला जान कर देवताओं तथा मनुष्यों से युक्त (यह) लोक लालायित होगा ।

किं चापि ध्यानसौख्यैर्विहरसि धर्मैर्न चासि कामरतः ।
अथ पुन चिरप्रसुप्तां बोधय मरुमानुषशतानि ॥530॥

इसके अतिरिक्त (तुम) धर्म-कर्मो से एवं ध्यानसुखों से विहार करते हो, कामपरायण नहीं हो । तब फिर (यही अच्छा है कि) चिरकाल से सोए हुए सैकड़ों देवताओं और मनुष्यों को जगा दो ।

अतिपत्ति (?त) त (?ति) यौवनमिदं गिरिनदि यथ चञ्चलप्रचलवेगा ।
गतयौवनस्य भवतो नैष्क्रम्यमतिर्न शोभेते ॥531॥

यह जवानी अत्यन्त चलते-चलते हुए वेग वाली पहाडी नदी जैसी बीती जा रही है । जवानी बीत जाने पर (घर से) निकलने की बात आपको सूझी भी तो (दुनिया की आंखों में) अच्छी न लगेगी ।

तत्साधु तरुणरूपे प्रथमे वरयौवने ऽभिनिष्क्रम्य ।
उत्तारय प्रतिज्ञां[79]) कुरुष्व चार्थं सुरगणानां ॥532॥

इसलिए अच्छा (यही है कि) तरुणाई-के-रूप-वाली नई-नई उत्तम जवानी में (घर से) निकल कर (अपनी) प्रतिज्ञा को पार करो तथा देवगणों का अर्थ सिद्ध करो ।

न च कामगुणरतीभिस्तृप्तिर्लवणोदर्धयथाम्भोभिः ।
ते तृप्त येष प्रज्ञा आर्या लोकोत्तरा विरजा ॥533॥

खारे समुद्र के पानी की तरह कामगुणों में रमने से तृप्ति नही होती । जिनकी प्रज्ञा आर्य, लोकोत्तर एवं रजोगुणहीन होती है, वे ही तृप्त होते हैं ।

त्वमिह प्रिया मनापो राज्ञः शुद्धोदनस्य राष्ट्रस्य ।
शतपत्रसदृशवदना नैष्क्रम्यमति विचिन्तेहि ॥534॥

तुम राजा शुद्धोदन को तथा राष्ट्र को प्रिय हो, मन मे भाने वाले हो । हे कमल के समान वदन वाले, (घर से) निकलने की बात सोचो ।

आदीप्त क्लेशतापैर् अग्निः सरणैर्गाढबन्धनैर्बद्धां ।
शीघ्रं प्रमोक्षमार्गे स्थापय शान्ते असमवीरा ॥535॥

हे अनुपम वीर, क्लेशों की गरमी से सब ओर से जलते हुए तथा निकलने की राह न पाते हुए, दृढ़ बन्धनो द्वारा बँधे (लोगों) को शीघ्र शान्त एवं उत्तम मोक्ष के मार्ग पर स्थापित करो ।

79. भोटानुवाद पुनस् दम् प्रतिज्ञां पाठ का ही समर्थक है

त्वं वैद्य धातुकुशलश्चिरातुरां सत्त्व रोगसंस्पृष्टां ।
भैषज्यधर्मयोगैर्निर्वाणसुखे स्थपय शीघ्रं ॥536॥

तुम धातुओं मे (रोगनिवारक धातुओ से भेषज्य निर्माण में) कुशल वैद्य हो । चिरकाल से पीडित रोगों की छूत मे छुतियाए प्राणियों को धर्मरूपी भैषज्यों के योगो से शीघ्र निर्वाण के सुख में स्थापित करो ।

(–185–)अन्धातमा अनयना मोहाकुल दृष्टिजाल-(विनि) बद्धाः ।
= 145क = प्रज्ञाप्रदीप चक्षुः शोधय शीघ्रं नरमरूणां ॥537॥

घने अँधेरे मे आँखों के विना (अपनी) मूढता से व्याकुल, बुरी दृष्टियों के जाल में बँधे हुए, देवताओ और मनुष्यो की आँख प्रज्ञा के प्रदीप से शोघ्र शोध दो ।

समुदीक्षन्ते बहवो देवासुरनागयक्षगन्धर्वाः ।
द्रक्ष्यामो बोधिप्राप्तं निरुत्तरं धर्म श्रोष्यामः ॥538॥

बहुत से देवता, असुर, नाग, यक्ष तथा गन्धर्व प्रतीक्षा कर रहे हैं कि (कब) बोधि पा चुके हुए (तुमको) देखना नसीब होगा और कब सर्वोत्तम धर्म सुनने को मिलेगा ।

द्रक्ष्यति च भुजगराजो भवनं अवभाषितं तव शिरीये ।
करियति अनन्तपूजां पूरेहि व्रताशयस्तस्य ॥539॥

नागराज को (अपना) भवन तुम्हारी श्री के प्रकाश से भरा हुआ (कब) देखने को मिलेगा, (और उसमें तुम्हारी) अनन्त पूजा (कब) की जा सकेगी । (उसने जिस मतलब से व्रत किया है उसके) व्रत का (वह) मतलब पूरा करो ।

चत्वारि लोकपालाः ससैन्यकास्ते तव प्र-द्-ईक्षन्ते ।
दास्याम चतुरि पात्रां बोधिध्वजि पूर्णमनसस्य ॥540॥

वे चारो लोकपाल (अपनी-अपनी) सेना के साथ तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे है कि (हम कब) बोधिध्वज (= बोधिवृक्ष) के नीचे पूर्णमनः (कामना) वाले (तुमको) चार (भिक्षा–) पात्र देंगे ।

ब्रह्म प्रशान्तचारी उदीक्षते मैत्रवा-क्-करुणलाभी ।
अध्येषिष्ये नरेन्द्रं वर्तेन्ति निरुत्तरं चक्रं ॥541॥

अत्यन्त शान्त चर्या वाले, मैत्री से युक्त, करुणा के लाभी ब्रह्मा प्रतीक्षा कर रहे हैं कि सर्वोत्तम (धर्म–) चक्र के प्रवर्तन करने मे मनुष्यों के स्वामी से (कब) प्रार्थना करूँगा ।

बोधिपरिपाचिका[80]-पि च देवत अभिवुस्त[81] बोधिमण्डेस्मिन् ।
उत्पत्स्ये ऽयं सत्य ति द्रक्ष्याम्यभिवुध्यतो बोधिं ॥542॥

बोधि (के मार्ग) को पक्का करने वाले, तथा बोधि के सार में निवास करने वाले देवता (प्रतीक्षा मे) हैं कि इनके उत्पन्न हो जाने पर (हम इनको) बोधिका अभिसंबोधनं (=साक्षात्कार) करते हुए सचमुच देखें।

सत्यं भि (?सि)[82] बोधिसत्त्व अन्तःपुरिये क्रिया विदर्शेन्ति ।
पूर्वगम भव त्यं मा भेष्यसि पश्चिमस्तेषां ॥543॥

(यह बात) सच है कि बोधिसत्त्व अन्त.पुर की रानी के साथ (भोग-विलास-लीला की) क्रिया दिखाते हैं। तुम उनके अगुआ बने रहो, उनके पिछ-लग्गू मत रहो।

मञ्जुरुत मञ्जुघोषा स्मराहि दीपंकरस्य व्याकरणं ।
भूतं तथा अवितथा जिनघोषरुतमुदीरेहि ॥544॥[83]

हे मनोहर शब्द वाले, हे मनोहर वचन वाले, (तथागत) दीपंकर की भविष्य-वाणी का स्मरण करो। बुद्ध के शब्द को-बुद्ध के वचन को यथार्थ एवं सत्य कर दिखाओ।

॥ इति ललितविस्तरे संचोदनापरिवर्तो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥

■

80. बोधिपरिपाचिका के स्थान मे भोटानुसार पाठ बोधिपरिचारिका होगा। तुलनीय ब्यङ् छुब् प्रगॆन् ब्कुर् ब्येद् प ।
81. अभिवुस्त पाठ का शोधन पृष्ठ 446 पर अभितुस्तुवु है। भोटानुवाद ग्नस् र्गमस् से स्पष्ट है कि यहाँ धातु वस् है। अभि-वस्-त =अभिवुस्त (वकार का संप्रसारण 5 एवं व्यंजनभक्ति वकार) यह शुद्ध रूप था। संस्कृत रूप अभ्युषित है।
82. मूल, मि। पठनीय, भि अथवा सि। तुलनीय भोट, म्छिस् (=अस्ति, सन्ति)। द्रष्टव्य बु० हा० स० ग्रा० पृष्ठ 205 जहाँ सि आदि प्रयोगों का संग्रह है। भोटानुवाद से इस बात पर प्रकाश अवश्य पडता है कि यहाँ धातु अस्त्यर्थक है। भेष्यति आदि मे भि धातु दीख पडता है अस् धातु भी अनेक रूपों मे सकारमात्र है। पर भि तथा सि रूपों पर यत्न करना चाहिए। वैद्यपाठ हि अपनी मनगढ़न्त है।
83. इस परिवर्त मे आई गाथाओं की छाया यो है....

ये सत्त्वाग्रा दशदिग्लोके तेषु विशेषात् तत्र रतितूर्यैः। गाथागीता इमा रतिमधुरा संचोदयन्त्यो नरवरप्रवरम् ॥385॥ पूर्वं त्वया कृतोऽयं प्रणिधिर् दृष्ट्वा सत्त्वान् दुःखशतभरितान्। लयनं त्राणं जगद्-निजं (= नित्यं) शरणं भविष्यामि नाथो हितकरः परमः ॥386॥ साधो वीर स्मर चर्यां पूर्वां यस्ते-आसीज्जगद्धितप्रणिधिः। कालो वेला-अयं तव समयो निष्क्राम्य ऋषिवरप्रवर ॥387॥ यस्यार्थे ते (= त्वया) धनवराणि विविधानि त्यक्तानि पूर्वं शिरः करचरणाः। भविष्यामि बुद्धो नरामरदमनो लोकस्याग्रो गुणशतनिचितः ॥388॥ त्वं शीलेन व्रततपश्चरितः (= चरितव्रततपाः) त्वं क्षान्त्या जगद्धितकरणः। त्वं वीर्येण शुभगुणनिचितः (=निचितशुभगुणः) ध्याने प्रज्ञायां न तव समस्त्रिभवे ॥389॥ क्रोधाविष्टाः खिलमलबहुलास् ते मैत्र्या त्वया स्फुरिताः (= व्याप्ताः) सुगत। कारुण्यं ते बहुविधेऽबुधे मिथ्यात्ववति शुभगुणरहिते ॥390॥ पुण्यज्ञानः शुभनिचितात्मा ध्यानाभिज्ञः प्रतपसि विरजाः। अवभासयसि दशेमा दिशः मेघैर्मुक्तः शशीव विमलः ॥391॥ एते चान्ये बहुविधरुचिरास् तूर्यैर्घोषा जिनरुतरवनाः (=जिनशब्द ध्वननाः)। ये चोदयन्ति सुरनरमहितं निष्क्राम्यायं तव समयः ॥392॥

या नार्यो मुदितमनाः प्रसन्नचित्ताः वेणुभिर् मधुरमनोरमं रणन्ति। आवेशाद् दशदिग्गतानां जिनोत्तमानां गाथा इमा विविधा विचित्ररूपाः ॥393॥ पूर्वं तेऽयं प्रणिधिरभूद् वीर, दृष्ट्वेमां जनतां सदा-अनाथभूताम्। मोचिष्ये जरामरणात्तथान्यदुःखाद् बुद्ध्वा पदमजरं परम् अशोकम् ॥394॥

तत् साधो पुरवराद् इतः शीघ्रं निष्क्रम्य पूर्वर्षिभिश्चरितम्। आक्रम्य धरणीतलप्रदेशं संबुध्यस्वासदृशजिनज्ञानम् ॥395॥ पूर्वं त्वया धनरत्नानि विचित्राणि, त्यक्तान्यभवन् करचरणप्रियात्मानः। एषोऽद्य तव समयो महर्षे धर्मौघं जगतिविभजयानन्तम् ॥396॥ शीलं ते शुभविमलमखण्डम्, पूर्वं ते वरं सततमभूषीत्। शीलेन न ते सदृशो महर्षे मोचय जगद् विविधक्लेशेभ्यः ॥397॥ क्षान्त्या भवानां शतं चरितस्त्वम्, क्षान्तानि ते जगति विविधानि दुरुक्तानि। क्षान्त्या क्षमादमनिरतात्मा, नैष्क्रम्ये मतिं कुरु द्विपदेन्द्र ॥398॥ वीर्यं ते दृढमचलमकम्प्यं, पूर्वं ते पृथु सुगत, अभूत्। धर्षयित्वा नमुचि शठं ससैन्यं, शोषयिष्ये त्रीन् सकलान् अपयान् ॥399॥ यस्यार्थे व्रततपश्चरित (= व्रततपश्चरितवान्) त्वं, दग्ध्वा कलिकलुषक्लेशान्। त्वं वर्ष-अमृतजलम् अमोघं, तर्पय चिरतृषितानन्नाथान् ॥400॥ तां पूर्वां गिर वराम् अनुचिन्त्य, निष्क्राम्य पुरवराद् इतः शीघ्रं। बुद्ध्वा पदममृतमशोक, तर्पयिष्ये ऽमृतरसे (= अमृतरसेन) तृषार्तान् ॥401॥ प्रज्ञायाः परिचर्याकुशलस्त्वम्,

ज्ञानं ते पृथु विपुलमनन्तम् । मूढानां विमतिपथस्थितानां, प्रज्ञाभां शुभरुचिरां कुरु त्वम् ॥402॥ मैत्र्यां भवशतानि चरितस्त्वं कारुण्ये वरमुदितायामुपेक्षायाम् । यामेव वरचर्यां चरितस्त्वं, तामेव चर्यां विभज जगतः ॥403॥ एवं ता दशदिशा जिनतेजोभिः, गाथा वै गुणकुसुमविचित्राः । तूर्येभ्यो विविधमनुरुवन्ति, चोदयन्त्यः शयनगतं कुमारम् ॥404॥

यदा पुनः प्रमुदिता रतिकराः प्रमदाः, सुरुचिरं सुमधुरं प्राभाणिषुस्तूर्यैः । अथ जिना दशदिशि (=दशसु दिक्षु) सुरनरदमनाः । गिरं वराम् अनु-अराविषुस् ततोऽराविषुस्तूर्यैः ॥405॥ कृतास्त्वया हितकरेण बहुगुणेन जनतायाः, निजा नित्या जिनगुणा विचरता गतिपु । स्मर स्मर पूर्वाणि व्रततपश्चरणानि लघु व्रज द्रुमवरं स्पृश पदममृतम् ॥406॥ सुतृषिता नरामरा जिनगुणरहितास् त्वम् अतिप्रतिबलो ऽमृतरसदः । दशबलगुणधर-बुधजन-महित लघुं त्वं नरपते विभजामृतम् ॥407॥ अत्यजस्त्वं पुरा भवे धनमणिकनकानि, सखीं प्रियान् सुतान् महीं सनगरनिगमाम् । शिरोऽप्यत्यजः स्वकं करचरणनयनानि जगत्या हित करजिनगुणनिरत ॥408॥ पुरा त्वं नरवर शुद्धो नृपो यदाभूः, नरस्तवाभिमुखम् इमां गिरमवोचत् । देहि मह्यम् इमां महीं सनगरनिगमाम् अत्यजस्तदा प्रमुदितो न च मनः क्षुब्धम् ॥409॥ पुरा त्वं नरपतिः सुकृद् द्विजो यदाभूः, गुरुजनं पर्यचरो न च अद्रुहः परम् (=परस्मै) । अतिष्ठिपो द्विजवरान् बहुजनान् कुशले, च्युतो ततो भवगतो ऽमरपुरनिलयम् ॥410॥ पुरा त्वं नृपसुत ऋषिवरो यदाभूः, अच्छिदत् तव तनुरुहाणि (=अङ्गानि) कलिनृपो रुष्टः । कृता त्वया कालक्रिया न च मनः क्षुब्धं, पयस्तव-असुस्नुवत् तदा करतलचरणाभ्याम् ॥411॥ श्यामः पुनर् ऋषिसुतस् त्वं पुरा यदाभूः, व्रतरतो गुरुभृद् गिरिवरनिलये । हतोऽभवो नृपतिना विषकृतेन-इषुणा, कृपा तव तस्मिन् नृपे न च मनः क्षुब्धम् ॥412॥ पुरा त्वं गुणधरो मृगपतिर्यदाभूः, गिरिनदीबहुजले ढूयमानः (अथवा उह्यमानः) हितो ऽभवस् त्वया नर. स्थापितः स्थलपथे, उपानैषीत् तव-अरिं न च मनः क्षुब्धम् ॥413॥ पुरा त्वं नरवर, द्विजसुतो यदाभूः, मणिस्तव प्रपतितो जलधरे विपुले । च्युतः क्षीणः त्वं महोदधिम् अलमथा धनमणि दृढबल वृषभ ॥414॥ पुरा त्वं सुपुरुष ऋषिवरो यदाभूः, द्विजस्तव (समीपं) उपागतो भव मम शरणम् (इति) अभाणीत् ऋषे द्विजवर मम रिपुरुत्पन्नः । अत्यजस्त्वं स्वकां तनुं न च द्विजमत्यजः ॥415॥ श्याम ऋषिरुपगतः पुरा द्रुमनिलये, रुच्या ऽभाणीत् तुरुरुहाः कति-इमे गणयेः । सुविदिता

सुगणिता यथा तस्मिन् किसलयास् तथा तव-अवितथा समा गिरा रचिता ॥416॥ शुको लसो (=भास्वरो हरिद्रावर्णो वा) गुणधरः पुरा द्रुमे वसन् क्षयं गतो न चात्यजः कृतम् अस्मरः पूर्वम्। मरुत्पतिः प्रमुदितस् तव गुणं स्मरन् श्रियाकरोद् द्रुमवरं यथैव पूर्वम् ॥417॥ इति तव-असदृशानि व्रतपश्चरणानि बहुगुणस्य गुणधरस्य गुणपथे चरतः। (परि) त्यज्य मही सनगराम् अयं तव समयो लघु जगत् स्थापय जिनगुण (1) चरणे ॥418॥

यदा प्रमदा रत्नशुभवस्त्रभूषितगात्राः, वरप्रवराणि तूर्याणि सुमनोज्ञानि सम्प्राभाणिषुः। अथ दशसु दिक्षु जिनतेजोभिर्गाथा विचित्रा इत्यराविषुर्म-धुरास् तूर्यस्वरेभ्यः ॥419॥ तव प्रणिधिः पूर्वं बहुकल्पान् लोकप्रदीप जरामरणग्रस्तेऽहं लोके त्राणं भविष्यामि। स्मर पूर्व प्रणिधि नृसिंह यस्ते ऽभूत्, अयं समयस्त्वमिह द्विपदेन्द्र निष्क्रमणाय ॥420॥ भवनयुते त्वमिह बहुदानं दत्तवान् अनेकं धनकनकानि रत्नानि शुभवस्त्राणि रत्नानि विचित्राणि। करचरणौ नयने प्रियपुत्रा राज्यं समृद्धं त्वया त्यक्तं न, च ते खिलदोषो याचकेषु ॥421॥ शिविनृपतिस्त्वमिह शशिकेतुर् आसीत् सुदंष्ट्रः कृपः करुणामना मणिचूडश्चन्द्रप्रदीपः। इति प्रमुखीकृत्य दृढशूरो राजा सुनेत्रो बहु-नृपति नयुतो रतो दाने त्वं स विकुर्वन् (=विधिवरूपं धारयन्) ॥422॥ तव सुगत चरतो बहुकल्पान् शीलचर्या मणिरत्नसदृशी विमलाभूच् (अथवा विमलमणिरत्नसदृशी-अभूच्) छीलविशुद्धिः त्वया चरता चमर्या यथा बालं (=पुच्छं) रक्षितुं शील कृतस् त्वया-इह जगते विपुलार्थः शीलरतेन ॥423॥ गजवरस्त्वमिह रिपुणा लुब्धेन विद्ध इषुणा कृपया करुणा जनयित्वा अतिरौद्रे छादितः (=रक्षितः) सोऽभूत्। पर्यत्यजस्ते रुचिरौ शुभौ दन्तौ न चात्यजः शीलम् इति प्रमुखीकृत्य बहुस् तव शील-विकुर्वाणता (=शील-ऋद्धिः)॥424॥ त्वया सोढानि जगतोऽहितानि अने-कानि दुःखसहस्राणि बहूनि कटुकवचनानि बधो बन्वश्च क्षान्तिरतेन। परि-चारिताः पूर्वं नरा ये ते (=त्वया) सर्वसुखेन पुनर् वधकास् (=घातकास्) ते-इह-अभूवन् तच्च ते क्षान्तम् ॥425॥ गिरिप्रवरनिलये त्वं नाथ ऋक्षो यदासीर् हिमकीर्णाद् (=हिम-व्याप्तात्) सलिलाद्. भयभीतं त्वं नरं गृहीत्वा परिचरसि। (पर्यचारीर्) विविधैः फलमूलैः सर्वसुखेन, लघु वधकास्तव-उपनयति (उपानैषीत्) स च ते क्षान्तः ॥426॥ दृढं संस्थितमचलमकम्प्यं वीर्यं तवासीद् व्रततपोविविधगुणज्ञाने। कृतोऽबलो नमुचिर् वशवर्ती वीर्यबलेन, अयं समयस्तवेह नृसिंह निष्क्रमणाय ॥427॥

हयप्रवरस् त्वमिह पुरासीर्हेमसुवर्णो लघु गगने व्रजसि जातकृपो राक्षसीद्वीपम् । व्यसनगतान् मनुजान् तदा गृहीत्वा क्षेमेऽतिष्ठिपः, इति प्रमुखीकृत्य बहवस्तव वीर्य-विकुर्वणता: ॥428॥ दमशमथे नियमाद् हतक्लेशो ध्यायिनाम् अग्रो लघु चपलं विषयैर्-रतिलोलं चित्तं दान्त्वा (दमित्वा) । कृतः स्वगुणैस् त्वमिह जगतोऽर्थो ध्यानरतेन, अयं समयस् त्वमिह वरसत्त्व ध्यानविकुर्वणता: (कुर्याः) ॥429॥ त्वं पूर्वम् ऋषि सुस्थित आसीर् ध्यानरतो नृपरहितं। मनुजास् त्वा गृहीत्वा राज्येऽभ्यषिञ्चन् । दश-कुशले जनता स्थापिता ब्रह्मपथेषु च्युता मनुजा अव्राजिषुस् तदा सर्वे ब्रह्म-निकेतम् ॥430॥ दिशि विदिशि विविधगतिज्ञाने त्वं सुविधिज्ञ: परचरित-जगती-रुतज्ञाने, इन्द्रियज्ञाने । नयविनये विविधमतिधाराया पारगतस्त्वम् अयं समयस् त्वमिह नृपसूनो निष्क्रमणाय ॥431॥ त्वया पूर्व जनतामिमां दृष्ट्वा दृष्टिविपन्नां जरामरणविविधबहुदुःखे कृच्छ्रगता हि । भवविभवकरणे (= भवविनाशने) ऋजुमार्गं स्वयमनुबुध्य हत तमस् त्वयेह कृतो लोकेऽर्थो महान् ॥432॥ इति विविध रुचिरा गुणयुक्ता गाथा विचित्रा ततोऽराविषुस् तूर्यैजिनतेजसाऽचूचुदन् वीरम् । दुःखभरित (= पूर्ण) जनताम् इह दृष्ट्वा मा त्वमुपेक्षस्व, अयं समयस्तवेह वरबुद्धे निष्क्रमणाय ॥433॥

विचित्रवस्त्ररत्नहारगन्धमाल्यभूषिता प्रसन्नचिता जातप्रेमाणो नार्यः प्रहर्षिता: । प्रबोधयन्ति या अग्रसत्त्व तूर्यसप्रवादितैर् जिनानुभावेन—एवंरूपा गाथास् तूर्येभ्यो निरचारिषुः ॥434॥ यस्यार्थे त्वया कल्पान् अनेकान् त्यक्तस् त्यागो दुस्त्यजः, सुचरित शील क्षान्तिर् वीर्य ध्यानं प्रज्ञा भाविता । जगद्धितार्थ स ते कालः साम्प्रतमुपस्थितः, नैष्क्रम्यबुद्धिं चिन्तयाशु मा विलम्बस्व नायक ॥435॥ त्यक्तः पूर्वं रत्नकोशः स्वर्णरूप्यभूषणानि, इष्टा ते यज्ञा नैकरूपास् तासु तासु जातिसु । त्यक्ता भार्या पुत्रो दुहिता कायो राज्य जीवितम्, बोधिहेतोरप्रमेय त्यक्तो दुस्त्यजस्त्वया ॥436॥ अभूस्त्वम् अदीनपुण्यो राजा विश्रुतश्री , निमिंधरो निमिश्च कृष्णो ब्रह्मदत्त- केशरी । सहस्रयज्ञो धर्मचित्तो ऽर्चिष्मान् दृढ़धन सुचिन्तितार्थो दीनसत्त्वाय ते त्यक्तो दुस्त्यजः ॥437॥ सुतसोमो दीप्तवीर्य: पुण्यरश्मि: य: सोऽभू., महात्याग-वान् स्थामवान् य. कृतज्ञस् त्वमभूः । राजर्षिश् चन्द्रो रूपवान् शूरः सत्य-वर्धनः, सुभाषितंगवेषी राजा ऽऽसीः सुमतिश्च सुरतः ॥438॥ चन्द्रप्रभो विशेषगामी रेणुभूर् दिशापतिः प्रदानशूरः काशिराजो रत्नचूड शान्तग. । एते चान्ये पार्थिवेन्द्रा यैस्त्यक्तो दुस्त्यज., यथा ते वृष्टा त्यागवृष्टिः, एवं धर्मं वर्ष ॥439॥ दृष्टास्ते पूर्वं सत्वसारा गङ्गावालुकोपमा. कृता ते

तेषां बुद्धानां पूजा-अप्रमेयानां चिन्तया । वराग्रबोधिम् इच्छता सत्वमोक्ष-कारणाद् अयं स कालः प्राप्तः शूर निष्क्राम पुरोत्तमात् ॥440॥ प्रथमं ते ऽमोघदर्शी शालपुष्पैः पूजितः, विरोचनः प्रसन्नचित्तेन प्रेक्षितः क्षणान्तरे। हरीतकी चैका दत्ता दुन्दुभिस्वराय ते तृणोल्का गृहीत्वा धारिता ते दृष्टवा चन्दनं गृहम् ॥441॥ पुरप्रवेशे रेणुं दृष्ट्वा क्षिप्ता चूर्णमुष्टिका धर्मेश्वराय साधुकारो दत्तो धर्मं भाषमाणाय। नमोनमः (इति) समस्तदर्शिनं दृष्ट्वा वाग् भाषिता; महार्चिःस्कन्धे स्वर्णमाला क्षिप्ता हर्षितेन ते ॥442॥ धर्मध्वजो दशाप्रदानेन रोधो मुद्गमुष्ट्या, अशोकपुष्पेण ज्ञानकेतुर् यवागूपानेन सारथिः। रत्नशिखी च दीपदानेन पद्मयोनिर् औषधेन सर्वाभिभूश्च मुक्ताहारेण पद्मदानेन सागरः ॥443॥ वितानदानेन पद्मगर्भः, सिंहो वर्षसंस्तरेण सालेन्द्रराजो सर्पिदानेन क्षीरत्यागेन पुष्पितः। यशोदत्तः कुरण्टकपुष्पेण सत्यदर्शी भोजनेन कायप्रणामेन ज्ञानमेरुर् नागदत्तश् चीवरेण ॥444॥ अत्युच्चगामी चन्दनाग्रस् तिष्यस् तृणमुष्टिना, महाव्यूहः पद्मदानेन रश्मिराजो रत्नैः। शाक्यमुनि. सुवर्णमुष्ट्या, इन्द्रकेतुः संस्तुतेन, सूर्याननो ऽवतसकैः स्वर्णपट्टेन सुमतिः ॥445॥ नागाभिभूर् मणिप्रदानेन पुष्यश् चित्रपट(दूष्य)संस्तरेण भैषज्यराजो रत्नच्छत्रेण सिंहकेतु रासनेन गुणाग्रधारी रत्नजालेन सर्ववाद्येन काश्यपो गन्धाग्रेण चूर्णेन मुक्ताभिः, अर्चिःकेतुः पुष्पचैत्यकेन ॥446 ॥ अक्षोभ्यराजः कूटागारेण माल्येन लोकपूजितः, तगरशिखी च राज्यत्यागेन सर्वगन्धेन दुर्जयः। महाप्रदीप आत्मत्यागेन भूषणेन पद्मोत्तरः, विचित्रपुष्पैर्धर्मकेतु दीपकारी-उत्पलैः ॥447॥ एते चान्ये सत्त्वसारा ये ते पूर्वं पूजिता., नानारूपा विचित्राः पूजा अन्यान्याः कुर्वता। स्मर ते ऽतीतबुद्धा ताश्च पूजाः शास्तृणाम् अनाथाः सत्वाः शोकपूर्णा मा—उपेक्षया निष्क्राम ॥448॥ दीपंकरे ते दृष्टमात्रे लब्धा क्षान्तिरुत्तमा, अभिज्ञाः पञ्च-अच्युता से लब्धा आनुलोमिकाः। अत उत्तरम् एकैकबुद्धपूजाचिन्तया प्रवर्तिता असंख्यकल्पाः सर्वलोकधातुषु ॥449॥ क्षीणास्ते कल्पा अप्रमेयास्ते च बुद्धा निर्वृतास् तवापि सर्वे-आत्मभावाः (=कायाः) ते च नाम क्व गताः। क्षयान्तधर्माणः सर्वे भावा नास्ति नित्यः संस्कृतेऽनित्याः कामा राज्य भोगा निष्क्राम पुरोत्तमात् ॥450॥ जरा च व्याधिर् मृत्युर् आयन्ति दारुणा महाभया हुताशनं इवोग्रतेजा भीमः कल्पसंक्षये। क्षयान्तधर्माणः सर्वे भावा नास्ति नित्य. सस्कृते सुकृच्छ्रप्राप्तसत्त्वान् दृष्ट्वा निष्क्राम गुणधर ॥451॥

यदा नारिगणस् तूणवेणुरवै विविधैस्तूर्यैः प्रत्यबोधि। सुखशयनगतं मनुजाधिपतिं तदा तूर्यरवो ऽयं निश्चरति (स्म) ॥452॥ ज्वलितं त्रिभवं

जराव्याधिदुःखैर् मरणाग्निप्रदीप्तमनाथमिदम् । भवनिःसरणे सदा मूढं जगत् भ्रमति भ्रमरो यथा कुम्भगतः ॥453॥ अध्रुवं त्रिभवं शरदभ्रनिभं रङ्गसमा जगत्यूर्मिच्युतिः । गिरिनदीसमं लघुशीघ्रजवं व्रजत्यायुर्जगति यथा विद्युन्नभसि ॥454॥ भुवि देवपुरे त्र्यपायपथे भवतृष्णाविद्यावशा जनता । पर्यवर्तिष्ट पंचगतिष्वबुधा यथा कुम्भकारस्य हि चक्रभ्रमिः ॥455॥ प्रियरूपवरैः सह स्निग्धरुतैः शुभगन्धरसैर् वरस्पर्शसुखैः । परिषक्तमिदं कलिपाशे जगद् मृगलुब्धकपाशे यथैव कपिः ॥456॥ सभयाः सरणाः सदा वैरकरा बहुशोकोपद्रवाः कामगुणाः । असिधारासमा विषपत्रनिभाः, हीनाः (=त्यक्ताः) आर्यजनैर्यथा मीढघटाः (=मलमूत्रघटाः) ॥457॥ स्मृत्या शोककरास्तमःकरणा भयहेतुकरा दुःखमूलानि सदा । भवतृष्णालताया विवृद्धिकराः सभयाः सरणाः सदा कामगुणाः ॥458॥ यथा—अग्निखाता ज्वलिता सभयास् तथा कामा इमे विदिता आर्यजनैः । महापङ्कसमा असिसूनासमा मधु-दिग्धा-इव क्षुरधारा यथा ॥459॥ यथा सर्पशिरो यथा मीढघटास् तथा कामा इमे विदिता विदुषाम् । तथा शूलसमा द्विजपेशीसमा यथा श्वानः करङ्के सवैरमुखाः ॥460॥ उदकचन्द्रसमा इमे कामगुणाः प्रतिबिम्बम् इव गिरिघोषो यथा । प्रतिभाससमा नटरङ्गसमास् तथा स्वप्नसमा विदिता आर्यजनैः ॥461॥ क्षणिका वशिका इमे कामगुणास् तथा मायामरीचिसमा अलीकाः । उदकबुद्बुदफेनसमा वितथाः परिकल्पसमुच्छ्रिता बुद्धाः बुधैः ॥462॥ प्रथमे वयसि वररूपधरः प्रिया—इष्टा मता—इयं बालचरी । जराव्याधिदुःखैर्हततेजोवपुषं विजहति मृगा इव शुष्कनदीम् ॥463॥ धनधान्यवरो बहुद्रव्यो बली प्रिया-इष्टा मता-इयं बालचरी । परिहीणधनं पुनः कृच्छ्रगत विजहति नरा इव शून्याटवीम् ॥464॥ यथा पुष्पद्रुमः सफल इव द्रुमो नरो दानरतस्तथा प्रीतिकरः । धनहीनो जरार्तस्तु याचको भवति तदा ऽप्रियो गृध्रसमः ॥465॥ प्रभुर् द्रव्यवली वररूपधरः प्रियः सगमने-इन्द्रियप्रीतिकरः । जराव्याधिदुःखार्दितः क्षीणधनो भवति तदा ऽप्रियो मृत्युसमः ॥466॥ जरया जीर्णः समतीतवया द्रुमो विद्युद्धत इव यथा भवति । जराजीर्णो ऽगारं यथा सभयं जरानिःसरणं लघु ब्रूहि मुने ॥467॥ जरा शोषयति नरनारीगण यथा मालुलता घनशालवनम् । जरा वीर्यपराक्रमवेगहरा जरायां पङ्कनिमग्नो यथा पुरुषः ॥468॥ जरा रूपसुरूपविरूपकरी जरा तेजोहरा बलस्थामहरा सह सौख्यहरा परिभवकरी जरा मृत्युकरी जरा-ओजोहरा ॥469॥ बहुरोगशतैर् घनव्याधिदुःखैर् उपसृष्टं जगज् ज्वलन्त इव मृगाः । जराव्याधिगतं प्रसमीक्षस्व जगद्

दुःखनि सरणं लघु देशय ॥470॥ शिशिरे हि यथा हिमवातो महान् तृणगुल्मवनौषध्योजोहरः । तथौजोहरम् अहो व्याधिजरं परिहीयते— इन्द्रियरूपबलम् ॥471॥ धनधान्यमहार्थक्षयान्तकरं परितापकरं सह व्याधिजरम् । प्रतिघातकरं प्रियद्वेषकरं परिदाहकर यथा सूर्यो नभसि ॥472॥ मरणं च्यवनं च्युति. कालक्रिया प्रियद्रव्यजनेन वियोगः सदा । अपुनरागमनं । , असंगमनं द्रुमपत्रफलं नदीस्रोतो यथा ॥473॥ मरणं वशिताम् अवशीकुरुते मरणं हरते नदो दारु यथा । असहायो नरो व्रजति-अद्वितीयः स्वकर्मफलानुगतो विवशः ॥474॥ मरणं ग्रसते बहुप्राणिशतं मकर इव जलाहारिणं भूतगणम् । गरुड उरगं मृगराजो गजं ज्वलन इव तृणौषधिभूतगणम् ॥475॥ एभ्य ईदृशेभ्यो बहुदोषशतेभ्यो जगद् मोचयितुं कृतो यः प्रणिधिः । स्मर ता पूर्वां प्रणिधानचर्याम् अयं कालस् तवाभिनिष्क्रमितुम् ॥476॥

यदा नारीगणः प्रहर्षितो, बोधयति तूर्यैर्महामुनिं । तदा गाथा विचित्रा निरचारिषुः, तूर्यशब्दात् सुगतानुभावतः ॥477॥ लघु तद् भज्यते सर्वसंस्कृतम्, अचिरस्थायि नभसीव विद्युत् । अयं कालस्तवोपस्थितः, समयो निष्क्रमणाय सुव्रत ॥478॥ संस्कारा अनित्या अध्रुवा आमकुम्भोपमा भेदनात्मकाः । परकीययाचितोपमाः पाशुनगरोपमास् तावत्कालिकाः ॥ 479॥ सस्काराः प्रलोपधर्माण इमे वर्षाकाले चलितमिव लेपनम् । नदीकूल-मिव सवालुकं प्रत्ययाधीनाःस्वभावदुर्बलाः ॥480॥ संस्कारा प्रदोपार्चिर्वत् क्षिप्रोत्पत्तिनिरोधधर्मकाः । अनवस्थिता मारुतोपमाः फेनपिण्डा इवासारा दुर्बला ॥481॥ संस्कारा निरीहाः शून्यकाः कदलीस्कन्धसमा निरीक्षातः (=परीक्षातः) । मायोपचित्तमोहना बालोल्लापन-रिक्तमुष्टिवत् ॥482॥ हेतुभिश्च प्रत्ययैश्च सर्वसंस्कारगतं प्रवर्तते । अन्योन्यप्रतीत्यहेतुतस् तदिद बालजनो न बुध्यते ॥483॥ यथा मुञ्जं प्रतीत्य बल्बजं रज्जुर्व्यायामबलेन वर्तिता । घटीयन्त्रं सचक्रं वर्तते, एतदेकैकशो नास्ति वर्तनम् ॥484॥ तथा सर्वभवाङ्गवर्तिता अन्योन्योपचयेन निश्रिताः । एकैकशस् तेषु वर्तनं पूर्व-परान्तत नोपलभ्यते ॥485॥ बीजस्य सतो यथाङ्कुरो न च यद् बीज स चैवाङ्कुरः । न चान्यस्ततो न चैव तत् (=न च तदेव) एवमनुच्छेदाशाश्वत-तधर्मता ॥486॥ संस्कारा अविद्याप्रत्ययास् ते संस्कारा न सन्ति तत्त्वतः । संस्कारा अविद्या चैव हि शून्या एके प्रकृत्या निरीहकाः ॥487॥मुद्राया प्रति-मुद्रा मुद्रासक्रान्तिर्न चोपलभ्यते । न च तत्र न चैवान्यतः, एव संस्कारा अनुच्छेदा अशाश्वताः ॥488॥ चक्षुश्च प्रतीत्य रूपं च चक्षुर्विज्ञानमिहोपजायते । न

चक्षू रूपनिश्रितं रूपसंक्रान्तिर्न चैव चक्षुषि ।।489।। नैरात्म्याशुभाश्च धर्मा इमे पुनर् आत्मेति शुभाश्च कल्पिताः । विपरीतमसद्विकल्पितं चक्षुर्विज्ञानं तत उपजायते ।।490।। विज्ञाननिरोधसम्भवं विज्ञानमुत्पादव्ययं विपश्यति । अगतं कुह चानागत शून्य मायोपमं योगी पश्यति ।।491।। अरणि यथा चोत्तरारणि हस्तव्यायामं त्रिभिः संगति । इति प्रत्ययतोऽग्निर् जायते । कृतार्थो लघु निरुध्यते ।।492।। अथ पण्डितः कश्चिद् मृगयते कुतोऽयम् आगतः कुत्र याति वा । विदिशो दिशः सर्वाः मृग्यतो नागतिर्नास्य गतिश्च लभ्यते ।।493।। स्कन्धायतनानि धातवस् तृष्णा, अविद्या, कर्म इति प्रत्ययाः । सामग्री तु सत्त्वसूचना स च परमार्थतो नोपलभ्यते ।।494।। कण्ठोष्ठं प्रतीत्य तालुकं जिह्वापरिवर्तें ऽक्षराणि । न च कण्ठगतानि न तालुके ऽक्षरमेकैकं तु नोपलभ्यते ।।495।। सामग्री प्रतीत्य च सा वाग् मनोबुद्धिवशेन निरचारीत् । मनोवाचावदृश्यरूपे बाह्यतो ऽभ्यन्तरतो नोपलभ्येते ।।496।। उत्पादव्ययं विपश्यन् वाग्रुतघोषस्वरस्य पण्डितः । क्षणिका वशिका तदादर्शत् सर्वां वाचं प्रतिश्रुतकोपमाम् ।।497।। यथा तन्त्री प्रतीत्य दारु च हस्तव्यायाम त्रिभिः सगतिम् । तुणवीणासुघोषकादिभिः शब्दो निश्चरति तदुद्भवः ।।498।। अथ पण्डितः कश्चिद् मृगयते कुतोऽयमागतः कुत्र याति वा । विदिशो दिशः सर्वा मृग्यतो शब्दगमनागमनं न लभ्यते ।।499।। तथा हेतुभिः प्रत्ययैश्च सर्वसंस्कारगतं प्रवर्तते । योगी पुनर्भूतदर्शनात् शून्यान् संस्कारान् निरीहान् पश्यति ।।500।। स्कन्धायतनानि धातवः शून्या अध्यात्मिकाः शून्या बाह्यकाः । सत्वात्मविविक्तमनालया धर्माकाशस्वभावलक्षणाः ।।501।। इदमीदृश धर्मलक्षणं बुद्ध दीपकरदर्शने त्वया । अनुबुद्ध स्वयं यथात्मना तथा बोधय सदेवमानुषान् ।।502।। विपरीताभूतकल्पितैः, रागदोषैः (=रागद्वेषैः) परिदह्यते जगत् । कृपामेघात् शमाम्बुशीतलां मुञ्च धाराममृतस्य नायक ।।503।। त्वया यस्य कृते पण्डितं दत्तं दानं बहुकल्पकोटिषु । संप्राप्य हि बोधिमुत्तमाम् आर्यधनेन संग्रहं करिष्ये प्राणिनाम् ।।504।। ता पूर्वचर्यामनुस्मर, आर्यधनहीनान् दरिद्रान् दुःखितान् मोपक्षस्व सत्त्वसारथे, आर्यधनेन संग्रह तेषां कुरु ।।505।। त्वया शीलं सदा सुरक्षित पिधानार्थायापायभूमीनाम् । स्वर्गामृतद्वारमुत्तमं दर्शयिष्ये बहुसत्त्वकोटीनाम् ।।506।। ता पूर्वचर्यामनुस्मर बद्ध्वा (=आवृत्य) द्वार निरयभूमीनाम् । स्वर्गामृतद्वारं मुञ्च (=विवृणु) कृत्य (तु) शीलवतो विचिन्तित ।।507।। त्वया क्षान्तिः सदा सुरक्षिता प्रतिघक्रोधशमार्थं देहिनाम् । भवार्णवात् सत्त्वान् तारयित्वा

स्थापयिष्ये शिवे क्षेमे निर्ज्वरे ॥508॥ तां पूर्वचर्यामनुस्मर वैरव्यापाद-विहिंसाकुलान् मोपेक्षस्व विहिंसाचारिणः क्षान्तिभूमौ स्थापयेदं जगत् ॥509॥ त्वया वीर्यं यदर्थं सेवितं धर्मनावं समुदानीय (=संसाध्य, निर्माय)। उत्तार्य जगत् भवार्णवात् स्थापयिष्ये शिवे क्षेमे निर्ज्वरे ॥510॥ तां पूर्वचर्यामनुस्मर चतुरोघैरिवोह्यते जगत्। लघु वीर्येण बलेन पराक्रमेण सत्वान् संतारयानायकान् ॥511॥ त्वया ध्यानं क्लेशधर्षणं भावितं यस्य कृते सूरत। भ्रान्तेन्द्रियान् प्राकृतेन्द्रियान् कपिचित्तान् अर्थपथे स्थापयिष्येऽहम् ॥512॥ ता पूर्वचर्यामनुस्मर क्लेशजालैरिहाकुलं जगत्। मोपेक्षस्व क्लेशोपद्रुतान् ध्यान एकाग्रे स्थापयेमां प्रजाम् ॥513॥ त्वया प्रज्ञा पुरा सुभाविता मोहाविद्यान्धतमोवृताय जगते बहुधर्मशताभिलोकनाय दास्ये चक्षुस् तत्त्वदर्शनम् ॥514॥ तां पूर्वचर्यामनुस्मर मोहाविद्यान्धतमोवृताय जगते। देहि वरा प्रज्ञां सुप्रभां धर्मचक्षुर्विमलं निरञ्जनम् ॥515॥ इमा ईदृश्यो गाथा निरचारिषुस् तूर्यसंगीतिरवाद् नारीणाम्। याः श्रुत्वा मिद्धं (=तन्द्रां) विवर्ज्य चित्तं प्रेष्यति वराग्रबोधये ॥516॥

उदारेण छन्देन चाशयेन, अध्याशयेन करुणया प्राणिषु उत्पद्यते चित्तं वराग्रबोधये शब्द् एवं रूपस्तूर्येभ्यो निरचारीत् ॥517॥ श्रद्धा प्रसादो ऽधिमुक्तिर्गौरवं निर्मानिताऽवनमनं गुरूणाम्। परिप्रश्नता किंकुशलंगवेषणा, अनुस्मृतिभवना (इति) शब्दो निरचारीत् ॥518॥ दानं दमः संयमः शीलशब्दः, क्षान्त्याः शब्दस् तथा वीर्यशब्दः। ध्यानभिनिर्हारसमाधिशब्दः प्रज्ञाया उपायस्य च शब्दो निरचारीत् ॥519॥ मैत्र्याः शब्दः करुणायाः शब्दो, मुदिताया उपेक्षाया अभिज्ञाशब्दः। चतुःसंग्रहवस्तुविनिश्चयेन सत्त्वानां परिपाचनशब्दो निरचारीत् ॥520॥ स्मृतेरुपस्थानप्रभेदशब्दः सम्यक्प्रहाणास्तथा ऋद्धिपादाः पञ्चेन्द्रियाणि पञ्च बलप्रभेदा बोध्यङ्गानि (इति) शब्दस्तूर्येभ्यो निरचारीत् ॥521॥ अष्टाङ्गिकमार्गवरप्रभेदः शमथस्य शब्दोऽथ विपश्यनायाः। अनित्यदुःखात्र्यनात्मशब्दोऽशुभातिशब्दस् तूर्येभ्यो निरचारीत् ॥522॥ विरागशब्दश्च विवेकशब्दः क्षयज्ञानशब्दो ऽनुत्पादशब्दः। अनिरोधशब्दश्चानालयं च निर्वाणशब्दस् तूर्येभ्यो निरचारीत् ॥523॥ इमे-एवंरूपाऽतूर्येभ्यः शब्दाः सबोधिसत्त्वस्यानुभावेन निरचारिषुः। याश्श्रुत्वा सर्वाः प्रमदा अनुशिक्षिता वराग्रसत्त्वे प्रणिदधति बोधये ॥524॥

च्युतिर् दर्शिताऽतिशया जन्म च संदर्शितं पुरुषसिंह। अन्तःपुरं विदर्शितं कृतानुवृत्तिस्त्वया लोके ॥525॥ परिपाचितास् ते बहवो देवा

मनुजा लोके धर्ममनुप्राप्य । अयमद्य कालसमयो नैष्क्रम्ये मतौ विचिन्तय ॥526॥ न हि बद्धो मोचयते न चान्धपुरुषेण दर्श्यते मार्गः । मुक्तस्तु मोचयते सचक्षुषा दर्श्यते मार्गः ॥527॥ ये सत्वाः कामदासा गृहधनपुत्र-भार्यापरिगृद्धाः । ते त्वच् छिक्षमाणा नैष्क्रम्यमतौ स्पृहां कुर्युः ॥528॥ ऐश्वर्यं कामक्रीडां चतुरो द्वीपान् सप्तरत्नानि विहाय । निष्क्रान्तं त्वां विदित्वा स्पृहयेत् सनरामरो लोकः ॥529॥ किं चापि ध्यानसौख्यैर्विहरसि धर्मैर्नचासि कामरतः । अथ पुनश् चिरप्रसुप्तान् बोधय मरु-मानुष (=देवमानुष) शतानि ॥530॥ अतिपतति (यथारुतं तु अतिपतितं) यौवनमिदं गिरिनदी यथा चञ्चलप्रचलवेगा । गतयौवनस्य भवतो नैष्क्रम्य-मतिर्न शोभते ॥531॥ तत् साधु तरुणरूपे प्रथमे वरयौवनेऽभिनिष्क्रम्य । उत्तारय प्रतिज्ञा कुरुष्व कार्यं सुरगणानाम् ॥532॥ न च कामगुणरतिभिस् तृप्तिर्लवणोदधेर्यथाम्भोभिः । ते तृप्ता येषां प्रज्ञा, आर्या लोकोत्तरा विरजाः ॥533॥ त्वमिह प्रियो मनोज्ञो राज्ञः शुद्धोदनस्य राष्ट्रस्य । शतपत्रसदृश-वदन, नैष्क्रम्यमतिं विचिन्तय ॥534॥ आदीप्तान् क्लेशतापैर् अनि सरणैर् गाढबन्धनैर्बद्धान् । शीघ्रं प्रमोक्षमार्गे स्थापय शान्तेऽसमवीर ॥535॥ त्वं वैद्यो धातुकुशलश् चिरातुरान् सत्वान् रोगसंस्पृष्टान् । भैषज्यधर्मयोगै-र्निर्वाणसुखे स्थापय शीघ्रम् ॥536॥ अन्धतमसानाम् अनयनानां मोहाकुलानां दृष्टिजालबद्धानाम् । प्रज्ञाप्रदीपेन चक्षुः शोधय नरामराणां (अथवा नरमरुताम्) ॥537॥ समुदीक्षन्ते बहवो देवासुरनागयक्षगन्धर्वाः । द्रक्ष्यामो बोधिप्राप्तं निरुत्तर धर्मं श्रोष्यामः ॥538॥ द्रक्ष्यति च भुजगराजो भवनमभासितं तव श्रिया । क्रियते ऽनन्तपूजा पूरय व्रताशयस्तस्य ॥539॥ चत्वारो लोकपालाः ससैन्यकास्ते तव प्रेक्षन्ते (=प्रतीक्षन्ते) दास्यामश् चत्वारि पात्राणि बोधिध्वजे पूर्णमनसः ॥540॥ ब्रह्मा प्रशान्तचारी, उदीक्षते मैत्रीवान् करुणालाभी । अध्येषयिष्ये नरेन्द्रं वर्तयन्तं निरुत्तरं चक्रम् ॥541॥ बोधिपरिपाचिका अपि च देवता अभ्युपिता बोधिमण्डे । उत्पत्स्यतेऽय सत्वमिति द्रक्ष्यामोऽभिबुध्यन्त बोधिम् ॥542॥ सत्वम् अस्ति बोधिसत्वा' अन्तःपुरिकाया क्रिया विदर्शयन्ति । पूर्वंगमो भव त्वं मा भूः (यथारुतं तु भविष्यसि) पश्चिमस्तेषाम् ॥543॥ मञ्जुरुत मञ्जुघोष स्मर दीपंकरस्य व्याकरणम् । भूतं तथा ऽविलथं जिनघोषनयनीयम ॥544॥

॥१४॥

॥स्वप्नपरिवर्त॥

मुद्रित ग्रन्थ 185 (पंक्ति 18)—197 (पंक्ति 21)
भोटानुवाद 141क (पंक्ति 7)—148 (पंक्ति 5)

॥ १४ ॥

॥ स्वप्नपरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओं, उस देवपुत्र के द्वारा प्रेरित हो बोधिसत्व ने राजा शुद्धोदन को यह स्वप्न दिखाया =141 ख= जिसको सोए हुए स्वप्न के भीतर पड़े हुए राजा शुद्धोदन ने देखा। (उन्होने) बोधिसत्व को[1] प्रशान्त हो रही रात मे[1] देवगणों से घिरे-घिरे (घर से) निकले हुए (–186–) तथा (घर से) निकल कर काषाय वस्त्र धारण कर प्रव्रजित होते हुए देखा। वे जग पडे। झटपट कञ्चुकी से पूछा। कुमार अन्तःपुर मे है न? उसने कहा। हे देव है। तब अन्तःपुर मे (विराजमान होते हुए भी) राजा शुद्धोदन के हृदय में शोक का काँटा चुभ गया। (उनके मन मे आया कि) ये जो पहले से ही निमित्त दिखाई पड़ रहे है (वे इस बात की मानो सूचना दे रहे है कि) ये कुमार अवश्य (घर से) निकलेंगे।

2. उन्होंने सोचा। कुमार को कभी भी उद्यान भूमि की ओर निकल कर नहो जाना चाहिए। स्त्रीगण के बीच आसक्त होकर यही ही रमण करते रहेगे (तो घर से) नही निकलेंगे।

3. इसके बाद राजा शुद्धोदन ने कुमार के सब प्रकार से भोग-विलास के लिए ऋतु-ऋतु के अनुकूल तीन महल बनवाए—ग्रैष्मिक (गर्मी में रहने का) वार्षिक (वर्षा में रहने का), हैमन्तिक (शीतकाल में रहने का)। उनमे जो गर्मी में रहने का महल था, वह खूब ठंडा था, वर्षा में रहने का जो महल था, वह साधारण अर्थात् न ठंडा न गरम था, शीतकाल मे रहने का जो महल था वह स्वभाव से उष्ण था। एक-एक महल की सीढियों को पाँच-पाँच सौ आदमी उठाकर लगाते थे और नीचे रखते थे। उनको यों उठाकर लगाने तथा नीचे रखने का =142 क= शब्द आधे योजन तक सुनाई पड़ता था। इससे कुमार का अनजाने (घर से) निकलना न हो सकता था। नैमित्तिको (निमित्त के जानकारों) तथा वैपञ्चिकों (भविष्य की व्याख्या करने वालों) ने भविष्यवाणी

1....1. मूल, प्रशान्तायां रात्रौ। भोट, मृछन् मो मि ञल् चंम् न्। द्रष्टव्य प्रथम परिवर्त की टिप्पणी 62....62।

कर रक्खी थी कि कुमार मंगलद्वार से निकलेंगे। इसलिए राजा ने मंगलद्वार के लिए बड़े-बड़े किवाड़े बनवाए। एक-एक किवाड़े को पाँच-पाँच सौ आदमी खोलते और बंद करते थे। उनका शब्द आधे योजन तक जाता था। और उन (बोधिसत्त्व) के लिए अनुपम पाँच कामगुणों (की सामग्री) को इकट्ठा किया गया था। गाने-बजाने-नाचने से सदा ही युवतियाँ (उनकी) सेवा करती थी।

4. हे भिक्षुओ, इसके अनन्तर बोधिसत्त्व ने सारथि से कहा हे सारथे, रथ जोड़ो। उद्यानभूमि जाऊँगा। तब सारथि ने राजा (–187–) शुद्धोदन के पास जाकर यों कहा—हे देव, कुमार उद्यानभूमि की ओर निकल कर जाने वाले हैं।

5. तदनन्तर राजा शुद्धोदन ने सोचा। मैंने सुन्दर भूमि देखने के लिए कुमार को कभी भी उद्यानभूमि की ओर निकल कर जाने नहीं दिया है। अब मुझे कुमार को उद्यानभूमि की ओर निकल कर जाने देना चाहिए। उससे स्त्रीगण के साथ घिरे हुए कुमार को आनन्द मिलेगा। (और वे घर से) न निकलेंगे।

6. तब फिर राजा शुद्धोदन ने बोधिसत्त्व के स्नेह से, (उनके प्रति होने वाले) बहुमान के कारण नगर में डुग्गी पिटवाई कि कुमार सुन्दर भूमि को देखने के लिए (आज से) सातवें दिन उद्यानभूमि की ओर =142ख= बाहर निकलेंगे। इसलिए आप लोगों को चाहिए कि मन को न भाने वाली सब (वस्तुएँ) हटा दें, ताकि कुमार अच्छी न लगने वाली (वस्तु) न देखें। मन को भाने वाली एवं विषयों में रमाने वाली (वस्तुओं) को जुटाएँ।

(प्रथम निमित्त वृद्ध पुरुष-दर्शन)

7. उसके बाद सातवें दिन सब-का-सब नगर सजाया गया। उद्यानभूमि भी सजाई गई। नाना प्रकार के रंगीन धुस्सों के बने चँदवे लगाए गए। छतरियों से, ध्वजाओं तथा पताकाओं से उसे विभूषित किया गया। जिस मार्ग से बोधिसत्त्व को जाना था, उस मार्ग पर जल का छिड़काव किया गया, झाड़ा-पोंछा गया, सुगन्धित जल सब ओर डाला गया, मोती जैसे फूल बिखेरे गए, अनेक गन्ध-घटियों के द्वारा धूप दी गई, जलपूर्ण कलश सजाए गए, केले के वृक्ष रोपे गए, अनेक विचित्र वस्त्रों के बने चँदवे ताने गए, रत्नों से जड़ी हुई छोटी-छोटी घंटियों के जाल, हार एवं अर्धहार लटकाए गए तथा चतुरंगिणी सेना रची गई। अन्तःपुर में कुमार को (उनका) परिवार (=सेवक-सेविका-समूह) सजाने लग गया। (और शुद्धवास निकाय के देवगण बोधिसत्त्व को उड़ाने की बात सोचने लग गए)। उस समय जब बोधिसत्त्व बड़े दल-बल के साथ नगर के पूर्व द्वार से

उद्यानभूमि के लिए बाहर निकल रहे थे, तब बोधिसत्त्व के प्रभाव से ही शुद्धा-वासनिकाय के देवपुत्रों ने उस मार्ग में, मार्ग के सामने, एक पुरुष दिखाया, जो जीर्ण, बूढ़ा, ·बड़ी आयु का, नसों से भरे शरीर वाला, पोपला (—188—), झुर्री भरी देह वाला, पके केश वाला, कुबड़ा, काठ की मेहराव जैसा टेढ़ा, टूटे (शरीर) का, लाठी टेके हुए, =143क= व्याकुल, बीती जवानी का खरखराहट से रुँधे कण्ठ वाला, शरीर के अगले भाग से लाठी का सहारा ले कर सब अंगों और प्रत्यङ्गों से थर-थरा रहा था।

8. इसके बाद बोधिसत्त्व ने जानते हुए ही सारथि से यह कहा—

(छन्द वसन्ततिलका)

किं सारथे पुरुष दुर्बल अल्पस्थामो
उच्छुष्कमांसरुधिरत्वच स्नायुनद्धः।
श्वेतंशिरो विरलदन्त कृशाङ्गरूपो
आलम्ब्य दण्ड व्रजते असुखं स्खलन्तः ॥545॥

हे सारथे, दुबला, थोड़े सामर्थ्यवाला, सूखे मांस, लोहू, एवं खाल का, नसों से बँधा हुआ, सफेद सिर का, बिरले दाँतो वाला, दुबले-पतले अंगों वाला, (वह) आदमी क्यों लाठी टेक कर दु ख के साथ गिरता-पड़ता जा रहा है।

9. सारथि ने कहा—

एषो हि देव पुरुषो जरयाभिभूतः
क्षीणेन्द्रियः सुदुःखितो बलवीर्यहीनः।
बन्धूजनेन परिभूत अनाथभूतः
कार्यासमर्थ अपविद्धु वनेव दारुः ॥546॥

हे देव, यह पुरुष बुढ़ापे से हार खाया हुआ, क्षीण इन्द्रियों का, अत्यन्त दुःखी, बल से तथा पौरुष से हीन, बन्धु जनों द्वारा ठुकराया गया, अनाथ हुआ, कुछ भी करने-धरने मे असमर्थ, वन मे फेंक दिए गए काठ जैसा (निकम्मा) है।

10. बोधिसत्त्व ने कहा—

कुलधर्म एष अयमस्य हि तं भणाहि
अथवापि सर्वजगतोऽस्य इयं ह्यवस्था।
शीघ्रं भणाहि वचनं यथ भूपमेतत्
श्रुत्वा तथार्थमिह योनिश चिन्तयिष्ये ॥547॥

बोलो, इसका यह क्या कुलधर्म है? अथवा क्या सारे जगत् का यही हाल है? यहाँ जैसा सच हो (वैसी) बात शीघ्र कह डालो। सुन कर यहाँ यथार्थ (=सत्यवस्तु) का आमूल चिन्तन करूँगा।

कर रक्खी थी कि कुमार मंगलद्वार से निकलेंगे। इसलिए राजा ने मंगलद्वार के लिए बडे-बड़े किवाड़े बनवाए। एक-एक किवाडे को पाँच-पाँच सौ आदमी खोलते और बंद करते थे। उनका शब्द आधे योजन तक जाता था। और उन (बोधिसत्त्व) के लिए अनुपम पाँच कामगुणों (की सामग्री) को इकट्ठा किया गया था। गाने-बजाने-नाचने से सदा ही युवतियाँ (उनकी) सेवा करती थी।

4. हे भिक्षुओ, इसके अनन्तर बोधिसत्त्व ने सारथि से कहा हे सारथे, रथ जोडो। उद्यानभूमि जाऊँगा। तब सारथि ने राजा (–187–) शुद्धोदन के पास जाकर यों कहा—हे देव, कुमार उद्यानभूमि की ओर निकल कर जाने वाले हैं।

5. तदनन्तर राजा शुद्धोदन ने सोचा। मैंने सुन्दर भूमि देखने के लिए कुमार को कभी भी उद्यानभूमि की ओर निकल कर जाने नही दिया है। अब मुझे कुमार को उद्यानभूमि की ओर निकल कर जाने देना चाहिए। उससे स्त्रीगण के साथ घिरे हुए कुमार को आनन्द मिलेगा। (और वे घर से) न निकलेंगे।

6. तब फिर राजा शुद्धोदन ने बोधिसत्त्व के स्नेह से, (उनके प्रति होने वाले) बहुमान के कारण नगर में डुग्गी पिटवाई कि कुमार सुन्दर भूमि को देखने के लिए (आज से) सातवें दिन उद्यानभूमि की ओर =142ख= बाहर निकलेंगे। इसलिए आप लोगों को चाहिए कि मन को न भाने वाली सब (वस्तुएँ) हटा दें, ताकि कुमार अच्छी न लगने वाली (वस्तु) न देखें। मन को भाने वाली एवं विषयों में रमाने वाली (वस्तुओं) को जुटाएँ।

(प्रथम निमित्त वृद्ध पुरुष-दर्शन)

7. उसके बाद सातवें दिन सब-का-सब नगर सजाया गया। उद्यानभूमि भी सजाई गई। नाना प्रकार के रंगीन घूसों के बने चँदवे लगाए गए। छतरियों से, ध्वजाओं तथा पताकाओं से उसे विभूषित किया गया। जिस मार्ग से बोधिसत्त्व को जाना था, उस मार्ग पर जल का छिड़काव किया गया, झाड़ा-पोंछा गया, सुगन्धित जल सब ओर डाला गया, मोती जैसे फूल बिखेरे गए, अनेक गन्ध-घटियों के द्वारा धूप दी गई, जलपूर्ण कलश सजाए गए, केले के वृक्ष रोपे गए, अनेक विचित्र वस्त्रों के बने चँदवे ताने गए, रत्नों से जड़ी हुई छोटी-छोटी घंटियो के जाल, हार एवं अर्धहार लटकाए गए तथा चतुरंगिणी सेना रची गई। अन्तःपुर में कुमार को (उनका) परिवार (=सेवक-सेविका-समूह) सजाने लग गया (और शुद्धवास निकाय के देवगण बोधिसत्त्व को उड़ाने की बात सोचने लग गए)। उस समय जब बोधिसत्त्व बड़े दल-बल के साथ नगर के पूर्व द्वार से

उद्यानभूमि के लिए बाहर निकल रहे थे, तब बोधिसत्त्व के प्रभाव से ही शुद्धावासनिकाय के देवपुत्रों ने उस मार्ग में, मार्ग के सामने, एक पुरुष दिखाया, जो जीर्ण, बूढ़ा, बड़ी आयु का, नसों से भरे शरीर वाला, पोपला (–188–), झुर्री भरी देह वाला, पके केश वाला, कुबड़ा, काठ की मेहराब जैसा टेढ़ा, टूटे (शरीर) का, लाठी टेके हुए, =143क= व्याकुल, बीती जवानी का खरखराहट से रुँधे कण्ठ वाला, शरीर के अगले भाग से लाठी का सहारा ले कर सब अंगों और प्रत्यङ्गों से थर-थरा रहा था।

8. इसके बाद बोधिसत्त्व ने जानते हुए ही सारथि से यह कहा—

(छन्द वसन्ततिलका)

किं सारथे पुरुष दुर्बल अल्पस्थामो
उच्छुष्कमांसरुधिरत्वच स्नायुनद्धः।
श्वेतंशिरो विरलदन्त कृशाङ्गरूपो
आलम्ब्य दण्ड व्रजते असुखं स्खलन्तः ॥545॥

हे सारथे, दुबला, थोड़े सामर्थ्यवाला, सूखे मांस, लोहू, एवं खाल का, नसों से बँधा हुआ, सफेद सिर का, बिरले दाँतो वाला, दुबले-पतले अंगों वाला, (वह) आदमी क्यों लाठी टेक कर दुःख के साथ गिरता-पड़ता जा रहा है।

9. सारथि ने कहा—

एषो हि देव पुरुषो जरयाभिभूतः
क्षीणेन्द्रियः सुदुःखितो बलवीर्यहीनः।
बन्धूजनेन परिभूत अनाथभूतः
कार्यासमर्थ अपविद्धु वनेव दारुः ॥546॥

हे देव, यह पुरुष बुढ़ापे से हार खाया हुआ, क्षीण इन्द्रियों का, अत्यन्त दुःखी, बल से तथा पौरुष से हीन, बन्धु जनों द्वारा ठुकराया गया, अनाथ हुआ, कुछ भी करने-धरने में असमर्थ, वन में फेंक दिए गए काठ जैसा (निकम्मा) है।

10. बोधिसत्त्व ने कहा—

कुलधर्म एष अयमस्य हि तं भणाहि
अथवापि सर्वजगतोऽस्य इयं ह्यवस्था।
शीघ्रं भणाहि वचनं यथ भूपमेतत्
श्रुत्वा तथार्थमिह योनिश चिन्तयिष्ये ॥547॥

बोलो, इसका यह क्या कुलधर्म है ? अथवा क्या सारे जगत् का यही हाल है ? यहाँ जैसा सच हो (वैसी) बात शीघ्र कह डालो। सुन कर यहाँ यथार्थ (=सत्यवस्तु) का आमूल चिन्तन करूँगा।

11. सारथि ने कहा—

नैतस्य देव कुलधर्म न राष्ट्रधर्मः
सर्वे जगस्य जर यौवनु धर्षयाति ।
(–189–) तुभ्यं पि मातृपितृबान्धवज्ञातिसंघो
जरया अमुक्त न हि अन्य गतिर्जनस्य ।।548।।

हे देव, यह इसका न तो कुलधर्म है, और न राष्ट्रधर्म । सारे लोक की जवानी को बुढापा दबोच बैठता है । तुम्हारे माँ-बाप, भाई-बन्द, और जात-जमात को भी (इससे) छुटकारा नही है । पैदा होने वाले की और गति नही है ।

12. बोधिसत्त्व ने कहा—

धिक सारथे अबुधबालजनस्य बुद्धिः
=143ख= यद्यौवनेन मदमत्त जरां न पश्येत् ।
आवर्तयाशु मि रथं पुनरहं प्रवेक्ष्ये
किं मह्य क्रीडरतिभिर्जरयाश्रितस्य ।।549।।

हे सारथे, मूर्ख एवं बच्चे—जैसे लोक की बुद्धि को धिक्कार है, जो जवानी के नशे मे मतवाला होकर बुढापा नही देखता । मेरे रथ को लौटाओ, फिर मैं (नगर में) प्रवेश करूँगा । बुढ़ौती का अड्डा बनने वाले का—मेरा खेल-कूद में मौज उडाने में क्या ?

(द्वितीय निमित्त रोगिपुरुष-दर्शन)

13 हे भिक्षुओ, इसी प्रकार दूसरे काल मे—दूसरे समय मे नगर के दक्षिणी द्वार से बड़े दल-बल के साथ उद्यानभूमि की ओर बाहर निकलते हुए बोधिसत्त्व ने मार्ग मे व्याधियो को छूत से छुतियाए हुए, पेट की जलन से हारे हुए, दुबले शरीर के, अपने ही मल-मूत्र मे डूबे हुए, बिना रक्षा के, विना शरण के कठिनाई से साँस लेते और निकालते हुए, (एक) आदमी को देखा । देख कर जानते-बूझते हुए भी फिर सारथि से यों कहा—

किं सारथे पुरुष रुष्यविवर्णगात्रः
सर्वेन्द्रियेभि विकलो गुरु प्रस्वसन्तः ।
सर्वाङ्गसुष्क उदराकुल कृच्छ्रप्राप्तो
मूत्रे पुरीषि स्वकि तिष्ठति कुत्सनीये ।।550।।

हे सारथे, (यह) व्रणों से बिगड़े रंग-रूप वाले शरीर का, सब इन्द्रियों से क्षीण, भारी साँस लेने वाला सब अंगो में सूखा, पेट के रोग से पीड़ित, कष्ट पाने वाला, आदमी क्यो घिनौने अपने मल-मूल में पड़ा हुआ है ?

14. सारथि ने कहा—

एषो हि देव पुरुषो परमं गिलानो
व्याधीभयं उपगतो मरणान्तप्राप्तः।
आरोग्यतेजरहितो बलविप्रहीनो
अत्राणद्वीपशरणो ह्यपरायणश्च ॥551॥

हे देव, यह आदमी बहुत बीमार है, व्याधियों से घबराया हुआ है, मरने-मरने को हो रहा है, नीरोगता और तेज से रहित, बल को बिलकुल खो चुका है, बिना रक्षा-द्वीपशरण का है, और इसका सहारा नहीं रहा है।

15. (–190–) बोधिसत्त्व ने कहा—

आरोग्यता च भवते यथ स्वप्नक्रीडा
व्याधीभयं च इममीदृशु घोररूपं।
=144क= को नाम विज्ञपुरुषो इम दृष्ट्ववस्थां
क्रीडारतिं च जनयेच्छुभसंज्ञतां वा ॥552॥

आरोग्य स्वप्न की क्रीडा जैसा (क्षण भर का) है, और व्याधि का यह ऐसा दुस्तर भय (सदा के लिए) है। इस अवस्था को देख कर कौन बुद्धिमान पुरुष क्रीड़ा में रम सकता है और (इस दुनिया को) अच्छा अच्छा समझ सकता है।

हे भिक्षुओ, इसके बाद उत्तम रथ को लौटवा कर बोधिसत्त्व ने फिर उत्तम नगर में प्रवेश किया।

(तृतीय निमित्त मृतपुरुष–दर्शन)

16. हे भिक्षुओ, इसी प्रकार दूसरे काल में दूसरे समय में नगर के पश्चिमी द्वार से बड़े दल-बल के साथ उद्यानभूमि की ओर निकलते हुए बोधिसत्त्व ने आदमी को देखा जो मर गया था, काल कर गया था, मंच पर रख दिया गया था, वस्त्र का चँदवा ऊपर से लगा दिया गया था, चारों ओर से अपनी अपनी बिरादरी के लोगों के समूह से घिरा था, और सब लोग रोते हुए, चिल्लाते हुए, विलाप करते हुए, (अपने सिर के) केशों को फैलाए हुए, सिर पर धूल लपेटे हुए, छाती पीटते हुए, जोर से बोल-बोल कर शोक मनाते हुए पीछे-पीछे जा रहे थे। (उसे देख कर) जानते हुए भी बोधिसत्त्व ने सारथि से यह कहा—

किं सारथे पुरुष मञ्चपरि गृहीतो
उद्धूतकेश नर[2] पांशु शिरे क्षिपन्ति।
परिचारयित्व विहरन्त्युरस्ताडयन्तो
नानाविलापवचनानि उदीरयन्तः ॥553॥

2. मूल, नख। पठनीय नर। तुलनीय भोट, मि द ग् (=नराः)।

हे सारथे, आदमी को क्यों मंच के ऊपर ले रक्खा है ? और लोग क्यों केश फैलाए हुए सिर पर धूल फेंक रहे हैं, क्यों छाती पीटते हुए, नाना प्रकार के विलापवचनों को बोल-बोल परिचर्या कर रहे हैं ?

17. सारथि ने कहा—

एषो हि देव पुरुषो मृतु जम्बुद्वीपे
न हि भूयु मापितृ द्रक्ष्यति पुत्रदारां ।
अपहाय भोगगृहमित्रज्ञातिसंघं[3]
परलोकप्राप्तु न हि द्रक्ष्यति भूयु ज्ञाती ॥554॥

हे देव, यह आदमी मर गया है, जम्बूद्वीप में फिर (अपने) माँ-बाप तथा स्त्री-पुत्रों को न देख पायेगा । (यह) भोगों को, घर को, मित्रों को, और नाते के लोगों के समूह को छोड़ कर परलोक चला गया है, (अब) फिर नाते के लोगों को न देख पायेगा ।

18. (–191–) बोधिसत्व ने कहा—

धिग् यौवनेन जरया समभिद्रुतेन
=144ख=आरोग्य धिग् विविधव्याधिपराहतेन ।
धिग् जीवितेन विदुषा नचिरस्थितेन
धिक् पण्डितस्य पुरुषस्य रतिप्रसङ्गः ॥555॥

(उस) जवानी को धिक्कार है, (जिस पर) बुढौती हमला कर देती है, (उस) आरोग्य को धिक्कार है, (जिसे) नानाप्रकार की व्याधियाँ कुचल डालती हैं, विद्वानों के (उस) जीवन को धिक्कार है, (जो) चिर काल तक नहीं ठहरता, पण्डित पुरुष के (भोगविलासों में) रमने की आसक्तियों को धिक्कार है ।

यदि जर न भवेया नैव व्याधिर्न मृत्युः
तथपि च महद्दुःखं पंचस्कन्धं धरन्तो ।
किं पुन जरव्याधिमृत्यु नित्यानुबद्धाः
साधु प्रतिनिवर्त्या[4] चिन्तयिष्ये प्रमोक्षं ॥556॥

3. मूल, भोगगृह (मातृपितृ) मित्रज्ञातिसंघं । कोष्ठकपाठ भोट में नहीं है । तुलनीय, लोङ्स् स्प्योद् ख्यिम् दङ् म्जह्, ग्ञेन् छोगस् ।

4. प्रतिनिवर्त्या (=लोट् प्रतिनिवर्तस्व) । तुलनीय भोट, स्लर् ब्ज्लोग् । यही पदे यदि ल्यबन्त हो तो उसका भोटानुवाद स्लर् ब्ज्लोग् स्ते होता है । (द्रष्टव्य लेफमन ललितविस्तर 191 पृष्ठ पर दसवीं पंक्ति तथा भोटानुवाद 144ख पंक्ति 3) ।

यदि बुढ़ौती न होती, व्याधि न होती, और मौत भी न होती, तो भी पञ्चस्कन्ध के ढोने वाले का दुःख बहुत (ही) होता। सदा साथ में लगे रहने वाली बुढ़ौती, व्याधि, और मौत के होने पर (दुःख का) कहना ही क्या ? अच्छा, लौट चलो। (मैं) उत्तम मोक्ष का चिन्तन करूँगा।

हे भिक्षुओ, इसके बाद उस उत्तम रथ को लौटवा कर बोधिसत्त्व ने फिर नगर में प्रवेश किया।

(चतुर्थनिमित्त प्रव्रजितपुरुष-दर्शन)

19. हे भिक्षुओं, इसी प्रकार दूसरे काल में—दूसरे समय में नगर के उत्तरी द्वार से उद्यानभूमि की ओर बाहर निकलते हुए बोधिसत्त्व के उस मार्ग में बोधिसत्त्व के प्रभाव से ही देवपुत्रों ने (एक) भिक्षु का अभिनिर्माण किया। बोधिसत्त्व ने शान्त, विनयी, संयमी, ब्रह्मचारी, अचंचल नेत्र वाले, जुए भर की (लगभग तीन हाथ की) दूरी तक देखने वाले, प्रसन्न करने वाले ईर्यापथ (=चर्या-विधि) से युक्त, प्रसन्न करने वाली आगे की ओर बढ़ने तथा पीछे की ओर लौटने की पैरो की चाल से युक्त, प्रसन्न करने वाली आगे-पीछे दाएँ-बाएँ पड़ने वाली निगाह से, प्रसन्न करने वाले (अंगो के) समेटने तथा फैलाने से, प्रसन्न करने वाले संघाटी सहित पात्र और चीवर के धारण करने से युक्त उस भिक्षु को मार्ग मे खडा देखा। देख कर जानते हुए भी बोधिसत्त्व ने सारथि से यों कहा—

> किं सारथे पुरुष शान्तप्रशान्तचित्तो
> नोत्क्षिप्तचक्षु व्रजते युगमात्र दर्शी। (–192–)
> =145क=काषायवस्त्रवसनो सुप्रशान्तचारी,
> पात्रं गृहीत्व न च उद्धतु उन्नतो वा ॥557॥

हे सारथे (वह) पुरुष क्यों शान्त-चित्त-से अतिशान्त-चित्त से, बिना आँख उठाए, जुए भर की (लगभग तीन हाथ की) दूरी तक देखते हुए, काषाय वस्त्र पहने, अत्यन्त शान्त चर्या के साथ, पात्र लेकर, बिना ऐंठ और बिना घमण्ड के साथ जा रहा है।

20. सारथि ने कहा—

> एषो हि देव पुरुषो इति भिक्षु नामा
> अपहाय कामरतयः सुविनीतचारी।
> प्रव्रज्यप्राप्तु सममात्मन एषमाणो
> संरागद्वेषविगतोऽन्वेति पिण्डचर्या ॥558॥

हे देव, इस पुरुष को भिक्षु कहते हैं। काम (भोगों) के आनन्दों को छोड़ अत्यन्त विनयाचार वाला, प्रव्रज्या लेकर, आत्मशान्ति खोजता हुआ, राग और द्वेष से हीन यह भिक्षा के लिए जा रहा है।

21. बोधिसत्व ने कहा—

साधू सुभाषितमिदं मम रोचते च
प्रव्रज्य नाम विदुभिः सततं प्रसस्ता।
हितमात्मनश्च परसत्त्वहितं च यत्र
सुखजीवितं सुमधुरं अमृतं फलं च ॥559॥

साधु, यह सुभाषित मुझे पसन्द है। विद्वानो ने (उस) प्रव्रज्या की सदा प्रशंसा की है, जिसमें अपना हित होता है, दूसरे प्राणियो का हित होता है, जीवन सुख का तथा बहुत मिठास का होता है, और (अन्त में) अमृत का फल मिलता है।

हे भिक्षुओ, इसके बाद उस उत्तम रथ को लौटवा कर बोधिसत्त्व ने फिर उत्तम नगर मे प्रवेश किया।

22. हे भिक्षुओ, इस प्रकार राजा शुद्धोदन ने बोधिसत्त्व की इस प्रकार की यह सत्प्रेरणा देख-सुन कर अधिक मात्रा मे सब ओर से बोधिसत्त्व की रक्षा के लिए परकोटे बनवाए, खाइयाँ खुदवाई, द्वारों को मजबूत करवाया, पहरेदार तैनात किए और शूरो को (सावधान रहने के लिए) प्रेरित किया, वाहनो को सजवाया, कवचो को पहनवाया। नगर के चारो द्वारो तथा तिराहो पर चार बड़ी सेनाओ की मोर्चा-बन्दी बोधिसत्त्व की रखवाली के लिए करवाई, जो इनकी रात-दिन रखवाली करती थीं कि बोधिसत्त्व निकल कर बाहर न जाने पाएँ = 145 ख = अन्तःपुर मे आज्ञा दी कि कभी भी (–193–) संगीत न बन्द किया जाए, सब प्रकार के आनन्दों की क्रीड़ाओ को जुटाया जाए, स्त्री-मायाओं को दिखाया जाए, कुमार को ऐसा प्रेमीचित्त का बना कर बाँध रक्खा जाए कि प्रव्रज्या के निमित्त बाहर न निकल पाएँ।

23. इस (विषय) मे यह (गाथाओ द्वारा) कहा जाता है—

(छन्द शार्दूलविक्रीड़ित)

द्वारे स्थापित युद्धशौण्डपुरुषाः खड्गायुधापाणयो
हस्ती-अश्व-रथाश्च वर्मितनरा आरुढ नामावली।
परिखा खोटक तोरणाश्च महता प्रकार उच्छ्रापिता
द्वारा बद्ध सुगाढबन्धनकृता क्रोशस्वरामुञ्चनाः ॥560॥

द्वार पर हथियार बन्द हाथ में तलवार लिए युद्ध में होशियार आदमियों को तथा हाथी जुते एवं घोडे जुते रथों पर, हाथियों की कतारों पर चढ़े हुए कवच पहने हुए मर्दो को तैनात किया। खाइयों को, (आना-जाना रोकने के) बाडों को, फाटकों को और बडे-बडे परकोटों को बनवाया, खूब मजबूत साँकले लगवा कर, (खोलन और बन्द करने में) कोस भर तक सुनाई पडने वाले शब्द को करने वाले दरवाजों को लगवाया।

सर्वे शाक्यगणा विषण्णमनसो रक्षन्ति रात्रिंदिवं
निर्घोषश्च बलस्य तस्य महतः शब्दो महा श्रूयते।
नगरं व्याकुलु भीतत्रस्तमनसो मा स्माद व्रजेत् सूरतो
मा भूच्छाक्यकुलोदितस्य गमने छिद्येत वंशो ह्ययं ॥561॥

सब शाक्यगण विषाद भरे मन से रात-दिन रक्षा करने लगे, उस बडी सेना की बडी आवाज गूँजती हुई सुनाई पड़ने लगी, मन मे डर से और घबराहट से नगर परेशान रहने लगा कि कही करुणावन्त (कुमार) यहाँ से चले न जाएँ और कही ऐसा न हो कि शाक्यकुल से उगे हुए (कुमार) के जाने पर शाक्यवंश खतम हो जाए।

आज्ञाप्तो युवतीजनश्च सततं संगीति मा छेत्स्यथा
वस्थानं प्रकरोथ क्रीडरतिभिः निर्वन्धथा मानसं।
ये वा इस्त्रिधमाय नेकविविधा दर्शेथ चेष्टां बहुं
आरक्षां प्रकरोथ विघ्न कुरुथा मा खु व्रजेत् सूरतः ॥562॥

जवान-महिला-लोगो को आज्ञा दी कि कभी भी संगीत मत बन्द करना, क्रीडा के विनोदो से खूब रिझाना, मन बाँध लेना, और जो स्त्रियो की अनेक ढंग-ढंग की मायाएँ हैं, चालें है, उन्हे बहुत-बहुत दिखाना, रखवाली करना और रुकावट डालना ताकि करुणावन्त (कुमार) न जाएँ।

तस्या निष्क्रमिकालि सारथिवरे पूर्वे निमित्ता इमे
हंसाक्रोञ्चमयूरसारिकशुका नो ते रवं मुञ्चिषु। = 146क =
प्रासादेषु गवाक्षतोरणवरेष्वातालमञ्चेषु च
जिह्माजिह्म[5] सुदुर्मना असुखिता ध्यायन्त्यघोमूर्धकाः ॥563॥

उन उत्तम सारथि (बोधिसत्त्व) के निकलने के अवसर पर ये पूर्वनिमित्त थे। हंस, सारस, मोर, सारिकाएँ, और सुए महलों पर, गोखों पर, तोरणों पर

5. मूल, जिह्माजिह्म। पठनीय, जिह्माजिह्म (=जिह्म-जिह्म। यहाँ जिह्म शब्द का आम्रेडन है। तुलनीय भोट, द्मन् शिङ् द्मन् ल। द्रष्टव्य बु० हा० सं० डि० पृष्ठ 243 पर जिह्म शब्द।

और अटारियों के मचानो पर (बैठे) दीन-हीन, बहुत अनमन, बे-सुख के साथ, माथा नीचा किए, सोचते थे और (अपनी) बोली न बोलते थे।

पुडिनीपुष्करिणीषु पद्‌म रुचिरा म्लानानि म्लायन्ति च
वृक्षा शुष्कपलाश पुष्परहिताः पुष्पन्ति भूयो न च।
-194-) वीणावल्लकिवंश तन्त्रिरचिता छिद्यन्त्यकस्मात्तदा
भेरीश्चैव मृदंग पाण्यभिहता भिद्यन्ति नो वाद्यिषु ॥564॥

ताल-तलाइयो मे सुन्दर कमल (यातो) मुरझा गए थे (या) मुरझा रहे थे, पेड़ों के पत्ते सूख गए थे, फूल गिर गए थे और फिर फूल नहीं फूल रहे थे। उस समय वीणा, वल्लकी, वंश (एक तार लगा वाद्य दण्ड[6]) तार से रचे जाने पर अकस्मात् टूट जाते थे, तथा भेरियाँ और मृदंग हाथ की थपक से फूट जाते थे, बजते न थे।

सर्व व्याकुलमासि तच्च नगरं निद्राभिभूतं भृशं
नो नृत्ते न च गायिते न रमिते भूयो मनः कस्यचित्।
राजापी परमं सुदीनमनसः चिन्तापरो ध्यायते
हा धिक् शाक्यकुलस्य ऋद्धि विपुला मा हैव संधक्ष्यते ॥565॥

वह नगर सब-का-सब व्याकुल था, (सब का) नींद से बहुत बुरा हाल था, किसी का मन न अधिक गान मे लगता था और न नाच में। राजा भी बहुत अधिक दीन मन से चिन्ता के मारे सोचा करते थे कि हाय-हाय, यह कैसी मुसीबत है, शाक्यकुल की बढ़ी हुई समृद्धि कहीं यहाँ ही भस्म न हो जाए।

(गोपा का स्वप्नदर्शन)

एकस्मिन् शयने स्थिते स्थितमभूद् गोपा-तथा-पार्थिवौ
गोपा रात्रियि अर्धरात्रसमये स्वप्नानिमां पश्यति।
सर्वेयं पृथिवी प्रकम्पितमभूच् शैला-स-कूटावटी[7]
वृक्षामारुतएरिता क्षिति पती उत्पाट्य मूलोद्धृताः ॥566॥

6. वंश वस्तुत. बाँसुरी है, भोट में ग्लिङ्-बु शब्द भी बाँसुरी का ही वाचक है। यहाँ तन्त्रीवाद्यों के प्रसंग में वंश सम्भवतः एक तारा है, क्योंकि उसका दण्ड भी प्रायः वंश का होता है।

7. मूल, शैला सकूटावटी। यह प्रयोग बहुत दुर्लभ है। कूटावटी वस्तुतः कूटवती है। कूट (प्रकृति) वत् (प्रत्यय)—ई (स्त्रीप्रत्यय)। स (सहित) का मध्यनिपात इस अपभ्रंश में ही सम्भव है। शैला यह बहुवचन है जिसको समास के भीतर भी बचा लिया गया है। कूटवत् का सम्बन्ध शैल से है क्योंकि शैल ही कूटवत् (शिखरवत्) यहाँ अभिप्रेत है। यों अर्थ दृष्टि से

एक ही पड़े पलंग पर गोपा तथा पृथिवीपति (सिद्धार्थ) विराजते थे। रात में आधीरात के समय गोपा ने इन स्वप्नों को देखा कि यह सब पृथिवी चोटी-वाले पहाड़ों के सहित काँप उठी, हवा से झकझोरे वृक्ष मूल से उखड़ गए और उखड़ कर धरती पर गिर गए।

चन्द्रासूर्य नभातु भूमिपतितौ सज्योतिषालंकृतौ
केशानद्दृशि लून दक्षिणि भुजे मुकुटं च विध्वंसितं।
हस्तौ छिन्न तथैव छिन्न चरणौ नग्नाद्दृशी आत्मनं
मुक्तहार तथैव मेखलमणी छिन्नादृशी आत्मनः ॥567॥

तारों की साज-बाज के साथ चांद और सूरज को आसमान से धरती पर गिरा-पड़ा देखा, दाहिने हाथ से केशों को काटा हुआ देखा, मुकुट को तहस-नहस किया हुआ देखा, हाथों को कटा हुआ, पैरों को कटा हुआ, और अपने-आप को नंगा देखा, अपने मोतियों के हार को, तथा करधनी के मनकों को अलग-अलग देखा।

शयनस्याद्दृशि छिन्न पाद=146ख=चतुरो धरणीतलेस्मिंछ्यो
छत्रे दण्डु सुचित्र श्रीम रुचिरं छिन्नादृशी पार्थिवे।
सर्वे आभरणा विकीर्ण पतिता-मृ-उह्यन्ति ते वारिणा
भर्तुश्चाभरणा सवस्त्रमुकुटा शय्यागता व्याकुला ॥568॥

पलँग के चारों पावों को टूटा हुआ देखा, (मैं स्वयं) धरती पर सोई हूँ (ऐसा देखा), पृथिवीपति (सिद्धार्थ) के छत्र में लगे उत्तम चित्र कढ़े हुए, शोभाशाली, मन को भाने वाले दण्ड को टूटा हुआ देखा। सब आभूषण गिरे हुए है, बिखरे हुए हैं, और उन्हे पानी बहाए ले जा रहा है, और पति के वस्त्र तथा मुकुट समेत सब आभूषण सेज पर इधर-उधर बिखरे पड़े है (ऐसा देखा)।

उल्कां पश्यति निष्क्रमन्त नगरात् तमसाभिभूतं पुरं
छिन्नां[8] जालिकम(द्)दृशाति सुपिने रतनामिकां[8] शोभनां।
मुक्ताहारु प्रलम्बमानु पतितः क्षुभितो महासागरं
मेरुं पर्वतराजमद्दृशि तदा स्थानातु संकम्पितं ॥569॥

संस्कृतज्ञ इस समास को सकूटवच्छैला पढेगा। जो कि भूमि का विशेषण है। भोट में इसी प्रकार के अर्थ को दृष्टि मे रख कर अनुवाद है—चे भोर् ल्वन् प हि, रि दङ् ब्चस् ते (=शिखरवत्पर्वतसहिता)।

8....8. जालिकं....रतनामिका।—मक (स्त्रीलिंग-मिका) का मूल-आत्मक (स्त्रीलिंग-आत्मिका) शब्द जान पड़ता है। प्रोफ़ेसर एड्जेर्टन्-मय प्रत्यय को-मक का मूल समझते हैं (द्रष्टव्य बु० हा० सं० डि० पृ० 450 पर

स्वप्न मे नगर से निकलती हुई उल्काओं (मशालों) के तथा नगर को अँधेरे से हार खाया हुआ देखा, रत्नों की बनी सुन्दर जालीदार कंठश्री को टूटा हुआ देखा, लटके हुए मोतियों के हार को गिरा हुआ, महासागर को खौलता हुआ, पर्वतों के राजा मेरु के उस समय (अपने) स्थान से बुरी तरह हिल-डुल गया हुआ देखा।

—195—एतानीदृश शाक्यकन्य सुपिनां सुपिन्नान्तरे अदृशी
दृष्ट्वा सा प्रतिबुद्ध रू (?रु) ण्णनयना स्वं स्वामिनं अब्रवीत्।
देवा किं मि भविष्यते खलु भणा सुपिनान्तराणीदृशा
भ्रान्ता में स्मृति नो च पश्यमि पुनः शोकार्दितं मे मनः ॥570॥

शाक्यकन्या (गोपाने) सपनाने के बीच ऐसे-ऐसे इन सपनों को देखा, देख कर वह जग पड़ी, आँखो मे आँसू बहाती हुई अपने मालिक से बोली—हे देव, बोलो तो, मेरा क्या होगा ? सपनाने की बातें ऐसी हैं, मेरी स्मृति भ्रम मे पड़ गई है, और मुझे कुछ नहीं सूझ रहा है, मेरा मन शोक से पीड़ित है।

श्रुत्वासौ कलविङ्कदुन्दुभिरुतो ब्रह्मस्वरः सुस्वरो
गोपामालपते भव प्रमुदिता पापं न ते विद्यते।
ये सत्वा कृतपुण्यपूर्वचरिता तैषेति स्वप्ना, इमे
कोऽन्यः पश्यति नैकदुःखविहितः[9] स्वप्नान्तराणीदृशा ॥571॥

सुन कर, चटका जैसे चहचहाने वाले, दुंदुभि के समान (गम्भीर) ध्वनि वाले, ब्रह्मा के समान (पवित्र) घोष वाले, उत्तम, स्वर वाले उन बोधिसत्व ने गोपा से कहा कि (तुम) अत्यन्त आनन्दित रहो, तुम्हारा अकल्याण नही है। जिन प्राणियों द्वारा पहले पुण्य का आचरण किया हुआ होता है, उनके ये स्वप्न

रतनामक शब्द)। यह अधिक भाषाविज्ञानानुकूल जान पड़ता है। प्राकृत रयणामय (स्त्रीलिंग रयणामिया) से रतनामक (स्त्रीलिंग मे रतनामिका) पर पहुँचना सहज ही है। रतनामिका का मूल रत्नात्मिका हो चाहे रयणामिया हो अर्थ एक ही है। भोट में यो अर्थानुवाद किया गया है—**रिन् पो छे लस् व्यस् प हि, द्र ब** (= रत्नकृतजालिका)।

9. मूल, नैकदुः खविहितः। इस पाठ मे विहित (वि-धा से त-प्रत्यय द्वारा निष्पन्न रूप) अर्थ को स्पष्ट नही करता भोटानुवाद से तुलना करने पर यहाँ विहित (वि-हन्-त) पाठ उचिततर जान पड़ता है। तुलनीय, स्दुग बस्ङल् दु मस् लेन प (= नानादुःखैरार्तः)। औपचारिक प्रयोग विहित से आर्त, पीड़ित आदि का बोध होता है।

होते हैं । इस प्रकार को इन सपनाने की बातो को नाना प्रकार के दुःखों की मार खाया हुआ कोई ऐरां-गैरा नही देखता ।

(बोधिसत्व द्वारा गोपा के स्वप्नों का फल-कथन)

(छंद शालिनी)

यत्ते दृष्टा मेदिनी कम्पमाना
कूटाशैला मेदिनीये पतन्ता ।
देवा नागा राक्षसा भूतसंघाः
सर्वे तुभ्यं पूज्य श्रेष्ठां करोन्ति ॥572॥

तुमने जो देखा कि धरती कांप रही है, चोटियों के साथ पहाड़ धरती पर गिर रहे है, (वे) सब देवता, नाग, राक्षस और भूतगण (हैं जो) तुम्हारी पूजा कर (तुमको अपना) जेठा बना रहे हैं ।

यत्ते दृष्टा वृक्ष मूलोद्धृतानि
केशां लूनां दक्षिणेनादृशासि ।
क्षिप्रं गोपे=147क=क्लेशजालं छिनित्वा
दृष्टीजालं उद्धरी संस्कृतातः ॥573॥

तुमने जो देखा कि पेड़ जड से उखड़े पडे है (तथा जो) दाहिने हाथ से केशों को काटा हुआ हैं, सो हे गोपा (तुम) शीघ्र ही क्लेशो का जाल काट कर (इस) बनावटी (जगत्) से दृष्टि का जाल उठा सकोगी ।

यत्ते दृष्टौ चन्द्रसूर्यौ पतन्तौ
दृष्टा नक्षत्रा ज्योतिषा नीपतन्तः ।
क्षिप्रं गोपे क्लेशशत्रू निहत्वा
पूज्या लोके भाविनी त्वं प्रशस्या ॥574॥

जो तुमने चांद-सूरज गिरते देखे, तारे-नक्षत्र गिरते देखे, सो हे गौपे, शीघ्र क्लेश रूपी शत्रु को मार कर तुम लोक में प्रशंसा के योग्य (तथा) पूजा के योग्य हो जाओगी ।

यत्ते दृष्टा मुक्तहारं विशीर्ण
नग्नं भग्नं सर्वकायादृशासि ।
क्षिप्रं गोपे इस्त्रिकायं जहित्वा
पुरुषस्त्वं वै भेष्यसे नोचिरेण ॥575॥

जो तुमने मोतियो हार बिखरा हुआ देखा, (अपने) सब शरीर को नंगा और टूटा-टाटा देखा, सो हे गोपे, शीघ्र ही स्त्री शरीर का त्याग कर तुम विना-विलम्ब के निश्चय से पुरुष हो जाओगी ।

यत्ते दृष्टं मञ्चकं छिन्नपादं
छत्रे दण्डं रत्नचित्रं प्रभग्नं।
क्षिप्रं गोपे ओघ चत्वारि तीर्त्वा
मां द्रष्टासी एकछत्रं त्रिलोके ॥576॥

जो तुमने पलँग को टूटे पाँवों वाला देखा, छत्र के रत्नों से चित्र-विचित्र दण्ड को टूटा हुआ देखा, सो हे गोपे, शीघ्र ही चारों ओघों को पार कर त्रिलोक में मुझे एक छत्र वाला देखोगी।

यत्ते दृष्टा भूषणा उह्यमाना
चूडा वस्त्रा मह्य मञ्चेऽदृशासि।
क्षिप्रं गोपे लक्षणैर्भूषिताङ्गं
मां संपश्यी सर्वलोकैः स्तुवन्तं ॥577॥

जो तुमने भूषण बहाए ले जाते हुए देखे, मेरे पलँग पर मुकुट और वस्त्र (बिखरे पड़े) देखे, सो हे गोपे, लक्षणों से भूषित शरीर वाले मुझको सब लोगों के द्वारा स्तोत्र पढ कर पूजित शीघ्र ही देख सकोगी।

यत्ते दृष्टा दीपकोटीशतानि
नगरान्निष्क्रान्ता तत्पुरं चान्धकारं।
क्षिप्रं गोपे मोहविद्यान्धकारे
प्रज्ञालोके कुर्वमी सर्वलोकं ॥578॥

जो तुमने नगर से निकली सैकड़ों करोडों दीपिकाएँ तथा वह नगर अँधेरा देखा है, सो हे गोपे, मोह और अविद्या के अँधेरे वाले सम्पूर्ण लोक को मैं प्रज्ञा के प्रकाश मे शीघ्र (स्थापित) करूँगा।

(–196–) यत्ते दृष्टं मुक्तहारं प्रभग्नं
छिन्नं चैव स्वर्णसूत्रं विचित्रं।
क्षिप्रं गोपे क्लेशजालं छिनित्वा
संज्ञा सूत्रं उद्धरी संस्कृतातः ॥579॥

जो तुमने मोतियो के हार को टूटा-टाटा तथा विचित्र सोने की करधनी को छिन्न-भिन्न देखा है, सो हे गोपे, शीघ्र ही क्लेशों के जाल को काट कर (इस) बनावटी (जगत्) से संज्ञा के अर्थात् शुभ एवं सुन्दर देखने की धारणा के सूत्र को निकाल फेंकोगी।

यत्ते गोपे चित्ति (?त्रि) कारं करोषि
नित्यं पूजां गौरवेणोत्तमेन।
नास्ती तुभ्यं दुर्गती नैव शोकः
क्षिप्रं भोही प्रीतिप्रामोद्यलब्धा ॥580॥

हे गोपे, जो तुम (मेरा) सम्मान करती हो, सर्वदा उत्तम गौरव के साथ पूजा करती हो, सो तुम्हारे लिए न दुर्गति है और न शोक। तुरन्त प्रीति और प्रमोद का लाभ करने वाली हो जाओ।

=147ख= पूर्वे मह्यं दानु दत्तं प्रणीतं
शीलं चीर्णं भाविता नित्य क्षान्ति।
तस्मान्मह्य ये प्रसादं लभन्ते
सर्वे भोन्ती प्रीतिप्रामोद्यलाभाः ॥581॥

पहले मैंने उत्तम दान दिया है, शील का आचरण किया है, क्षमा का सर्वदा अभ्यास किया है, इसलिए मुझमे जिनकी प्रसन्नता (श्रद्धा) पाई जाती है, (वे) सब प्रीति और प्रमोद के लाभी होते है।

कल्पा कोटी संस्कृता मे अनन्ता
बोधीमार्गो शोधितो मे प्रणीतः।
तस्मान्मह्यं ये प्रसादं करोन्ति
सर्वे छिन्ना तेषु त्रीण्यप्यपायाः ॥582॥

अनन्त-कोटि कल्पों तक (इस) बनावटी (जगत्) मे मैंने उत्तम बोधिमार्ग का शोधन किया है, इसलिए जो मुझसे प्रसन्नता (श्रद्धा) करते है, उनके सबके सब तीनो अपाय (तिर्यक्, प्रेत, तथा नरक) कट जाते है।

हर्षं विन्दा मा च खेदं जनेहि
तुष्टि विन्दा संजनेही च प्रीति।
क्षिप्रं भेष्ये प्रीतिप्रामोद्यलाभी
सेही गोपे भद्रका ते निमित्ता ॥583॥

हर्ष का लाभ करो, खेद न उपजाओ, सतोष की प्राप्ति करो और प्रीति उपजाओ, हे गोपे, (मैं) शीघ्र ही प्रीति का और प्रमोद का लाभी होऊँगा, तुम्हारे (स्वप्नो के) निमित्त कल्याणकारी है, (अब) सो जाओ।

(बोधिसत्त्व के स्वप्न)

(छंद वसन्ततिलका)

सो पुण्यतेजभरितो सिरितेजगर्भो
पूर्वे निमित्तसुपिने इमि अद्दशासि।
ये भोन्ति पूर्वशुभकर्मसमुच्चयानां
नैष्क्रम्यकालसमये नरपुङ्गवानां ॥584॥

उन पुण्य के तज से पूर्ण, लक्ष्मी के तेज के सार से युक्त (बोधिसत्त्व) ने पहले से ही होनहार को सूचित करने वाले इन स्वप्नों को देखा, जो पूर्व (जन्मों)

यत्तो दृष्टं मञ्चकं छिन्नपादं
छत्रे दण्डं रत्नचित्रं प्रभग्नं।
क्षिप्रं गोपे ओघ चत्वारि तीर्त्वा
मां द्रष्टासी एकछत्रं त्रिलोके ॥576॥

जो तुमने पलँग को टूटे पाँवो वाला देखा, छत्र के रत्नो से चित्र-विचित्र दण्ड को टूटा हुआ देखा, सो हे गोपे, शीघ्र ही चारों ओघों को पार कर त्रिलोक में मुझे एक छत्र वाला देखोगी।

यत्ते दृष्टा भूषणा उह्यमाना
चूडा वस्त्रा मह्य मञ्चेऽदृशासि।
क्षिप्रं गोपे लक्षणैर्भूषिताङ्गं
मां संपश्यी सर्वलोकै स्तुवन्तं ॥577॥

जो तुमने भूषण बहाए ले जाते हुए देखे, मेरे पलँग पर मुकुट और वस्त्र (बिखरे पड़े) देखे, सो हे गोपे, लक्षणों से भूषित शरीर वाले मुझको सब लोगों के द्वारा स्तोत्र पढ कर पूजित शीघ्र ही देख सकोगी।

यत्ते दृष्टा दीपकोटीशतानि
नगरान्निष्क्रान्ता तत्पुरं चान्धकारं।
क्षिप्रं गोपे मोहविद्यान्धकारे
प्रज्ञालोके कुर्वमी सर्वलोकं ॥578॥

जो तुमने नगर से निकली सैकड़ों करोड़ों दीपिकाएँ तथा वह नगर अँधेरा देखा है, सो हे गोपे, मोह और अविद्या के अँधेरे वाले सम्पूर्ण लोक को मैं प्रज्ञा के प्रकाश मे शीघ्र (स्थापित) करूँगा।

(-196-) यत्ते दृष्टं मुक्तहारं प्रभग्नं
छिन्नं चैव स्वर्णसूत्रं विचित्रं।
क्षिप्रं गोपे क्लेशजालं छिनित्वा
संज्ञा सूत्रं उद्धरी संस्कृतातः ॥579॥

जो तुमने मोतियो के हार को टूटा-टाटा तथा विचित्र सोने की करधनी को छिन्न-भिन्न देखा है, सो हे गोपे, शीघ्र ही क्लेशों के जाल को काट कर (इस) बनावटी (जगत्) से संज्ञा के अर्थात् शुभ एवं सुन्दर देखने की धारणा के सूत्र को निकाल फेंकोगी।

यत्ते गोपे चित्ति (?त्रि) कारं करोषि
नित्यं पूजां गौरवेणोत्तमेन।
नास्ती तुभ्यं दुर्गती नैव शोकः
क्षिप्रं भोही प्रीतिप्रामोद्यलब्धा ॥580॥

हे गोपे, जो तुम (मेरा) सम्मान करती हो, सर्वदा उत्तम गौरव के साथ पूजा करती हो, सो तुम्हारे लिए न दुर्गति है और न शोक। तुरन्त प्रीति और प्रमोद का लाभ करने वाली हो जाओ।

= 147ख = पूर्वे मह्यं दानु दत्तं प्रणीतं
शीलं चीर्णं भाविता नित्य क्षान्ति।
तस्मान्मह्य ये प्रसादं लभन्ते
सर्वे भोन्ती प्रीतिप्रामोद्यलाभाः ॥581॥

पहले मैंने उत्तम दान दिया है, शील का आचरण किया है, क्षमा का सर्वदा अभ्यास किया है, इसलिए मुझमे जिनकी प्रसन्नता (श्रद्धा) पाई जाती है, (वे) सब प्रीति और प्रमोद के लाभी होते हैं।

कल्पा कोटी संस्कृता मे अनन्ता
बोधीमार्गो शोधितो मे प्रणीतः।
तस्मान्मह्यं ये प्रसादं करोन्ति
सर्वे छिन्ना तेषु त्रीण्यप्यपायाः ॥582॥

अनन्त-कोटि कल्पों तक (इस) बनावटी (जगत्) में मैंने उत्तम बोधिमार्ग का शोधन किया है, इसलिए जो मुझसे प्रसन्नता (श्रद्धा) करते हैं, उनके सबके सब तीनों अपाय (तिर्यक्, प्रेत, तथा नरक) कट जाते हैं।

हर्षं विन्दा मा च खेदं जनेहि
तुष्टिं विन्दा संजनेही च प्रीतिं।
क्षिप्रं भेष्ये प्रीतिप्रामोद्यलाभी
सेही गोपे भद्रका ते निमित्ता ॥583॥

हर्ष का लाभ करो, खेद न उपजाओ, संतोष की प्राप्ति करो और प्रीति उपजाओ, हे गोपे, (मैं) शीघ्र ही प्रीति का और प्रमोद का लाभी होऊँगा, तुम्हारे (स्वप्नो के) निमित्त कल्याणकारी हैं, (अब) सो जाओ।

(बोधिसत्त्व के स्वप्न)

(छंद वसन्ततिलका)

सो पुण्यतेजभरितो सिरितेजगर्भो
पूर्वे निमित्तसुपिने इमि अद्दशासि।
ये भोन्ति पूर्वशुभकर्मसमुच्चयानां
नैष्क्रम्यकालसमये नरपुङ्गवानां ॥584॥

उन पुण्य के तेज से पूर्ण, लक्ष्मी के तेज के सार से युक्त (बोधिसत्त्व) ने पहले से ही होनहार को सूचित करने वाले इन स्वप्नों को देखा, जो पूर्व (जन्मों)

के शुभ कर्मों की राशि वाले श्रेष्ठ पुरुषों के (घर से) निकलने के काल में—समय में दिखाई पडा करते हैं।

सो अदृशासि कराग्चरणाद्धताना।
महसागरेभि चतुर्भिजल लोलयन्ता।
सर्वामिमां वसुमतीं शयनं विचित्रं
मेरुं च पर्वतवरं शिरसोपधानं ॥585॥

उन्होंने (अपने) हाथ-पैरों से खलभलाए चारों महासागरों के जल को मथा जाता हुआ देखा, (और देखा कि) समूची पृथिवी (उनका) विचित्र पलँग बनी है तथा पर्वतो के राजा सुमेरु सिरहाने के तकिया बने हुए है।

आभा प्रमुक्त सुपिने तद अदृशासि
लोके विलोकितु महातमसान्धकारं।
छत्रोद्गतं धरणिये स्फरते त्रिलोकं
आभाय स्पृष्ट विनिपातदुःखा प्रशान्ता ॥586॥

उस समय स्वप्न मे देखा कि लोक मे अधे करने वाले बडे अँधेरे में साफ़-साफ देखने के लिए उन्होने प्रकाश उपजाया है, धरती से छत्र निकला है और त्रिलोक के ऊपर फैल गया है, प्रकाश के पड़ने से नरकों के दुःख अत्यन्त शान्त हो गये है।

(–197–) कृष्णा-शुभ चतुरि प्राणक पाद लेखी
चतुवर्ण एत्व सकुना-द्-भुत एकवर्णाः।
मीढगिरी परमहीन जुगुप्सनीया = 148क =
अभिभूय चङ्क्रमति तत्र च नोपलिप्तो ॥587॥

(उन्होंने देखा कि) काले-सफेद चार प्राणी (उनके) चरणों को खुरच रहे है, चार रंग के पक्षी (उनके पास) आकर एक रंग के हो रहे है, बहुत गन्दे और घिनौने मैले के पहाड़ पर चढ कर (वे) घूम रहे हैं फिर भी (मैले से) गदले नही हो रहे है।

भूयोऽदृशी सुपिनि नद्य जलप्रपूर्णा
वहुसत्त्वकोटिनयुतानि च उह्यमाना।
सो नाव कृत्व प्रतरित्व परां प्रतार्य
स्थापेति सो स्थलवरे अभये अशोके ॥588॥

उन्होने फिर स्वप्न मे देखा कि जल से अत्यन्त बढी हुई नदी बहुत से खर्व-खर्व कोटि प्राणियों को बहाए ले जा रही है, और वे नौका बना कर स्वयं तर

कर तथा औरों को तार कर उत्तम, भय से दूर, एवं शोक से रहित स्थल पर स्थापित कर रहे हैं।

भूयोऽदृशाति बहु आतुर रोगस्पृष्टा
आरोग्यतेजरहितां वलविप्रहीनां।
सो वैद्य भूत्व बहु औषध संप्रयच्छा
मोचेति सत्त्वनयुतां बहुरोगस्पृष्टां ।।589।।

फिर देखा कि रोग की छूत वाले, स्वास्थ्य और तेज रहित, पूरी तरह बलहीन बहुत से बीमार हैं और वे वैद्य होकर बहुत दवादारू बाँट कर बहुत से रोगों की छूत लगे खर्व-खर्व प्राणियों को (रोग–) मुक्त कर रहे हैं।

सिंहासने व(? च) हि निषण्ण सुमेरुपृष्ठे
शिष्यां कृताञ्जलिपुटानमरान् नमन्तां।
संग्राममध्यि जयु अदृशि आत्मनश्च
आनन्दशब्दममरां गगने ब्रुवन्तः ।।590।।

और देखा कि सुमेरु के तल पर (वे स्वयं) सिंहासन पर बैठे है, देवता शिष्य होकर अँजलि बाँधे नमस्कार कर रहे है, तथा युद्ध के बीच उनकी अपनी जय हो रही है, और आकाश मे देवता आनन्द की ध्वनि कर रहे है।

एवं विधा सुपिनि अदृशि बोधिसत्त्वो
मङ्गल्यसोभनव्रतस्य च पारिपूरिं।
यां श्रुत्व देवमनुजा अभवन् प्रहृष्टा
न चिराद् भविष्यति अयं नरदेवदेवः ।।591।।[10]

बोधिसत्व ने मंगलकारी एवं उत्तम व्रत की परिपूर्णता के (सूचक) ऐसे स्वप्नों को देखा, जिन्हें सुन कर देवता और मनुष्य अत्यन्त आनन्दित हुए (और बोले कि) ये विना विलम्ब के ही नरदेवों के भी देव हो जाएँगे।

।। इति श्रीललितविस्तरे स्वप्नपरिवर्तो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ।।

●

10. इस परिवर्त मे आई गाथाओ को छाया यों है—कि सारथे पुरुषो दुर्बलोऽल्पस्थामा, उच्छुष्कमांसरुधिरत्वचः स्नायुनद्धः। श्वेतशिरा विरलदन् कृशाङ्गरूप आलम्ब्य दण्डं व्रजत्यसुखं स्खलन् ।।545।। एष हि देव पुरुषो जराभिभूतः क्षीणेन्द्रियः सुदुःखितो वलवीर्यहीनः बन्धुजनेन परिभूतोऽनाथभूतः कार्यासमर्थोऽपविद्धो वन इव दारु ।।546।। कुलधर्म एषोऽयमस्य हि तं वद

(भण) अथापि सर्वजगतोऽस्येवं ह्यवस्था। शीघ्रं वद (भण) वचनं यथा भूतमेतत्, श्रुत्वा तथार्थमिह योनिशश्चिन्तयिष्ये ॥547॥ नैतस्य देव कुल-धर्मो न राष्ट्रधर्म, सर्वस्य जगतो जरा यौवनं धर्षयति, तवापि मातापितृ-बान्धवज्ञातिसघो जरयाऽमुक्तो न ह्यन्या गतिर्जनस्य ॥548॥ धिक् सारथे-ऽबुधबालजनस्य बुद्धि यो यौवनेन मदमत्तो जरां न पश्येत्। आवर्तयाशु मे रथं पुनरह प्रवेक्ष्यामि किं मम क्रीडारतिभिर्जरयाश्रितस्य ॥549॥ किं सारथे पुरुषोऽर्विवर्णगात्रः सर्वेन्द्रियैर्विकलो गुरु प्रश्वसन्। सर्वाङ्गशुष्क उदराकुलः कृच्छ्रप्राप्तो मूत्रे पुरीषे स्वके तिष्ठति कुत्सनीये ॥550॥ एष हि देव पुरुषः परमं ग्लानः, व्याधिभयमुपगतो मरणान्तप्राप्त। आरोग्य-तेजोरहितो बलविप्रहीणो ऽत्राणद्वीपशरणो ह्ययपरायणश्च ॥551॥ आरोग्यं भवति यथा स्वप्नक्रीड़ा व्याधिभयं चेदमीदृशं घोररूपम्। को नाम विज्ञपुरुष इमा दृष्ट्वावस्थां क्रीडारतिं च जनयेच्छुभसज्ञतां वा ॥552॥ किं सारथे पुरुषो मञ्चोपरि गृहीतः, उद्धूतकेशा नरा पांसुं शिरसि क्षिपन्ति। परिचार्य विहरन्त्युरस्ताडयन्तो नानाविलापवचनान्युदीरयन्तः ॥553॥ एष हि देव पुरुषो मृतो जम्बूद्वीपे न भूयो मातापितरौ द्रक्ष्यति पुत्रदारान्। अपहाय भोगगृहमित्रज्ञातिसघं परलोकप्राप्तो न हि द्रक्ष्यति भूयो ज्ञातीन् ॥554॥ धिग् यौवनं जरया समभिद्रुतम् आरोग्यं धिग् विविधव्याधिपराहतम्। धिग् जीवित विदुषो नचिरस्थितं धिक् पण्डितस्य पुरुषस्य रतिप्रसंङ्गान् ॥555॥ यदि जरा न भवेन्नैव व्याधिर्न मृत्युस् तथापि च महादुःख पञ्चस्कन्धं धरतः। किं पुनर् जराव्याधिमृत्युषु नित्यानुबद्धेषु साधु प्रतिनिवर्तस्व चिन्तयिष्ये प्रमोक्षम् ॥556॥ किं सारथे पुरुषः शान्तप्रशान्तचित्तो नोत्क्षिप्त-चक्षुर्व्रजति युगमात्रदर्शी। काषायवस्त्रवसनः सुप्रशान्तचारी पात्र गृहीत्वा न चोद्धत उन्नतो वा ॥557॥ एष हि पुरुषो भिक्षुरितिनामाऽपहाय कामरतीः सुविनीतचारी। प्रव्रज्याप्राप्तः शममात्मन एषमाणः संरागद्वेषविगतोऽन्वेति पिण्डचर्यम् ॥558॥ साधु सुभाषितमिदं मह्यं रोचते च प्रव्रज्या नाम विद्वद्भिः सततं प्रशस्ता। हितमात्मनश्च पर सत्त्वहितं च यत्र सुखजीवितं सुमधुरम्, अमृतं फलं च ॥559॥ द्वारे स्थापिता युद्धशौण्डपुरुषाः खङ्गायुध-पाणयो हस्त्यश्वरथाश्च वर्मितनरा आरूढ़ा नागावलीः। परिखाः खोडकास् तोरणाश्च महान्तः प्राकारा उच्छ्रापिताः, द्वाराणि सुगाढबन्धनकृतानि क्रोशस्वरमोचनानि ॥560॥ सर्वे शाक्यगणा विपण्णमनसो रक्षन्ति रात्रिं-दिवं निर्घोषश्च बलस्य तस्य महतः शब्दो महाञ्छ्रूयते। नगरं व्याकुल भीतत्रस्तमनो माऽस्माद् व्रजेत्सूरतो मा भून्छाक्यकुलोदितस्य गमने छिद्येत

वंशो ह्ययम् ॥561॥ आज्ञप्तो युवतिजनस्य सततं संगीतिं मा छिन्त, उपस्थानं प्रकुरुत क्रीडारतिभिः, निबध्नीत मानसम्। या वा स्त्रीमाया नैकविविधा दर्शयत चेष्टा बहु, आरक्षां प्रकुरुत, विघ्नं कुरुत मा खलु व्रजेत् सूरतः ॥562॥ तस्य निष्क्रमकाले सारथिवरस्य पूर्वाणि निमित्तानीमानि हंसक्रौञ्चमयूरसारिकाशुका न ते रवम् अमुञ्चन्। प्रासादेषु गवाक्षतोरणवरेष्वट्टालमञ्चेषु च जिह्मजिह्माः सुदुर्मनसोऽसुखिता ध्यायन्त्यधोमूर्धका: ॥563॥ पुटिनीपुष्करिणीषु पद्मानि रुचिराणि म्लानानि म्लायन्ति च वृक्षाः शुष्कपलाशाः पुष्परहिता पुष्प्यन्ति भूयो न च। वीणा-वल्लकी-वंशास् तन्त्रीरचिताश् छिद्यन्तेऽकस्मात् तदा भेर्यश्चैव मृदङ्गाः पाण्यभिहता भिद्यन्ते नावादिषुः ॥564॥ सर्वं व्याकुलमासीत् तच्च नगरं निद्राभिभूतं भृशं नो नृत्ते न च गीते रमते भूयो मनः कस्यचित्। राजापि परमं सुदीनमनाश् चिन्तापरो ध्यायति हा धिक् शाक्यकुलस्य ऋद्धिविपुला मा—इहैव संघाक्षीत् (यथारुतं तु संधक्ष्यति, लुङर्थे लट्) ॥565॥ एकस्मिञ्छयने स्थिते स्थितावभूतां गोपा-पार्थिवौ तथा, गोपा रात्रावर्धरात्रसमये स्वप्नानिमान् पश्यति। सर्वेयं पृथिवी प्रकम्पिताऽभूत सकूटवच्छैला। वृक्षा मारुतेरिताः क्षितावपप्तन्न् उत्पाट्य मूलोद्धृताः ॥566॥ चन्द्रसूर्यौ नभसो भूमिपतितौ सज्योतिरलंकृतौ केशान् अदर्शल् लूनान् दक्षिणेन भुजेन मुकुटं च विध्वस्तम्। हस्तौ छिन्नौ तथैव छिन्नौ चरणौ नग्नामदर्शदात्मानं मुक्ताहारं तथैव मेखलामणीन् छिन्नानदर्शदात्मनः ॥567॥ शयनस्यादर्शत् छिन्नान् पादांश् चतुरः, धरणीतलेऽशयिष्ट, छत्रे दण्ड सुचित्रं श्रीमद् रुचिरं छिन्नमदर्शत् पार्थिवस्य। सर्वाण्याभरणानि विकीर्णानि पतितान्युह्यन्ते तानि वारिणा, भर्तुश्चाभरणानि सवस्त्रमुकुटानि शय्यागतानि व्याकुलानि ॥568॥ उल्काः पश्यति निष्क्रामन्तीर् नगरात् तमसाभिभूतं पुरं छिन्ना जालिकामदर्शत् स्वप्ने रत्नात्मिकां (रत्नमयी) शोभनाम्। मुक्ताहारं प्रलम्बमानं पतितं क्षुब्धं महासागरं मेरुं पर्वतराजमदर्शत् तदा स्थानात् संकम्पितम् ॥569॥ एतानीदृशान् स्वप्नान् स्वप्नान्तरेऽदर्शत्, दृष्ट्वा सा प्रतिबुद्धा रुदितनयना स्वं स्वामिनमब्रवीत्। देव किं मे भविष्यति खलु भण, स्वप्नान्तराणीदृशानि, भ्रान्ता मे स्मृतिर्न च पश्यामि पुनः शोकार्दितं मे मनः ॥570॥ श्रुत्वासौ कलविङ्कदुन्दुभिरुतो ब्रह्मस्वरः सुस्वरो गोपामालपति भव प्रमुदिता पापं न ते विद्यते। ये सत्त्वाः कृतपुण्यपूर्वचरितास्तेषामेते स्वप्नाः, इमानि कोऽन्यः पश्यति नैकदुःखविभीतः स्वप्नान्तराणीदृशानि ॥571॥ यत्ते दृष्टा मेदिनी कम्पमाना कूटशैलाः (=कूटसहितशैलाः) मेदिन्या पतन्तः। देवा नागा

(भण) अथापि सर्वजगतोऽप्येवं ह्यवस्था। शीघ्रं वद (भण) वचनं यथा भूतमेतत्, श्रुत्वा तथार्थमिह योनिशश्चिन्तयिष्ये ॥547॥ नैतस्य देव कुल-धर्मो न राष्ट्रधर्म, सर्वस्य जगतो जरा यौवनं धर्षयति, तवापि मातापितृ-बान्धवज्ञातिसंघो जरयाऽमुक्तो न ह्यन्या गतिर्जनस्य ॥548॥ धिक् सारथे-ऽबुधबालजनस्य बुद्धि यो यौवनेन मदमत्तो जरां न पश्येत्। आवर्तयाशु मे रथं पुनरहं प्रवेक्ष्यामि किं मम क्रीडारतिभिर्जरयाश्रितस्य ॥549॥ किं सारथे पुरुषोऽरुविवर्णगात्रः सर्वेन्द्रियैर्विकलो गुरु प्रश्वसन्। सर्वाङ्गशुष्क उदराकुलः कृच्छ्रप्राप्तो मूत्रे पुरीषे स्वके तिष्ठति कुत्सनीये ॥550॥ एष हि देव पुरुषः परमं ग्लानः, व्याधिभयमुपगतो मरणान्तप्राप्त। आरोग्य-तेजोरहितो बलविप्रहीणो ऽत्राणद्वीपशरणो ह्ययपरायणश्च ॥551॥ आरोग्यं भवति यथा स्वप्नक्रीड़ा व्याधिभयं चेदमीदृशं घोररूपम्। को नाम विज्ञपुरुष इमां दृष्ट्वावस्थां क्रीडारतिं च जनयेच्छुभसञ्ज्ञतां वा ॥552॥ किं सारथे पुरुषो मञ्चोपरि गृहीतः, उद्धूतकेशा नरा पांसुं शिरसि क्षिपन्ति। परिचार्य विहरन्त्युरस्ताडयन्तो नानाविलापवचनान्युदीरयन्तः ॥553॥ एष हि देव पुरुषो मृतो जम्बूद्वीपे न भूयो मातापितरौ द्रक्ष्यति पुत्रदारान्। अपहाय भोगगृहमित्रज्ञातिसंघं परलोकप्राप्तो न हि द्रक्ष्यति भूयो ज्ञातीन् ॥554॥ धिग् यौवनं जरया समभिद्रुतम् आरोग्यं धिग् विविधव्याधिपराहतम्। धिग् जीवितं विदुषो न-चिरस्थितं धिक् पण्डितस्य पुरुषस्य रतिप्रसंङ्गान् ॥555॥ यदि जरा न भवेन्नैव व्याधिर्न मृत्युस् तथापि च महादुःख पञ्चस्कन्धं धरतः। किं पुनर् जराव्याधिमृत्युषु नित्यानुबद्धेषु साधु प्रतिनिवर्तस्व चिन्तयिष्ये प्रमोक्षम् ॥556॥ किं सारथे पुरुषः शान्तप्रशान्तचित्तो नोत्क्षिप्त-चक्षुर्व्रजति युगमात्रदर्शी। काषायवस्त्रवसनः सुप्रशान्तचारी पात्र गृहीत्वा न चोद्धत उन्नतो वा ॥557॥ एष हि पुरुषो भिक्षुरितिनामाऽपहाय कामरतीः सुविनीताचारी। प्रव्रज्याप्राप्तः शममात्मन एषमाण· संरागद्वेषविगतोऽन्वेति पिण्डचर्याम् ॥558॥ साधु सुभाषितमिदं मह्य रोचते च प्रव्रज्या नाम विद्वद्भिः सततं प्रशस्ता। हितमात्मनश्च पर सत्त्वहितं च यत्र सुखजीवितं सुमधुरम्, अमृतं फलं च ॥559॥ द्वारे स्थापिता युद्धशौण्डपुरुषाः खड्गायुध-पाणयो हस्त्यश्वरथाश्च वर्मितनरा आरूढ़ा नागावलीः। परिखाः खोडकास् तोरणाश्च महान्तः प्राकारा उच्छ्रापिताः, द्वाराणि सुगाढवन्धनकृतानि क्रोशस्वरमोचनानि ॥560॥ सर्वे शाक्यगणा विषण्णमनसो रक्षन्ति रात्रि-दिवं निर्घोषश्च बलस्य तस्य महतः शब्दो महाञ्छ्रूयते। नगरं व्याकुलं भीतत्रस्तमनो माऽस्माद् व्रजेत्सूरतो मा भूच्छाक्यकुलोदितस्य गमने छिद्येत

वंशो ह्ययम् ॥561॥ आज्ञप्तो युवतिजनस्य सततं संगीतिं मा छिन्त, उपस्थानं प्रकुरुत क्रीडारतिभिः, निबध्नीत मानसम्। या वा स्त्रीमाया नैकविविधा दर्शयत चेष्टा बहु, आरक्षां प्रकुरुत, विघ्नं कुरुत मा खलु व्रजेत् सूरतः ॥562॥ तस्य निष्क्रमकाले सारथिवरस्य पूर्वाणि निमित्तानीमानि हंसक्रौञ्चमयूरसारिकाशुका न ते रवम् अमुञ्चन्। प्रासादेषु गवाक्षतोरणवरेष्वट्टालमञ्चेषु च जिह्मजिह्माः सुदुर्मनसोऽसुखिता ध्यायन्त्यधोमूर्धकाः ॥563॥ पुटिनीपुष्करिणीषु पद्ममानि रुचिराणि म्लानानि म्लायन्ति च वृक्षाः शुष्कपलाशाः पुष्परहिता पुष्प्यन्ति भूयो न च। वीणा-वल्लकी-वंशास् तन्त्रीरचिताश् छिद्यन्तेऽकस्मात् तदा भेर्यश्चैव मृदङ्गाः पाण्यभिहता भिद्यन्ते नावादिषुः ॥564॥ सर्वं व्याकुलमासीत् तच्च नगरं निद्राभिभूतं भृशं नो नृत्ते न च गीते रमते भूयो मनः कस्यचित्। राजापि परमं सुदीनमनाश् चिन्तापरो ध्यायति हा धिक् शाक्यकुलस्य ऋद्धिर्विपुला मा—इहैव संघाक्षीत् (यथार्थं तु संधक्ष्यति, लुडर्थे लृट्) ॥565॥ एकस्मिञ्छयने स्थिते स्थितावभूतां गोपा-पार्थिवो तथा, गोपा रात्रावर्धरात्रसमये स्वप्नानिमान् पश्यति। सर्वेयं पृथिवी प्रकम्पिताऽभूत सकूटवच्छैला। वृक्षा मारुतेरिताः क्षितावपप्तन्न् उत्पाट्य मूलोद्धृताः ॥566॥ चन्द्रसूर्यौ नभसो भूमिपतितौ सज्योतिरलंकृतौ केशान् अदर्शल् लूनान् दक्षिणेन भुजेन मुकुटं च विध्वस्तम्। हस्तौ छिन्नौ तथैव छिन्नौ चरणौ नग्नामदर्शदात्मान मुक्ताहारं तथैव मेखलामणीन् छिन्नानदर्शदात्मनः ॥567॥ शयनस्यादर्शत् छिन्नान् पादांश् चतुरः, धरणीतलेऽशयिष्ट, छत्रे दण्डं सुचित्रं श्रीमद् रुचिरं छिन्नमदर्शत् पार्थिवस्य। सर्वाण्याभरणानि विकीर्णानि पतितान्युह्यन्ते तानि वारिणा, भर्तुश्चाभरणानि सवस्त्रमुकुटानि शय्यागतानि व्याकुलानि ॥568॥ उल्काः पश्यति निष्क्रामन्तीर् नगरात् तमसाभिभूतं पुरं छिन्ना जालिकामदर्शत् स्वप्ने रत्नात्मिकां (रत्नमयीं) शोभनाम्। मुक्ताहारं प्रलम्बमानं पतितं क्षुब्धं महासागरं मेरुं पर्वतराजमदर्शत् तदा स्थानात् संकम्पितम् ॥569॥ एतानीदृशान् स्वप्नान् स्वप्नान्तरेऽदर्शत्, दृष्ट्वा सा प्रतिबुद्धा रुदितनयना स्वं स्वामिनमब्रवीत्। देव किं मे भविष्यति खलु भण, स्वप्नान्तराणीदृशानि, भ्रान्ता मे स्मृतिर्न च पश्यामि पुनः शोकार्दितं मे मनः ॥570॥ श्रुत्वासो कलविङ्कदुन्दुभिरुतो ब्रह्मस्वरः सुस्वरो गोपामालपति भव प्रमुदिता पापं न ते विद्यते। ये सत्वाः कृतपुण्यपूर्वचरितास्तेषामेते स्वप्ना, इमानि कोऽन्यः पश्यति नैकदुःखविभीतः स्वप्नान्तराणीदृशानि ॥571॥ यत्ते दृष्टा मेदिनी कम्पमाना कूटशैलाः (=कूटसहितशैलाः) मेदिन्या पतन्तः। देवा नागा

राक्षसा भूतसंघा सर्वे त्वां पूजयित्वा श्रेष्ठां कुर्वन्ति ॥572॥ यत्ते दृष्टा वृक्षा मूलोद्धृता. केशान् लूनान् दक्षिणेनादर्शः क्षिप्रं गोपे क्लेशजालं छित्वा वृष्टिजालमुद्धरेः संस्कृतात् ॥573॥ यत्ते दृष्टौ चन्द्रसूर्यौ पतन्तौ दृष्टानि नक्षत्राणि ज्योतींषि निपतन्ति । क्षिप्र गोपे क्लेशशत्रुं निहत्य पूज्या लोके भाविनी त्वं प्रशस्या ॥574॥ यत्ते दृष्टो मुक्ताहारो विशीर्णो नग्नं भग्नं सर्वकायमदर्शः । क्षिप्रं गोपे स्त्रीकायं विहाय पुरुषस्त्वं वै भविष्यसि नचिरेण ॥575॥ यत्ते दृष्टो मञ्चकश् छिन्नपादश् छत्रे दण्डो रत्नचित्रः प्रभग्नः । क्षिप्रं गोपे, ओघांश् चतुरस् तीर्त्वा मा द्रष्टास्येकछत्रं त्रिलोके ॥576॥ यत्ते दृष्टानि भूषणान्युह्यमानानि चूडां वस्त्राणि मम मञ्चेऽदर्शः । क्षिप्रं गोपे लक्षणैर् भूषिताङ्गं मा संपश्येः सर्वलोकैः स्तूयमानम् ॥577॥ यत्ते दृष्टानि दीपकोटिशतानि नगरान्निष्क्रान्तानि तत्पुरं च (स)ान्धकारम् । क्षिप्रं गोपे मोहाविद्यान्धकारं प्रज्ञालोके करोमि सर्वलोकम् ॥578॥ यत्ते दृष्टो मुक्ताहारः प्रभग्नश् छिन्नं चैव स्वर्णसूत्रं विचित्रम् । क्षिप्रं गोपे क्लेशजालं छित्वा संज्ञायाः सूत्रम् उद्धरे संस्कृतातः ॥579॥ यत् त्वं गोपे चित्तीकारं (चित्रीकारं = संमानं) करोषि नित्यं पूजा गौरवेणोत्तमेन । नास्ति तुभ्य दुर्गतिर्नैव शोकः क्षिप्रं भव प्रीतिप्रामोद्यलब्धा ॥580॥ पूर्वं मया दानं दत्तं प्रणीतं (= उत्तमं) शीलं चरितं भाविता नित्यं क्षान्तिः । तस्मान्मयि ये प्रसादं लभन्ते सर्वे भवन्ति प्रीतिप्रामोद्यलाभाः ॥581॥ कल्पान् कोटीः संस्कृते मेऽनन्तान् बोधिमार्गः शोधितो मे प्रणीतः । तस्मान्मयि ये प्रसादं कुर्वन्ति सर्वे छिन्नास्तेषां त्रयोऽप्यपायाः ॥582॥ हर्षं विन्द मा च खेदं जनय तुष्टि विन्द सजनय च प्रीतिम् । क्षिप्र भविष्ये प्रीतिप्रामोद्यलाभी शोभ्व गोपे भद्रकाणि ते निमित्तानि ॥583॥ स पुण्यतेजोभृतः श्रीतेजोगर्भः पूर्वान् निमित्तस्वप्नानिमान् अदर्शत् । ये भवन्ति पूर्वशुभकर्मसमुच्चयानां नैष्क्रम्यकालसमये नरपुङ्गवानाम् ॥584॥ सोऽदर्शच्च करेण चरणेन (च) आहतानां महासागराणा चतुर्णां जलं लोलत् । सर्वामिमा वसुमती शयनं विचित्रं मेरुं च पर्वतवरं शिरस उपधानम् ॥585॥ आभा प्रमुक्तां स्वप्ने तदादर्शत्, लोके विलोकयितुं महातमोन्धकारम् । छत्रमुद्गत धरण्यां स्फरति त्रिलोकम् आभया स्पृष्टानि विनिपातदुःखानि प्रशान्तानि ॥586॥ कृष्ण-शुभाश् चत्वारः प्राणकाः पादावलेखिपुश् चतुर्वर्णा एत्य शकुना भूता एकवर्णाः । मीढ (= मल) गिरिं परमहीनं जुगुप्सनीयम् अभिभूय चङ्क्रमीति तत्र च नोपलिप्तः ॥587॥ भूयोऽदर्शत् स्वप्न नद्यो जलप्रपूर्णा बहुसत्त्वकोटिनयुतानि चोह्यमाना । स नावं कृत्वा प्रतीर्य पराश्च प्रतार्य

स्थापयति स स्थलवरेऽभयेऽशोके ॥588॥ भूयोऽदर्शद् बहून् आतुरान् रोगस्पृष्टान् आरोग्यतेजोरहितान् बलविप्रहीणान् । स वैद्यो भूत्वा बहून्यौषधानि संप्रदाय मोचयति सत्त्वनयुतानि बहुरोगस्पृष्टानि ॥589॥ सिंहासने च हि निषण्णं सुमेरुपृष्ठे शिष्यान् कृताञ्जलिपुटानमरान् नमतः संग्राममध्ये जयमदर्शदात्मनश्चानन्दशब्दममरान् गगने ब्रुवतः ॥590॥ एतादृशान् स्वप्नान् अदर्शद् बोधिसत्त्वो मङ्गल्यशोभव्रतस्य च परिपूर्णतायाः (यथाऽत्वं तु परिपूर्णताम्)। यान् श्रुत्वा देवमनुजा अभवन् प्रहृष्टा न चिराद् भविष्यत्ययं नरदेवदेवः ॥591॥

॥१८॥

॥ अभिनिष्क्रमणपरिवर्तः ॥

मुद्रितग्रन्थ 198 (पंक्ति 1)—237 (पंक्ति 17)

भोटानुवाद 148क (पंक्ति 6)—174ख (पंक्ति 5)

॥१५॥

॥ अभिनिष्क्रमणपरिवर्त ॥

1. (-198-) हे भिक्षुओ, इसके बाद बोधिसत्त्व के मन में यह हुआ कि यह मेरे लिए उचित न होगा, यह मेरी अकृतज्ञता होगा, यदि मैं (अपने) पिता महाराज शुद्धोदन से बिना निवेदन किए ही, तथा (उनकी) अनुमति बिना पाए ही (घर से) निकल पड़ूँ। वे [1]प्रशान्त हो रही रात में[1] अपने उपस्थान-प्रासाद (दरबार) से उतर कर राजा शुद्धोदन के महल के नीचे जा =148ख= ठहरे।

1....1. मूल, रात्रौ प्रशान्तायाम्। यह प्रयोग पहले कई बार आ चुका है। इसका भोट में नुब् मो मिञल् च़म् न (द्रष्टव्य प्रथम परिवर्त टिप्पणी 62....62 अथवा मृछन् मो मि ञल् च़म् न (जैसे यहाँ पर तथा पूर्व में द्रष्टव्य टिप्पणी 13/77....77;14/1....1) वाक्यांशो से अनुवाद हुआ है। दो स्थानों पर नुब् मो मि ञल् नस् (द्रष्टव्य 6/22क....22क; 27....27....) वाक्यांश से अनुवाद हुआ है। वहाँ मूल संस्कृत रात्र्या प्रशान्तायां तथा प्रशान्ताया रात्र्या क्रम से है। इन सब स्थानो मे भोटानुवाद जिस अर्थ को प्रकट करता है उसे यदि संस्कृत मे कहे तो असुप्तमात्रायां रात्रौ अथवा असुप्ताया रात्रौ होगा। भाव सर्वत्र यही है रात मे जब लोग सो नहीं रहे थे। इस वाक्याश से यहाँ पर रात के प्रथम प्रहर से अभिप्राय है क्योकि आगे कचुकी कहता है कि अभी आधी रात भी नही बीती (रजन्या उपार्ध नातिक्रान्त)। भोटप्रकाश मे विधुशेखर भट्टाचार्य प्रशान्तायां को अशुद्ध मान कर अशान्ताया पाठ मानते हैं (द्रष्टव्य पृष्ठ 122,288)। यह शोधन चिन्त्य है। वस्तुतः प्रशान्ताया पाठ औपचारिक है। सायंकाल में भोजनादि पकाने के कारण ग्रामो के ऊपर धुआँ छा जाता है, गोदोहनादि का शब्द होता है, इधर-उधर से निकलते लोगो की ओर कुत्ते भूँकते है, भिखारी भी भिक्षा के लिए धुन करते है यो एक प्रकार का कोलाहल सा रहता है। यह कोलाहल खा-पीकर लेट रहने पर शान्त हो जाता है यद्यपि लेटते-लेटते लोग तुरन्त सो नही जाते। सन्ध्याकाल के परवर्ती काल को यहाँ पर प्रशान्तायां रात्रौ से कहा-गया है। इस वाक्यांश से प्रकट होने वाले व्यापक अर्थ के एक अंश का भोट मे अनुवाद है।

बोधिसत्त्व के वहाँ पर ठहरते ही वह सब-का-सब महल प्रकाश से चमक उठा। वहाँ पर जगे हुए राजा ने उस प्रकाश को देखा। देख कर झट-पट कंचुकी को बुलाया। हे कंचुकिन्, क्या सूर्य निकल आया जिससे प्रकाश विराज रहा है। कंचुकी ने कहा। [2]हे देव, अब तक भी[2] रात आधी (भी) नही बीती। इसके अतिरिक्त हे देव,

(छंद वसन्ततिलका)

सूर्यप्रभाय भवते द्रुमकुड्यछाया
संतापयाति च तनुं प्रकरोति धर्मं।
हंसामयूरशुककोकिलचक्रवाकाः
प्रत्यूषकालसमये स्वरुता रवन्ति ॥592॥

सूर्य के प्रकाश मे पेड़ों की और दीवालों की छाया (धरती पर) पडने लगती है, (सूर्य का प्रकाश) शरीर को खूब तपाने लगता है, गर्मी पैदा करता है, सबेरे के समय हंस, मोर, सुग्गे, कोयलें तथा चकवा-चकई अपनी-अपनी बोली बोलने लगते हैं।

आभा इयं तु नरदेव सुखा मनोज्ञा
प्रह्लादनी शुभकरी न करेति दाहं।
कुड्या च वृक्ष अभिभूय न चास्ति छाया
निस्संशयं गुणधरो इह अद्य प्राप्तः ॥593॥

हे नरदेव, यह प्रकाश तो सुखदायी, मन को भाने वाला, अत्यन्त आनन्द देने वाला, मंगलकारक है, जलन नही पैदा कर रहा है, दीवालों और वृक्षों को दबाकर विराज रहा है और (इसमे) छाया (धरती पर) नही पड़ रही है। नि सन्देह गुणवान् (बोधिसत्व) आज यहाँ आ पहुँचे है।

सो प्रेक्षते दश दिशो नृपती विषण्णो
दृष्टश्च सो कमललोचन शुद्धसत्वः।
(–199–) सो ऽभ्युत्थितुं शयनि इच्छति न प्रभोति
पितृगौरवं जनयते वरशुद्धबुद्धिः ॥594॥

वे घबराए हुए राजा (शुद्धोदन) दसो दिशाओं की ओर निहारते हैं और उन कमलो के जैसे नेत्रो वाले, शुद्ध मन वाले (बोधिसत्व) को देखते है, वे पलंग से उठना चाहते हैं पर उठ नही पाते (क्योंकि) उत्तम और पवित्र बुद्धि वाले (बोधिसत्व को इस प्रकार) पिता का गौरव कर दिखाना (इष्ट) है।

2....2. मूल, अद्यापि तावदेव। पठनीय, अद्यापि ताव देव (= अद्यापि तावद् देव)। तुलनीय मोट ल्ह व ड्ड ड्ड।

सो च स्थिहित्व पुरतो नृपति अवोचत्
मा भूयु विघ्न प्रकरोहि म चैव खेदं ।
नैष्क्रम्यकालसमयो मम देव युक्तो
हन्त क्षमस्व नृपते सजनः सराष्ट्रः ॥595॥

वे सामने खड़े होकर राजा से बोले—अब और विघ्न न करो, न और खेद ही करो, हे देव, (यह घर से) निकलने का मेरा ठीक समय है, अहो राजन्, राष्ट्र के सहित (स्व) जनों के सहित क्षमा करो ।

तं अश्रुपूर्णनयनो नृपती बभाषे
किंचित् प्रयोजनु भवेद् विनिवर्तने ते ।
किं याचसे मम वरं वद सर्वु दास्ये
=149क= अनुगृह्ण राजकुलु मां च इदं च राष्ट्रं ॥596॥

आँखों में आँसू भर कर राजा ने उनसे कहा। क्या किसी प्रयोजन से तुम्हारा लौटना हो सकता है ? मुझसे कोई वर माँगते हो तो बोलो, सब दूंगा, राजकुल पर, मुझ पर और इस राष्ट्र पर अनुग्रह करो ।

तद बोधिसत्त्व अवची मधुरप्रलापी
इच्छामि देव चतुरो वर तान् मि देहि ।
यदि शक्यसे ददितु मह्य वसे ति तत्र
तद् द्रक्ष्यसे सद गृहे न च निष्क्रमिष्ये ॥597॥

तब मीठी बोली बोलने वाले बोधिसत्त्व ने कहा—हे देव, चार वर चाहता हूँ, यदि मुझे दे सकते हो तो मुझे दे दो, तब तुम्हारे यहाँ रहूँगा, सदा मुझे घर में देखोगे और (घर से) न निकलूँगा ।

इच्छामि देव जर मह्य न आक्रमेय्या।
शुभवर्ण-यौवन स्थितो भवि नित्यकालं ।
आरोग्यप्राप्तु भवि नो च भवेत व्याधिः
[3]अमितायुषश्च भवि नो च भवेद् विपत्तिः[3] ॥598॥

हे देव, चाहता हूँ कि जरा मुझपर आक्रमण न करे, सुन्दर रंग-रूप और जवानी हमेशा बनी रहे, आरोग्य का लाभी रहूँ और व्याधि न हो, अमित-आयु वाला होऊं और विपत्ति न ह ।

3....3. मूल, अमितायुषश्च भवि नो च भवेत मृत्युः (संपत्तितश्च विपुला नु भवेद्विपत्तिः) । भोट, छे द्पग् म भ्छिस् प दङ् गुंद् पर् मि हग्युर ह्रछल् । एवं भवेत मृत्यु. (संपत्तितश्च विपुलानु) इतना पाठ क्षेपक है ।

बोधिसत्त्व के वहाँ पर ठहरते ही वह सब-का-सब महल प्रकाश से चमक उठा। वहाँ पर जगे हुए राजा ने उस प्रकाश को देखा। देख कर झट-पट कंचुकी को बुलाया। हे कंचुकिन्, क्या सूर्य निकल आया जिससे प्रकाश विराज रहा है। कंचुकी ने कहा। [2]हे देव, अब तक भी[2] रात आधी (भी) नही बीती। इसके अतिरिक्त हे देव,

(छंद वसन्ततिलका)

सूर्यप्रभाय भवते द्रुमकुड्यछाया
संतापयाति च तनुं प्रकरोति धर्मं।
हंसामयूरशुककोकिलचक्रवाकाः
प्रत्यूषकालसमये स्वरुता रवन्ति ॥592॥

सूर्य के प्रकाश मे पेड़ों की और दीवालो की छाया (धरती पर) पड़ने लगती है, (सूर्य का प्रकाश) शरीर को खूब तपाने लगता है, गर्मी पैदा करता है, सबेरे के समय हंस, मोर, सुग्गे, कोयले तथा चकवा-चकई अपनी-अपनी बोली बोलने लगते है।

आभा इयं तु नरदेव सुखा मनोज्ञा
प्रह्लादनी शुभकरी न करेति दाहं।
कुड्या च वृक्ष अभिभूय न चास्ति छाया
निस्संशयं गुणधरो इह अद्य प्राप्तः ॥593॥

हे नरदेव, यह प्रकाश तो सुखदायी, मन को भाने वाला, अत्यन्त आनन्द देने वाला, मंगलकारक है, जलन नही पैदा कर रहा है, दीवालो और वृक्षों को दबाकर विराज रहा है और (इसमे) छाया (धरती पर) नही पड़ रही है। नि.सन्देह गुणवान् (बोधिसत्त्व) आज यहाँ आ पहुँचे है।

सो प्रेक्षते दश दिशो नृपती विषण्णो
दृष्टश्च सो कमललोचन शुद्धसत्त्वः।
(-199-) सो ऽभ्युत्थितुं शयनि इच्छति न प्रभोति
पितृगौरवं जनयते वरशुद्धबुद्धिः ॥594॥

वे घबराए हुए राजा (शुद्धोदन) दसो दिशाओं की ओर निहारते हैं और उन कमलो के जैसे नेत्रों वाले, शुद्ध मन वाले (बोधिसत्त्व) को देखते है, वे पलँग से उठना चाहते है पर उठ नही पाते (क्योकि) उत्तम और पवित्र बुद्धि वाले (बोधिसत्त्व को इस प्रकार) पिता का गौरव कर दिखाना (इष्ट) है।

2....2. मूल, अद्यापि तावदेव। पठनीय, अद्यापि ताव देव (=अद्यापि तावद् देव)। तुलनीय भोट ल्ह द ड्ङ् ड।

सो च स्थिहित्व पुरतो नृपतिं अवोचत्
मा भूयु विघ्न प्रकरोहि म चैव खेदं ।
नैष्क्रम्यकालसमयो मम देव युक्तो
हन्त क्षमस्व नृपते सजनः सराष्ट्रः ||595||

वे सामने खड़े होकर राजा से बोले—अब और विघ्न न करो, न और खेद ही करो, हे देव, (यह घर से) निकलने का मेरा ठीक समय है, अहो राजन्, राष्ट्र के सहित (स्व) जनों के सहित क्षमा करो ।

तं अश्रुपूर्णनयनो नृपती बभाषे
किंचित् प्रयोजनु भवेद् विनिवर्तने ते ।
किं याचसे मम वरं वद सर्वु दास्ये
=149क= अनुगृह्ण राजकुलु मां च इदं च राष्ट्रं ||596||

आँखों में आँसू भर कर राजा ने उनसे कहा क्या किसी प्रयोजन से तुम्हारा लौटना हो सकता है ? मुझसे कोई वर माँगते हो तो बोलो, सब दूंगा, राजकुल पर, मुझ पर और इस राष्ट्र पर अनुग्रह करो ।

तद बोधिसत्त्व अवची मधुरप्रलापी
इच्छामि देव चतुरो वर तान् मि देहि ।
यदि शक्यसे ददितु मह्य वसेति तत्र
तद् द्रक्ष्यसे सद गृहे न च निष्क्रमिष्ये ||597||

तब मीठी बोली बोलने वाले बोधिसत्त्व ने कहा—हे देव, चार वर चाहता हूँ, यदि मुझे दे सकते हो तो मुझे दे दो, तब तुम्हारे यहाँ रहूँगा, सदा मुझे घर में देखोगे और (घर से) न निकलूँगा ।

इच्छामि देव जर मह्य न आक्रमेय्या
शुभवर्णयौवन स्थितो भवि नित्यकालं ।
आरोग्यप्राप्तु भवि नो च भवेत व्याधिः
[3]अमितायुपश्च भवि नो च भवेद् विपत्तिः[3] ||598||

हे देव, चाहता हूँ कि जरा मुझपर आक्रमण न करे, सुन्दर रंग-रूप और जवानी हमेशा बनी रहे, आरोग्य का लाभी रहूँ और व्याधि न हो, अमित-आयु वाला होऊँ और विपत्ति न ह ।

3....3. मूल, अमितायुपश्च भवि नो च भवेत मृत्युः (संपतितश्च विपुला नु भवेद्विपत्तिः) । भोट, छे द्पग् म भ्छिस् प दङ् गुंद् पर् मि हूग्युर हूछल् । एवं भवेत मृत्यु. (संपत्तितश्च विपुलानु) इतना पाठ क्षेपक है ।

राजा श्रुणित्व वचनं परमं दुःखार्तो
अस्थानु याचसि कुमार न मेऽत्र शक्तिः।
(–200–) जरव्याधिमृत्युभयतश्च विपत्तितश्च
कल्पस्थितीय ऋषयोऽपि न जातु मुक्ताः ॥599॥

बात को सुन कर राजा दुःख से अत्यन्त पीडित हुए। कुमार, तुम्हारी माँग बे ठिकाने की है। इस पर मेरा बस नही है। जरा, व्याधि और मृत्यु के भय से तथा विपत्ति से कल्प तक ठहरने वाले ऋषि भी कभी मुक्त नही हुए।

[4]पिता का वचन सुन कर कुमार बोले[4]।

यदि दानि देव चतुरो वर नो ददासि
जरव्याधिमृत्युभयतश्च विपत्तितश्च।
हन्तः श्रृणुष्व नृपते अपरं वरैकं
अस्माच्च्युतस्य प्रतिसंधि न मे भवेया ॥600॥

हे देव, अब जरा, व्याधि, तथा मृत्यु से और विपत्ति से (मुक्ति के) चार बर नही देते हो, तो अहो राजन्, एक और वर सुनो—यहाँ से देह त्यागने पर मेरा पुनर्जन्म न हो।

श्रुत्वैव चेम वचनं नरपुङ्गवस्य
तृष्णां तनुं च करि छिन्दति पुत्रस्नेहं।
अनुमोदनी हितकरा जगतः प्रमोक्षं
अभिप्रायु तुभ्य परिपूर्यतु यन्मतं ते ॥601॥

महापुरुष के ऐसे वचन को सुन कर ही (राजा ने) तृष्णा को कमकर पुत्र-स्नेह काट डाला। हित करने वाली जगत् की मुक्ति का अनुमोदन (कर कहा) तुम्हारा जो मन चाहा अभिप्राय है (वह) पूरी तरह पूरा हो।

1. हे भिक्षुओं, इसके बाद बोधिसत्त्व लौट कर अपने महल पर चढ़ कर पलँग पर जा बैठे। उनके आने जाने का = 149 ख = और किसी को पता न चला।

2. हे भिक्षुओं, इस प्रकार उस रात के बीतने पर राजा शुद्धोदन ने सारे शाक्यगण को इकट्ठा कर यह बात[5] बताई कि कुमार (घर से) निकलने वाले है,

4....4. मूल, (श्रुत्वा वचनमत्र पितुः कुमारोऽवचि)। यह पाठ भोट मे नही है।
4क मूल, प्रकृतिम्। प्रकृतिम् को प्रवृत्तिम् शब्द द्वारा शोधन का यत्न किया गया है (भोटप्रकाश 129)। वृत्तान्त के अर्थ मे पकति शब्द पालि मे है। यहाँ प्रकृति उसी अर्थ में है। शोधन बेकार है।

5. मूल, अडकवती। यह शब्द संस्कृत के अलकावती और अटकावती के लिए है। भोट, ल्चङ् लो चन्। शरत् चन्द्र दास की टिबेटन् इग्लिश् डिक्शनरी में इस शब्द के उक्त दोनो संस्कृत प्रतिशब्द दिए है। वैद्य महोदय अडकवती पाठ का प्रत्याख्यान कर अकलवती पढते है।

अब क्या करना होगा ? शाक्यों ने कहा—हे देव, रखवाली करेंगे। वह किस हेतु ? यह शाक्यगण महान् है और वे है अकेले। उनकी क्या ताकत जो ज़बरदस्ती निकल भागें।

3. वहाँ पर उन शाक्यों ने तथा राजा शुद्धोदन ने अस्त्र-शस्त्र चलाने में मे पक्के, योग्यताप्राप्त, धनुर्वेद मे शिक्षा पाए हुँए, महानग्न (अर्थात् महारुद्र अथवा महान् गण) के बल से युक्त पाँच सौ शाक्य—कुमार नगरके पूरबी द्वार पर बोधिसत्त्व की रखवाली के लिए तैनात किए। एक-एक (–201–) शाक्यकुमार पाँच सौ रथो के सहित, तथा एक-एक रथ पाँच सौ पैदल—जवानों के सहित बोधिसत्व की रखवाली के लिए तैनात किया गया था। इसी प्रकार नगर के दक्खिनी, पच्छिमी, और उत्तरी द्वार पर भी अस्त्र-शस्त्र-चलाने में पक्के, योग्यताप्राप्त, धनुर्वेद में शिक्षा पाए महानग्न (अर्थात् महारुद्ध अथवा महान् गण) के बल से युक्त पाँच-पाँच सौ शाक्यकुमार, एक-एक शाक्यकुमार पाँच सौ रथों के सहित, तथा एक-एक रथ पाँच पाँच सौ पैदल-जवानो के सहित बोधिसत्त्व की रखवाली के लिए तैनात किए गए थे। बड़े-बूढ़े शाक्य सब चौराहों पर, तिराहों पर, भीड़-भाड़ वाली सड़कों पर = 150क = रखवाली के लिए डटे खड़े हो गए थे। और राजा शुद्धोदन घोड़ों पर और हाथियों पर चढ़ कर डटे हुए पाँच सौ शाक्कुमारों के साथ घेरा डाले अपने घर के द्वार पर सबसे आगे विराजते हुए जाग रहे थे।

4. तथा महाप्रजापती गौतमी दासियों के समूह को संबोधन कर कह रही थी—

(छंद आर्या)

ज्वालेथ दीप विमलां ध्वजाग्रि मणिरत्न सर्वि स्थापेथ।
ओलम्बयाथ हारां प्रभां कुरुत सर्वि गेहेस्मिन् ॥602॥

निर्मल दीपक जलाओ, सब मणि-रत्नों को ध्वजाओं की चोटी पर स्थापित करो, मोतियों के हारो को लटकाओ, सब घर में उजाला कर दो।

संगीति भोजयेथा जागरथ अतिन्द्रिता इमां रजनीं।
प्रतिरक्षथा कुमारं यथा अविदितो न गच्छेया ॥603॥

गाना-बजाना जमा दो, बिना झपकी लिए यह रात जागते रहो, कुमार की रखवाली करो ताकि चुपके से निकल न जाएँ।

वर्मित कलापहस्ता असिधनुशरशक्तितोमरगृहीताः।
प्रियतनयरक्षार्थं करोथ सर्वे महायत्नं ॥604॥

सब (लोग) कवचधारी, हथियारबन्द, तलवार, तीर-कमान, बरछी-भाले ले प्यारे पुत्र की रखवाली करने के लिए खूब कोशिश करो।

द्वारा पिधेथ सर्वा सुयन्त्रितानिर्गडां दृढ़कपाटां।
मुञ्चथ मा च अकाले मा अप्रसत्त्व इतु न व्रजेया ।।605।।

मजबूत किंवाडों के, भलीभाँति अर्गल लगे हुए द्वारों को बन्द कर दो। विना समय (उन्हे) मत खोलना, (देखो) मत खोलना। उत्तम मन (के बोधिसत्व) यहाँ से जाने न पाएँ।

मणिहार मुक्तहारां मुखपुष्पके अर्धचन्द्र संश्रृखला: ।
मेखल कर्णिक मुद्रिक सुनिबद्धां नूपुरां कुरुत ।।606।।

मणिहार, मुक्ताहार, मुखपुष्पक (ललाटाभरण), श्रृंखला (अर्थात् चेन) के साथ अर्धचन्द्र (नामक शिरोभूषण) मेखला (करधनी) कर्णिका (करनफूल) मुद्रिका (अँगूठी) तथा नूपुर (पायजेब) भली भाँति धारण कर लो।

यदि सहस निष्क्रमेया नरमरुहित मत्तवारणविचारी।
तथ तथ पराक्रमेया यथा विघात न विन्देया ।।607।।

यदि देवताओं और मनुष्यों के हितकारी, मत्त गज (राज) समान विचरने हारे हठ करके निकलने लगें तो जैसे उन्हे तकलीफ़ न मिले उस-उस तरह पराक्रम करना।

या नारि शक्तिधारी शयनं परिवारयन्तु विमलस्य ।=150ख=
म च भवथ मिद्धविहता: पतङ्ग इव रक्षथा नेत्रै: ।।608।।

जो स्त्रियां बरछीबन्द है, वे निर्मल (बोधिसत्त्व) के सोने के स्थान को घेर लें, नींद के मारे न घबराएँ, पखेरू जैसे (अपने बच्चों की) रखवाली करती है, वैसे आँखो से (बोधिसत्त्व की) रखवाली करे।

छादेथ रतनजाले इदं गृहं पार्थिवस्य रक्षार्थं।
वेणूरवांश्च रवथा इमां रजनि रक्षथा विरजां ।।609।।

पृथिवी के उत्तराधिकारी (बोधिसत्त्व) की रखवाली करने के लिए इस घर को रत्नों के जाल से छादो, बंशी की ध्वनि गुँजा दो, इस रात भर रजोगुणहीन (निर्मल बोधिसत्त्व) की रखवाली करो।

अन्योन्य बोधयेथा भव सयथा रक्षथा इमां रजनी।
माहु अभिनिष्क्रमेया विजह्य राष्ट्रं च राज्यं च ।।610।।

एक-दूसरे को जगाते रहना, बिल्कुल मत सोना, इस रात भर रखवाली करना, देश और राज्य का त्याग कर (कुमार घर से) न निकलने पाएँ।

एतस्य निर्गतस्या राजकुलं सविमं निरभिरम्यं।
उच्छिन्नश्च भवेया पार्थिववंशश्चिरनुबद्धः ॥611॥

इनके (घर से) निकल जाने पर यह सबका सब राजकुल निरानन्द हो जाएगा, और चिरकाल से चले आए इस राजवंश (की परंपरा) का उच्छेद हो जाएगा ॥इति॥

5 हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर यक्षों के अट्ठाईस सेनापति, जिनमें यक्ष सेनापति पाञ्चिक प्रधान थे, तथा पाँच सौ हारीतीपुत्र एक जगह इकट्ठे होकर यों सलाह करने लगे कि हे मार्षो (= हे साथियो) आज बोधिसत्त्व (घर से) निकलेंगे, उनकी पूजा करने के लिए तुम-सबको तैयार रहना चाहिए।

6. और चारों महाराज (अर्थात् उत्तर के लोकपाल कुवेर, पूर्व के धृतराष्ट्र, दक्षिण के विरूढक, तथा पश्चिम के विरूपाक्ष) राजधानी अलकावती[5] मे प्रवेश कर उस बडी यक्षमण्डली को सबोधन कर बोले। हे मार्षो (= हे साथियो), आज बोधिसत्त्व (घर से) निकलेंगे। तुम सबको उन्हें (उनके) उत्तम अश्व के चरणो को (हाथों पर) लेकर निकलना चाहिए।

7. यक्षो की वह मण्डली बोली—

(छंद दंडक)

वज्रदृढ अभेद्य नारायणो आत्मभावो, गुरु,
वीर्यबलउपेत सोऽकम्पियो सर्वसत्त्वोत्तमः । = 151क =
गिरिवर महमेरु उत्पाट्य शक्यं नभे धारितु केन चित्,
न तु जिनगुणमेरु शैलैर्गुरुः,
पुण्यज्ञानाश्रितः शक्य नेतुं क्वचित् ॥612॥

उनका शरीर विष्णु के समान भारी है, वज्र के समान दृढ है, अभेद्य है। सब प्राणियों में उत्तम, बल और वीर्य के धनी वे (बोधिसत्त्व) अकम्प्य है। उत्तम पर्वत महामेरु को उखाड़ कर कोई आकाश में उठाए रह सकता है। परंतु पहाड़ो से भी भारी, बुद्धगुणों को सुमेरु, पुण्य और ज्ञान के आश्रय (बोधिसत्त्व) को कही ले जाया नही जा सकता।

8. (–203–) वैश्रवण (कुबेर) बोले—

(छंद वसन्ततिलका)

ये मानगर्वित नरा गुरु तेषु शास्ता।
ये प्रेमगौरवस्थिता लघु ते विजानि।

अध्याशयेन अभियुज्यथ गौरवेण
लघु तं हि वेत्स्यथ खगा इव तूल पेसि ॥613॥

जो लोग बड़े होने के अहंकार में भरे है, उनके लिए (धर्म के) शास्ता भारी है। जो प्रेम और गौरव में स्थित है, उनको वे हलके जान पड़ेंगे। उत्तम अभिप्राय और गौरव के साथ उनसे लगन लगाए रहे तो जैसे पक्षी को मांस का टुकड़ा रूई जैसा हलका लगता हैं, वैसे ही वे भी तुम्हे हलके जान पड़ेंगे।

अहं च पुरतो यास्ये यूयं च वहथा हयं।
नैष्क्रम्ये बोधिसत्त्वस्य पुण्यमार्जयामो बहुं ॥614॥

मै आगे चलूँगा, तुम-सब घोडे को उठाए लेते चलो। बोधिसत्त्व के (घर से) निकलने के अवसर (हम-सब) बहुत कमाएँ।

9. हे भिक्षुओं, इसके बाद देवताओं के राजा शक्र ने त्रयस्त्रिंश-लोक के देवताओं को संबोधन कर कहा हे मार्षो (हे साथियो) आज बोधिसत्व (घर से) निकलेंगे, उनकी पूजा करने के लिए तुम सबको तैयार रहना चाहिए।

10. वहाँ शान्तिमति नाम के देवपुत्र थे। वे इस प्रकार बोले—मैं महानगर कपिलवस्तु मे सब स्त्री-पुरुषों, बच्चे-बचियों को सुला दूँगा।

11. ललितव्यूह नाम के देवपुत्र थे। वे इस प्रकार बोले—मैं भी हाथी-धोड़ों, ऊँट-गदहो, स्त्रीपुरुषों, बच्चे-बच्चियों के—सबके शब्द का अन्तर्धान कर दूँगा।

12. व्यूहमति नाम के देवपुत्र थे। वे इस प्रकार बोले बोधिसत्व जिस मार्ग से घर से निकल कर जाएँगे मैं आकाश-तल में = 151ख = उस मार्ग को सजाऊँगा जो माप मे इतना चौड़ा होगा कि जिस पर सात रथ चल सकें, जिसके दोनों ओर रत्नों की वेदिकाएँ बनी हों, सूर्यकान्त-मणिरत्न के प्रकाश से जो चमकता हो, जिसके किनारे ध्वजाएँ और पताकाएँ फहराती हो, जिस पर अनेक फूल बिखरे हों, और अनेकों गन्ध-घटिकाओं से जिसे धूपा गया हो।

13. ऐरावण नाम के नागराज थे। वे इस प्रकार बोले—मैं भी अपनी सूँड़ में बत्तीस योजन लम्बा-चोड़ा कूटागार (अर्थात् अंटा) बनाऊँगा। जिस पर (–204–) चढ़ कर अप्सराएँ बाजों पर स-र-ग-म अलापती हुई बड़े गाने-बजाने के साथ बोधिसत्व की पूजा-सेवा करती-करती चलेंगी।

14. स्वयं देवताओं के राजा शक्र बोले—मैं द्वार खोल दूँगा और भली भाँति मार्ग दिखाऊँगा।

15. धर्मचारी देवपुत्र बोले—मैं अन्तःपुर को विकृत अर्थात् घिनौना कर दिखाऊँगा।

16. संचोदक देवपुत्र बोले—मैं बोधिसत्त्व को पलँग से उठाऊँगा ।

17. वहाँ पर वरुण नाम के नागराज, मनस्वी नागराज, सागर नागराज, अनवतप्त नागराज, तथा नन्द और उपनन्द नागराज एवं बोले—हम भी बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए समयानुकूल मेघ ऋद्धि से बना कर उरगसार नामक चन्दन के चूर्ण की =152क= वर्षा बरसा देंगे ।

18. हे भिक्षुओं, इस प्रकार देवताओं, नागों, यक्षो और गंधर्वो ने यह इस प्रकार के निश्चय का विचार मन मे किया और (उसमें) लग गए । इसी प्रकार धर्म-चिन्ता मे मग्न, सगीत हो रहे महल मे सुखदायक पलँग पर विराजे, अन्तःपुर (की स्त्रियों) के बीच विराजमान, पूर्वकाल के बुद्धों के चरित्र का चिन्तन करते हुए, सब प्राणियों के हित की बात सोचते हुए बोधिसत्त्व के (मनके) संमुख पहले किए गए चार प्रणिधान (संकल्प) आए। कौन से चार ? पहले मैंने स्वयंभू (—बुद्धों) की प्रभुताई चाहते हुए सर्वज्ञता की प्रार्थना करते हुए प्राणियों को दुःख देखकर इस प्रकार कमर कसी थी कि अहो क्या ही अच्छा हो कि मैं आवागमनरूपी महाकारागार के बंधन में पड़ी हुई लोकस्थिति के आवागमन-चक्र को तोड़ कर बंधन से सर्वथा मुक्ति होने का नारा लगाऊँ और तृष्णा की हथकड़ी-बेडियों मे मजबूती से बँधे प्राणियों को छुड़ाऊँ । यह पहले किया गया प्रथम प्रणिधान (मन के) संमुख आया ।

19. (—205—) अहो क्या ही अच्छा हो कि मैं आवागमनरूपी महान् अविद्या की अँधेरी गुहा में पडे, अज्ञान के अँधेरे परदे से ढँके हुए नेत्र के, प्रज्ञा के नेत्र से सर्वथा रहित, अविद्या और मोह से अँधे लोक के लिए धर्म का महान् आलोक करूँ, ज्ञान का प्रदीप का उपहार दूँ, [6]तीन विमोक्षों (=अर्थात् शून्यता-विमोक्ष, अनिमित्त-विमोक्ष एवं अप्रणिहित-विमोक्षो) के =152ख= द्वार-भूत[6] ज्ञान की औषधि के प्रयोग द्वारा प्रज्ञा और उपाय के ज्ञान की सम्यक् युक्ति से महान् तिमिर (रोग) के परदे वाली मलिनता को दूर कर, अविद्या के अंधे बनाने वाले अँधेरे से मारे गए प्रज्ञा के नेत्र को शुद्ध करूँ । यह पहले किया गया द्वितीय प्रणिधान (मन के) समुख आया ।

20. अहो क्या ही अच्छा हो कि मै मान की ध्वजा फहराने वाले अर्हता और

6....6 मूल, त्रिविमोक्षसुख । पठनीय, त्रिविमोक्षमुख । तुलनीय भोट, नंम् पर् थर् प हि. स्गो गसुम् ।

ममता के हठी, [7]आत्मा और आत्मीय[7] के आग्रह के पीछे चलने वाले मन के, संज्ञा (अर्थात् पदार्थ के स्वरूप की कल्पना) के विपर्यास (विपरीत भाव) से, चित्त (अर्थात् चिन्तन) के विपर्यास से, दृष्टि (बँधी-बँधाई मानसिक धारणा) के विपर्यास से विपर्यस्त हुए अर्थात् उलटा-पलटा सोचते हुए, [8]असम्यक् आग्रह[8] पकड़े हुए, लोक की अस्मि-मान-ध्वजा को आर्यमार्ग के उपदेश से गिरा दूँ। यह पहले किया गया तृतीय प्रणिधान (मन के) संमुख आया।

21. अहो क्या ही अच्छा हो कि मैं अत्यन्त-अशान्त[9], तन्द्रा से व्याकुल हुए, सूत की लच्छी की तरह (दुनिया में) उलझे हुए, आजवंजव (दुनिया की दौड़-धूप) में लगे हुए, इस लोक से पर लोक तक परलोक से इस लोक तक दौडते हुए, (जन्म-मरण के बीच) सरकते हुए, (जन्म-मरण रूपी) संसार से [10]न मुडने वाले[10] अलात चक्र (जलती-लकड़ी के घुमाने से बने आग के चक्कर पर) चढ़े हुए लोक के लिए उपशम (= शान्ति) देने वाले, प्रज्ञा को तृप्त करने वाले धर्म को प्रकाशित करूँ। यह पहले किया गया चतुर्थ प्रणिधान (मन के) संमुख आया।

7....7. मूल, आत्मनीय। पठनीय, आत्मात्मनीय। पूरे आत्मात्मनीग्राहानुगमानसस्य का भोटानुवाद यों है—**ब्दग् दङ् ब्दग् गिर् ह्जिन् प दङ् र्जेस् सु ह्ब्रङ् बहि सेम्स् चन्** (= आत्मात्मीयग्राहवन्मनसः)।

8. मूल, असंग्रह। असंग्रह = असम्यक्-ग्रह (= ग्राह अर्थात् हठ)। तुलनीय भोट, **ब्झुङ् ब ङन् पहि ह्जिन् प ल** (= कुत्सिताग्रहग्राहिणः)। यह भोटानुवाद पूरे वाक्य असंग्रहगृहीतस्य का है।

9. मूल, व्युपशान्तस्य। व्युपशान्त से पूर्व पद अहं (मैं) है। अनुस्वार के अनन्तर अकार लोप के द्वारा मूल पद जो अव्युपशान्तस्य था वह केवल व्युपशान्तस्य रह गया। अव्युपशान्त पाठ का यहाँ भोटानुवाद यों है—**नॅम् पर् म शि ब**।

10....10. मूल, अभिनिवृत्तस्य। अभिनिवृत्तस्य = अ-भिनिवृत्तस्य; भिनिवृत्त के पूर्व अकार प्रतिषेधवाचक है। भिनिवृत्त शब्द की निष्पत्ति अभि उपसर्ग के अकार-लोप द्वारा हुई है। अव तथा अपि उपसर्गो के अकार का लोप संस्कृत में देखा जाता है। अभि उपसर्ग के अकार का लोप भी उसी अनुकरण पर हुआ है। अ-भिनिवृत्त का भोटानुवाद **मि ल्दोग् प** (=अनिवृत्ति, अनिवृत्त, अनिवर्तन) शब्द से किया गया है, जिसमें प्रतिषेधवाच अकार का **मि** शब्द द्वारा अनुवाद है।

22. और उस क्षण मे धर्मचारी देवपुत्र ने तथा शुद्धवासकायिक देवपुत्रों ने =153क = अन्तःपुर को विकृत-विगलित (विगडा-विगड़ाया) दिखाया। विसंस्थित (= अस्त-व्यस्त) और बीभत्स (= घिनौना) दिखा कर गगन-तल पर ठहरे हुए उन (देव पुत्रों) ने गाथा द्वारा बोधिसत्त्व से कहा—

(छंद उपजाति)

अथाब्रुवन् देवसुता महर्द्धयो
विबुद्धपद्मायतलोचनं तं।
कथं तवास्मिन्नुपजायते रतिः
श्मशानमध्ये समवस्थितस्य ॥615॥

तदनन्तर बडी ऋद्धि के देवपुत्र खिले हुए कमल के समान विशाल लोचन वाले उन (बोधिसत्त्व) से बोले—इस श्मशान के बीच रहते हुए तुम्हें कैसे आनन्द लगता है ?

–206– संचोदितः सोऽथ सुरेश्वरेभिः
निरीक्षते ऽन्तःपुर तं मुहूर्तं।
संप्रेषते पश्यति तां बिभत्सां
श्मशानमध्ये वसितोऽस्मि भूतं ॥616॥

देव-प्रभुओं से प्रेरणा पा उन्होने तब क्षणभर उस अन्तःपुर को निहारा, निहारते हुए उस घिनौने पन को देखा, उनको लगा कि (मैं) श्मशान के बीच रह रहा हूँ।

23. बोधिसत्त्व ने सब-के-सब स्त्रीसमूह को निहारा। निहारते हुए देखा। वहाँ कोई थी, जिनके वस्त्र गिरे हुए थे। कोई थीं, जिनके केश अस्त-व्यस्त थे। कोई थी, जिनके आभूषण बिखरे पड़े थे। कोई थी, जिनके मुकुट खिसक गए थे। कोई थी, जिनके कंधे नीचे झुक गए थे। कोई थी, जिनके शरीर ढँके हुए नही थे। कोई थी, जिनके मुख बेढगी हालत मे थे। कोई थीं, जिनकी आँखें उलटी हुई थी। कोई थी, जिनके (मुँह से) लार बह रही थी। कोई थीं, जो (जोर-जोर) साँस ले रही थीं। कोई थी, जो हँस रही थी। कोई थी, जो खाँस रही थीं। कोई थी, जो दाँत कटकटा रही थी। कोई थी, जिनके मुँह बदरंग थे। कोई थी, जिनका रूप बेढगा था। कोई थी, जिनकी बाँहें लटकी हुई थी। कोई थी, जिनके पैर अस्त-व्यस्त थे। कोई थीं, जो सिर उघाड़े हुए थी। कोई थी, जिनके सिर पर घूँघट थे। कोई थी, जो अपने मुखमंडल पीछे घुमाए हुए थो। कोई थी, जिनके शरीर विगड़ गए थे। कोई थी, जिनके शरीर टूटे-

फूटे थे। कोई थीं, जो औंधे मुख पड़ी खुर-खुरा रही थी। = 153ख = कोई थीं, जो मृदंगों से लिपटी हुई अपना शरीर घुमाए हुए थी। कोई थी, जिनके हाथ वीणा एवं वल्लकी आदि में लगे हुए थे। कोई थी, जो वंशी को दांतों से कटकटा रही थी। कोई थी, जो किम्बल, नकुल, शम्याताल (झांझ) वाद्ययंत्रों को खीच रही थी। कोई थी, जो मुँह फैलाए हुए थी। इस प्रकार के धरणीतल पर विद्यमान घिनौने अन्तपुर को देख बोधिसत्त्व के मन मे श्मशान संज्ञा उत्पन्न हुई।

24. उस (विषय) में यह कहा जाता है—

(छंद उपजाति)

तां दृष्ट्व उद्विग्न स लोकनाथः
करुणं विनिश्वस्य इदं जगाद
अहो वता कृच्छ्रगता। प्रजेयं[11]
कथं रतिं विन्दति राक्षसीगणे ॥617॥

उनको देख घबराए हुए उन लोकनाथ (बोधिसत्त्व) ने करुणा से साँस लेकर यह कहा—अहो कितने कष्ट में यह प्रजा पड़ी है, राक्षसीगण के भीतर आनन्द की प्राप्ति कैसे ?

(छंद द्रुतविलम्बित)

अतिव[12] मोहतमावृत दुर्मती[13]
[14]निगुण कामगुणैर्[14] गुणसंज्ञिनः।
विहग पञ्जरमध्यगता यथा
न हि लभन्ति कदाचि विनिःसृतिं ॥618॥

11. मूल, व्रजेयं। पठनीय, प्रजेयं। तुलनीय भोट, स्क्ये द्गु द्गु नि (=प्रजाः)।
12. मूल, अति। छन्द की दृष्टि से अति को अतिव (=अतीव अति-इव) किया गया है।
13. मूल दुर्मति। यहाँ शब्द को छन्द तथा व्याकरण दोनों के आश्रय से दीर्घान्त किया गया है।
14....14. मूल, कामगुणैर्निगुणैः। छन्द की दृष्टि से निगुण कामगुणैः उचित है तथा ठीक गाथा-संस्कृत की भाषा के अनुकूल है। मैंने यहाँ निगुणैः के स्थान केवल निगुण कर केवल स्थान परिवर्तन किया है। इस परिवर्तन से पद यथास्थान हो गए है, जो कभी लिपिकरप्रमाद से अपना छन्दोऽनुकूल स्थान खो बैठे थे।

मोह के अँधेरे से अत्यन्त ढके हुए, मलिन मति के, गुणों से रहित, काम के गुणों मे गुण-बुद्धि रखते हुए (लोग), पिंजरे के बीच पड़े हुए पक्षियो के समान कभी भी (दुःख से) बाहर नही निकल पाते।

25. (-207-) इसके अनन्तर बोधिसत्त्व इस धर्म-प्रकाश के द्वार से फिर अन्तःपुर (की स्त्रियो) को देखते हुए, महाकरुणा के विलाप से, प्राणियों को लक्ष्य कर विलाप करने लगे—(1) यहाँ वे बच्चे (=अज्ञानी) कसाई खाने मे मारे जाने वाले (जानवरो) की तरह मारे जाते है, (2) यहाँ वे बच्चे (भीतर) गंदगी से भरे (ऊपर) चित्र—आँके घड़ों की चाह वाले मूर्खों की तरह प्रेम में फँस जाते है, (3) यहाँ वे बच्चे =154क= पानी के बीच हाथी की तरह डूब जाते है, (4) यहाँ पर वे बच्चे जेलखाने में चोरों की तरह बंद रखे जाते हैं, (5) यहाँ वे बच्चे मैले के बीच सुअरों की तरह आनन्दित होते है, (6) यहाँ वे बच्चे हड्डियों के पंजर में कुत्तों की तरह लालचे करते हैं, (7) यहाँ वे बच्चे दीप की शिखाओ में पतिङ्गों की तरह गिरते है, (8) यहाँ वे बच्चे लासे से बंदरों की तरह बाँध लिए जाते है, (9) यहाँ वे बच्चे जाल मे फाँस कर निकाल लिए गए जल के जीवों-मच्छकच्छो की तरह भूने जाते है, (10) यहाँ वे बच्चे कसाई की कुटनी पर भेड़ों की तरह कूटे जाते हैं, (11) यहाँ वे बच्चे सूली पर पापकारियों की तरह चढ़ाए जाते है, (12) यहाँ वे बच्चे दलदल मे बूढ़े हाथियो की तरह (फँस कर) फँसे (ही) रहते है, (13) यहाँ वे बच्चे महासागर में टूटे जहाज (के यात्रियों) की तरह (डूब) मरते है, (14) यहाँ वे बच्चे बड़े खड्ड मे जन्म के अंधों की तरह गिरते है, (15) यहाँ पर वे बच्चे पाताल की सैंधो मे गए पानी की तरह खतम हो जाते है, (16) यहाँ वे बच्चे कल्प के अन्त की महापृथिवी की तरह धुआँते है, =154ख= (17) इनके द्वारा (वे) बच्चे कुम्हार के वेग से चक्कर खाते चाक की तरह घुमाए जाते है, (18) यहाँ वे बच्चे पहाड (की गुहा) के भीतर पहुँचे जन्म के अँधों की तरह सब ओर से भरमते रहते है, (19) यहाँ वे बच्चे[14क] गर्दूल (चमड़े की रस्सी) से बंधे[14क] कुत्तों की तरह (यहीं) चक्कर काटते रहते है, (20) यहाँ वे बच्चे गर्मी के दिनो मे घास-फूस और वनस्पतियो की तरह मुरझाते है, (21) यहाँ वे बच्चे अँधेरे पाख के चन्द्रमा की तरह छीज जाते है, (22क) इनके द्वारा (वे) बच्चे गरुड़ के द्वारा साँपों की तरह खा फेंके जाते है, (22ख) इनके द्वारा (वे) बच्चे बड़े मगर

14क....14क. मूल, शर्दूलबद्धा। पठनीय, गर्दूलबद्धा। यह पाठान्तर से प्रमाणित है। गर्दूल चमड़े की रस्सी (नध्री, हिन्दी नाधा) का नाम है। भोट, थुङ् गिस् बृतग्स् प (रज्जुबद्धाः)।

के द्वारा नौका की भाँति ग्रस लिए जाते है, (23) इनके द्वारा (वे) बच्चे चोरों के दल के द्वारा करावान की तरह लूट लिए जाते है, (24) इनके द्वारा (वे) बच्चे हवा से शालवृक्ष की तरह उखाड फेंके जाते है, (25) इनके द्वारा (वे) बच्चे साँपों से जानवरो की तरह मार डाले जाते हैं, (–208–) (26) मजे के ख्याल से (वे) बच्चे इनके द्वारा उसी तरह घायल किए जाते है, जिस तरह अनजान (लोग) शहद से लिपटी छुरे की धार चाट घायल होते है, (27) इनके द्वारा (वे) बच्चे बाढ़ से लकडी के ढेर की तरह बहा ले जाए जाते हैं, (28) इनके साथ (वे) बच्चे अपने मल-मूत्र से खेलने वाले अबोध शिशुओं की तरह खेलते है, (29) इनके द्वारा (वे) बच्चे अंकुश द्वारा हाथियों की तरह घुमा लिए जाते है, (30) इनके द्वारा (वे) बच्चे धूर्तो से =155क= अनजान लोगों की तरह [15]ठग लिए जाते है[15], (31) यहाँ वे बच्चे कुशलमूल का उस तरह सत्यानाश कर डालते है, जैसे जुआरी धन का, (32) इनके द्वारा वे बच्चे उस तरह खा डाले जाते हैं, जैसे राक्षसियों द्वारा बंजारे। इन बत्तीस प्रकारों से अन्तःपुर (की स्त्रियो) की सब ओर से तुलना कर बोधिसत्त्व काय (के विषय) में अशुभ संज्ञा (अर्थात् अपवित्रता का भाव) मन मे लाते हुए, प्रतिकूल संज्ञा (अर्थात् प्रतिकूलता का भाव) निश्चित करते हुए, जुगुप्सा संज्ञा (अर्थात् घिनौने-पन का भाव) उपजाते हुए, [16]अपने काय को प्रेत के समान सोचते हुए[16], काय-दोष देखते हुए, काय से कायविषयक आसक्ति को हिलाते हुए, शुभसंज्ञा (अर्थात् इष्ट या पवित्र होने का भाव) भंग करते हुए, अशुभसंज्ञा (अर्थात् अनिष्ट या अपवित्र होने का भाव) भरते हुए, (काय को) नीचे पैर के तलवों से लेकर ऊपर माथे तक अशुचि से उठा हुआ, अशुचि से बना हुआ, नित्य अशुचि टपकाने वाला देखा। और उस समय ये गाथाएँ कहीं—

(छन्द शार्दूलविक्रीड़ित)

(सार्धयुग्मक)

कर्मक्षेत्ररुहं तृषासलिलजं सत्कायसंज्ञीकृतं
अश्रुस्वेदकफार्द्र मूत्रविकृतं शोणीतविन्द्वाकुलं।
वस्तीपूयवसासमस्तकरसैः पूर्णं तथा किल्विषै
नित्यप्रस्रवितं ह्यमेध्यसकलं दुर्गन्धनानाविधं ॥619॥

15...15. मूल, बध्यन्ते। पठनीय, वंच्यन्ते। तुलनीय भोट, स्लु व स्ते।

16...16. मूल, स्वकायं प्रतिविभावयन्। पठनीय, स्वकायं प्रेतसदृशं प्रतिविभावयन्। तुलनीय भोट, रङ् गि लुस् ल हुदद् दङ् ह्द्र व नंम् पर् स्गोम्।

अस्थीदन्तसकेशरोम=155ख=विकृतं चर्मावृतं लोमसं
अन्तः[17]-प्लीह-जकृद्[18]-वपोष्णरसनैर्[19]एभिश्चितं दुर्बलं ।
मज्जास्नायुनिबद्धयन्त्रसदृशं मांसेन गोभीकृतं
नानाव्याधिप्रकीर्णसोककलिलं क्षुत्तर्पसंपीडितं ।
जन्तूनां निलयं अनेकसुषिरं मृत्युंजरां चाश्रितं
दृष्टवा को हि विचक्षणो रिपुनिभं मन्ये शरीरं स्वकं ॥620॥

कर्म के खेत मे उगा हुआ, तृष्णा के पानी से पनपा हुआ, सत्काय (अर्थात् टिकाऊ ढेर) नामधारी, आँसू, पसीना और कफ से गीला, मूत्र से मैला, लोहू की बूँदों से गडबडाया, पेशाब की थैली, पीब, चरबी, माथे के भेजे (=मगज) से तथा मैले से भरा हुआ, नित्य बहने वाला, सब (प्रकारकी) गदगी का (घर) तरह-तरह की बदबू वाला,—

हड्डी, दान्त, केश, तथा रोओं से घिनौना, खाल से ढका हुआ, रोओं वाला, कमजोर आँत, तिल्ली, कलेजे, चरबी और लार से पूरित, मज्जा और स्नायुओं (नसों) से बाँध कर यंत्र के समान, माँस से सुशोभित किया गया, नाना व्याधियों से व्याप्त, शोक से लत-पत, भूख-प्यास से पीड़ित, जन्तुओं का घर, अनेक छेदों वाला, मौत और बुढौती का बसेरा शत्रु जैसा (यह) शरीर देख कौन बुद्धिमान् है, जो इसे अपना माने ।

(–209–)इस प्रकार बोधिसत्व काम में कायानुस्मृति अर्थात् काम-विषयक जागरूकता के साथ विहार करते थे ।

17. मूल का अन्तः शब्द वस्तुत संस्कृत के अन्त्र शब्द का अपभ्रंश है । हिन्दी मे यह और भी बदल कर आँत हो गया । इस शब्द के आगे विसर्ग केवल मुख सुखार्थ आगम है । इसका संस्कृत के अन्तर शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है । अन्त्र शब्द को ही मन मे रख कर इसका भोटानुवाद ग्यु म हुआ है । इस शब्द का बु० हा० स० डि० में सकलन होना चाहिए था ।

18. जकृत् शब्द यकृत् का अपभ्रंश है, भोट मे मृछिन् प शब्द से इसका अनुवाद हुआ है । प्रो० एड्जेर्टन् ने इसे अपने कोष (बु० हा० स० डि०) मे स्थान देकर बहुत उत्तम कार्य किया है । वैद्य का ललितविस्तर-संस्करण, जो वस्तुतः ललितविस्तर की ध्वसलीला है, यकृत् पाठ का समर्थक है ।

19. उष्णरसन शब्द का अर्थ है उष्णस्वादवाला । भोटानुवाद ख छु से स्पष्ट है कि यह शब्द यहाँ लाला (हिन्दी लार) का पर्याय है । इस अग्राम्य शब्द का संग्रह संस्कृत कोषों में होना चाहिए ।

26. आकाशतल पर विराजमान देवपुत्र धर्मचारी देवपुत्र से यों बोले। हे मार्ष (हे साथी) यह क्या (बात) है कि सिद्धार्थ विलंब कर रहे हैं, अन्तः—पुर (की स्त्रियों) को देख रहे हैं,[20] और मुसकरा रहे हैं[20], तथा चित्त को दुखी कर रहे हैं, और बारम्बार निगाह गड़ा रहे हैं। अथवा ये लहराते समुद्र के समान गहरे हैं। इनकी माप-जोख नहीं हो सकती। अथवा, क्या वीतराग का मन विषय-भोग में नही फँसता ? देवताओं से प्रेरित क्या पहले की प्रतिज्ञा नहीं भूलता ?

27. धर्मचारी (देवपुत्र) बोले यह क्या कह रहे हो ? [21] तुम (सब) को तो प्रत्यक्ष ही है।[21] कि बोधि के लिए (शील दानादि की) चर्या करते हुए पहले ही (घरसे) निकलने में तथा त्याग (=दान) में इनकी वैसी अनासक्ति थी, इस समय कहना ही क्या। अन्तिम-जन्म में स्थित (इनमे) आसक्ति का होना कैसा।

28. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर बोधिसत्व =156क= निश्चय पर तुले, मन मे बे-चैन हुए, बुद्धि को स्थिर किए हुए, विलम्ब न कर लीला के साथ पलँग से उतर कर, संगीति के महल मे पूरब की ओर मुहँ कर खड़े हो कर, दाहिने हाथ से रत्न की जाली का (परदा) उतार कर महल के ऊपर पहुँच, दस नखों से (उपलक्षित उँगलियों द्वारा) अजलि बाँध, सब बुद्धो का ध्यान कर, सब बुद्धों को नमस्कार कर, गगन तल निहारने लगे। उन्होंने गगनतल पर विराज-मान देवताओं के अधिपति सहस्र आँखों वाले (इन्द्र) को लाखों देवताओं से घिरे हुए, पुष्प, धूप, गन्ध, माल्य, विलेपन, चूर्ण, चीवर (=वस्त्र) छत्र, ध्वजा, पताका, अवतंसक (कर्णभूषण), रत्नो के हार, तथा मालाएं लिए हुए, शरीर को झुकाए, बोधिसत्व को नमस्कार करते हुए देखा। और यक्ष, राक्षस, गंधर्व, तथा नागों के गणो से घिरे हुए दृढ वर्म एवं कवचों से नघे हुए, तलवार, धनुष, बाण बरछी, भाला, तथा त्रिशूल हाथ मे लिए हुए, लीला के साथ सिर पर मणियो के जड़ाऊ मुकुटों को झुलाते हुए, बोधिसत्व को नमस्कार करते हुए, चारो लोकपालों को खड़ा देखा। चन्द्र तथा सूर्य देवपुत्रो को भी (–210–)

20....20. मूल, स्न। तं चोपदर्शयति। पठनीय, स्मितं चोपदर्शयति।

21....21. मूल, ननु यूयमस्य प्रत्यक्ष (इसके बाद पूर्णविरामार्थक दंड अपेक्षित है।) शुद्ध संस्कृत मे-ननु यूयं स्य प्रत्यक्षाः। भोट, ख्येद् ल म्ङोन् सुम दु ग्युर् प यिन् न। मूल में अस्य अस् धातु का रूप (द्रष्टव्य बु० हा० सं० ग्रा० २९।४१ पृष्ठ) है। यह प्रयोग यहाँ मध्यम पुरुष बहुवचन में है। संभवतः अस्थ मूल अपभ्रंश अस्य था। सं० स्थ, अपभ्रंश अस्य।

बाएं और दाहिने पासों मे खड़ा देखा। नक्षत्रों के अधिपति पुष्य का उदय हुआ, आधीरात का समय आ गया (यह सब) देख =156ख= बोधिसत्त्व ने छन्दक को पुकार कर कहा—

(छंद रथोद्धता)

छन्दका चपलु मा विलम्बहे
अश्वराज दद मे अलंकृतं।
सर्वसिद्धि मा एति मङ्गला
अर्थसिद्ध ध्रुवमद्य भेष्यति ॥621॥

हे छन्दक, झटपट देर मत करो, सजा कर अश्वराज (कन्थक) मुझे दो। मेरा मंगल पूर्ण सिद्धि को प्राप्त होने वाला है, आज निश्चय ही अर्थसिद्धि (प्रयोजन की सफलता) होने वाली है।

29. तब इस वचन को सुन कर मन में अकुला कर छन्दक यों बोला—

(छंद षट्पदी)

क्व गमिष्यसे विकसितभ्रू कमलदलशुभलोचन। क।
नृपसिंह शरदिन्दुपूर्ण कुमुदशाङ्कमुदित। ख।
नवनलिनकोमलविबुद्धपद्मवदना। ग।
हाटक सुधान्त[22])—रवितरुण—विमलशशितेज
घृताहुतिरर्चिरग्निमणिविद्युत्प्रभोज्ज्वलिततेजो। घ।
वारणमत्तलीडगजगामि। ङ।
गोवृषमृगेन्द्रहंसक्रम सुक्रमा सुचरणा। च। ॥622॥

कहाँ जाओगे ? हे हँसती भौहो वाले, कमल की पंखड़ियों जैसे निर्मल जैसे निर्मल नेत्रों वाले, नृपों मे सिंह के समान (बली), शरद की पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान (निर्मल)•चन्द्रमा से खिले कुमुद के समान (आनन्द देने वाले), नए कमल के समान कोमल और खिले कमल के समान खिले चेहरे वाले, पानी चढाए गए सोने के समान, बाल सूर्य के समान, तथा निर्मल चन्द्रमा के समान तेज वाले, घी मे आहुति देने से निकलने वाली ज्वालाओं से युक्त अग्नि, मणि, तथा बिजली की आभा के समान उज्ज्वल दीप्ति वाले, मतवाले हाथी की लीला तथा

22. हाटकसुधान्त शुद्ध संस्कृत में सुधौतहाटक। तुलनीय भोट, स्ब्यङ्स प हि. ग्सेर्। सुधान्त=सु–धौ–त। धौ का अपभ्रंश धान् विचारणीय है। एड्जेर्टन् महोदय के कोष (बु० हा० सं० डि०) में यह शब्द नही है।

(मतवाले) हाथी की चाल वाले, वृषभ, सिंह, तथा हंस के समान पदक्षेप करने वाले, सुन्दर पदक्षेप करने वाले, सुन्दर चरण वाले।

30 बोधिसत्त्व बोले—

(छंद षट्पदी)

छन्दक यस्य अर्थि मयि पूर्व त्यक्त करचरणनयन ।क।
तथ उत्तमाङ्ग तनय भार्य प्रियाश्च राज्यधनकनकवसन
रत्नपूर्णरथ[23]गज तुरगानिलजववेग विक्रमवला:[24] ।ख।
शीलु मि रक्षि क्षान्ति परिभाव ।ग।
वीर्यबल[25]ध्यानप्रज्ञानिरतश्चास्मि बहुकल्पकोटिनयुता ।घ।
किं तु स्पृशित्व बोधि शिव शान्तिं ।ङ।
जरामरणपञ्जरनिरुष्ट[26]सत्वपरिमोचनस्यै
समयो ऽद्युपस्थितु मम ।च। ॥623॥

हे छन्दक, जिसके लिए मैंने पहले त्यागे है—हाथ, पैर, नेत्र, तथा उत्तमाङ्ग (= सिर) प्रिय पुत्र, स्त्री, राज्य, धन, सुवर्ण, वस्त्र, रत्नो से पूर्ण रथ, हाथी, हवा के जैसे फुर्तीले और दौड़ने वाले, पराक्रम में श्रेष्ठ घोड़े; शील की मैंने रक्षा की, क्षमा की मैंने सब ओर से भावना की; खर्ब-खर्ब बहुत करोड़ कल्पो तक वीर्य, वरध्यान (उत्तमध्यान), तथा प्रज्ञा में अत्यन्त रमा रहा हूँ; परन्तु मगलमयी शान्ति वोधि का अनुभव कर; जरा और मरण के पिंजरे में डाले गए प्राणियो को मुक्त करने का समय मेरे लिए आज उपस्थित हुआ है।

23. मूल, रत्नपूर्ण। पठनीय, रत्नपूर्णरथ। तुलनीय भोट, रिन् छेन् गङ् व हि॒ शिङ् र्त।

24. विक्रमवला: वस्तुत: विक्रमवरा: हैं। वर के दन्त्योष्ठ्य का ओष्ठ्य तथा मूर्धन्य का दन्त्य होकर यह अपभ्रंग हुआ है। बल वस्तुत: वर है इसका समर्थन भोटानुवाद से होता है—चॅल् म्छोग् ल्दन् (=वरविक्रमवन्त:)।

25. बल यहाँ पर भी वस्तुत: वर है। यद्यपि भोट में यहाँ स्तोब्स् (=बल) है तथापि छह पारमिताओ के प्रसग मे वीर्य से पृथक् बल की गणना नही की जा सकती। वोर्यवल यह एक शब्द मानना होगा या वल को वर मान कर ध्यान का विशेषण करना होगा।

26. निरुष्ट वस्तुत: न्यस्त है। तुलनीय भोट, छुद् प (=प्रविष्ट, निक्षिप्त)। संस्कृतवर्णविन्यास के पक्षपाती वैद्यजी ने निरुष्ट को निरस्त करने का यत्न नहीं किया है।

31. (-211) छन्दक = 157क = बोला—हे आर्यपुत्र, मैंने सुना है कि जब तुम उत्पन्न ही हुए थे तुम्हें (शुभाशुभ—) निमित्त जानने वाले ब्राह्मणों को दिखाने के लिए उपस्थित किया गया था। उन्होंने राजा शुद्धोदन के आगे भविष्यवाणी की थी कि हे देव, तुम्हारे राजकुल की वृद्धि है। (राजा) बोले। कैसे ? वे (ब्राह्मण) बोले—

(छंद उपजाति वंशस्था तथा इन्द्रवंशा का मिश्रण)

अयं कुमारः शतपुण्यलक्षणो
जातस्तवा आत्मज पुण्यतेजितः।
स चक्रवर्ती चतुद्वीप ईश्वरो
भविष्यती सप्तधनैरुपेतः ॥624॥

यह कुमार सैकड़ों शुभलक्षणों वाला, पुण्य के तेज से युक्त, तुम्हारा पुत्र हो कर उत्पन्न हुआ है। यह चारों (पूर्वविदेह, अपरगोदानीय, उत्तरकुरु तथा जम्बूद्वीप नामक) द्वीपों का सात धनों अर्थात् सात रत्नों से युक्त चक्रवर्ती राजा होगा।

सचेत् पुनर्लोकमवेक्ष्य दुःखितं
विजह्य-स्-आन्तः पुरि निष्क्रमिष्यति।
अवाप्य बोधिं अजरामरं पदं
तर्पेष्यते धर्मजलैरिमां प्रजां ॥625॥

वह यदि इस लोक को दु.खी देख कर, अन्तःपुर का त्याग कर (घर से) निकलेगा, तो अजर और अमर रूपी बोधि पा कर इस प्रजा को धर्म के जल से तृप्त करेगा।

32. अहो आर्यपुत्र, है ऐसी ही भविष्यवाणी, यह न हो ऐसी बात नहीं। पर मेरे (-जैसे) हित चाहने वाले की बात सुनो। (बोधिसत्त्व) बोले क्या बात ? (छन्दक) बोला हे देव, यहाँ कितने ही लोग अनेक प्रकार के व्रत और तप करते हैं, मृगचर्म, जटामय मुकुट, चीवर, तथा वल्कल धारण कर, लम्बे-लम्बे नख केश, लम्बी-लम्बी दाढ़ी-मूछें रख शरीर को सब ओर से तपाने का यत्न करते हैं, चारों ओर से तपाने का यत्न करते हैं, तीव्र व्रत तथा तपस्या करते हैं, क्योंकि वे देवसंपत्ति तथा मनुष्यसंपत्ति पाना चाहते हैं। जिसके लिए (यह सब करते हैं) संपत्ति हे आर्यपुत्र, तुम्हें प्राप्त है। यह राज्य है, (धन से) समृद्ध, = 157ख = और (धान्य से) भरा-पूरा, क्षेम (प्राप्त की रक्षा से युक्त), सुभिक्ष (अकाल से रहित) रमणीय (सुखदायक) और बहुत लोगों से—बहुत मनुष्यों

(मतवाले) हाथी की चाल वाले, वृषभ, सिंह, तथा हंस के समान पदक्षेप करने वाले, सुन्दर पदक्षेप करने वाले, सुन्दर चरण वाले।

30. बोधिसत्त्व बोले—

(छंद षट्पदी)

छन्दक यस्य अर्थि मयि पूर्ण त्यक्त करचरणनयन।क।
तथ उत्तमाङ्ग तनय भार्य प्रियाश्च राज्यधनकनकवसन
रत्नपूर्णरथ[23]गज तुरगानिलजववेग विक्रमबला:[24]।ख।
शीलु मि रक्षि क्षान्ति परिभाव।ग।
वीर्यबल[25]ध्यानप्रज्ञानिरतश्चास्मि बहुकल्पकोटिनयुता।घ।
किं तु स्पृशित्व बोधि शिव शान्तिं।ङ।
जरामरणपञ्जरनिरष्ट[26]सत्त्वपरिमोचनस्यै
समयो ऽद्युपस्थितु मम।च।॥623॥

हे छन्दक, जिसके लिए मैंने पहले त्यागे हैं—हाथ, पैर, नेत्र, तथा उत्तमाङ्ग (= सिर) प्रिय पुत्र, स्त्री, राज्य, धन, सुवर्ण, वस्त्र, रत्नों से पूर्ण रथ, हाथी, हवा के जैसे फुर्तीले और दौड़ने वाले, पराक्रम में श्रेष्ठ घोड़े; शील की मैंने रक्षा की, क्षमा की मैंने सब ओर से भावना की; खर्ब-खर्ब बहुत करोड़ कल्पों तक वीर्य, वरध्यान (उत्तमध्यान), तथा प्रज्ञा में अत्यन्त रमा रहा हूँ; परन्तु मंगलमयी शान्ति बोधि का अनुभव कर; जरा और मरण के पिंजरे में डाले गए प्राणियों को मुक्त करने का समय मेरे लिए आज उपस्थित हुआ है।

23. मूल, रत्नपूर्ण। पठनीय, रत्नपूर्णरथ। तुलनीय भोट; रिन् छेन् गङ् ब हि् शिङ् र्त।

24. विक्रमबला: वस्तुत: विक्रमवरा: है। वर के दन्त्योष्ठ्य का ओष्ठ्य तथा मूर्धन्य का दन्त्य होकर यह अपभ्रंश हुआ है। बल वस्तुत: वर है इसका समर्थन भोटानुवाद से होता है—चॅल् म्छोग् ल्दन् (=वरविक्रमवन्त:)।

25. बल यहाँ पर भी वस्तुत: वर है। यद्यपि भोट में यहाँ स्तोब्स् (=बल) है तथापि छह पारमिताओं के प्रसंग में वीर्य से पृथक् बल की गणना नहीं की जा सकती। वीर्यबल यह एक शब्द मानना होगा या बल को वर मान कर ध्यान का विशेषण करना होगा।

26. निरष्ट वस्तुत: न्यस्त है। तुलनीय भोट, छुद् प (=प्रविष्ट, निक्षिप्त)। संस्कृतवर्णविन्यास के पक्षपाती वैद्यजी ने निरष्ट को निरस्त करने का यत्न नहीं किया है।

31. (-211) छन्दक = 157क = बोला—हे आर्यपुत्र, मैंने सुना है कि जब तुम उत्पन्न ही हुए थे तुम्हे (शुभाशुभ—) निमित्त जानने वाले ब्राह्मणों को दिखाने के लिए उपस्थित किया गया था। उन्होंने राजा शुद्धोदन के आगे भविष्यवाणी की थी कि हे देव, तुम्हारे राजकुल की वृद्धि है। (राजा) बोले। कैसे ? वे (ब्राह्मण) बोले—

(छंद उपजाति वंशस्था तथा इन्द्रवंशा का मिश्रण)

अयं कुमारः शतपुण्यलक्षणो
जातस्तवा आत्मज पुण्यतेजितः।
स चक्रवर्ती चतुद्वीप ईश्वरो
भविष्यती सप्तधनैरुपेतः ॥624॥

यह कुमार सैकड़ों शुभलक्षणों वाला, पुण्य के तेज से युक्त, तुम्हारा पुत्र हो कर उत्पन्न हुआ है। यह चारो (पूर्वविदेह, अपरगोदानीय, उत्तरकुरु तथा जम्बूद्वीप नामक) द्वीपो का सात धनों अर्थात् सात रत्नों से युक्त चक्रवर्ती राजा होगा।

सचेत् पुनर्लोकमवेक्ष्य दुःखितं
विजह्य-म्-आन्तः पुरि निष्क्रमिष्यति।
अवाप्य बोधिं अजरामरं पदं
तर्पेष्यते धर्मजलैरिमां प्रजां ॥625॥

वह यदि इस लोक को दुःखी देख कर, अन्तःपुर का त्याग कर (घर से) निकलेगा, तो अजर और अमर रूपी बोधि पा कर इस प्रजा को धर्म के जल से तृप्त करेगा।

32. अहो आर्यपुत्र, है ऐसी ही भविष्यवाणी, यह न हो ऐसी बात नही। पर मेरे (—जैसे) हित चाहने वाले की बात सुनो। (बोधिसत्त्व) बोले—क्या बात ? (छन्दक) बोला हे देव, यहाँ कितने ही लोग अनेक प्रकार के व्रत और तप करते है, मृगचर्म, जटामय मुकुट, चीवर, तथा वल्कल धारण कर, लम्बे-लम्बे नख केश, लम्बी-लम्बी दाढ़ी-मूछें रख शरीर को सब ओर से तपाने का यत्न करते हैं, चारों ओर से तपाने का यत्न करते है, तीव्र व्रत तथा तपस्या करते है, क्योकि वे देवसंपत्ति तथा मनुष्यसंपत्ति पाना चाहते हैं। जिसके लिए (यह सब करते है) संपत्ति हे आर्यपुत्र, तुम्हें प्राप्त है। यह राज्य है, (धन से) समृद्ध, = 157ख = और (धान्य से) भरा-पूरा, क्षेम (प्राप्त की रक्षा से युक्त), सुभिक्ष (अकाल से रहित) रमणीय (सुखदायक) और बहुत लोगों से—बहुत मनुष्यों

से व्याप्त। और ये उपवन हैं, जो उत्तम है, अत्युत्तम है, नाना प्रकार के पुष्पों से तथा फलों से विभूषित है, जिनमे विविध प्रकार के पक्षी कलरव करते हैं। और पुष्करिणियाँ उत्पलों से (रात में खिलने वाले नीले कमलों से) पद्मों से (दिन मे खिलने वाले लाल कमलों से) कुमुदों से (रात्रिविकासी श्वेतकमलों से) तथा पुडरीकों से (दिनविकासी श्वेत कमलों से) सुशोभित है, उनमे हस, मोर, कोयल, क्रौंच नामक बगुले और सारस कूज रहे है, उनके किनारे आम, अशोक, चम्पा, झिण्टी, तिलक तथा बकुल आदि नानाप्रकार के पेड़ लगे है और फूल रहे रहे है,[27] नाना भाँति के रत्नमय वृक्षों की वीथी[27] से वे विभूषित है, वहाँ चौपड खेलने के पाटे जड़े हुए हैं, चारों ओर (बैठने के लिए) रत्नमयी वेदिकाएँ बनी हुई है, रत्नमयी जालियाँ लगी हुई है, जैसा ऋतु हो वैसा उनका उपभोग किया जा सकता है, वहाँ गरमी के दिनों मे, वर्षा के दिनों मे तथा सर्दी के दिनों मे सुख से रहा जा सकता है। और ये शरद् ऋतु के मेघों के समान (उज्ज्वल), कैलास पर्वत के समान (श्वेत और ऊँचे-ऊँचे) (-212-) इन्द्र के दिव्य-भवन वैजयन्त इन्द्र की दिव्य-सभा धर्मा और सुधर्मा के समान शोकरहितता आदि (गुणों) से युक्त बडे-बड़े राजमहल वितर्दियों (चबूतरों) निर्यूहों (अटारियों) तोरणों (द्वार के बाह्यभागों) गवाक्षो (गोखों अर्थात् हवा-जाली वाले झरोखों), कूटागारों (महलों के सबसे ऊपर के तल पर बने अंटो) प्रासादों (राजनिवास के योग्य भवनों) के तलो (छत के खुले आँगनो) से भलीभाँति से अलंकृत है, रत्नों की किंकिणियों अर्थात् छोटी-छोटी घंटियों वाली जालियाँ (=झालरें) वहाँ झूल रही है। और हे आर्यपुत्र, यह अन्तःपुर (का स्त्री-समूह) तुणव (=मुरली), पणव (=भेरीविशेष) वीणा, =158क= वेणु, शम्पाताल (झाँझ या करताल) किम्पल (=मंजीरा) नकुल (नेवले के मुखवाली तुरही) सुघोषक मृदङ्ग, पटह (नक्कारा) नामक बाजों से, नाच-गान से, बाजों पर संगीति (सरगमपधनि-स्वरों) के प्रयोग से भलीभाँति शिक्षा पाया हुआ है, हास्य में, लास्य (शृंगार के नृत्य) मे, क्रीड़ा में, रमण करने मे पूर्णरूप से मधुर व्यवहार करने वाला है। और हे देव, तुम भी जवान हो, जवानी अभी चढ़ी भी नही है, नयी (-वयस) है, कम (-वयस) है,

27. मूल, नानारत्नवृक्षवातिका। यहाँ वातिका शब्द वाटिका का अपरूप है। वैद्यजी ने इस पाठ को दूर कर वाटिका ही पाठ रखा है वृक्षवाटिका यहाँ वृक्षवीथी (ऐसी वीथी जिसके दोनो ओर वृक्ष हो) के अर्थ मे है। तुलनीय भोटानुवाद, रिन् पो छेहि् शिङ् स्न छोग्स् क्यि फ्रेङ्। भोटानुवाद में वाटिका के स्थान में जो फ्रेङ् शब्द है, वह माला या श्रेणी या पंक्ति का वाचक है।

कच्ची (–वयस है), शरीर सुकुमार है, (अभी) लड़के (ही) हो, केश काले हैं, काम के खेल भी अभी नहीं खेले हो। अभी तो देवताओं के अधिपति, सहस्र नेत्र वाले, देवराज (इन्द्र) की भाँति आनन्द मनाओ, फिर बाद मे जब बूढ़े हो जाएँगे तब (घर से) निकलेंगे। और उस अवसर पर यह गाथा कही—

(छंद आर्या)

रमतां च रतिविधिज्ञां अमराधिपतिर्यथा त्रिदशलोके।
पश्चाद् वृद्धीभूता व्रततपसं आरभिष्यामः ॥626॥

हे रमण की विधियों के जानकार, (अभी) देवलोक मे देवेन्द्र की तरह रमण करो, पीछे बूढ़े होने पर व्रत-तप करेंगे।

33. बोधिसत्त्व बोले। छन्दक, (ऐसा) मत (बोलो)। ये काम तो अनित्य हैं, टिकाऊ नही है, सदा एक रूप रहने वाले नहीं हैं, स्वभाव से ही बदलने वाले हैं, रफू-चक्कर होने वाले है, चंचल है, पहाड़ी नदी के वेग जैसे (फिर न लौटने वाले) हैं, ओस की बूँद के समान देर तक न ठहरने वाले है, (बच्चों की) खाली मूठ की बुझौवल के समान सारहीन हैं, केले के खम्भे के समान कमजोर हैं, कच्चे बर्तन = 158ख = की तरह टूट जाने वाले हैं, शरद् ऋतु के मेघों के समान होकर क्षण भर मे मिटने वाले है, आकाश मे बिजली की तरह देर तक न ठहरने वाले है, विष-मिले अन्न के समान अन्त मे दुःख देने वाले है, मालुलता जैसे असुख देने वाले हैं, बच्चों की जैसी बुद्धि वालो का इनमें अभिलाष होता है[28] पानी के बुलबुलों के समान झटपट मिट जाने के स्वभाव वाले है, माया और मृगतृष्णा के समान सञ्ज्ञाविपर्यास अर्थात् प्रत्यक्षाभास के कारण उत्पन्न होने वाले है, माया अर्थात् इन्द्रजाल के समान चित्तविपर्यास अर्थात् चित्त के विभ्रम से सिद्ध होने वाले है, स्वप्न के समान दृष्टिविपर्यास अर्थात् मन में बैठे उलटे-पलटे विचारों द्वारा [29]चारो ओर से पकड़ने वाले है[29] (अपने सं-) योग से तृप्ति न करने वाले हैं, समुद्र की भाँति कठिनाई से भरे जाने वाले हैं, खारे पानी जैसे प्यास लगाने वाले है, साँप के सिर की तरह

28. मूल, अभिलिखित। पठनीय, अभिलखित (=अभिलषित)। भोट, ह्दोद् पर ब्य ब (अभिलषित)। षकार के दैशिक उच्चारण खकार की रक्षा हस्तलिखित ग्रन्थ मे की गई है। अति यत्न से संग्रह योग्य शब्द है।
29....29. मूल, परिग्रह। पठनीय, परिग्रहा। तथा इसी पर विराम करने के लिए पदच्छेद आवश्यक है। भोट, योङ्सु ग्निङ् प (परिग्रह)। भोट में यही पर विराम है।

से व्याप्त । और ये उपवन हैं, जो उत्तम हैं, अत्युत्तम है, नाना प्रकार के पुष्पों से तथा फलों से विभूषित हैं, जिनमे विविध प्रकार के पक्षी कलरव करते हैं। और पुष्करिणियां उत्पलों से (रात में खिलने वाले नीले कमलों से) पद्मों से (दिन मे खिलने वाले लाल कमलों से) कुमुदों से (रात्रिविकासी श्वेतकमलों से) तथा पुण्डरीकों से (दिनविकासी श्वेत कमलों से) सुशोभित है, उनमें हंस, मोर, कोयल, क्रौंच नामक बगुले और सारस कूज रहे हैं, उनके किनारे आम, अशोक, चम्पा, झिण्टी, तिलक तथा बकुल आदि नानाप्रकार के पेड़ लगे हैं और फूल रहे रहे हैं,[27] नाना भाँति के रत्नमय वृक्षों की वीथी[27] से वे विभूषित हैं, वहाँ चौपड खेलने के पाटे जड़े हुए हैं, चारो ओर (बैठने के लिए) रत्नमयी वेदिकाएँ बनी हुई है, रत्नमयी जालियाँ लगी हुई है, जैसा ऋतु हो वैसा उनका उपभोग किया जा सकता है, वहाँ गरमी के दिनों मे, वर्षा के दिनों में तथा सर्दी के दिनों मे सुख से रहा जा सकता है। और ये शरद् ऋतु के मेघों के समान (उज्ज्वल), कैलास पर्वत के समान (श्वेत और ऊँचे-ऊँचे) (–212–) इन्द्र के दिव्य-भवन वैजयन्त इन्द्र की दिव्य-सभा धर्मा और सुधर्मा के समान शोकरहितता आदि (गुणों) से युक्त बड़े-बड़े राजमहल वितर्दियों (चबूतरो) निर्यूहों (अटारियों) तोरणों (द्वार के बाह्यभागों) गवाक्षो (गोखों अर्थात् हवा-जाली वाले झरोखो), कूटागारों (महलों के सबसे ऊपर के तल पर बने अंटों) प्रासादों (राजनिवास के योग्य भवनों) के तलों (छत के खुले आँगनो) से भलीभाँति से अलंकृत हैं, रत्नों की किंकिणियों अर्थात् छोटी-छोटी घंटियों वाली जालियां (=झालरें) वहाँ झूल रही है। और हे आर्यपुत्र, यह अन्तःपुर (का स्त्री-समूह) तुणव (=मुरली), पणव (=भेरीविशेष) वीणा, =158क= वेणु, शम्पाताल (झाँझ या करताल) किम्पल (=मंजीरा) नकुल (नेवले के मुखवाली तुरही) सुघोषक मृदङ्ग, पटह (नक्कारा) नामक बाजों से, नाच-गान से, बाजों पर संगीति (सरगमपधनि-स्वरो) के प्रयोग से भलीभाँति शिक्षा पाया हुआ है, हास्य में, लास्य (शृंगार के नृत्य) मे, क्रीड़ा में, रमण करने मे पूर्णरूप से मधुर व्यवहार करने वाला है। और हे देव, तुम भी जवान हो, जवानी अभी चढ़ी भी नही है, नयी (–वयस) है, कम (–वयस) है,

27. मूल, नानारत्नवृक्षवातिका। यहाँ वातिका शब्द वाटिका का अपरूप है। वैद्यजी ने इस पाठ को दूर कर वाटिका ही पाठ रखा है वृक्षवाटिका यहाँ वृक्षवीथी (ऐसी वीथी जिसके दोनों ओर वृक्ष हो) के अर्थ में है। तुलनीय भोटानुवाद, रिन् पो छेहि् शिङ् स्न छोगस् क्यि फ्रेङ्। भोटानुवाद में वाटिका के स्थान में जो फ्रेङ् शब्द है, वह माला या श्रेणी या पंक्ति का वाचक है।

कच्ची (=वयस है), शरीर सुकुमार है, (अभी) लड़के (ही) हो, केश काले हैं, काम के खेल भी अभी नही खेले हो । अभी तो देवताओं के अधिपति, सहस्र नेत्र वाले, देवराज (इन्द्र) की भाँति आनन्द मनाओ, फिर बाद मे जब बूढ़े हो जाएँगे तब (घर से) निकलेंगे । और उस अवसर पर यह गाथा कही—

(छंद आर्या)

रमतां च रतिविधिज्ञां अमराधिपतिर्यथा त्रिदशलोके ।
पश्चाद् वृद्धीभूता व्रततपसं आरभिष्याम: ॥626॥

हे रमण की विधियों के जानकार, (अभी) देवलोक मे देवेन्द्र की तरह रमण करो, पीछे बूढ़े होने पर व्रत-तप करेंगे ।

33. बोधिसत्त्व बोले । छन्दक, (ऐसा) मत (बोलो) । ये काम तो अनित्य हैं, टिकाऊ नही है, सदा एक रूप रहने वाले नही हैं, स्वभाव से ही बदलने वाले हैं, रफू-चक्कर होने वाले है, चंचल है, पहाड़ी नदी के वेग जैसे (फिर न लौटने वाले) हैं, ओस की बूँद के समान देर तक न ठहरने वाले है, (बच्चों की) खाली मूठ की बुझौवल के समान सारहीन है, केले के खम्भे के समान कमजोर हैं, कच्चे बर्तन =158ख= की तरह टूट जाने वाले हैं, शरद् ऋतु के मेघों के समान होकर क्षण भर में मिटने वाले हैं, आकाश मे बिजली की तरह देर तक न ठहरने वाले है, विष-मिले अन्न के समान अन्त मे दु:ख देने वाले है, मालु-लता जैसे असुख देने वाले हैं, बच्चों की जैसी बुद्धि वालो का इनमे अभिलाप होता है[28] पानी के बुलबुलों के समान झटपट मिट जाने के स्वभाव वाले हैं, माया और मृगतृष्णा के समान संज्ञाविपर्यास अर्थात् प्रत्यक्षाभास के कारण उत्पन्न होने वाले हैं, माया अर्थात् इन्द्रजाल के समान चित्तविपर्यास अर्थात् चित्त के विभ्रम से सिद्ध होने वाले है, स्वप्न के समान दृष्टिविपर्यास अर्थात् मन में बैठे उलटे-पलटे विचारों द्वारा [29]चारों ओर से पकड़ने वाले है[29] (अपने सं-) योग से तृप्ति न करने वाले हैं, समुद्र की भाँति कठिनाई से भरे जाने वाले हैं, खारे पानी जैसे प्यास लगाने वाले है, साँप के सिर की तरह

28. मूल, अभिलिखित । पठनीय, अभिलखित (=अभिलपित) । भोट, ह्दोद् पर ब्य ब (अभिलषित) । पकार के दैशिक उच्चारण खकार की रक्षा हस्तलिखित ग्रन्थ में की गई है । अति यत्न से संग्रह योग्य शब्द है ।

29....29. मूल, परिग्रह । पठनीय, परिग्रहा । तथा इसी पर विराम करने के लिए पदच्छेद आवश्यक है । भोट, योङ्स सु ज़िन् प (परिग्रह) । भोट मे यहीं पर विराम है ।

छुए जाने के लायक नहीं है, (–213–) पंडितों ने गिरावट वाले बड़े खड्ड की तरह इन्हें त्याग रक्खा है, ये भय वाले हैं, ये झगडा कराने वाले हैं, ये अपराध कराने वाले हैं, ये दोष लगाने वाले है—ऐसा समझ बुद्धिमानों ने इन्हें छोड़ रक्खा है, विद्वानों ने इन्हें लताड़ रक्खा है, आर्यों को इनसे घृणा रहती है, पंडितों ने इन्हे दुत्कार रक्खा है, (केवल) अपंडितों ने पकड़ रक्खा है, बच्चे (=मूर्ख) इनकी सेवा कर रहे हैं। और उस समय यह गाथा कही—

(छंद उपजाति वंशस्थ तथा इन्द्रवंशा का मिश्रण)

विवर्जिता सर्पशिरो यथा बुधै
विगर्हिता मीढघटो यथाशुचिः।
विनाशका सर्वशुभस्य छन्दका
ज्ञात्वा हि कामान् न मि जायते रतिः ॥627॥

पंडित लोगों ने जैसे सांप के सिर को दूर छोड़ रक्खा है, जैसे मलमूत्र के अपवित्र घड़े को निन्दित (=अछूत) बना रक्खा है, (ये काम भी वैसे ही त्यागने के योग्य हैं, न छूने के योग्य हैं)। हे छंदक, काम सब (प्रकार के) शुभ के नाशक है, यह जान कर (इनमे) मेरी रति नही हो रही है।

34. उस समय छंदक तीर से बींधे गए की तरह =159क= दहाड़ मारकर वाक्य बोला—

(छंद दंडक)

(क) देवा यस्यार्थि केचिदिहा तीव्रनेकेविधा आरमन्ते
व्रतान् अजिनजटाधर सुदीर्घ-केशान्नखा श्मश्रु
चीराल्-तथा-वल्कलाधार शुष्काङ्गनेके व्रताना
श्रिता, शाकश्यामाकगर्दूल[30] भक्षाश्च ओ-
मूर्धकाश्चापरे गोव्रतां संश्रिताः।

(ख) किं तु वय भवेम श्रेष्ठा विशिष्टा जगे चक्रवर्ती-
वरा लोकपालास्तथा शक्र वज्रंधरा याम
देवाधिपा निर्मिता, ब्रह्मलोके च ध्याना-सुखाकांक्षिणः।

30. मूल के गर्दूल का भोट मे म डुस् ह ब्रस् शब्द से अनुवाद है। इससे जान पड़ता है कि यह शालि (चावल) का कोई भेद है। शालि का कभी बहुत व्यापक अर्थ में प्रयोग होता है। वह व्रीहि नही भी हो सकता है। सम्भवतः यह मड़ुआ या कोदो है।

(ग) तदिद नरवरिष्ठ राज्यं तव स्फीतमृद्धं सुभिक्षं
तथा, आरामोद्यानप्रासाद-उच्छ्रेपितं वैजयन्तासमं ।
(घ) इस्त्रिगार स्वयं वेणुवीणारवै गीतवाद्यै रती
नृत्यसंगीति-संयोगि-संशिक्षितं ।
भुञ्ज कामानिमान् मा व्रजा सूरता ॥628॥

हे देव, जिसके लिए यहाँ कितने ही लोग अनेक प्रकार के कठोर व्रत करते हैं, मृगचर्म पहनते हैं और जटाएँ रखते हैं, केश, नख तथा दाढी-मूछ खूब बढ़ाते हैं, (वृक्ष की) छाल और वल्कल पहनते हैं, अनेक व्रतो का सहारा ले अंगों को सुखा डालते हैं, साक-पात, सावाँ तथा मडुआ खाते हैं, माथा लटकाए रहते हैं, गो-व्रत का आचरण करते हैं, (अर्थात् हाथों का उपयोग विना किए मुख से भोजन ग्रहण करते हैं) ।

वह इसलिए कि हम जगत मे श्रेष्ठ हों, विशेष पुरुष माने जाएँ, उत्तम चक्रवर्ती हों तथा लोकपाल हों, वज्रधारी इन्द्र हों, देवताओं के अधिपति याम (—नामक) तथा (पर) निर्मित (वशवर्ति-नामक-देवता) हों, ध्यान सुख की अभिलाषा करने वाले (हम) ब्रह्मलोक मे रहें ।

हे पुरुषोत्तम, वह (सब तुम्हें प्राप्त हैं), यह तुम्हारा राज्य (धन से) समृद्ध है, (धान्य से) भरा-पुरा है तथा सुकालवाला है, उद्यानों और आरामों से युक्त महलो से यह (इन्द्र के भवन) वैजयन्त के समान ऊँचा उठा है ।—

अन्तःपुर (का स्त्रीगण) अपने-अपने वेणु और वीणा की ध्वनि से गीत से, वाद्य से, रमण (—विधि) से, नृत्य से संगीति (के स र ग म प ध नि स्वरों) के प्रयोग से पूर्णरूप में शिक्षा पाया हुआ है । हे करुणावन्त, इन कामों को भोगो, मत (घर से) जाओ ।

35. (–214–) बोधिसत्व बोले—

(छंद दंडक)

(क) छन्दक शृणु यानि दुःखाशाता-मृ-अर्पिता पूर्वि
जन्मान्तरे बन्धना रुन्धना ताडना तर्जना कामहेतोर्मया,
= 159ख = नो च निर्विण्णभूत संस्कृते मानसं ।
(ख) प्रमदवशगतं[31] च मोहाकुलं दृष्टिजालावृतं अन्ध-
भूतं पुरा, आत्मसंज्ञाग्रहकारका वेदनावीतिवृत्ता
इमे धर्म अज्ञानतः संभूता ।

31. मूल, प्रमदवशमतं (=प्रमादवशगतं) । तुलनीय भोट, बग् मेद् द्बङ् दु सोङ् ।

(ग) चलचपल अनित्यं मेघैः समा विद्युभिः सदृशाः,
ओसविन्दूपमा ऋ(? रि)क्त तुच्छा असारा अनात्मा च
शून्यस्वभावा इमे सर्वशः ।

(घ) न च मम विषयेषु संरज्यते मानसं, देहि मे
छन्दका कण्ठकालंकृतं अश्वराजोत्तमं, पूर्ण
मे मङ्गलार्थ पुरा चिन्तिता, भेष्यि सर्वाभिभूः
सर्वधर्मेश्वरो धर्मराजो मुनिः ॥629॥

छंदक, सुनो काम के लिए यद्यपि मैंने पूर्व जन्मों मे बन्धन, रोकथाम, मार फटकार (आदि) सैकड़ो दुःख भोगे पर (इस) बनावटी (दुनिया) से विरक्त न हुआ।—

(यह मन) पहले प्रमाद के वश में रहा, मोह से व्याकुल रहा, दृष्टियों (=मिथ्या विचारों) के जाल से ढँका रहा, अन्धा बना रहा। ये धर्म (पदार्थ) अविद्या से उत्पन्न हुए है, वेदना से (अनुभूति से) रहित है, आत्मसंज्ञा (मैं हूँ इस भावना) के ग्रहण करने वाले है।—

सब प्रकार से ये (धर्म) चंचल है, अस्थिर है, अनित्य है, (उपमा से कहें तो ये) मेघों के समान है, बिजली के जैसे है, ओस की बूँदों के सरीखे है, खाली है, खोखले है, सार-हीन है, आत्मा से रहित है, स्वभाव से शून्य है।—

मेरा मन विषयों में नहीं लग रहा है। हे छंदक, मुझे उत्तम अश्वराज कण्ठक सजा कर दो। मैंने पूर्ण मंगल के लिए पहले सोचा था कि (मैं) सबको अपने वश मे करने वाला, सब धर्मों का ईश्वर, धर्म का राजा मुनि होऊँगा।

36. छंदक बोला—

(छंद उपजाति वंशस्था तथा इन्द्रवंशा का मिश्रण)

इमां विबुद्धाम्बुजपत्रलोचनां
विचित्रहारा मणिरत्नभूषितां।
घनप्रमुक्तामिव विद्युतां नभे
नोपेक्षसे शयनगता विरोचतीं ॥630॥

खिले कमल की पंखड़ियों जैसी आँखों वाली, विचित्र हार वाली, मणियों और रत्नों से विभूषित, आकाश में मेघों से निकली बिजली के समान सेज पर चमकती हुई इस (रूपवती) की उपेक्षा न करो।

इमांश्च वेणून् पणवां सुघोपकां
मृदङ्गवंशांश्च सगीतवादितां ।
चकोरसोरां करविङ्कनादितां
यथालयं किन्नरिणां-व-इहास्यसे[32] ॥631॥

किन्नरियों के घर जैसे इन (महलो) में रहना, (जहाँ) ये वेणु, पणव, सुघोषक (विजयघंट) मृदंग और वंश (बाँसुरी बाजे) गति के साथ वज रहे हैं, (मानो) चकोर स्वर भर रहे हों और चटक चहचहा रहे हो ।

सुमनोत्पलां वार्षिकचम्पकांस्तथा
सुगन्धमालांगुणपुष्पसंचयां ।
कालागुरुनुत्तमगन्धधूपनां
नोपेक्षसे तानलुलेपनान्वरान् ॥632॥

सुमना (=चमेली), कमल, वर्षा में खिलने वाली चमेली, चम्पा (आदि के) चुने हुए फूलों की गूँथी हुई उत्तम गन्ध की मालाओं, उत्तम गन्ध से धूप करने वाले काले अगरों तथा उन उत्तम अनुलेपनों की उपेक्षा न करो ।.

सुगन्धगन्धांश्च रसां प्रणीतां=160क=
सुसाधितां व्यञ्जनभोजनांस्तथा ।
सशर्करां पानरसां सुसंस्कृतां
नोपेक्षसे देव कहिं गमिष्यसि ॥633॥

उत्तम गन्धो से सुगन्धित श्रेष्ठ रस के भलीभाँति सिद्ध किए गए व्यञ्जन और भोजनों, शर्करा के साथ उतम रीति से बनाए गए पानक-रसों की उपेक्षा न कर (यही रहो), हे देव और कहाँ जाओगे ।

(–215–) शीते च उष्णानुलेपनाम्बरां
उष्णे च तानुरगसारचन्दनां ।
तां काशिकावस्त्रवरम्बरां शुभां
नोपेक्षसे देव कहिं गमिष्यसि ॥634॥

शीत (काल) मे गरमाने वाले अनुलेपनों और वस्त्रों तथा उष्ण (काल) मे (ठंडक पहुँचाने वाले) उन उरगसार—चन्दन (वाले विलेपनो) तथा उन काशी

32. मूल, विहास्यते । यह वस्तुतः व्-इह-आस्यसे है । अनुस्वार तथा स्वर के मध्य वकारागम मुखसुखाथ है । क्रिया पद मे धातु आस् है जिसका भोट में ल्गुस् (=यिन् प, ह्युर् ब) शब्द से उल्था हुआ है जो अस् या भू का वाचक है ।

के बने उत्तम और मांगलिक वस्त्रों और कपड़ों की उपेक्षा न कर (यहीं रहो), हे देव और कहाँ जाओगे।

[33]इमे च ते[33] कामगुणा हि पञ्च
समृद्ध देवेष्विव देवतानां।
रमस्व तावद् रतिसौख्य-अन्वितः
ततो वनं यास्यति शाक्यपुङ्गवः ॥635॥

ये पाँच (रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श रूपी) कामगुण देव (लोकों) में देवताओं की तरह तुम्हारे लिए भलीभाँति जुट गए हैं, अभी रति के सुख से युक्त होकर आनन्द मनाओ, फिर (किसी और समय पर) शाक्य-पुंगव बन जाना।

37. बोधिसत्त्व बोले—

(छंद दंडक)

(क) अपरिमितानन्तकल्पा मया छन्दका, भुक्त कामानि
रूपाश्च शब्दाश्च गन्धा रसा स्पर्शा नानाविधा,
दिव्य ये मानुषा नो च तृप्तीरभूत्।

(ख) नृपतिवरसुतेन ऐश्वर्यं कारापितं चातुर्द्वीपे,
यदा राजभूच्चक्रवर्ती समन्वागतः सप्तभिः रत्नभिः,
इस्त्रिगारस्य मध्ये गतः।

(ग) त्रिदशपति सुयामदेवाधिपत्यं च कारापितं,
येभ्यश्चाहं च्यवित्वा इहाभ्यागतो निर्मितो निर्मितेषु,
मानो-आत्मिका च श्रिया उत्तमा भुक्त पूर्वे मया।

(घ) सुरपुरि वशवर्ति-मारेश्वरत्वं च कारापितं, भुक्त
कामाः समृद्धा वरा नो च तृप्तीरभूत, किं पुनो अद्यमां
हीन संसेवतस्तृप्ति गच्छे-द्-अहं स्थानमेतन्न संविद्यते ॥636॥

हे छन्दक, अपरिमित अनन्त कल्पों तक मैंने नाना प्रकार के दिव्य और मानुष रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श रूपी काम-भोग भोगे, पर तृप्ति न हुई।

चारों (पूर्वविदेह, अपरगोदानीय, उत्तरकुरु तथा जंबूद्वीप नामक) द्वीपों में श्रेष्ठ राजपुत्र हो, मैंने (उस समय) राज्य किया, जब मैं चक्रवर्ती राजा हुआ था, सात रत्नों से युक्त था, अन्तःपुर के बीच विहरता था।

33....33. मूल, इमे च ते (देव)। कोष्ठकान्तर्गत पाठ भोट में नहीं है। भोट में केवल ह्.दि दग् (इमे) है।

(मैंने) देवताओं का स्वामित्व तथा सुयाम-देवों का आधिपत्य किया, उनमें से च्युत होकर इस (संसार) में मैं निर्मित देवों के बीच निर्मित होकर आया और मनोमयी उत्तम लक्ष्मी का पूर्व मे भोग किया।

देवलोक में वशवर्ती कामदेव होकर मैंने राज्य किया, भलीभांति जुटे हुए उत्तम काम-भोग भोगे, पर तृप्ति न हुई, फिर आज इस हीन (मानवी) के साथ में तृप्त हो जाऊँ—इसका ठौर-ठिकाना नही (ही) है।

(छंद दंडक)

(क) अपि च=160ख=इमु जगं अपेक्षाम्यहं छन्दका दुःखितं शोक-
कान्तारमध्ये स्थितं, क्लेशव्याड[34]कुलेनोपायासेन उह्यमानं सदा।
(ख) (–216–) अशरणमपरायणं मोहविद्यान्धकारे जराव्याधि-
मृत्यूभयैः पीडितं, जन्मदुःखै समभ्याहतं, व्याहतं शत्रुभिः।
(ग) अहमिह समुदानिया धर्मनावं महात्यागशीलव्रतक्षान्तिवीर्या-
बलांदारु-संभारसंघातितां, सारमध्याशयैर्वज्रकैः संगृहीतां दृढ़ां।
(घ) स्वयमहमभिरुह्य नावमिमामात्मनोऽवतीर्य संसार-
ओघे अहं तारयिष्ये अनन्तं जगत्, शोकसंसार-
कान्ताररोषोर्मिरागग्रहवर्तवैराकुले दुस्तरे, एवं चित्तं
मम ॥637॥

हे छन्दक, इसके अतिरिक्त, इस जगत् को मैं दुःखी, शोक के निर्जन वन में (आई हुई बाढ) के बीच फँसा, क्लेशरूपी विषधरों भरे नैराश्य के (प्रवाह के) द्वारा बहाया ले जाया जाता हुआ देखता हूँ—

(यह जगत्) बिना शरण का, बिना सहारे का, मोह और अविद्या के अँधेरे में जरा, रोग और मृत्यु के भय से पीडित, जन्म (लेने) के दुःखो की मार खाया हुआ, शत्रुओ की रोक-टोक मे पड़ा है।

मैं यहाँ महान् त्याग, शील, व्रत, क्षमा तथा वीर्य रूपी उत्तम काठ की सामग्री से गढ़ी हुई, उत्तम आशयो से सार वाली, मानो वज्रो से (हीरों से) जड़-जड़ कर बनी हो ऐसी दृढ धर्म की नौका प्राप्त कर।

इस नौका पर स्वयं चढ़ कर, अपने-आप पार होकर, शोक के तथा आवागमन के निर्जन वन वाले, रोष की लहरों वाले, राग के मगरों वाले, वैर के भँवरों से क्षुब्ध, दुस्तर संसार के ओघ से अनन्त जगत् को तारूँगा। ऐसा मेरा मन है।

34. मूल, क्लेशव्याडाकुले। पठनीय, क्लेशव्याडाकुलेनोपायासेन। तुलनीय भोट, ञोन् मोङ्स् गदुग् पस् द् कुग्स् शिङ् नम् ङस्।

के बने उत्तम और मांगलिक वस्त्रों और कपड़ों की उपेक्षा न कर (यहीं रहो), हे देव और कहाँ जाओगे।

> [33]इमे च ते[33] कामगुणा हि पञ्च
> समृद्ध देवेष्विव देवतानां।
> रमस्व तावद् रतिसौख्य-अन्वित:
> ततो वनं यास्यति शाक्यपुङ्गव: ॥635॥

ये पाँच (रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श रूपी) कामगुण देव (लोकों) में देवताओं की तरह तुम्हारे लिए भलीभाँति जुट गए हैं, अभी रति के सुख से युक्त होकर आनन्द मनाओ, फिर (किसी और समय पर) शाक्य-पुंगव बन जाना।

37. बोधिसत्त्व बोले—

(छंद दंडक)

> (क) अपरिमितानन्तकल्पा मया छन्दका, भुक्त कामानि
> रूपाश्च शब्दाश्च गन्धा रसा स्पर्शा नानाविधा,
> दिव्य ये मानुषा नो च तृप्तीरभूत्।
>
> (ख) नृपतिवरसुतेन ऐश्वर्य कारापितं चातुद्वीपे,
> यदा राजभूच्चक्रवर्ती समन्वागत: सप्तभि: रत्नभि:,
> इस्त्रिगारस्य मध्ये गत:।
>
> (ग) त्रिशेपति सुयामदेवाधिपत्यं च कारापितं,
> येभ्यश्चाहं च्यवित्वा इहाभ्यागतो निर्मितो निर्मितेषु,
> मानो-आत्मिका च श्रिया उत्तमा भुक्त पूर्वे मया।
>
> (घ) सुरपुरि वशवर्ति-मारेश्वरत्वं च कारापितं, भुक्त
> कामा: समृद्धा वरा नो च तृप्तीरभूत, कि पुनो अद्यमां
> हीन संसेवतस्तृप्ति गच्छे-द्-अहं स्थानमेतन्न संविद्यते ॥636॥

हे छन्दक, अपरिमित अनन्त कल्पों तक मैंने नाना प्रकार के दिव्य और मानुष रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श रूपी काम-भोग भोगे, पर तृप्ति न हुई।

चारों (पूर्वविदेह, अपरगोदानीय, उत्तरकुरु तथा जंबूद्वीप नामक) द्वीपों में श्रेष्ठ राजपुत्र हो, मैंने (उस समय) राज्य किया, जब मैं चक्रवर्ती राजा हुआ था, सात रत्नों से युक्त था, अन्त:पुर के बीच विहरता था।

33....33. मूल, इमे च ते (देव)। कोष्ठकान्तर्गत पाठ भोट में नहीं है। भोट में केवल ह्दि दग् (इमे) है।

(मैंने) देवताओं का स्वामित्व तथा सुयाम-देवों का आधिपत्य किया, उनमें से च्युत होकर इस (संसार) में मैं निर्मित देवों के बीच निर्मित होकर आया और मनोमयी उत्तम लक्ष्मी का पूर्व मे भोग किया।

देवलोक में वशवर्ती कामदेव होकर मैंने राज्य किया, भलीभांति जुटे हुए उत्तम काम-भोग भोगे, पर तृप्ति न हुई, फिर आज इस हीन (मानवी) के साथ में तृप्त हो जाऊँ—इसका ठोर-ठिकाना नही (ही) है।

(छंद दंडक)

(क) अपि च=160ख=इमु जगं अपेक्षाम्यहं छन्दका दुःखितं शोक-
कान्तारमध्ये स्थितं, क्लेशव्याडा[34]कुलेनोपायासेन उह्यमानं सदा।
(ख) (–216–) अशरणमपरायणं मोहविद्यान्धकारे जराव्याधि-
मृत्यूभयैः पीडितं, जन्मदुःखै समभ्याहतं, व्याहतं शत्रुभिः।
(ग) अहमिह समुदानिया धर्मनावं महात्यागशीलव्रतक्षान्तिवीर्या-
बलादारु-संभारसंघातितां, सारमध्याशयैर्वज्रकैः संगृहीतां दृढां।
(घ) स्वयमहमभिरुह्य नावमिमामात्मनोऽवतीर्य संसार-
ओघे अहं तारयिष्ये अनन्तं जगत्, शोकसंसार-
कान्ताररोषोर्मिरागग्रहवर्तवैराकुले दुस्तरे, एव चित्तं
मम ॥637॥

हे छन्दक, इसके अतिरिक्त, इस जगत् को मैं दुःखी, शोक के निर्जन वन में (आई हुई बाढ) के बीच फँसा, क्लेशरूपी विषधरों भरे नैराश्य के (प्रवाह के) द्वारा बहाया ले जाया जाता हुआ देखता हूँ—

(यह जगत्) बिना शरण का, बिना सहारे का, मोह और अविद्या के अँधेरे में जरा, रोग और मृत्यु के भय से पीडित, जन्म (लेने) के दुःखों की मार खाया हुआ, शत्रुओं की रोक-टोक मे पडा है।

मैं यहाँ महान् त्याग, शील, व्रत, क्षमा तथा वीर्य रूपी उत्तम काठ की सामग्री से गढ़ी हुई, उत्तम आशयो से सार वाली, मानो वज्रों से (हीरों से) जड़-जड़ कर बनी हो ऐसी दृढ़ धर्म की नौका प्राप्त करूँ।

इस नौका पर स्वयं चढ़ कर, अपने-आप पार होकर, शोक के तथा आवागमन के निर्जन वन वाले, रोष की लहरो वाले, राग के मगरो वाले, वैर के भँवरों से क्षुब्ध, दुस्तर संसार के ओघ से अनन्त जगत् को तारूँगा। ऐसा मेरा मन है।

34. मूल, क्लेशव्याडाकुले। पठनीय, क्लेशव्या-डाकुलेनोपायासेन। तुलनीय भोट, ञोन् मोङ्स् गदुग् पस् द् क्रुग्स् शिङ् नम् ङस्।

(छंद वंशस्थ)

तदात्मनोत्तीर्य इदं भवार्णवं
सवैरदृष्टिग्रहक्लेशराक्षसं ।
स्वयं तरित्वा च अनन्तकं जगत्
स्थले स्थपेष्ये अजरामरे शिवे ॥638॥

इसलिए वैर-युक्त दृष्टियों के (=अनुचित विचारों के) मगरों वाले, क्लेश के राक्षसों वाले इस संसारसागर को स्वयं तैर कर, अपने-आप पार कर, अनन्त जगत् को अजर-अमर एवं शिव (कल्याण) भूमि पर स्थापित करूँगा ।

38. उस समय छन्दक और अधिक मात्रा मे रोता हुआ यों बोला, हे देव, यह करने का निश्चय है ।

बोधिसत्व बोले—

(छंद गाथा)
(1, 3 पाद वियोगिनी, 2, 4, पाद रथोद्धता)

शृणु छन्दक मह्य निश्चयं
मोक्षसत्वार्थ-हितार्थमुद्यतं ।
अचलाचलमव्ययं दृढं=161क=
मेरुराजेव यथा सुदुश्चलं ॥639॥

हे छन्दक, सुनो, प्राणियों के मोक्ष के लिए, प्राणियों के हित के लिए मेरा निश्चय अचल है, अटल है, न बदलने वाला है, दृढ़ है, जैसे पर्वतराज सुमेरु बिलकुल नही हिलते-डुलते वैसे ही यह (न हिलने-डुलने वाला) है । छंदक बोला । आर्यपुत्र का निश्चय किस प्रकार का है ।

बोधिसत्व बोले—

(छंद वसन्ततिलका)

वज्राशनिः परशुशक्तिशराश्च वर्षे
विद्युत्प्रतानज्वलितः क्वथितं च लोहं ।
आदीप्तशैलशिखरा प्रपतेय मूर्ध्नि
नैवा अहं पुन जनेय गृहाभिलाषं ॥640॥

चाहे बाज-गाज, फरसे, बर्छी-तीर एवं बिजली की लच्छियो की तरह जलते हुए गले-गलाए लोहे की वर्षा हो, चाहे जलती हुई पहाड़ो की चोटियाँ सिर पर गिरें, पर मै अब फिर घर की कामना नही करूँगा ।

(छंद आर्या)

(-217-) तदा अमर नभगता, किलिकिला मुञ्चिषु कुसुमवृष्टिः ।
जय हे परममतिधरा, जगति अभयदायका नाथ ॥641॥

उस समय आकाश मे विराजमान देवताओं ने किलकारियाँ मारीं, फूलों की वर्षा बरसाई, (और बोले) हे परमगतिमान्, जगत् में अभय देने वाले, नाथ, (तुम्हारी) जय हो।

(छंद रुचिरा)

न रज्यते पुरुषवरस्य मानसं
नभो यथा तमरजधूमकेतुभिः।
न लिप्यते विषयसुखेषु निर्मलो
जले यथा नवनलिनं समुद्भवं ||642||

जैसे आकाश अन्धकार से, धूल से और धूमकेतु से नही रंगता, वैसे ही श्रेष्ठ पुरुष का मन (राग से) नही रंगता। जल मे उत्पन्न हुआ नया कमल जैसे (जल से) लिप्त नहीं होता, वैसे ही निर्मल (पुरुप) विपय सुखों में (रहता हुआ भी विषय सुखों से) लिप्त नही होता।

39. हे भिक्षुओं, इसके बाद बोधिसत्त्व के निश्चय को जानकर देवपुत्र शान्तिमति तथा देवपुत्र ललितव्यूह ने महानगर कपिलवस्तु मे सब स्त्री और पुरुषों, लड़की और लड़कों को निद्रा मे डाल दिया, सब शब्दों का अन्तर्धान कर दिया।

40. हे भिक्षुओं, इसके बाद नगर के सब लोगों को सोया समझ कर, =161ख= आधी रात का समय उपस्थित हुआ जान कर, नक्षत्र के अधिपति पुष्य का योग बूझ कर, (घर से) निकलने का यह समय है—यह ख्याल कर, बोधिसत्त्व ने छंदक को पुकारा। छंदक, मुझे अब और न सताओ। कंठक को सजाकर मुझे दो और विलम्ब मत करो।

41. ज्यों ही बोधिसत्त्व ने यह बात कही, त्यों ही तत्क्षण बोधिसत्त्व का वचन सुन कर, चारों लोकपाल अपने-अपने भवन जाकर, बोधिसत्त्व की पूजा के लिए अपनी-अपनी मण्डली रच कर, फिर महानगर कपिलवस्तु में आ पहुँचे।

42. वहाँ गन्धर्वों के अधिपति महाराज धृतराष्ट्र, अनेकों लाखो खर्व-खर्व कोटि (संख्यक) नाना प्रकार के बाजों पर संगीति (स र ग म प ध नि) स्वर बजाते हुए, गन्धर्वों के साथ पूर्वदिशा से आए। आकर महानगर कपिलवस्तु की प्रदक्षिणा कर, जैसे आए थे वैसे ही पूर्व दिशा में जाकर बोधिसत्त्व को नमस्कार करते हुए खड़े हो गए।

43. महाराज विरूढक, अनेकों लाखों खर्व-खर्व कोटि (–संख्यक), नाना प्रकार मोतियों के हार हाथो मे लटकाए, (–218–) नाना प्रकार के मणि और रत्न लिए हुए, विविध प्रकार के सुगन्धित जल से भरे हुए कलशों को उठाए हुए, कुम्भाण्डों के साथ दक्षिण दिशा से आए। आकर महानगर कपिलवस्तु की प्रदक्षिणा कर, =162क= जैसे आये थे, वैसे ही दक्षिण दिशा में जाकर बोधिसत्त्व को नमस्कार करते हुए खड़े हो गए।

44. महाराज विरूपाक्ष, अनेकों लाखों खर्व-खर्व कोटि (–संख्यक), नाना प्रकार के मोतियों के हार हाथों में लटकाए, नाना प्रकार के मणि और रत्न लिए हुए, सुगन्धित चूर्ण और पुष्पों की वर्षा करने वाले मेघों को उमड़ाते हुए, मृदुल और सुगन्धित नाना प्रकार के पवनों को बहाते हुए, नागों के साथ पश्चिम दिशा से आए, आकर महानगर कपिलवस्तु की प्रदक्षिणा कर, जैसे आए थे, वैसे ही पश्चिम दिशा मे जाकर, बोधिसत्त्व को नमस्कार करते हुए खड़े हो गए।

45. महाराज कुबेर, अनेकों लाखों खर्व-खर्व कोटि (–संख्यक), ज्योतिरस (नामक नाग–) मणियो और रत्नों को लिए, हाथो मे बत्तियाँ उठाए हुए, हाथों मे जलती हुई मशालें लिए हुए, धनुष-तीर, तलवार, बर्छी, भाला, त्रिशूल, चक्र, कनय (कान लगे भाले,) भिन्दिपाल (हाथ के बराबर फेंके जाने वाले सींग के बने बरछे) आदि नाना प्रकार के हथियार लिए हुए, वर्म और कवच कस कर बाँधे हुए, यक्षों के साथ उत्तर दिशा से आए। आकर महानगर कपिलवस्तु की प्रदक्षिणा कर, जैसे आए थे, वैसे ही उत्तर दिशा मे जाकर बोधिसत्त्व को नमस्कार करते हुए खड़े हो गए।

46. देवताओं के इन्द्र शक्र, देव लोक के पुष्पों, गन्धों, =162 ख=मालाओं, विलेपनो, चूर्णों, चीवरों, वस्त्रों, छत्रो, ध्वजाओं, पताकाओं, अवतंसकों (= कर्णाभरणो) तथा अन्य आभूषणों को लिए हुए त्रयस्त्रिंश लोक के देवताओं के साथ आए। आकर महानगर कपिलवस्तु की प्रदक्षिणा कर, जैसे आए थे, वैसे ही अपनी मंडली के साथ ऊपर आकाश में बोधिसत्त्व को नमस्कार करते हुए खड़े हो गए।

47. हे भिक्षुओ, इस प्रकार बोधिसत्त्व के वचन को सुनकर आँखों मे आँसू भर कर छंदक बोधिसत्त्व से यों बोला। हे आर्यपुत्र, तुम काल के जानकार हो, वेला के जानकार हो, समय के जानकार हो। यह (तुम्हारे) जाने का काल नही है, (तुम्हारे जाने का) समय नही है। [35]किसलिए फिर ऐसी आज्ञा दे रहे हो[35]।

35....35. मूल, (तत्किमाज्ञापयसि) इति। कोष्ठक के विना ही पठनीय, तत्किमेवमाज्ञापयसीति। तुलनीय भोट, चि हि स्लद् डु ब्कह् दे स्कद् स्त्सल्।

बोधिसत्त्व बोले। हे छंदक, यही वह काल है।

(-219-) छन्दक बोला। हे आर्यपुत्र, किस (बात) का (यह) काल है। बोधिसत्त्व बोले।

(छंद उपजाति)

यत्तन्मया प्रार्थित दीर्घरात्रं
सत्वानमर्थ परिमार्गता हि।
अवाप्य बोधिं अजरामरं पदं
मोचे जगत्तस्य क्षणो उपस्थितः ||643||

चिरकाल तक प्राणियों का हित खोजते हुए जो मैंने कामना की थी कि अजर-अमर पद रूपी बोधि पाकर मैं जगत् को मुक्त करूँगा, उसका क्षण आ पहुँचा है।

यहाँ यह धर्मता (होनहार) है।

48. इस विषय मे (गाथाओं द्वारा) यह कहा गया है—

(अभिनिष्क्रमण के अवसर पर देवताओं का उत्साह)

(छंद उपजाति)

भौमान्तरीक्षाश्च तथैव पालाः
शक्रश्च देवाधिपतिः सपक्षः[36]।
यामाश्च देवास्तुषिताश्च निर्मिताः
परनिर्मितोद्युक्त तथैव देवाः ||644||

पृथिवी के (देवता), अन्तरिक्ष के (देवता), तथा लोकपाल, (अपने) पक्षवाले (देवताओं) के साथ देवताओं के अधिपति शक्र, यामदेवता, तुषित (-देवता), निर्मित (-देवता), तथा परनिर्मित-देवता उत्साह से भरे है।

वरुणो मनस्वी अपि नागराज।
अनावतप्तश्च=163क=तथैव सागरः।
अभियुक्त ते चाप्यभिपूजनार्थं
नैष्क्रम्यकाले नरपुङ्गवस्य ||645||

मनस्वी वरुण और नागराज, अनवतप्त (मानसरोवर) और समुद्र, ये—सब (घर से) निकलने के अवसर पर पुरुषोत्तम (बोधिसत्त्व की) भलीभांति पूजा करने के लिए उत्साह से भरे है।

36. मूल, सयक्षः। पठनीय, सपक्षः। तुलनीय, भोट, रङ् गि फ्योग्स् बङ् चस्।

ये चा ते दृढवज्रतोमरधराः शाक्यै सुता स्थापिता
हस्ती[38]अश्व रथेषु तोरणवरे ते चाप्यवस्वापिताः।
राजा राजकुमार पार्थिवजनः सर्वे प्रसुप्ताभवन्
अपि चा नारिगणा विनग्नवसना सुप्तान ते वुद्धिषू ॥655॥

शाक्यों ने वज्र के समान दृढ तोमरो के धारण करने वाले जिन (अपने) पुत्रो को हाथियों पर, घोडो पर, रथो पर, तथा बाहर के द्वारो पर तैनात किया था, उन्हे भी देवताओं ने सुला दिया था। राजा, राजपुत्र तथा राजकीय जन सब सो गए और नारीगण विना-वस्त्र नंग-धडंग नीद में पड़ गए, उन्हें (बाहर का कुछ) पता न रहा।

सो च ब्रह्मरुतो मनोज्ञवचनः कलविङ्कघोषस्वरो
रात्री निर्गत अर्धरात्रसमये तं छन्दकं चाब्रवीत।
साधू छन्दक देहि कण्ठक मम स्वालंकृतं शोभनं
मा विघ्नं कुरु मे ददाहि चपलं यदि मे प्रियं मन्यसे ॥656॥

वे ब्रह्मा के समान स्वर वाले, मनोहर वचन वाले, चटक जैसे चहचहाने वाले (बोधिसत्त्व) रात को आधी रात के समय निकल छंदक से बोले—भले छंदक, अच्छे कण्ठक को सजाकर मुझे दो, विघ्न मत करो, यदि मेरा प्रिय चाहते हो तो (उसे) शीघ्र दो।

श्रुत्वा छन्दक अश्रुपूर्णनमनस्तं स्वामिनं अब्रवीत्
क त्वं यास्यसि सत्त्वसारथिवरा किं अश्वकार्यं च ते।
कालज्ञः=154क=समयज्ञ धर्मचरणो कालो न गन्तुं क्वचित्
द्वारास्ते पिथिता दृढार्गलकृता को दास्यते तान् तव ॥557॥

सुन कर, आखो मे आँसू भर कर, छदक (अपने) उन मालिक से बोला—हे प्राणियो के श्रेष्ठ सारथि, तुम कहाँ जाओगे, घोड़े से तुम्हारा क्या काम है। (तुम) काल के जानकार हो, समय के जानकार हो, धर्म का आचरण करने वाले हो, कही भी जाने का (यह) समय नही है, मजबूत आर्गल लगा कर द्वार बंद कर दिए गए है, उन्हे तुम्हारे लिए कौन खोल देगा ?

शक्रेण मनसाथं चेतनवशात् ते द्वारा मुक्ता कृताः
दृष्ट्वा छन्दक हर्षितो पुन दुःखी अश्रूणि सोऽवतयी।
(–221–) हा धिक् को मि सहायु कि तु (? नु) कुरुमी धावामि कां
वादिशां उग्रं तेजुधारेण वाक्यु भणितं शक्यं न संधारितुं ॥658॥

38....38. मूल, हुस्ति। दीर्घान्तपाठ छंद तथा भाषा दोनों दृष्टियों से उत्तम है।

इन्द्र ने तब मन की चेतना के वशीभाव द्वारा उन द्वारों को उघाड़ डाला, (यह) देख कर छन्दक (पहले तो) प्रसन्न हुआ और फिर आँसू बहाने लगा। हायराम ! मेरे सहायक कौन ? (मैं) क्या करूँ ? किस दिशा में दौड़ूँ ? तेजस्वी (बोधिसत्त्व) ने बड़ी कड़ी बात कही है, जो सही नहीं जाती।

सा सेना चतुरङ्गिनी बलवती [39]किं सू[39] करोतीह हा
राजा राजकुमार पार्थिवजनो नेमं हि बुद्धयन्ति ते।
स्त्रीसंघः शयितस्तथा यशवती [40]ओस्वापिता देवतैः
हा धिग् गच्छति सिद्धतेऽस्य प्राणिधिर्यश्चिन्तितः पूर्वशः ॥659॥

हाय, वह बलवाली चतुरङ्गिणी सेना क्या कर रही है, वे राजा, राजकुमार तथा राजकीय जन यह नहीं जानते है, स्त्रीसमूह सोया हुआ है, देवताओं ने यशोधरा को सुला दिया है, हाय राम, (यह) जा रहे हैं, इनका सोचा पहले का संकल्प सिद्ध होने जा रहा है।

देवाः कोटिसहस्र हृष्टमनसस्तं छन्दकं अब्रुवन्
साधू छन्दक देहि कण्ठक वरं मा खेदयी नायकं।
भेरीशङ्खमृदङ्गतूर्यनयुता देवासुरैर्वादिताः
नैवेदं प्रतिबुद्धयते पुरवरं ओस्वापितं देवतैः ॥660॥

मन में आनन्दित हुए सहस्रों करोड़ देवता छंदक से बोले—भले छन्दक, उत्तम (अश्व) कण्ठक (लाकर) दो, नायक (बोधिसत्त्व) को मत सताओ। देवताओं और असुरों ने खर्ब-खर्ब नक्कारे, मृदङ्ग और तुरहियाँ बजाईं, पर यह श्रेष्ठ नगर देवताओं ने (ऐसा) सुला दिया कि जग नहीं रहा है।

पश्य छन्दक अन्तरीक्ष विमलं दिव्या प्रभा शोभते
पश्य त्वं बहुबोधिसत्त्वनयुतां ये पूजानायागताः।
शक्रं पश्य शचीपतिं बलवृतं द्वारस्थितं भ्राजते
देवांश्चाप्यसुरांश्च किन्नरगणां ये पूजनार्थागताः ॥661॥

छंदक निर्मल आकाश देखो, (कैसी) दिव्य छटा छाई हुई है, तुम अनेक खर्ब-खर्ब बोधिसत्त्वों को देखो, जो पूजा के लिए आए हैं, सेना से घिरे हुए शचीपति इन्द्र को देखो, (जो) द्वार पर खड़े शोभा पा रहे हैं, देवताओं, असुरों तथा किन्नर गणों को देखो, जो पूजा के अर्थ आए हुए है।

39....39. मूल, किं भू। पठनीय, किं सू (=किं स्वित्)। भोट, चि ज़िग्।
40. मूल, शयवती। पठनीय, यशवती। भोट, ग्रग्स् ल्दन्। यहाँ यशवती शब्द यशोधरा के लिए आया है।

श्रुत्वा छन्दक देवतान = 164ख = वचनं तं कण्ठकं आलपी
एष्व् आ गच्छति सत्वसारथिवरस् त्वं ताव हेषिष्यसे ।
सो तं वर्षिकुवर्णं काञ्चनखुरं स्वालंकृतं कृत्वना।
उपनेती गुणसागरस्य वहनं रोदन्तको दुर्मना ॥662॥

छंदक देवताओं की बात सुन कर उस कंठक से बोला—आः, ये प्राणियों के श्रेष्ठ सारथि जा रहे है, तुम अब हिनहिनाना। दुःखी मन से रोता हुआ वह बरसाती चमेली जैसे (श्वेत) रंग के सुनहले खुरो वाले उस घोड़े को भलीभाँति सजा कर गुणो के सागर (बोधिसत्व) के पास लाया।

एषो ते वरलक्षणा हितकरा अश्वः सुजातः शुभो
गच्छ (া) सिध्यतु तुभ्य एष प्रणिधिर्यश्चिन्तितः पूर्वशः।
ये ते विघ्नकरा व्रजन्तु प्रशमं[41]) आसां व्रतं[41]) सिध्यतां
भवही सर्वजगस्य सौख्य ददनः स्वर्गस्य शान्त्यास्तथा ॥663॥

हे श्रेष्ठ—लक्षण-वाले, हे हितकारी, यह तुम्हारा शुभ और उत्तम जाति का अश्व है। जाओ, तुम्हारा पहले का जो सोचा संकल्प है, वह सिद्ध हो। जो विघ्न डालने वाले है, वे शान्त हों। (तुम्हारी) आशाएँ और व्रत सफल हों। (तुम) सकल जगत् को सुख, स्वर्ग, तथा शान्ति के देने हारे होओ।

(–222–) सर्वा कम्पित षड्विकार धरणी शयनाद्यका सोत्थितः
आरूढः शशिपूर्णमण्डलनिभं तं अश्वराजोत्तमं।
पाला पाणि विशुद्धपद्मविमला न्यसयिसु अश्वेत्तमे
शक्रो ब्रह्म उभौ च तस्य पुरतो दर्शयन्ति मार्गो ह्ययं ॥664॥

जब वे (बोधिसत्व) सोने के पलंग से उठे और चन्द्रमा के पूर्ण मण्डल के समान (सुन्दर) उस उत्तम अश्वराज पर सवार हुए तब सब धरती छह प्रकार से काँप उठी, (लोक–) पालो ने अत्यन्त शुद्ध कमलों जैसे हाथ (उस) उत्तम अश्व (के पैरों के) नीचे लगा दिये, इन्द्र और ब्रह्मा दोनो ही उनके आगे (इधर-उधर) यह मार्ग है (यो कह कर) (मार्ग) दिखाने लगे।

आभा तेन प्रमुक्त अच्छविमला ओभासिता मेदिनी
सर्वे शान्त अपाय सत्त्व सुखिता क्लेशैर्न बाध्यी तदा।
पुष्पा वर्षिषु तूर्यकोटि रणिषू देवासुरास्तुष्टुवुः
सर्वे कृत्व प्रदक्षिणं सुरवरं गच्छन्ति हर्षान्विताः ॥665॥

41....41. आसां व्रतं = आशाव्रतं। तुलनीय, भोट, द्गोङ्स् प हि व्रुल् शुग्स् (अथरार्थ, आशा का व्रत)।

उन (बोधिसत्त्व) ने स्वच्छ और निर्मल ज्योति छोड़ी, (जिससे) धरती प्रकाशित हो उठी, सब नरक शान्त हो गए, प्राणी सुखी हो गए, क्लेशों द्वारा (कोई) न सताया गया। (उस समय) फूल बरसे, करोड़ों तुरहियाँ बजी, देवताओं और असुरों ने स्तुति की, और सब (उस) श्रेष्ठ नगर की प्रदक्षिणा कर हर्ष के साथ चलने लगे।

(कपिलवस्तु नगर के अधिष्ठाता देवता का विलाप)

(छन्द प्रमिताक्षरा)

पुरवरोत्तमि देवत दीनमना
उपगम्य गच्छति महापुरुषे।
पुरतः स्थिता करुणदीनमना
गिरया=165क=समालपति पद्ममुखम् ॥666॥

महापुरुष के चल पड़ने पर, उस श्रेष्ठ एवं उत्तम नगर का (अधिष्ठातृ-) देवता मन में दीन हो, पास जाकर, सामने खड़े होकर, दया एवं दीनता से भरे मन के साथ, कमलमुख (बोधिसत्त्व) से (यह) वचन बोला—

तमसाकुलं भुविमु सर्वपुरं
नगरं न शोभति त्वया रहितम्।
न ममात्र काचि रति प्रीतिकरी
त्यक्तं त्वया च यदिदं भवनं ॥667॥

धरती के इस समूचे नगर पर अँधेरा छा गया है, तुम से रहित (यह) नगर नहीं सोहा रहा है। तुमने जो यह भवन त्याग दिया है, उसमें अब प्रीति उपजाने वाला आनन्द मेरे लिए नहीं रहा है।

न पुनः श्रुणिष्य रुतु पक्षिगणे
अन्तःपुरे मधुर वेणुरवं।
मङ्गल्यशब्द तथा गीतरवं
प्रतिबोधनं तव अनन्तयशः ॥668॥

अब फिर पक्षिगण का चहचहाना, अन्तःपुर (की स्त्रियों) की मीठी वंशीध्वनि, (शंख आदि के) मांगलिक शब्द, तथा गीतालाप जो तुम्हें जगाया करते थे, हे अनन्तयश, मुझे सुनने को न मिलेंगे।

दर्शे न भूयु सुरसिद्धगणां
कुर्वन्त पूजा तव रात्रिदिवं।
घ्रायिष्य गन्ध न च दिव्य पुनः
त्वयि निर्गते निहतक्लेशगणे ॥669॥

(अब) फिर रातदिन तुम्हारी पूजा करते हुए देवताओं और सिद्धों के गण देखने को न मिलेंगे। जिसके क्लेश-समूह नष्ट हो चुके हैं ऐसे तुम्हारे घर से निकल जाने पर अब फिर दिव्य गन्ध सूँघने को न मिलेगा।

निर्भुक्तमाल्यमिव पर्युषितं
त्यक्तं त्वयाद्य भवनं हि तथा।
नटरङ्गकल्प प्रतिभायति मे
त्वयि निर्गते न भूयु तेजशिरी ॥670॥

भोग कर ली गई बासी माला की तरह आज तुमने यह भवन त्याग दिया है। तुम्हारे चले जाने पर यहाँ फिर तेज और श्री न रहेंगे। (यह भवन) मुझे (उजड़े हुए) नटों के रंगमंच जैसा लगेगा।

ओजो बलं हरसि सर्वपुरे
न च शोभते अटवितुल्यमिदं।
वितथं ऋषीण वचनाद्य भुतं
येही वियाकृतु भुवि चक्रबलो ॥671॥

समूचे नगर का ओज और बल हरे लिए जा रहे हो, यह जगल जैसा नही सोहा रहा है। आज (उन) ऋषियों का वचन झूठा हो गया, जिन्होंने भविष्य-वाणी की थी कि (तुम) चक्रवर्ती बलवान् (राजा) होओगे।

अबलंबलं भुविमु शाक्यबलं
उच्छिन्न वंश इह राजकुले।
आसा प्रनष्ट इह शाक्यगणे
त्वयि निर्गते महति पुण्यद्रुमे ॥672॥

पुण्य के महावृक्ष तुम्हारे (घर से) निकल जाने के बाद पृथिवी पर शाक्यों का बल अबलाओं का बल हो गया है, इस राजकुल का वंशच्छेद हो गया है, शाक्यगण की आशाएँ नष्ट हो गई हैं।

(–223–) अहमेव तुभ्य गति गच्छयसी
यथ त्वं प्रयासि अमला विमला।
अपि चा कृपाकरुणा संजनिय =165ख=
व्यवलोकयस्व भवनं त्वमिहं ॥673॥

हे अमल, हे विमल, जैसे तुम जा रहे हो (वैसे) मैं भी तुम्हारी गति जाऊँगा। फिर भी कृपा कर करुणा उपजा कर तुम इस भवन पर निगाह तो डाल लो।

व्यवलोक्य चैव भवनं मतिमान्
मधुरस्वरो गिरमुदीरितवान् ।
नाहं प्रवेक्षि कपिलस्य पुरं
अप्राप्य जातिमरणान्तकरं ॥674॥

बुद्धिमान् (बोधिसत्त्व) ने भवन को निहार कर मीठे स्वर के साथ (यह) वचन कहा—मैं कपिल के (इस) नगर में बिना जन्म-मरण के अन्त करने वाली (बोधि) को प्राप्त किए प्रवेश न करूँगा।

स्थानासनं शयनचङ्क्रमणं
न करिष्य ऽहं कपिलवस्तुमुखं।
यावन्त लब्ध वरबोधि मया
अजरामरं पदवरं ह्यमृतं ॥675॥

जब तक उत्तम बोधि रूपी जरामरण से रहित श्रेष्ठ अमृत पद नहीं मिलता, तब तक कपिलवस्तु की ओर मुँह करके न मैं खड़ा होऊँगा, न बैठूँगा, न सोऊँगा और न टहलूँगा।

(अप्सराओं द्वारा बोधिसत्त्व की स्तुति)
(छंद गाथा, षोड़शाक्षरी अष्टिजातीय)

यदसौ जगत्प्रधानो निष्क्रान्तु बोधिसत्त्वो
तस्या नमे व्रजन्तो स्तवयिसु अप्सराणां।
एष महदक्षिणीयो एष महपुण्यक्षेत्रं
पुण्यार्थिकान क्षेत्रं अमृताफलस्य दाता ॥676॥

जब जगत् के प्रधान वे बोधिसत्त्व (घर से) निकले तब आकाश (मार्ग से) जाते हुए उनकी स्तुति अप्सराओं ने (यों) की—ये दक्षिणा के महान् पात्र हैं, ये पुण्य के महान् क्षेत्र हैं, (ये) पुण्य चाहने वालों के लिए (धर्म-) क्षेत्र हैं और अमृत का फल देने हारे हैं।

एन बहुकल्पकोटी दानदमसंयमेना
समुदानिता ऽस्य बोधिः सत्त्व करुणायमाना।
एष परिशुद्धशीलो सुव्रत अखण्डचारी
न च काम नैव भोगां प्रार्थेन्तु शीलरक्षी ॥677॥

अनेक कोटि कल्पों तक दान, विनय और संयम के द्वारा इन्होंने प्राणियों पर करुणा कर बोधि-साधना की है, ये अत्यन्त शुद्ध शील वाले हैं, उत्तम व्रत वाले हैं, अखण्डित चर्या वाले हैं, शील की रक्षा करने वाले ये काम-भोगों के प्रार्थी नहीं हैं।

एष सद क्षान्तिवादी छिद्यन्ति अङ्गमङ्गे
न च क्रोधु नैव रोषः सत्त्वपरित्रायणार्थं ।
एष सद वीर्यवन्तो अविखिन्न कल्पकोट्यः
समुदानिता ऽस्य बोधिर्यष्टा च यज्ञकोटीः ॥678॥

ये सर्वदा क्षान्तिवादी (क्षमा की मतिवाले) रहे हैं। अङ्ग-प्रत्यङ्ग काटे जाने पर भी इन्होंने न क्रोध किया है और न रोष। प्राणियों की रक्षा के लिए सदा उद्यमी और न थकने वाले इन्होंने करोड़ों कल्पों तक बोधिसाधना की है। करोड़ों (दान–) यज्ञों का यजन किया है।

एष सद=166क=ध्यानध्यायी शान्तप्रशान्तचित्तो
ध्यायित्व सर्वक्लेशां मोचेष्यि सत्त्वकोटीः।
एषो असङ्गप्राज्ञः कल्पैर्विकल्पमुक्तो
कल्पैर्विमुक्तचित्तो जिनु भेष्यते स्वयंभूः ॥679॥

ये नित्य ध्यान-चिन्तन वाले, चित्त में शान्त और अत्यन्त शान्त, सब क्लेशों का दाह कर, कोटि-कोटि प्राणियों को मुक्त करेंगे। ये अनासक्ति मति वाले, कल्पनाओं की दुविधा से मुक्त, कल्पनाओं से विमुक्त चित्त वाले, स्वयंभू जिन (बुद्ध) होंगे।

एष सद मैत्रचित्तो करुणाय पार प्राप्तो
मुदितो-उपेक्ष-ध्यायी ब्राह्मे पथि विधिज्ञः।
एषोऽतिदेवदेवो देवेभि पूजनीयो
शुभविमलशुद्धिचित्तो गुणनियुतपारप्राप्तः ॥680॥

ये सर्वदा मैत्री-भावना के चित्त वाले हैं, करुणा की परम कोटि पर पहुँचे हुए हैं, मुदिता और उपेक्षा का ध्यान करने वाले हैं, ब्रह्मविहार की विधि के जानकार हैं। ये देवताओं द्वारा पूज्य देवताओं में महान् देवता हैं, पवित्र, निर्मल एवं शुद्ध चित्त के (ये) खर्व-खर्व गुणों में पारंगत हैं।

शरणं भयार्दितानां दीपो अचक्षुषाणां
लयनो उपद्रुतानां वैद्यश्चिरातुराणां।
राजेव धर्मराजो इन्द्रः सहस्रनेत्रो
ब्रह्म स्वयंभुभूतः कायप्रशान्तचित्तो ॥681॥

ये भय से घबराए हुए (लोगों) की शरण हैं, जिनकी आँखों से ज्योति नहीं, उनकी ये ज्योति हैं, आक्रमण किए गए लोगों के छिपने के स्थान हैं, चिर काल के रोगियों के ये वैद्य हैं। धर्मराज के समान ये राजा हैं, इन्द्र के समान ये सहस्र नेत्र वाले हैं, ब्रह्मा के समान अपने आप ही ये उत्पन्न हुए हैं, इनके [काय] और मन (दोनों) शान्त हैं (–क्षोभ से रहित हैं)।

धीरः प्रभूतप्रज्ञो वीरो विविक्तचित्तः
शूरः क्लिशघाती अजितंजयो जितारिः ।
सिंहो भयप्रहीनो नागः सुदान्तचित्तो
ऋषभो गणप्रधानः क्षान्तः प्रहीनकोपः ॥682॥

(ये) स्थिर हैं, बहुत प्रज्ञा वाले हैं, वीर हैं, वीतराग चित्त के हैं, शूर हैं, क्लेशों को नष्ट करने वाले हैं, इन्होंने शत्रुओं को जीत लिया है । (ये) सिंह जैसे भयरहित हैं, हाथी जैसे विनीत चित्त के हैं, ऋषभ (गोपति) के समानगण के स्वामी हैं, क्षमावान् हैं, कोपरहित हैं ।

चन्द्रः प्रभासयन्तः सूर्योऽवभासकारी
उल्का प्रद्योतकारी = 166ख = [42] तारा तमोविमुक्तः[42] ।
पद्मं अनोपलिप्तं पुष्पं सुशीलपत्रं
मेरुरकम्पि शास्ता पृथिवी यथोपजीव्यो
रत्नाकरो अक्षोभ्यः ॥683॥

(ये) चन्द्रमा के समान चमकने वाले हैं, सूर्य के समान प्रकाश करने वाले हैं, उल्का (मशाल) के समान दमकने वाले हैं, तारा के समान अन्धकार से मुक्त हैं । (ये) कमल के समान निर्लेप, पुष्प के समान शील की सुन्दर पंखड़ी वाले हैं, मेरु के समान स्थिर शिक्षक हैं, पृथिवी के समान (सब के) जीवन-दाता हैं, रत्नाकर (समुद्र) समान अक्षोभ्य हैं ।

एन जितु क्लेशमारो एन जितु स्कन्धमारो
एन जितु मृत्युमारो निहतोऽस्य देवमारो[43] ।
एष महासार्थवाहो कुपथप्रस्थितानां
अष्टाङ्गमार्गं श्रेष्ठं देशेष्यते नचिरेण ॥684॥

इन्होंने क्लेश-मार को जीत लिया है, इन्होंने स्कन्धमार को जीत लिया है, इन्होने मृत्यु-मार को जीत लिया है, इन्होने देवमार को खंडित कर डाला है । ये महान् सार्थवाह हैं, (जो) कुमार्ग पर चलने वालों को उत्तम अष्टाङ्गिक (—आर्य--) मार्ग का बिना विलम्ब के उपदेश करेंगे ।

(–225–) जरमरणक्लेशघाती तमतिमिरविप्रमुक्तो
भुवि दिवि च संप्रघुष्टो जिनु भेष्यते स्वयंभूः ।
स्तुत स्तवितु अप्रमेयो वरपुरुषरूपधारी
यत् पुण्य त्वां स्तवित्वा भोम यथ वादिसिंहः ॥685॥

42....42). मूल, सर्वतमोविमुक्तः । भोट, स्कर् मल्त वुर् मुन् प ब्रल् (=तारासदृशस्तमोमुक्तः) । पठनीय—तारातमोविमुक्तः ।

43 मूल, देव (पुत्र) मारो । पठनीय, देवमारो । तुलनीय, भोट, ल्ह चि बदुद् ।

एष सद क्षान्तिवादी छिद्यन्ति अङ्गमङ्गं
न च क्रोधु नैव रोषः सत्त्वपरित्रायणार्थं।
एष सद वीर्यवन्तो अविखिन्न कल्पकोटचः
समुदानिता ऽस्य बोधिर्यष्टो च यज्ञकोटीः ॥678॥

ये सर्वदा क्षान्तिवादी (क्षमा की मतिवाले) रहे है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग काटे जाने पर भी इन्होने न क्रोध किया है और न रोष। प्राणियों की रक्षा के लिए सदा उद्यमी और न थकने वाले इन्होने करोड़ो कल्पों तक बोधिसाधना की है। करोडों (दान-) यज्ञो का यजन किया है।

एष सद=166क=ध्यानध्यायी शान्तप्रशान्तचित्तो
ध्यायित्व सर्वक्लेशां मोचेष्यि सत्त्वकोटीः।
एषो असङ्गप्राज्ञः कल्पैर्विकल्पमुक्तो
कल्पैर्विमुक्तचित्तो जिनु भेष्यते स्वयंभूः ॥679॥

ये नित्य ध्यान-चिन्तन वाले, चित्त मे शान्त और अत्यन्त शान्त, सब क्लेशो का दाह कर, कोटि-कोटि प्राणियो को मुक्त करेंगे। ये अनासक्ति मति वाले, कल्पनाओं की दुविधा से मुक्त, कल्पनाओं से विमुक्त चित्त वाले, स्वयंभू जिन (बुद्ध) होंगे।

एष सद मैत्रचित्तो करुणाय पार प्राप्तो
मुदितो-उपेक्ष-ध्यायी ब्राह्मे पथि विधिज्ञः।
एषोऽतिदेवदेवो देवेभि पूजनीयो
शुभविमलशुद्धिचित्तो गुणनियुतपारप्राप्तः ॥680॥

ये सर्वदा मैत्री-भावना के चित्त वाले हैं, करुणा की परम कोटि पर पहुँचे हुए हैं, मुदिता और उपेक्षा का ध्यान करने वाले है, ब्रह्मविहार की विधि के जानकार है। ये देवताओ द्वारा पूज्य देवताओ मे महान् देवता है, पवित्र, निर्मल एवं शुद्ध चित्त के (ये) खर्ब-खर्ब गुणो मे पारंगत है।

शरणं भयार्दितानां दीपो अचक्षुषाणां
लयनो उपद्रुतानां वैद्यश्चिरातुराणां।
राजेव धर्मराजो इन्द्रः सहस्रनेत्रो
ब्रह्म स्वयंभुभूतः कायप्रशब्धचित्तो ॥681॥

ये भय से घबराए हुए (लोगो) की शरण है, जिनकी आँखों से ज्योति नही, उनकी ये ज्योति है, आक्रमण किए गए लोगो के छिपने के स्थान है, चिर काल के रोगियों के ये वैद्य हैं। धर्मराज के समान ये राजा है, इन्द्र के समान ये सहस्र नेत्र वाले है, ब्रह्मा के समान अपने आप ही ये उत्पन्न हुए हैं, इनके शरीर और मन (दोनों) शान्त है (-क्षोभ से रहित है)।

धीरः प्रभूतप्रज्ञो वीरो विविक्तचित्तः
शूरः किलेशघाती अजितंजयो जितारिः।
सिंहो भयप्रहोनो नागः सुदान्तचित्तो
ऋषभो गणप्रधानः क्षान्तः प्रहीनकोपः ॥682॥

(ये) स्थिर हैं, बहुत प्रज्ञा वाले हैं, वीर हैं, वीतराग चित्त के हैं, शूर हैं, क्लेशों को नष्ट करने वाले हैं, इन्होंने शत्रुओं को जीत लिया है। (ये) सिंह जैसे भयरहित हैं, हाथी जैसे विनीत चित्त के हैं, ऋषभ (गोपति) के समानगण के स्वामी हैं, क्षमावान् हैं, कोपरहित हैं।

चन्द्रः प्रभासयन्तः सूर्योऽवभासकारी
उल्का प्रद्योतकारी = 166ख = [42] तारा तमोविमुक्तः[42]।
पद्मं अनोपलिप्तं पुष्पं सुशीलपत्रं
मेरुरकम्पि शास्ता पृथिवी यथोपजीव्यो
रत्नाकरो अक्षोभ्यः ॥683॥

(ये) चन्द्रमा के समान चमकने वाले हैं, सूर्य के समान प्रकाश करने वाले हैं, उल्का (मशाल) के समान दमकने वाले हैं, तारा के समान अन्धकार से मुक्त है। (ये) कमल के समान निर्लेप, पुष्प के समान शील की सुन्दर पंखड़ी वाले है, मेरु के समान स्थिर शिक्षक है, पृथिवी के समान (सब के) जीवन-दाता है, रत्नाकर (समुद्र) समान अक्षोभ्य हैं।

एन जितु क्लेशमारो एन जितु स्कन्धमारो
एन जितु मृत्युमारो निहतोऽस्य देवमारो[43]।
एष महासार्थवाहो कुपथप्रस्थितानां
अष्टाङ्गमार्ग श्रेष्ठं देशेष्यते नचिरेण ॥684॥

इन्होंने क्लेश-मार को जीत लिया है, इन्होंने स्कन्धमार को जीत लिया है, इन्होंने मृत्यु-मार को जीत लिया है, इन्होने देवमार को खंडित कर डाला है। ये महान् सार्थवाह हैं, (जो) कुमार्ग पर चलने वालो को उत्तम अष्टाङ्गिक (—आर्य--) मार्ग का बिना विलम्ब के उपदेश करेंगे।

(–225–) जरमरणक्लेशघाती तमतिमिरविप्रमुक्तो
भुवि दिवि च संप्रघुष्टो जिनु भेष्यते स्वयंभूः।
स्तुत स्तवितु अप्रमेयो वरपुरुषरूपधारी
यत् पुण्य त्वां स्तवित्वा भोम यथ वादिसिंहः ॥685॥

42....42). मूल, सर्वतमोविमुक्तः। भोट, स्कर् मल्त बुर् मुन् प ब्रल् (=तारासदृशस्तमोमुक्तः)। पठनीय—तारातमोविमुक्तः।

43 मूल, देव (पुत्र) मारो। पठनीय, देवमारो। तुलनीय, भोट, ल्ह चि बदुद्।

(ये) जरा और मृत्यु रूपी क्लेशों का नाश करने वाले, अन्धेरे और धुंध से अत्यन्त मुक्त, पृथिवी और स्वर्ग पर भलीभाँति (जिनके नाम की) घोषणा हो चुकी है, स्वयंभू (अपने आप उद्भूत हुए) जिन (बुद्ध) होंगे। पुरुषोत्तम रूपधारी, अनुपमेय (बोधिसत्व) की स्तोत्र द्वारा स्तुति की है। (हे महासत्त्व) तुम्हारी स्तुति करके जो पुण्य (कमाया है उससे हम तुम्हारे जैसे) वादियों में सिंह के समान (निर्भीक) हों।

49. हे भिक्षुओं, इस बोधिसत्त्व घर से निकले। शाक्य (—देश) निकल कर क्रोड्य (—देश) अर्थात् कोलियों का देश निकल कर, मल्ल (—देश) निकल कर, मैनेय (—क्षत्रियों) के अनुवैनेय (नामक) निगम (कस्बे) पर सात योजन (दूर पहुँचने) पर वहाँ बोधिसत्त्व की रात बीत कर सवेरा हुआ। उसके बाद बोधिसत्त्व कण्ठक (—घोड़े) पर से उतर कर, धरती के ऊपर खड़े होकर देवताओं के, नागों के, यक्षों के, गन्धर्वों के, असुरों के, गरुणों के, किन्नरों के, महोरगों के उस महासंघ को विदा किया। और विदा करके उनके मन में यह बात आई कि इन आभूषणों को =167क= तथा कण्ठक को छंदक के हाथ वापस भेज दूँ।

50. तब बोधिसत्त्व छंदक को संबोधन करके बोले। हे छंदक, तुम इन आभूषणों तथा कंठक को लेकर जाओ लौट जाओ। जिस जगह से छंदक लौटा वहाँ चैत्य की प्रतिष्ठापना हुई। आज भी वह चैत्य छंदक निर्वतन (नाम से लोक में) प्रसिद्ध है।

51 और फिर बोधिसत्व के मन में यह बात आई कि चूड़ा (केश) और प्रव्रज्या (एक साथ) कैसे? उन्होंने तलवार से चूड़ा काट कर आकाश में फेंक दिया। उसे त्रयस्त्रिंश लोक के देवताओं ने पूजा के लिए ले लिया। आज भी त्रयस्त्रिंशलोक के देवताओं में चूड़ा उत्सव मनाया जाता है। वहाँ पर भी चैत्य की प्रतिष्ठापना हुई। आज भी उसकी चूड़ा—प्रतिग्रहण नाम से ख्याति है।

52. फिर और भी बात बोधिसत्त्व के मन में आई कि प्रव्रज्या और काशी के वस्त्र (एक साथ) कैसे? यदि मुझे वनवास के अनुकूल काषायवस्त्र मिलते तो अच्छा होता।

(–206–) तब शुद्धावासकायिक देवताओं के मन में यह बात आई। काषाय (वस्त्रों) से बोधिसत्त्व का कार्य है। उनमें से एक देवपुत्र =167ख= दिव्य रूप का अन्तर्धान कर, बहेलिए का रूप धर काषायवस्त्र पहने, बोधिसत्त्व के आगे आ खड़ा हुआ।

तब बोधिसत्त्व उससे बोले। हे मार्ष (मित्र) यदि तुम काषायवस्त्र (मुझे) दो तो मैं तुम्हें ये काशी के वस्त्र दूँगा।

वह बोला। वे वस्त्र तुम्हें सोहाते हैं और ये मुझे।

बोधिसत्त्व बोले। मैं तुमसे याचना करता हूँ। तब उस बहेलिए के रूप वाले देवपुत्र ने बोधिसत्त्व को काषायवस्त्र दे दिए और काशी के वस्त्र ले लिए।

इसके बाद वह देवपुत्र भक्ति मे भर कर दोनों हाथों से उन वस्त्रों को माथे पर रखकर उनकी पूजा के लिए देवलोक गया। छंदक ने वह (–सब) देखा। वहाँ पर भी चैत्य की प्रतिष्ठापना हुई। आज भी वह चैत्य काषायग्रहण इस नाम से प्रसिद्ध है।

53. जिस समय बोधिसत्त्व ने चूड़ा काट कर काषायवस्त्र पहने उस समय हर्ष मे भरे, संतुष्ट हुए मन में फूल न समाए, मन की मौज मे आए हुए, अत्यन्त आनन्दित, मन में प्रीति और प्रमोद से भरे हुए लाखों देवपुत्रों ने ही नाद किया, किलकारियाँ मार-मार आवाज की, ठठ्ठे लगा-लगा कर शब्द किया कि हे मार्षो (सुहृदो) सिद्धार्थ कुमार प्रव्रजित हो गए, ये अनुत्तर सम्यक् संबोधि पाकर धर्मचक्रप्रवर्तन करेंगे, अनगिनत जातिधर्म के (=जनमने के स्वभाव वाले)=168क=प्राणियो को जाति से अर्थात् जन्म से मुक्त करेंगे, यहाँ तक कि, जरासे, व्याधि से, मरण से, शोक से, परिदेवन (=विलाप) से, दुःख से, दौर्मनस्य से (=अनमनपन से), उपायास से (=मन की व्याकुलता से) मुक्त कर, संसार सागर से पार कर, अत्युत्तम क्षेम के भयरहित शोकहीन (–227–) उपद्रवों से दूर शिव (कल्याण) एवं अमृत, रज से रहित, धर्मधातु मे प्रतिष्ठापित करेंगे। वह शब्द शब्द की परम्परा से अर्थात् एक शब्द से उस जैसे दूसरे शब्द के अनुरणन की परम्परा से अकनिष्ठ लोक तक ऊपर जा पहुँचा।

54. तदनन्तर अन्तःपुर की स्त्रियाँ[44] कुमार को न देख[44] गरमी में बरसात मे सरदी में रहने के महलों मे तथा कमरों मे अच्छी तरह खोज जब (कुमार को कही) न देख पाईं तब इकट्ठी होकर कुररी (–पक्षियो) की भाँति रोने-चिल्लाने लगी। उनमे कोई स्त्रियाँ शोक से अत्यन्त व्याकुल होकर, हाय बेटा—कह कर रोती-चिल्लाती थीं, कोई (हाय) भ्राता कह कर कोई (हाय) भर्ता कह कर रोती-चिल्लाती थी। कोई हाय नाथ कह कर, कोई हाय स्वामी कह कर रोती-चिल्लाती थीं। कोई नाना प्रकार के प्रियवचनो के द्वारा विलप-विलप कर, कोई नाना प्रकार से शरीर द्वारा सरक-सरक कर रोती थीं। कोई माथा पटक-पटक कर कोई एक-दूसरे का मुँह देख-देख कर=168ख=रोती थीं।

44...44. मूल, (कुमारमपश्यन्तीभिः)। इसका कोष्ठक हीन पाठ होना चाहिए। यह भोट मे है—गशोन् नु म्योङ् नस् (कुमारमदृष्ट्वा)।

कोई आँखें पलट-पलट कर, कोई वस्त्रों से मुँह ढाँप-ढाँप कर रोती थी। कोई हाथों से जाँघें पीट-पीट कर, कोई हाथों से छाती मार-मार कर, कोई हाथों से भुजाएँ पीट-पीट कर, कोई (हाथों से) सिर (पीट-पीट कर), कोई सिर पर धूल डाल-डाल कर, रोती थीं। कोई केश फैला-फैला कर, कोई केश नोच-नोच कर, कोई भुजाएँ उठा-उठा कर ज़ोर-जोर रोती-चिल्लाती थी। कोई विष-बुझे तीर से बीधी गई हिरनियों की तरह अचानक दौडकर रोती थीं। कोई हवा से हिलती कदलियो की तरह काँप-काँप कर रो रही थी। कोई धरती के ऊपर गिरी हुई थोडी साँस ले-लेकर, कोई जाल में से उठा कर (भूमि पर) डाली गई मछलियों की तरह धरती पर तड़प-तड़प कर रोती थी। कोई जड से कटे पेड़ों की तरह अकस्मात् धरती के ऊपर गिर-गिर कर रोती थी।

55. राजा ने उस शब्द को सुनकर शाक्यों को पुकार कर कहा—अन्तःपुर से यह जोर-ज़ोर से क्या शब्द सुनाई पड़ रहा है। शाक्यों ने मालूम करके कहा—कुमार (–228–) अन्तःपुर मे नहीं दिखाई पड रहे हैं महाराज। राजा ने कहा—नगर के द्वार झट-पट बन्द कर दो, (ताकि हम सब) कुमार को भीतर खोज करें।

वे भीतर-बाहर खोजने लगे। भीतर-बाहर खोजते हुए (उन्हें) न देखा।

महाप्रजापती गौतमी विलाप करती हुई धरती के ऊपर लोटने-पोटने लगी और राजा शुद्धोदन से यों बोली—महाराज, जल्दी मुझे मेरे बेटे से मिलाओ।

56. तब राजा ने चारों दिशाओं मे घुड़सवार दूत (यह कहते हुए) भेजे कि =169 क=जब तक कुमार को न देखना तब तक न लौटना।

निमित्त तथा सगुन के जानकार ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की थी कि बोधिसत्त्व मंगलद्वार से बाहर निकलेंगे। मंगल द्वार से जाते हुए उन्होने देखा कि मार्ग के बीच धूलों की वर्षा हुई है। उनके मन मे यह बात आई कि इस मार्ग से कुमार निकल कर गए है।

कुछ दूर जाकर उन्होने उस देवपुत्र को बोधिसत्त्व के बनारसी कपडों को माथे पर रख कर आता हुआ देखा। उनके मन में यह बात आई। ये निश्चय से कुमार के ही बनारसी कपड़े हैं। कही इसने इन कपड़ों के लिए कुमार को जान से न मार डाला हो। इसे पकड़ लो। फिर (उन्होने) देखा कि उसके पीछे कंठक तथा (कुमार के) आभूषणों को लेकर छंदक आ रहा है। तब उन्होंने आपस में बातचीत की। भाई, बिना सोचे कोई काम न करना। कंठक को लेकर यह देखो छन्दक आ रहा है। पहले इसी से पूछें।

57. उन्होंने छन्दक से पूछा। हे छन्दक, कही इस आदमी ने बनारसी

कपड़ों के लिए कुमार को जान से न मार डाला हो ? (-229-) छन्दक बोला। यह बात नही। किंतु इसने कुमार को काषाय वस्त्र दिए और कुमार ने इसे ये बनारसी कपड़े दिए।

उसके बाद=169ख=वह देवपुत्र उन वस्त्रों को दोनो हाथों से माथे पर रख कर उनकी पूजा के लिए वही से देवलोक चला गया।

58. इस प्रकार उन्होने फिर छंदक से पूछा। छदक, (तुम) क्या सोचते हो, हम जाएँ ? क्या कुमार को वापस लाना संभव है ? उसने कहा नही-नही, कुमार दृढ वीर्य और पराक्रम वाले है, उन्होने ऐसा कहा है कि जब तक अनुत्तर सम्यक् संबोधि नही प्राप्त होती तब तक मैं महानगर कपिलवस्तु मे नहीं प्रवेश करूँगा, और जैसा कुमार ने कहा है, वैसा ही होगा क्योंकि कुमार दृढ़ वीर्य और पराक्रम वाले है, उन्हे वापस नही लाया जा सकता।

59. उसके बाद कंठक और आभूषणों को लेकर छंदक ने अन्त:पुर मे प्रवेश किया। तदनन्तर उन आभूषणों को बहुत समय तक शाक्य कुमार भद्रिक, महानाम और अनिरुद्ध ने पहने। वे (आभूपण) महानारायण के समान गठीले शरीर के लिए (बने) थे, उन्हे[45] अर्ध नारायण के समान गठीले[45] दूसरे लोग न धारण कर पाते थे। जब उन्हे दूसरे लोग न धारण कर सके तब महाप्रजापती गौतमी ने सोचा कि जब तक मै इन आभूषणों को देखती रहूँगी, तब तक हृदय मे शोक होता रहेगा, क्यों न मै इन आभूषणों को पुष्करिणी मे डाल दूँ। तदनन्तर महाप्रजापती = 170क = गौतमी ने उन आभूषणों को पुष्करिणी मे डाल दिया। आज भी वह (पुष्करिणी) आभरणपुष्करिणी के नाम से प्रसिद्ध है।

60. इस (विपय) में यह (गाथाओ द्वारा) कहा जाता है—

(छंद गाथा, अतिजगतीजातीय।)

(अन्त:पुर विलाप)

निष्क्रान्तु शूरो यद विदु बोधिसत्त्वो
नगरं विबुद्धं कपिलपुरं समग्रं।
(-230-) मन्यन्ति सर्वे शयनगतो कुमारो
अन्योन्य हृष्टाः प्रमुदित आरमन्ते ॥686॥

45....45. मूल, (नारायणसंहनना)। पठनीय, अर्धनारायणसंहनना। तुलनीय, मोट, स्तेद् मेद् क्यि बु फ्येद् ल्तर् म्ख्रेगस् प।

जब शूर एवं विद्वान् बोधिसत्त्व (घर से) निकल गए तब कपिलपुर नाम का समूचा नगर जग गया। सब यही सोचते थे कि कुमार सेज पर सोये हुए हैं (और) हर्ष से आनन्द से एक दूसरे का आलिङ्गन कर रहे थे।

गोपा विबुद्धा तथ अपि इस्त्रिगारा
शयनं निरीक्षी न च दृशि बोधिसत्त्वं।
उत्क्रोसु मुक्तो नरपतिनो अगारे
हा वञ्चिता स्मः कहि गतु बोधिसत्त्वो ॥687॥

गोपा की नींद टूटी तथा अन्तःपुर (की महिलाओं की) भी (नींद) टूटी। सेज को निहारा पर बोधिसत्त्व को न देखा। राजभवन में रोना-चिल्लाना मच गया। हाय ठग लिए गए। बोधिसत्त्व कहाँ गए?

राजा श्रुणित्वा धरणितले निरस्तो
उत्क्रोसु कृत्वा अहो मम एकपुत्रो।
सो स्तेमितो ही जलघटसंप्रसिक्तो
आश्वासयन्ती बहुशत शाकियानां ॥688॥

सुन कर, हाय मेरे इकलौते बेटे, (यों) चिल्ला कर राजा धरती ऊपर मूर्छित हो गए। अनेक—शत शाक्यों द्वारा घटजल छिड़कने पर गीले हो वे (फिर) सांस लेने लगे।

गोपा शयातो धरणितले निपत्य
केशां लुनाती अवशिरि भूषणानि।
अहो सुभाष्टं मम पुरि नायकेना
सर्वप्रियेभि नचिरतु विप्रयोगः ॥689॥

गोपा सेज से धरती के ऊपर गिर कर केश नोचने लगी, आभूषण उतार फेंके (और विलाप करने लगी), अहो, पहले ही मेरे नायक ने सुभाषित कहा था कि सभी प्रियों से शीघ्र वियोग होने वाला है।

रूपा सुरूपा विमलविचित्रिताङ्गा
अच्छा विशुद्धा जगति प्रिया मनापा।
धन्या प्रसस्ता दिवि भुवि पूजनीया
क्व त्वं गतोऽसी मम शयि छोरयित्वा ॥690॥

हे रूपवान्, हे सुन्दर रूपवाले, हे निर्मल और (लक्षणों से) विचित्रित अंग वाले, हे स्वच्छ, हे विशुद्ध, हे जगत् के प्यारे, हे मन में बसे हुए, हे धन्य, हे प्रशस्त

(=हे उत्तम), हे स्वर्ग और धरती पर पूजनीय, तुम मेरी सेज छोड कर कहाँ चले गए हो।

=170ख=न पास्यि पानं न मधु न प्रमादं
भूमौ शयिष्ये जटमुकुटं धरिष्ये।
स्नानं जहित्वा व्रततप आचरिष्ये
यावन्न द्रक्ष्ये गुणधरु वोधिसत्त्वं ॥691॥

जब तक मैं गुणधर वोधिसत्त्व को न देख लूँगी तब तक न मद्यपान करूँगी, न मधुपान, न मादकरसपान। भूमि पर सोऊँगी, जटामुकुट धारण करूँगी, (शृंगारोचित) स्नान छोड़ व्रत और तप का आचरण करूँगी।

(-231-) उद्यान सर्वे अफल अपत्रपुष्पा
हारा विशुद्धा तमरजपांशुतुल्या:।
वेश्मं न शोभी अटवि पुरं प्रकासं
यत्तेन त्यक्तं नरवरपुङ्गवेन ॥692॥

सब उद्यान बिना फलके, बिना फूल—पत्रों के हो गए हैं, अत्यन्त निर्मल हार अँधेरे धूल और कूड़े जैसे (मैले) हो गए हैं, उन पुरुषोत्तम—(उन नर—) पुंगव के द्वारा त्यागा गया (यह) नगर (और यह) घर जंगल जैसा (उजड़ा) बिना शोभा का हो गया है।

हा गीतवाद्या: सुमनोहरमञ्जुघोषा:
हा इस्त्रिगारा विगडित भूषणाभि:।
हा हेमजालै: परिस्फुटमन्तरिक्षं
न भूयु द्रक्ष्ये गुणधरविप्रहीणा ॥693॥

हाय सुन्दर, मनोहर और मन्जुल घोष वाले गीत—वाद्य, हाय आभूषणों से ढीले-ढाले-सजे अन्तःपुर, हाय सुवर्ण के जालो से जगमगते आकाश (अब) फिर गुणधर (बोधिसत्व) के विरह मे पडी (मैं तुम सब को) न देख पाऊँगी।

मातृस्वसा च परमसुकृच्छ्रप्राप्ता
आश्वासयाती म रुदहि शाक्यकन्ये।
पूर्वे च उक्तं नरवरपुङ्गवेन
कर्तास्मि लोके जरामरणात् प्रमोक्षं ॥694॥

अत्यन्त दारूण कष्ट में पडी मौसी (प्रजापती) ने ढाढस बँधाया, हे शाक्पुत्रि, मत रोओ। पुरुषोत्तम ने—(नर—) पुंगव ने पहले ही कह दिया था कि (मैं) जरामरण से इस जगत् को मुक्त करने वाला हूँ।

(छंदक निवर्तन)

सो चा महर्षी कुशलसहस्रचीर्णः
षड्योजनानी प्रतिगतु रात्रिशेषे ।
छन्दस्य देती हयवरु भूषणानि
छन्दा गृहीत्वा कपिलपुरं प्रयाहि ॥695॥

सहस्रों कुशलों (=पुण्यों) का आचरण कर चुकने वाले वे महर्षि रात समाप्त होने तक छह योजन दूर निकल गए । उत्तम अश्व और आभूषण छन्दक को दिए (और बोले)—हे छन्दक, (इन्हें) लेकर कपिलपुर लौट जाओ ।

मातापितॄणां मम वचनेन पृच्छे
गतः कुमारो न च पुनः शोचयेथा ।
बुद्धित्व बोधिं पुनरिदृमागमिष्ये
धर्मं श्रुणित्वा भविष्यथ शान्तचित्ताः ॥696॥

माता और पिता को मेरे वचन से (कुशल-क्षेम) पूछना (और कहना) कुमार चला गया इस (बात) का और अधिक शोक न करना । बोधिलाभ कर मैं फिर वहाँ आऊँगा और धर्म सुनकर (तुम सब) शान्तचित्त होओगे ।

छन्दो रुदन्तो प्रतिभणि = 171क = नायकस्य
न मेंऽस्ति शक्तिर् बलत पराक्रमो वा ।
(–232–) हनेयु मह्यं नरवरज्ञातिसंघाः
छन्दा क्व नीतो गुणधरु बोधिसत्त्वो ॥697॥

रोते हुए छन्दक ने नामक (बोधिसत्त्व) को उत्तर दिया कि (कपिलपुर लौटने की) न मुझमे शक्ति है (न) बल है अथवा (न) पराक्रम है । छन्दक (तू) गुणधर बोधिसत्त्व को कहाँ ले गया (ऐसा कह कर) पुरुषोत्तम की जाति के (शाक्य–) सघ मुझे मार डालेंगे ।

मा भाहि[46] छन्दा प्रतिभणि बोधिसत्त्वो
तुष्टा भवित्वा अपि मम ज्ञातिसंघाः ।
शास्तारसंज्ञा त्वयि सद भावयिष्यन्ति
प्रेमेण मह्यं त्वयमपि वर्तिष्यन्ते ॥698॥

46. मूल, ताहि । पठनीय पाठान्तर में विद्यमान भाहि । तुलनीय भोट, ह्जिग्स् शिग् (=बिभीहि) ।

बोधिसत्त्व ने उत्तर दिया—छन्दक डरो मत। मेरे नाते के संघ संतुष्ट हो कर तुम्हे गुरुभाव से सर्वदा मन मे रक्खेंगे, जैसे मुझसे (उनका प्रेमव्यवहार है) वैसे ही तुमसे भी उनका प्रेमव्यवहार होगा।

छन्दो गृहीत्वा हयवरु भूषणानि
उद्यान प्राप्तो नरवरपुङ्गवस्य।
उद्यानपाल: प्रमुदितु वेगजातो
आनन्दशब्दं प्रतिभणि शाकियानां ॥699॥

छन्दक उत्तम अश्व और आभूषणों को लेकर श्रेष्ठ नरेन्द्र (शुद्धोदन) के उद्यान में पहुँचा। उद्यानपाल ने खुश हो, दौड कर शाक्यों से आनन्द-समाचार कहा।

अयं कुमारो हयवरु छन्दकश्च
उद्यान प्राप्तो न च पुन शोचितव्यो।
राजा श्रुणित्वा परिवृतु शाकियेभि:
उद्यान प्राप्तो प्रमुदितु वेगजातो ॥700॥

यह कुमार, उत्तम अश्व और छन्दक उद्यान में आ पहुँचे है, अब और शोक न कीजिए। सुन कर प्रसन्न हो शाक्यों से घिरे हुए राजा जल्दी से उद्यान पहुँचे।

गोपा विदित्वा दृढमति बोधिसत्त्वं
नो चापि हर्षी न च गिरं श्रद्दधाति।
अस्थानमेतद् विनिगतु यत्कुमारो
अप्राप्य बोधिं पुनरिह आगमेया ॥701॥

बोधिसत्त्व के स्थिर निश्चय को जानकर गोपा न तो खुश हुई और न उन्होंने समाचार पर विश्वास किया। कुमार (घर से) निकल बिना बोधि प्राप्त कर लौटें यह बेठौर-ठिकाने की बात है।

दृष्ट्वा तु राजा हयवरु छन्दकं च
उत्क्रोसु कृत्वा धरणितले निरस्तो।
हा मह्य पुत्रा सुकुशलगीतवाद्या = 171ख =
क्व त्वं गतोऽसी विजहिय सर्वराज्यं ॥702॥

उत्तम अश्व और छंदक को देख राजा चिल्ला कर रोए और धरती ऊपर गिर पड़े। हाय मेरे गीत और वाद्य मे अत्यन्त चतुर बेटे, तुम सब राज्य छोड़ कर कहाँ चले गए हो।

(-233-) साधू भणाही वचन ममेह छन्दा
किं वा प्रयोगः क्व च गतो बोधिसत्त्वः।
केनाथ नीतो विवरित केन द्वारा
पूजा च तस्या कथ कृत ·देवसंघैः ॥703॥

हे छन्दक, मुझसे ठीक-ठीक बात कहो। (यह) कैसे जोग बैठा ? बोधिसत्त्व कहाँ गए ? कौन (उन्हे) ले गए ? और किसने द्वार खोला ? देवसंघों ने उनकी पूजा कैसे की ?

छन्दो भणाती शृणु मम पार्थिवेन्द्रा
रात्रौ प्रसुप्ते नगरि सबालवृद्धे।
सो मञ्जुघोषो मम मणि बोधिसत्त्वो
छन्दा ददाही मम लघु अश्वराजं ॥704॥

छन्दक बोला। हे राजेन्द्र मेरी बात सुनो। रात को बच्चो और बूढ़ों के सहित जब (सारा) नगर सोया हुआ था, उन मञ्जुघोष बोधिसत्त्व ने मुझसे कहा—छन्दक, मुझे अश्वराज लाकर दो।

सोबोधयामी नरगणि नारिसंघं
सुप्ता प्रसुप्ता न च गिर ते श्रुणन्ति।
सो रोदमानो ददि अहु अश्वराजं
हन्ता व्रजाही हितकर येन कामं ॥705॥

मैने पुरुषगणों को और स्त्रीगणो को जगाया, वे सोये हुए बेख़बर सोए हुए (मेरी) आवाज न सुन पाए। मैने रोते हुए अश्वराज दिया (और कहा) अहो, हितकारी, जहाँ चाहते हो जाओ।

शक्रेण द्वारा विवरित यन्त्रयुक्ताः
पालाश्चतस्रो हयचरणे शिलिष्टाः।
आरूढि शूरे प्रचलित त्रिसहस्राः
मार्गो नभेस्मिन् सुविपुल येन क्रान्तो ॥706॥

इन्द्र ने यन्त्र लगे द्वार खोल दिए, चारों (लोक-) पाल घोड़े के चरणों में चिपक गए, शूर (बोधिसत्त्व जब घोड़े पर) सवार हुए तब त्रिसाहस्र (लोक-धातु) डगमगा उठे, आकाश मे जिस (मार्ग) से (वे) गए, वह अति विशाल मार्ग था।

आभा प्रमुक्ता विहततमोऽन्धकारा
पुष्पा पतिसु तुरियशता रणिसु।
देवा स्तविंसु तथपि हि चाप्सराणी
नभसा प्रयातो परिवृतु देवसंधैः ॥707॥

प्रकाश प्रादूर्भूत हुआ जिससे धुध और अन्धेरा मिट गया, पुष्प बरसे, सैकड़ों बाजे बजे, देवताओ और अप्सराओ ने स्तुति की, देवगणों से घिरे (वे) आकाश से चले गए।

छन्दो गृहीत्वा हयवरु भूषणानि
अन्तःपुरे सो उपगतु रोदमानो।
(-234-) दृष्ट्वा तु गोपा=172क=हयवर छन्दकं च
संमूर्छयित्वा धरणितले निरस्ता ॥708॥

उत्तम अश्व तथा आभूषणो को लेकर रोता हुआ छन्दक अन्तःपुर में गया। उत्तम अश्व और छन्दक को देख कर गोपा बिल्कुल मूर्छित होकर धरती के ऊपर गिर पड़ी।

उद्युक्त सर्वा सुविपुलनारिसंघाः
वारिं गृहीत्वा स्नपयिसु शाक्यकन्यां।
मा हैव कालं करिष्यति शोकप्राप्ता
द्वाभ्यां प्रियाभ्यां बहु भवि विप्रयोगः ॥709॥

बहुसंख्यक सब स्त्रीगणों ने यत्न कर पानी लेकर शाक्यकन्या पर छिड़का कि कही शोकप्राप्त (यह) काल न कर जाए, (कही) दो प्रियों से चिर वियोग न हो जाए।

स्थामं जनित्वा सुदुःखितः शाक्यकन्या
कण्ठेऽवलम्ब्या हयवर अश्वराजे।
अनुस्मरित्वा पुरिमक कामक्रीड़ां
नानाप्रलापी प्रलपति शोकप्राप्ता ॥710॥

अत्यन्त दुःखी शाक्यपुत्री (गोपा) धीरज धर कर, अश्वो मे उत्तम (उस) अश्वराज के गले से लटक कर, पहले की प्रेमलीला का स्मरण कर, शोक में भरी नाना प्रकार के प्रलापो से विलाप करने लगी।

(गोपाविलाप)

(छंद आर्यागीति)

हा मह्य प्रीतिजनना हा मम नरपुङ्गवा विमलचन्द्रमुखा।
हा मम सुरूपरूपा हा मम वरलक्षणा विमलतेजधरा ॥711॥

हाय मेरे प्रीति उपजाने हारे, हाय मेरे पुरुषपुगव, निर्मल चन्द्रमा जैसे वदन वाले, हाय मेरे सुन्दर रूप के रूप वाले, हाय मेरे उत्तम लक्षण वाले निर्मल तेजधारी।

हा मम अनिन्दिताङ्गा सुजात अनुपूर्वउद्गता असमा।
हा मम गुणाग्रधारि नरसुरभिः पूजिता परमकारुणिका ॥712॥

हाय मेरे अनिन्दनीय अंग-प्रत्यंग वाले, दिव्य जन्म वाले, क्रम से उन्नत (शरीर वाले), अनुपम, हाय मेरे उत्तम-गुण-धारी, देव और मनुष्यों से पूजित, परमकारुणिक।

हा मम बलोपेता नारायणस्थामवन् निहतशत्रुगण।
हा मम सुमञ्जुघोषा कलविङ्करुतस्वरा मधुरब्रह्मरुता ॥713॥

हाय मेरे बलवन्त- नारायण की शक्ति वाले, शत्रु गण का नाश कर चुकने वाले, हाय मेरे, सुन्दर मनोहर बोली बोलने वाले, चटक जैसे चहचहाने वाले, ब्रह्मा के से मधुर शब्द वाले।

हा मम अन्तकीर्तें शतपुण्यसमुद्गता विमलपुण्यधरा।
हा मम अनन्तवर्णा गुणगणप्रतिमण्डिता ऋषिगणप्रीतिकरा ॥714॥

हाय मेरे अनन्त कीर्ति वाले, सैकडों पुण्यों से उन्नत, निर्मल पुण्यधारी, हाय मेरे अन्त न होने के वर्णन वाले, गुणों के समूह से विभूषित, ऋषिगण की प्रीति उपजाने वाले।

=172=ख हा मम सुजातजाता लुम्बिनिवन उत्तमे भ्रमरगीतरुते।
हा मम विघुष्टशब्दा दिवि भुवि अभिपूजिता विपुलज्ञानद्रुमा ॥715॥

हाय मेरे भौरो के गान से गूँजते हुए उत्तम लुम्बिनी वन मे दिव्य-जन्म से जनमने वाले, हाय मेरे विख्यात नाम वाले, धरती और देवभूमि मे अत्यन्त पूजित ज्ञान के विशाल विटप।

हा मम रसरसाग्रा बिम्बोष्ठा कमललोचना कनकनिभा।
हा मम सुशुद्धदन्ता गोक्षीरतुषारसंनिभसहितदन्ता ॥716॥

हाय मेरे रसों में उत्तम रस वाले, कुंदुरू के समान (लाल) होंठ वाले, कमल जैसी आँखो वाले, सोने के जैसे रंग वाले, हाय मेरे उत्तम और शुद्ध दाँतों वाले, गाय के दूध और हिम के जैसे (श्वेत एव) जुड़े हुए अर्थात् छिद्र-रहित दाँतों वाले।

(–235–) हा मम सुनास सुभ्रू ऊर्णा-भ्रूमुखान्तरे-स्थिता-विमला।
हा मम सुवृत्तस्कन्धा चापोदर ऐणेयजङ्घ वृत्तकटी ॥717॥

हाय मेरे सुंदर नासिक वाले, सुंदर भौंहों वाले, भौंहों के बीच में स्थित निर्मल उर्णा (=रोम) वाले, हाय मेरे गोल-गोल स्कंधों वाले, चाप के समान (अल्प) उदर वाले, कृष्णमृग (की जंघाओं) के समान जंघाओं (घुटनों और टखनों के बीच के अंगों अर्थात् नखों) वाले, गोल-कटि वाले,।

हा मम गजहस्तोरू करचरणविशुद्धशोभना ताम्रनखा।
इति तस्य भूषणानी पुण्येहि कृतानि पार्थिवे प्रीतिकरा ॥718॥

हाय मेरे हाथी की सूँड़ के जैसे उरुओं वाले, अत्यन्त शुद्ध एवं शोभाशाली हाथ-पैरों वाले, ताँबे के (रंग) जैसे (लाल रंग के) नखों वाले। पुण्यों से (शरीर पर बने) ऐसे राजा के प्रीतिकर आभूषण उनके थे।

हा मह्य गीतवाद्या वरपुष्पविलेपना शुभऋतु-प्रवरे।
हा मह्य पुण्यगन्धा अन्तःपुरि गीतवादितैर्हर्षकरा ॥719॥

हाय मेरे गीत और वाद्य, उत्तम पुष्प और विलेपन, शुभ ऋतुओं के अति श्रेष्ठ (ऋतु), हाय मेरे पवित्रगन्ध, गाने-बजाने से अन्तःपुर को हरषाने वाले।

हा कण्ठका सुजाता मम भर्तु सहायकस्त्वया क्व नीतो।
हा छन्दका निकरुणा न बोधयसि गच्छमानके नरवरिष्ठे ॥720॥

हाय उत्तम जाति के कण्ठक (तुम) मेरे स्वामी के सहायक रहे हो, (उन्हें तुम) कहाँ ले गए। हाय निर्दयी छन्दक, परम पुरुषोत्तम के जाते समय नहीं जगाया।

गच्छत्ययं हितकरो एका गिर तस्मिनन्तरि नभसि कस्मात्।
इतु अद्य पुरवरातो गच्छति नरदम्यसारथिः कारुणिकः ॥721॥

आज इस श्रेष्ठ नगर से कारुणिक, मनुष्यों के विनीत करने वाले, सारथी जा रहे हैं, ये हितकारी जा रहे हैं—यह एक वचन उस अवसर पर क्यों नहीं बोला?

कथ वा गतो हितकरो=173क=केन च निष्क्रामितो इतु स राजकुलात्।
कतमां दिशमनुगतो धन्या वनगुल्मदेवता यास्य सखी ॥722॥

हितकारी कैसे गए? इस राजकुल से उन्हें किसने निकाला? किस दिशा में (वे) गए? वनगुल्म की देवियां धन्य है जो कि इनकी (अब) सखियाँ हैं।

अतिदुःख मह्य छन्दा निधि दर्शिय नेत्र उद्धृता चक्षुददा।
सर्वैर्जिनैश्च[47] मातापितृ नित्य वर्णिता पूजनीयाः ॥723॥

47. मूल, सर्वैर्जनैश्च। पठनीय, सर्वैर्जिनैश्च। तुलनीय भोट, ग्यल् ब कुन ग्यिस्।

हे छदक, मुझे बहुत दुःख है, निधि दिखाकर निगाह देने वाली आँखें निकाल ली ।

सब बुद्धों ने माता-पिता को सर्वदा पूजनीय बखाना है—

तानपि जहित्व निर्गतु किं पुनरिम इस्त्रि कामरतिं ।
हा धिक् प्रियैर्वियोगो नटरङ्गस्वभावसंनिभा अनित्या ॥724॥

उनको भी छोड कर (वे) चले गए, फिर इस कामसुख की स्त्री की बात ही क्या ?

हाय राम, प्यारो का वियोग (कैसा कष्टदायक) है । (सयोगतो) नटों के तमाश दिखाने के जमावड़े जैसे स्वभाव का न टिकने वाला है ।

सज्ञाग्रहेण बाला दृष्टिविपर्यास निश्रिता जन्मच्युति ।
प्रागेव तेन भणितं नास्ति जरामरणसंस्कृते काश्चि सखा ॥725॥

सज्ञाग्रह के कारण अर्थात् प्रत्यक्षसे जैसी वस्तु ऊपर-ऊपर मे दिखाई देती है उसको वैसा ही मान लेने के कारण, उलटी पलटी दृष्टि (=धारणा) होने से बच्चे (मूढ लोग) जन्म-मरण मे ठहरे हुए है । उन्होंने पहले ही कहा था कि जरा-मरण के इस बनावटी जगत् मे कोई साथी नही है ।

परिपूर्यतोऽस्य आसा स्पृशतु वरबोधिमुत्तमां द्रुमवरिष्ठे ।
बुद्धित्व बोधि विरजां पुनरपि एतु इहा पुरवरे अस्मिन् ॥726॥

उनकी आशा पूरी हो, सर्वोत्तम वृक्ष के नीचे उत्तम श्रेष्ठ बोधि का (वे) अनुभव करें, रजोहीन बोधि का साक्षात् कर (वे) इस श्रेष्ठ नगर में यहाँ आएँ ।

(छंदक समाश्वासन)

(छंद रथोद्धता)

छन्दकः परमदीनमानसो
गोपिकाय वचनं श्रुणित्वना ।
साश्रुकण्ठ गिर संप्रभाषते
साधु गोपि निश्रृणोहि मे वचः ॥727॥

गोप का वचन सुन कर छंदक मन मे बहुत दीन—दु खी हुआ । आँसू-भरे रुंधे गले से (वह) वचन बोला—हे गोप मेरा वचन अच्छी तरह सुनो ।

(-236-) रात्रिये रहसि यामि मध्यमे सर्वनारिगण संप्रसुप्तके ।
सो तदा च शतपुण्यउद्गतो आलपेति मम देहि कंठकं ॥728॥

रात के बिचले पहर में, अकेले मे जब कि सब स्त्रियां सोई पड़ी थी, तब सैंकड़ों पुण्यों से उन्नत हुए उन्होंने पुकार कर कहा कि मुझे कण्ठक दो।

=173= तं निशाम्य वचनं तदन्तरं
तुभ्य प्रेक्षमि शयानि सुप्तिकां।
उच्चघोषु अहु तत्र मुञ्चमि
उत्थ गोपि अयु याति ते प्रियो ॥729॥

उस वचन को सुन कर, उस अवसर पर तुम्हे सेज पर सोया देखा। उस समय मै जोर से चिल्लाया—हे गोप, उठो, यह तुम्हारा प्रियतम जा रहा है।

देवता वचनु तं निरोधयी
एक इस्त्रि नपि काचि बुध्यते।
रोदमान समलंकरित्वना
अश्वराजु ददमी नरोत्तमे ॥730॥

देवताओ ने उस वचन को रोक लिया, कोई एक भी स्त्री न जगी। रोते हुए मैंने सजाकर अश्वराज पुरुषोत्तम को दे दिया।

कण्ठको ह्रिषति उग्र तेजस्वी
क्रोशमातु स्वरु तस्य गच्छति।
नो च कश्चि छृणुते पुरोत्तमे
वदेताभि ओस्वापनं कृतं ॥731॥

तेजस्वी कंठक उग्रता से हिनहिनाया, उसका स्वर कोस भर तक गूँज गया। पर उतम नगर मे किसी ने सुना (क्यों कि) देवताओ ने सब को सुला दिया था।

स्वर्णरूप्यमणिकोटिता मही
कण्ठकस्य चरणैः पराहता।
सा रणी मधुरभीष्मशोभना
नो च केचि छृणुवन्ति मानुषाः ॥732॥

सोने-चांदी और मणियो से मढ़ी हुई वह धरती कण्ठक के खुरों की खूँद पाकर मीठे, भयकर और मनोहर स्वर से ठनठना उठी, पर कोई आदमी (उसे) न सुन पाया।

पुष्प युक्त अभु तस्मि अन्तरे
चन्द्र-ज्योतिष नभे प्रतिस्थिता।
देवकोटि गगणे कृताञ्जलो
ओनमन्ति शिरसाऽभिवन्दिषू ॥732॥

उस अवसर पर पुण्ययोग था, चन्द्रमा और नक्षत्र आकाश में विराज रहे थे, गगन में कोटि-कोटि देवता सिर झुकाए अंजलि बाँध वंदना कर रहे थे।

यक्षराक्षसगणैरुपस्थिता
लोकपाल चतुरो महर्धिकाः।
कण्ठकस्य चरणां करे न्यसी
पद्मकेशरविशुद्धनिर्मलं ॥734॥

यक्षो और राक्षसो के गणों के साथ महाऋद्धि के चारों लोकपाल उपस्थित हो अपने कमल-केशर जैसे अत्यन्त शुद्ध और निर्मल एक-एक हाथ पर कण्ठक के चरणो को रख लिया।

सो च पुण्यशततेजउद्गतो
आरुही कुमुदवर्षिकोपमं।
षडविकार धरणी प्रकम्पिता
बुद्धक्षेत्र स्फुट आभ निर्मला ॥735॥

वे सैकडों पुण्यों के तेज से ऊपर उठे हुए (उस) कुमुद और वार्षिक (बरसाती चमेली) जैसे (श्वेत अश्व पर) सवार हुए। धरती छह प्रकार से काँप उठी, बुद्धक्षेत्र निर्मल प्रकाश से जगमगाने लगे।

शक्र देव (तगुरुः) शचीपतिः=174क=
स्वाम द्वार विवरी तदन्तरे।
देवकोटिनयुते पुरस्कृतो
सो व्रजी अमरनागपूजितो ॥736॥

देवताओं में ज्येष्ठ, शचीपति, शक्र ने उस अवसर पर स्वयं द्वार खोल दिया। खर्व-खर्व कोटि देवताओं द्वारा आगे किए हुए, देवताओं और नागो से पूजित, वे चले गए।

संज्ञमात्र इह जाति कण्ठको
लोकनाथ वहतो नभोऽन्तरे।
देवदानवगणा सइन्द्रिकाः
ये वहन्ति सुग तस्य गच्छतः ॥737॥

लोकनाथ को आकाश के बीच ले जा रहा है—इस बात में कण्ठक तो केवल नाम था, (वस्तुतः) जो जाते हुए सुगत को ले जा रहे थे, वे इन्द्र-सहित देव-दानव गण थे।

अप्सरा कुशल गीतवादिते
बोधिसत्त्वगुण भाषमानिकाः।
कण्ठकस्य खलु ते ददन्तिकाः
मुञ्चि घोषु मधुरं मनोरमं ॥738॥

गाने-बजाने में चतुर अप्सराएँ, बोधिसत्त्व के गुण-गान करती हुई, कण्ठक को बढावा देती हुई, मधुर और मनोहर ध्वनि करती थी।

(-237-) कण्ठका वहहि लोकनायकं
शीघ्रशीघ्र म जनेहि खेदतां।
नास्ति ते भयमपायदुर्गति
लोकनाथमभिराधयित्वना ॥739॥

हे कण्ठक, जल्दी-जल्दी लोकनायक को ले चलो, खेद मत करो, लोकनाथ की सेवा कर तुम्हारे लिए दुर्गति मे गिरने का भय नही रहा।

एकमेक अभिनन्दते सुरो
वाहनं स्मि अहु लोकनायके।
नो च किंचिदपि देशु विद्यते
देवकोटिचरणैर्न मर्दितं ॥740॥

मैं लोकनायक का वाहन हूँ—(ऐसा सोच) एक-एक देवता आनन्दित हो रहा था, कोई जगह न थी, जो कोटि-कोटि देवताओं के चरणों से मसली न गई हो।

पश्य कण्ठक नभोऽन्तरे इमं
मार्गु संस्थितु विचित्रशोभनं।
रत्नवेदिक विचित्र मण्डितं
दिव्य—सारवर—गन्ध धूपितं ॥741॥

हे कण्ठक, आकाश के बीच बने—ठहरे अद्‌भुत, सुन्दर, विचित्र रत्नमयी वेदिकाओं से विभूषित, उत्तम सार वाले देवलोक के गन्ध से धूपे गए, इस मार्ग को देखो।

एर्न कण्ठक शुभेन कर्मणा
त्रायत्रिंशभवने सुनिर्मितो ।
अप्सरैपरिवृतः पुरस्तकृतो = 174ख =
दिव्यकामरतिभी रमिष्यसे ॥742॥

हे कण्ठक, इस शुभ कर्म से त्रयस्त्रिंश-भवन मे इच्छानुसार सुन्दर शरीर धारण कर, अप्सराओ से घिरे हुए, आगे किए हुए, (तुम) दिव्य कामसुख भोगोगे ।

साधु गोपि म खु भूयु रोदही
तुष्ट भोहि परम प्रहृषिता ।
द्रक्षसे न चिरतो नरोत्तमं
बोधिप्राप्तममरै पुरस्कृतं ॥743॥

हे साध्वी गोपे, अब और न रोओ, अत्यन्त आनन्दित हो कर सन्तुष्ट होओ, बिना विलम्ब के ही बोधि-प्राप्त, देवताओं से पूजित (उन) पुरुषोत्तम को देखोगी ।

ये नराः सुकृतकर्मकारकाः
ते न गोपि मद रोदितव्यकाः ।
सो च पुण्यशततेजउद्गतो
हर्षितव्य न स रोदितव्यकः ॥744॥

हे गोपे, जो मनुष्य पुण्य कर्म करने वाले है, उनके लिए कभी भी न रोना चाहिए । सैकड़ों पुण्यो के तेज से ऊपर उठे हुए उनके लिए हर्षित होना चाहिए, उनके लिए रोना न चाहिए ।

सप्तरात्र भणमानु गोपिके
सा वियूह नपि शक्य क्षेपितुं ।
या वियूह अभु तत्र पार्थिवे
निष्क्रमन्ति नरदेवपूजिते ॥745॥

हे गोपे, उन मनुष्यों और देवताओं द्वारा पूजित पृथिवीपति के (घर से) निकलने के समय जो सज-धज हुई थी, उस सज-धज का वर्णन सप्ताह भर तक बखाना जाए तो भी समाप्त नही हो सकता ।

लाभास्तुभ्य परमा अचिन्तिया
यं त्युपस्थितु जगे हितंकरो।
मह्य संज्ञ स्वकमेव वर्तते
त्वं हि भेष्यसि यथा नरोत्तमः ॥इति॥746॥[48]

तुम्हें अचिन्तनीय परम लाभ (प्राप्त) होंगे, जो तुमने जगत् के हितकारी (बोधिसत्त्व) की सेवा की है। मुझमें अपने आप से यह भान हो रहा है कि तुम भी पुरुषोत्तम के समान (लोकपूज्य) होओगी।

॥ इति श्रीललितविस्तरेऽभिनिष्क्रमणपरिवर्तो नाम पंचदशोऽध्यायः ॥

o

48. इस परिवर्त की गाथाओं की छाया यों है—सूर्यप्रभाया भवति द्रुमकुड्य-छाया संतापयति च तनुं प्रकरोति घर्मम्। हंसमयूरशुककोकिलचक्रवाकाः प्रत्यूषकालसमये स्वररुतानि रुवन्ति ॥592॥ आभेयं तु नरदेव सुखा मनोज्ञा प्रह्लादनी शुभकरी न करोति दाहम्। कुड्यानि च वृक्षान् अभिभूय न चास्ति छाया नि संशयं गुणधर इहाद्य प्राप्तः ॥593॥ स प्रेक्षते दश दिशो नृपति-विषण्णो दृष्टश्च स कमललोचनः शुद्धसत्त्वः। सो ऽभ्युत्थातु शयनाद् इच्छति न प्रभवति पितृगौरवं जनयति वरशुद्धबुद्धिः ॥594॥ स च स्थित्वा पुरतो नृपतिम् अवोचद् मा भूयो विघ्नं प्रकुरु मा चैव खेदम्। नैष्क्रम्यकालसमयो मम देव युवतो हन्त क्षमस्व नृपते (त्व) सजनः सराष्ट्रः ॥595॥ तमश्रु-पूर्णनयनो नृपतिर्बभाषे किंचित् प्रयोजन भवेद् विनिवर्तने ते। कं याचसे मा वरं वद सर्वं दास्ये, अनुगृहाण राजकुलं मा चेद च राष्ट्रम् ॥596॥ तदा बोधिसत्त्वोऽवोचद् मधुरप्रलापी, इच्छामि देव चतुरो वरान् मे देहि। यदि शक्नोपि दातुं मह्यं वसामि ते (=तव पार्श्वे) तत्र, तद् द्रक्ष्यसि सदा गृहे न च निष्क्रंस्ये ॥597॥ इच्छामि देव जरा मा नाक्राम्येत् शुभवर्ण-यौवने स्थिते भवेता नित्यकालम्। आरोग्यप्राप्तो च भवेयं न भवेद् व्याधिर् अमितायुश्च भवेयं न च भवेद् विपत्तिः ॥598॥ राजा श्रुत्वा वचनं परमं दुःखार्तो ऽस्थानं याचसे कुमार न मेऽत्र शक्तिः। जराव्याधिमृत्युभयतश्च विपत्तितश्च कल्पस्थितय ऋषयोऽपि न जातु मुक्ताः ॥599॥ यदीदानी देव चतुरो वरान् न ददासि जराव्याधिमृत्युतश्च विपत्तितश्च (मुक्ते)। हन्त शृणुष्व नृपते ऽपर वरमेकम् अस्माच्च्युतस्य प्रतिसंधिर्न मे भवेत् ॥600॥ श्रुत्वैव चेदं वचनं नरपुङ्गवस्य तृष्णा तनुं च कृत्वा छिनत्ति पुत्रस्नेहम्। अनुमोदनो हितकरं जगतः प्रमोक्षम् अभिप्रायस्तव परिपूर्यता यो मतस्ते ॥601॥

ज्वलयत दीपं विमलं ध्वजाग्रे मणरत्नानि सर्वाणि स्थापयत। अवलम्बयत हारान् प्रभां कुरुत सर्वस्मिन् गेहे ॥602॥ संगीतिं योजयत जागृतातन्द्रिता इमा रजनीम्। प्रतिरक्षत कुमारं यथाऽविदितो न गच्छेत् ॥603॥ वर्मिताः कलापहस्ता असिधनुःशरशक्तितोमरगृहीताः। प्रियतनयरक्षणार्थं कुरुत सर्वा महायत्नम् ॥604॥ द्वाराणि पिधत्त सर्वाणि सुयन्त्रितार्गलानि दृढकपाटानि। मुञ्चत (=विवृणुत) मा चाकाले माग्रसत्त्व इतो व्रजेत् ॥605॥ मणिहारान्, मुक्ताहारान् मुखपुष्पकाणि, अर्धचन्द्रान् सशृङ्खलान्। मेखलाः कर्णिका मुद्रिका सुनिबद्धानि नूपुराणि कुरुत ॥606॥ यदि सहसा निष्क्रामेन्नरामर-रहितो (अथवा नरमरुद्धितो) मत्तवारणविचारी। तथा तथा पराक्रमन्तां यथा विघातं न विन्देत् ॥607॥ या नार्यः शक्तिधारिण्यः शयनं परिवारयन्तु विमलस्य। मा च भवत मिद्ध(=तन्द्रा)विहता पतङ्गा इव रक्षत नेत्रैः ॥608॥ छादयत रत्नजालैरिदं गृहं पार्थिवस्य रक्षार्थम्। वेणुरवाश्च रुवीत्, इमा रजनी रक्षत विरजसम् ॥609॥ अन्योन्यं बोधयत मैव शेध्वं रक्षतेमां रजनी। मा खल्वभिनिष्क्रामेद् विहाय राष्ट्रं च राज्यं च ॥610॥ एतस्य निर्गतस्य राजकुल सर्वमिमं निरभिरम्यम्। उच्छिन्नश्च भवेत् पार्थिववंशश् चिरानुबद्धः ॥611॥

वज्रदृढोऽभेद्यो नारायण (इव) आत्मभावः (= काय) गुरुवीर्यबलोपेतः सोऽकम्प्यः सर्वसत्त्वोत्तमः। गिरिवरो महामेरुर् उत्पाद्य शक्यो नभसि धारयितुं केनचिद्, न तु जिनगुणमेरुः शैलेस्यो गुरुः पुण्यज्ञानाश्रित. शक्यो नेतुं क्वचित् ॥612॥ ये मानगर्विता नरा गुरुस्तेषु शास्ता ये प्रेमगौरवस्थिता लघु ते विजानीयुः। अध्याशयेनाभिमुङ्ध्वं गौरवेण लघुं त वेदिष्यथ खगा इव तूलं पेशीम् ॥613॥ अहं च पुरतो यास्यामि यूयं च वहत हयम्। नैष्क्रम्ये बोधिसत्त्वस्य पुण्यमर्जयामो बहु ॥614॥ अथाब्रुवन् देवसुता महर्षयो विबुद्धपद्मायतलोचनं तम्। कथं तवास्मिन्नुपजायते रतिः श्मशानमध्ये समवस्थितस्य ॥615॥ संचोदितः सोऽथ सुरेश्वरैर्निरीक्षते ऽन्तःपुरं तन्मुहूर्तम्। संप्रेक्षमाणः पश्यति तां वीभत्सा श्मशानमध्य उषितोऽस्मि (इति) भूतम् ॥616॥ ता दृष्ट्वोद्विग्नः स लोकनाथः करुणं विनिःश्वस्येदं जगाद। अहो बत कृच्छ्रगता प्रजेयं कथं रतिं विन्दति राक्षसीगणे ॥617॥ अतीव मोहतमसावृतदुर्मतयः निर्गुणेषु कामगुणेषु गुणसंज्ञिनः। विहगाः पञ्जरमध्यगता यथा नहि लभन्ते कदाचिद् विनिःसृतिम् ॥618॥ कर्मक्षेत्ररुहं तृट्सलिलजं सत्काय-संज्ञीकृतम् अश्रुस्वेदकफार्द्रमूत्रविकृतं शोणितविन्द्राकुलम्। वस्तिपूयवसासमस्तकरसैः पूर्णं तथा किल्विषैर् नित्यप्रसुतं ह्यमेध्यसकलं दुर्गन्धिनाना-

विधम् ॥619॥ अस्थिदन्तसकेशरोमविकृतं चर्मावृतं लोमशम् अन्त्रप्लीह-यकृद्वपोष्णरसनैर् एभिश्चितं दुर्बलैः। मज्जस्नायुनिबद्धयन्त्रसदृशं मांसेन शोभीकृतं नानाव्याधिप्रकीर्णशोककलिलं क्षुत्तर्षसंपीडितम्। जन्तूनां निलयम् अनेकसुषिरं मृत्यं जरां चाश्रितं दृष्ट्वा को हि विचक्षणो रिपुनिभं मन्ये शरीरं स्वकम् ॥620॥ छन्दक चपलं (क्षिप्रं) मा विलम्बस्व, अश्वराजं देहि मेऽलंकृतम्। सर्वसिद्धि ममैति मंगलम् अर्थसिद्धिर्ध्रुवमद्य भविष्यति ॥621॥ क्व गमिष्यसि विकसितभ्रूः कमलदलशुभलोचन। नृपसिंह पूर्ण-शरदिन्दो शशाङ्कमुदितकुमुद नवनलिनकोमलविबुद्धपद्मवदन। सुधौतहाटक-तरुणरविविमलशशितेजः, घृतहुतार्चिरग्निमणिविद्युत्प्रभोज्ज्वलिततेजः। मत्त-वारणलीलगजगामिन्। गोवृषमृगेन्द्रहंसक्रम सुचरण ॥622॥ छन्दक यस्यार्थं मया पूर्वं त्यक्तानि करचरणनयनानि। तथोत्तमाङ्गं तनयो भार्या प्रियाणि राज्यधनकनकवसनानि रत्नपूर्णरथाः गजा तुरगा अनिलजववेगा विक्रमवराः। शीलं मयारक्षि क्षान्ति, पर्यभावयिषि। वीर्यवरध्यानप्रज्ञा-निरतश्चास्मि बहुकल्पकोटिनयुतानि। किं तु स्पृष्ट्वा बोधिं शिवां शान्तिं। जरामरणपञ्जरनिरस्तसत्त्वपरिमोचनस्य समयोऽद्योपस्थितो मम ॥623॥ अयं कुमारः शतपुण्य-लक्षणो जातस्तवात्मजः पुण्यतेजाः। स चक्रवर्ती चतुर्द्वी-पस्येश्वरो भविष्यति सप्तधनैरुपेतः ॥624॥ स चेत् पुनर्लोकमवेक्ष्य दुःखितं विहायान्तःपुरं निष्क्रमिष्यति। अवाप्य बोधिमजरामरं पदं तर्पयिष्यति धर्म-जलैरिमां प्रजाम् ॥625॥ रमता च रतिविधिश, अमराधिपतिर्यथा त्रिदश-लोके। पश्चाद् वृद्धीभूता व्रततप आरप्स्यामहे ॥626॥ विवर्जितं सर्पशिरो यथा बुधैर्विगर्हितो मीढ(=मलमूत्र)घटो यथाशुचिः। विनाशकान् सर्वशुभस्य छन्दक ज्ञात्वा हि कामान् न मे जायते रतिः ॥627॥

(क) यस्यार्थे केचिदिह तीव्रान् अनेकविधान् आरभन्ते व्रतान् अजिनजटाधराः सुदीर्घकेशनखश्मश्रवस्तथा चीरवल्कलधराः शुष्काङ्गा अनेकान् व्रतानाश्रिताः शाकश्यामाकगर्दूल(=मडुआ-इति भाषायाम्)भक्षाश्चावमूर्धकाश्चापरे गोव्रत संश्रिता (ख) किं तु वयं भवेम श्रेष्ठा विशिष्टा जगति चक्रवर्तिवरा लोक-पालास्तथा शक्रा वज्रधरा यामा देवाधिपा निर्मिता ब्रह्मलोके च ध्यानसुखा-काङ्क्षिणः। (ग) तदिदं नरवरिष्ठ राज्यं तव स्फीतमृद्धं सुभिक्षं तथा, आरामोद्यानप्रासादोच्छ्रायितं वैजयन्तसमम्। (घ) स्त्र्यगारं स्वयं वेणुवीणा-रवैर्गीतवाद्यैरतिनृत्यसंगीतिसंयोगसंशिक्षितं, भुंक्ष्व कामानिमान् मा व्रज सूरत ॥628॥ (क) छन्दक शृणु यानि दुःखशतान्यर्पितानि (=अनुभूतानि) पूर्वं जन्मान्ते बन्धन रोधनं ताडनं तर्जनं कामहेतोर्मया, न च निर्विण्णमभूत्

संस्कृते (= संसारे) मानसम् । (ख) प्रमादवशगतं च मोहाकुलं दृष्टिजालावृतमन्धभूतं पुरा, आत्मसंज्ञाग्रहकारका वेदनाव्यतिवृत्ता इमे धर्मा अज्ञानतः संभृताः । (ग) चलचपला अनित्या मेघैः समा विद्युद्भिः सदृशाः, अवश्यायबिन्दूपमा रिक्ता तुच्छा असारा अनात्मनश्च शून्यस्वभावा इमे सर्वशः । (घ) न च मम विषयेषु संरज्यते मानसं देहि मे छन्दक कण्ठकमलकृतमश्वराजमुत्तमं, पूर्णाय मे मङ्गलाय पुरा चिन्तितं, भविष्यामि सर्वाभिभूः सर्वधर्मेश्वरो धर्मराजो मुनिः ॥629॥ इमा विबुद्धाम्बुजपत्रलोचनां विचित्रहारां मणिरत्नभूषिताम् । घनप्रमुक्तामिव विद्युतं नभसि नोपक्षसे शयनगतां विरोचमानाम् ॥630॥ इमांश्च वेणून् पणवान् सुघोषकान् मृदङ्गवंशांश्च सगीतवादितान् । चकोरस्वरान् कलविङ्कनादितान् यथा लयान् किनरीणाम् इहा (घ्या) रसे ॥631॥ सुमनोत्पलानि वार्षिकचम्पकानि तथा सुगन्धमाला गुणपुष्पसंचयाः । कालागुरूत्तमगन्धधूपनान् नोपेक्षसेताननुलेपनान् वरान् ॥632॥ सुगन्धगन्धांश्च रसान् प्रणीतान् (उत्तमान्) सुसाधितानि व्यञ्जनभोजनानि तथा । सशर्करान् पानरसान् सुसंस्कृतान् नोपेक्षसे देव कुत्र गमिष्यसि ॥633॥ शीते चउष्णान्यनुलेपनाम्बराणि, उष्णे च तान्युरगसारचन्दनानि । तानि काशिकानि वरवस्त्राम्बराणि शुभानि नोपेक्षसे देव कुत्र गमिष्यसि ॥634॥ इमे चे ते कामगुणा हि पंच समृद्धा देवष्विव देवतानाम् । रमस्व तावद्रतिसौख्यान्वितस्ततो वनं यास्यति शाक्यपुंगवः ॥635॥ (क) अपरिमितानन्तकल्पान् मया छन्दक, भुक्ताः कामा रूपाणि च शब्दाश्च गन्धा रसा स्पर्शा नानाविधाः दिव्या ये मानुषाः, न च तृप्तिरभूत् । (ख) नृपतिवरसुतेनैश्वर्यं कृतं चतुर्द्वीपे, यदा राजाभूवं (यथार्थं तु राजाभूत्) चक्रवर्ती समन्वितः सप्तमी रत्नैः, स्त्र्यगारस्य मध्ये स्थितः (ग) त्रिदश(-धि)पत्यं सुयामदेवाधिपत्यं च कृतं, येभ्यश्चाहं च्युत्वेहाभ्यागतो निर्मितो निर्मितेषु मन आत्मिका च श्रीरुत्तमा भुक्ता पूर्वं मया । (घ) सुरपुरे वशवर्तिमारेश्वरत्वं च कृतं भुक्ताः कामाः समृद्धा वरा न च तृप्तिरभूत्, किं पुनरद्येमां हीनां संसेवमानस्तृप्तिं गच्छेयमहं, स्थानमेतन्न सविद्यते ॥636॥ (क) अपि चेदं जगद् अवेक्षेऽहं छन्दक दुःखितं शोककान्तारसंसारमध्ये स्थितं क्लेशव्यालाकुलेनोपायामिनोह्यमानं सदा । (ख) अशरणमपरायण मोहविद्यान्धकारे जराव्याधिमृत्युभयैः पीडितं, जन्मदुःखैः समभ्याहतं व्याहतं शत्रुभिः । (ग) अहमिह समुदानीय धर्मनावं महात्यागशीलव्रतक्षान्तिवीर्य-वरदाससंघटितां सार (-वतीम्) अध्याशयैः वज्रकैः संगृहीतां दृढाम् । (घ) स्वयमहमभिरुह्य

नावमिमामात्मना ऽवतीर्य ससारौघेऽह् तारयिष्येऽनन्तं जगत्, शोकससार-कान्ताररोपोर्मिराग्रहवैरावर्तकाकुले दुस्तरे, एव चित्तं मम ॥637॥ तदात्मनोत्तीर्येमं भवार्णवं सवैरदृष्टिग्रहक्लेशराक्षसम् । स्वय तीर्त्वा चानन्तकं जगत् स्थले स्थापयिष्ये ऽजरामरे शिवे ॥638॥ शृणुच्छन्दक मम निश्चयं सत्त्वमोक्षार्थ-हितार्थमुद्यतम् । अचलाचलमव्यय दृढ मेरुराजमिव यथा सुदुश्चलम् ॥639॥ वज्राशनिः परशुशक्तिशराश्च वर्षेयुरविद्युत-प्रतानज्वलित क्वथितश्च लोहः । आदीप्तशैलशिखराणि प्रपतेयुर्मूर्ध्नि नैवाहं पुनर्जनयेयं गृहाभिलापम् ॥640॥ तदामरा न भोगता. किलकिलामभुचन् । जय हे परममतिधर, अभयदायक, नाथ ॥641॥ न रज्यते पुरुपवरस्य मानसं नभो यथा तमोरजोधूमकेतुभिः । न लिप्यते विपयसुखेपु निर्मलो जले यथा नवनलिनं समुद्भवत् ॥642॥ यत्तन्मया प्रार्थित दीर्घरात्रं सत्त्वानामर्थ परिमार्गतो हि । अवाप्य बोधिमजरामरं पदं मोचयेयं जगत् तस्य क्षण उपस्थितः ॥643॥ भौमा अन्तरिक्षाश्च तथैव (लोक--) पालाः शक्रश्च देवाधिपतिः सयक्षः । यामाश्च देवास् तुषिताश्च निर्मिता परनिर्मिता उद्युक्तास्तथैव देवाः ॥644॥ वरुणो मनस्व्यपि नागराजः, अनवतप्तश्च तथैव सागरः । अभियुक्ता ते चाप्यभिपूजनार्थ नैष्क्रम्यकाले नरपुङ्गवस्य ॥645॥ ये चापि रूपावचरेपु देवाः प्रशान्तचारिणः सदा ध्यानगोचराः । अभियुक्तास्ते चाप्यभिपूजनार्थं त्रैलोक्यपूज्यस्य नरोत्तमस्य ॥646॥ दशदिग्भ्य आगताः शुद्धसत्त्वाः सहायकाः पूर्वचर्यां चरतः । द्रक्ष्यामो निष्क्रमणं जनस्य पूजा करिष्यामि (=करिष्याम) तथानुरूपाम् ॥647॥ स चापि गुह्याधिपतिर्महात्मा प्रदीप्तवज्रो नभसि प्रतिष्ठितः । संनद्धगात्रो बलवीर्यविक्रमः करेण गृहीत्वा ज्वलन्त वज्रम् ॥648॥ चन्द्रश्च सूर्यश्चोभौ देवपुत्रो प्रदक्षिणं वामक सुप्रतिष्ठितौ । दशाङ्गुलिभिर् अञ्जलि गृहीत्वा (=बद्ध्वा) नैष्क्रम्यशब्दमनुविचारयन्ति ॥649॥ पुष्यश्च नक्षत्र सपारिषद्यः औदारिक निर्मायात्मभावम् । स्थित्वाग्रतस्तस्य नरोत्तमस्य मनोज्ञघोपाभिरुतं प्रामुञ्चत् ॥650॥ सर्वाण्यद्य सिद्धानि शुभानि तुभ्य मङ्गलानि पुष्यश्च युक्तः (अथवा पुष्येण च युक्त) समयश्च गन्तुम् । अहमपि यास्यामि त्वयैव सार्धम् अनन्तरायो भव रागसूदन ॥651॥ सचोदकश्चाब्रूपुदद् देवपुत्र , उत्तिष्ठ शीघ्रं बलवीर्योद्गतः दु खैहतांस्तारय सर्वसत्त्वान् नैष्क्रम्यकालः समुपस्थितस्ते ॥652॥ समागता देवाः सहस्रकोटयः प्रवर्पन्तः कुसुमानि मनोज्ञानि । स चापि पर्यङ्कवरे निपण्णो देवैर्वृतो भ्राजते दीप्ततेजाः ॥653॥ नगरे स्त्रियो दारकाश्च पुरुषा याश्चाभवन् दान्तिकाः सर्वे

ते शयिताः क्लान्तमनस ईर्यापथेष्वप्यच्युताः । हस्तिनो ऽश्वा गावश्च सारिकाः शुकाः क्रौञ्चा मयूरास्तथा सर्वे ते शयिताः क्लान्तमनसः पश्यन्ति रूपं न ते ।।654।। ये च ते वज्रदृढतोमरधरा. शाक्यैः सुताः स्थापिताः, हस्त्यश्वरथेषु तोरणवरे ते चाप्यवस्वापिताः । राजा राजकुमाराः पर्थिवजनः सर्वे प्रसुप्ता अभवन्, अपि च नारीगण नग्नविवसनाः सुप्ता न ते ऽभुत्सत ।।655।। स च ब्रह्मरुतो मनोज्ञवचनः कलविङ्कघोषस्वरो रात्रौ निर्गतोऽर्धरात्रसमये तं छन्दकमब्रवीत् । साधो छन्दक, देहि कण्ठकं मम स्वलंकृतं शोभन मा विघ्नं कुरु मे देहि चपल यदि मे प्रियं मन्यसे ।।656।। श्रुत्वा छन्दको ऽश्रुपूर्णनयनस्तं स्वामिनमब्रवीत् क्व त्वं यास्यसि सत्त्वसारथिवर किमश्वकार्यं च ते । कालज्ञः समयज्ञो धर्मचरणः कालो न गन्तुं क्वचिद् द्वाराणि ते पिहितानि दृढार्गलाकृतानि को दास्यति तानि तव ।।657।। शक्रेण मनसोऽथ चेतनावशात्तानि द्वाराणि मुक्तानि कृतानि, दृष्ट्वा छन्दको हृष्ट. पुनर् दुःखी, अश्रूणि सोऽवर्तयत् । हा धिक् को मे सहाय' किं नु धावामि कां वा दिशम् उग्रं तेजोधरेण वाक्यं भणितं शक्यं न संधारयितुम् (=सोढुम्) ।।658।। सा सेना चतुरङ्गिणी बलवती किं स्वित् करोतीह हा राजा राजकुमाराः पर्थिवजनो नेदं हि बुध्यन्ति ते । स्त्रीसंघः शयितस्तथा यशोवती (=यशोधरा) अवस्वापिता दैवतैः, हा धिग् गच्छति सिध्यत्यस्य प्रणिधिर्यश्चिन्तितः पूर्वशः ।।659।। देवाः कोटिसहस्राणि हृष्टमनसस्तं छन्दकमब्रुवन्, साधो छन्दक देहि कण्ठकवरं मा खेदयेनायकम् । भेरीशङ्खमृदङ्गतूर्यनयुतानि देवासुरैर्वादितानि नैवेदं प्रतिबुध्यते पुरवरम् अवस्वापितं दैवतैः ।।660।। पश्य छन्दक, अन्तरिक्षं विमलं दिव्या प्रभा शोभते पश्य त्वं बहुबोधिसत्त्वनयुतान् ये पूजनायागताः । शक्रं पश्य शचीपति बलवृतं द्वारस्थितं भ्राजते देवाश्चाप्यसुराश्च किंनरगणान् ये पूजनार्थमागताः ।।661।। श्रुत्वा छन्दक देवताना वचन तं छन्दकमलापीत् एष आः गच्छति सत्त्वसारथिवरः त्वं तावद् हेषिष्यसे । स त वार्षिकवर्णं काञ्चनखुर स्वलंकृतं कृत्वा, उपनयति गुणसागरस्य वाहनं रुदन् दुर्मनाः ।।662।। एष ते वरलक्षण, हितकर, अश्वः सुजातः शुभो गच्छ सिद्धयतु तवैष प्रणिधिर्यश्चिन्तितः पूर्वशः । ये ते विघ्नकरा व्रजन्तु प्रशमम् आशा—व्रतं सिध्यतां भव सर्वजगतः सौख्यस्य दाता स्वर्गस्य शान्त्यास्तथा ।।663।। सर्वा कम्पिता षड्विकारं धरणी शयनाद् यथा स उत्थितः आरूढः शशिपूर्णमण्डलनिभ तमश्वराजमुत्तमम् । पालाः पाणीन् विशुद्धपद्मविमलान् न्यास्थन्नश्वोत्तमे शक्रो ब्रह्मा चोभौ तस्य पुरतो दर्शयन्ति मार्गो ह्ययम् (इति) ।।664।। आभा तेन

प्रमुक्ताऽच्छविमलाऽवभासिता मेदिनी सर्वे शान्ता अपायाः सत्त्वाः सुखिताः क्लेशैर्नाबाधि तदा। पुष्पाण्यवर्षिपुस् तूर्यकोटयोऽराणिषुं देवा सुरास्तुष्टुवुः सर्वे कृत्वा प्रदक्षिणां पुरवरस्य गच्छन्ति हर्षान्विताः ॥665॥

पुरवरोत्तमस्य देवता दीनमना उपगम्य महापुरुषे। पुरत स्थित्ता करुणदीनमना गिरं समालपति पद्मसुखम् ॥666॥ तमसाकुल भुवीद सर्वपुरं नगर न शोभते त्वया रहितम्। न ममात्र काचिद् रतिः प्रीतिकरी त्यक्तं त्वया च यदिद भवनम् ॥667॥ न पुनः श्रोष्ये रुतं पक्षिगणस्य, अन्तःपुरस्य मधुरं वेणुरवम्। माङ्गल्यशब्दं तथा गीतरवं प्रतिबोधनं तवानन्तयशाः ॥668॥ पश्येयं न भूयः सुरसिद्धगणान् कुर्वतस्तव पूजा रात्रिदिवम्। घ्रास्यामि गन्धं न च दिव्यं पुनस् त्वयि निर्गते निहतक्लेशगणे ॥669॥ निर्भुक्तमाल्यमिव पर्युषितं त्यक्तं त्वयाद्य भवनं हि तथा। नटरङ्गकल्पं प्रतिभाति मे त्वयि निर्गते न भूयस्तेजःश्रीः ॥670॥ ओजो बलं हरसि सर्वपुरस्य न शोभतेऽटवीतुल्यमिदम्। वितथम् ऋषीणां वचनमद्य भूतं यैर्व्याकृतो भवेश्चक्रबलः ॥671॥ अबला बल भुवीदं शाक्यबलम् उच्छिन्नो वंश इह राजकुलस्य। आशा प्रनष्टेह शाक्यगणस्य त्वयि निर्गते महति पुण्यद्रुमे ॥672॥ अहमेव तव गतिं गच्छामि यथा त्वं प्रयास्यमल विमल। अपि च कृपा—सजन्य व्यवलोकयस्व भवनं त्वमिदम् ॥673॥ व्यवलोक्य चैव भवनं मतिमान् मधुरस्वरो गिरमुदीरितवान्। नाहं प्रवेक्ष्यामि कपिलस्य पुरम् अप्राप्यजातिमरणान्तकरम् ॥674॥ स्थानासनं शयनचङ्क्रमणं न करिष्येऽहं कपिलवास्तुमुखम्। यावन्न लब्धा वरा बोधिर्मयाऽजरामरं पदवरं ह्यमृतम् ॥675॥

यदासौ जगत्प्रधानो निष्क्रान्तो बोधिसत्त्वम्, तस्य नभसि व्रजतोऽस्ताविपुरप्सरसः। एष महादक्षिणीय एष महापुण्यक्षेत्रं पुण्यार्थिकानां क्षेत्रम् अमृतफलस्य दाता ॥676॥ अनेन बहुकल्पकोटीर् दानदमसंयमेन समुदानीताऽनेन (यथारुतं तु अस्य) बोधिः सत्त्वेषु करुणायमानेन। एष परिशुद्धशीलः सुव्रतोऽखण्डचारी न च कामान् नैव भोगान् प्रार्थयन् (अस्ति) शीलरक्षी ॥677॥ एष सदा क्षान्तिवादी छिद्यमानोऽङ्गाङ्गे न क्रोधो नैव रोषः सत्त्वपरित्राणार्थम्। एष सदा वीर्यवान् अविखिन्नः कल्पकोटिः समुदानीताऽनेन (यथारुतं तु अस्य) बोधिर् इष्टाश्च यज्ञकोटयः ॥678॥ एष सदा ध्यायी शान्त-प्रशान्तचित्तो दग्ध्वा सर्वक्लेशान् मोचयिष्ये सत्त्वकोटीः। एषोऽसंगप्रज्ञकल्पैर्विकल्पमुक्तः कल्पैर् विमुक्तचित्तो जिनो भविष्यति स्वयंभूः ॥679॥ एष सदा मैत्रीचित्तः करुणायाः पार प्राप्तो मुदितोपेक्षाध्यायी ब्राह्मस्य पथो

विधिज्ञः । एषोऽतिदेवदेवो देवैं पूजनीयः शुभविमलशुद्धचित्तो गुणनियुतपारप्राप्त· ॥680॥ शरणं भयार्दितानां दीपोऽचक्षुषा लयनमुपद्रुतानां वैद्यश्चिगतुराणाम् । राजेव धर्मराज इन्द्रः महस्रनेत्रो ब्रह्मा स्वयंभूभूत प्रस्रब्धकायचित्तः ॥681॥ धीरः प्रभूतप्रज्ञो वीरो विविक्तचित्तः शूरक्लेशघाती, अजितजयो जितारिः । सिंहो भयप्रहीनो नागः सुदान्तचित्त ऋषभो गणप्रधान· क्षान्त· प्रहीनकोपः ॥682॥ चन्द्रः प्रभासमान·, सूर्योऽवभासकारी, उल्का प्रद्योतकरी, तारा तमोविमुक्ता । पद्ममनुपलिप्तं, पुष्प सुशीलपत्रं, मेरुरकम्प्यः शास्त्रा, पृथिवी यथोपजीव्यः, रत्नाकरोऽक्षोभ्यः ॥683॥ अनेन जितः क्लेशमारोऽनेन जित· स्कन्धमारोऽनेन जितो मृत्युमारो निहतोऽनेन (यथारुतं तु अस्य) देवमारः । एष महासार्थवाहः कुपथप्रस्थितानाम् अष्टाङ्गमार्ग श्रेष्ठ देशयिष्यति न चिरेण ॥684॥ जरामरणक्लेशघाती तमस्तिमिरविप्रमुक्तो भुवि दिवि च सप्रधुष्टो जिनो भविष्यति स्वयंभूः । स्तुतेन स्तुतोऽप्रमेयो वरपुरुषरूपधारी यत्पुण्यं त्वा स्तुत्वा (तेन) भवामो यथा वादिसिंहः ॥685॥

निष्क्रान्तः शूरो यदा विद्वान् बोधिसत्त्व नगरं विबुद्ध' कपिलपुरं समग्रम् । मन्यन्ते सर्वे शयनगत कुमारम् अन्योन्यं हृष्टाः प्रमुदिता आरभन्ते (=आलिङ्गन्ति) ॥686॥ गोपा विबुद्धा तथापि स्त्यगारं शयनं निरैक्षिष्ट न चादर्शन् बोधिसत्त्वम् । उत्क्रोशो मुक्तो नरपतेरगारे हा वञ्चिताः स्मः क्व गतो बोधिसत्त्वः ॥687॥ राजा श्रुत्वा धरणीतले निरस्त उत्क्रोशं कृत्वाहो ममैकपुत्र । म स्तेमितो हि जलघटसंप्रसिक्त आश्वसन् बहुशतैः शाक्यानाम् ॥688॥ गोपा शय्यातो धरणीतले निपत्य केशाँल्लुनाति, अवाशारीद् भूषणानि । अहो सुभाषितं मम पुरा नायकेन सर्वप्रियैर् न चिराद् विप्रयोग· ॥689॥ रूपसुरूपविमलविचित्रिताङ्ग अच्छविशुद्धजगतः प्रिय मनोगत । धन्य प्रशस्त दिवि भुवि पूजनीय क्व त्वं गतोऽसि मम शय्यां त्यक्त्वा ॥690॥ न पास्ये पानं न च मधु न प्रमाद भूमौ शयिष्ये जटामुकुटं धारयिष्ये । स्नान हित्वा व्रततपसी आचरिष्यामि यावन्न द्रक्ष्यामि गुणधरं बोधिसत्त्वम् ॥691॥ उद्यानानि सर्वाण्यफलान्यपत्रपुष्पाणि हारा विशुद्धास्तमोरज· पशुतुल्याः । वेश्म नाशोभि पुरम् अटवि-प्रकाशम् ॥692॥ हा गीतवाद्य सुमनोहरमञ्जुघोषहास्यगार विगलित भूषणैः । हा हेमजालैः परिस्फुटान्तरीक्ष न भूयो द्रक्ष्यामि गुणधरविप्रहीना ॥693॥ मातृष्वसा च परमसुकृच्छ्रप्राप्ता, आश्वासयति मा रुदिहि शाक्यकन्ये । पूर्वं चोक्तं नरवरपुङ्गवेन कर्तास्मि लोकस्य जरामरणात् प्रमोक्षम् ॥694॥ स च महर्षिः कुशलसहस्र-

चरित (=चरितकुशलसहस्रः) षड्योजनानि प्रतिगतो रात्रिशेषम्। छन्द (क)स्य ददाति हयवरं भूषणानि छन्द(क) गृहीत्वा कपिलपुरं प्रयाहि ॥695॥ मातापितॄन् (=मातापितरौ) मम वचनेन पृच्छेः, गतः कुमारो न पुनः शोचत। बुद्ध्वा बोधिं पुनरिहमागमिष्यामि धर्मं श्रुत्वा भविष्यथ शान्त-चित्ताः ॥696॥ छन्द (को) रुदन् प्रत्यभाणीन्नायकं, न मेऽस्ति शक्तिर् बलं पराक्रमो वा। हन्युर्मां नरवरज्ञातिसंघाश् छन्द(क) क्व नीतो गुणधरो बोधि-सत्त्व' ॥697॥ मा बिभेहि छन्दक प्रत्यभाणीद् बोधिसत्त्वस् तुष्टा भूत्वापि मम ज्ञातिसंघाः। शास्तृसंज्ञां त्वयि सदा भावयिष्यन्ति प्रेम्णा मयि (इव) त्वय्यपि वर्त्स्यन्ति ॥698॥ छन्द(को) गृहीत्वा हयवरं भूषणानि उद्यान प्राप्तो नरवरपुङ्गवस्य। उद्यानपालः प्रमुदितो वेगजात', आनन्दशब्दं प्रत्य-भाणीच् छाक्यानाम् ॥699॥ अयं कुमारो हयवरश्छन्दकश्च उद्यानं प्राप्तो न च पुनः शोचितव्यः। राजा श्रुत्वा परिवृतः शाक्यैर् उद्यानं प्राप्तः प्रमु-दितो वेगजात. ॥700॥ गोपा विदित्वा दृढमतिं बोधिसत्त्वं न चाप्यहृपन्न च गिर श्रद्दधाति (स्म)। अस्थानमेतद् विनिगतो यत्कुमारोऽप्राप्य बोधिं पुनरिहागच्छेत् ॥701॥ दृष्ट्वा तु राजा हयवरं छन्दकं च, उत्क्रोशं कृत्वा धरणीतले निरस्तः। हा मम पुत्र गीतवाद्यसुकुशल क्व त्वं गतोऽसि विहाय सर्वराज्यम् ॥702॥ साधु भण वचनं ममेह छन्द (क), किमिव प्रयोग. क्व च गतो बोधिसत्त्वः। केनाथ नीतो विवृतं केन द्वारं पूजा च तस्य कथं कृता देवसंघै' ॥703॥ छन्द(को) भणति शृणु पार्थिवेन्द्र रात्रौ प्रसुप्ते नगरे सबालवृद्धे। स मञ्जुघोषो ममाभाणीद् बोधिसत्त्वश्छन्द(क) देहि मम लघ्व-श्वराजम् ॥704॥ सो (ऽह) बोधयामि नरगणं नारीसंघं सुप्ताः प्रसुप्ता न च गिर ते शृण्वन्ति। स रुदन्नदामहमश्वराजं हन्त व्रज हितकर येन (यत्र) कामः ॥705॥ शक्रेण द्वाराणि विवृतानि यन्त्रयुक्तानि पालाश्चत्वारो हय-चरणेपुश्लिष्टाः आरूढे शूरे प्रचलितस् त्रिसहस्रः (=लोकधातु') मार्गो नभसि सुविपुलो येन क्रान्तः ॥706॥ आभा प्रमुक्ता विहततमोऽन्धकारा, पुष्पाण्य् अपप्तन् तूर्यशतान्य् अरणिषुः। देवा अस्ताविपुस्तथापि हि चाप्स-रसो नभसा प्रयातः परिवृतो देवसघै. ॥707॥ छन्द(को) गृहीत्वा हयवरं भूषणानि, अन्तःपुरं स उपगतो रुदन्। दृष्ट्वा तु गोपा हयवरं छन्दकं च संमूर्छ्य धरणीतले निरस्ता ॥708॥ उद्युक्ताः सर्वे सुविपुलनारिसंघाः, वारि गृहीत्वासिस्नपाण्डुच्छाक्यकन्याम्। मा हैव कालं कार्षीत् (यथाप्तं तु करिष्यति) शोकप्राप्ता द्वाभ्यां प्रियाभ्यां बहु (=चिरं) भवेद् विप्रयोगः ॥709॥ स्थाम जनयित्वा सुदुःखिता शाक्यकन्या कण्ठेऽवलम्ब्य हयवरस्या-

स्वराजस्य । अनुस्मयं पूर्वा कामक्रीड़ां नानाप्रलापान् प्रलपति शोकप्राप्ता ॥710॥

हा मम प्रीतिजनन हा मम नरपुङ्गव विमलचन्द्रमुख । हा मम सुरूप-रूप हा मम वरलक्षण विमलतेजोधर ॥711॥ हा ममानिन्दिताङ्ग, सुजात, अनुपूर्वोद्गत, असम । हा मम गुणाग्रधारिन्, नरमरुद्भिः पूजित, परमकारुणिक ॥712॥ हा मम बलोपेत, नारायणस्थामवन्, निहतशत्रुगण । हा मम सुमुञ्जुघोषा कलविङ्करुतस्वर मधुरब्रह्मरुत ॥713॥ हा ममानन्त-कीर्ते, शतपुण्यसमुद्गत विमलपुण्यधर हा ममनन्तवर्ण, गुणगणप्रतिमण्डित, ऋषिगणप्रीतिकर ॥714॥ हा मम सुजातजात लुम्बिनीवन उत्तमे भ्रमर-गीतरुते । हा मम विघुष्टशब्द, दिवि भुव्य अभिपूजित–विपुलज्ञानद्रुम ॥715॥ हा मम रसरसाग्र बिम्बोष्ठ कमललोचन कनकनिभ । हा मा सुशुद्धदन्त गोक्षीरतुषारसंनिभसहितदन्त ॥716॥ हा मम सुनास, सुभ्रूर भ्रूमुखान्तरे–स्थित–विमलोर्ण । हा मम सुवृत्तस्कन्ध, चापोदर, एणेयजङ्घ, वृत्तकटे ॥717॥ हा मम गजहस्तोरो विशुद्धशोभनकरचरण ताम्रनख । इति तस्य भूषणानि पुण्यैः कृतानि पार्थिवस्य प्रीतिकराणि ॥718॥ हा मम गीतवाद्य वरपुष्पविलेपन शुभर्तु–प्रवर । हा मम पुष्पगन्ध, अन्तःपुरस्य गीत-वादितैर्हर्षकर ॥719॥ हा कण्ठक सुजात मम भर्तुः सहायकस् त्वया क्व नीतः । हा छन्दक निष्करुण नावोधीं गच्छति नरवरिष्ठे ॥720॥ गच्छ-त्ययं हितकर एकां गिरं तस्मिन्नन्तरे नाभाषिष्ठाः कस्मात् । इतोऽद्य पुरवराद् गच्छति नरदम्यसारथिः कारुणिकः ॥721॥ कथं वा गतो हितकरः केन च निष्क्रामित इतः स राज-कुलात् । कतमां दिशमनुगतो धन्या वनगुल्म-देवता या अस्य सखी ॥722॥ अतिदुःखं मम छन्द (क) निधिं दर्शयित्वा नेत्रे उद्धृते चक्षुर्दे । सर्वैजिनैश्च छन्द (क) मातापितरौ नित्यं वर्णितौ पूजनीयौ ॥723॥ तानपि हित्वा निर्गतः किं पुनरिमां स्त्रियं कामरतिम् । हा धिक् प्रियैर्वियोगम्, नटरंगस्वभावसनिभो अनित्यः (संयोगः) ॥724॥ संज्ञाग्रहेण बाला दृष्टिविपर्यासेन निश्रिता जन्मच्युतिम् । प्रागेव तेन भणितं नास्ति जरामरणसंस्कृते कश्चित् सखा ॥725॥ परिपूर्यताम् अस्याशा स्पृशतु वरबोधिमुत्तमां द्रुमवरिष्ठे । बुद्ध्वा बोधिं विरजसं पुनरप्योतिवह पुरवेऽस्मिन् ॥726॥

छन्दकः परमदीनमानसो गोपिकाया वचनं श्रुत्वा साश्रुकण्ठं गिरं सप्रभाषते साधु गोपे निश्रृणु मे वचः ॥727॥ रात्रौ रहसि यामे मध्यमे सर्वनारीगणे संप्रसुप्ते । स तदा च शतपुण्योद्गत आलपति मम देहि कण्ठकम्

॥728॥ तन्निशम्य वचनं तदन्तरं त्वां प्रेक्षे शयने प्रसुप्ताम् । उच्चघोष-महं तत्रामुञ्चम् उत्तिष्ठ गोपेऽयं याति ते प्रियः ॥729॥ देवता वचनं तन्न्यरुधन्, एकापि भर्त्री नापि काचिद् बुध्यते । रुदन् समलंकृत्य, अश्व-राजमदा (यथारुतं तु ददामि) नरोत्तमाय ॥730॥ कण्ठको हेषते उग्रतेजस्वी क्रोशमात्रं स्वरस्तस्य गच्छति । न च कश्चिच् छृणुते पुरोत्तमे देवताभि-स्वापनं कृतम् ॥731॥ स्वर्णरूप्यमणिगुण्ठिता मही कण्ठकस्य चरणैः पराहता । साऽरणीद् मधुरभीष्मशोभनं न च केचिच्छृण्वन्ति मानुषाः ॥732॥ पुष्यो युक्तोऽभूत् तस्मिन्नन्तरे चन्द्र-ज्योतींषि नभसि प्रतिष्ठि-तानि । देवकोट्यो गगने कृताञ्जलयोऽवनमन्तः शिरास्यभिवन्दिषत ॥733॥ यक्षराक्षसगणैरुपस्थिता लोकपालाश् चत्वारो महर्द्धिकाः । कण्ठकस्य चरणान् करे न्यास्थन् पद्मकेसरविशुद्धनिर्मले ॥734॥ स च पुण्यशततेजउद्गत आरु-क्षत् कुमुदवार्षिकोपमम् । षड्विकार धरणो प्रकम्पिता बुद्धक्षेत्राणि स्फुटा-न्याभया निर्मलया ॥735॥ शक्रो देव (ता) गुरुः शचीपतिः स्वयं द्वारं व्यवारीत् । देवकोटिनयुतैः पुरस्कृतः सोऽव्राजीद् अमरनागपूजितः ॥736॥ संज्ञामात्र इह जातः कण्ठको लोकनाथं वहति नभोऽन्तरे । देव-दानवगणाः सेन्द्रा ये वहन्ति सुगतं गच्छन्तम् (यथारुतं तु षष्ठी-सुगतस्य गच्छतः इति) ॥737॥ अप्सरसः कुशला गीतवादिते बोधिसत्त्वगुणान् भाषमाणाः । कण्ठकस्य बलं ता ददत्योऽमुञ्चन् घोषं मधुरं मनोरमम् ॥738॥ कण्ठक वह लोकनायकं शीघ्रशीघ्रं मा जनय खेदम् । नास्ति ते भयम् अपायदुर्गते (यथारुतं तु अपाय दुर्गतिम्) लोकनाथम् अभिराध्य ॥739॥ एकैकोऽभिनन्दति सुरो वाहनमस्म्यहं लोकनायकस्य । न च कश्चिदपि देशो विद्यते देवकोटिचरणैर्न मृदितः ॥740॥ पश्य कण्ठक नभोऽन्तर इमं मार्गं संस्थितं विचित्रशोभनम् । रत्नवेदिकाभिर्विचित्राभिर् मण्डित दिव्य-सारवर-गन्धधूपितम् ॥741॥ अनेन कण्ठक शुभेन कर्मणा त्रयस्त्रिंश—भवने सुनि-मितः । अप्सरोभिः परिवृतः पुरस्कृतो दिव्यकामरतिभी रंस्यसे ॥742॥ साध्वि गोपे मा खलु भूयो रुदिहि तुष्टा भव परमं प्रहर्षिता । द्रक्ष्यसि न चिरान्नरोत्तमं बोधिप्राप्तममरैः पुरस्कृतम् ॥743॥ ये नराः सुकृतकर्म-कारकस् ते न गोपे सदा रोदितव्याः । स च पुण्यशततेजउद्गतो हर्षितवयो न स रोदितव्यः ॥744॥ सप्तरात्रं भणता गोपिके स व्यूहो न शक्यः क्षपयितुम् । यो व्यूहोऽभूत् तत्र पार्थिवे निष्क्रामति नरदेवपूजिते ॥745॥ लाभास्तुभ्यं परमा अचिन्त्याः, यस्ते (=त्वया) उपस्थित. (=सेवितः) जगतो हितकरः । ममापि संज्ञा स्वयमेव वर्तते त्वं हि भविष्यसि यथा नरोत्तमः ॥इति॥746॥

॥१६॥

॥ त्रिम्बलारोपसंक्रमणपरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 237 (पंक्ति 19)—243 (पंक्ति 14)

भोटानुवाद 174ख (पंक्ति 5)—178ख (पंक्ति 7)

॥१६॥

॥ बिम्बिसारोपसंक्रमणपरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओं, इस प्रकार छंदक ने बोधिसत्त्व के संकल्प से राजा शुद्धोदन के, शाक्यपुत्री गोपा के समूचे अन्तःपुर (की स्त्रियों) के और सम्पूर्ण शाक्यगण के शोक को दूर करने के लिए बात कही।

2. (–238–) हे भिक्षुओ, यों बोधिसत्त्व =175क= बहेलिए का रूप धरे हुए देवपुत्र को बनारसी कपड़े देकर, उसके पास से काषाय वस्त्र लेकर, दुनिया के साथ अनुकूलता से बरतने के लिए, प्राणियों पर करुणा करने के लिए, प्राणियों को (धर्म की राह पर) पक्का करने के लिए, अपने-आप प्रव्रज्या ले ली।

3. इसके अनन्तर बोधिसत्त्व जहां शाकी ब्राह्मणी का आश्रम था; वहाँ पहुँचे। उसने बोधिसत्त्व को निवास और भोजन के लिए निमंत्रित किया।

4. तदनन्तर बोधिसत्त्व पद्मा ब्राह्मणी के आश्रम पर गए। उसके द्वारा भी बोधिसत्त्व निवास और भोजन के लिए निमंत्रित हुए।

5. उसके अनन्तर (वे) ब्रह्मर्षि रैवत के आश्रम पर गए। उन्होंने भी बोधिसत्त्व को उसी तरह निमंत्रित किया। उसी तरह दण्डिक के दत्रिम (दान में में प्राप्त) पुत्र राजक ने भी बोधिसत्त्व को निमंत्रित किया।

हे भिक्षुओं, इस प्रकार क्रम से बोधिसत्त्व महानगरी वैशाली पहुँचे।

6. उस समय कालाप (कलापगोत्रज ऋषि) अराड वैशाली के पास बासा बना तीन सौ शिष्यों के महाश्रावकसंघ के साथ निवास कर रहे थे। वे शिष्यों को आकिंचन्यायतन (नामक ध्यान) के सहव्रत (=अनुकूलव्रत) का धर्मोपदेश करते थे। दूर से ही बोधिसत्त्व को आते हुए देख, अचरज में भर कर, उन्होंने शिष्यों को सम्बोधन कर कहा। =175ख= अरे, देखो-देखो, इसके रूप को। वे बोले, हाँ-हाँ, हम इन्हे देख रहे हैं, ये अत्यन्त विस्मय उपजाने वाले हैं।

7. हे भिक्षुओं, उसके बाद मैं जहां अराड कालाप थे, वहाँ जाकर, अराड कालाप से बोला। अये, मैं क्या अराड कालाप के पास ब्रह्मचर्य का आचरण करूँ। वे बोले। हे गौतम, जिसमें श्रद्धावान् कुलपुत्र स्वल्प क्लेश से पूर्णज्ञान पा लेता है, उस प्रकार के धर्म के अनुशासन में (ब्रह्मचर्य का) आचरण करो।

8. (–239–) हे भिक्षुओं, मेरे मन मे यह बात आई। मुझमे लगन है, उद्योग है, स्मृति है, समाधि (एकाग्रचित्तता) है, प्रज्ञा है। क्यों न मैं अकेला, सावधान, आतापी (=जोश में भरा हुआ), सबसे अलग हो, उस धर्म लाभ के लिए–साक्षात्कार के लिए विहरण करूँ।

9. हे भिक्षुओ, उसके बाद सावधान, जोश में भर, सबसे अलग हो विहरण करते हुए मैंने स्वल्पक्लेश से ही उस धर्म का ज्ञान कर लिया—साक्षात्कार कर लिया।

10. हे भिक्षुओं, उसके बाद मैं जहाँ अराड कालाप थे, वहाँ जाकर बोला। हे अराड, तुमने इतने ही धर्म का ज्ञान किया है—साक्षात्कार किया है। वे बोले। हे गौतम, इतना ही। मैंने उनसे कहा—अये, मैने भी इस धर्म का ज्ञान कर लिया है—साक्षात्कार कर लिया है। वे बोले—हे गौतम, जो धर्म मैं जानता हूँ, आप भी उसे =176क= जानते हैं, जो आप जानते हैं, मैं भी उसे जानता हूँ, इसलिए हम दोनों ही इस शिष्यगण को शिक्षा दें।

11. हे भिक्षुओं, इस प्रकार अराड कालाप ने उत्तम पूजा से मेरी पूजा की तथा अन्तेवासियो (=शिष्यों) के बीच मुझे समानार्यता के साथ—अर्थात् आहार-व्यवहार आदि मे अपनी बराबरी के साथ बैठाया।

12. हे भिक्षुओं, मेरे मन मे बात आई कि यह अराड का धर्म संसार से पार करने वाला नही है, सम्यक्-प्रकार से दुःख-क्षय के निमित्त[1] उसके करने वाले का[1] संसार से उद्धार नही होता। क्यों न मैं इससे ऊपर की खोज करता हुआ विचरूँ।

13. हे भिक्षुओं, इसके बाद वैशाली में जब तब मन रमा तब तक विहरण कर मगध-देश चला गया। मगध देश में (चरण-) चर्या करता हुआ अर्थात् पैदल विचरता हुआ, जहाँ मागध लोगों का राजगृह नगर था, तथा उस नगर से सटा जहाँ पाण्डव पर्वतराज था, वहाँ पर पहुँचा। वहाँ मैं पाण्डव पर्वतराज के पास, अकेला, बिना किसी दूसरे साथी--सहायक के, केवल अनेक लाखों खर्ब-खर्ब कोटि देवताओं के द्वारा सुरक्षित हो विहरण करने लगा।

14. (–240–) तदनन्तर मैं सवेरे-सवेरे (अन्तर्वासक) पहने, चीवर (ओढ़), (भिक्षा–) पात्र ले तपोद (नामक) द्वार से महानगर राजगृह में पिण्ड (=भिक्षान्न) के लिए, प्रसन्न करने वाले, आगे की ओर पैर रखने के साथ,

1....1. मूल, तत्कतरस्य। पठनीय, तत्करस्य। तुलनीय भोट, दे बूयेद् प।

पीछे की ओर से पैर उठाने के साथ, सामने-तथा-इधर-उधर देखने के साथ, (शरीर के) सिकोड़ने एवं फैलाने के साथ, प्रसन्न करने वाले, संघाटी (दोहर) के, पट (वस्त्र) के, (भिक्षा–) पात्र के चीवर (–मुनिवस्त्र) के धारण करने के साथ, अचंचल की इन्द्रियों के साथ, = 176ख=बाहर की ओर से विमुख मन के साथ, ऋद्धि के द्वारा बने जैसे की भाँति तेल भरे बर्तन ले जाने वाले के समान, केवल युग (बैलों के कंधों पर रखे जाने वाले जुए नामक काष्ठ) को जितनी दूरी तक देखता हुआ मैं प्रविष्ट हुआ। वहाँ मुझे देखकर राजगृह के मनुष्य अचरज में भर गए कि ये कही ब्रह्मा न हों, कही देवताओं के अधिपति इन्द्र न हों, कहीं वैश्रवण (कुबेर) न हों, कही कोई गिरिदेवता न हों।

15. इस विषय में (गाथाओं द्वारा) यह कहा जाता है—

(छन्द पुष्पिताग्रा)

अथ विमलधरो ह्यनन्ततेजो
स्वयमिह प्रव्रजियान बोधिसत्त्वः।
शान्तमनु दान्त ईर्यवन्तो
विहरति पाण्डवशैलराजपार्श्वे ॥747॥

इसके बाद अनन्त-निर्मल-तेज के धारण करने वाले बोधिसत्त्व यहाँ स्वयं प्रव्रजित होकर, मन से शान्त, (शरीर से) विनीत, ईर्यापथ (=चाल-ढाल) से युक्त, पाण्डव पर्वतराज के पास विहरण करने लगे।

रजनि विगतु ज्ञात्व बोधिसत्त्वः
परमसुदर्शनियं निवासयित्वा।
पात्र प्रतिगृहीय नीचमानो[2]
प्रविशति राजगृहं स पिण्डपात्रं ॥748॥

रात बीती जान कर, अत्यन्त सुन्दर ढंग से पहन-ओढ़ कर, पात्र लेकर, नम्र मन के साथ, वे बोधिसत्त्व पिण्डपात (=भिक्षा) के लिए राजगृह मे प्रविष्ट हुए।

कनकमिव सुधातुजातरूपं
कवचितु लक्षणत्रिंशता द्विभिश्च।
नरगण तथ नारि प्रेक्षमाणो
न च भवते क्वचि तृप्ति दर्शनेन ॥749॥

2. नीचमानो=नीचमनाः। तुलनीय भोट, द्मह. ब्रहि यिद् क्यिस् (=नम्र-मनसा)।

शोधित सुन्दर वर्ण वाले कनकधातु के समान गोरे, बत्तीस लक्षणों से नवे हुए (शरीर वाले उन बोधिसत्व) को, देख-देख पुरुषगण तथा स्त्रीगण किसी भी तरह दर्शन से तृप्त नहीं हो रहे थे।

वीथि रचित रत्नवस्त्र धार्यै
अवशिरिया जनु याति पृष्ठतोऽस्य।
को नु अयु अदृष्टिपूर्वसत्त्वो
यस्य प्रभाय पुरं विभाति सर्वं ॥750॥

पहले ये नहीं दिखे हैं, ये है कौन, जिसकी प्रभा से यह नगर जगमगा उठा है? धारण करने योग्य रत्नों और वस्त्रों से अलंकृत लोग श्रीहीन हो इनके पीछे मार्ग में चल रहे हैं।

उपरि स्थिहिय नारिणां सहस्रा
तथरिव द्वारि तथैव वातयाने।
रथ्य भरित गेहि शून्य कृत्वा
नरवर प्रेक्षितु ते अनन्यकर्माः ॥751॥

हजारों स्त्रियाँ ऊपर ठहर रही थीं, उसी तरह द्वारों पर उसी तरह खिड़कियों में, उन्होंने और काम छोड़ कर, घरों को सूना कर, पुरुषोत्तम के देखने के लिए, गली-कूचों को भर दिया था।

=177क= न च भूयु क्रयविक्रयं करोन्ती
न च पुन सौण्ड पिबन्ति मद्यपानं।
न च गृहि न च वीथिये रमन्ते
पुरुषवरस्य निरीक्षमाण रूपं ॥752॥

(लोग) न और खरीद रहे थे, न और बेच रहे थे, न शराबी ही शराब पी रहे थे। पुरुषोत्तम का रूप निहारने वालों के मन न घर में लग रहे थे न बाजार में।

पुरुष त्वरितु गच्छि राजगेहं
अवचिषु राज स बिम्बसार तुष्टो।
देव परम तुभ्य लब्ध लाभा
स्वयमिह ब्रह्म पुरे चराति पिण्डं ॥753॥

आदमी दौड़े-दौड़े राजभवन गए और खुश होकर राजा बिम्बसार से बोले हे देव, तुम्हें उत्तम लाभ प्राप्त हुए हैं, इस नगर में साक्षात् ब्रह्मा भिक्षा के लिए विचर रहे हैं।

(-241-) केचि अवचि शक्र देवराजो
अपरि भणन्ति सुयाम देवपुत्रः।
तथ अपि संतुषितं व निर्मितश्च
अपरि भणन्ति सुनिर्मितेषु देवः ॥754॥

कुछ (लोगों) ने कहा—(ये) देवराज इन्द्र हैं, औरों ने कहा—(ये) देवपुत्र सुयाम हैं, उसी तरह दूसरों ने कहा (ये) या तो संतुषित (देव) हैं, या निर्मित (देव हैं,) या ये सुनिर्मित देव हैं।

केचि पुन भणन्ति चन्द्रसूर्यौ
तथपि च राहु बलिश्च वेमचित्री।
केचि पुन भणन्ति वाचमेवं
अयु सो पाण्डवशैलराजवासी ॥755॥

कितने ही (लोगों) ने कहा (ये) चन्द्र या सूर्य हैं, उसी तरह (औरों ने कहा कि ये) राहु, बलि, या वेमचित्री (असुर पुत्र) हैं, कुछ (लोगों) ने यों बात कही कि ये वे हैं जो पाण्डव शैलराज पर ठहरे हुए हैं।

वचनमिमु शुणित्व पार्थिवोऽसौ
परमउदग्रमना स्थितो गवाक्षे।
प्रेक्षति वरसत्त्व बोधिसत्त्वं
ज्वलतु शिरीय सुधातुकाञ्चनं वा ॥756॥

वे पृथिवीपति यह बात सुन कर, मन में अत्यन्त उल्लसित होकर खिड़की के पास खड़े हो शोधित सुवर्ण-धातु की भाँति श्री से जाज्वल्यमान उत्तम चित्त के बोधिसत्त्व को देखने लगे।

पिण्ड ददिय राज बिम्ब (?म्बि) सारः
पुरुषमवोचन्निरीक्ष क्व प्रयाति।
दृष्ट्व गिरिवरं स गच्छमानो
अवचिषु देव गतः स शैलपार्श्वं ॥757॥

राजा बिम्बिसार ने भिक्षा देकर आदमी को (भेजा) और कहा देखना (ये) कहाँ जाते हैं ? उत्तम पर्वत की ओर जाता (उन्हें) देख (उसने) कहा—हे देव, वे पर्वत के पास गए हैं।

रजनि विगतु ज्ञात्व बिम्बिसारो
महत जनैः परिवारितो नरेन्द्रः।
उपगमि पाण्डवशैलराजमूले
शिरिय ज्वलन्तु तमदृशाति शैलं ॥758॥

रजनी बीती जान कर, नरेन्द्र बिम्बसार बहुत लोगों से घिरे हुए पाण्डव शैलराज की तलहटी मे पहुँचे और उस पर्वत को श्री से जाज्वल्यमान देखा ।

=177ख=[3] चरणि व्रजितु[3] यानि ओरुहित्व।
परमसुगौरव प्रेक्षि बोधिसत्वं ।
मेरुरिव यथा ह्यकम्प्यमानो
न्यसिय तृणानि निषण्ण सोस्तिकेन ॥759॥

(वे) रथ से उतर कर पाँव-पाँव गए, (और) सुमेरु की भाँति अचंचल, तृण बिछाकर पलथी मार कर बैठे हुए बोधिसत्त्व को अत्यन्त उत्तम गौरव के साथ देखा ।

शिरसि चरणि वन्दयित्व राजा।
विविधकथां समुदाहरित्ववोचत् ।
ददमि तव उपार्धु सर्वराज्याद्
रम इह कामगुणैरहं[4] म पिण्डं[4] ॥760॥

सिरसे चरणों की वन्दना कर, विविध प्रकार की बातचीत कर, राजा बोले—मैं तुम्हें (अपने) समूचे राज्य का आधा देता हूँ, यहाँ काम-गुणो का सुख भोगो, (पिण्डचर्या) मत (करो) ।

प्रभणति गिरि बोधिसत्व श्लक्ष्णं
धरणिपते चिरमायु पालयस्व ।
अहमपि प्रविजह्य राज्यमिष्टं
प्रव्रजितो निरपेक्षि शान्तिहेतोः ॥761॥

बोधिसत्व ने स्नेह—वचन से उत्तर दिया—हे पृथिवीपते, दीर्घ आयु तक (प्रजा—) पालन करो । मैं भी प्रिय राज्य को छोड़, ममता को त्याग, शान्ति के लिए प्रव्रजित हुआ हूँ ।

दहरु तरुण यौवनैरुपेतः
शुभतनुवर्णनिभोऽसि वेगप्राप्तः ।
विपुलधन प्रतीच्छ नारिसंघं
इह मम राज्यि वसाहि भुङ्क्ष्व कामां ॥762॥

3...3. मूल, धरणि व्रजितु । पठनीय, चरणि व्रजितु । तुलनीय भोट, कंङ् क्यिस् सोङ् ।
4...4. मूल, च पिण्डं । पठनीय, म पिण्डं (=मा पिण्डं चर) । तुलनीय भोट, मह् फ्यन् (=मा भ्रम, मा चर पिण्डमिति शेषः) ।

छोटे हो, कच्ची उमर के हो, जवानी से भरे हो, शरीर का रूप-रंग क्या ही सुन्दर है, फुर्तीले हो, बहुत सी धन-दौलत और महिलागण को स्वीकार करो, यहाँ मेरे राज्य में बस जाओ, और काम (—सुख) भोगो।

परमप्रमुदितोऽस्मि दर्शनात् ते
ऽवचिषु स मागधराज बोधिसत्त्वं।
भवहि मम सहायु सर्वराज्यं
अहु तव दास्यि प्रभूत भुङ्क्ष्व कामां ॥763॥

मागधों के राजा बोधिसत्त्व से बोले—तुम्हारे दर्शन से परम प्रसन्न हुआ हूँ, सम्पूर्ण राज-काज मे मेरे सहायक रहो, मै तुम्हे बहुत-कुछ दूँगा, काम (—सुख) भोगो।

मा च पुन वने वसाहि शून्ये
म भुयु तृणेषु वसाहि भूमिवासं।
परमसुकुमार तुभ्य कायो
इह मम राज्यि वसाहि भुङ्क्ष्व कामां ॥764॥

सूने बन में अब और वास न करो, धरती पर बिछे तृणो पर अब और निवास न करो, तुम्हारा शरीर अत्यन्त सुकुमार है, यहाँ मेरे राज्य में बस जाओ, काम (—सुख) भोगो।

(–242–) प्रभणति गिरि बोधिसत्त्व श्लक्ष्णं
अकुटिल प्रेमणिया हिताऽनुकम्पी।
स्वस्ति धरणिपाल तेऽस्तु नित्यं
न च अहु काम गुणेभिरर्थिकोऽस्मि ॥765॥

बोधिसत्त्व ने सीधी-सादी, प्रेमभरी, हितकारिणी, दयापूर्ण, स्नेहमयी वाणी में उत्तर दिया—हे पृथिवीपालक, तुम्हारा नित्य कल्याण हो, मैं कामगुणों का प्रार्थी नही हूँ।

काम विषसमा अनन्तदोषा
=178क= नरक प्रपातन प्रेततिर्यग्योनौ।
विदुभि विगर्हित चाप्यनार्य कामा
जहित मया यथ पक्वखेटपिण्डं ॥766॥

काम विष-जैसे है, अनन्त दोषों से भरे है, नरक, प्रेत, तथा पशुपक्षियों की योनि में गिराने वाले है, विद्वानों द्वारा निन्दित हैं, और अनार्य हैं। पके हुए कफ के पिंड की भांति मैंने कामों को थूक दिया है।

काम द्रुमफला यथा पतन्ती
यथमिव अभ्र वलाहका व्रजन्ती ।
अध्रुव चपलगामि मारुतं वा
विकिरण सर्वशुभस्य वञ्चनीया ॥767॥

काम पेड़ में लगे फलों की भाँति पतनशील है, आकाश मे मेघों जैसे चलनशील है, पवन के समान अस्थिर एवं चंचल गति के हैं, सब शुभों को बिखरा देने वाले तथा छलने वाले हैं ।

काम अलभमान दह्यन्ते
तथ अपि लब्धु न तृप्ति विन्दयन्ती ।
यद पुन अवश्य भक्ष्यन्ते
तद महद्दुःख जनेन्ति घोर कामाः ॥768॥

काम न मिलने पर जलन पैदा करते हैं, मिलने पर भी सन्तोष नही लेने देते । जब (अपने) वश में न रह कर क्रूर काम (कामभोगी को) खाने लगते हैं, तब बड़ा दुःख देते हैं ।

काम धरणिपाल ये च दिव्या
तथ अपि मानुष काम ये प्रणीता ।
एकु नरु लभेत सर्वकामां
न च सो तृप्ति लभेत भूयु एषन् ॥769

हे पृथिवीपालक, जो देवलोक के काम है, तथा जो मनुष्य लोक के उत्तम काम है, (उन) सब कामो को यदि एक पुरुष पा जाए, तो भी उसे तृप्तिलाभ न होगा। (क्योंकि वह) और अधिक की खोज करने लगेगा ।

ये तु धरणिपाल शान्त दान्ता
आर्य अनाश्रव धर्मपूर्णसंज्ञा ।
प्रज्ञविदुष तृप्त ये सुतृप्ता
न च पुन कामगुणेषु काचि तृप्तिः ॥770॥

हे पृथिवीपालिक, जो शान्त है, विनीत हैं, आर्य हैं अर्थात् संसारी लोगों से ऊपर उठे हुए हैं, अनास्रव है अर्थात् निर्मल है, धर्म से भरी हुई जिनकी संज्ञा (=समझ) है, जो ज्ञान की कुशलता से तृप्त हैं, वे सचमुच तृप्त हैं, कामगुणों में तो कुछ भी तृप्ति नही है ।

काम धरणिपाल सेवमाना।
पुरिम न विद्यति कोटि संस्कृतस्य।
लवणजल यथा हि नार पित्वा
भुयु तृष वर्धति काम सेवमाने ॥771॥

हे पृथिवीपालक, कामभोग भोगते हुए (इस) बनावटी जगत् की पूर्वकोटि का—पहले छोर का पता नही है। खारा पानी पीकर आदमी की प्यास जैसे और बढ़ती है, (वैसे) कामभोग भोगने वाले की तृष्णा और बढ़ती है।

अपि च धरणिपाल पश्य कायं
अध्रुवमसारकु दुःखयन्त्रमेतत्।
नवभि व्रणमुखैः सदा श्रवन्तं
न मम नराधिप कामछन्दरागः ॥772॥

हे पृथिवीपालक, निगाह तो डालो इस शरीर पर। (यह) न टिकने वाला है, इसमें कुछ भी सार नही है, यह दुःख का यन्त्र है, नौ व्रण जैसे द्वारों से सदा बहता रहता है। हे नरेन्द्र, कामो मे मेरा अनुराग-भाव नही है।

अहमपि विपुलां विजह्य कामां
तथपि च =178ख= इस्त्रिसहस्र दर्शनीयां।
अनभिरतु भवेषु निर्गतोऽहं
परमशिवां वरबोधि प्राप्तुकामः ॥773॥

मैं भी बहुत-बहुत कामों को, तथा दर्शनीय सहस्रों स्त्रियों को, छोड़कर, संसार में मन न लगने से (घर से) बाहर निकला हूँ। मैं परम-कल्याणमयी उत्तम बोधि को प्राप्त करना चाहता हूँ।

राजा बोले—

कतम दिशि कुतोऽऽगतोऽसि भिक्षो
क्व च तव जन्म क्व ते पिता क्व माता।
क्षत्रिय अथ ब्राह्मणोऽथ राजा
परिकथ भिक्षु यदी न भारसंज्ञा ॥774॥

हे भिक्षो, किस दिशा से कहाँ से आए हो ? कहाँ तुम्हारा जन्म हुआ है ? पिता कहाँ है ? माता कहाँ है ? क्षत्रिय हो, अथवा ब्राह्मण हो, अथवा राजा हो ? हे भिक्षो, यदि भार न जान पड़े तो सब कुछ कहो।

बोधिसत्व बोले—

श्रुतु ति धरणिपाल शाकियानां
कपिलपुरं परमं सु-ऋद्धि-स्फीतं।
पितु मम शुद्धोदनेति नाम्ना
तनु[5] अहु प्रव्रजितो गुणाभिलाषी ॥775॥

हे पृथिवी पालक, शाक्यों के अत्यन्त सुन्दर धनधान्य संपन्न कपिलपुर (का नाम) तुमने सुना होगा। नाम से मेरे पिता शुद्धोदन (कहलाते) हैं। गुणों का अभिलाषी मैं वही से प्रव्रजित हुआ हूँ।

राजा बोले—

साधु तव सुदृष्ट दर्शनं ते
यनु[6] तव जन्म वयं पि तस्य शिष्याः।
अपि च मम क्षमस्व आशयेन
यमपि निमन्त्रितु काम वीतरागो ॥776॥

वाह, तुम्हारा दर्शन शुभदर्शन है, जिनसे तुम्हारा जन्म हुआ है, उनके ही हम शिष्य है। और क्या, हृदय से मुझे क्षमा करो, जो वीतराग को कामों से निमंत्रित किया।

यदि त्वय अनुप्राप्तु भोति बोधिः
तद मम सेति भोति, धर्मस्वामि।
अपि च मम पुरा सुलब्ध लाभा
मम विजिते वससीह यत्स्वयंभो ॥777॥

जब बोधि तुम पा चुकोगे तब वह मेरी (भी) होगी (उसमे मेरा भी अंश होगा) हे धर्मस्वामिन्, हे स्वयंभू, और क्या, मेरे राज्य में यहाँ बसोगे, तो मेरे लिए लाभों का सुलभ होगा।

5. तनु शब्द संभवतः ततः (=ततो=ततु=तनु) अथवा ततोनु शब्द का विकार है। भोट में इसका उल्था देर् (=तत्र) शब्द से हुआ है। द्रष्टव्य अनन्तर की टिप्पणी 6।
6. यनु वस्तुतः यतः (=यतो=यतु=यनु) अथवा यतोनु का अपभ्रंश है। भोटानुवाद में गङ् लस् शब्द है, जो ठीक-ठीक यतः का प्रतिनिधि है। इससे पूर्व के तनु शब्द का उद्‌गम इसी प्रकार ततः है। यद्यपि वह देर् (=तक) भोट-शब्द से उतना स्पष्ट नही है।

पुनरपि चरणानि वन्दयित्वा
कृत्वा प्रदक्षिणु गौरवेण राजा।
स्वकजनपरिवारितो नरेन्द्रः
पुनरपि राजगृहं अनुप्रविष्टः ॥778॥

गौरव से फिर चरणों मे वन्दना कर, प्रदक्षिणा कर, अपने लोगों से घिरे हुए, राजा ने फिर राजगृह में प्रवेश किया।

मगधपुरि प्रवेशि लोकनाथो
विहरिय शान्तमनो यथाभिप्रायं।
अर्थ करिय देवमानुषाणां
उपगमि तीरु निरञ्जनां नरेन्द्रः ॥779॥[7]

मगधपुर में प्रवेश कर, इच्छानुसार शान्त मन से विहरण कर, देवताओं और मनुष्यों का प्रयोजन पूर्ण कर, लोकनाथ मनुष्यों के स्वामी निरञ्जना नदी के तीर पर पहुँचे।

॥ इति श्री ललितविस्तरे बिम्बिसारोपसंक्रमणपरिवर्तो
नाम षोडशोऽध्यायः ॥

■

7. इस परिवर्त मे आई हुई गाथाओं की छाया यों है—
अथ विमलानन्ततेजोधरो हि स्वयमिह प्रव्रज्य बोधिसत्त्वः। शान्तमना दान्त ईर्यावान् विहरति पाण्डवशैलराजपार्श्वे ॥747॥ रजनी विगतां ज्ञात्वा बोधिसत्त्वः परमसुदर्शनीयं निवास्य। पात्रं प्रतिगृह्य नीचमनः (नम्रमनाः) प्रविशति राजगृहं स पिण्डपाताय ॥748॥ कनकमिव सुधालुजातरूपं कवचितं लक्षणत्रिंशता द्वाभ्यां च। नरगणस्तथा नार्यः प्रेक्षमाणा न च भवन्ति क्वचित् (=कथमपि) तृप्ता दर्शनेन ॥749॥ वीथ्यां रचितो रत्नवस्त्रैः षायैर् अपश्रीर् जनो याति पृष्ठतोऽस्य। कोऽन्वयदृष्टपूर्वसत्त्वो यस्य प्रभया पुरं विभाति सर्वम् ॥750॥ उपरि स्थित्वा नारीणां सहस्राणि तथैव द्वारे तथैव वातायने। रथ्या भरितवन्ति गेहान् शून्यान् कृत्वा नखरं प्रेक्षितुं वान्य् अनन्यकर्माणि ॥751॥ न च भूयः क्रयविक्रयं कुर्वंति न च पुनः सौण्डाः पिबन्ति मद्यपानम्। न च गृहे न च वीथ्यां रमन्ते पुरुषनरस्य निरीक्षमाणा रूपम् ॥752॥ पुरुषास्त्वरिता अगच्छन् राजगेहम्, अवोचंस्ते राजानं बिम्बिसारं तुष्टाः। देव परमास्त्वया लब्धा लाभाःस्वयमिह ब्रह्म।

बोधिसत्व बोले—

श्रुतु ति धरणिपाल शाकियानां
कपिलपुरं परमं सु-ऋद्धि-स्फीतं।
पितु मम शुद्धोदनेति नाम्ना
तनु[5] अहु प्रव्रजितो गुणाभिलाषी ॥775॥

हे पृथिवी पालक, शाक्यों के अत्यन्त सुन्दर धनधान्य संपन्न कपिलपुर (का नाम) तुमने सुना होगा। नाम से मेरे पिता शुद्धोदन (कहलाते) हैं। गुणों का अभिलाषी मैं वही से प्रव्रजित हुआ हूँ।

राजा बोले—

साधु तव सुदृष्ट दर्शनं ते
यतु[6] तव जन्म वयं पि तस्य शिष्याः।
अपि च मम क्षमस्व आशयेन
यमपि निमन्त्रितु काम वीतरागो ॥776॥

वाह, तुम्हारा दर्शन शुभदर्शन है, जिनसे तुम्हारा जन्म हुआ है, उनके ही हम शिष्य है। और क्या, हृदय से मुझे क्षमा करो, जो वीतराग को कामों से निमत्रित किया।

यदि त्वय अनुप्राप्तु भोति बोधिः
तद मम सेति भोति, धर्मस्वामि।
अपि च मम पुरा सुलब्ध लाभा
मम विजिते वससीह यत्स्वयंभो ॥777॥

जब बोधि तुम पा चुकोगे तब वह मेरी (भी) होगी (उसमे मेरा भी अंश होगा) हे धर्मस्वामिन्, हे स्वयंभू, और क्या, मेरे राज्य मे यहाँ बसोगे, तो मेरे लिए लाभों का सुलभ होगा।

5. तनु शब्द संभवतः ततः (=ततो=ततु=तनु) अथवा ततोनु शब्द का विकार है। भोट में इसका उल्था देर् (=तत्र) शब्द से हुआ है। द्रष्टव्य अनन्तर की टिप्पणी 6।
6. यनु वस्तुतः यतः (=यतो=यतु=यनु) अथवा यतोनु का अप्रभ्रंश है। भोटानुवाद मे गङ् ल्स् शब्द है, जो ठीक-ठीक यतः का प्रतिनिधि है। इससे पूर्व के तनु शब्द का उद्गम इसी प्रकार ततः है। यद्यपि वह देर् (=तक) भोट-शब्द से उतना स्पष्ट नही है।

पुनरपि चरणानि वन्दयित्वा
कृत्वा प्रदक्षिणु गौरवेण राजा।
स्वकजनपरिवारितो नरेन्द्रः
पुनरपि राजगृहं अनुप्रविष्टः ॥778॥

गौरव से फिर चरणों मे वन्दना कर, प्रदक्षिणा कर, अपने लोगों से घिरे हुए, राजा ने फिर राजगृह मे प्रवेश किया।

मगधपुरि प्रवेशि लोकनाथो
विहरिय शान्तमना यथाभिप्रायं।
अर्थं करिय देवमानुषाणां
उपगमि तीर निरञ्जनां नरेन्द्रः ॥779॥[7]

मगधपुर में प्रवेश कर, इच्छानुसार शान्त मन से विहरण कर, देवताओं और मनुष्यों का प्रयोजन पूर्ण कर, लोकनाथ मनुष्यों के स्वामी निरञ्जना नदी के तीर पर पहुँचे।

॥ इति श्री ललितविस्तरे बिम्बिसारोपसंक्रमणपरिवर्तो
नाम षोडशोऽध्यायः ॥

■

7. इस परिवर्त मे आई हुई गाथाओं की छाया यों है—
अथ विमलानन्ततेजोधरो हि स्वयमिह प्रव्रज्य बोधिसत्त्वः। शान्तमना दान्त ईर्यावान् विहरति पाण्डवशैलराजपार्श्वे ॥747॥ रजनी विगतां ज्ञात्वा बोधिसत्त्वः परमसुदर्शनीयं निवास्य। पात्रं प्रतिगृह्य नीचमनः (नम्रमनाः) प्रविशति राजगृहं स पिण्डपाताय ॥748॥ कनकमिव सुधातुजातरूपं कवचितं लक्षणत्रिंशता द्वाभ्यां च। नरगणस्तथा नार्यः प्रेक्षमाणा न च भवन्ति क्वचित् (=कथमपि) तृप्ता दर्शनेन ॥749॥ वीथ्यां रचितो रत्नवस्त्रैः धार्यैर् अपश्रीर् जनो याति पृष्ठतोऽस्य। कोऽन्वयदृष्टपूर्वसत्त्वो यस्य प्रभया पुरं विभाति सर्वम् ॥750॥ उपरि स्थित्वा नारीणां सहस्राणि तथैव द्वारे तथैव वातायने। रथ्या भरितवन्ति गेहान् शून्यान् कृत्वा नखरं प्रेक्षितुं वान्य् अनन्यकर्माणि ॥751॥ न च भूयः क्रयविक्रयं कुर्वन्ति न च पुनः सौण्डाः पिबन्ति मद्यपानम्। न च गृहे न च वीथ्यां रमन्ते पुरुषनरस्य निरीक्षमाणा रूपम् ॥752॥ पुरुषास्त्वरिता अगच्छन् राजगेहम्, अवोचंस्ते राजानं बिम्बिसारं तुष्टाः। देव परमास्त्वया लब्धा लाभाःस्वयमिह ब्रह्मा

पुरे चरति पिण्डम् ॥753॥ केचिद् अवोचन् छक्रो देवराजः, अपरे भणन्ति सुयामो देवपुत्रः । तथापि संतुषितं वा निर्मितश्च, अपरे भणन्ति सुनिर्मित एष देवः ॥754॥ केचित् पुनर्भणन्ति चन्द्रसूर्यौ, तथापि च राहुर्बलिश्च वेमचित्री । केचित्पुनर् भणन्ति वाचमेवम् अयं स पाण्डवशैलराजवासी ॥755॥ वचनमिदं श्रुत्वा पार्थिवोऽसौ परमोदप्रमताः स्थितो गवाक्षे प्रेक्षते वरसत्वं बोधिसत्वं ज्वलन्तं श्रिया सुधातुकाञ्चनमिव (यथाऽन्तं वा उपमा-वाचकः) 756॥ पिण्डं दत्वा राजा बिम्बिसारः पुरुषमवोचन्निरीक्षस्व क्व प्रयाति । दृष्ट्वा गिरिवरं तं गच्छन्तम् अवोचद् देव गतः स शैलपार्श्वम् ॥757॥ रजनी विगतां ज्ञात्वा बिम्बिसारो महद्भिर्जनैः परिवारितो नरेन्द्रः । उपागमत् पाण्डवशैलराजमूलं श्रिया ज्वलन्तं तम् अदर्शच् छैलम् ॥758॥ चरणाभ्यां व्रजितो यानादवरुह्य परमसुगौरवेण प्रेक्षिष्ट बोधि-सत्वम् । मेरुमिव यथा ह्यकम्प्यमानो न्यस्य तृणानि निषण्णं स्वस्तिकेन (=पर्यङ्कबन्धेन) ॥759॥ शिरसा चरणयोः वन्दित्वा राजा विविधकथा समुदाहृत्यावोचत् । ददामि तवोपार्धं सर्वराज्याद् रमस्वेह कामगुणैर् अहं मा पिण्डं (चर इति शेषः) ॥760॥ प्रभणति गिर बोधिसत्त्वः श्लक्ष्णां धरणी-पते चिरमायुः पालयस्व । अहमपि प्रविहाय राज्यमिष्टं प्रव्रजितो निरपेक्षः शान्तिहेतो. ॥761॥ दहरस्तरूणो यौवनैरुपेतः शुभतनुवर्णनिभोऽसि वेग-प्राप्तः । पिपुलधनं प्रतीच्छ नारीसंघम् इह मम राज्ये वस भुङ्क्ष्व कामान् ॥762॥ परमप्रमुदितोऽस्मि दर्शनात्तेऽवोचत्स मागधराजो बोधिसत्त्वम् । भव मम सहायः सर्वराज्ये ऽहं तव दास्यामि प्रभूतं भुङ्क्ष्व कामान् ॥763॥ मा च पुनर्वने वस शून्ये मा भूयस्तृणेषु वस भूमिवासम् । परमसुकुमारस्तव काय इह मम राज्ये बस भुङ्क्ष्व कामान् ॥764॥ प्रभणति गिरं बोधिसत्त्वः श्लक्ष्णाम् अकुटिलां प्रीणनीयां हितामनुकम्पिनीम् । स्वस्ति धरणीपाल तेऽस्तु नित्यं न चाह कामगुणैरर्थिकोऽस्मि ॥765॥ कामा विषमा अनन्तदोषा प्रपातना नरक-प्रेत-तिर्यग्योनौ । बिद्वद्भिर् विगर्हिताश् चाप्यनार्याः कामा हता मया यथा पक्वखेटपिण्डः ॥766॥ कामा द्रुमफलानि यथा पतन्ति यथैवाभ्रे बलाहका व्रजन्ति । अध्रुवाश् चपलगामिनो मारुतो वा (=इव) विकिरणाः सर्वशुभस्य वञ्चनकाः ॥767॥ कामा अलभ्यमाना दाहयन्ति तथापि लब्धा न तृप्तिं विन्दयन्ति । यदा पुनर् अवश्या भक्षयन्ति तदा महादुःखं जनयन्ति घोराः कामाः ॥768॥ कामा धरणीपाल ये च दिव्या तथापि मानुषाः कामा ये प्रणीताः (उत्तमाः) । एको नरो लभेत सर्वकामान् न च स तृप्ति लभेत भूय एषमाणः ॥769॥ ये तु धरणीपाल शान्ता दान्ता

आर्या अनास्रवा धर्मपूर्णसंज्ञाः । प्रज्ञावैदुष्येण तृप्तास्ते सुतृप्ता न च पुनः कामगुणेषु काचित् तृप्तिः ॥770॥ कामान् धरणीपाल सेवमानस्य पूर्वा कोटिर्न विद्यते संस्कृतस्य । लवणजलं यथा हि नरस्य पीत्वा भूयस्तृड् वर्धते कामान् सेवमानस्य ॥771॥ अपि च धरणीपाल, पश्य कायम् अध्रुवम-सारकं दुःखयन्त्रमेतम् । नवभिर् व्रणमुखैः सदा स्रवन्तं न मम नराधिप काम-छन्दरामः ॥772॥ अहमपि विपुलान् विहाय कामास् तथापि च स्त्रीसहस्राणि दर्शनीयानि । अनभिरतो भवेषु निर्गतोऽहं परमशिवां वरबोधिं प्राप्तुकामः ॥773॥ कतमस्या दिशः कुतः (स्थानाद् इति शेषः) आगतोऽसि भिक्षो क्व च तव जन्म क्व ते पिता क्व माता । क्षत्रियोऽथ ब्राह्मणोऽथ राजा परिकथय भिक्षो यदि न भारसंज्ञा ॥774॥ श्रुतं ते धरणीपाल शाक्यानां कपिलपुरं परमं स्वृद्धि (सु-ऋद्धि) स्फीतम् । पिता मम शुद्धोदन इति नाम्ना (प्रसिद्ध इतिशेष) ततोऽहं प्रव्रजितो गुणाभिलाषी ॥775॥ साधु तव सुदृष्टं दर्शनं ते यतस्तव जन्म वयमपि तस्य शिष्याः । अपि च मां क्षमस्वाशयेन यदपि निमन्त्रितः कामैर्वीतरागः ॥776॥ यदा त्वयानुप्राप्ता भवति बोधिस्तदा मम सा-इति भवति, धर्मस्वामिन् । अपि च मम पुरा सुलब्धा लाभा मम विजिते वससीह यत् स्वयंभूः ॥777॥ पुनरपि चरणौ वन्दित्वा कृत्वा प्रद-क्षिणां गौरवेण राजा । स्वकजनपरिवारितो नरेन्द्रः पुनरपि राजगृहमनु-प्रविष्टः ॥778॥ मगधपुरं प्रविश्य लोकनाथो विहृत्य शान्तमना यथाभि-प्रायम् । अर्थं कृत्वा देवमानुषाणाम् उपागमत् तीरं निरञ्जनाया नरेन्द्रः ॥779॥

॥ १७ ॥

॥ दुष्करचर्यापरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 243 (पंक्ति 15)—260 (पंक्ति 16)
भोटानुवाद 178ख (पंक्ति 7)—192ख (पंक्ति 2)

॥ १७ ॥

॥ दुष्करचर्यापरिवर्त ॥

1. ❀हे भिक्षुओं, =179क= उस समय रामपुत्र रुद्रक नाम के (ऋषि) राजगृह महानगर के पास बासा बना सात सौ शिष्यों के महाशिष्यसंघ के साथ निवास कर रहे थे। वे उनको नैवसंज्ञानासंज्ञायतन (नामक ध्यान) के सहव्रत (=अनुकूलव्रत) का धर्मोपदेश करते थे। हे भिक्षुओं, राजपुत्र रुद्रक को गणमें गणधर, गण का आचार्य, विख्यात, (सब का) इष्ट, बहुजन पूजित तथा पंडितों द्वारा माना गया देख बोधिसत्त्व के मन में यह बात आई—ये राजपुत्र रुद्रक गण में गणधर, गण के आचार्य। (सब के) इष्ट तथा पडितों द्वारा माने हुए हैं, यदि (–244–) मै इनके पास पहुँच कर व्रत और तप करने लगूँ, तो मेरे पास की विशेषता को ये न समझेंगे, और न संस्कृत (बनावटी) सास्रव (रागादि क्लेश-युक्त) सोपादान (बंधनसहित) ध्यान एवं समाधियों की समापत्तियों (योगप्राप्ति की अनुभूतियों) को प्रत्यक्षज्ञान से जाना जा सकेगा और न उनका दोष कहा जा सकेगा। इससे मुझे वैसा उपाय करना चाहिए कि जिससे इनका प्रत्यक्ष हो और ध्यानगोचर (ध्यान के विषयभूत)—समपत्यालम्बन (योगप्राप्ति को अनुभूतियों की आधार)—वाली लौकिक समाधियों की =179ख= अनिःसरणता अर्थात् संसार से उद्धार न कर सकने की प्रकृति को दिखाया जा सके। इसलिए मैं रामपुत्र रुद्रक के पास जाकर अपने समाधिगुण की विशेषता को प्रकट करने के लिए (उनकी) शिष्यता स्वीकार कर संस्कृत (बनावटी) समाधियों की असारता दिखाऊँ।

2. हे भिक्षुओं, इसके बाद इस प्रयोजन के वश से बोधिसत्त्व जहाँ रामपुत्र रुद्रक थे, वहाँ पहुँच कर, रामपुत्र रुद्रक बोले—हे मार्ष (सुहृद) तुम्हारा शास्ता (गुरु) कौन है? किसके उपदेशित धर्म को पूरा-पूरा जानते हो?

❀ पालि में दुष्करचर्या परिवर्त की बहुत सी वर्णना=वस्तु मज्झिमनिकाय के महासीहनादसुत्त (मूलपण्णासक, सुत्त 12) महासच्चकसुत्त (मूलपण्णासक, सुत्त 36) कुक्कुरवतिकसुत्त (मज्झिमपण्णासक, सुत्त 7) आदि में है।

ऐसा कहने पर रामपुत्र रुद्रक बोधिसत्त्व से यों बोले। हे मार्ष (सुहृद) मेरा कोई शास्ता (गुरु) नही है। पर मैंने स्वयं ही इसका साक्षात्कार किया।

बोधिसत्त्व बोले। आपने किसका साक्षात्कार किया है? (वे) बोले—नैव-संज्ञानासंज्ञायतन-समापत्ति के मार्ग का (साक्षात्कार किया है)।

बोधिसत्त्व बोले। आपके पास से हमे [1]इस समाधि के मार्ग की अववादानु-शासनी (उपदेश और शिक्षा)[1] मिले। (वे) बोले। हाँ-हाँ, क्यो नही और अव-वाद (उपदेश) दे दिया।

3. तब बोधिसत्त्व एकान्त में जाकर पलथी मार कर बैठ गए। बैठने के साथ ही बोधिसत्त्व के पुण्यविशेष से = 180क = ज्ञानविशेष से, पूर्व (जन्मों) के सुचरित की चर्या (अभ्यास) के फलविशेष से, तथा सब समाधियो मे हुए परिचय-विशेष से उनके चित्त के वश मे होने के कारण, ध्यान-प्रधान सब लौकिक और लोकोत्तर सैकडों समापत्तियो (योग-प्राप्ति की अनुभूतियो) का अपने प्रकारों और भेदों के साथ साक्षात्कार हुआ। (–245–) तदनन्तर बोधिसत्त्व स्मृतिमान् जानते-बूझते हुए आसन से उठकर जहाँ रामपुत्र रुद्रक थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर रामपुत्र रुद्रक से यों बोले—हे मार्ष (सुहृद) क्या नैवसंज्ञानासंज्ञायतन की समापत्ति के मार्ग से ऊपर भी कुछ है? वे बोले—नहीं है।

तब बोधिसत्त्व के मन मे यह बात आई कि रुद्रक में ही श्रद्धा, वीर्य (उद्योग), स्मृति, समाधि और प्रज्ञा नहीं है, मुझमें भी श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा है।

4. तदनन्तर (किसी समय) बोधिसत्त्व रामपुत्र रुद्रक से यो बोले। हे मार्ष (सुहृद), मैंने भी उस धर्म को साक्षात् कर किया है, जिसमे तुम बढ़ चुके हो। वे बोले—इसलिए आओ, तुम और हम (दोनों) इस संघ को शिक्षा दें, और बोधिसत्त्व को समान–अर्थ मे अर्थात् अपनी बराबरी के साथ आहार-व्यवहार में तथा आचार्य के = 180ख = स्थान मे स्थापित किया। बोधिसत्त्व बोले—हे मार्ष (सुहृद), यह मार्ग निवृत्ति के लिऐ नही है, विराग के लिए नही है, निरोध के लिए नही है, उपशम (शान्ति) के लिए नही है, अभिज्ञा (उत्तम-ज्ञान) के लिए नहीं है, संबोधि (उत्तम बूझ) के लिए नही है, श्रमणभाव के लिए नही है, ब्राह्मणभाव के लिए नही है, निर्वाण के लिए नही है।

1....1. मूल, अववादानुशासनीयस्य समाधेमार्गं (= अववदादानुशासनीय्–अस्य समाधेर्मार्गस्य) पाठान्तर में य् के स्थान मे म् भी है। तुलनीय भोट, तिङ् ङे जिन् ग्यि लम् ग्यि गुदमुस् ङग् दङ् र्जेस् सु र्स्तन् प (= समाधेर् मार्गस्य अववादम् अनुशासनी च)।

हे भिक्षुओं, इस प्रकार शिष्यों के सहित रामपुत्र रुद्रक का[2] अनुनय-विनय कर[2], बस-बस इतना भर बहुत है, पर इससे मेरा (प्रयोजन सिद्ध) नहीं होता, ऐसा (कह) चल पड़े।

5. उस समय पाँच भद्रवर्गीय रामपुत्र रुद्रक के पास ब्रह्मचर्य का आचरण करते थे। उनके मन में यह बात आई कि जिस प्रयोजन के लिए हम बहुत समय से लगे हुए हैं, उद्योग कर रहे हैं, पर उसका ओर-छोर नहीं प्राप्त कर पा रहे हैं, उसका श्रमण गौतम ने थोड़े प्रयास से लाभ कर साक्षात्कार कर लिया है। पर वह उनको पसन्द नहीं है। और भी ऊपर की खोज कर रहे हैं, निश्चय ही ये लोक के शास्ता (गुरु) होंगे। जिस (तत्त्व) का ये साक्षात्कार करेंगे, उसका अंश हमें भी देंगे। ऐसा सोच कर पाँचों भद्रवर्गीय रामपुत्र रुद्रक के पास से अलग होकर बोधिसत्त्व के पीछे हो लिए।

(-246-) हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व राजगृह में इच्छानुसार विहरण कर पाँचों =181क= भद्रवर्गीयों के साथ मगधदेश में चारिका के लिए चल पड़े।

उस समय राजगृह और गया के बीच जो-एक गण उत्सव मना रहा था, उस गण ने बोधिसत्त्व को पाँचों भद्रवर्गीयों के साथ निवास और भोजन के लिए निमंत्रित किया।

6. हे भिक्षुओं, तदनन्तर बोधिसत्त्व मगधदेश में चारिका करते हुए जहाँ मागध-लोगों की गया है, उसकी ओर चल कर, वहाँ पहुँच गए। हे भिक्षुओं, वहाँ भी बोधिसत्त्व प्रहाणार्थी (=कामभोग के परिवर्जन के अभिलाषी) गयाशीर्ष पर्वत पर विहरण करते थे। वहाँ पर विहरण करते हुए उन्हें तीन उपमाएँ सूझी, जिन्हें पहले न किसी ने सुना था और न जाना था। कौन सी तीन ? जो कोई श्रमण और ब्राह्मण कामों से अपना शरीर बिना खींचे विहरण करते हैं; कामों से अपना मन बिना खींचे विहरण करते हैं; और जो कामों में उनकी रति, कामों में प्रेम, कामों में अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामों में पिपासा, कामों में उन्माद, कामों के निमित्त जलन एवं कामों में उत्कण्ठा है, वह भी

2...2) आवर्जनीकृत्वा। प्रो० एड्जेर्टन् का सुझाव है कि आवर्जनां कृत्वा पाठ करना चाहिए क्योंकि रुद्रकस्य रामपुत्रस्य सशिष्यस्यावर्जनीकृत्वा में षष्ठी का योग ठीक नहीं बैठता, साथ ही दो पाठान्तर आवर्जनां कृत्वा पाठ के समर्थक हैं (बु हा० सं० डि० पृष्ठ 107 पर आवर्जना शब्द)। भोट, ह्दुन् पर ब्यस् नस् (आवर्जनां कृत्वा) है। वस्तुतः आवर्जनी पृथक् पद है। विभक्तिहीन पद किसी भी विभक्ति में जा सकता। अतः यह उत्तम पाठ ही है।

ऐसा कहने पर रामपुत्र रुद्रक बोधिसत्त्व से यों बोले। हे मार्ष (सुहृद) मेरा कोई शास्ता (गुरु) नही है। पर मैंने स्वयं ही इसका साक्षात्कार किया।

बोधिसत्त्व बोले। आपने किसका साक्षात्कार किया है? (वे) बोले—नैव-संज्ञानासंज्ञायतन-समापत्ति के मार्ग का (साक्षात्कार किया है)।

बोधिसत्त्व बोले। आपके पास से हमें [1]इस समाधि के मार्ग की अववादानु-शासनी (उपदेश और शिक्षा)[1] मिले। (वे) बोले। हां-हां, क्यो नही और अव-वाद (उपदेश) दे दिया।

3. तब बोधिसत्त्व एकान्त में जाकर पलथी मार कर बैठ गए। बैठने के साथ ही बोधिसत्त्व के पुण्यविशेष से = 180क = ज्ञानविशेष से, पूर्व (जन्मों) के सुचरित की चर्या (अभ्यास) के फलविशेष से, तथा सब समाधियों मे हुए परिचय-विशेष से उनके चित्त के वश मे होने के कारण, ध्यान-प्रधान सब लौकिक और लोकोत्तर सैकड़ों समापत्तियो (योग-प्राप्ति की अनुभूतियो) का अपने प्रकारों और भेदों के साथ साक्षात्कार हुआ। (–245–) तदनन्तर बोधिसत्त्व स्मृतिमान् जानते-बूझते हुए आसन से उठकर जहां रामपुत्र रुद्रक थे, वहां पहुँचे। पहुँच कर रामपुत्र रुद्रक से यों बोले—हे मार्ष (सुहृद) क्या नैवसंज्ञानासंज्ञायतन की समापत्ति के मार्ग से ऊपर भी कुछ है? वे बोले—नही हैं।

तब बोधिसत्त्व के मन मे यह बात आई कि रुद्रक में ही श्रद्धा, वीर्य (उद्योग), स्मृति, समाधि और प्रज्ञा नही हैं, मुझमें भी श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा हैं।

4. तदनन्तर (किसी समय) बोधिसत्त्व रामपुत्र रुद्रक से यों बोले। हे मार्ष (सुहृद), मैंने भी उस धर्म को साक्षात् कर किया है, जिसमे तुम बढ़ चुके हो। वे बोले—इसलिए आओ, तुम और हम (दोनों) इस संघ को शिक्षा दें, और बोधिसत्त्व को समान–अर्थ मे अर्थात् अपनी बराबरी के साथ आहार-व्यवहार मे तथा आचार्य के = 180ख = स्थान मे स्थापित किया। बोधिसत्त्व बोले—हे मार्ष (सुहृद), यह मार्ग निवृत्ति के लिए नही है, विराग के लिए नही है, निरोध के लिए नही है, उपशम (शान्ति) के लिए नही है, अभिज्ञा (उत्तम-ज्ञान) के लिए नही है, संबोधि (उत्तम बूझ) के लिए नही है, श्रमणभाव के लिए नही है, ब्राह्मणभाव के लिए नही है, निर्वाण के लिए नही है।

1....1. मूल, अववादानुशासनीयस्य समाधेमार्गं (= अववदादानुशासनीय्–अस्य समाधेर्मार्गस्य) पाठान्तर में य् के स्थान मे म् भी है। तुलनीय भोट, तिङ् ङे ज़िन् ग्यि लम् ग्यि ग्दम्स् ङग् दङ् र्जेस् सु ब्स्तन् प (= समाधेर् मार्गस्य अववादम् अनुशासनी च)।

हे भिक्षुओं, इस प्रकार शिष्यों के सहित रामपुत्र रुद्रक का[2] अनुनय-विनय कर[2], बस-बस इतना भर बहुत है, पर इससे मेरा (प्रयोजन सिद्ध) नहीं होता, ऐसा (कह) चल पड़े।

5. उस समय पाँच भद्रवर्गीय रामपुत्र रुद्रक के पास ब्रह्मचर्य का आचरण करते थे। उनके मन मे यह बात आई कि जिस प्रयोजन के लिए हम बहुत समय से लगे हुए हैं, उद्योग कर रहे हैं, पर उसका ओर-छोर नही प्राप्त कर पा रहे हैं, उसका श्रमण गौतम ने थोड़े प्रयास से लाभ कर साक्षात्कार कर लिया है। पर वह उनको पसन्द नही है। और भी ऊपर की खोज कर रहे हैं, निश्चय ही ये लोक के शास्ता (गुरु) होगे। जिस (तत्त्व) का ये साक्षात्कार करेंगे, उसका अंश हमें भी देंगे। ऐसा सोच कर पाँचों भद्रवर्गीय रामपुत्र रुद्रक के पास से अलग होकर बोधिसत्त्व के पीछे हो लिए।

(-246-) हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व राजगृह मे इच्छानुसार विहरण कर पाँचों =181क= भद्रवर्गीयों के साथ मगधदेश मे चारिका के लिए चल पड़े।

उस समय राजगृह और गया के बीच जो-एक गण उत्सव मना रहा था, उस गण ने बोधिसत्त्व को पाँचों भद्रवर्गीयों के साथ निवास और भोजन के लिए निमंत्रित किया।

6. हे भिक्षुओं, तदनन्तर बोधिसत्त्व मगधदेश मे चारिका करते हुए जहाँ मागध-लोगों की गया है, उसकी ओर चल कर, वहाँ पहुँच गए। हे भिक्षुओं, वहाँ भी बोधिसत्त्व प्रहाणार्थी (=कामभोग के परिवर्जन के अभिलाषी) गयाशीर्ष पर्वत पर विहरण करते थे। वहाँ पर विहरण करते हुए उन्हे तीन उपमाएँ सूझी, जिन्हे पहले न किसी ने सुना था और न जाना था। कौन सी तीन ? जो कोई श्रमण और ब्राह्मण कामो से अपना शरीर बिना खीचे विहरण करते हैं; कामों से अपना मन बिना खीचे विहरण करते हैं; और जो कामों में उनकी रति, कामों मे प्रेम, कामों में अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामों मे पिपासा, कामों में उन्माद, कामों के निमित्त जलन एवं कामों में उत्कण्ठा है, वह भी

2...2) आवर्जनीकृत्वा। प्रो० एड्जेर्टन् का सुझाव है कि आवर्जनां कृत्वा पाठ करना चाहिए क्योंकि रुद्रकस्य रामपुत्रस्य सशिष्यस्यावर्जनीकृत्वा मे षष्ठी का योग ठीक नही बैठता, साथ ही दो पाठान्तर आवर्जनां कृत्वा पाठ के समर्थक है (बु हा० सं० डि० पृष्ठ 107 पर आवर्जना शब्द)। भोट, .ह.ढुन् पर ब्यस् नस् (आवर्जनां कृत्वा) है। वस्तुत: आवर्जनी पृथक् पद है। विभक्तिहीन पद किसी भी विभक्ति मे जा सकता। अत: यह उत्तम पाठ ही है।

शान्त नहीं हुई है; इसके अतिरिक्त अपने-आपसे की जाने वाली शरीर की तपस्या की तीव्र, कठोर, कड़ुई हृदय को न भाने वाली दुःखमयी वेदना का अनुभव करते हैं, वे मनुष्य-धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यों के ज्ञान-दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए असमर्थ ही हैं। जैसे अग्नि का प्रार्थी, ज्योति (चिनगारी) को खोजने वाला, ज्योति (चिनगारी) को खोजता हुआ आदमी =181ख= गीले काठ को लेकर गीली उत्तर-अरणि (अग्न्युत्पादक काष्ठमय यन्त्र के ऊपरी भाग) को पानी मे डाल कर मथे तो वह अग्नि के उत्पन्न करने मे तेज की चिनगारी को प्रकट करने मे असमर्थ होता है; वैसे जो ये श्रमण और ब्राह्मण कामों से अपना शरीर बिना खींचे, कामों से अपना मन बिना खींचे विहरण करते हैं; और जो कामों में उनकी रति, कामों मे प्रेम, कामों मे अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामों में पिपासा, कामों मे उन्माद, कामों के निमित्त जलन एवं कामों मे उत्कण्ठा है, वह भी शान्त नहीं हुई है; (–247) इसके अतिरिक्त अपने आपसे की जाने वाली शरीर की तपस्या की तीव्र, कठोर, कड़ुई, हृदय को न भाने वाली दुःखमयी वेदना का अनुभव करते हैं, वे मनुष्य—धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यों के ज्ञान-दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए असमर्थ ही होते हैं। यह बोधिसत्त्व को प्रथम उपमा सूझी।

7. उनके मनमे फिर यह बात आई। जो ये श्रमण और ब्राह्मण कामों से शरीर और मन को बिना खींचे विहरण करते है, और जो कामों में उनकी रति (कामों में प्रेम, कामों में अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामों में पिपासा, कामों में उन्माद, कामों के निमित्त जलन, एवं कामों में उत्कण्ठा है, वह भी शान्त नहीं हुई है; इसके अतिरिक्त अपने आप से की जाने वाली शरीर की तपस्या की तीव्र कठोर, कड़ुई, हृदय को न भाने वाली दुःखमयी वेदना का अनुभव करते हैं, वे मनुष्य-धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यो के ज्ञान-दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए असमर्थ हैं। जैसे अग्नि का प्रार्थी, ज्योति (चिनगारी) को खोजने वाला, जोति (चिनगारी) को खोजता हुआ आदमी) गोले काठ को ले कर सूखी-जमीन पर रखकर गीली उत्तर-अरणि को मथे तो वह अग्नि को उत्पन्न करने मे (तेज की चिनगारी को प्रकट करने में) असमर्थ होता है; वैसे जो ये श्रमण और ब्राह्मण [कामों से अपना शरीर बिना खींचे, कामों से अपना मन बिना खींचे विहरण करते हैं; और जो कामों में उनकी रति, कामों में प्रेम, कामों में अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामों में पिपासा, कामों में उन्माद, कामों के निमित्त जलन एवं कामों में उत्कण्ठा है, वह भी शान्त नहीं हुई है; इसके अतिरिक्त अपने आप से की जाने वाली शरीर की तपस्या की तीव्र कठोर, कड़ुई, हृदय

को न भाने वाली दुःखमयी वेदना का अनुभव करते हैं), वे =182क= मनुष्य धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यों के ज्ञान दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए असमर्थ ही होते हैं। यह दूसरी उपमा सूझी, जिसे पहले न किसी ने सुना था और न जाना था।

8. और भी। जो ये पूज्य श्रमण ब्राह्मण कामों से शरीर और मन को खीच कर विहरण करते है; और जो कामों मे उनकी रति, (कामों में प्रेम, कामों में अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामों में पिपासा, कामों में उन्माद, कामों के निमित्त जलन एवं कामों में उत्कण्ठा है) वह भी शान्त हो चुकी है, इसके अतिरिक्त अपने आप से की जाने वाली शरीर की तपस्या की तीव्र, कठोर, कड़ूई (हृदय को न भाने वाली) दुःखमयी वेदना का अनुभव करते हैं, वे मनुष्य-धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यों के ज्ञान-दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए समर्थ है। जैसे अग्नि का प्रार्थी, ज्योति (चिनगारी) को खोजने वाला, ज्योति (चिनगारी) को खोजता हुआ आदमी सूखा काठ लेकर सूखी उत्तर-अरणि को सूखी जमीन पर रख कर मथे, तो वह अग्नि को उत्पन्न करने में, तेज की चिनगारी को प्रकट करने मे समर्थ होता है; वैसे जो ये पूज्य श्रमण और ब्राह्मण (कामों से शरीर और मन को खींच कर विहरण करते हैं; और जो कामों में उनकी रति, कामों में प्रेम, कामों में अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामों में पिपासा, कामों में उन्माद, कामों के निमित्त जलन एवं कामों में उत्कण्ठा है, वह भी शान्त हो चुकी है, इसके अतिरिक्त अपने आप से की जाने वाली शरीर की तपस्या की तीव्र, कठोर, कडुई, हृदय को न भाने वाली, दुःखमयी वेदना का अनुभव करते हैं) वे मनुष्य-धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यों के ज्ञान-दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए अवश्य समर्थ हो सकते है। यह तीसरी उपमा सूझी, जिसे पहले न किसी ने सुना था और न जाना था।

9 (–248–) हे भिक्षुओं, =182ख= इसके बाद बोधिसत्त्व के मन मे यह बात आई। मै इस समय कामों से शरीर को खीच कर, मन को खीच कर विहरण करता हूँ, और जो कामों मे मेरी रति, (कामों मे प्रेम, कामों में अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामों मे पिपासा, कामों मे उन्माद, कामों के निमित्त जलन, एव कामों में उत्कण्ठा है) वह भी शान्त हो चुकी है, इसके अतिरिक्त अपने आपसे की जाने वाली शरीर की तपस्या की (तीव्र, कठोर, कड़ुई, हृदय को न भाने वाली) दुःखमयी वेदना का अनुभव करता हूँ। मै मनुष्य-धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यो के ज्ञान-दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए अवश्य समर्थ हो सकता हूँ।

10. हे भिक्षुओ, इस प्रकार बोधिसत्त्व इच्छानुसार गया मे गयाशीर्ष पर्वत

शान्त नही हुई है; इसके अतिरिक्त अपने-आपसे की जाने वाली शरीर की तपस्या की तीव्र, कठोर, कड़ुई हृदय को न भाने वाली दुःखमयी वेदना का अनुभव करने है, वे मनुष्य-धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यो के ज्ञान-दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए असमर्थ ही है। जैसे अग्नि का प्रार्थी, ज्योति (चिनगारी) को खोजने वाला, ज्योति (चिनगारी) को खोजता हुआ आदमी =181ख= गीले काठ को लेकर गीली उत्तर—अरणि (अग्न्युत्पादक काष्ठमय यन्त्र के ऊपरी भाग) को पानी मे डाल कर मथे तो वह अग्नि के उत्पन्न करने मे तेज की चिनगारी को प्रकट करने मे असमर्थ होता है; वैसे जो ये श्रमण और ब्राह्मण कामो से अपना शरीर बिना खीचे, कामो से अपना मन बिना खीचे विहरण करते है; और जो कामो में उनकी रति, कामो मे प्रेम, कामो मे अभिलाषा, कामो में तृष्णा, कामों में पिपासा, कामो मे उन्माद, कामो के निमित्त जलन एवं कामों मे उत्कण्ठा है, वह भी शान्त नही हुई है; (–247) इसके अतिरिक्त अपने आपसे की जाने वाली शरीर की तपस्या की तीव्र, कठोर, कड़ुई, हृदय को न भाने वाली दुःखमयी वेदना का अनुभव करते है, वे मनुष्य—धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यो के ज्ञान-दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए असमर्थ ही होते है। यह बोधिसत्त्व को प्रथम उपमा सूझी।

7. उनके मनमे फिर यह बात आई। जो ये श्रमण और ब्राह्मण कामों से शरीर और मन को बिना खीचे विहरण करते है, और जो कामो में उनकी रति (कामों में प्रेम, कामों में अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामों मे पिपासा, कामों में उन्माद, कामों के निमित्त जलन, एवं कामों मे उत्कण्ठा है, वह भी शान्त नहीं हुई है; इसके अतिरिक्त अपने आप से की जाने वाली शरीर की तपस्या की तीव्र कठोर, कड़ुई, हृदय को न भाने वाली दुःखमयी वेदना का अनुभव करते हैं, वे मनुष्य-धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यो के ज्ञान-दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए असमर्थ हैं। जैसे अग्नि का प्रार्थी, ज्योति (चिनगारी) को खोजने वाला, जोति (चिनगारी) को खोजता हुआ आदमी) गीले काठ को ले कर सूखी-जमीन पर रखकर गीली उत्तर-अरणि को मथे तो वह अग्नि को उत्पन्न करने मे (तेज की चिनगारी को प्रकट करने में) असमर्थ होता है; वैसे जो ये श्रमण और ब्राह्मण [कामों से अपना शरीर बिना खीचे, कामों से अपना मन बिना खींचे विहरण करते हैं; और जो कामों में उनकी रति, कामों मे प्रेम, कामों में अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामो मे पिपासा, कामों मे उन्माद, कामों के निमित्त जलन एवं कामों में उत्कण्ठा है, वह भी शान्त नहीं हुई है; इसके अतिरिक्त अपने आप से की जाने वाली शरीर की तपस्या की तीव्र कठोर, कड़ुई, हृदय

को न भाने वाली दुःखमयी वेदना का अनुभव करते हैं), वे =182क= मनुष्य धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यों के ज्ञान दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए असमर्थ ही होते हैं। यह दूसरी उपमा सूझी, जिसे पहले न किसी ने सुना था और न जाना था।

8. और भी। जो ये पूज्य श्रमण ब्राह्मण कामों से शरीर और मन को खींच कर विहरण करते हैं; और जो कामों में उनकी रति, (कामों में प्रेम, कामों में अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामों में पिपासा, कामों में उन्माद, कामों के निमित्त जलन एवं कामों में उत्कण्ठा है) वह भी शान्त हो चुकी है, इसके अतिरिक्त अपने आप से की जाने वाली शरीर की तपस्या की तीव्र, कठोर, कड़ुई (हृदय को न भाने वाली) दुःखमयी वेदना का अनुभव करते हैं, वे मनुष्य-धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यों के ज्ञान-दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए समर्थ हैं। जैसे अग्नि का प्रार्थी, ज्योति (चिनगारी) को खोजने वाला, ज्योति (चिनगारी) को खोजता हुआ आदमी सूखा काठ लेकर सूखी उत्तर-अरणि को सूखी ज़मीन पर रख कर मथे, तो वह अग्नि को उत्पन्न करने में, तेज की चिनगारी को प्रकट करने मे समर्थ होता है; वैसे जो ये पूज्य श्रमण और ब्राह्मण (कामों से शरीर और मन को खींच कर विहरण करते हैं; और जो कामों में उनकी रति, कामों में प्रेम, कामों में अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामों में पिपासा, कामों में उन्माद, कामों के निमित्त जलन एवं कामों में उत्कण्ठा है, वह भी शान्त हो चुकी है, इसके अतिरिक्त अपने आप से की जाने वाली शरीर की तपस्या की तीव्र, कठोर, कड़ुई, हृदय को न भाने वाली, दुःखमयी वेदना का अनुभव करते हैं) वे मनुष्य-धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यों के ज्ञान-दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए अवश्य समर्थ हो सकते हैं। यह तीसरी उपमा सूझी, जिसे पहले न किसी ने सुना था और न जाना था।

9 (–248–) हे भिक्षुओं, =182ख= इसके बाद बोधिसत्त्व के मन में यह बात आई। मैं इस समय कामों से शरीर को खींच कर, मन को खींच कर विहरण करता हूँ, और जो कामों में मेरी रति, (कामों में प्रेम, कामों में अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामों में पिपासा, कामों में उन्माद, कामों के निमित्त जलन, एवं कामों में उत्कण्ठा है) वह भी शान्त हो चुकी है, इसके अतिरिक्त अपने आपसे की जाने वाली शरीर की तपस्या की (तीव्र, कठोर, कड़ुई, हृदय को न भाने वाली) दुःखमयी वेदना का अनुभव करता हूँ। मैं मनुष्य-धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यों के ज्ञान-दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए अवश्य समर्थ हो सकता हूँ।

10. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व इच्छानुसार गया में गयाशीर्ष पर्वत

शान्त नही हुई है; इसके अतिरिक्त अपने-आपसे की जाने वाली शरीर की तपस्या की तीव्र, कठोर, कड़ई हृदय को न भाने वाली दुःखमयी वेदना का अनुभव करने है, वे मनुष्य-धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यो के ज्ञान-दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए असमर्थ ही है । जैसे अग्नि का प्रार्थी, ज्योति (चिनगारी) को खोजने वाला, ज्योति (चिनगारी) को खोजता हुआ आदमी =181ख= गीले काठ को लेकर गीली उत्तर–अरणि (अग्न्युत्पादक काष्ठमय यन्त्र के ऊपरी भाग) को पानी मे डाल कर मथे तो वह अग्नि के उत्पन्न करने मे तेज की चिनगारी को प्रकट करने मे असमर्थ होता है; वैसे जो ये श्रमण और ब्राह्मण कामो से अपना शरीर बिना खीचे, कामो से अपना मन बिना खीचे विहरण करते है; और जो कामो में उनकी रति, कामो मे प्रेम, कामों मे अभिलाषा, कामो में तृष्णा, कामों में पिपासा, कामों मे उन्माद, कामो के निमित्त जलन एवं कामों मे उत्कण्ठा है, वह भी शान्त नहीं हुई है; (–247) इसके अतिरिक्त अपने आपसे की जाने वाली शरीर की तपस्या की तीव्र, कठोर, कड़ई, हृदय को न भाने वाली दु खमयी वेदना का अनुभव करते है, वे मनुष्य—धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यो के ज्ञान-दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए असमर्थ ही होते है । यह बोधिसत्त्व को प्रथम उपमा सूझी ।

7. उनके मनमे फिर यह बात आई । जो ये श्रमण और ब्राह्मण कामों से शरीर और मन को बिना खीचे विहरण करते है, और जो कामो में उनकी रति (कामों में प्रेम, कामों में अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामों मे पिपासा, कामों में उन्माद, कामों के निमित्त जलन, एवं कामों मे उत्कण्ठा है, वह भी शान्त नहीं हुई है; इसके अतिरिक्त अपने आप से की जाने वाली शरीर की तपस्या की तीव्र कठोर, कडुई, हृदय को न भाने वाली दुःखमयी वेदना का अनुभव करते हैं, वे मनुष्य-धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यो के ज्ञान-दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए असमर्थ हैं । जैसे अग्नि का प्रार्थी, ज्योति (चिनगारी) को खोजने वाला, जोति (चिनगारी) को खोजता हुआ आदमी) गोले काठ को ले कर सूखी-जमीन पर रखकर गीली उत्तर-अरणि को मथे तो वह अग्नि को उत्पन्न करने मे (तेज की चिनगारी को प्रकट करने मे) असमर्थ होता है; वैसे जो ये श्रमण और ब्राह्मण [कामों से अपना शरीर बिना खीचे, कामों से अपना मन बिना खींचे विहरण करते हैं; और जो कामों मे उनकी रति, कामों में प्रेम, कामों मे अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामो में पिपासा, कामों मे उन्माद, कामों के निमित्त जलन एवं कामों में उत्कण्ठा है, वह भी शान्त नहीं हुई है; इसके अतिरिक्त अपने आप से की जाने वाली शरीर की तपस्या की तीव्र कठोर, कड़ई, हृदय

को न भाने वाली दुःखमयी वेदना का अनुभव करते हैं), वे =182क= मनुष्य धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यों के ज्ञान दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए असमर्थ ही होते है। यह दूसरी उपमा सूझी, जिसे पहले न किसी ने सुना था और न जाना था।

8. और भी। जो ये पूज्य श्रमण ब्राह्मण कामों से शरीर और मन को खींच कर विहरण करते हैं; और जो कामों में उनकी रति, (कामों में प्रेम, कामों में अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामों में पिपासा, कामों में उन्माद, कामों के निमित्त जलन एवं कामों में उत्कण्ठा है) वह भी शान्त हो चुकी हैं, इसके अतिरिक्त अपने आप से की जाने वाली शरीर की तपस्या की तीव्र, कठोर, कडुई (हृदय को न भाने वाली) दुःखमयी वेदना का अनुभव करते है, वे मनुष्य-धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यों के ज्ञान-दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए समर्थ है। जैसे अग्नि का प्रार्थी, ज्योति (चिनगारी) को खोजने वाला, ज्योति (चिनगारी) को खोजता हुआ आदमी सूखा काठ लेकर सूखी उत्तर-अरणि को सूखी जमीन पर रख कर मथे, तो वह अग्नि को उत्पन्न करने में, तेज की चिनगारी को प्रकट करने मे समर्थ होता है; वैसे जो ये पूज्य श्रमण और ब्राह्मण (कामों से शरीर और मन को खींच कर विहरण करते हैं; और जो कामों में उनकी रति, कामों में प्रेम, कामों में अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामों में पिपासा, कामों मे उन्माद, कामों के निमित्त जलन एवं कामों में उत्कण्ठा है, वह भी शान्त हो चुकी है, इसके अतिरिक्त अपने आप से की जाने वाली शरीर की तपस्या की तीव्र, कठोर, कडुई, हृदय को न भाने वाली, दुःखमयी वेदना का अनुभव करते हैं) वे मनुष्य-धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यों के ज्ञान-दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए अवश्य समर्थ हो सकते है। यह तीसरी उपमा सूझी, जिसे पहले न किसी ने सुना था और न जाना था।

9 (–248–) हे भिक्षुओ, =182ख= इसके बाद बोधिसत्त्व के मन मे यह बात आई। मैं इस समय कामों से शरीर को खींच कर, मन को खींच कर विहरण करता हूँ, और जो कामो मे मेरी रति, (कामों में प्रेम, कामों में अभिलाषा, कामों में तृष्णा, कामों में पिपासा, कामों में उन्माद, कामों के निमित्त जलन, एव कामों में उत्कण्ठा है) वह भी शान्त हो चुकी है, इसके अतिरिक्त अपने आपसे की जाने वाली शरीर की तपस्या की (तीव्र, कठोर, कडुई, हृदय को न भाने वाली) दुःखमयी वेदना का अनुभव करता हूँ। मै मनुष्य-धर्म से ऊपर पूर्ण आर्यों के ज्ञान-दर्शन की विशेषता का साक्षात्कार करने के लिए अवश्य समर्थ हो सकता हूँ।

10. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व इच्छानुसार गया मे गयाशीर्ष पर्वत

पर विहरण कर, क्रम से पाँव-पाँव चलते हुए, जहाँ उरुविल्वा (नाम का) सेनापति ग्राम था, उस ओर चल कर, वहाँ पहुँच गए। वहाँ नैरंजना नदी को देखा, जिसका जल स्वच्छ था, जिसके उपतीर्थ (घाट और पुल) सुन्दर थे, जिसके किनारे प्रसन्नता देने वाले पेड तथा (तृण और झाडियों के) झुरमुट थे, जिसके चारों ओर गोचरग्राम थे अर्थात् ऐसे ग्राम थे जहाँ भिक्षा सुलभ थी। वहाँ बोधिसत्त्व का मन अत्यन्त प्रसन्न हुआ। यह भूमि प्रदेश सम है, रमणीय है, प्रतिसंलयन अर्थात् एकान्त-ध्यान-विहार के लिए अनुकूल है, यह प्रहाणार्थी (कामभोग के परिवर्जन के अभिलाषी) के लिए पर्याप्त है, और मैं प्रहाणार्थी हूँ, क्यों न मैं यही ठहरूँ।

11. हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व के मन में यह बात आई। = 183क = मैंने जम्बूद्वीप मे (आयु के, दृष्टि के, क्लेश के, सत्त्व के, तथा कल्प के) पाँच कपायवाले (ह्रास के) समय में अवतार लिया है। हीन-अधिमुक्ति अर्थात् ओछी-रुचि वाले, तैर्थिक-वर्गो से अर्थात् नाना धर्म मत के प्रचारक गणो से व्याप्त, नाना प्रकार की दृष्टियो मे गिरे-पड़े हुए, कायपिण्डग्राह में अर्थात् शरीर ही सब कुछ है, इस धारणा मे हठ से डटे हुए प्राणियों के बीच अत्यन्त मूढ़-लोग नाना प्रकार की कष्ट साधनाओं एवं कठोर तपस्याओ द्वारा काय की शुद्धि खोजते है, (काय की शुद्धि) बतलाते है। यथा मन्त्रविचारक से (अर्थात् मंत्र-साधना से), हस्तप्रलेहक से (अर्थात् करपात्री होकर रहन से) अयाचनक से (अर्थात् बिना भिक्षा किए जो भी सुलभ हो उस पर निर्वाह करने से) अनामन्त्रण से (अर्थात् बिना सम्बोधन किए जो मिले उस पर निर्वाह करने से) अनेकमूलिक से (अर्थात् नाना प्रकार के कन्द-मूलो पर निर्वाह करने से) अमत्स्य-मांसक से (अर्थात् निरामिष भोजन से) अवार्षिक से (अर्थात् वर्षा से उत्पन्न छत्राक आदि के न सेवन करने से) सुरा तथा तुषोदक (= काञ्जी, सुवीरकपान) के परित्याग से, (नियम करके) एक, तीन, पाँच अथवा सात कुलो मे भिक्षा ग्रहण करने से, मूल के फल के शैवाल (सिवार) के, कुश के, पत्र के, गोमय (गोबर) के, गोमूत्र के, पायस (खीर) के, दधि के, सर्पिः (घृत) के, फाणित (राब) के, आमपिष्टक (कच्चे पीठे) के खान-पान से, सारस, कपोत (कबूतर आदि पक्षियो) के द्वारा कुतर कर छोड़े हुए (फल आदि) का प्रक्षालन (कर खाने) से ग्राम्यारण्यक वृत्ति से (अर्थात् गाँवों और जंगलो मे सुलभ शाक-पात, सत्तू, साँवाँ आदि अन्न द्वारा निर्वाह करने से) गोव्रत मृगव्रत (कक्कुरव्रत) वराहव्रत वानरव्रत तथा हस्तिव्रत से *, स्थान (खड़े रहने) **मौन (चुप रहने) तथा वीरासन (दाहिने पैर को

* इन पशुव्रतो मे पशुओं के स्वभाव का अनुकरण किया जाता है। जैसे-श्वव्रत

बाएँ ऊरुप्रदेश पर तथा बाएँ पैर को दाहिने ऊरु प्रदेश पर रखकर बैठने) से, (नियम बनाकर) एक आलोप (कवल) से लेकर (अधिक से अधिक) सात आलोप (कवल) खाने से[3], एक भक्त से (अर्थात् प्रतिदिन एकाहार से), एक अहोरात्र (दिन-रात) के समय के अन्तर पर (अर्थात् बीच में एक दिन छोड़ कर हर दूसरे दिन पर), चार, =183ख– पाँच या छह (अहोरात्रों के) समय के अन्तर पर (अर्थात् बीच में चार या पाँच या छह दिन रात छोड़कर प्रति पाचवें या छठे या सातवें दिन पर) भोजन करने से (–249–) पाख बिताकर अथवा मास बिताकर ***(भोजन करने एवं) चान्द्रायण व्रत से, गिद्ध या उल्लू के पंख को (मुकुट की तरह) धारण करने से, फलक अर्थात् काठ के पत्तरों के मूँज के [4]असनवल्कल (असन की छाल) के[4] कुश के, बल्वज (=बैज) के ऊँट की ऊन से बने कंबल के, बकरी के रोमों से बने कम्बल के, केशो से बने कंबल के खाल के वस्त्र पहनने से, आर्द्रपट (जल से भिगोए वस्त्र) पर आस्तोपक[5] (अर्थात्

मे घुटने और कोहनी टेक केवल जीभ के सहारे भूमि पर रखे भोजन को खाना होता है (कुक्कुरवतिको छमानिखित्त भोजनं भुञ्जति, कक्कुरव्रतिकः क्षमा (=भूमि) निक्षिप्त भोजनं भुङ्क्ते, मज्झिमनिकाय, मज्झिमपण्णासक, कुक्कुरवतिकसुत्त 7। मृगव्रत मे आदमी अपने को मानुष सम्पर्क से सर्वथा छिपा कर रखता है और घने जंगल मे इसलिए रहता है कि मनुष्य उसे कही देख न ले (मिगो मनुस्से दिस्वा वनेन वनं सपतति एवमेव अहं वनेन वनं संपतामि मा मं ते अद्दसंसु, मृगो मनुष्यान् दृष्ट्वा वनाद् वनं संपतति, एवमेवाहं वनाद् वनं सपतामि मा मं ते दर्शन्, मज्झिमनिकाय, मूलपण्णासक सुत्त 12, महासीहनादसुत्त)। ** 1968 की जनवरी (15, 16, 17) मे कुशीनगर मे एक तापस देखा जो आठ वर्ष से लेटा या बैठा नहीं है, खड़ा रहना, चलना या छातीभर ऊँचे मंच पर माथा-हाथ टेक खड़े-खड़े सोना बस यही उसकी चर्या है। दो वर्ष और वह इस तप में रहेगा। *** मास भर के उपवास का प्रचलन नेपाली बौद्धो मे आज भी है।

3. मूल, एकालापकैर्यावत्सप्तालापकैः। पठनीय, एकालोपकैर्यावत्सप्तालोपकैः। पुलनीय भोट, खम् गॅचि ग् च़् ब दङ् खम् बदुन् गिय बर् दु ब़ ब दङ्।

4....4) असनवल्कल का अनुवाद भोट मे क्षर् महि् शुन् प (=अतसीत्वक्, अलसी की त्वचा) है।

5. आस्तोपक का भोटानुवाद स्तेग्स् बु हि स्तेङ् (=पल्लत पर, पटरे पर) है। बु० ० सं० डि० (पृ ११९) मे आस्तोमक पाठान्तर दिया है। संभवतः

पानी में डूबने के लिए पानी में डाले लड़की के पटरे) पर, पानी में शयन करने से, भस्म के ऊपर बालू के ऊपर पत्थर के ऊपर(काष्ठ-)फलक के ऊपर, काँटों के ऊपर, तृणो के ऊपर, मूसलों के ऊपर शयन करने से, नीचे की ओर माथा लटका कर, उकड़ूँ बैठकर, स्थंडिल (अर्थात् चबूतरे) पर शयन करने से, (नियम बना कर) एक वस्त्र, दो वस्त्र, तीन वस्त्र, चार वस्त्र, पाँच वस्त्र, छह वस्त्र, सात वस्त्र, पहनने से (अथवा) नग्न रहने से, [6]स्नान करने या स्नान न करने के नियम से[6], केश, नख, और दाढी-मूछ बढा कर जटामुकुट धारण करने से, एक बेर का एक तिल का (अथवा) एक चावल का आहार करने से, भस्म के, काजल के [7]फेंके हुए फूलो के[7], तमोरज (कालीधूल) के पांशु (कूड़े-कचरे) के, कीचड़ के (शरीर पर) मलने से, लोभ, मुण्ड[8] (=नर-कपाल) केश, नख, चीवर[9] (=गुदड़ी), पञ्जर (=*शरीरास्थि*), *करङ्क (कपाल का बना कमण्डलु अघोरी बन कर)* धारण करने से, उष्णजल, चावल का धोवन, =184क= परिस्रावित-काम्बलिक[10] अर्थात् छनी हुई विलेपी, स्थालीपानीय (अर्थात् बटलोई आदि भोजन सिद्ध करने के वर्तनो के धोवन) पीने से, अंगार के (=कोयले के) धातु के (गेरु आदि रंग के) कषाय के (फूल-पत्ती आदि का काढा बना कर बनाए रग के) त्रिदण्ड के (काय, वाक् तथा मन:सबन्धि दमन के), मुण्डिका के (=सिर के मुण्डन के) कुण्डिका के (=कूँड़ी के), कमाल के (मनुष्य के सिर के खप्पर के) खट्वाङ्ग के (=नरपञ्जर अर्थात् मनुष्य शरीर की अस्थि के) धारण करने से मूढ़-जन शुद्धि

आस्तोकप का अपभ्रंश आस्तोपक है। स्तोक=जलबिन्दु (शब्दस्तोममहानिधि)। पानी मे डूबने से बचने के लिए पानी में तैरते फलक से अभिप्राय जान पड़ता है।

6....6) मूल, स्थानास्थानविधिभिश्च। पठनीय, स्नानास्नानविधिभिश्च। तुलनीय भोट, ह्खुब दङ् मि ह्खु ब हि. छो ग चन दङ्।

7....7) मूल, निर्मालोद्धृत (=निर्माल्य उज्झित)। भोट, मेतोग् स्प्यद् स्प्यद् प दङ्। (=मुक्तमुक्तमाल्य, मुक्तोज्झितमाल्य)।

8. मूल, मुञ्ज। पठनीय, मुण्ड। तुलनीय भोट, मि हि. थोद् प (नरपाल)

9. चीवर का अनुवाद भोट, मे व्याख्यानात्मक है—छल् बु हि स्नद् ग्योग्स् (अर्थात् पेवंद लगा कर बना अधोवस्त्र), गुदड़ी या कन्था (कथरी) के लिए चीवर शब्द यहाँ है।

10. परिस्रावित काम्बलिक अर्थ है छानी हुई विलेपी। माँड वाली कणो सहित चावल या जौ की बनी पतली पेय वस्तु को विलेपी कहते हैं, उसी का अत्यन्त पुराना नाम काम्बलित है। भोटानुवाद यहाँ ह्खर् ब चग्स् प है।

में विश्वास करते है। धूम-पान के द्वारा, अग्नि-पान के द्वारा, आदित्यनिरीक्षण अर्थात् सूर्य की ओर देखते रहने के द्वारा, पञ्चतप अर्थात् पञ्चाग्नि तापन के द्वारा, ऊपर की ओर एक पैर अथवा एक बाहु उठा कर रखने से, एक पैर से (एक जगह पर) खड़े रहने से तप का संचय करते हैं। भूसी आदि के दहकते—अंगारों मे जल-मरने से, घड़े में (खौलते पानी के) साधन से पक-मरने से, शिलाओं (ईंट-पत्थरों को दहका कर (उनमें) जल-मरने से आग में प्रवेश कर मरने से, जल में डूब कर मरने से, [11]उपवेशन (निराहार) द्वारा मरने से[11] मरु (–स्थल) में जाकर मरने से, (गंगा आदि) तीर्थों पर जाकर मरने से इष्टगति (की प्राप्ति) खोजते हैं। ओम्, वौषट् स्वधा, स्वाहा, स्वस्ति, स्तुति, (अग्नि–) चयन, (देवता–) आवाहन के मंत्रों का जप, अध्ययन (पाठ), धारण (कंठस्थी करण) करने मे शुद्धि समझते हैं। और अपने-आप को शुद्ध मान कर इनका आश्रय लेते हैं। जैसे—ब्रह्मा का, इन्द्र का, रुद्र का, विष्णु का, देवी (गौरी) का, कुमार (स्कन्द) का, मातृकाओं (स्कन्द को दूध पिलाने वाली धात्रियों और रक्षिकाओ) का, कात्यायनी का, चन्द्र का सूर्य का, वैश्रण (कुबेर) का, वरुण का, वसु-गण का, =184ख= अश्विनीकुमारों का, नागों का, यक्षों का, गधर्वो का, असुरों का, गरुड़ों का, किन्नरों का, महोरगों (महासर्पों) का, राक्षसों का, प्रेतों का, भूतो का, कुंभांडों का, पार्षदों (शिवगणों) का, गणपति का, पिशाचों का, देवऋषियों का, राजऋषियों का, ब्रह्मर्षियों का। इनको नमस्कार करते हैं, और इनमे सार समझते हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु, और आकाश का आश्रय लेते है।[12]पर्वत, दरी (कंदरा)[12], नदी, उत्स (झरना), सर, ह्रद (अथाह-जल का जलाशय), तालाब, सागर, सरोवर(झील), पल्लव (गड़ही), पुस्करिणी (कृत्रिम कमल आदि लगाने के लिए बनाया गया जलाशय), कुआँ, वृक्ष, गुल्म (झुरमुट), लता, तृण, स्थाणु (थून्हा), गोष्ठ (गोशाला) श्मशान, चत्वर (चौतरा) शृंगाटक (तिराहा) अन्तरापण (बाजार) आदि का आश्रय लेते है। (देवताओं के प्रतीक के रूप मे) घर को, खम्भे को, बट्टे को, मूसल को, खांडे को, फरसे को, बाण को, बरछी को और त्रिशूल को नमस्कार करते है। दही, घी, सरसो, जौ, प्रतिसर (सुत का

11....11) प्रवेशन (लेफमन् ललितविस्तर, 239 पृष्ट पर 12 वी पंक्ति में) के अनन्तर मूल में उपवेशन पा० भोटानुसार होना चाहिए। भोट में है—
झस् मि झब दङ् (आहारन खाने से, उपवेशन से)।

12....12. मूल, गिरिनदी०। पठनीय, गिरिदरी०। तुलनीय भोट, रि दङ् रि सुल् दङ् (गिरिं च दरी च)।

बना रक्षासूत्र), दूर्वा, मणि, सुवर्ण, रजत (-250-) आदि के द्वारा मंगल होने का विश्वास करते हैं। संसार के भय से घबराए हुए तीर्थ्य-लोग इस प्रकार की इन वस्तुओं का आश्रय लेते है।

12. यहाँ कितने ही लोग इस लोक के बाद हमारा स्वर्ग तथा अपवर्ग (मोक्ष) इनसे होगा ऐसा =185क= मानते है। (ये) मिथ्यामार्ग मे चलते हुए अशरण को शरण समझते है, अमांगलिक को मांगलिक समझते है, अशुद्धि के द्वारा शुद्धि होना मानते है। मै क्यों न वैसा विशेष तप और व्रत करूँ जिससे सब दूसरे प्रवादी परास्त हो जाएँ, जिन प्राणियो में (उचित) कर्म करने की भावना नष्ट हो गई है, उन्हे कर्म करने की भावना का अविनाश दिखाऊँ, रूप-धातु मे विचार करने वाले ध्यान-विषय मे लगे देवताओं को ध्यान-विशेष दिखला कर अपनी ओर झुकाऊँ।

13. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व यों सोच कर छह वर्ष की महाघोर, अत्यन्त दुष्कर होने के कारण सुदुष्कर व्रत और तप की दुष्करचर्या करने लगे। किस कारण से (यह चर्या) दुष्करचर्या कही जाती है ? यह करने में दुष्कर होती है, इसलिए दुष्करचर्या कही जाती है ? प्राणियो के समूह मे ऐसा कोई मनुष्य या अमनुष्य प्राणी नही है जो वैसी दुष्कर चर्या कर सके। इसमे अपवाद केवल अन्तिम जन्मधारी बोधिसत्त्व है, जो आस्फानक-ध्यान-समापन्न होते है। किस कारण से (यह ध्यान) आस्फानक कहा जाता है ? आदि से ही चतुर्थध्यान-समापन्न हो वे =185ख= आश्वास और प्रश्वास को रोकते है—पूर्णतया रोकते हैं। उस ध्यान में न स्थूल कल्पना होती है और न सूक्ष्म कल्पना होती है, न इञ्जना (चंचलता) ही होती है,[13] न चिन्तना (= चित्तक्रिया) होती है[13], न स्पन्दना (= परिवृत्ति) होती है, (वह ध्यान) सर्वव्यापक (होते हुए भी) बिना किसी आलम्बन के होता है, शैक्ष, अथवा अशैक्ष (=अर्हत्) अथवा प्रत्येक बुद्ध, अथवा (बोधि के लिए) चर्यावान् बोधिसत्त्व कोई भी पहले उस ध्यान से समापन्न नहीं हुआ है, इसलिए वह नाम से आस्फानक (अ-स्फानकम् एव आस्फानकम्-स्थूल-भावरहित) कहलाता है। आकाश जो अस्फरण (फड़कनरहित) अकरण (क्रिया-रहित) और अविकरण (विकाररहित) है, उस सबको वह (ध्यान) स्फरण (व्यापन) करता है, इसलिए आकाश के समान होने के कारण वह ध्यान आस्फानक (आ = चारों ओर से सब को स्फानक = व्याप्त करने वाला) कहा जाता है।

13....13. मूल, अपनीतम्। पठनीय, अचिन्तितम्। तुलनीय भोट, सेम्स् प मेद् (=अचिन्तनम्, अचिन्तितम्)।

14. हे भिक्षुओं, इसके बाद लोक को आश्चर्य दिखाने के लिए, तीर्थिकों के घमण्ड को दूर करने के लिए, परपक्ष के प्रवादियों को परास्त करने के लिए, और देवताओं को (-251-) अपनी ओर झुकाने के लिए, जिन प्राणियों की कर्म करने की भावना नष्ट हो गई थी, उन्हें कर्म करने की भावना में उतारने के लिए, पुण्य के फल को उपजाने के लिए, ज्ञान का फल दिखलाने के लिए, ध्यान के अंगों को विभक्त करने के लिए, शरीरबल की स्थिरता दिखलाने के लिए, चित्तशूरता को उत्पन्न करने के लिए, अनलंकृत (नंगी) धरती पर बोधिसत्त्व =186क= पलथी मार कर बैठ गए और बैठ कर अपने शरीर को चित्त से वश में किया, दबाया।

15. हे भिक्षुओं, तदनन्दर हेमन्त की आठ रातों में उस प्रकार शरीर को वश मे करते हुए, दबाते हुए दोनों बाहुमूलों से भी पसीना टपकता था, माथे से भी पसीना टपकता था, भूमि पर गिरता था, मानों ओस पड़ रही हो, उमस निकल रही हो, भाप बाहर निकल रही हो। जैसे दुबले-पतले आदमी को बलवान् आदमी गर्दन पकड़ कर उमेठे वैसे ही भिक्षुओं, इस शरीर को यों चित्त से वश मे करते हुए, दबाते हुए मेरे दोनो बाहुमूलों से भी पसीना टपकता था, माथे से भी पसीना टपकता था, भूमि पर गिरता था, मानो ओस पड़ रही हो, उमस निकल रही हो, भाप बाहर हो रही हो।

16. हे भिक्षुओं, मेरे मन मे यह बात आई कि मैं क्यों न आस्फानक-ध्यान का ध्यान करूँ। हे भिक्षुओं, तदनन्तर आस्फानक-ध्यान का ध्यान करते हुए मुख और नासिका से श्वास का आना और श्वास का जाना रुक गया था। कान के छेदों से ऊँची-ध्वनि निकलती थी—बडी-ध्वनि निकलती थी। जैसे धौंकी जाती हुई कर्मारगर्गरी अर्थात् लोहार की धौंकनी से ऊँची-ध्वनि निकलती हो, ठीक वैसे ही हे भिक्षुओं, मुख और नासिका से श्वास का आना और श्वास का जाना रुक गया था। कान के छेदों से ऊँची-ध्वनि निकलती थी, बड़ी-ध्वनि निकलती थी।

17. हे भिक्षुओं, =186ख= मेरे मन में यह बात आई कि मैं क्यों न और भी अधिक आस्फानक-ध्यान का ध्यान करूँ। हे भिक्षुओं, उससे मेरे मुख का, नासिका का, तथा कानों का अवरोध (-252-) हो गया था। उनके रुँध जाने पर वायु सिर के कपाल पर ठोकर मारती थी। हे भिक्षुओं, जैसे कोई आदमी कुण्ठित बरछी से सिर के कपाल पर ठोकर दे रहा हो, ठीक वैसे ही हे भिक्षुओं, मुख के, नासिका के, तथा कानों के रुँध जाने पर भीतर जाने वाले एवं बाहर निकलने वाले श्वास ऊपर सिर के कपाल पर ठोकर मारते थे।

18. बोधिसत्त्व की उस अवस्था को देख कर कुछ देवता यों बोले—अहो (बड़े) कष्ट की बात है, ये सिद्धार्थ कुमार काल कर गए। दूसरे (देवता) यों बोले—ये काल नहीं कर गए है, प्रत्युत् यह इस प्रकार का अर्हतो का ध्यान विहार (ही) है। और उस समय (उन्होंने) ये गाथाएँ कही—

(छंद उपजाति)

मा खल्वयं शाक्यनरेन्द्रगर्भो ह्यपूर्णसंकल्प इहैवरण्ये।
कृत्वा त्रिलोकं दुखितं ह्यनाथं कालं करिष्यत्यकृतार्थ एव ॥780॥

ये शाक्यराज के पुत्र इसी वन में अपना मनोरथ पूरा न कर, सफलता को न पा, त्रिलोक को दुःखित और अनाथ कर कही काल न कर जाएँ।

हा सत्त्वसारा सदृढप्रतिज्ञा सद्धर्मयज्ञेन निमन्त्रिताऽभू।
वयं पुरा ते तुषितेषु नाथा क्व सा प्रतिज्ञा तव शुद्धसत्त्व ॥781॥

हाय रे, हे प्राणियो के सारभूत, हे उत्तम और दृढप्रतिज्ञा वाले, हे शुद्ध मन के नाथ, तुषित-लोक में (तुमने) सद्धर्म के यज्ञ मे पहले से ही हम सबको निमंत्रित कर रखा है, वह तुम्हारी प्रतिज्ञा (आज) कहाँ गई ?

इसके अनन्तर उन देवपुत्रो ने त्रयस्त्रिंश (लोक के) देवताओं में जा कर मायादेवी को =187क= यह बात सुनाई कि कुमार काल कर गए।

19. तदनन्तर मायादेवी अप्सराओं के समूह से घिरी हुई आधी रात के समय नैरञ्जना (नदी) के तीर पर जहाँ बोधिसत्त्व थे वहाँ पहुँची (और) बोधिसत्त्व को देखा जिनका शरीर सूख गया था। (उन्हे) काल कर गया जैसा देख कर आँसुओ से गद्गदकण्ठ हो रोने लगी। और उस समय ये गाथाएँ कहीं—

यदा जातोऽसि मे पुत्र वने लुम्बिनिसाह्वये।
सिंहवच्चागृहीतस्त्वं प्रकान्तः सप्त पदा स्वयं ॥782॥

हे मेरे पुत्र, जब तुम लुम्बिनी नाम के वन मे उत्पन्न हुए थे, तब बिना कुछ पकड़े अपने-आप से सिंह की भाँति सात पैर चले थे।

दिशां चा लोक्य चतुरे वाचा ते प्रव्याहृता शुभा।
इयं मे पश्चिमा जातिः सा ते न परिपूरिता ॥783॥

चारों दिशाओं को देख कर तुमने शुभ वाणी कही थी कि यह मेरा अन्तिम जन्म है। उस (वाणी) को तुम न पूरी कर पाए।

(-253-) असितेनाभिनिर्दिष्टो बुद्धो लोके भविष्यसि ।
क्षुण्णं व्याकरणं तस्य [14]न दृष्टा तेनऽनित्यता[14] ॥784॥

असित (ऋषि) ने भविष्यवाणी की थी कि (तुम) लोक मे बुद्ध होओगे। उनकी वह भविष्यवाणी क्षीण हो गई, उन्होंने (इस) अनित्यता को न देखा था।

चक्रवर्तिश्रियं पुत्र नपि भुक्ता मनोरमा।
न च बोधिमनुप्राप्तो यातोऽसि निधनं वने ॥785॥

न तो मनोहर चक्रवर्ती (राजा) की श्री का ही भोग किया और न बोधि को ही प्राप्त किया। हाय पुत्र, वन मे तुम्हारा निधन हो गया।

पुत्रार्थे कं प्रपद्यामि कं वा क्रन्दामि दुःखिता।
को मे दद्येकपुत्रस्य किं चित्प्राणस्य जीवितम् ॥786॥

पुत्र के लिए किसकी शरण जाऊँ, (मैं) दुःखिनी किसको पुकारूँ, थोडे बचे हुए प्राणों वाले मेरे इकलौते बेटे को कौन जीवनदान दे।

20. बोधिसत्त्व बोले—

(छन्द उपजाति)

कैषा अति त्वां करुणं रुदासि
प्रकीर्णकेशा विनिवृत्तशोभा।
पुत्रं ह्वतीव। परिदेवयन्ती
विचेष्टमाना धरणीतलस्था ॥787॥

यह तुम कौन हो ? करुण स्वर से फूट-फूट कर रो रही हो, (तुम्हारे) केश बिखरे हुए हैं, (तुम्हारी) शोभा चली गई है, पुत्र-पुत्र कह कर अत्यन्त (विलाप) कर रही हो। धरती के ऊपर तड़प रही हो।=187ख=

21. मायादेवी बोलीं—

मया तु दश मासां वै कुक्षौ वज्र इवा धृतः।
सा तेऽहं पुत्रका माता विलपामि सुदुःखिता ॥788॥

मैंने ही दस मास तुम्हें (अपनी) कोख मे वज्र (हीरकमणि) की तरह धारण किया है, हे पुत्रक, मैं वही तुम्हारी माता हूँ, अत्यन्त दुःखिनी होकर विलाप कर रही हूँ।

14....14. मूल, न दृष्टा तेन नित्यता। यहाँ नित्यता के स्थान में भोट-अनुवादानुसार अनित्यता पाठ होना चाहिए, मूल में इसे अवग्रह के साथ पढ़ना चाहिए। तुलनीय भोट, मि र्तग् देस् म म्थोङ् (=अनित्यता तेन न दृष्टा)।

22. तदनन्तर बोधिसत्त्व ढाढस बँधाते हुए बोले। हे पुत्र के ऊपर ममता वाली, डरो मत। तुम्हारे श्रम को सफल करूँगा। बुद्ध होने के लिए दिया गया दान सार्थक होगा। अमित (ऋषि) के कथन को प्रत्यक्ष कर दिखाऊँगा, (भगवान्) दीपंकर की भविष्यवाणी को प्रत्यक्ष कर दिखाऊँगा।—

अपि शतधा वसुधा विकीर्येत
मेरुः प्लवे चाम्भसि रत्नशृङ्गः।
चन्द्रार्कतारागण भू पतेत
पृथग्जनो नैव अहं म्रियेयं।
तस्मान्न शोको त्वयि अत्र कार्यो
न वै चिराद् द्रक्ष्यसि बुद्धबोधिं ॥789॥

चाहे धरती सौ टूक हो बिखर जाए, चाहे रत्नों के शिखरों वाला सुमेरु पानी में डूब जाए, चाहे चन्द्रमा, सूर्य तथा तारागण धरती पर गिर पड़ें, पर मैं पृथग्जन (साधारण-लौकिक पुरुष) की भाँति नहीं ही मरूँगा। इसलिए इस विषय में तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए, मुझे बिना चिर के ही बोधि-प्राप्त बुद्ध देखोगी।

2, (यह) सुनने के साथ ही मायादेवी आनन्द से रोमाञ्चित हो उठीं, दिव्य वाद्यों के गाजे-बाजे के साथ बोधिसत्त्व के ऊपर मन्दारपुष्पों की वृष्टि कर, उनकी तीन बार प्रदक्षिणा कर, जहाँ अपना भवन था, वहाँ चली गयीं।

24. (–254–) हे भिक्षुओ, मेरे मन में यह बात आई कि कितने ही श्रमण और ब्राह्मण अल्पाहार से शुद्धि का होना मानते हैं। क्यों न मैं अल्पाहारता से तपश्चर्या करूँ। हे भिक्षुओं, मुझे अभिज्ञान है कि मैं केवल एकही-अद्वितीय बदरफल खाकर रहा। हे भिक्षुओ, =188क= तुम्हारा यह ख्याल हो कि उस समय का बदरफल बहुत बड़ा होता होगा, तो वैसा न सोचना चाहिए। उस समय का बदरफल भी इतना ही बड़ा होता था (जितना बड़ा कि आजकल होता है)। हे भिक्षुओं, केवल एक-अद्वितीय बदरफल का भोजन करते हुए मेरा शरीर अत्यन्त दुबला-पतला हो गया। हे भिक्षुओ, जैसे आसीत (नील) की गाँठे हों अथवा काला (मजिष्ठ) की गाँठें हों, वैसे ही मेरे अंग-प्रत्यंग हो गए थे। जैसे केकड़े की पसलियाँ हों, वैसे ही मेरी पसलियाँ हो गई थीं। जैसे दोनों ओर से खुली पुरानी घोड़साल और हयसाल के छप्पर के ढाँचे के बीच-बीच के बाँस चमकते हों, झलकते हो, वैसे ही मेरे शरीर में दोनों ओर पसलियाँ चमकती थीं, झलकती थीं। जैसे गाँठों वाली रस्सी ऊँची-नीची और सम-विषम (ऊबड़-खाबड़) होती है, वैसे ही पीठ का कंटक अर्थात् मेरुदण्ड

ऊँचा-नीचा और समविषम (ऊबड़-खाबड़) हो गया था। जैसे कच्ची तोड़ी हुई कडुई (तुम्बी बनाने की) लौकी मुरझा जाती है, सूख जाती है, पिचक जाती है, वैसे ही मेरा सिर मुरझा गया था, सूख गया था, पिचक गया था। जैसे ग्रीष्म ऋतु के अन्तिम मास में कूपतारे (कूप में प्रतिबिंबित तारे) दूर चले जाते हैं, कठिनाई से उनकी झलक मिलती है, = 188ख = वैसे ही मेरी आँखों की पुतलियाँ गहरी धँस गई थीं, कठिनाई से उनकी झलक मिल पाती थी। जैसे बकरे के खुर हों अथवा ऊँट के खुर हों, वैसे ही मेरे कक्ष (कटिप्रदेश), कोख और वक्षःस्थल हो गए थे। तब हे भिक्षुओ, जब मैं हाथ से कोख छुऊँ यह सोच कर (छूता) तो पीठ का कंटक अर्थात् मेरुदण्ड ही छू जाता था। उठूँ यह सोच कर यत्न करता तो उसी तरह गुटमुटा कर लम्बा पड़ जाता। तदनन्तर कठिनाई से उठ पाकर भी (–255–) धूल भरे अंगों को हाथ से झाड़ता तो पूति-रोम (अर्थात् ऐसे रोए जिनकी जड़ें सड़-गल गई थी) शरीर से गिर पड़ते थे। और मेरी जो मेरी पुरानी शुभ वर्णवाली देह थी, वह भी नहीं रह गई थी, जैसे रूक्ष प्रधान (अर्थात् रूखे तप) में तन-मन से लगे तपस्वी की नहीं रह जाती है। चारों ओर गोचरग्रामों (भिक्षा देनेवाले ग्रामों) के निवासी लोग मुझे यों जानते-बूझते (कहा करते) थे कि अहो श्रमण गौतम काले हो गए हैं, अहो श्रमण गौतम साँवले हो गए हैं, अहो श्रमण गौतम मद्गुर (मागुर-मछली) के रंग के हो गए हैं, इनकी जो पहले शुभ-वर्ण-वाली आभा थी वह भी नहीं रह गई है।

25. हे भिक्षुओं, मेरे मन में यह बात आई कि मैं क्यों न और भी अधिक मात्रा में अल्पाहारता से तपश्चर्या करूँ। हे भिक्षुओं, मुझे अभिज्ञान है कि मैं केवल एक ही अद्वितीय तण्डुल खाकर रहा। हे भिक्षुओ, तुम्हारा ख्याल हो कि उस समय का तण्डुल बहुत बड़ा होता होगा, तो वैसा न सोचना चाहिए। उस समय का तण्डुल = 189क = भी इतना ही बड़ा होता था (जितना कि बड़ा आजकल होता है)। हे भिक्षुओं, केवल एक-अद्वितीय तण्डुल का भोजन करते हुए शीघ्र (ही मेरा) शरीर (और भी दुबला-पतला) हो गया था····(चारों ओर गोचर-ग्रामों के निवासी मुझे यों जानते बूझते कहा करते थे कि) अहो श्रमण गौतम मद्गुर (मागुर मछली) के रंग के हो गए हैं, इनकी जो पहले शुभवर्ण-वाली देह थी वह भी नहीं रह गई है।

26. हे भिक्षुओ, मेरे मन में यह बात आई कि मैं क्यों न और भी अधिक मात्रा में अल्पाहारता से तपश्चर्या करूँ। हे भिक्षुओं, मुझे अभिज्ञान है कि मैं केवल एक ही—अद्वितीय तिल खाकर रहा (इससे मेरा शरीर और भी दुबला-पतला हो गया) था····(चारों ओर गोचर ग्रामों के निवासी मुझे यों जानते-बूझते

कहा करते थे कि अहो श्रमण गौतम मद्गुर-मागुर मछली के रंग के हो गए है, इनकी जो पहले) शुभ-वर्ण-वाली देह थी वह भी नही रह गई है ।

27. हे भिक्षुओ, मेरे मन मे यह बात आई कि कितने ही श्रमण और ब्राह्मण है, जो अनाहार से शुद्धि मानते है । मै क्यो न पूरी की पूरी अनाहारता से तपश्चर्या करूँ । हे भिक्षुओं, तदनन्तर मैं निराहार रहने लगा। । हे भिक्षुओं, निराहार रहने से मेरा शरीर अत्यन्त सूख गया, दुबला-पतला हो गया । जैसे आसीतकी (नील) की गांठे हो, अथवा काला (मंजिष्ठा) की गांठे हो (वैसे ही मेरे अंग-प्रत्यंग हो गए), उनसे भी दूने, तिगुने, चौगुने, पँचगुने, दसगुने मेरे अंग-प्रत्यंग दुबले हो गए । जैसे केकड़े की पसलियाँ हो (–256–) घोडसाल के = 189ख = छप्पर का ढाँचा हो, वैसे (मेरी) पसलियाँ हो गई । मेरी पीठ-कंटक (= मेरुदड) दोहरी गांठों वाली रस्सी के जैसा (ऊबड़-खाबड़) हो गया । सिर का कपाल कडुई तूंबी का जैसा हो गया । आँखों की पुतलियां कूपतारो जैसी हो गई । हे भिक्षुओ, अच्छी तरह उठूँ, यह सोचकर अंगो से यत्न करता हुआ मैं गुट-मुटा कर गिर पड़ता था । कठिनाई से उठ धूल भरे अंगो को झाड़ता तो पूतिरोम (अर्थात् ऐसे रोएँ जिनकी जडे सड़गल गई थी) गिर पडते थे । और जो मेरी शुभ-वर्ण-वाली देह की आभा थी, वह भी नही रह गई थी, जैसे रूक्षप्रधान (अर्थात् रूखे तप) में तन-मन से लगने के कारण (तपस्वी की) नही रह जाती है । और चारो ओर गोचर ग्रामो (भिक्षा देनेवाले ग्रामो) के निवासी लोग यो जानते-बूझते (कहा करते) थे कि अहो श्रमण गौतम काले हो गए है, श्रमण गौतम सांवले हो गए हैं, अहो श्रमण गौतम मद्गुर (मागुर मछली) के रग के हो गए है, इनकी जो पहले शुभ-वर्ण-वाली आभा थी, वह भी नहीं रह गई है ।

राजा शुद्धोदन भी उस समय दिन-प्रतिदिन बोधिसत्त्व के पास दूत भेजते रहते थे ।

28. हे भिक्षुओ, इस प्रकार लोक को आश्चर्य का कार्य दिखाने के लिए (तीर्थिको के घमण्ड को चूर करने के लिए, परपक्ष के प्रवादियो को परास्त करने के लिए, और देवताओ को अपनी ओर झुकाने के लिए) जिन प्राणियो की कर्म करने की भावना नष्ट हो गई थी, उन्हे कर्म करने की भावना मे उतारने के लिए, पुण्यसंचय को उपजाने के लिए, महाज्ञान के गुणों को दिखाने के लिए, ध्यान के अंगों को विभक्त करने के लिए एक बेर, = 190क = एक तण्डुल, तथा एक तिल से छह वर्ष की दुष्करचर्या का आचरण करना बोधिसत्त्व ने दिखाया । अदीन मनसे छह बरसो तक बोधिसत्त्व पलथी मार कर बैठे रह गए और ईर्यापथ से (अर्थात् चर्या से) च्युत न हुए । धूप से न छाया मे गए और न

छाया मे धूप में (गए)। धूप, हवा और पानी से (अपने-आप को) न बचाया और न डांस, मच्छर और सरकने वाले जन्तुओं को हटाया। न मल, मूत्र, थूक, नाक (मल) का त्याग किया और न (अंगों को) सिकोड़ा-फैलाया। (दोनों) पासों व पेट मे और पीठ से बैठने में सहारा लिए बिना बैठे रहे। और जो बदली थी, बड़ी बदली थी, पानी, बिजली, सरदी, (–257–) गरमी तथा पाला था, वह सब बोधिसत्त्व के शरीर पर गिरता था, पर बोधिसत्त्व हाथ तक से भी (अपने को) न ढँकते थे। न इन्द्रियों को (विषयों) से छिपाते थे, न (इन्द्रियों से) इन्द्रिय-विषयों को ग्रहण करते थे। जो गाँव के लड़के, गाँव की लड़कियाँ, ग्वाले, चरवाहे, घसियारिनें, लकड़हारिनें, या गोबर बटोरने वालियाँ थी, वे बोधिसत्त्व को पांशुपिशाच (अर्थात् धूल का बना भूत का पुतला) समझती थी, उनसे खेलती थी, और उन्हे धूल से मसलती थी।

29. वहाँ बोधिसत्त्व =190ख= उन छह वर्षो मे उतने रूखे दुबले-पतले शरीर के हो गए कि उनके कान के छेदों में तिनके की तूली डाल कर नाक के छेदों से निकाल ली जाती थी, और नाक के छेदों मे डाल कर कान के छेदों से निकाल ली जाती थीं, कान के छेदों में डाल कर मुँह के द्वार से निकाल ली जाती थी, मुँह के द्वार से डाल कर कान और नाक के छेदों से निकाल ली जाती थी, नाक मे डाल कर कान और नासिका तथा मुख के द्वार से निकाल ली जाती थी।

30. और जो देवता, नाग, यक्ष, गन्धर्व, असुर, गरुड, किन्नर, महोरग[15] बोधिसत्त्व के गुणों के प्रत्यक्षदर्शी थे, वे रात-दिन बैठे बोधिसत्त्व की पूजा करते थे, (और उनके जैसा होने का) प्रणिधान (संकल्प) करते थे।

31. वहाँ छह वर्षो मे दुष्कर-चर्या दिखलाते हुए बोधिसत्त्व ने पूरे बारह खर्व देवताओं और मनुष्यो को तीन (प्रकार के अर्थात् श्रावक, प्रत्येक बुद्ध, तथा सम्यक्सबुद्ध के) यानों के द्वारा (धर्म मे) पक्का किया।

32. इस विषय में (गाथाओं द्वारा) यों कहा जाता है—

(छन्द आर्या)

तस्य च गुणान्वितस्य पुराद् विनिष्क्रम्य बोधिसत्त्वस्य।
चिन्ता उपाययुक्ता सर्वार्थहिताय उत्पन्ना ॥790॥

---

15. मूल, ०महोरगा (मनुष्यामनुष्या) कोष्ठक का पाठ भोट मे उपलब्ध नही है, अनपेक्षित भी है।

नगर से निकल कर (प्रव्रजित हुए) उन गुणों से युक्त बोधिसत्त्व के मन में प्राणियों का हित करने का उपायसहित विचार उपजा ।

पञ्चसु कषायिकाले [16]हीने धर्माधिमुक्तिके लोके[16] ।
जातोऽस्मि जम्बुद्वीपे धर्मक्रिया-उद्धुरे लोके ॥791॥

(आयु के, दृष्टि के, क्लेश के, सत्त्व के, तथा कल्प के) पाँच कषाय-वाले (ह्रास के) समय मे हीन-धर्म में रुचि वाले लोगों के बीच, धर्म क्रिया के प्रति आस्था उठ जाने वाले लोक के भीतर जम्बूद्वीप में उत्पन्न हुआ हूँ।

(-258-) आकीर्ण तीर्थिकगणै कौतुहलमङ्गलैरिमे युक्ता ।
कायोपक्रमकरणै मन्यन्ते बालिशाः शुद्धि ॥792॥

तीर्थिकों के संघों से व्याप्त, पर्व-त्योहार मनाने में लगे हुए, मूढ लोग काया को सताने के द्वारा शुद्धि का होना मानते हैं ।=191क=

अग्निप्रवेश-मरु-प्रताप-पांशुभस्मादिम्रक्षिता नग्नाः ।
कायापरितापनार्थं पञ्चा-तप-योगमनुयुक्ताः ॥793॥

(वे) काया को सताने के लिए पाँच प्रकार की तपस्या में जुट कर लगे रहते हैं—अग्नि में प्रवेश करते है, मरुभूमि में चले जाते है, प्रपात से गिर जाते हैं, धूल और भस्म आदि मलते है, नंगे रहते है ।

मन्त्रा-विचार-करणा[17] केचिद्धस्तावलेहका अबुधाः ।
न च कुम्भमुखकरोटान्न द्वारमुशलान्तराच्च[18]गृह्णन्ति ॥794॥

कितने ही नासमझ मन्त्रविचार (अर्थात् मन्त्रसाधना) करते हैं, हस्ताव-लेहक (करपात्री होकर) रहते हैं, न घड़े के मुँह से (निकल कर दी गई भिक्षा) लेते

16....16. मूल, हीनेऽधर्माधिमुक्तिके लोके । ऽधर्म० के स्थान में धर्म० पढ़ना चाहिए । तुलनीय भोट, छोस् द्मन् मोस् प हि ह् जिग् र्तेन् पो (=हीने धर्माधिमुक्तिके लोके) ।

17. मन्त्रा-विचार-करणा के स्थान में भोट पाठ हस्तप्रसारचरणाः (हाथफैलाकर चलने वाले) है—लग् प व् क्यंङ् स्ते ग्यु व दङ् । यह पाठ भी उत्तम है । पाठान्तर मन्त्राविचारकरणा (अर्थात् भोजन की मात्रा का ख्याल रखने वाले) संभवतः मूल पाठ था, जिसकी यहाँ पर ठीक संगति बैठती है ।

18. मूल न धारकुशलान्तराच्च गृह्णन्ति (पाठान्तर न द्वारकुशलान्तराच्च गृह्णन्ति) । शुद्ध पाठ, न द्वारमुशलान्तराच्च गृह्णन्ति था । तुलनीय भोट, स्गो दङ् क बस् छोद् मि लेन (=न द्वारस्तम्भान्तराच्च गृह्णन्ति ।

है, न खप्पर से (निकाल कर दी गई भिक्षा लेते है), न द्वार (की देहली) के बीच में रहने से (भिक्षा) लेते है, न मूसल के बीच में रहने से (भिक्षा) लेते है।

न च यत्र स्वानु भवती न चाहितं ते न तिष्ठवावयस्य।
कुलभिक्ष एक गृह्या शुद्धं मन्यन्तिहात्मानं ॥795॥

जहाँ कुत्ता होता है (वहाँ से भिक्षा) नही लेते है, तुम्हारे लिए (भिक्षा) रखी है (ऐसा बोलने वाले की भिक्षा) नही लेते है, ठहरो (ऐसा) बोलने वाले की (भिक्षा) नही लेते है, (केवल) कुल से एक—भिक्षा लेकर अपने-आप को शुद्ध मानते हैं।

वर्जेन्ति सर्पितैलं फाणितदधिदुग्धमत्स्यमांसानि।
स्यामाकसाकभक्षा मृणालनाडुलकणाभक्षाः[19]॥796॥

(कोई) घी-तेल, फाणित (राब) दही-दूध, मछली-मांस का त्याग करते है, सावां और साग-पात खाते है, मृणाल और गडुल-कण (तृणधान्यों के तंडुल) खाते है,

फलमूलपत्रभक्षाः कुशचीवरचर्मकम्बलधराश्च।
अपरे भ्रमन्ति नग्नाः सत्यमिदं मोहमन्यदिति मूढाः ॥797॥

(कोई) फल, मूल और पत्र खाते है, कुश, गुदडी, चर्म, तथा कम्बल पहनते हैं, । दूसरे नंगे घूमते है और मोह में पड़े हुए सोचते है कि यही सत्य है, और सब मिथ्या है।

धारेन्ति ऊर्ध्वहस्ता ऊर्ध्वं केशा जटांश्च धारेन्ति।
मार्गान्नु-अतिप्रनष्टा अमार्गसंस्था सुगतिगमनकामाः ॥798॥

(कोई) हाथ ऊपर उठा कर रहते है, केश और जटाएँ ऊपर (बढाकर) रखते है, मार्ग से अत्यन्त भ्रष्ट है, सुगति की ओर जाना चाहते है पर राह पर नहीं हैं।

तृणमुसलभस्मशयनाः कण्टकशयनाश्च उत्कुटध्यायि ।
स्थित केचिदेकपादे ऊर्ध्वमुखाश्चन्द्रसूर्य पश्यन्तः ॥799॥

(कोई) तृणों पर, मुसलो पर, भस्म पर सोते है और (कोई) कांटों पर सोते हैं, (कोई) उकडूँ ध्यान लगाते हैं, कोई एक पैर पर खड़े-खड़े ऊपर मुँह कर चन्द्र और सूर्य देखते रहते हैं ।

उत्सां सरस्तडागां सागरसरितश्च चन्द्रसूर्यौ च ।
वृक्षगिरिशैलशिखरां कुम्भं धरणीं नमस्यन्ति ॥800॥

झरनों को, झील और तालाबों को, समुद्र और नदियों को, तथा चन्द्र और सूर्य को, वृक्ष, पर्वत और पर्वत शिखरों को, कलश को एवं धरती को नमस्कार करते हैं ।

विविधैश्च कारणैस्ते[20] कायं परिशोषयन्ति[21] संमूढाः ।
मिथ्यादृष्टिपरीताः क्षिप्रं प्रपतन्त्यपायेषु ॥801॥

वे नासमझ नाना प्रकार की यातनाओं से (अपना) शरीर सुखाते है, मिथ्या दृष्टियो से घिरे हुए शीघ्र ही दुर्गतियो मे गिरते है ।

यन्नूनमहं व्रत-तप-दुष्करचर्या = 191ख = समारभे घोरां ।
यं दुष्करं न शक्यं चरितुं देवैर्मनुष्यैर्वा ॥802॥

मैं क्यो न व्रत और तप की (उस) घोर दुष्कर-चर्या का आरम्भ करूँ, जिस दुष्कर की चर्या मनुष्य अथवा देवता (भी) न कर सके ।

(–259–) आस्फानकं च ध्यानं ध्यायेयं वज्रकल्पदृढ़स्थामं ।
यं ध्यानं न समर्थाः प्रत्येकजिनापि दर्शयितुं ॥803॥

वज्र (हीरे) के समान दृढ़ और स्थिर (मैं वह) आस्फानक ध्यान ध्याऊँ, जिस ध्यान को प्रत्येकबुद्ध भी कर दिखाने में समर्थ नही होते हैं ।

सन्तीह देवमनुजाः तीर्थिक-लूहव्रतेन हृष्यन्ते ।
तेष परिपाकहेतो दुष्करव्रततप रमेय सुतीव्रं ॥804॥

यहाँ मनुष्य और देवता है, जो तीर्थिकों के रूक्षव्रत से आनन्दित होते हैं, उनको (धर्म मे) पक्का करने के लिए अत्यन्त घोर दुष्कर व्रत-तप का मैं आरम्भ करूँ ।

20. कारणैस् पद मे कारण शब्द कारणा (= यातना) का अपभ्रंश है । भोटानुवाद कारणा शब्द को मान कर हुआ है—गूनोद् मङ् गिस् ।
21. मूल, परिशोषयन्ति । पठनीय, परिशोपयन्ति । तुलनीय भोट, योङ्स् सु स्कम्स् पर ब्येद् ।

पर्यङ्कमाभुजित्वा उपविष्टोऽभूत् स्थले असंस्तीर्णे ।
कोलतिलतण्डुलेना आहारविधिं विदर्शयति ॥805॥

बिना आसन की भूमि पर (बोधिसत्त्व) पलथी मार कर बैठ गए, (एक) बेर, तण्डुल और तिल से भोजन की विधि दिखलाई ।

आश्वासविप्रहीनः प्रश्वासवर्जितु न चेञ्जते बलवान् ।
षड् वर्षाणि प्रवरं ध्यायत्यास्फानकं ध्यानं ॥806॥

बलवान् (बोधिसत्त्व) ने साँस छोड़नी बन्द कर दी, साँस लेना छोड़ दिया, हिले-डुले तक नही, छह वर्ष तक उत्तम आस्फानक-ध्यान का ध्यान करते रहे ।

कल्पं नो न विकल्पं न चेञ्जनं [22]नापि मन्येन प्रचारं[22] ।
आकाशधातुस्फरणं ध्यायत्यास्फानकं ध्यानं ॥807॥

न संकल्प किया न विकल्प किया, न चंचलता की और न मन से गति की, (केवल) आकाश-धातु तक व्यापक आस्फानक ध्यान ध्याते रहे ।

न च आतपातु छायां छायाया नातपं गतश्चासौ ।
मेरुरिव निष्प्रकम्प्यो ध्यायत्यास्फानकं ध्यानम् ॥808॥

वे न धूप से छाया में गए और न छाया से धूप मे गए, सुमेरु (पर्वत) के समान अडिग रहते हुए आस्फानक-ध्यान ध्याते रहे ।

न च वार्तवृष्टिच्छदनं न दंशमशकासरीसृपा त्राणं ।
अविकोपितया चर्या ध्यायत्यास्फानकं ध्यानं ॥809॥

न हवा-पानी से (बचने के लिए) आच्छादन किया, न डाँस-मच्छर और सरकने वाले जन्तुओ से (अपनी) रक्षा की, क्षोभ रहित चर्या से आस्फानक ध्यान ध्याते रहे ।

न च केवलमात्मार्थं ध्यायत्यास्फानकं ध्यानं ।
अन्यत्र करुणचित्तो=192क=भावी लोकस्य विपुलार्थं ॥810॥

केवल अपने हित के लिए आस्फानक-ध्यान नही ध्याते रहे, (प्रत्युत्) दूसरों पर करुणा-चित्त के साथ लोक का बहुत हित करने के लिए भावना करते रहे ।

ये ग्रामदारकाश्च गोपाला· काष्ठहार तृणहाराः ।
पांशुपिशाचकमिति तं मन्यन्ते पांशुना च म्रक्षन्ति ॥811॥

22····22. नापि मन्येन प्रचारं इस पाठ में मन्येन पद मन्येन (= मनसा) के अर्थ में है । तुलनीय भोट, सेमूस् ग्युं मेद् (न चित्तप्रचरणम्) ।

जो गांव के लड़के, कठिहारे और घसियारे थे, वे उनको पांशुपिशाच अर्थात् धूल का बना भूत का पुतला समझते थे और धूल से मलते थे ।

असुचीना च किरन्ते विविधास्ते कारणाश्च कारेन्ति ।
न च इञ्जते भ्रमति वा ध्यायत्यास्फानकं ध्यानं ॥812॥

वे गन्द (ऊपर) फेंकते थे, तरह-तरह से सताते थे, (फिर भी बोधिसत्त्व) हिलते-डुलते थे, या चलते-फिरते न थे, आस्फानक-ध्यान ध्याते रहते थे ।

न च नमति नो विनमते न काय परिरक्षणा स्पृशति ।
कि चित्तोच्चारप्रस्रवं शब्देषु न संत्रसी न पर प्रेक्षी ॥813॥

(वे) न ऊँचे होते थे, न झुकते थे, न रक्षा के लिए शरीर छूते थे, न कुछ मल-मूत्र करते थे, न शब्दों से डरते थे, न दूसरे को देखते थे । (–260–)

संशुष्क मांसरुधिरं चर्मस्नाय्वस्थिकाश्च अवशिष्टा ।
उदाराच्च पृष्ठिवंशो विदृश्यते वर्तिता यथा वेणी ॥814॥

(उनका) मास और लोहू बिलकुल सूख गया था, हाड़-चाम और नसें बच रही थीं, पेट से पीठ की रीढ ऐसे दिखाई देती थी मानो बटी हुई वेणी हो ।

ये ते कृताधिकारा देवासुरनागयक्षगन्धर्वाः[23] ।
प्रत्यक्ष गुणधरस्या करोन्ति पूजां दिवा रात्रौ ॥815॥

जो देवता, असुर, नाग, यक्ष और गन्धर्व (धर्म के) अधिकारी थे (और) गुणशाली (बोधिसत्त्व) जिन के प्रत्यक्ष थे, वे दिन-रात पूजा करते थे ।

प्रणिधिं च कुर्वते ते वयमपि तादृश भवामहे क्षिप्रं ।
यथ एष गगणचित्तो ध्यायत्यास्फानकं ध्यानम् ॥816॥

वे प्रणिधि (संकल्प) करते थे कि हम भी शीघ्र वैसे ही हो जाएँ जैसे ये आकाश के समान (व्यापक) चित्त के साथ आस्फानक-ध्यान ध्याते रहे हैं ।

न च केवलमात्मार्थं न ध्यानस्वादनान्न सुखबुद्धया ।
अन्यत्र करुणबुद्धया करिष्यत्यर्थं विपुल लोके ॥817॥

(ये) अपने हित के लिए ध्यान नही कर रहे हैं, ध्यान का रस चखने के लिए ध्यान नही कर रहे हैं, सुख के भाव से ध्यान नही कर रहे हैं, (प्रत्युत) दूसरों पर कृपा के भाव से, लोक का बहुत हित करना है, इसलिए ध्यान कर रहे हैं ।

23. मूल, देवाः सुर० । पठनीय, देवासुर० । तुलनीय भोट, ल्ह दङ् ल्ह मिन्० ।

निहताः परप्रवादा ध्यामीकृतं तीर्थिका मतिविहीनाः।
कर्मक्रिया च दर्शित या प्रोक्ता काश्यपे वाचा ॥818॥

दूसरे प्रवादियों को परास्त कर दिया, मति से रहित तीर्थिकों को निस्तेज कर दिया, (भगवान्) काश्यप से जो वचन कहा था (तदनुसार) कर्मक्रिया कर दिखाई। = 192ख =

क्रकुच्छन्दकस्य बोधि बोधिरिह सुदुर्लभा बहुभि कल्पैः।
जनताया इत्यर्थं ध्यायत्यास्फानकं ध्यानं ॥819॥

(भगवान्) क्रकुच्छन्द को (मिली) बोधि यहाँ पर बहुत कल्पों में बड़ी कठिनाई से मिलने वाली बोधि है, जनता को यह (बताने) के लिए (वे बोधिसत्त्व) आस्फानक ध्यान ध्याते रहे।

द्वादश नयुता पूर्णा विनीत मरुमानुषास्त्रिभिर्यानैः।
एतदधिकृत्य सुमति ध्यायत्यास्फानकं ध्यानं ॥820॥[24]

पूरे बारह खर्व देवता और मनुष्य तीन (श्रावक, प्रत्येक-बुद्ध, तथा सम्यक्-संबुद्ध) यानों के द्वारा (धर्म में) विनीत हों—इसके लिए (वे) सुमति (बोधिसत्त्व) आस्फानक ध्यान ध्याते रहे।

॥ इति श्रीललितविस्तरे दुष्करचर्यापरिवर्तो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥

●

24. इस परिवर्त की गाथाओं की छाया यों है—

मा खल्वयं शाक्यनरेन्द्रगर्भो ह्यपूर्णसंकल्प इहैवारण्ये। कृत्वा त्रिलोकं दुःखितमनाथं कालं कार्षीत् (यथारुतं तु करिष्यति) अकृतार्थ एव ॥780॥ हा सत्त्वसार सद्दृढप्रतिज्ञ सद्धर्मयज्ञेन निमन्त्रिता अभूम। वयं पुरा ते तुषितेषु नाथ क्व सा प्रतिज्ञा तव शुद्धसत्त्व ॥781॥ यदा जातोऽसि मे पुत्र वने लुम्बिनीसाह्वये। सिंहवच्चागृहीतस्त्वं प्रक्रान्तः सप्त पदानि स्वयं ॥782॥ दिशश्चालोक्य चतस्रो वाक् ते प्रव्याहृता शुभा। इयं मे पश्चिमा जातिः सा ते न परिपूरिता ॥783॥ असितेनाभिनिर्दिष्टो बुद्धो लोके भविष्यति। क्षुण्णं (= विनष्टं, हीनं) व्याकरणं तस्य न दृष्टा तेनानित्यता ॥784॥ चक्रवर्तिश्रीः पुत्र नापि भुक्ता मनोरमा। न च बोधिमनुप्राप्तो यातोऽसि निधनं वने ॥785॥ पुत्रार्थं कं प्रपद्ये कं वा क्रन्दामि दुःखिता। को मे दद्याद् एकपुत्रस्य किंचित्प्राणस्य जीवितम् ॥786॥ कैपाति त्वं करुणं रोदिषि प्रकीर्णकेशा विनिवृत्तशोभा। पुत्रं ह्यतीव परिदेवमाना विचेष्टमाना धरणीतलस्था ॥787॥ मया तु दश मासान् वै कुक्षौ वज्र इव धृतः। सा तेऽहं

पुत्रक माता विलपामि सुदुःखिता ।।788।। अपि शतधा वसुधा विकीर्येत मेरुः प्लवेत चाम्भसि रत्नशृङ्गः । चन्द्रार्कतारागणो भुवि पतेत् पृथग्जनो नैवाहं म्रियेय । तस्मान्न शोकस्त्वयात्र कार्यो न वै चिराद् द्रक्ष्यसि बुद्धबोधिम् ।।789।।

तस्य च गुणान्वितस्य पुराद् विनिष्क्रम्य बोधिसत्त्वस्य । चिन्तोपाययुक्ता सत्त्वार्थहितायोत्पन्ना ।।790।। पञ्चाना कषायाणा काले हीने धर्मेऽधिमुक्तिके लोके । जातोऽस्मि जम्बूद्वीपे, उद्धृतधर्मक्रिये लोके ।।791।। आकीर्णास्तीर्थिकगणैः कौतूहलमङ्गलैरिमे युक्ताः । कायोपक्रमकरणैर्मन्यन्ते बालिशाः शुद्धिम् ।।792।। अग्निप्रवेशमरु-प्रपात-पांशुभस्मादिम्रक्षिता नग्नाः । कायपरितापनार्थं पञ्चतपोयोगमनुयुक्ताः ।।793।। मन्त्र-विचार-करणाः केचिद्धस्तावलेहका अबुधाः । न च कुम्भमुखकरोटाद् न द्वारमुसलान्तराच्च गृह्णन्ति ।।794।। न च यत्र श्वा भवति न चाहित ते न तिष्ठवाक्यस्य । कुलभिक्षामेकां गृहीत्वा शुद्धं मन्यन्त इहात्मानम् ।।795।। वर्जयन्ति सर्पिस्तैल फाणितदधिदुग्धमत्स्यमासानि । श्यामाकशाकभक्षा मृणालगर्दूलकणभक्षाः (दर्दुरकणभक्षाः) ।।796।। मूलफलपत्रभक्षाः कुशचीवरचर्मकम्बलधराश्च । अपरे भ्रमन्ति नग्नाः सत्यमिदं मोहनमन्यदिति मूढाः ।।797।। धारयन्त्यूर्ध्वहस्तम् ऊर्ध्वं केशान् जटाश्च धारयन्ति । मार्गाद् अतिप्रनष्टा अमार्गसंस्थाः सुगतिगमनकामाः ।।798।। तृणमुसलभस्मशयनाः कण्टकशयनाश्चोत्कुटध्यायिनः । स्थिताः केचिदेकपादे, ऊर्ध्वमुखाश्, चन्द्रसूर्यौ पश्यन्तः ।।799।। उत्सान् सरस्तटाकान् सागरसरितश्च चन्द्रसूर्यौ च । वृक्षगिरिशैलशिखराणि कुम्भ धरणी नमस्यन्ति ।।800।। विविधाभिश्च कारणाभिस्ते कायं परिशोषयन्ति संमूढाः । मिथ्यादृष्टिपरीताःक्षिप्रं प्रपतन्त्यपायेषु ।।801।। यन्नूमहं व्रततपोदुष्करचर्या समारमेय घोराम् । यद् दुष्कर न शक्यं चरितुं देवैर्मनुष्यैर्वा ।।802।। आस्फानकं च ध्यानं ध्यायेयं वज्रकल्पदृढस्थाम । यद् ध्यानं न समर्थाः प्रत्येकजिना अपि दर्शयितुम् ।।303।। सन्तीह देवमनुजास्तीर्थिकरुक्षव्रतेन हृष्यन्ति । तेषा परिपाकहेतोर् दुष्करव्रततप आरभेय सुतीव्रम् ।।804।। पर्यङ्कमाभुज्योपविष्टोऽभूत् स्थलेऽसंस्तीर्णे । कोलतिलतण्डुलेनाहारविधिं विदर्शयति ।।805।। आश्वासविप्रहीनः प्रश्वासवर्जितो न चेजते बलवान् । षड् वर्षाणि प्रवरं ध्यायत्स्फानकं ध्यानम् ।।806।। कल्पं (= कल्पना) नो, न विकल्पं, न चेञ्जनं नापि मनसा प्रचारं (चकार) । आकाशधातुस्फरणं ध्यायत्यास्फानकं ध्यानम् ।।807।। न चार्तपाञ्छायां छायाया नातपं गतश्चासौ । मेरुरिव निष्प्रकम्प्यो ध्यात्ययास्फानकं

ध्यानम् ।।808।। न च वातवृष्टिच्छदनं न दशमशकसरीसृपात् त्राणम् । अवि-कोपितया चर्यया ध्यायत्यास्फानकं ध्यानम् ।।809।। न च केवलमात्मार्थं ध्यायत्यास्फानकं ध्यानम् । अन्यत्र करुणचित्तोऽभीभवत् (=भावयति स्म) लोकस्य विपुलार्थम् ।।810।। ये ग्रामदारकाश्च गोपालाः काष्ठहारास् तृण-हारा. । पांसुपिशाचकमिति तं मन्यन्ते पांशुना च म्रक्षन्ति ।।811।। अशु-चिना च किरन्ति विविधास्ते यातनाश्च कुर्वन्ति । न चेङ्गति भ्रमति वा ध्यायत्यास्फानक ध्यानम् ।।812।। न च (उद्) नमति नो विनमति न कायं परिरक्षणाय स्पृशति । किंचिन्नोच्चारप्रस्रावं, शब्देभ्यो न समत्रसीत्, न परं प्रैक्षिष्ट ।।813।। संशुष्कं मांसरुधिर चर्मस्नाय्वस्थिकाश्चावशिष्टाः । उद-राच्च पृष्ठवंशो विदृश्यते वर्तिता यथा वेणी ।।814।। ये ते कृताधिकारा देवासुरनागयक्षगन्धर्वाः । प्रत्यक्षा गुणधरस्य कुर्वन्ति पूजा दिवा रात्रौ ।।815।। प्रणिधिं च कुर्वते ते वयमपि तादृशा भवाम क्षिप्रम् । यथैव गगन-चित्तो ध्यायत्यास्फानकं ध्यानम् ।।816।। न च केवलमात्मार्थं न ध्यान-स्वादान्न सुखबुद्ध्या । अन्यत्र करुणाबुद्ध्या करिष्यत्यर्थं विपुलं लोकस्य ।।817।। निहताः परप्रवादा श्यामीकृताः (यथारुतं तु ध्यामीकृताः = दग्धाः) तीर्थिका मतिविहीनाः । कर्मक्रिया च दर्शिता या प्रोक्ता काश्यपाय वाचा ।।818।। क्रकुच्छन्दकस्य बोधिर् बोधिरह सुदुर्लभा बहुभिः कल्पैः । जनताया इत्यर्थं ध्यायत्यास्फानकं ध्यानम् ।।819।। द्वादश नयुताः पूर्णा विनीता अमरमानुषाः (यथा रुतं तु मरुन्मानुषाः) त्रिभिर्यानैः । एतदधिकृत्य सुम-तिर् ध्यायत्यास्फानकं ध्यानम् ।।820।।

॥ १८ ॥

॥ नैरञ्जनापरिवर्तं ॥

मुद्रितग्रन्थ 260 (पंक्ति 2)—272 (पंक्ति 7)

भोटानुवाद 192ख (पंक्ति 2)—200ख (पंक्ति 3)

॥ १८ ॥

॥ नैरञ्जनापरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओं, बडा पापी मार छह वर्षो तक दुष्करचर्या का आचरण करने वाले बोधिसत्व के पीछे-पीछे दोष देखने की ताक मे, दोष ढूंढने की ताक में निरन्तर लगा रहा पर उसे कभी कोई दोष न हाथ लगा, वह दोष हाथ न लगने से खीझता हुआ, पछताता हुआ चला गया।

2. (-261-) उस विषय मे (गाथाओं द्वारा) यों कहा जाता है—

रमणीयान्यरण्यानि वनगुल्माश्च वीरुधाः।
प्राचीनमुरुविल्वायां यत्र नैरञ्जना नदी ॥821॥

उरुविल्वा के पूर्व की ओर जहां रमणीय अरण्य, वनगुल्म (झाड़ी-झुरमुट), लताएं तथा नैरञ्जना नदी है—

प्रहाणायोद्यतं तत्र सततं दृढविक्रमं।
पराक्रमन्तं वीर्येण योगक्षेमस्य प्राप्तये ॥822॥

वहां प्रहाण (=संसारपरित्याग) के लिए निरन्तर दृढ विक्रम से उद्यमी तथा योगक्षेम (=निर्वाण) की प्राप्ति के लिए वीर-भाव से पराक्रमी (बोधिसत्त्व) के पास—

नमुचिर्मधुरां वाचं भाषमाणो उपागमत्।
शाक्यपुत्रा समुत्तिष्ठ कायखेदेन किं तव ॥823॥

मार मीठी बोली बोलता हुआ पहुँचा (और यों बोला) हे शाक्यपुत्र उठो/ काया को यातना देने से तुम्हारा क्या (बनेगा) ?

जीवतो जीवितं श्रेयो जीवन्धर्मं चरिष्यसि।
जीवं हि तानि कुरुते यानि कृत्वा न सोचति ॥824॥

जीवित रहो, जीना अधिक अच्छा है। जीते हुए धर्म करोगे। जीते हुए को वह-सब करना चाहिए जो-सब कर के पछताना न पड़े।

कृशो विवर्णो दीनस्त्वं अन्तिके मरणं तव।
सहस्रभागे मरणं एकभागे च जीवितं ॥825॥

तुम दुबले हो, विरूप हो, दयनीय हो, तुम्हारी मृत्यु समीप है, हजार भागों में मौत घर कर चुकी है, एक भाग में केवल जीवन बचा है।

ददतः सततं दानं =193क= अग्निहोत्रं च जुह्वतः ।
भविष्यति महत्पुण्यं किं प्रहाणेन करिष्यसि ॥826॥

निरन्तर दान देते हुए, अग्निहोत्र करते हुए महान् पुण्य होगा, प्रहाण (=संसारपरित्याग) से क्या करोगे ?

दुःखं मार्गं प्रहाणस्य दुष्करं चित्तनिग्रहं ।
इमां वाचं तदा मारो बोधिसत्वमथाब्रवीत् ॥827॥

प्रहाण (=संसारपरित्याग) की राह दुःख की है, चित्त को वश में रखना अत्यन्त कठिन है । यह बात मार ने उस समय बोधिसत्व से कही ।

तं तथावादिनं मारं बोधिसत्वस्ततोऽब्रवीत् ।
प्रमत्तबन्धो पापीयं स्वेनर्थेन त्वमागतः ॥828॥

तदनन्तर उस तरह बोलने वाले उस मार से बोधिसत्व बोले हे प्रमाद के साथी (धोखा खाने मे साथ देने वाले) बड़े पापी, तू अपने स्वार्थ के लिए आया है ।

अनुमात्रं हि मे पुण्यैरर्थो मार न विद्यते ।
अर्थो येषां तु पुण्येन तानेवं वक्तुमर्हसि ॥829॥

हे मार, पुण्यों से मेरा अणु-भर भी प्रयोजन नही है, जिनका पुण्य से प्रयोजन हो, उनसे ऐसा कहना चाहिए ।

नैवाहंऽमरणं[1] मन्ये मरणान्तं हि जीवितं ।
अनिवर्ती भविष्यामि ब्रह्मचर्यपरायणः ॥830॥

मैं न-मरने की कल्पना नही करता, जीवन का अन्त मरने में है, ब्रह्मचर्य में रत रहता हुआ मैं पीछे लौटने वाला नही हूँ ।

(-262-) स्रोतांस्यपि नदीनां हि वायुरेष विशोषयेत् ।
किं पुनः शोषयेत्काय-शोणितं प्रहितात्मनां ॥831॥

यह वायु नदी के स्रोतों को भी सुखा सकती है, फिर अपनी लगन में लगे (तपस्वियो) के शरीर का रक्त सुखा डाले तो बात ही क्या ?

शोणिते तु विशुष्के वै ततो मांसं विशुष्यति ।
मांसेषु क्षीयमानेषु भूयश्चित्तं प्रसीदति ॥
भूयश्छन्दश्च वीर्यं च समाधिश्चावतिष्ठते ॥832॥

1. मूल, मरणं भोट, मि ह्छि (=अमरणं) । वस्तुतः शब्द यहाँ अमरणं है । मध्यभारती के व्याकरणानुसार अकार का अनुस्वार के अनन्तर लोप हो गया है ।

रक्त के सूख जाने पर फिर मांस सूखने लगता है, मांसों का क्षय होते हुए चित्त और भी निर्मल होने लगता है, छन्द (=रुचि) वीर्य (=उद्योग) तथा समाधि और भी स्थिर होने लगते हैं।

तस्यैव( ) मे विहरतः प्राप्तस्योत्तचेतना[2]।
चित्तं नावेक्षते कायं[3] पश्य सत्त्वस्य शुद्धतां ॥833॥

इस प्रकार, उत्तम चेतना पा, विहार करते हुए मेरा चित्त काया को देखता तक नहीं, सत्त्व की—जीवकी (इस) शुद्धता को देख।

अस्ति छन्दं तथा वीर्यं प्रज्ञापि मम विद्यते। =193ख=
न तं पश्याम्यहं लोके वीर्याद् यो मां विचालयेत् ॥834॥

मुझमें छन्द (=रुचि) है, वीर्य (=उद्योग) है, तथा प्रज्ञा भी है, लोक में ऐसे किसी को मैं नहीं देखता जो मुझे उद्योग से डिगा सके।

वरं मृत्यु प्राणहरो धिग्ग्राम्यं नोपजीवितं।
संग्रामे मरणं श्रेयो यच्च जीवेत्पराजितः ॥835॥

प्राण ले लेने वाली मृत्यु उत्तम है, धिक्कार के योग्य गवाँरू जीवन नहीं। हार खाकर जो जीना है, उससे युद्ध में मरना कहीं अच्छा है।

नाशूरो जायते[4] सेनां, जित्वा चैना न मन्यते—
शूरस्तु जायते[4] सेनां, लघु मार जयामि ते ॥836॥

अ-शूर (=कायर) सेना को नहीं जीतता है। शूर सेना जीतता है और उसे जीत कर अभिमान नहीं करता है। हे मार, मैं तेरी (सेना) शीघ्र जीत लूँगा।

2. उत्तमचेतनां के स्थान में भोटपाठ छोर् ब वम् प अर्थात् उत्तमवेदनां है। एक पाठान्तर तथा पालि भी उत्तमवेदनां पाठ के समर्थक हैं। पालि यो है तस्स मेवं विहरतो पत्तस्सुत्तमवेदनं। कामे नापेक्खते चित्तं पस्स सत्तस्स सुद्धतं ॥ सुत्तनिपात, पधानसुत्त, गाथा— 11 ॥
3. कायं के स्थान में भोट लुस् दङ् स्रोग् ल अर्थात् कायजीवितं है, पालि यहाँ पर कामे (=कामान्) है।
4....4. जायते पद जि-धातु का रूप है, प्रयोग अनुपम है, यहाँ वृद्धि छन्द के कारण नहीं। बु० हा० सं० ग्रा० में इसका संग्रह किया है। वैद्यजी ने इस पद का ध्वंस कर जयते पाठ रक्खा है। भोटानुवाद, ग्यल ते, ग्यल् बर् ह्ग्युर।

ददतः सततं दानं =193क= अग्निहोत्रं च जुह्वतः ।
भविष्यति महत्पुण्यं किं प्रहाणेन करिष्यसि ॥826॥

निरन्तर दान देते हुए, अग्निहोत्र करते हुए महान् पुण्य होगा, प्रहाण (=संसारपरित्याग) से क्या करोगे ?

दुःखं मार्गं प्रहाणस्य दुष्करं चित्तनिग्रहं ।
इमां वाचं तदा मारो बोधिसत्त्वमथाब्रवीत् ॥827॥

प्रहाण (= संसारपरित्याग) की राह दुःख की है, चित्त को वश में रखना अत्यन्त कठिन है । यह बात मार ने उस समय बोधिसत्त्व से कही ।

तं तथावादिनं मारं बोधिसत्त्वस्ततोऽब्रवीत् ।
प्रमत्तबन्धो पापीयं स्वेनार्थेन त्वमागतः ॥828॥

तदनन्तर उस तरह बोलने वाले उस मार से बोधिसत्त्व बोले—हे प्रमाद के साथी (धोखा खाने मे साथ देने वाले) बड़े पापी, तू अपने स्वार्थ के लिए आया है ।

अनुमात्रं हि मे पुण्यैरर्थो मार न विद्यते ।
अर्थो येषां तु पुण्येन तानेवं वक्तुमर्हसि ॥829॥

हे मार, पुण्यों से मेरा अणु-भर भी प्रयोजन नही है, जिनका पुण्य से प्रयोजन हो, उनसे ऐसा कहना चाहिए ।

नैवाहंऽमरणं[1] मन्ये मरणान्तं हि जीवितं ।
अनिवर्ती भविष्यामि ब्रह्मचर्यपरायणः ॥830॥

मैं न-मरने की कल्पना नही करता, जीवन का अन्त मरने मे है, ब्रह्मचर्य में रत रहता हुआ मैं पीछे लौटने वाला नही हूँ ।

(–262–) स्रोतांस्यपि नदीनां हि वायुरेष विशोषयेत् ।
किं पुनः शोषयेत्काय-शोणितं प्रहितात्मनां ॥831॥

यह वायु नदी के स्रोतों को भी सुखा सकती है, फिर अपनी लगन में लगे (तपस्वियों) के शरीर का रक्त सुखा डाले तो बात ही क्या ?

शोणिते तु विशुष्के वै ततो मांसं विशुष्यति ।
मांसेषु क्षीयमानेषु भूयश्चित्तं प्रसीदति ॥
भूयश्छन्दश्च वीर्यं च समाधिश्चावतिष्ठते ॥832॥

1. मूल, मरणं भोट, मि ह्.छि (= अमरणं) । वस्तुतः शब्द यहाँ अमरणं है । मध्यभारती के व्याकरणानुसार अकार का अनुस्वार के अनन्तर लोप हो गया है ।

रक्त के सूख जाने पर फिर मांस सूखने लगता है, मांसों का क्षय होते हुए चित्त और भी निर्मल होने लगता है, छन्द (=रुचि) वीर्य (=उद्योग) तथा समाधि और भी स्थिर होने लगते हैं।

तस्यैव( ) मे विहरतः प्रासस्योत्तचेतना[2]।
चित्तं नावेक्षते कायं[3] पश्य सत्त्वस्य शुद्धतां ॥833॥

इस प्रकार, उत्तम चेतना पा, विहार करते हुए मेरा चित्त काया को देखता तक नहीं, सत्त्व की—जीवकी (इस) शुद्धता को देख।

अस्ति छन्दं तथा वीर्यं प्रज्ञापि मम विद्यते। =193ख=
न तं पश्याम्यहं लोके वीर्याद् यो मां विचालयेत् ॥834॥

मुझमें छन्द (=रुचि) है, वीर्य (=उद्योग) है, तथा प्रज्ञा भी है, लोक में ऐसे किसी को मैं नहीं देखता जो मुझे उद्योग से डिगा सके।

वरं मृत्यु प्राणहरो धिग्ग्राम्यं नोपजीवितं।
संग्रामे मरणं श्रेयो यच्च जीवेत्पराजितः ॥835॥

प्राण ले लेने वाली मृत्यु उत्तम है, धिक्कार के योग्य गवांरू जीवन नहीं। हार खाकर जो जीना है, उससे युद्ध में मरना कहीं अच्छा है।

नाशूरो जायते[4] सेनां, जित्वा चैना न मन्यते—
शूरस्तु जायते[4] सेनां, लघु मार जयामि ते ॥836॥

अ-शूर (=कायर) सेना को नहीं जीतता है। शूर सेना जीतता है और उसे जीत कर अभिमान नहीं करता है। हे मार, मैं तेरी (सेना) शीघ्र जीत लूंगा।

---

2. उत्तमचेतनां के स्थान में भोटपाठ छोर् ब दम् प अर्थात् उत्तमवेदनां है। एक पाठान्तर तथा पालि भी उत्तमवेदनां पाठ के समर्थक हैं। पालि यो है तस्स मेवं विहरतो पत्तस्सुत्तमवेदनं। कामे नापेक्खते चित्तं पस्स सत्तस्स सुद्धतं ॥ सुत्तनिपात, पधानसुत्त, गाथा— 11 ॥
3. कायं के स्थान मे भोट लुस् बङ् स्रोग् ल अर्थात् कायजीवितं है, पालि यहाँ पर कामे (=कामान्) है।
4....4. जायते पद जि-धातु का रूप है, प्रयोग अनुपम है, यहाँ वृद्धि छन्द के कारण नहीं। बु० हा० सं० ग्रा० में इसका संग्रह किया है। वैद्यजी ने इस पद का ध्वंस कर जयते पाठ रक्खा है। भोटानुवाद, ग्यॅल ते, ग्यॅल् बर् हृग्युर।

कामास्ते प्रथमा सेना द्वितीया अरतिस्तथा ।
तृतीया क्षुत्पिपासा ते तृष्णा सेना चतुर्थिका ॥837॥

तेरी प्रथम सेना काम है, तथा दूसरी (सेना) अरति (= बेचैनी) है, तीसरी (सेना) भूख-प्यास है, तथा तेरी चौथी सेना तृष्णा है ।

पञ्चमी स्त्यानमिद्धं ते भयं षष्ठी निरुच्यते ।
सप्तमी विचिकित्सा ते क्रोधम्रक्षौ तथाष्टमी ॥838॥

तेरी पाँचवी (सेना) निद्रा-तंद्रा है, छठी (सेना) भय (नाम से) कही जाती है, तेरी सातवी सेना संशय है, तथा आठवी (सेना) क्रोध और म्रक्ष (= दूसरे के गुणों के प्रति तुच्छता का भाव) है ।

[5]लाभश्लोकौ च सत्कारो[5] मिथ्यालब्धं च यद् यशः ।
आत्मानं यश्च उत्कर्षेद् यश्च वै ध्वंसयेत् परां ॥839॥
एषा हि नमुचेः सेना कृष्णबन्धोः प्रतापिनः ।
अत्रावगाढा दृश्यन्ते एते श्रमणब्राह्मणाः ॥840॥

लाभ, श्लोक (स्तोत्र), सत्कार तथा मिथ्या (के द्वारा) प्राप्त जो यश एवं जो अपने आप की मानोन्नति तथा औरों की मान-हानि करना है यह (सब) अत्यन्त संताप देने, पाप के भाई-बंद, मार की सेना है, इसी में ये सब श्रमण-ब्राह्मण डूबे दिखाई पड़ते हैं ।

या ते सेना धर्षयति लोकमेनं सदेवकं । (-263-)
भेत्स्यामि प्रज्ञया तां ते आमपात्रमिवाम्बुना ॥841॥

तेरी जो सेना इस देवताओं के सहित लोक को दबोच रही है, उस तेरी (सेना) को प्रज्ञा से भेद डालूँगा, जैसे कच्चा बर्तन पानी से भेद डाला जाता है ।

स्मृतिं सूपस्थितां कृत्वा प्रज्ञां चैव सुभावितां ।
संप्रजानं चरिष्यामि किं करिष्यसि दुर्मते ॥842॥

स्मृति को सम्यक् उपस्थित कर तथा प्रज्ञा को सम्यक् भावित कर जानते-बूझते विचरूँगा । हे दुष्टमति वाले (मार) तू (मेरा) क्या कर लेगा ।

ऐसा कहने पर बड़ा-पापी मार दुःखी, खिन्न-मन, अप्रसन्न-चित्त =194क= पछताता हुआ वहीं पर तिरोहित हो गया ।

5....5. मूल, लोभश्लोकौ च संस्कारो । भोट, ह्योब् दङ् छिगस् ब्चद् ब्कुर् स्ति दङ्....(लाभश्लोकौ च सत्कारो....) । तुलनीय पालि-लाभो सिलोको सक्कारो (सुत्तनिपात, पधानसुत्त, गाथा 14) ।

3. हे भिक्षुओं, तदनन्तर बोधिसत्त्व के मन में यह बात आई कि अतीत, अनागत और वर्तमान काल मे जो भी श्रमण और ब्राह्मण अपनी तपस्या से काया को तपा कर जो तीव्र, खर, कटु एवं असह्य दुःखानुभूति करते हैं, वह दुःखानुभूति अधिक से अधिक इतनी ही होती है।

4. हे भिक्षुओं, मेरे मन में यह बात आई कि इस चर्या से भी-इस प्रतिपदा (मार्ग) से भी मुझे कोई विशेष मनुष्य-धर्म से ऊपर का पूर्ण आर्य-ज्ञानदर्शन प्रत्यक्षगोचर नही हुआ है, (इसीलिए) यह मार्ग बोधि का नही है, यह मार्ग उत्तर-काल में निरन्तर होने वाले जन्म, जरा तथा मरण के अस्त हो जाने का मार्ग नहीं है। बोधि का तथा उत्तर-काल में निरन्तर होने वाले जन्म, जरा तथा मरण के अस्त हो जाने का मार्ग कोई और ही होना चाहिए।

5. हे भिक्षुओं, मेरे मन में यह बात आई कि मैंने पिता के उद्यान में जम्बू (वृक्ष) की छाया में बैठे काम वासनाओं से अलग हुए, अशुभ-पाप धर्मो से अछूते, वितर्क तथा विचार अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्म चिन्तन से युक्त, विवेक (= एकान्त) मे उत्पन्न प्रीति तथा सुख से युक्त = 194ख = प्रथम ध्यान को पाकर विहार किया था....(द्रष्टव्य कृषिग्रामपरिवर्त)....चतुर्थ ध्यान को पाकर विहार किया था, शायद वह मार्ग बोधि का, निरन्तर होने वाले जाति, जरा और मरण के अस्त हो जाने का मार्ग हो, उसके अनुसार मुझे ज्ञान हुआ कि वही मार्ग बोधि का है।

6. मेरे मन में यह बात आई कि इस प्रकार दुर्बल हुए (व्यक्ति) के द्वारा उस मार्ग का पूर्णतया सम्यक् बोध नहीं हो सकता। यदि मैं केवल अभिज्ञान (= दिव्यज्ञान) के बल से ही, इस प्रकार रूखे-दुबले शरीर से, बोधिमण्डप (–264–) पर पहुँचूँ तो यह आने वाली जनता के ऊपर करुणा न होगी। यह मार्ग बोधि का नही है। क्यों न मैं स्थूल अन्न का भोजन कर, शरीर मे बल और दृढ़ता उत्पन्न करने के पश्चात् बोधिमण्डप पर पहुँचूँ।

7. हे भिक्षुओ, वहाँ पर जो रूखी (तपश्चर्या) मे रुचि वाले देवपुत्र थे, वे (अपने) चित्तसे मेरे चित्त का विचार जान कर जहाँ मैं था, वहाँ पहुँच कर, मुझसे यों बोले—हे सत्पुरुष, तुम स्थूल अन्न का भोजन मत करो, हम रोम-कूपों द्वारा ओज तुम मे भर देंगे।

8. हे भिक्षुओं, मेरे मन में यह बात आई। मैं निराहारी रहूँगा, ऐसी मेरी-अपनी प्रतिज्ञा है और चारो ओर गोचरग्रामो (= भिक्षा देने वाले ग्रामो) के निवासी लोग भी ऐसा ही जानते रहे है कि श्रमण गौतम = 195क = निराहारी

रह रहा हूँ। इस अवस्था में यदि रुची (तपश्चर्या) मे रुचि वाले देवपुत्र रोमकूपों द्वारा मुझमे ओज भर दें तो मेरी (निराहार रहने की बात) अत्यन्त झूठी बात होगी। तदनन्तर बोधिसत्त्व झूठ बोलने का कलङ्क न लगने पाए, इसलिए उन देवपुत्रों को मना कर, स्थूल अन्न का भोजन करने के लिए (अपने) चित्त को नमाया।

9. हे भिक्षुओं, इस प्रकार छह वर्ष का व्रत और तप पार कर बोधिसत्त्व उस आसन से उठ कर (मैं) स्थूल अन्न—यथा राब, मूँग का जूस, मटर का जूस, मथ्य (= मट्ठा), ओदन (= भात), तथा कुल्माप (घुघरी) भोजन में ग्रहण करूँगा।

10. हे भिक्षुओं, तब पाँचों भद्रवर्गीयों के मन में बात आई कि उस चर्या से भी, उस प्रतिपदा (मार्ग) से भी श्रमण गौतम कोई विशेष मनुष्य धर्म से ऊपर का पूर्ण आर्य-ज्ञान-दर्शन का साक्षात्कार न कर सके, फिर अब स्थूल अन्न का भोजन करते हुए, भोज करने के जोड़-तोड़ में लग कर विहार करते हुए क्या कर पाएँगे। स्पष्ट ही ये (अभी) बच्चे हैं। ऐसा सोच-समझ बोधिसत्त्व के पास से चल गए। वाराणसी जाकर ऋषिपतन मृगदाव में विहरने लगे।

11. (–265–) यहाँ आरंभ से ही दुष्कर-चर्या का अभ्यास करते हुए बोधिसत्त्व के पास दस कुमारी ग्राम नेताकी पुत्रियाँ दर्शन के लिए, वन्दना के लिए, =195ख= उपासना के लिए जाया करती थी। वे पाँचों भद्रवर्गीय भी उपस्थान (= सेवा) करते थे, एक बेर, एक तण्डुल और एक तिल दान दिया करते थे। ग्रामनेता की पुत्री कुमारियों के नाम बला, बलगुप्ता, सुप्रिया, विजय-सेना, अतिमुक्तकमाला,[6] सुन्दरी, कुम्भकारी, उलविल्लिका, जटिलिका तथा सुजाता थे। इन सब कुमारियों ने वे सब प्रकार के जूस बना कर बोधिसत्त्व को दिए, जिन्हे खा-पीकर बोधिसत्त्व क्रम से गोचरग्रामों (= भिक्षा देने वाले ग्रामो) में भिक्षा करते हुए रूपवान् और बलवान् हो गए। तब से लेकर बोधिसत्त्व महाश्रमण एवं सुन्दर-श्रमण कहे जाने लगे।

12. हे भिक्षुओ, वहाँ पर ग्राम नेता की पुत्री सुजाता बोधिसत्त्व की दुष्कर चर्या के आरम्भ से ही व्रत एवं तप मे बोधिसत्त्व के उत्तीर्ण होने के लिए तथा शरीर की पुष्टि के लिए प्रतिदिन आठ सौ ब्राह्मणो को भोजन कराती थी और मनौती मनाती थी कि मेरा भोजन करके बोधिसत्त्व सम्यक्-सबोधि को भलीभाँति बूझें।

6. मूल, अतिमुक्तकमला। पठनीय, अतिमुक्तकमाला। तुलनीय भोट, अ-ति-मु-क्त-क हि फ्रेङ् ब चन् वङ्।

13. हे भिक्षुओं, छह वर्ष बीत जाने पर मेरे काषाय वस्त्र अत्यन्त जीर्ण हो गए थे। हे भिक्षुओं, = 196क = मेरे मन में बात आई कि यदि मुझे कौपीन-प्रच्छादन (अंग ढँकने के लिए वस्त्र) मिले तो अच्छा हो।

14. उस समय हे भिक्षुओं, ग्राम नेता की पुत्री सुजाता की दासी, जिसका नाम राधा था, काल कर गई थी। उसे सन् के वस्त्र मे लपेट कर, श्मशान में ले जाकर, छोड़ दिया गया था। वही मुझे पांसुकूल (धूल मे फेका वस्त्र) दिखाई पड़ा। तदनन्तर मैं उस पांसुकूल पर बायाँ पैर रख, दाहिना हाथ फैला, लेने के लिए झुका।

15. (–266–) तदनन्तर धरती के देवताओं ने आकाश के देवताओं को घोषणा कर सुनाई—मार्षो (= साथियो) यह अचरज है, मार्षो (= साथियो) यह अद्भुत है, जो महाराज कुल मे उत्पन्न, चक्रवर्ति राज्य का परित्याग करने वाले का चित्त पांसुकूल की ओर झुका। आकाश के देवताओं ने धरती के देवताओं का शब्द सुन कर चातुर्महाराजिक देवताओ को घोषणा कर सुनाई, चातुर्महाराजिकों ने त्रायस्त्रिंश देवताओं को, त्रायस्त्रिंशों ने यामों को, यामों ने तुषितों को, तुषितों ने निर्माणरतियों को, निर्माणरतियों ने परनिर्मितवशवर्तियों को, परनिर्मितवशवर्तियों ने ब्रह्मकायिकों को। हे भिक्षुओं, उसी क्षण, उसी लव, उसी मुहूर्त, अकनिष्ठ-भुवन तक एक-घोष, एक साथ बड़ा नाद उठा कि मार्षो (= साथियो) यह अचरज है, मार्षो (= साथियों) यह अद्भुत है, जो महाराज कुल मे उत्पन्न, = 196ख = चक्रवर्ति राज्य का परित्याग करने वाले का चित्त पांसुकूल की ओर झुका।

16. अनन्तर बोधिसत्त्व के मन मे बात आई—मुझे पांसुकूल मिल गया, पानी मिलता तो अच्छा होता। तदनन्तर वहाँ पर ही देवता ने हाथ से भूमि को धक्का दिया। वहाँ पुष्करिणी प्रकट हो गई। आज भी वह पाणिहता-पुष्करिणी के नाम से पुकारी जाती है।

17. फिर बोधिसत्त्व के मन मे और भी बात आई-मुझे पानी मिल गया, शिला मिलती, जहाँ इस पांसुकूल को धोता, तो अच्छा होता। तब वहीं पर उसी क्षण इन्द्र ने शिला ला कर डाल दी। तदनन्तर बोधिसत्व ने पांसुकूल धोया।

18. तब देवताओ के राजा इन्द्र बोधिसत्व से बोले। हे सत्पुरुष, यह मुझे दो, मैं धो दूँगा। पर बोधिसत्व ने प्रव्रज्या में आत्मनिर्भरता दिखाने के लिए वह पांसुकूल इन्द्र को न देकर स्वयं धोया।

19. (–267–) उन्होने (पुष्करिणी में) घुस कर श्रम किया, उनका शरीर थक गया, पुष्करिणी से उन्होने निकलना चाहा। पर ईर्ष्या-भाव से व्याप्त बड़े

पापी मारने पुष्करिणी के किनारे बहुत ऊँचे कर डाले। उस पुष्करिणी के तीर पर (एक) बड़ा अर्जुन का पेड़ था। उस पर की देवता से बोधिसत्त्व =197क= लोकाचार पालन करने के लिए तथा (इस) देवता पर अनुग्रह करने के लिए बोधिसत्त्व बोले—हे देवते, पेड़ की डाली (झुका) दो। उसने पेड़ की डाली झुका दी। उसका सहारा लेकर बोधिसत्त्व (निकल कर) ऊपर आ गए। ऊपर आकर उस अर्जुन वृक्ष के नीचे पांसुकूल को संघाटी (=कन्था) बना कर सिया। आज भी वह स्थान पांसुकूलसीवन के नाम से कहा जाता है।

20. तदनन्तर शुद्धवासकायिक देवपुत्र विमलप्रभ ने काषायरंग में रंगे, श्रमण के लिए योग्य, कल्पिक (=विधिसंमत) चीवर बोधिसत्त्व को अर्पित किए। बोधिसत्त्व ने उनको लेकर पूर्वाह्ण में पहन कर संघाटी ओढ़ कर गोचर ग्रामों की ओर गए।

21. वहाँ पर उरुविल्वासेनापति के ग्राम में नन्दिक (नाम के) ग्रामनेता की पुत्री सुजाता को देवताओं ने आधी रात के समय चेताया कि जिनके लिए तुम महान् यज्ञ कर रही हो वे अपने व्रत में उत्तीर्ण हो सुन्दर स्थूल अन्न का भोजन करेंगे। तुमने पहले मनौती मनाई है कि मेरा भोजन कर बोधिसत्त्व अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को भलीभाँति बूझे। तुम्हें अब जो करना हो सो करो।

22. हे भिक्षुओ, तदनन्तर नन्दिक ग्रामनेता की =197ख= पुत्री सुजाता ने उन देवताओं के उस वचन को सुन कर जल्दी-जल्दी हज़ार गौओं के सात बार सार-सार लेकर इकट्ठे दूध से श्रेष्ठ ओज (वाला)—मण्ड (सार) लिया। वह उस ताज़े दूध को लेकर, नए चावलों को, नई बटलोई में, नई चूल्ही लीप कर, सिद्ध करने लगी। उस (अन्न को) सिद्ध करते समय ये पूर्व-निमित्त (सगुन) दिखाई पड़ते थे। (–268–) उस दूध में श्रीवत्स, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त, पद्म, वर्धमान आदि मंगलकारक (पदार्थ) दिखाई पड़ते थे। तब उसके मन में बात आई कि जैसे पूर्वनिमित्त (=सगुन) दिखाई पड़ते है, (उससे जान पड़ता है कि) निःसन्देह यह भोजन खाकर बोधिसत्त्व अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करेंगे। सामुद्रिक शास्त्र का तज्ञ ज्योतिषी भी उस स्थान पर आया और उसने भी उसी तरह अमृत-प्राप्ति की भविष्यवाणी की। तदनन्तर (जब) वह पायस पक गया (तब) चौतरा लीप कर, फूलों से चौक पूर कर, सुगन्धित जल छिड़क कर, सत्कार के साथ आसन बिछा कर उत्तरा नाम की दासी को बुला कर कहा—हे उत्तरे, जा, ब्राह्मण बुला ला, मैं इस मधुपायस को देखती हूँ। अच्छा आर्ये, ऐसा कह कर (उत्तरा) पूर्व दिशा की ओर गई, उसने वहाँ बोधिसत्त्व

को ही देखा। उसी प्रकार दक्षिण की ओर बोधिसत्त्व को ही देखा। उसी प्रकार पश्चिम =198क= और उत्तर की ओर गई, वहाँ-वहाँ बोधिसत्त्व को ही देखा। उस समय शुद्धावासकायिक देवपुत्रों ने सब दूसरे तीर्थिको को (ऐसा) घेर लिया था कि कोई दिखाई न पड़ता था। तब उसने आकर अपनी मालकिन से कहा हे आर्ये, कोई और श्रमण या ब्राह्मण दूसरी जगह नहीं दिखाई पड़ रहा है, जहाँ-जहाँ जाती हूँ वहाँ-वहाँ उन्ही सुन्दर श्रमण को देखती हूँ। सुजाता बोली—जा उत्तरे, वही ब्राह्मण हैं, वही श्रमण है, उनके लिए यह (यज्ञ का) आरम्भ है, उन्ही को ले आ। अच्छा आर्ये, ऐसा कह उत्तरा ने जाकर बोधिसत्त्व के चरणों मे प्रणाम किया (और) सुजाता के नाम से निमन्त्रित किया। हे भिक्षुओं, तदनन्तर बोधिसत्त्व (नन्दिक) ग्रामनेता की पुत्री सुजाता के घर पर जाकर बिछे हुए आसन पर बैठे।

23. तदनन्तर हे भिक्षुओं, (नन्दिक) ग्रामनेता की पुत्री सुजाता ने मधुपायस से भरी हुई सुवर्णपात्री बोधिसत्त्व को अर्पित की।

(-269-) तब बोधिसत्त्व के मन मे यह बात आई—सुजाता ने जैसा भोजन अर्पित किया है, आज मे निःसन्देह इस (भोजन) का भोग कर सम्यक् सम्बोधि का भलीभाँति बोध करूँगा।

24. तदनन्तर बोधिसत्त्व =198ख= उस भोजन को लेकर ग्रामनेता की पुत्री सुजाता से यह बोले—बहन, इस सुवर्णपात्री का क्या किया जाए। वह बोली—(यह) तुम्हारी ही हो। बोधिसत्त्व बोले—इस प्रकार के पात्र से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। सुजाता बोली—जैसी इच्छा हो वैसा करो, मै पात्र के बिना किसी को भोजन नही अर्पित करती।

25. तदनन्तर बोधिसत्त्व उस पिण्डपात्र को लेकर उरुविल्वा से निकल कर पूर्वाह्ण के समय नागनदी-नैरंजना पर पहुँचे। उस पिण्डपात्र तथा चीवरों को एक ओर रख, अंग-प्रत्यग शीतल करने के लिए, नैरंजना नदी में उतरे।

26. हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व के स्नान करते समय अनेक सहस्र देवपुत्र दिव्य अगर और चन्दन के चूर्णों और विलेपनों को नदी मे घोल रहे थे तथा बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए रंग-रंग के दिव्य फूल जल में फेक रहे थे।

27. उस समय नैरंजना नदी दिव्य गन्धों और पुष्पो से भरी-भरी बहती थी। जिस सुगन्धित जल से बोधिसत्त्व ने स्नान किया था, उसे लाखो-करोड़ खर्व देवपुत्र ले-लेकर चैत्य के लिए तथा पूजा के लिए अपने-अपने भवन को ले जाते थे।

28. और जो बोधिसत्त्व के जो केशश्मश्रु (=दाढ़ी-मूछ और केश) थे उन सबको, =199क= मंगलमय समझ कर, चैत्य के लिए तथा पूजा के लिए, ग्रामनेता की पुत्री सुजाता ने ले लिए।

29. (-270-) नदी से निकल कर बैठने की इच्छा से बोधिसत्त्व ने पुलिन (=रेतीला नदी-तीर) निहारा। तब जो नैरंजना नदी मे नागकन्या थी, उसने धरणीतल से ऊपर आकर मणिमय मनोरम भद्रासन बोधिसत्त्व को अर्पित किया। उस पर बैठ कर, ग्रामनेता की पुत्री सुजाता पर अनुकम्पा कर, जितना चाहा उतना मधुपायस, बोधिसत्त्व ने खाया। खाकर उस सुवर्णपात्री को (अपने प्रयोजन की न समझ) उपेक्षा-भाव के साथ पानी मे फेंक दिया। फेंकते ही फेंकते उसे नागराज सागर परम-आदर-सत्कार के साथ लेकर अपने भवन चल पड़े। तब सहस्र नेत्र वाले पुरन्दर गरुड़ का रूप धर वज्र की चोंच बना कर नागराज सागर से वह सुवर्णपात्री छीनने लगे। जब न छीन सके, तब अपना रूप धर, आदर के साथ माँग कर चैत्य के लिए तथा पूजा के लिए त्रयास्त्रिंशभवन ले गए। ले जाकर पात्री-यात्रा नामक पर्व प्रवर्तित किया। आज भी त्रायस्त्रिंश देवों मे प्रतिवर्ष पात्रीमह (=पात्रीमहोत्सव) होता है। उस भद्रासन को उसी नागकन्या ने =199ख= चैतन्य के लिए तथा पूजा के लिए ग्रहण किया।

30. हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व के द्वारा स्थूल अन्न का भोजन करने के ठीक बाद, उसी क्षण, बोधिसत्त्व के पुण्यबल से प्रज्ञाबल से काया पर पहले के वर्ण की (=रंग-रूप की) पुष्कलता (=प्रचुरता) का और बत्तीस महापुरुष लक्षणों का, तथा अस्सी अनुव्यञ्जनों का एवं व्यामप्रभता (=अर्थात् दोनों भुजाओं के फैलाने से बने व्यास वाली प्रभामण्डलता) का प्रादुर्भाव हो गया।

31. इस विषय में (गाथाओं द्वारा) यों कहा जाता है—

(छंद शार्दूलविक्रीडित)

षड् वर्ष व्रत उत्तरित्व भगवान् एवं मतिं चिन्तयन्
सोऽहं ध्यानअभिज्ञज्ञानबलवानेवं कृशाङ्गोऽपि सन्।
गच्छेय द्रुमराजमूलविटपं सर्वज्ञतां बुध्यितुं
नो मे स्यादनुकम्पिता हि जनता एवं भवेत् पश्चिमा। ॥843॥

छह वर्षों तक किए व्रत मे उत्तीर्ण होकर भगवान् ने यों विचार करते सोचा—ऐसे दुबले-पतले शरीर के साथ भी मैं यदि ध्यान एवं दिव्यबुद्धि के ज्ञानबल से ही वृक्षो के राजा (पीपल के) पेड़ के नीचे सर्वज्ञता का बोध करने के लिए जाऊँ, तो ऐसा करने से आगे वाली जनता के ऊपर मेरी अनुकम्पा न होगी। (-271-)

यत्वौदारिक भुक्त्व भोजनवरं काये बलं कृत्वना।
गच्छेयं द्रुमराजमूलविटपं सर्वज्ञतां बुध्यितुं।
मा हैवेत्वरपुण्य देवमनुजा लूहेन ज्ञानेक्षिणो
नो शक्ता सिय बुध्यनाय अमृतं कायेन ते दुर्बला: ॥844॥

हीन पुण्य के देवता और मनुष्य रूखी (तपश्चर्या) से (कहीं) ज्ञानदर्शन न चाहने लगें (और) शरीर से दुबल वे अमृत—बोध में (कहीं) असमर्थ न हो जाएँ (इसलिए यही उचित है)· कि मैं स्थूल अन्न का उत्तम भोजन कर, शरीर में बल (उत्पन्न) कर, वृक्षों के राजा (पीपल के) पेड़ के नीचे सर्वज्ञता का बोध करने के लिए जाऊँ।

सा च ग्रामिकधीत पूर्व चरिता नाम्ना सुजाता इति
यज्ञा नित्यु यजाति एवमनसा सिद्ध्ये व्रतं नायके।
सा देवान निशाम्य चोदन तदा गृह्या मधूपायसं = 200क =
उपगम्य नदि तीरि हृष्टमनसा नैरञ्जनाया स्थिता ॥845॥

पहले (की तपश्चर्या में) परिचर्या करने वाली, वह ग्रामनेता की पुत्री, नाम से सुजाता नित्य यज्ञ करती रहती थी जिससे कि नायक (बोधिसत्व का) व्रत सफल हो जाए। वह देवताओं की प्रेरणा तब सुन कर, मधुपायस लेकर, प्रसन्न मनके साथ नैरञ्जना नदी के तीर पर जाकर खड़ी हो गई।*

सो चा कल्पसहस्रचीर्णचरितो शान्तप्रशान्तेन्द्रियो
देवैर्नागगणैर्ऋषी परिवृतो आगत्य नैरञ्जनां।
तीर्णस् तारकु पार सत्व मतिमां स्नाने मति चिन्तयन्
ओरुह्या नदि स्नापि शुद्धविमलो लोकानुकम्पी मुनि: ॥846॥

और सहस्र कल्पों तक चर्या को पूरा किए हुए, शान्त एवं प्रशान्त इन्द्रियों वाले, देवताओं, नागगणो तथा ऋषियों से घिरे हुए, नैरञ्जना (नदी) पर आ, स्वयं पार पहुँच, प्राणियों को पार करने के (अभिप्राय) वाले, शुद्ध, निर्मल, लोक पर अनुकपा करने वाले, उन मुनि ने नदी में उतर कर स्नान किया।

देवा: कोटिसहस्र हृष्टमनसा गन्धाम्बु चूर्णानि च
ओरुह्या नदि लोडयन्ति सलिलं स्नानार्थ सत्वोत्तमे।
स्नाना स्नात्वन बोधिसत्वविमलस्तीरे स्थित: सूरत:
हर्षुर्देवसहस्र स्नानसलिलं पूजार्थ सत्वोत्तमे ॥847॥

* ऊपर गद्य में घर पर बुला कर मधुपायस देने की चर्चा है, पर यहाँ नदी-तीर जाकर भिक्षा देने के निमित्त सुजाता का खड़ा होना कहा गया है। यह भेद महत्व का है। गद्य मे मूल पद्य से भेद बतलाता है कि गद्यकार ने कथा कहीं दूसरे स्थान से ले ली है। देखिए आगे का 849वां श्लोक।

करोड़ों सहस्र देवता आनन्दित मन से नदी में उतर कर प्राणियों में श्रेष्ठ (बोधिसत्त्व) के स्नान के लिए सुगन्धित-जल और चूर्ण पानी में घोल रहे थे। स्नान कर-कर निर्मल एवं सूरत (कृपालु) बोधिसत्त्व तीर पर खड़े हुए। सहस्रों देवता सत्त्वों में श्रेष्ठ (बोधिसत्त्व) के स्नान किए हुए जल को पूजा के लिए ले गए।

काषायानि च वस्त्र निर्मलशुभा ता देवपुत्रो ददे
कल्पीयानि च संनिवास्य भगवांस्तीरे हि नद्या स्थितः।
नागाकन्य उदग्रहृष्टमनसा भद्रासनं सा न्यषीत्
यत्रासौ निषसाद शान्तमनसो लोकस्य चक्षुष्करः ॥848॥

देवपुत्र ने निर्मल, पवित्र, कल्प्य (= विधिसंमत), उन काषाय वस्त्रों को दिया, जिन्हे पहन कर भगवान् नदी के तीर पर खड़े हुए। मन मे आनन्दित और उल्लसित हो वहाँ की नागकन्या ने भद्रासन बिछा दिया, जिस पर वे शान्त मन के, लोक को दृष्टि देने वाले (बोधिसत्त्व) बैठे।

दत्वा भोजनु सा सुजात मतिमां स्वर्णामये भाजने
वन्दित्वा चरणानि सा प्रमुदिता परिभुङ्क्ष्व मे सारथे।
(–272–) भुक्त्वा भोजनु यावदर्थ मतिमान् पात्रीं जले प्राक्षिपत्
तां = 200ख = जग्राह पुरंदरः सुरगुरुः पूजां करिष्याम्यहं ॥849॥

उस मतिमती सुजाता ने स्वर्णपात्र मे भोजन देकर, चरणो मे नमस्कार कर, प्रफुल्लित होकर कहा हे मेरे सारथे, भोजन करो। उन मतिमान् ने जितने से प्रयोजन था, उतना भोजन कर (सुवर्ण–) पात्री को पानी में फेक दिया, उसे देवताओं मे (सबसे) बड़े पुरंदर (इन्द्र) ने ले लिया कि मै (इस पात्री की) पूजा करूँगा।

यद भुक्तं च जिनेन भोजनवरं ओदारिकं तत्क्षणे
तस्या काय बलं च तेज शिरिया पूर्वं यथा संस्थितं।
धर्मा कृत्व कथा सुजात मरुणां च अर्थं बहुं
सिंहो-हंसगतिर्गजेन्द्रगमनो[7] बोधिद्रुमं संस्थितः[8] ॥850॥इति॥[9]

7. तुलनीय भोट सेङ् गे डङ् प हि. स्तबस् दङ् ग्लङ् पो हि द्बङ् हि.ह्ग्रोस् क्यिस्। सिंह समास का पूर्वपद है, पर विभक्त्यन्त है। सिंह को पृथक्पद रखने से भी असंगति नहीं है, पर समास मे अर्थ संगततर है। तुलनीय परिवर्त 19 गाथा 906 सिंहाहंसगतिः (= सिंहहंसगतिः)।

8. संस्थितः शब्द यहाँ पर प्रस्थितः (= प्रस्थान किया) के अर्थ मे है। तुलनीय भोट, छस्।

9 इस परिवर्त की गाथाओं की छाया यों है—

जब जिन ने स्थूल अन्न के उत्तम भोजन का भोग किया, तब उसी क्षण उनके शरीर पहले की भांति बल, तेज तथा श्री हो गई। धार्मिक-कथा कह कर सुजाता तथा देवताओं का बहुत प्रयोजन (सिद्ध) कर, वे सिंह तथा हंस की गति से, गजेन्द्र की गति से बोधिवृक्ष की ओर चल पड़े।

॥ इति श्री ललितविस्तरे नैरञ्जनापरिवर्तो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥

■

रमणीयान्यरण्यानि वनगुल्मश्च वीरुधः। प्राग् उरुविल्वाया यत्र नैरञ्जना नदी ॥821॥ प्रहाणायोद्यतं तत्र सततं दृढविक्रमम्। पराक्रममाणं वीर्येण योगक्षेमस्य प्राप्तये ॥822॥ नमुचिर्मधुरां वाचं भाषमाण उपागमत्। शाक्यपुत्र समुत्तिष्ठ कायखेदेन किं तव ॥823॥ जीवतु जीवितं श्रेयो जीवन् धर्मं चरिष्यसि। जीवन् हि तानि कुरुते यानि कृत्वा न शोचति ॥824॥ कृशो विवर्णो दीनस्त्वम् अन्तिके मरणं तव। सहस्रभागे मरणमेकभागे च जीवितम् ॥825॥ ददतः सततं दानमग्नि होत्रं च जुह्वतः। भविष्यति महत्पुण्यं किं प्रहाणेन करिष्यसि ॥826॥ दुःखो मार्गो प्रहाणस्य दुष्करश्चित्तनिग्रहः। इमां वाचं तदा मारो बोधिसत्त्वमथाब्रवीत् ॥827॥ तं तथावादिनं मारं बोधिसत्त्वस्ततोऽब्रवीत्। प्रमत्तबन्धो पापीयन् स्वेनार्थेन त्वमागतः ॥828॥ अणुमात्रं हि मे पुण्यैरर्थो मार न विद्यते। अर्थो येषां तु पुण्येन तानेवं वक्तुमर्हसि ॥829॥ नैवाहम् अमरणं मन्ये मरणान्तं हि जीवितम्। अनिवर्ती भविष्यामि ब्रह्मचर्यपरायणः ॥830॥ स्रोतांस्यपि नदीनां हि वायुरेष विशोषयेत्। किं पुनः शोषयेत्कायशोणितं प्रहितात्मनाम् ॥831॥ शोणिते तु विशुष्के वै ततो मांसं विशुष्यति। मांसेषु क्षीयमाणेषु भूयश्चित्तं प्रसीदति। भूयश्छन्दश्च वीर्यं च समाधिश्चावतिष्ठते ॥832॥ तस्यैवं मे विहरतः प्राप्तस्योत्तमचेतनाम्। चित्तं नावेक्षते कायं पश्य सत्त्वस्य शुद्धताम् ॥833॥ अस्ति छन्दो तथा वीर्यं प्रज्ञापि मम विद्यते। तं न पश्याम्यहं लोके वीर्याद् यो मां विचालयेत् ॥834॥ वरं मृत्युः प्राणहरो धिग्ग्राम्यं नोपजीवितम्। संग्रामे मरणं श्रेयो यच्च जीवेत् पराजितः ॥835॥ नाशूरो जयति सेनां जित्वा चैनां न (अभि-) मन्यते। शूरस्तु जयति सेनां लघु मार जयामि ते (सेनामिति शेषः) ॥836॥ कामास्ते प्रथमा सेना द्वितीयाऽरतिस्तथा। तृतीया क्षुत्पिपासे ते तृष्णा सेना चतुर्थिका ॥837॥ पञ्चमी स्त्यानमिद्धं ते भयं षष्ठी निरुच्यते। सप्तमी विचिकित्सा ते क्रोधम्रक्षौ तथाष्टमी ॥838॥ लाभश्लोकौ च सत्कारो मिथ्यालब्धं च यद् यशः। आत्मानं समुत्कर्षेद् यश्च वै ध्वंसयेत् परान्

॥839॥ एषा हि नमुचेः सेना कृष्णबन्धोः प्रतपिनः। अत्रावगाढा दृश्यन्त एते श्रमणब्राह्मणाः ॥840॥ या ते सेना धर्षयति लोकमेनं सदेवकम्। भेत्स्यामि प्रज्ञया तां त आमपात्रमिवाम्बुना ॥841॥ स्मृतिं सूपस्थितां कृत्वा प्रज्ञां चैव सुभाविताम्। संप्रजानन् चरिष्यामि किं करिष्यसि दुर्मते ॥842॥

षड् वर्षाणि व्रतमुत्तीर्य भगवानेवं मतिं चिन्तयन्, सोऽहं ध्यानाभिज्ञा-ज्ञानबलवान् एवं कृशाङ्गोऽपि सन्। गच्छेयं द्रुमराजविटपमूलं सर्वज्ञतां बोद्धुं, नो मे स्यादनुकम्पिता हि जनतैवं भवेत् पश्चिमा ॥843॥ यत्वौदारिकं भुक्त्वा भोजनवरं काये बलं कृत्वा, गच्छेयं द्रुमराजविटपमूलं सर्वज्ञतां बोद्धुम्। मा ह्येवम् इत्वरपुण्या देवमनुजा रूक्षेण ज्ञानेक्षिणो (भूवन्-इति शेषः), नो शक्ताः स्युर्बोधनायामृतस्य कायेन ते दुर्बलाः ॥844॥ सा च ग्रामणीदुहिता पूर्वं चरितवती नाम्ना सुजाता-इति, यज्ञं नित्यं यजत्येवं-मनाः सिद्ध्येद् व्रतं नायकस्य। सा देवानां निशम्य चोदनां तदा गृहीत्वा मधुपायसम्, उपगम्य नद्यास्तीरे हृष्टमनसा (अथवा हृष्टमनाः) नैरञ्जनायाः स्थिता ॥845॥ स च कल्पसहस्रचरितचर्यः शान्त-प्रशान्तेन्द्रियो, देवैर्नागगणैर् ऋषिभिः परिवृत आगत्य नैरञ्जनाम्। तीर्णस् तारकः पार सत्वान् मतिमान् स्नाने मतिं चिन्तयन्, अवरुह्य नद्याम् अस्नासीच् छुद्धविमलो लोकानुकम्पी मुनिः ॥846॥ देवाः कोटि सहस्राणि हृष्टमनसो गन्धाम्बु चूर्णानि चा-, वरुह्य नद्यां लोडयन्ति सलिले स्नानार्थं सत्त्वोत्तमस्य। स्नानानि स्नात्वा बोधिसत्त्वो विमलस्तीरे स्थितः सूरतः, अहार्षुर्देवसहस्राणि स्नानसलिलं पूजार्थं सत्त्वोत्तमस्य ॥847॥ काषायाणि च वस्त्राणि निर्मलशुभानि तानि देवपुत्रो ददौ, कल्प्यानि च (यानि) सनिवास्य भगवास्तीरे हि नद्याः स्थितः। नागकन्योदग्रहृष्टमना भद्रासनं सा न्यास्थद्, यत्रासौ निषसाद शान्तमना लोकस्य चक्षुष्करः ॥848॥ दत्वा भोजन सा सुजाता मतिमती स्वर्णमये भाजनं, वन्दित्वा चरणौ सा प्रमुदिता परिभुंक्ष्व मे सारथे। भुक्त्वा भोजनं यावदर्थं मतिमान् पात्री जले प्राक्षिपत्, तां जग्राह पुरंदरः सुरगुरुः पूजां करिष्याम्यहम् ॥849॥ यदा भुक्तं च जिनेन भोजनवरम् औदारिकं तत्क्षणे, तस्य काये बलं च तेजः श्रीः पूर्वं यथा संस्थिता। धर्म्यां कृत्वा कथां सुजातायाः मरुतां (अमराणां) च कृत्वार्थं बहूं, सिंह-हंसगतिर्गजेन्द्रगमनो बोधिद्रुमं प्रस्थितः ॥850॥

॥१९॥

॥ बोधिमण्डगमनपरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 272 पंक्ति 8 —289 पंक्ति 20

भोटानुवाद 200 ख पंक्ति 3 —214 ख पंक्ति 3

॥ १९ ॥

॥ बोधिमण्डगमनपरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिसत्त्व नैरञ्जना नदी मे स्नान कर, भोजन कर, शरीर में बल और स्थिरता उपजा कर जहाँ सोलह प्रकार से समृद्ध पृथिवी के प्रदेश पर वृक्षों के राजा महाबोधि थे वहाँ उनके मूल के पास चल पडे, उस विजय की गति (अर्थात् रंग ढंग) के साथ, जो होती है—महापुरुषगति, अडिगगति, इन्द्रियाभीष्टगति, सम्यक्स्थिरगति, मेरुराजगति, सरलगति, अवक्रगति, अधावनगति, अविलंबितगति, न लड्खड़ानेवाली गति, न चूकने वाली गति, न घसीट खाने वाली गति, न सिकुड़ने वाली गति =201क= न अचानक होने वाली गति, लीला-सहित-गति, निर्मलगति, शुभगति, द्वेप-रहित-गति, मोह-रहित-गति राग-रहित-गति, सिंहगति, राजहंसगति, नागराजगति, नारायणगति, धरणी तल पर न धँसने वाली गति, धरणी तल पर सहस्र अरवाले चक्र जैसी विचित्र गति, (रेखा-) जाल वाली उँगलियों के ताम्र (-वर्ण) के नखों वाले (चरणो) की गति, धरणी-तल पर छमछमाने वाली गति, शैलराज की संघटना (के समान ऊँचे से ऊँचे पर जाने वाली) गति, ऊँची, नीची तथा समता करने वाली चरण-गति, (रेखा-) जालो से प्रभा की किरणे निकल कर प्राणियों को छूकर उन्हे सुगति की ओर ले जाने वाली गति, निर्मल कमलों के बिछाने की भाँति चरण रखने की गति, पूर्व (काल) के शुभ चरितो की ओर जाने वाली गति, पूर्व (काल) के बुद्धो की सिंह सदृश सम्मुख जाने वाली गति, वज्र (हीरक) के समान दृढ़ और अभेद्य (हृदयके) आशय (=अभिप्राय) की गति, सब उपायों की गति) सब (-273-) अपायो (=नरको) तथा दुर्गतियो (=हीन योनियो) को रोकने वाली गति, सब प्राणियो का सुख उपजाने वाली गति, मोक्ष-मार्ग दिखाने की गति, मार के बल को निर्बल करने वाली गति, हीन-संघ वाले (धर्म-प्रवक्ताओ) के संघो की, प्रतिपक्ष के वादियो की धर्म के साधन से निग्रह-करने-वाली गति, अंधकार के परदे को तथा क्लेश को फूँके उड़ाने वाली =201ख= गति, ससार के पक्ष को अपक्ष करने वाली गति, इन्द्र, महेश्वर तथा लोकपालो का पराभव करने वाली गति, त्रिसाहस्रमहासाहस्र (लोक) में अद्वितीयशूर-गति, अभिभूत (पराजित) न होने वाली स्वयभू-गति, सर्वज्ञ के ज्ञान के सम्मुख ले जाने वाली गति, स्मृति तथा मति (=बुद्धि) की गति, सुगतियां (=शुभयोनियों) की ओर ले जाने वाली गति,

जरा और मृत्यु को शान्त करने वाली गति, शिव (= कल्याण), विरज (=रजो-हीन) अमल एवं भयरहित निर्वाण-पुर की ओर ले जाने वाली गति। ऐसी गति से बोधिसत्त्व बोधिमण्डप की ओर चले।

2. हे भिक्षुओं, इस प्रकार नैरञ्जना नदी से लेकर बोधिमण्डप के बीच (के प्रदेश) पर वात-वलाहक (नामक) देवपुत्रों ने झाड़-बुहारी दे दी थी, वर्ष-वलाहक (नामक) देवपुत्रों ने सुगन्धित जल का छिडकाव किया था और फूल बिखेर रक्खे थे। त्रिसाहस्रमहासाहस्र—लोकधातु मे जितने वृक्ष थे वे सब जिस ओर बोधिमण्डप था, उस ओर अपनी चोटियाँ झुका रक्खी थीं। और जो भी उसी दिन के उत्पन्न लड़की-लडके थे वे भी बोधिमण्डप की ओर सिर करके सोते थे। और जो भी त्रिसाहस्रमहासाहस्र-लोकधातु में सुमेरु आदि पर्वत थे वे सब भी जिस ओर बोधिमण्डप था, उस ओर झुके =202क= हुए थे। नैरञ्जना नदी से लेकर जहाँ तक बोधिमण्डप था, उसके बीच मे कामधातु मे विहरण करने वाले देवताओं ने एक माप के कोस भर विस्तार वाले मार्ग की रचना की थी। उस मार्ग के दाईं और बाईं ओर सात रत्नों वाली वेदिकाएँ बनाई गई थी, ऊँचाई में (वे) सात-ताल थी, उनके ऊपर रत्नों के जाल छाए हुए थे, वे दिव्य रत्नो तथा ध्वजाओं एवं पताकाओ से अलंकृत थी। इषुक्षेप (अर्थात् बाण पहुँचने की दूरी) पर सात रत्नों वाले ताल बनाए गए थे। उस वेदिका से (लटकाए गए रत्नमय सूत्र तालों से बँधे थे तथा) सब तालो से लटकाए गए रत्न सूत्र एक-दूसरे तालसे बँधे थे। दो-दो तालों के बीच-बीच पुष्करिणी बनाई गई (–274–) थी, जो सुगन्धित जल से भरी थी, जिसके चारों ओर सोने की बालू बिछाई गई थी, जिस मे उत्पल, पद्म, कुमुद तथा पुंडरीक छाए हुए थे, जिसके चारों ओर रत्नमयी वेदिकाएँ थी, जिसके सोपान वैडूर्य-मणियों तथा रत्नों को पिरो कर बनाए गए थे, आडि[1] (= जलमुर्गी), बलाका (= श्वेत बक), हंस, चक्रवाक तथा मयूर जहाँ कूजते थे। उस मार्ग पर अस्सी हजार अप्सराएँ सुगन्वित जल से छिड़काव करती थी, अस्सी हज़ार अप्सराएँ मोती जैसे उजले तथा दिव्य गन्ध वाले पुष्पों को बिखेरती थीं। सब ताल वृक्षों के सामने (एक-एक) रत्नव्योमक (= रत्न-विमान) था। सब-किसी रत्नव्योमक (रत्नविमान) मे =202ख= अस्सी हज़ार अप्सराएँ चन्दन और अगर की चूर्ण

1. आडि शब्द का भोटानुवाद छु स्रेग् (= जलतित्तिरि) है। तुलनीय वैदिक शब्द अति तथा अमरकोष में क्षया अद्रि शब्द लोक भाषा में।

दोनों में लिए हुए तथा [2]कालानुसारी धूप[2] की घटिकाएँ (= धूपदानियाँ) पकड़े हुए खड़ी थी। प्रत्येक रत्नव्योमक(=रत्नविमान) मे पाँच-पाँच हजार अप्सराएँ दिव्यसंगीति बजाने के साथ खड़ी थी।

3. हे भिक्षुओं, इस प्रकार, बोधिसत्त्व ने (बुद्धों द्वारा) [3]परिपालन किए जाने वाले (बुद्ध–) क्षेत्रों द्वारा[3] कोटि-खर्वो की लाख-लाख गणना में किरणें निकाली। (तदनन्तर) बजाए जाते हुए लाखों बाजों के साथ, बड़ी फूलों की प्रचुरता वाली वर्षा के साथ, लाखों वस्त्रों के फहराने के साथ, गरजते हुए और जोर से गरजते हुए बारंबार चोट दिए जाते-जाते नक्कारों के साथ, प्रदक्षिणा करते हुए अश्व, गज, तथा वृषभों के साथ, शुकों की, सारिकाओं की, कोकिलों की कलविंकों (= चटकों) की, जीवंजीवों (= चकोरों) की, हंसों की, क्रौञ्चों (= कोंच नाम के बगुलो की), मयूरों की, चक्रवाकों की, लाख-लाख संख्या द्वारा अगवानी के साथ, इन और इस प्रकार के लाखों मगल देने वाले सगुनों के साथ बोधिसत्त्व बोधिमण्डप गए।

4. जिस रात को बोधिसत्त्व बोधि का भलीभाँति बोध करना चाहते थे, उसी रात को त्रिसाहस्रमहासाहस्र (लोकधातु) के अधिपति, वशवर्ती नाम के सहापति ब्रह्मा ब्रह्म-पर्षद् को बुला कर यों बोले। हे मार्षो (= साथियों) यह बात जान लो। ये महासत्त्व बोधिसत्त्व जो (उत्साह रूपी) महान् संनाह (=कवच) से बधे-बँधे है, महाप्रतिज्ञा के न छोडने वाले है, (निश्चय का) दृढ़ संनाह (कवच) बांधे हुए है, मन में सर्वथा खेद-रहित है, बोधिसत्त्वो की = 203क = सब चर्यायों में से[4] निकल चुके है[4], सब पारमिताओं में से पार हो चुके हैं, सब बोधिसत्त्व की भूमियों पर (= क्रमोन्नति की श्रेणियों पर) वशिता (= अधिकार) पाए हुए है; (बोधिसत्वों के आशय की सब क्रियाओं के विषय

2....2 मूल, कारानुसारिधूप० (कालानुसारिधूप०)। तुलनीय भोट, दुस् क्यि र्जेस् सु ह् ब्रङ् ब हि. बदुग् पहि.। वैद्यजी को कारानुसारि के स्थान पर कालानुसारि नही सूझा, नही तो वे यह पाठ बदले बिना न रहने।

3....3. मूल, प्रकम्प्यमानैः क्षेत्रैः। भोट, शिङ् नंमुस् नि रब् तु स्क्योङ् (= प्रपाल्यमानैः क्षेत्रैः)।

4....4. मूल, निर्जातः। निर्जात.। निर्जातः=निर्यातः। प्राच्य देशो मे निर्यातः लिख कर भी अब भी निर्जातः पढ़ने की प्रथा भाषा में ही नही संस्कृत में भी है। तुलनीय भोट, छर् फ्यिन् प।

मे अत्यन्त जानकार है)[5] बोधिसत्त्वो के सब आशयो मे (= चाहे हुए संकल्पो) मे भलीभाँति शुद्ध है, सब प्राणियों की इन्द्रियो के (= धर्माचरण की शक्तियों के) अनुसार (धार्मिक प्रेरणा मे) चलने वाले है, सब तथागतो के गुह्य अर्थात् रहस्य के (–275–) स्थानों मे भलीभाँति प्रवेश पाए हुए है, मार के कार्यों के जितने मार्ग है, उन सबसे भलीभाँति बाहर निकल आ चुके है, सब कुशल-मूलों मे इनका प्रत्यय (= ज्ञान एवं सहारा) अपना है—किसी दूसरे का नही, सब तथागतों ने इनके विषय मे अधिष्ठान (=आशीर्वचन) कर रक्खे है, सब प्राणियों को परममोक्ष का मार्ग बतलाने वाले महान् सार्थवाह है, सब मार-मंडली को तितर-बितर कर देने वाले है, त्रिसाहस्रमहासाहस्र (लोकधातु) मे अद्वितीय शूर है, धर्म की सब सिद्ध औषधो के महान् वैद्यराज है, विमुक्ति का पट्ट (=पगड़ी) बाँधे हुए महान् धर्मराज है, महाप्रज्ञा की प्रभा के उत्पादन करने वाले है, महाकेतु वाले राजा है, (लोभ, अलोभ, यश, अयश, निन्दा, प्रशंसा तथा सुख, दुःख नामक) आठ लोकधर्मो में महाकमल जैसे अलिप्त है, सब धर्म-धारणियों (= धर्ममन्त्रों) को न भूलने वाले है, महासागर के समान (गम्भीर) है, राग और द्वेष से रहित है, महासुमेरु के समान अचल एवं अकम्प्य है, अत्यन्त निर्मल है, सब ओर से अत्यन्त शुद्ध है, भलीभाँति दर्प से रहित शुद्ध बुद्धि के है, (उपमा से कहे तो) = 203ख = महामणि-रत्न जैसे है, सब धर्मो के वशवर्ती है अर्थात् सब धर्मो पर अधिकार वाले है, सब कर्मो मे कुशल चित्त वाले है। महाब्रह्मा के समान ऐसे बोधिसत्त्व मार की सेना को परास्त करने के अर्थ, दश-बल ✽चतुर्वैशारद्य[6] ✽✽और अष्टादश अवेणिक (=असाधारण) बुद्ध-धर्मो को✽✽✽ करने के अर्थ, महाधर्मचक्र के प्रवर्तन के अर्थ, महान् सिंहनाद करने के अर्थ, सब प्राणियों को धर्मदान से तृप्त करने के अर्थ, सब प्राणियों के धर्मचक्षु का शोधन करने के अर्थ, सब प्रतिपक्ष के वादियों को धर्म के द्वारा परास्त करने के अर्थ, पहले की प्रतिज्ञा को परिपूर्ण कर दिखाने के अर्थ, सब धर्मो पर वशिता (=अधिकार) तथा ऐश्वर्य (=स्वामित्व) प्राप्त करने के अर्थ, अनुत्तर सम्यक् संबोधि का सम्यक् अवबोध करने की कामना से बोधिमण्डप के पास जा रहे है। इसलिए

✽ द्रष्टव्य, महाव्युत्पत्ति ७। ✽✽ द्रष्टव्य महाव्युत्पत्ति ८। ✽✽✽ द्रष्टव्य महाव्युत्पत्ति ९।

5. तुलनीय भोट, ब्यङ् छुब् सेम्स् द्प हि. ब्सम् प थम्स् चद् क्यि ब्य बशिन् तु म्ख्येन् प (=सर्वबोधिसत्त्वशयक्रियासुविज्ञाः)। यह पाठ केवल भोट में है। इसके बाद का वाक्य भोट मे नही है।

6. मूल, वैशारद्य। भोट, मि ह.जिग्स् प ब्शि दङ् (=चतुर्वैशारद्य)।

हे मार्षो (=साथियों) तुम सब को बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए उत्साह से तैयार हो जाना चाहिए ।

5. तदनन्तर वशवर्ती महाब्रह्मा ने उस समय ये गाथाएँ कही—

(छंद शार्दूलविक्रीड़ित)

यस्या तेजतु पुण्यतश्च शिरिये ब्राह्मः पथो ज्ञायते
[7]मैत्री चा[7] करुणा उपेक्ष मुदिता ध्यानान्यभिज्ञास्तथा ।
सोऽयं कल्पसहस्रचीर्णचरितो बोधिद्रुमं =204क= प्रस्थितः
पूजां साधु करोथ तस्य मुनिनो आशि(र्)व्रते साधनां ॥851॥

जिनके तेज से, पुण्य से एवं श्री से मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा तथा अभिज्ञा (= दिव्यज्ञान) वाला ब्रह्मपथ जाना जाता है, सहस्र कल्पों तक चर्या को पूर्ण कर वे (बोधिसत्त्व) बोधिवृक्ष की ओर चल पडे हैं, उन मुनि की भलीभाँति पूजा करो जो आशाओ तथा व्रतों को सिद्ध करने वाली है ।

यं गत्वा शरणं न दुर्गतिभयं प्राप्नोति नैवाक्षणं
देवेष्विष्टसुखं च प्राप्य विपुलं ब्रह्मालयं गच्छति ।
(–276–) षड् वर्षाणि चरित्व दुष्कर–चरिं यात्येष बोधिद्रुमं
साधू सर्वि उदग्रहृष्टमनसः पूजास्य कुर्वामहे ॥852॥

जिनकी शरण जाकर (प्राणी को) दुर्गति का भय नही रहता, अक्षणों की (अर्थात् नरकयोनि, तिर्यक्-योनि, प्रेतयोनि, दीर्घायुष-देव योनि, प्रत्यन्तजनपद अथवा सीमाप्रदेश मे निवास, इन्द्रियविकलता एवं तथागतानुत्पत्ति का काल इन आठ स्थितियो को) प्राप्ति नही होती, देवताओ के बीच परम इष्टसुख का भोग कर (वह) ब्रह्मलोक जाता है, वे छह वर्ष की दुष्कर-चर्या पूरी कर बोधिवृक्ष की ओर जा रहे है। हम-सब आनन्द और प्रसन्न मन से इनकी भली-भाँति पूजा करें ।

राजासौ त्रिसहस्रि ईश्वरवरो, धर्मेश्वरः पार्थिवः
शक्राब्रह्म पुरे च चन्द्रसुरिये नास्त्यस्य कश्चित्समः ।
यस्या जायत क्षेत्रकोटिनयुता संकम्पिता षड्विधा
सैषोऽद्य व्रजते महाद्रुमवरं मारस्य जेतुं चमून् ॥853॥

ये त्रिसाहस्र (महासाहस्र लोकधातु) के राजा है, उत्तम ईश्वर है, धर्म के ईश्वर है, (धर्मरूपी) पृथिवी के पति है, इन्द्र की, ब्रह्मा की, चन्द्र की तथा सूर्य की नगरी में इनके तुल्य कोई नही है । जिनके जन्म के समय कोटि-खर्व क्षेत्र

7....7. मूल, मैत्री वा । पठनीय, मैत्री चा । तुलनीय भोट, व्यम्स् दङ् ।

मे अत्यन्त जानकार है)[5] बोधिसत्त्वो के सब आशयो मे (=चाहे हुए सकल्पो) में भलीभाँति शुद्ध है, सब प्राणियो की इन्द्रियो के (=धर्माचरण की शक्तियो के) अनुसार (धार्मिक प्रेरणा मे) चलने वाले है, सब तथागतो के गुह्य अर्थात् रहस्य के (–275–) स्थानों मे भलीभाँति प्रवेश पाए हुए है, मार के कार्यो के जितने मार्ग है, उन सबसे भलीभाँति बाहर निकल आ चुके है, सब कुशल-मूलो मे इनका प्रत्यय (=ज्ञान एवं सहारा) अपना है—किसी दूसरे का नही, सब तथागतों ने इनके विषय मे अधिष्ठान (=आशीर्वचन) कर रक्खे है, सब प्राणियो को परममोक्ष का मार्ग बतलाने वाले महान् सार्थवाह है, सब मार-मंडली को तितर-बितर कर देने वाले है, त्रिसाहस्रमहासाहस्र (लोकधातु) मे अद्वितीय शूर है, धर्म की सब सिद्ध औषधों के महान् वैद्यराज है, विमुक्ति का पट्ट (=पगड़ी) बाँधे हुए महान् धर्मराज है, महाप्रज्ञा की प्रभा के उत्पादन करने वाले है, महाकेतु वाले राजा है, (लोभ, अलोभ, यश, अयश, .निन्दा, प्रशंसा तथा सुख, दुःख नामक) आठ लोकधर्मो में महाकमल जैसे अलिप्त है, सब धर्म-धारणियों (=धर्ममन्त्रों) को न भूलने वाले है, महासागर के समान (गम्भीर) है, राग और द्वेष से रहित है, महासुमेरु के समान अचल एवं अकम्प्य है, अत्यन्त निर्मल है, सब ओर से अत्यन्त शुद्ध है, भलीभाँति दर्प से रहित शुद्ध बुद्धि के है, (उपमा से कहे तो) =203ख= महामणि-रत्न जैसे है, सब धर्मो के वशवर्ती है अर्थात् सब धर्मो पर अधिकार वाले है, सब कर्मो मे कुशल चित्त वाले है। महाब्रह्मा के समान ऐसे बोधिसत्त्व मार की सेना को परास्त करने के अर्थ, दश-बल ❀चतुर्वैशारद्य[6] ❀❀और अष्टादश अवेणिक (=असाधारण) बुद्ध-धर्मो को❀❀❀ करने के अर्थ, महाधर्मचक्र के प्रवर्तन के अर्थ, महान् सिंहनाद करने के अर्थ, सब प्राणियों को धर्मदान से तृप्त करने के अर्थ, सब प्राणियों के धर्मचक्षु का शोधन करने के अर्थ, सब प्रतिपक्ष के वादियो को धर्म के द्वारा परास्त करने के अर्थ, पहले की प्रतिज्ञा को परिपूर्ण कर दिखाने के अर्थ, सब धर्मो पर वशिता (=अधिकार) तथा ऐश्वर्य (=स्वामित्व) प्राप्त करने के अर्थ, अनुत्तर सम्यक् संबोधि का सम्यक् अवबोध करने की कामना से बोधिमण्डप के पास जा रहे है। इसलिए

❀ द्रष्टव्य, महाव्युत्पत्ति ७। ❀❀ द्रष्टव्य महाव्युत्पत्ति ८।
❀❀❀ द्रष्टव्य महाव्युत्पत्ति ९।

5. तुलनीय भोट, ब्यङ् छुब् सेम्स् द्प हि. ब्सम् प थम्स् चद् क्यि ब्य ब्शिन् तु म्ख्येन् प (=सर्वबोधिसत्त्वशयक्रियासुविज्ञाः)। यह पाठ केवल भोट में है। इसके बाद का वाक्य भोट मे नही है।
6. मूल, वैशारद्य। भोट, मि ह्जिग्स् प ब्शि दङ् (=चतुर्वैशारद्य)।

हे मार्षो (=साथियों) तुम सब को बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए उत्साह से तैयार हो जाना चाहिए ।

5. तदनन्तर वशवर्ती महाब्रह्मा ने उस समय ये गाथाएँ कही—

(छंद शार्दूलविक्रीडित)

यस्या तेजतु पुण्यतश्च शिरिये ब्राह्मः पथो ज्ञायते
[7]मैत्री चा[7] करुणा उपेक्ष मुदिता ध्यानान्यभिज्ञास्तथा ।
सोऽयं कल्पसहस्रचीर्णचरितो बोधिद्रुमं =204क= प्रस्थितः
पूजां साधु करोथ तस्य मुनिनो आशि(र्)व्रते साधनां ॥851॥

जिनके तेज से, पुण्य से एवं श्री से मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा तथा अभिज्ञा (= दिव्यज्ञान) वाला ब्रह्मपथ जाना जाता है, सहस्र कल्पों तक चर्या को पूर्ण कर वे (बोधिसत्त्व) बोधिवृक्ष की ओर चल पडे हैं, उन मुनि की भलीभाँति पूजा करो जो आशाओं तथा व्रतों को सिद्ध करने वाली है ।

यं गत्वा शरणं न दुर्गतिभयं प्राप्नोति नैवाक्षणं
देवेष्विष्टसुखं च प्राप्य विपुलं ब्रह्मालयं गच्छति ।
(-276-) षड् वर्षाणि चरित्व दुष्कर-चरिं यात्येष बोधिद्रुमं
साधू सर्वि उदग्रहृष्टमनसः पूजास्य कुर्वामहे ॥852॥

जिनकी शरण जाकर (प्राणी को) दुर्गति का भय नही रहता, अक्षणों की (अर्थात् नरकयोनि, तिर्यक्-योनि, प्रेतयोनि, दीर्घायुष-देव योनि, प्रत्यन्तजनपद अथवा सीमाप्रदेश मे निवास, इन्द्रियविकलता एवं तथागतानुत्पत्ति का काल इन आठ स्थितियो को) प्राप्ति नही होती, देवताओं के बीच परम इष्टसुख का भोग कर (वह) ब्रह्मलोक जाता है, वे छह वर्ष की दुष्कर-चर्या पूरी कर बोधिवृक्ष की ओर जा रहे हैं। हम-सब आनन्द और प्रसन्न मन से इनकी भली-भाँति पूजा करे ।

राजासौ त्रिसहस्रि ईश्वरवरो, धर्मेश्वरः पार्थिवः
शक्राब्रह्म पुरे च चन्द्रसुरिये नास्त्यस्य कश्चित्समः ।
यस्या जायत क्षेत्रकोटिनयुता संकम्पिता षड्विधा
सैषोऽद्य व्रजते महाद्रुमवरं मारस्य जेतुं चमून् ॥853॥

ये त्रिसाहस्र (महासाहस्र लोकधातु) के राजा है, उत्तम ईश्वर है, धर्म के ईश्वर है, (धर्मरूपी) पृथिवी के पति है, इन्द्र की, ब्रह्मा की, चन्द्र की तथा सूर्य की नगरी मे इनके तुल्य कोई नही है । जिनके जन्म के समय कोटि-खर्व क्षेत्र

7....7. मूल, मैत्री वा । पठनीय, मैत्री चा । तुलनीय भोट, ब्यम्स् दङ् ।

में अत्यन्त जानकार हैं)[5] बोधिसत्वों के सब आशयों में (=चाहे हुए संकल्पों) में भलीभाँति शुद्ध हैं, सब प्राणियों की इन्द्रियों के (=धर्माचरण की शक्तियों के) अनुसार (धार्मिक प्रेरणा में) चलने वाले हैं, सब तथागतों के गुह्य अर्थात् रहस्य के (–275–) स्थानों में भलीभाँति प्रवेश पाए हुए हैं, मार के कार्यों के जितने मार्ग हैं, उन सबसे भलीभाँति बाहर निकल आ चुके हैं, सब कुशल-मूलों में इनका प्रत्यय (=ज्ञान एवं सहारा) अपना है—किसी दूसरे का नहीं, सब तथागतों ने इनके विषय में अधिष्ठान (=आशीर्वचन) कर रक्खे हैं, सब प्राणियों को परममोक्ष का मार्ग बतलाने वाले महान् सार्थवाह हैं, सब मार-मंडली को तितर-बितर कर देने वाले हैं, त्रिसाहस्रमहासाहस्र (लोकधातु) में अद्वितीय शूर हैं, धर्म की सब सिद्ध औषधों के महान् वैद्यराज हैं, विमुक्ति का पट्ट (=पगड़ी) बाँधे हुए महान् धर्मराज हैं, महाप्रज्ञा की प्रभा के उत्पादन करने वाले हैं, महाकेतु वाले राजा हैं, (लोभ, अलोभ, यश, अयश, निन्दा, प्रशंसा तथा सुख, दुःख नामक) आठ लोकधर्मों में महाकमल जैसे अलिप्त हैं, सब धर्म-धारणियों (=धर्ममन्त्रों) को न भूलने वाले हैं, महासागर के समान (गम्भीर) हैं, राग और द्वेष से रहित हैं, महासुमेरु के समान अचल एवं अकम्प्य हैं, अत्यन्त निर्मल हैं, सब ओर से अत्यन्त शुद्ध हैं, भलीभाँति दर्प से रहित शुद्ध बुद्धि के हैं, (उपमा से कहें तो) =203ख= महामणि-रत्न जैसे हैं, सब धर्मों के वशवर्ती हैं अर्थात् सब धर्मों पर अधिकार वाले हैं, सब कर्मों में कुशल चित्त वाले हैं। महाब्रह्मा के समान ऐसे बोधिसत्व मार की सेना को परास्त करने के अर्थ, दश-बल ✻चतुर्वैशारद्य[6] ✻✻और अष्टादश अवेणिक (=असाधारण) बुद्ध-धर्मों को✻✻✻ करने के अर्थ, महाधर्मचक्र के प्रवर्तन के अर्थ, महान् सिंहनाद करने के अर्थ, सब प्राणियों को धर्मदान से तृप्त करने के अर्थ, सब प्राणियों के धर्मचक्षु का शोधन करने के अर्थ, सब प्रतिपक्ष के वादियों को धर्म के द्वारा परास्त करने के अर्थ, पहले की प्रतिज्ञा को परिपूर्ण कर दिखाने के अर्थ, सब धर्मों पर वशिता (=अधिकार) तथा ऐश्वर्य (=स्वामित्व) प्राप्त करने के अर्थ, अनुत्तर सम्यक् सबोधि का सम्यक् अवबोध करने की कामना से बोधिमण्डप के पास जा रहे हैं। इसलिए

✻ द्रष्टव्य, महाव्युत्पत्ति ७। ✻✻ द्रष्टव्य महाव्युत्पत्ति ८। ✻✻✻ द्रष्टव्य महाव्युत्पत्ति ९।

5. तुलनीय भोट, ब्यङ् छुब् सेम्स् द्प हि. ब्सम् प थम्स् चद् क्यि ब्य बशिन् तु म्ख्येन् प (=सर्वबोधिसत्वशयक्रियासुविज्ञाः)। यह पाठ केवल भोट में है। इसके बाद का वाक्य भोट में नहीं है।
6. मूल, वैशारद्य। भोट, मि ह्जिग्स् प ब्झि दङ् (=चतुर्वैशारद्य)।

हे मार्षो (=मारिषो) तुम सब को बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए उत्साह से तैयार हो जाना चाहिए ।

5. तदनन्तर वशवर्ती महाब्रह्मा ने उस समय ये गाथाएँ कहीं—

(छंद शार्दूलविक्रीडित)

यस्या तेजतु पुण्यतश्च श्रियेि ब्राह्मः पथो ज्ञायते
[7]मैत्री चा[7] करुणा उपेक्ष मुदिता ध्यानान्यभिज्ञास्तथा ।
सोऽयं कल्पसहस्रचीर्णचरितो बोधिद्रुमं =204क= प्रस्थितः
पूजां साधु करोथ तस्य मुनिनो आशि(र्)व्रते साधनां ॥851॥

जिनके तेज से, पुण्य से एवं श्री से मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा तथा अभिज्ञा (= दिव्यज्ञान) वाला ब्रह्मपथ जाना जाता है, सहस्र कल्पों तक चर्या को पूर्ण कर वे (बोधिसत्त्व) बोधिवृक्ष की ओर चल पड़े है, उन मुनि की भलीभाँति पूजा करो जो आशाओं तथा व्रतों को सिद्ध करने वाली है ।

यं गत्वा शरणं न दुर्गतिभयं प्राप्नोति नैवाक्षणं
देवेष्विष्टसुखं च प्राप्य विपुलं ब्रह्मालयं गच्छति ।
(–276–) षड् वर्षाणि चरित्व दुष्कर–चरिं यात्येष बोधिद्रुमं
साधू सर्वि उदग्रहृष्टमनसः पूजास्य कुर्वामहे ॥852॥

जिनकी शरण जाकर (प्राणी को) दुर्गति का भय नही रहता, अक्षणों की (अर्थात् नरकयोनि, तिर्यक्-योनि, प्रेतयोनि, दीर्घायुष-देव योनि, प्रत्यन्तजनपद अथवा सीमाप्रदेश मे निवास, इन्द्रियविकलता एवं तथागतानुत्पत्ति का काल इन आठ स्थितियो को) प्राप्ति नही होती, देवताओ के बीच परम इष्टसुख का भोग कर (वह) ब्रह्मलोक जाता है, वे छह वर्ष की दुष्कर-चर्या पूरी कर बोधिवृक्ष की ओर जा रहे है । हम-सब आनन्द और प्रसन्न मन से इनकी भली-भाँति पूजा करें ।

राजासौ त्रिसहस्रि ईश्वरवरो धर्मेश्वरः पार्थिवः
शक्राब्रह्म पुरे च चन्द्रसुरिये नास्त्यस्य कश्चित्समः ।
यस्या जायत क्षेत्रकोटिनयुता संकम्पिता षड्विधा
सैषोऽद्य व्रजते महाद्रुमवरं मारस्य जेतुं चमून् ॥853॥

ये त्रिसाहस्र (महासाहस्र लोकधातु) के राजा है, उत्तम ईश्वर है, धर्म के ईश्वर है, (धर्मरूपी) पृथिवी के पति है, इन्द्र की, ब्रह्मा की, चन्द्र की तथा सूर्य की नगरी में इनके तुल्य कोई नही है । जिनके जन्म के समय कोटि-खर्ब क्षेत्र

7....7. मूल, मैत्री वा । पठनीय, मैत्री चा । तुलनीय भोट, ब्यम्स् दङ् ।

छह तरह से कांप उठे थे, वे आज मार-सेनाओं को जीतने के लिए उत्तम महावृक्ष की ओर जा रहे हैं ।

मूर्ध्नं यस्य न शक्यमीक्षितुमिह ब्रह्मालयेऽपि स्थितैः
कायो यस्य वराग्रलक्षणधरो द्वात्रिंशतालंकृतः ।
वाग् यस्येह मनोज्ञ वल्गु मधुरा ब्रह्मस्वरा सुस्वरा
चित्तं यस्य प्रशान्त दोषरहितं गच्छाम तत्पूजने ॥854॥

यहाँ ब्रह्मलोक मे रहते हुए भी जिनके सिर पर दृष्टि डालना सभव नही है, जिनकी काया उत्तम तथा श्रेष्ठ लक्षण धारण किए हुए है, बत्तीस (लक्षणों) से विभूषित है, यहाँ जिनकी वाणी मन हरने वाली, सुन्दर और मधुर है, उत्तम स्वर वाली है, ब्रह्मा के समान स्वर वाली है, जिनका चित्त अत्यन्त शान्त है, दोष अर्थात् द्वेष से रहित है, (हम सब) उनकी पूजा करने चलें ।

येषां वा मति ब्रह्म शक्र भवने नित्यं सुखं क्षेपितुं
अथवा सर्वकिलेशबन्धनलतां छेत्तुं हि तां जालिनी ।
अश्रुत्वा परतः =204ख= स्पृशेयममृतं प्रत्येकबोधिं शिवां
बुद्धत्वं यदि वेप्सितं त्रिभुवने पूजेत्वसौ नायकं ॥855॥

जिनका विचार ब्रह्मा के या इन्द्र के लोक में सुख से सदा (जीवन) बिताने का है, अथवा सब क्लेशो द्वारा बाँधने वाली लता जैसी उस जालवाली (तृष्णा) को छिन्न-भिन्न करने का है, (और) यदि (किसी की) बिना दूसरे से श्रवण किए कल्याणमयी प्रत्येकबोधि रूपी अमृत के अथवा तीनों भुवनो के बीच बुद्धत्व के पाने की अभिलाषा है, तो वह इन नायक की पूजा करे ।

त्यक्ता येन ससागरा वसुमती रत्नान्यनन्तान्यथो
प्रासादाश्च गवाक्षहर्म्यकलिला[8] युग्यानि यानानि च ।
भूम्यालंकृत पुष्पदाम रुचिरा उद्यानकूपासराः
हस्तापादशिरोत्तमाङ्गनयना सो बोधिमण्डोन्मुखः ॥856॥

जिन्होने समुद्रों सहित पृथिवी का, अनन्त रत्नो का, खिड़कियो तथा कमरो से भरे महलो का, घोड़ो से जुते हुए रथो का, सुन्दर फूलों की मालाओं, उद्यानों, कुओं तथा तालाबो से विभूपित भूमि का, हाथ-पैर, सिर एवं उत्तम अंग नेत्रों (तक) का त्याग किया है, वे बोधिमण्डप की ओर जा रहे है ।

8. मूल, गवाक्षहर्म्यकलिका । भोट, स्कर् खुङ् ब्सिल् खङ् मङ् ल्दन् प (=गवाक्षहर्म्यबहुला) । कलिका के स्थान मे कलिला पढ़ने से हम उचित पाठ पर पहुँचते है ।

6. हे भिक्षुओं, इस प्रकार त्रिसाहस्रमहासाहस्र (लोक-धातु) के अधिपति महाब्रह्मा उसी क्षण (ज्योंही) इस त्रिसाहस्रमहासाहस्र लोक-धातु के विषय मे अधिष्ठान अर्थात् संकल्प किया, (त्योंही) यह त्रिसाहस्रमहासाहस्र लोक-धातु हथेली जैसी समतल, रोड़ी कंकडों से रहित, प्रचुर रत्नों से, मोतियो मे, वैदूर्य-मणियों से शंखों से, शिलाओं से, प्रवालों (मूँगों) से, चांदी एवं सोने से पूर्ण, नीले (=हरे) एवं कोमल दाहिनी ओर से मुड़कर कुण्डलाकार हुए, नन्द्यावर्तक अर्थात् स्वस्तिक के समान दाहिनी ओर मुड़े हुए, काचिलिन्दिक—वस्त्र जैसे स्पर्श मे सुख देने वाले तृणों से (–277–) आच्छादित हो गई। उस समय सब महासागर पृथिवी-तल जैसे स्थिर हो गए और जल-चर प्राणियो को किसी प्रकार की पीड़ा नही हुई। [9]इस प्रकार इस[9] लोक-धातु को अलंकृत देखकर दसों दिशाओं मे (विराजमान) इन्द्र, ब्रह्मा तथा लोकपालों ने बोधिसत्व की पूजा करने के लिए लाखों बुद्धक्षेत्रो को =205क= अलंकृत कर दिया। और बोधिसत्वों ने (भी) देवलोक तथा मनुष्यलोक से बढे-चढे पूजाव्यूहों (=पूजा की रचनाओं) के द्वारा दसों दिशाओ के अप्रमेय बुद्धक्षेत्रों को बोधिसत्व की पूजा करने के लिए सजा दिया। वे सब बुद्धक्षेत्र एक बुद्धक्षेत्र के समान नाना प्रकार के (पूजाव्यूहों के) अलंकारों से अलंकृत दिखाई देते थे। और लोक के बीच में पड़ने वाले काले-काले पर्वत तथा चक्रवाल एवं महाचक्रवाल (नामक पर्वतमंडल) अज्ञात जैसे हो गए थे। वे सब बुद्धक्षेत्र बुद्ध की आभा से स्पष्ट दिखाई पड़ते थे। बोधिमण्डप की रक्षा करने वाले सोलह देवपुत्र थे। जिनके नाम ये है—देवपुत्र 1 उत्खली, 2 सूत्खली, 3 प्रजापति, 4 शूरबल, 5 केयूर बल, 6 सुप्रतिष्ठित, 7 महीधर, 8 अवभासक, 9 विमल, 10 धर्मेश्वर, 11 धर्मकेतु, 12 सिद्धपात्र, 13 अप्रतिहतनेत्र, 14 महाव्यूह, 15 शीलविशुद्धनेत्र, तथा 16 पद्मप्रभ। ये सब सोलह बोधिमण्डप की रक्षा करने वाले देवपुत्र जो न मुडने वाली (ज्ञानप्राप्ति की) क्षमता का लाभ करने वाले थे, बोधिसत्व की =205ख= पूजा के अर्थ उन्होंने बोधिमण्डप का मण्डन किया था। उसे चारो ओर अस्सी योजनों तक रत्नमयी सात वेदिकाओं से घेर दिया था, तालवृक्षो की सात पंक्तियों से, रत्नमयी छोटी-छोटी घंटियों के सात जालों से, एवं रत्नमय सात सूत्रों से परिवृत कर दिया था। सात रत्नों को पिरो कर बनाए हुए जम्बूनद नामक सुवर्ण से काम किए गए वस्त्रों द्वारा, सुवर्ण के सूत्रों द्वारा, जम्बूनद नामक सुवर्ण के बने पद्मो द्वारा छा दिया था, उत्तम सार वाले सुगन्ध

9....9. मूल, इमं चैव। इस पाठ मे एव–शब्द एवम्–शब्द के अर्थ में है, इसी कारण भोट मे इसका दे ल्तर् शब्द से अनुवाद किया गया है।

से भलीभाँति सुवासित कर दिया था, रत्न के जालों से ढँक दिया था। और जो दसों दिशाओ मे नाना लोकधातुओं के उत्तम जाति वाले, अत्यन्त पूज्य, देवलोक के अथवा मनुष्य लोक के विविध वृक्ष थे, वे सभी बोधिमण्डप में दिखलाई पड़ते थे। (-278-) और जो दसों दिशाओं में नाना प्रकार के जाति-जाति के जल में तथा स्थल मे उपजने वाले पुष्प थे वे भी सब के सब बोधिमण्डप मे दिखाई पड़ते थे। और जो भी दसो दिशाओं की नाना लोक-धातुओ के बोधिसत्त्व अपरिमित पुण्य और ज्ञान की सामग्री के व्यूहों द्वारा बोधिमण्डप की सजावट करते थे, वे भी उस बोधिमण्डप मे दिखलाई पड़ते थे।

7. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिमण्डप की रक्षा करने वाले देवपुत्रो ने बोधिमण्डप मे ऐसे व्यूह बनाए थे, =206क= जिन्हे देख कर देवता, नाग, यक्ष, गन्धर्व एवं असुर अपने-अपने भवनों को श्मशान (के समान श्रीहीन) समझते थे। उन व्यूहों को देख कर अत्यन्त चित्रीकार[10] (=आश्चर्य) करते थे और यों भाव भरे मन से उदान (=प्रीत्यादिभावपूर्ण वाक्य) निकालते थे— साधु-साधु अहो, पुण्य के परिणाम रस अचिन्त्य है। बोधिवृक्ष के चार (अधिष्ठातृ-) देवता थे। जिनके नाम है—वेणु, वल्गु, सुमन एवं ओजस्पति। ये चार बोधिवृक्ष के देवता बोधिसत्त्व की पूजा के अर्थ बोधिवृक्ष को मूल में शोभा सम्पन्न करते थे, तने मे शोभासम्पन्न करते थे, शाखाओ मे, पत्रों मे, पुष्पो मे, तथा फलों मे शोभासम्पन्न करते थे, ऊँचाई और घेरे मे शोभा-सपन्न करते थे, (उसे) दर्शनीय एवं प्रसन्नता देने वाला बनाते थे, विस्तार मे फैले, ऊँचाई मे अस्सी-ताल ऊँचे एवं उस (ऊँचाई) के अनुसार घेरे वाले (उस वृक्ष को उन्होने) विचित्र, दर्शनीय, मनोरम, रत्नमयी सात वेदिकाओ से परिवृत, चारों ओर से घेर कर स्थित रत्नमय तालो की सात पंक्तियो के द्वारा, रत्नमयी किंकिणियों के सात जालो के द्वारा एवं सात रत्नसूत्रो के द्वारा सब ओर से आच्छादित कर दिया था, मानो वह पारिजात वृक्ष हो, कोविदार वृक्ष हो, आँखे उसके दर्शन से तृप्त नही होती थीं। =206ख= जहाँ पर बोधिलाभ करने के लिए बोधिसत्त्व बैठे थे, वह पृथिवी का प्रदेश त्रिसाहस्रमहासाहस्र लोक-धातु के वज्र-द्वारा अत्यन्त दृढ सारवान्, अभेद्य हीरे के जैसा उत्तम स्थान का था।

10. चित्रीकार शब्द के अनेक अर्थ है। यहाँ आश्चर्य का बोधक यह शब्द है। तुलनीय भोट, ङो म्छर् (=आश्चर्य)।

8. हे भिक्षुओं, इस प्रकार, बोधिमण्डप पहुँचते हुए बोधिसत्त्व ने शरीर से वैसी प्रभा छोडी, जिस प्रभा से सब अपाय (दुर्गति-लोक) शान्त हो गए, सब अक्षण ढँक गए, दुर्गतियों की सब पीडाएँ सूख गईं। (–279–) जो प्राणी भग्न इन्द्रियों के थे, उन्होंने पूर्ण इन्द्रियो को पा लिया। रोगी रोगमुक्त हो गए। भय से पीडितों को ढाढस बँध गया। दरिद्र प्राणी भोग-विलास वाले हो गए, बंधन में बँधे बंधन–मुक्त हो गए, क्लेशो से जलने वालो की जलन शान्त हो गई, भूखे प्राणियो के पेट भर गए, प्यासो की प्यास मिट गई, गर्भवती स्त्रियों ने सुख से बच्चे जने, जीर्ण तथा दुर्बल बलसम्पन्न हो गए, उस समय किसी प्राणी को न राग ने सताया, न द्वेष ने, न मोह ने, = 207क = न क्रोध ने, न लोभ ने, न खिल (=रुखाई) ने, व्यापाद (= हिंसा) ने, न ईर्ष्या ने, न मात्सर्य (=कंजूसी) ने। उस समय किसी प्राणी की न मृत्यु हुई, न च्युति हुई, न उत्पत्ति हुई, सभी प्राणी उस समय मैत्रीचित्त के थे, हितचित्त के थे, एक-दूसरे के प्रति उनका भाव माता-पिता के जैसा था।

9. इस विषय मे (गाथाओं द्वारा) यह कहा जाता है—

यावच्चावीचिपर्यन्तं नरका घोरदर्शनाः।
दुःखं प्रशान्तं सत्वानां सुखं विन्दन्ति वेदनां ॥857॥

भयंकर दिखाई पडने वाले अवीचि (=नरक) के अन्त तक जितने भी नरक थे, (उनके भीतर पड़े) प्राणियो के दुःख शान्त हो गए (और वे) सुखानुभव करने लगे।

तिर्यग्योनिषु यावन्तः सत्वा अन्योन्यघातकाः।
[11]मैत्रचित्ता हि ते जाताः[11] स्पृष्टा भाभिर्महामुने· ॥858॥

महामुनि की प्रभा का स्पर्श पा कर, परस्पर की हत्या करने वाले, पशु-पक्षि-योनियो मे जितने भी प्राणी थे, वे भी स्नेह-चित्त के हो गए।

प्रेतलोकेषु यावन्तः प्रेताः क्षुत्तार्षपीडिताः।
प्राप्नुवन्त्यन्नपानानि बोधिसत्त्वस्य तेजसा ॥859॥

भूख और प्यास से तड़पते हुए प्रेतलोको मे (पड़े हुए) जितने भी प्राणी थे, (वे) बोधिसत्त्व के तेज से खान-पान पाने लगे।

अक्षणाः पिथिताः सर्वे दुर्गतिश्चोपशोषिता।
सुखिताः सर्वसत्त्वाश्च दिव्यसौख्यसमर्पिता· ॥860॥

11....11. मूल, मैत्रचित्ता हिते जाताः। हि को पृथक् पद तथा ते को पृथक् पद के रूप मे पढ़ना चाहिए। तुलनीय भोट, दे दग् ब्यमस् प हि सेमस् क्यङ् स्क्येस् (=ते मैत्रचित्ता हि जाताः)।

से भलीभाँति सुवासित कर दिया था, रत्न के जालों से ढँक दिया था। और जो दसो दिशाओ मे नाना लोकधातुओं के उत्तम जाति वाले, अत्यन्त पूज्य, देवलोक के अथवा मनुष्य लोक के विविध वृक्ष थे, वे सभी बोधिमण्डप में दिखलाई पड़ते थे। (–278–) और जो दसों दिशाओ में नाना प्रकार के जाति-जाति के जल में तथा स्थल मे उपजने वाले पुष्प थे वे भी सब के सब बोधिमण्डप मे दिखाई पड़ते थे। और जो भी दसो दिशाओं की नाना लोक-धातुओं के बोधिसत्त्व अपरिमित पुण्य और ज्ञान की सामग्री के व्यूहो द्वारा बोधिमण्डप की सजावट करते थे, वे भी उस बोधिमण्डप में दिखलाई पड़ते थे।

7. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिमण्डप की रक्षा करने वाले देवपुत्रों ने बोधिमण्डप मे ऐसे व्यूह बनाए थे, =206क= जिन्हें देख कर देवता, नाग, यक्ष, गन्धर्व एवं असुर अपने-अपने भवनों को श्मशान (के समान श्रीहीन) समझते थे। उन व्यूहों को देख कर अत्यन्त चित्रीकार[10] (=आश्चर्य) करते थे और यों भाव भरे मन से उदान (=प्रीत्यादिभावपूर्ण वाक्य) निकालते थे—साधु-साधु अहो, पुण्य के परिणाम रस अचिन्त्य है। बोधिवृक्ष के चार (अधि-ष्ठातृ–) देवता थे। जिनके नाम हैं—वेणु, वल्गु, सुमन एवं ओजस्पति। ये चार बोधिवृक्ष के देवता बोधिसत्त्व की पूजा के अर्थ बोधिवृक्ष को मूल में शोभा सम्पन्न करते थे, तने मे शोभासम्पन्न करते थे, शाखाओं मे, पत्रों में, पुष्पों मे, तथा फलों मे शोभासम्पन्न करते थे, ऊँचाई और घेरे मे शोभा-सपन्न करते थे, (उसे) दर्शनीय एवं प्रसन्नता देने वाला बनाते थे, विस्तार मे फैले, ऊँचाई मे अस्सी-ताल ऊँचे एवं उस (ऊँचाई) के अनुसार घेरे वाले (उस वृक्ष को उन्होने) विचित्र, दर्शनीय, मनोरम, रत्नमयी सात वेदिकाओं से परिवृत, चारों ओर से घेर कर •स्थित रत्नमय तालो की सात पंक्तियों के द्वारा, रत्नमयी किंकिणियों के सात जालो के द्वारा एवं सात रत्नसूत्रो के द्वारा सब ओर से आच्छादित कर दिया था, मानो वह पारिजात वृक्ष हो, कोविदार वृक्ष हो, आँखें उसके दर्शन से तृप्त नही होतीं थीं। =206ख= जहाँ पर बोधिलाभ करने के लिए बोधिसत्त्व बैठे थे, वह पृथिवी का प्रदेश त्रिसाहस्रमहासाहस्र लोक-धातु के वज्र-द्वारा अत्यन्त दृढ सारवान्, अभेद्य हीरे के जैसा उत्तम स्थान का था।

10. चित्रीकार शब्द के अनेक अर्थ है। यहाँ आश्चर्य का बोधक यह शब्द है। तुलनीय भोट, ङो म्छर् (=आश्चर्य)।

8. हे भिक्षुओं, इस प्रकार, बोधिमण्डप पहुँचते हुए बोधिसत्त्व ने शरीर से वैसी प्रभा छोडी, जिस प्रभा से सब अपाय (दुर्गति-लोक) शान्त हो गए, सब अक्षण ढँक गए, दुर्गतियो की सब पीडाएँ सूख गईं। (–279–) जो प्राणी भग्न इन्द्रियों के थे, उन्होने पूर्ण इन्द्रियो को पा लिया। रोगी रोगमुक्त हो गए। भय से पीड़ितों को ढाढस बँध गया। दरिद्र प्राणी भोग-विलास वाले हो गए, बंधन मे बँधे बंधन–मुक्त हो गए, क्लेशो से जलने वालों की जलन शान्त हो गई, भूखे प्राणियों के पेट भर गए, प्यासों की प्यास मिट गई, गर्भवती स्त्रियों ने सुख से बच्चे जने, जीर्ण तथा दुर्बल बलसम्पन्न हो गए, उस समय किसी प्राणी को न राग ने सताया, न द्वेष ने, न मोह ने, =207क= न क्रोध ने, न लोभ ने, न खिल (=रुखाई) ने, व्यापाद (=हिंसा) ने, न ईर्ष्या ने, न मात्सर्य (=कंजूसी) ने। उस समय किसी प्राणी की न मृत्यु हुई, न च्युति हुई, न उत्पत्ति हुई, सभी प्राणी उस समय मैत्रीचित्त के थे, हितचित्त के थे, एक-दूसरे के प्रति उनका भाव माता-पिता के जैसा था।

9. इस विषय मे (गाथाओं द्वारा) यह कहा जाता है—

यावच्चावीचिपर्यन्तं नरका घोरदर्शनाः।
दुःखं प्रशान्तं सत्त्वानां सुखं विन्दन्ति वेदनां ॥857॥

भयंकर दिखाई पडने वाले अवीचि (=नरक) के अन्त तक जितने भी नरक थे, (उनके भीतर पडे) प्राणियो के दुःख शान्त हो गए (और वे) सुखानुभव करने लगे।

तिर्यग्योनिषु यावन्तः सत्त्वा अन्योन्यघातकाः।
[11]मैत्रचित्ता हि ते जाताः[11] स्पृष्टा भाभिर्महामुने· ॥858॥

महामुनि की प्रभा का स्पर्श पा कर, परस्पर की हत्या करने वाले, पशु-पक्षि-योनियों में जितने भी प्राणी थे, वे भी स्नेह-चित्त के हो गए।

प्रेतलोकेषु यावन्त· प्रेताः क्षुत्तर्षपीडिता।
प्राप्नुवन्त्यन्नपानानि बोधिसत्त्वस्य तेजसा ॥859॥

भूख और प्यास से तड़पते हुए प्रेतलोकों मे (पडे हुए) जितने भी प्राणी थे, (वे) बोधिसत्त्व के तेज से खान-पान पाने लगे।

अक्षणाः पिथिताः सर्वे दुर्गतिश्चोपशोषिता।
सुखिताः सर्वसत्त्वाश्च दिव्यसौख्यसमर्पिता· ॥860॥

11....11. मूल, मैत्रचित्ता हिते जाताः। हि को पृथक् पद तथा ते को पृथक् पद के रूप मे पढ़ना चाहिए। तुलनीय भोट, दे दग् ब्यम्स् प हि सेम्स् क्यङ् स्क्येस् (=ते मैत्रचित्ता हि जाताः)।

सब अक्षण ढक गए, और दुर्गति सूख गई, तथा सब प्राणी सुखी हो दिव्य-सुख को भोगने लगे।

चक्षुश्रोतविहीनाश्च ये चान्ये विकलेन्द्रियाः।
सर्वेन्द्रियैः सुसंपूर्णा जाताः सर्वाङ्गशोभनाः ॥861॥

जो अन्धे-बहरे थे तथा जो इन्द्रियों से हीन थे, वे सब इन्द्रियों से भलीभाँति सम्पूर्ण एवं सब अंगों से सुन्दर हो गए।

(–280–) रागद्वेषादिभिः क्लेशैः सत्वा बाध्यन्त ये सदा।
शान्तक्लेशास्तदा सर्वे जाताः सुखसमर्पिताः ॥862॥

सर्वदा जो प्राणी राग-द्वेष आदि क्लेशों से पीड़ित रहा करते थे, वे सब क्लेशों से शान्ति पा गए (और) सुख भोगने लगे।

उन्मत्ताः स्मृतिमन्तश्च =207ख= दरिद्रा धनिनस्तथा।
व्याधिता रोगनिर्मुक्ता मुक्ता बन्धनबद्धकाः ॥863॥

पगले होश वाले हो गए, और गरीब अमीर हो गए। रोगी रोग से छुट्टी पा गए, (तथा) बन्धन मे बधे छूट गए।

न खिलं न च मात्सर्यं व्यापादो न विग्रहः।
अन्योन्यं संप्रकुर्वन्ति मैत्रचित्ता स्थितास्तदा ॥864॥

एक-दूसरे के साथ न (कोई) रुखाई से बरतते थे, न कंजूसी करते थे, न मार-काट और लड़ाई-झगड़ा करते थे, (सब) उस समय प्रेमभाव से रहते थे।

मातुः पितुश्चैकपुत्रे यथा प्रेम प्रवर्तते।
तथान्योन्येन सत्त्वानां पुत्र प्रेम तदाभवत् ॥865॥

माँ-बाप का इकलौते बेटे पर जैसा प्रेम होता है, वैसा ही पुत्रवत् प्रेम उस समय प्राणियों में एक दूसरे के साथ था।

बोधिसत्त्वप्रभाजालैः स्फुटाः क्षेत्रा ह्यचिन्तियाः।
गङ्गावालिकसंख्याताः समन्ताद् वै दिशो दश ॥866॥

बोधिसत्त्व के किरण-जाल से गंगानदी की वालुका जैसे गिनने मे अचिन्त्य (बुद्ध–) क्षेत्र दसों दिशाओं में चारो ओर चमक रहे थे।

न भूयश्चक्रवाडाश्य दृश्यन्ते कालपर्वताः।
सर्वे ते विपुला क्षेत्राः दृश्यन्त्येकं यथा तथा ॥867॥

चक्रवाल (नामक लोकविभाजक पर्वत) तथा (अन्य सीमाद्योतक) काले पर्वत और अधिक नही दिखाई पड़ते थे। वे सब बहुत से (बुद्ध—) क्षेत्र एक (—क्षेत्र) जैसे दिखाई पड़ते थे।

पाणितलप्रकाशाश्च दृश्यन्ते सर्वरत्निकाः ।
बोधिसत्त्वस्य पूजार्थं सर्व क्षेत्रा अलंकृताः ॥868॥

बोधिसत्त्व की पूजा के अर्थ सब (बुद्ध—) क्षेत्र हथेली के समान (समतल), सब रत्नों से युक्त, तथा सजे सजाए दिखाई पड़ते थे ।

देवाश्च षोडश तथा बोधिमण्डोपचारकाः ।
अलंचक्रुर्बोधिमण्डं अशीतिर्योजनावृतं ॥869॥

तथा बोधिमण्डप की देख-भाल करने वाले सोलह देवताओं ने अस्सी योजन के घेरे तक बोधिमण्डप को सजा रक्खा था ।

ये च केचिन्महाव्यूहाः क्षेत्रकोटीष्वनन्तकाः ।
ते सर्वे तत्र दृश्यन्ते बोधिसत्त्वस्य तेजसा ॥870॥

अनन्त कोटि-कोटि (बुद्ध—) क्षेत्रों मे जितने भी महाव्यूह थे वे सब वहाँ पर बोधिसत्त्व के तेज से दिखाई पड़ते थे ।

देवा नागास्तथा यक्षाः किन्नराश्च महोरगाः ।
स्वानि स्वानि विमानानि श्मशानानीव मेनिरे ॥871॥

देवता, नाग, यक्ष, किंनर तथा महोरग (उस सजावट के आगे) अपने-अपने विमानों को श्मशान जैसा (श्रीहीन) समझते थे ।

=208क=तान् व्यूहान् संनिरीक्ष्येह विस्मिताः सुरमानुषाः ।
साधुः पुण्यस्य निस्यन्दः संपद् यस्येयमीदृशी ॥872॥

उन व्यूहों को (=सजावटों को) देख कर यहाँ देवता तथा मनुष्य आश्चर्य-चकित थे कि (वह) पुण्य-फल-रस (कितना) उत्तम है, जिसकी यह ऐसी संपत्ति है ।

(–281–)करोति नैव चोद्योगं काय वाङ् मनसा तथा ।
सर्वार्थाश्चास्य सिद्ध्यन्ति येऽभिप्रेता मनोरथा ॥873॥

(ये) शरीर से, वाणी से, तथा मन से यत्न नही कर रहे है, फिर भी इनके जो सब चाहे हुए अर्थ और मनोरथ है, (वे) सफल हो रहे है ।

अभिप्राया यथान्येषां पूरिताश्चरता पुरा ।
विपाका कर्मणस्तस्य [12] संपद्यातेयमीदृशी [12] ॥874॥

पहले (बोधि—) चर्या का आचरण करते हुए जो इन्होने दूसरो के मनोरथ पूरे किए है, उस कर्म के फलस्वरूप यह ऐसी सम्पत्ति उत्पन्न हुई है ।

12....12) संपद्यातेयमीदृशी यह पाठ यदि लिपि भेद मे लिखे तो सपद्जातेयमीदृशी है ।तुलनीय भोट, ह्दि ह्द्र हि. फुन् सुम् छोग्स् ह्दि ब्युङ् । प्राच्य देशो यकार को जकार पढ़ने के कारण इस प्रकार का पाठ विकसित हुआ है ।

अलंकृतो बोधिमण्डश्चतुर्भिर्बोधिदेवतैः ।
पारिजातो दिवि यथा तस्मादपि विशिष्यते ॥875॥

बोधि (—वृक्ष) के चार देवताओं के द्वारा अलंकृत बोधिमण्डप स्वर्ग के कल्पवृक्ष जैसा, (अथवा) उससे भी दिव्य दिखाई पडता) है ।

गुणाः शक्या न ते वाचा सर्वे संपरिकीर्तितुं ।
ये व्यूहा बोधिमण्डस्य देवतैरभिसंस्कृताः ॥876॥

देवताओ ने बोधिमण्डप की जो-जो सजावटे उत्तम ढंग से की, उनके उन-उन सब गुणों का वर्णन करना वाणी से संभव नही है ।

10. हे भिक्षुओ, इस प्रकार बोधिसत्त्व के शरीर से निकली हुई प्रभा से कालिक नागराज का भवन अत्यन्त शुद्ध एवं निर्मल, शरीर तथा मन में आनन्द और उल्लास उपजाने वाली, सब क्लेशो को क्षीण करने वाली, सब प्रणियों मे सुख, प्रीति, प्रसन्नता एवं प्रमोद उत्पन्न करने वाली प्रभा से चमचमाने लगा । जिसे देख कर कालिक नागराज ने अपने परिवार के सामने उस समय ये गाथाएँ कही । = 208ख =

(छन्द शार्दूलविक्रीड़ित)

क्रकुछन्दे यथ आभ दृष्ट रुचिरा दृष्टा च कनकाह्वये
यद्वत् काश्यपि धर्मराजमनघे दृष्टा प्रभा निर्मला ।
निःसंशयं वरलक्षणो हितकरो उत्पन्न ज्ञानप्रभो
येनेदं भवनं विरोचति हि मे स्वर्णप्रभालंकृतं ॥877॥

(यह वैसी ही प्रभा है) जैसी सुन्दर प्रभा क्रकुच्छन्द के (अवतीर्ण) होने पर देखी थी, कनकाह्वय के (अवतीर्ण) होने पर देखी थी, जैसी निर्मल प्रभा अनघ (= निष्पाप) धर्मराज काश्यप के (अवतीर्ण) होने पर देखी थी । इसमें सन्देह नही कि उत्तम लक्षण के, हितकारी एवं ज्ञान की प्रभावाले अवतीर्ण हो चुके है, जिनके कारण यह मेरा भवन सुनहरी प्रभा से अलंकृत हो चमक रहा है ।

नास्मि चन्द्ररविप्रभा सुविपुला संदृश्यते वेश्मनि
नो चाग्नेर्न मणेर्न विद्यु-द्-अमला नो च प्रभा ज्योतिषां ।
नो चा[13] शक्रप्रभा न ब्रह्मण प्रभा नोच प्रभा आसुरी
एकान्तं तमसाकुलं मम गृहं प्राग्दुष्कृतैः कर्मभिः ॥878॥

13. मूल, वा । भोट, दङ् (= च) । चा उचित पाठ है ।

इस घर मे न चन्द्र-सूर्य की बहुत बड़ी प्रभा दिखाई पड़ती है, न अग्नि की, न मणि की, न निर्मल बिजली की और न नक्षत्रो की प्रभा (ही दिखाई पड़ती है), न इन्द्र की, न ब्रह्मा की और न असुरो की प्रभा (ही दिखाई पड़ती है, मेरा घर पहले के पाप-कर्मो के कारण बिल्कुल अँधेरे से भरा रहता है ।

(-282-) अद्येदं भवनं विराजति शुभं मध्ये-रविदीप्तिवत्
चित्तं प्रीति जनेति कायु सुखितो गात्राद्भुता शीतला ।
तप्ता वालिक या शरीरि निपती जाता स मे शीतला
सुव्यक्तं बहुकल्पकोटिचरितो बोधिद्रुमं गच्छति ॥879॥

आज यह भवन मध्याह्न के सूर्य की प्रभा—जैसा शुभ एव शोभायमान है, चित्त मे प्रीति उत्पन्न हो रही है, शरीर सुखी है, अग अद्‌भुत ढंग से शीतल है, मेरे शरीर पर जो गरम बालू गिरती थी, वह ठंडी हो गई है, (इन निमित्तों से) अत्यन्त स्पष्ट है कि अनेक करोड़ कल्पों तक (बोधि—) चर्या करने वाले बोधिवृक्ष की ओर जा रहे है ।

शीघ्रं गृह्णत नाग पुष्प रुचिरा वस्त्रां सुगन्धां शुभा
मुक्ताहार पिनद्धतांश् च वलयांश् चूर्णानि धूपोत्तमा ।
संगीति प्रकुरुध्व वाद्य विविधा भेरी मृदङ्गैः शुभैः
हन्ता गच्छथ पूजाना हितकरं पूजार्ह सर्वे जगे ॥880॥

हे नागो, शीघ्र लो सुन्दर पुष्पों को, वस्त्रों को, पवित्र सुगन्धो को, मोती के हारों को, पहनने वाले (आभूषणों) को, कगनों को, चूर्णो को और उत्तम धूपों को, नाना प्रकार के उत्तम बाजो द्वारा, भेरियों के द्वारा मृदङ्गों के द्वारा गान गाओ । अहो, सब जगत् के पूजनीय एवं हितकारी को पूजा के लिए चलो ।

सोऽभ्युत्थाय च नागकन्यसहितश्चतुरो दिशः प्रेक्षते
अद्राक्षीदथ=209क= मेरुपर्वतनिभं स्वालंकृतं तेजसा ।
देवैर्दानवकोटिभिः परिवृतं ब्रह्मेन्द्रयक्षैस्तथा
पूजां तस्य करोन्ति हृष्टमनसो दर्शेन्ति मार्गो ह्ययं ॥881॥

नाग-कन्याओं के साथ उठ कर उसने चारों ओर निहारा और कोटि-कोटि देवताओ एवं दानवों द्वारा, ब्रह्मा, इन्द्र तथा यक्षो द्वारा घिरे हुए, तेज से भली-भाँति अलंकृत मेरुपर्वत के समान (भगवान् को) देखा, (सब) उनकी प्रसन्न मन से पूजा करते थे तथा (दूसरों को) यह मार्ग है (ऐसा कह कर) दिखाते थे ।

संहृष्टः स हि नागराट् सुमुदितश्चाभ्यर्च्य लोकोत्तमं
वन्दित्वा चरणौ च गौरवकृतस्तस्थौ मुनेरग्रतः ।
नागाकन्य उदग्र हृष्टमनसः कुर्वन्ति पूजां मुनेः
पुष्पं गन्धविलेपना च क्षिपिषुस्तूर्याणि निर्नादयन् ॥882॥

अत्यन्त हर्षित हो कर, अत्यन्त आनन्दित हो कर, वह नागराज (उन) लोक के उत्तम (भगवान्) की पूजा कर, चरणों मे वन्दना कर, उन मुनि के सामने अपना गौरव दिखाता हुआ खडा रहा, (तथा) आनन्दित एवं उल्लसित मन से नागकन्याओ ने बाजे बजा कर मुनि की पूजा की, उन पर पुष्प, गन्ध तथा विलेपन फेके ।

कृत्वा चाञ्जलि नागराट् सुमुदितस्तुष्टाव तथ्यैर्गुणैः
साधुर्दर्शितु पूर्णचन्द्रवदने लोकोत्तमे नायके ।
यथ मे दृष्ट निमित्त पूर्व-ऋषिणां पश्यामि तानेव ते
अद्य त्वा विनिहत्य मार बलवानिष्टं पदं लप्स्यसे ॥883॥

अत्यन्त आनन्दित नागराज ने हाथ जोड सत्य—गुणों द्वारा स्तुति की । हे पूर्ण चन्द्रमा के समान बदन वाले, लोक के उत्तम, नायक, अच्छा दर्शन दिया। जो निमित्त (=सगुन) मैंने पहले के ऋषियो के देखे हैं, वे ही तुम्हारे देख रहा हूँ। आज तुम सेनासमेत मार को जीत कर अभीष्ट पद प्राप्त करोगे ।

यस्यार्थे दमदानसंयम पुरे, सर्वा ति त्यागी अभूत्
यस्यार्थे दमशीलमैत्रकरुणाक्षान्तिवलं भावितं ।
(–283–) यस्यार्थे दमवीर्यध्याननिरतः प्रज्ञा प्रदीपः कृतः
सैषा ते परिपूर्ण सर्व प्रणिधी अद्या जिनो भेष्यसे ॥884॥

पहले जिस प्रयोजन लिए विनय, दान, तथा संयम किया, तुमने सब कुछ त्याग डाला, जिस प्रयोजन के लिए विनय, शील, मैत्री, करुणा, क्षमा, बल (=वीर्य) की भावना की, जिन प्रयोजन के लिए विनय तथा वीर्य (=उद्योग) के साथ ध्यान मे लगे रहे, प्रज्ञा को (अपना) प्रदीप बनाया, वह तुम्हारा सब संकल्प आज परिपूर्ण होने वाला है, आज (तुम) बुद्ध होओगे ।

यद्वद् वृक्ष सपत्रपुष्प सफला =209ख= बोधिद्रुमं संनताः
यद्वत् कुम्भसहस्र पूर्णसलिला कुर्वन्ति प्रादक्षिणं ।
यद्वन्चाप्सरगणाश्च संप्रमुदिता स्निग्धं रुतं कुर्वते
हंसाः क्रौञ्चगणा यथा च गगने गच्छन्ति लीडान्वितं ॥
कुर्वन्ते सुमनाः प्रदक्षिणमृषि भावि त्वमद्यार्हवान् ॥885॥

बोधिवृक्ष की ओर जैसे पत्र-पुष्प एवं फल समेत वृक्ष भलीभाँति झुक रहे हैं, जैसे पानी से भरे हजारो घड़े प्रदक्षिणा कर रहे हैं, जैसे अत्यन्त आनन्द से भरे अप्सराओ के समूह स्नेह के बोल बोल रहे हैं, जैसे हस तथा क्रौञ्च-गण क्रीड़ा के साथ आकाश में उड़ रहे हैं, तथा सुखी मन से ऋषि की प्रदक्षिणा कर रहे हैं, (उससे स्पष्ट है कि) तुम आज अर्हत् होओगे ।

यथ वा काञ्चनवर्ण आभ रुचिरा क्षेत्राशता[14] गच्छते
शान्ताश्चापि यथा अपाय निखिला दुःखैर्विमुक्ता प्रजाः ।
यद्वद् वृष्टित चन्द्रसूर्यभवना वायुर्मृदुर् वायते
अद्या भेष्यसि सार्थवाहु त्रिभवे जातीजरामोचको ॥886॥

जैसे सैकडो (बुद्ध-) क्षेत्रों तक सुनहरे रंग की सुन्दर प्रभा पहुँच रही है, जैसे सब के सब अपाय (=नरक) शान्त हो गए है तथा प्रजाएँ दुःख से मुक्ति पा गई है, जैसे चन्द्र सूर्य लोक से वर्षा हो रही है (और) कोमल पवन वह रहा है, (उससे स्पष्ट है कि तुम) आज जन्म तथा जरा से मुक्त करने तीनों लोकों के सार्थवाह बनोगे ।

यद्वत् कामरती विहाय च सुरास्त्वत्पूजनेऽभ्यागताः
ब्रह्मा ब्रह्मपुरोहिताश्च अमरा उत्सृज्य ध्यानं-सुखं ।
ये केचित् त्रिभवे तथैव च पुरे सर्वे इहाभ्यागताः
अद्या भेष्यसि वैद्यराज त्रिभवे जातीजरामोचको ॥887॥

तुम्हारी पूजा के लिए जैसे (कामधातु के) देवता कामसुख छोड़ कर और (रूपधातु के) ब्रह्मागण एवं ब्रह्मपुरोहित देव ध्यान का सुख छोड़ कर आए हुए है, जो कोई तीनों भवो मे है और (देव—) पुरों मे है, (वे) सब यहाँ आ चुके है, (उससे स्पष्ट है कि तुम) आज जन्म और जरा के मुक्त करने वाले तीनों लोकों के वैद्यराज बनोगे ।

मार्गश्चापि यथा विशोधितु सुरैर्येनाद्य त्वं गच्छसे
एतेना गतु क्रकुच्छन्दु भगवान् कनकाह्वयः काश्यपः ।
यथ वा पद्म विशुद्ध-निर्मल-शुभा मित्वा महीमुद्गताः
यस्मि निक्षिपसे क्रमानतिबलां भावि=210क= त्वमद्यार्हवान् ॥888॥

जैसे देवताओं ने मार्ग को साफ-सुथरा कर रक्खा है, जिस पर आज तुम चल रहे हो, इसी पर भगवान् क्रकुच्छन्द, कनक मुनि (नामक बुद्ध) तथा (तथागत) काश्यप चले थे, अथवा जैसे धरती फोड कर अत्यन्त शुद्ध, निर्मल और पवित्र कमल निकले है, जिन पर (तुम) अत्यन्त बलशाली चरण रख रहे हो, (उससे स्पष्ट है कि) आज तुम अर्हत् होओगे ।

14. मूल क्षत्राशता । भोट, शिङ् नि ब्ग्यंर् (=क्षेत्रशतानि) । उचित पाठ क्षेत्राशता स्पष्ट है ।

मारा: कोटिसहस्रनेकनयुता गङ्गा यथा वालिका:
तुभ्यं न समर्थं बोधिविटपाच्चालेतु कम्पेतु वा। (-284-)
यज्ञा नैकविधा: सहस्रनयुता गङ्गा यथा वालिका:
यष्टास्ते चरता हिताय जगतस्तेनेह विभ्राजसे ॥889॥

गंगा नदी के रेणुका-कणों के समान अनेक कोटि सहस्र खर्व मार (भी) तुमको बोधिवृक्ष से न चला सकते हैं और न हिला सकते हैं। गंगा की वालुका के समान अनेक प्रकार के सहस्रों खर्व यज्ञ तुमने जगत् के हित के लिए (बोधि-) चर्या का आचरण करते हुए किए हैं, उनके कारण यहाँ (तुम इस प्रकार) शोभायमान हो रहे हो।

नक्षत्रा सशशी सतारक रवी भूमौ पतेदम्बरात्
स्वस्थानाच्च चलेन्महागिरिवर: शुष्येदथो सागर:।
चतुरो धातव कश्चि विज्ञ पुरुषो दर्शेय एकैकस:
नैव त्वं द्रुमराजमूलुपगतो अप्राप्य बोध्युत्थिहेत् ॥890॥

चाहे चन्द्रमा के सहित नक्षत्र और नक्षत्रों के सहित सूर्य आकाश से धरती पर गिर पड़े, चाहे श्रेष्ठ महापर्वत अपने स्थान से च्युत हो जाएँ, चाहे समुद्र सूख जाएँ, और चाहे कोई चतुर पुरुष (शरीर के) चारो (पृथिवी, जल, तेज, एवं वायु) धातुओ को एक-एक करके (विवेचन कर) दिखा दे, पर तुम वृक्षराज के तले पहुँच कर, बिना बोधि प्राप्त किए नहीं उठोगे।

लाभा मह्यं सुलब्ध वृद्धि विपुला दृष्टोऽसि यत्सारथे
पूजा चैव कृता गुणाश्च कथिता बोधाय चोत्साहित:।
सर्वा नागवधू अहं च ससुता मुच्येमितो योनित:,
त्वं यासी यथ मत्तवारणगते गच्छेम एवं वयं ॥891॥इति॥

हे सारथे, जो तुम्हारा दर्शन हुआ, और (जो) तुम्हारी पूजा की, गुणानुवाद गाया एवं बोधि के लिए (तुम्हें) उत्साहित किया, वह मुझे लाभो की सुन्दर प्राप्ति है, (वह मेरी) विपुल वृद्धि है। (मेरी कामना है कि) मैं सब नागवधुओं तथ पुत्र-पुत्रियों के साथ इस योनि से मुक्त हो जाऊँ तथा हे मतवाले-गजराज के समान गति वाले, तुम जैसे (बोधि के लिए) चल रहे हो, वैसे ही हम (सभी) चले।

11. इस प्रकार हे भिक्षुओ, कालिक नागराज की सुवर्णप्रभासा नाम की जो पटरानी थी, वह आगे-आगे हो बहुत सी नाग कन्याओ के साथ, जो नानाप्रकार के रत्नों और छत्रो को लिए हुए थी, नानाप्रकार के घूसो (=दुशालो) को लिए हुए थी, नाना प्रकार के मोतियो के हारो को लिए हुए थी, नानाप्रकार

के मणिरत्नों को = 210ख = लिए हुए थी, देवलोक एवं मनुष्य लोक के पुष्प-विलेपनों के (पत्तों से गूँथे) दोनों को लिए हुए थी, नानाप्रकार की गंध-घटिकाओं (= धूपदानियों) को लिए हुए थी, चलते हुए वोधिसत्त्व के ऊपर नानाप्रकार के वाजों पर संगीति (के स्वर स र ग म प ध नि) वजा कर नानाप्रकार के रत्नों और पुष्पों की वर्षा करती थी तथा इन गाथाओं के द्वारा स्तुति करती थी ।

(छंद भुजङ्गप्रयात)

अभ्रान्ता अत्रस्ता अभीरु अछम्भी
अलीना अदीना प्रहृष्टा दुधर्षा ।
अरक्ता अदुष्टा अमूढा अलुब्धा
विरक्ता विमुक्ता नमस्ते महर्षे ॥892॥

हे भ्रमरहित, हे त्रासरहित, हे भयरहित, हे स्तम्भरहित (= भयोत्पन्न-शून्यगात्रता से रहित), हे अलीन (= अमूर्छित), हे अदीन, हे प्रहृष्ट, हे दुर्धर्ष, हे रागहीन, हे द्वेष हीन, हे मोह हीन, हे लोभ हीन, विरक्त, हे विमुक्त, हे महर्षे, तुम्हे नमस्कार है ।

(–285–) भिषङ्का विशल्या विनेया विनेषी
सुवैद्या जगस्या दुखेभ्यः प्रमोची ।
अलेना अत्राणा [15]अ हीना[15] विदित्वा
भवा लेनु त्राणो त्रिलोकेस्मि जातः ॥893॥

शल्य को दूर करने वाले (मुनि) चिकित्सक हो, विनय के योग्यों को तुमने विनीत किया है, जगत् के (तुम) उत्तम वैद्य हो, दुःखों से (तुमने उसे) मुक्त किया है । दीन-हीन (लोगो) को लयन हीन (= स्थान हीन) तथा त्राण हीन (=शरणहीन) जान कर (तुम) लयन (=स्थान) तथा त्राण (=शरण) होकर उत्पन्न हुए हो ।

प्रसन्ना प्रहृष्टा यथा देवसंघाः
प्रवर्षी नभस्था महत्पुष्पवर्षं ।
महाचैलक्षेपं करोन्ती यथेमे
जिनो भेष्यसेऽद्या कुरुष्व प्रहर्षं ॥894॥

15····15 मूल मे अहीना एक समस्त पद है । भोट मे द्मन् प (=हीन) ही केवल पाठ है जिससे अर्थसंगति लग जाती है । अतः यहाँ अ एक पृथक पद है जो च के अर्थ में है यद्यपि भोट में इसका प्रतिनिधि शब्द नहीं है । अ के इस प्रयोग का बु० हा० स० डि० में संकलन होना चाहिए ।

देवगण जिस प्रकार प्रसन्न हो, हर्ष से भरे, आकाश में खड़े हो, पुष्पों की महावर्षा कर रहे हैं और जिस प्रकार ये वस्त्रो को अत्यधिक हिला-हिला कर, फहरा रहे हैं, (उससे स्पष्ट है कि) आज (तुम) बुद्ध होओगे । आनन्द मनाओ ।

उपेहि द्रुमेन्द्रं निषीद। अछम्भी
जिना मारसेनां धुन क्लेशजालं ।
विबुध्य प्रशान्तां वरामग्रबोधिं
यथा पौर्वकैस्तैर्विबुद्धा जिनेन्द्रैः ॥895॥

वृक्षराज के तले जाओ, बिना स्तम्भ के (अर्थात् बिना भयजनित गात्रशून्यता के) बैठो, मारसेना को जीतो, क्लेशजाल को धुन दो, और उत्तम, श्रेष्ठ एवं अत्यन्त शान्त बोधि का उसी प्रकार बोध करो जिस प्रकार पहले के जिनेन्द्रों ने बोध किया था ।

त्वया यस्य =211क=अर्थे बहू कल्पकोट्यः
कृता दुष्कराणी जगन्मोचनार्थं ।
प्रपूर्णा ति आसा अयं प्राप्तु कालो
उपेहि द्रुमेन्द्रं स्पृशस्वाग्रबोधिं ॥896॥ इति

तुमने जिसके लिए, जगत् (के दुःख) छुड़ाने के अर्थ बहुत कोटि-कोटि कल्पों तक दुष्कर (कार्य) किए हैं, वह (अब) तुम्हारी आशा पूर्ण होगी, यह समय आ गया है, वृक्षराज के तले जाओ, श्रेष्ठ बोधि का अनुभव करो ।

12 हे भिक्षुओं, तदनन्तर बोधिसत्त्व के मन मे यह बात आई । पहले के तथागतो ने किस (आसन) पर बैठ अनुत्तर सम्यक् संबोधि का अवबोध किया था ? तब उनके मन मे यह भासित हुआ कि तृणासन पर बैठ कर (उन्होने बोधिलाभ किया था) ।

13. तदनन्तर आकाश मे विराजमान लाखों शुद्धवासकायिक देवता (अपने) चित्तों से बोधिसत्त्व के चित्त के भाव को जान कर यो वचन बोले (–286–) हे सत्पुरुष, ऐसी ही बात है, ऐसी ही बात है, हे सत्पुरुष, तृणासन पर बैठ कर उन पहले के तथागतो ने अनुत्तर सम्यक् संबोधि का अवबोध किया था । इति ॥

14. हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व ने फिर मार्ग के दाहिने पास मे स्वस्तिक घसियारे को देखा, जो नीले, कोमल, सुकुमार, रमणीय, कुण्डलाकार, दाहिनी ओर से मुड़े हुए, मयूर की गर्दन जैसे (रंग के), काचिलिन्द—वस्त्र के समान सुखदायक स्पर्श के, सुगन्धित, रंगीन एवं मनोहर तृणो को काट रहा था । उसे =211ख=देखकर, फिर बोधिसत्त्व मार्ग से हट कर, जहाँ स्वस्तिक

घसियारा था, वहाँ जाकर स्वस्तिक घसियारे से उस मधुर वाणी में बोले, जो वाणी सब ओर से ज्ञान देने वाली, विशेष रूप से ज्ञान देने वाली, अत्यन्त स्पष्ट, एक (प्रकार के) वर्ण वाली (भी) अनेक (प्रकार के) लोगों को सुख देने वाली, वल्गु (= मनोहर), श्रवणयोग्य, स्नेह से भरी, स्मरण के योग्य, प्रेरणा देने वाली, संतोष उपजाने वाली, प्रेम जनाने वाली, अकर्कश (= कटुता-रहित) अगद्गद (= स्थान एवं प्रयत्न के दोषों से अस्पृष्ट) अपरुष (=अकठोर), अचपल, श्लक्ष्ण (= चिकनी), मधुर, कानों को सुख देने वाली, शरीर और मन को आनन्दित करने वाली, राग-दोष, मोह एवं कलह के कलङ्क को मिटाने वाली, कलविङ्क (= चटक) के चहचहान के जैसे स्वर वाली, कुलाण और जीवंजीवक (= चकोर) के कूजन के समान घोषवाली, दुदुंभि एवं संगीतिस्वरों के अलापने के समान गूँजने वाली, अनपहृत (= अखंडित), सत्य, स्वच्छ, भूत (= यथार्थ), ब्रह्मा के स्वर के नाद के समान स्वर एवं ध्वनि वाली समुद्र के समान स्वर एवं वेग वाली, पर्वतों की टक्कर से उत्पन्न जैसे (स्पष्ट) नाद वाली, देवेन्द्रो और असुरेन्द्रों के द्वारा प्रशंसित, गंभीर, अगाध, मार के बल को बलहीन करने वाली, दूसरे (प्रतिपक्षियों) के प्रवादों को मथन करने वाली, =212क= सिंह के जैसे स्वर और वेग वाली, अश्वों और गजों के शब्द के समान गूँजने वाली, नाग-ध्वनि जैसी टनकती हुई, मेघघोष के समान घोषस्वर वाली, दसों दिशाओं के सब बुद्ध-क्षेत्रों में फैलने वाली, विनय के योग्य प्राणियों को प्रेरणा देने वाली, अद्रुत (= न शीघ्र), अनुपहत (= न रुक-रुक कर निकलने वाली), अविलम्बित (= न देर कर निकलने वाली) सहित (= संधियुक्त) युक्त (= रीति एवं शैली वाली), काल पर व्यक्त होने वाली, काल पर न चूकने वाली, शत-सहस्र धर्म (-भावनाओं) से गुँथी हुई, सौम्य (= दिल को भाने वाली) असक्त (दिल को न खटकने वाली) प्रतिभा के आश्रय वाली, एकबोली से सब बोलियों को रचने वाली, संपूर्ण अभिप्राय को प्रकट करने वाली, सब (प्रकार का) सुख उपजाने वाली, मोक्ष का मार्ग दिखाने वाली, मार्ग के लिए (अपेक्षित) संभार (= सामग्री) को बतलाने वाली, सभा (के नियमों) का उल्लंघन न करने वाली, संपूर्ण सभा को संतोष प्रदान करने वाली तथा सब बुद्धवचनों के (-287-) अनुकूल थी। ऐसी वाणी द्वारा बोधिसत्त्व ने स्वस्तिक घसियारे से गाथाओं में कहा।—

(छंद दोधक)

तृणु देहि मि स्वस्तिक शीघ्रं अद्य ममार्थु तृणैः सुमहान्तः।
सबलं नमुचि निहनित्वा बोधिमनुत्तर शान्ति स्पृशिष्ये ॥897॥

हे स्वस्तिक, मुझे जल्दी तृण दो, आज तृणों से मेरा महान् प्रयोजन है, सेनासहित मार का पूर्णरूप से दमन कर (आज) शान्त एवं उत्तम बोधि का साक्षात्कार करूँगा।

यस्य कृते मयि कल्पसहस्रा
दानु दमोऽपि च संयम =212ख= त्यागो।
शीलव्रतं च तपश्च सुचीर्णा
तस्य मि निष्पदि भेष्यति अद्य ॥898॥

जिस (प्रयोजन) के लिए मैंने सहस्र कल्पों तक दान, दम (=विनय), संयम त्याग, शीलव्रत, तथा तप की शोभन चर्या की है, मेरे उस (प्रयोजन) की सफलता आज होगी।

क्षान्तिबलं तथ वीर्यबलं च
ध्यानबलं तथ ज्ञानबलं च।
पुण्य-अभिज्ञ-विमोक्षबलं च
तस्य मि निष्पदि भेष्यति अद्य ॥899॥

और मेरा जो क्षमाबल, वीर्यबल, ध्यानबल, ज्ञानबल, पुण्यबल, अभिज्ञाबल, तथा विमोक्ष बल हैं, उसकी सफलता आज होगी।

प्रज्ञबलं च उपायबलं च
ऋद्धि-मृ-असंगत-मैत्रिबलं च।
प्रतिसंविद-परिसत्यबलं च
तेष मि निष्पदि भेष्यति अद्य ॥900॥

और मेरे जो प्रज्ञाबल, उपायबल, ऋद्धिबल, असंगताबल, मैत्रीबल, प्रतिसंविद्बल है तथा परिपूर्ण सत्यबल है उनकी सफलता आज होगी।

पुण्यबलं च तवापि अनन्तं
यन्मम दास्यसि अद्य तृणानि।
नह्यपरं तव एतु निमित्तं
त्वं पि अनुत्तरु भेष्यसि शास्ता ॥901॥

आज जो मुझे तृण दोगे, उससे तुम्हारा पुण्यबल अनन्त हो जाएगा, तुम्हारे लिए यह अपर (=न-वर) निमित्त नही होगा, तुम भी अनुत्तर शास्ता होओगे।

(छंद सप्तदशाक्षरी गाथा)

श्रुत्वा स्वस्तिकु वाच नायके सुरुचिर मधुरां
तुष्टो आत्मनाश्च हर्षितः प्रमुदितमनसः।
गृह्णीत्वा तृणमुष्टि स्पर्शनवती मृदुतरुणसुभां
पुरतः स्थित्वन वाच भाषते प्रमुदितु हृदयः ॥902॥

नायक (बोधिसत्त्व) की अत्यन्त रुचि उपजाने वाली और मधुर वाणी को सुन कर, स्वस्तिक संतुष्ट, मन मे सुखी, हर्षित, और मन में अत्यन्त आनन्दित हुआ और कोमल, नूतन एवं शुभ तथा स्पर्श में सुखद तृणों की मुष्टि लेकर संमुख खडे होकर, हृदय के अत्यन्त आनन्द के साथ (यों) वचन बोला।

यदि तावत् तृणकेभि लभ्यते पदवरममृतं
बोधी उत्तम शान्त दुर्दृशा पुरिमजिनपथः।
तिष्ठतु ताव महागुणोदधे अपरिमितयशा।
अहमेव प्रथमे नु बुध्यमि पदवरममृतं ॥903॥

हे गुणों के महासागर, अपरिमित यश वाले (महासत्त्व), यदि उत्तम, शान्त, कठिनता मे साक्षात्कार के योग्य बोधि, जो पहले के बुद्धों का मार्ग है, तृणों से ही प्राप्त हो जाती है, तो आप ठहरिए, मैं ही पहले उत्तम अमृत पद का बोध कर लेता हूँ।

नैषा स्वस्तिक बोधि लभ्यते तृणवरशयनैः
अचरित्वा बहुकल्प दुष्करी व्रततप विविधा ।=213क=
(–288–) प्रज्ञा-पुण्य-उपाय-उद्गतो यदि भवि मतिमां
तद-पश्चाज् जिन व्याकरोन्ति मुनयो भविष्यति विरजः ॥904॥

हे स्वस्तिक, यह बोधि उत्तम तृणों के शयनासन द्वारा बहुत कल्पों तक बिना नाना प्रकार के दुष्कर व्रत तप किए नही प्राप्त होती। जब बुद्धिमान् (प्राणी) प्रज्ञा से, पुण्य से, उपाय से ऊपर उठ जाता है, तब बाद मे मुनि (–जन) रजोहीन बुद्ध होने की भविष्यवाणी करते है।

यदि बोधी इय शक्य स्वस्तिका परजनि ददितुं
पिण्डीकृत्य ददेय प्राणिनां म भवतु विमतिः।
यद बोधी मय प्राप्त जानसी विभजमि अमृतं
आगत्वा शृणु धर्म-य्-उक्त त्वं भविष्यसि विरजः ॥905॥

यह बोधि यदि दूसरे व्यक्ति को दी जा सकती होती, तो उसकी पिंडिया बना कर दे सकने में, मुझे हिचकिचाहट न हुई होती। जब तुब जानना कि मै बोधि पाकर, अमृत बाँट रहा हूँ, तब आकर (मेरे) कहे धर्म को सुनना। तुम रजोहीन (बुद्ध) होओगे।

गृह्णीत्वा तृणमुष्टि नायकः परमसुमृदुकां
सिंहाहंसगतिश्च प्रस्थितः प्रचलित धरणी।
देवानागगणाः कृताञ्जली प्रमुदितमनसः
अद्या मारबलं निहत्वयं स्पृसिष्यति अमृतं ॥906॥

परम-अत्यन्त कोमल तृणों को मुष्टि लेकर सिंह एवं हंस की गतिवाले नायक (बोधिवृक्ष की ओर) चल पडे, धरती डोल उठी, देवगण एवं नागगण अंजलि बांध, आनन्द से पूरे भरे मन से (बोल उठे कि) आज ये मारसेना का दमन कर, अमृत का साक्षात्कार करेंगे।

15. हे भिक्षुओ, जब बोधिसत्त्व बोधिवृक्ष की ओर जा रहे थे, तब देवपुत्रों और बोधिसत्त्वो ने अस्सी हजार बोधिवृक्षो को इसलिए अलंकृत कर रक्खा था कि यहाँ बैठ कर बोधिसत्त्व बोधि का लाभ करेंगे—सम्यग् अवबोध करेंगे। वहाँ पर कितने ही बोधिवृक्ष दो शतसहस्र-योजन-ऊँचे गंधमय थे, कितने ही बोधिवृक्ष तीन शतसहस्र-योजन-ऊँचे चन्दनमय थे, =213ख= कितने ही बोधिवृक्ष ऊँचाई मे पाँच शतसहस्र-योजन के वस्त्रमय थे, कितने ही बोधिवृक्ष ऊँचाई में दस शतसहस्र-योजन के रत्नमय थे, कितने ही बोधिवृक्ष ऊँचाई मे दस कोटिनयुत शतसहस्र योजन के सर्वरत्नमय थे।[16] उन सब बोधिवृक्षों के तले औचित्य के अनुसार सिंहासन लगे हुए थे, जिन पर नाना (प्रकार) के घूसे (=दुशाले) बिछाए गए थे। किसी बोधिवृक्ष के नीचे कमलासन लगाया, किसी के नीचे गंधासन, किसी के नीचे नानाविधरत्नासन। और बोधिसत्त्व (289–) ललितव्यूह नाम की समाधि मे समापन्न हो गए। ज्यो ही बोधिसत्त्व ललितव्यूह नामक बोधिसत्त्वसमाधि मे समापन्न हुए, त्यों ही उन सब बोधिवृक्षो के नीचे अपने (बत्तीस) लक्षणों तथा (अस्सी) अनुव्यञ्जनों द्वारा विभूषित शरीर से बोधिसत्त्व सिंहासनारूढ दिखाई पड़ने लगे। और प्रत्येक बोधिसत्त्व तथा देवपुत्र को यही भान होने लगा कि बोधिसत्त्व मेरे ही सिंहासन पर बैठे है न कि दूसरों पर। जैसा उन (बोधिसत्त्वो एवं देवपुत्रो) को भान होता था, वैसा ही = 214क = उस ललितव्यूह नामक समाधि के प्रताप से सब नरकों के पशुपक्षि-योनियों के, यम-लोक के प्राणियो को, सब देवताओं और मनुष्यो को, (विभिन्न) गतियों मे उत्पन्न सब प्राणियों को बोधिसत्त्व बोधिवृक्षों के नीचे सिंहासनारूढ़ दिखाई पड़ते थे।

16. तदनन्तर हीनरुचि-वाले (अर्थात् दिव्य ठाट-बाट से विमुख तपोमय जीवन में रुचि वाले) प्राणियो के मन मे संतोष उपजाने के लिए, तृणों की मुष्टि लेकर, बोधिसत्त्व जहाँ बोधिवृक्ष था, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर सात बार बोधिवृक्ष की प्रदक्षिणा कर, तृणों का समन्तभद्र नामक आसन—जिसमें (तृणों का)

16. इससे पूर्व मूल मे (केचिद्बोधिवृक्षा रत्नमयाः कोटिनयुतशतसहस्रमुद्विद्धाः) यह पाठ कोष्ठको में है, जो सम्बद्ध नही है। भोट में भी यह नहीं है, अतः परित्यागार्ह है।

उपरला (भाग) भीतर की ओर, (तृणों की) जड़ों (वाला भाग) बाहर की ओर होता है—बिछा कर उस तृणासन पर, सिंह के सदृश, शूर के सदृश, बली के सदृश, दृढोद्योगी के सदृश, स्थैर्यवान् के सदृश, गजेन्द्र के सदृश, महेश्वर के सदृश, स्वयंभू के सदृश, ज्ञानी के सदृश, अनुत्तर (=सर्वश्रेष्ठ) के सदृश, विशिष्ट (पुरुष) के सदृश, उन्नत (पुरुष) के सदृश, (अपने) यश के सदृश, (अपनी) कीर्ति के सदृश, (अपने) दान के सदृश, (अपने) शील के सदृश, (अपनी) क्षमा के सदृश, (अपने) वीर्य (=उद्योग) के सदृश, (अपने) ध्यान के सदृश, (अपनी) प्रज्ञा के सदृश, (अपने) ज्ञान के सदृश, (अपने) पुण्य के =214ख=सदृश, मार की बाधाओं के विघातक के सदृश, पर्यंक बांध कर, पूर्व दिशा की ओर मुख कर, शरीर को सीधा रख कर, स्मृति को अपने सम्मुख रख कर, बैठे और इस प्रकार का दृढ़ संकल्प किया—

(छंद उपजाति)

इहासने शुष्यतु मे शरीरं
त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु ।
अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां
नैवासनात् कायमतश्चलिष्यते ॥907॥[17]

इस आसन पर मेरा शरीर भले ही सूख जाए, त्वचा तथा अस्थि-मांस चाहे गल जाएँ, बहुत कल्पों तक दुर्लभ बोधि का लाभ किए बिना, इस आसन से (यह) काय नहीं हिले-डुलेगा ।

॥ इति श्री ललितविस्तरे बोधिमण्डगमनपरिवर्तो नाम एकोनविंशतितमोऽध्यायः ॥

■

17. इस परिवर्तन की गाथाओं की छाया यों है ।

यस्य तेजसः पुण्यतश्च श्रियो ब्राह्मः पन्था ज्ञायते मैत्री च करुणा उपेक्षा मुदिता ध्यानान्यभिज्ञास्तथा । सोऽयं कल्पसहस्रचरितचर्यो बोधिद्रुमं प्रस्थितः पूजां साधु कुरुत तस्य मुनेर् आशीर्व्रतं साधिकां (यथारुतं तु साधनीम्) ॥851॥ यं गत्वा शरणं न दुर्गतिभयं प्राप्नोति नैवाक्षणं देवेष्विष्टसुखं च प्राप्य विपुलं ब्रह्मालयं गच्छति । षड् वर्षाणि चरित्वा दुष्करचर्यां यात्येष बोधिद्रुमं साधु सर्वे हृष्टोदग्रमनसः पूजामस्य कुर्महे ॥852॥ राजासौ त्रिसाहस्रे, ईश्वरवरो धर्मेश्वरः पार्थिवः शक्रब्रह्मणोः पुरे च चन्द्रसूर्ययोर् नास्त्यस्य कश्चित्समः । यस्य जायमानस्य क्षेत्रकोटिनयुताः संकम्पिताः षड्-विधं स एषोऽद्य व्रजति महाद्रुमवरं मारस्य जेतुं चमूः ॥853॥ मूर्धा यस्य

न शक्य ईक्षितुमिह ब्रह्मालयेऽपि स्थितैः कायो यस्य वराग्रलक्षणधरो द्वात्रिंशतालंकृतः । वाग्यस्येह मनोज्ञा वल्गुर्मधुरा ब्रह्मस्वरा सुस्वरा चित्तं यस्य प्रशान्तं दोषरहितं गच्छाम तत्पूजने ।।854।। येषां वा मतिर् ब्रह्मणः शक्रस्य भवने नित्यं सुखं क्षेपयितुम् अथवा सर्वक्लेशबन्धनलतां छेत्तुं हि तां जालिनीम् । अश्रुत्वा परतः स्पृशेयममृतं प्रत्येकबोधिं शिवां बुद्धत्वं यदि वेप्सितं त्रिभवने पूजयत्वसौ नायकम् ।।855।। त्यक्ता येन ससागरा वसुमती रत्नान्यनन्तान्यथो प्रासादाश्च गवाक्ष-हर्म्य-कलिला (=बहुला) युग्यानि यानानि च । भूमिरलंकृता पुष्पदामभी रुचिरैर् उद्यानकूपसरोभिर् हस्तपादशिरउत्तमाङ्गनयनानि स बोधिमण्डोन्मुखः ।।856।।

यावन्तश्चावीचिपर्यन्तं नरका घोरदर्शनाः । दुःखं प्रशान्तं सत्वानां सुखां विन्दन्ति वेदनाम् ।।857।। तिर्यग्योनिषु यावन्तः सत्वा अन्योन्यघातकाः । मैत्रीचित्ता हि ते जाताः स्पृष्टा भाभिर्महामुनेः ।।858।। प्रेतलोकेषु यावन्तः प्रेताः क्षुत्तर्षपीडिताः । प्राप्नुवन्त्यन्नपानानि बोधिसत्त्वस्य तेजसा ।।859।। अक्षणाः पिहिताः सर्वे दुर्गतिश्चोपशोषिता । सुखिताः सर्वसत्त्वाश्च दिव्यसौख्यसमर्पिताः ।।860।। चक्षुःश्रोत्रविहीनाश्च ये चान्ये विकलेन्द्रियाः । सर्वेन्द्रयैः सुसंपूर्णा जाताः सर्वाङ्गशोभनाः ।।861।। रागद्वेषादिभिः क्लेशैः सत्वा बाध्यन्ते ये सदा । शान्तक्लेशास्तदा सर्वे जाताः सुखसमर्पिताः ।।862।। उन्मत्ताः स्मृतिमन्तश्च दरिद्रा धनिनस्तथा । व्याधिता रोगनिर्मुक्ता मुक्ता बन्धनबद्धकाः ।।863।। न खिलं न च मात्सर्यं व्यापादं न च विग्रहम् । अन्योन्यं संप्रकुर्वन्ति मैत्रचित्ताः स्थितास्तदा ।।864।। मातुः पितुश्चैकपुत्रे यथा प्रेम प्रवर्तते । तथान्योन्येन सत्वानां पुत्रप्रेम तदाभवत् ।।865।। बोधिसत्त्वप्रभाजालैः स्फुटानि क्षेत्राण्यचिन्त्यनि । गङ्गावालुकासंख्यातानि समन्ताद् वै दिशो दश ।।866।। न भूयश्चक्रवालाश्च दृश्यन्ते कालपर्वताः । सर्वाणि तानि विपुलानि क्षेत्राणि दृश्यन्त एकं यथा तथा ।।867।। पाणितलप्रकाशानि च दृश्यन्ते सर्वरत्नकानि । बोधिसत्त्वस्य पूजार्थं सर्वाणि क्षेत्राण्यलंकृतानि ।।868।। देवाश्च षोडश तथा बोधिमण्डपोपचारकाः । अलंचक्रुर्बोधिमण्डपम् अशीत्या योजनैर् आवृतम् ।।869।। ये च केचिन्महाव्यूहाः क्षेत्रकोटिष्वनन्तकाः । ते सर्वे तत्र दृश्यन्ते बोधिसत्त्वस्य तेजसा ।।870।। देवानागस्तथा यक्षाः किन्नराश्च महोरगाः । स्वानि स्वानि विमानानि श्मशानीव मेनिरे ।।871।। तान् व्यूहान् संनिरीक्ष्येह विस्मिताः सुरमानुषाः । साधु पुण्यस्य निस्यन्दः संपद् यस्येयमीदृशी ।।872।। करोति नैव चोद्योगं कायेन वाचा मनसा तथा । सर्वार्थाश्चास्य

सिद्धयन्ति येऽभिप्रेता मनोरथाः ॥873॥ अभिप्राया यथान्येषां पूरिताश्चरता पुरा। विपाकः कर्मणस्तस्य संपद् जातेयमीदृशी ॥874॥ अलंकृतो बोधिमण्डपश्चतुर्भिर् बोधिदैवतैः। पारिजाता दिवि यथा तस्मादपि विशिष्यते ॥875॥ गुणाः शक्या न ते वाचा सर्वे संपरिकीर्तयितुम्। ये व्यूहा बोधिमण्डपस्य दैवतैरभिसंस्कृताः ॥876॥

क्रकुच्छन्दे यथाभा दृष्टा रुचिरा च कनकाह्वये यद्वत् काश्यपे धर्मराजेऽनघे दृष्टा प्रभा निर्मला। निःसंशयं वरलक्षणो हितकर उत्पन्नो ज्ञानप्रभो येनेदं भवनं विरोचते हि मे स्वर्णप्रभालंकृतम् ॥877॥ नास्मिश्चन्द्ररविप्रभा सुविपुला संदृश्यते वेश्मनि नो चाग्नेर्न मणेर्न विद्युतोऽमलाया नो च प्रभा ज्योतिषाम्। नो वा शक्रप्रभा न ब्रह्मणः प्रभा नो च प्रभाऽऽसुरी, एकान्तं तमसाकुलं मम गृहं प्राग्दुष्कृतैः कर्मभिः ॥878॥ अद्येदं भवनं विराजते शुभं मध्ये-रवि-दीप्तिवत्, चित्तं प्रीतिं जनयति कायः सुखितो गात्राण्यद्भुतं शीतलानि। तप्ता वालुका ये शरीरे न्यपप्तत्, जाता सा शीतला, सुव्यक्तं बहुकल्पकोटिचरितो बोधिद्रुमं गच्छति ॥879॥ शीघ्रं गृह्णीत नागाः पुष्पाणि रुचिराणि वस्त्राणि सुगन्धीन् शुभान्, मुक्ताहारान् पिनद्धवतश्च वलयांश्चूर्णानि धूपानुत्तमान्। संगीतिं प्रकुरुध्वं वाद्यैर् विविधैर् भेरीभिर्मृदङ्गैः शुभैर् हन्त गच्छत पूजनाय हितकरं पूजार्हं सर्वस्मिञ्जगति ॥880॥ सोऽभ्युत्थाय च नागकन्यासहितश् चतस्रो दिशः प्रेक्षतेऽद्राक्षीद् अथ मेरुपर्वतनिभं स्वलंकृतं तेजसा। देवैर्दानवकोटिभिः परिवृतं ब्रह्मेन्द्रयक्षैस्तथा पूजा तस्य कुर्वन्ति हृष्टमनसो दर्शयन्ति मार्गो ह्ययम् ॥881॥ सहृष्टः स हि नागराट् सुमुदितश् चाभ्यर्च्य लोकोत्तमं वन्दित्वा चरणौ च गौरवकृतः (=कृतगौरवः) तस्थौ मुनेरग्रतः। नागकन्या उदग्रा हृष्टमनसः कुर्वन्ति पूजां मुने पुष्पाणि गन्धविलेपनानि चाक्षैप्सुस् तूर्याणि निर्नादयन्त्यः ॥882॥ कृत्वा चाञ्जलिं नागराट् सुमुदितस्तुष्टाव तथ्यैं गुणैं साधु दर्शितं पूर्णचन्द्रवदन लोकत्तम नायक। यथा मे दृष्टानि निमित्तानि पूर्वर्षीणां पश्यामि तान्येव ते। अद्य त्वं विनिहत्य मारं बलवन्तमिष्टं पदं लप्स्यसे ॥883॥ यस्यार्थे दमदानसंयमाः पुरा, सर्वस्ते त्यागोऽभूद् यस्यार्थे दमशीलमैत्रीकरुणाक्षान्तिबलं भावितं। यस्यार्थे दमवीर्यध्याननिरतः प्रज्ञा प्रदीपः कृत- सैष ते परिपूर्ण. सर्वः प्रणिधिः अद्य जिनो भविष्यति ॥884॥ यद्वद्वृक्षाः सपत्रपुष्पाः सफला बोधिद्रुमं सनताः, यद्वद् कुम्भसहस्राणि पूर्णसलिलानि (=सलिलपूर्णानि) कुर्वन्ति प्रदक्षिणाम्। यद्वच्चाप्सरोगणाश्च संप्रमुदिताः स्निग्धं रुतं कुर्वते, हसाः क्रौञ्चगणा यथा गगने गच्छन्ति लीलान्वितं कुर्वते सुमनसः प्रदक्षि-

मूर्षि भवेस्त्वमद्यार्हन् ।।885।। यथा वा काञ्चनवर्णाऽऽभा रुचिरा क्षेत्रशतानि गच्छति, शान्ताश्चापि यथा ऽपाया निखिला दुःखैर्विमुक्ताः प्रजाः । यद्वद् वृष्टिश् चन्द्रसूर्यभवनाद् वायुर्मृदुर्वाति, अद्य भविष्यसि सार्थवाहस्त्रिभवे जातिजरामोचकः ।।886।। यद्वत् कामरतिं विहाय च सुरास्त्वत्पूजनेऽभ्यागताः, ब्रह्माणो ब्रह्मपुरोहिताश्चामरा उत्सृज्य ध्यान-सुखम् । ये केचित् त्रिभवे तथैव च पुरे (= देवनगरे) सर्व इहाभ्यागताः, अद्य भविष्यसि वैद्यराजस् त्रिभवे जातिजरामोचकः ।।887।। मार्गश्चापि यथा विशोधितः सुरैर्येनाद्य त्वं गच्छसि, एतेन गतः क्रकुच्छन्दो भगवान् कनकाह्वयः काश्यपः । यथा वा पद्मानि विशुद्धनिर्मलशुभानि भित्त्वा महीम् उद्गतानि, येषु निक्षिपसि क्रमान् अतिबलान् भवेस्त्वमद्यार्हन् ।।888।। माराः कोटिसहस्रानेकनयुता गङ्गाया यथा वालुका ते त्वां न समर्था बोधिविटपाच्चालयितुं कम्पयितुं वा । यज्ञा नैकविधाः सहस्रनयुता गङ्गाया यथा वालुका इष्टास्ते चरता हिताय जगत-स्तेनेह विभ्राजसे ।।889।। नक्षत्राणि सशशीनि सतारको रविर् भूमौ पते-दम्बरात् स्वस्थानाच्च चलेन्महागिरिवरः शुष्येदथो सागरः । चतुरो धातून् कश्चिद् विज्ञा पुरुषो दर्शयेदेकैकशो नैव त्व द्रुमराजमूलमुपगतोऽप्राप्य बोधिम् उत्तिष्ठेः ।।890।। लाभा मे सुलब्धा वृद्धिर्विपुला दृष्टोऽसि यत्सारथे पूजा चैव कृता गुणाश्च कथिता बोधाय चोत्साहितः । सर्वा नागवध्वः, अहं च ससुतः, मुच्येयम् इतो योनितः, त्वं यासि यथा मत्तवारणगते गच्छेमैवं वयम् ।।891।। अभ्रान्त, अत्रस्त, अभीरो, अस्तम्भिन्, अलीन अदीन, प्रहृष्ट, दुरधर्ष । अरक्त, अदुष्ट (= अद्विष्ट), अमूढ, अलुब्ध, विरक्त, विमुक्त, नमस्ते महर्षे ।।892।। भिषक् विशल्य (—कृत्), विनेयान् व्यनैषीः, सुवैद्यो जगतः दुःखेभ्यः प्रामुमुचः । अलयनान् अत्राणां, च हीनान् विदित्वा, भूत्वा लयनं त्राणस् त्रिलोके जातः ।।893।। प्रसन्नाः प्रहृष्टा यथा देवसंघाः प्रावर्षिषुर् नभस्था महत्पुष्पवर्षम् । महाचैलक्षेपं कुर्वन्ति यथेमे जिनो भविष्यस्यद्य कुरुष्व प्रहर्षम् ।।894।। उपेहि द्रुमेन्द्रं, निषीदास्तम्भी, जय मारसेनां, धुनु क्लेश-जालम् । विबुध्यस्व प्रशान्तां वरामग्रबोधिं यथा पौर्विकैस्तैर् विबुद्धा जिनेन्द्रैः ।।895।। त्वया यस्यार्थे बह्वी कल्पकोटी. कृता दुष्कराणि जगन्मोचनार्थम् । प्रपूर्णा ते आशा, अयं प्राप्तः कालः, उपेहि द्रुमेन्द्रं स्पृशस्वाग्रबोधिम् ।।896।।

तृणानि देहि मे स्वस्तिक शीघ्रम् अद्य ममार्थस्तृणैः सुमहान् । सबलं नमुचिं निहत्य बोधिमनुत्तरां शान्तां स्पर्क्ष्यामि ।।897।। यस्य कृते मया कल्पसहस्राणि दान दमोऽपि च संयमस्त्यागः । शीलव्रतं च तपश्च सुचरितं तस्य मे निष्पत्तिर् भविष्यत्यद्य ।।898।। क्षान्तिबलं तथा वीर्यबलं च

ध्यानबलं तथा ज्ञानबलं च पुण्याभिज्ञाविमोक्षबलं च तस्य मे निष्पत्तिभ-विष्यत्यद्य ।।899।। प्रज्ञाबलं चोपायबलं ऋद्ध्य—असंगता—मैत्रीबलं च। प्रतिसंविदपरिसत्यबलं च तेषां मे निष्पत्तिरभविष्यद्य ।।900।। पुण्यबलं तवाप्यनेन्तं यन्मम दास्यस्यद्य तृणानि नह्यपरं (परं=उत्तमं, अपरं=हीनं) तवैतन्निमित्तं त्वमप्यनुत्तरो भविष्यसि शास्ता ।।901।।

श्रुत्वा स्वस्तिको वाचं नायकस्य सुरुचिरां मधुरां तुष्ट आत्ममनाश्च हृष्टः प्रमुदितमनाः। गृहीत्वा तृणमुष्टिं स्पर्शनवतीं मृदुतरुणशुभां पुरतः स्थित्वा वाचं भाषते प्रमुदितो हृदये ।।902।। यदि तावत् तृणकैर्लभ्यते पदवरममृतं बोधिरुत्तमा शान्ता दुर्दर्शा पूर्वजिनपथः। तिष्ठतु तावद् महागुणोदधेऽपरिमितयशाः, अहमेव प्रथमं नु बुध्ये पदवरममृतम् ।।903।। नैषा स्वस्तिक बोधिर्लभ्यते तृणवरशयनैं अचरित्वा बहुकल्पान् दुष्कराणि व्रततपांसि विविधानि। प्रज्ञापुण्योपायोद्गतो यदा भवेन्मतिमान्, सदा पश्चाद् जिना व्याकुर्वन्ति मुनयो भविष्यसि विरजाः ।।904।। यदि बोधि इयं शक्या स्वस्तिक परजनाय दातुं पिण्डीकृत्य दद्या प्राणिनां मा भवतु विमतिः। यदा बोधिर्मया प्राप्ता जानासि विभजाम्यमृतम् आगत्य शृणु धर्मनुक्तं त्वं भविष्यसि विरजाः ।।905।। गृहीत्वा तृणमुष्टिं नायकः परम-सुमृदुकां सिंहहंसगतिश्च प्रस्थितः प्रचलिता धरणी। देवानागगणाः कृताञ्जलयः प्रमुदितमनसः, अद्य मारबलं निहत्यायं स्पर्क्ष्यति बोधिम् ।।906।। इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसं प्रलयं यातु। अप्राप्यबोधिं बहुकल्पदुर्लभां नैवासनात् कायोऽत-श्चलिष्यते ।।907।।

॥ २० ॥

॥ बोधिमण्डव्यूहपरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 290 (पंक्ति 1)—299 (पंक्ति 14)

भोटानुवाद 214ख (पंक्ति 3)—221क (पंक्ति 3)

॥ २० ॥

॥ बोधिमण्डव्यूहपरिवर्त ॥

1. (-290-) हे भिक्षुओं, इस प्रकार, बोधिमंडप के नीचे बोधिसत्त्व के बैठने पर छहों कामधातुओं मे विचरने वाले देवता पूर्व दिशा में इसलिए खड़े हों कि कोई बोधिसत्त्व को विघ्न-बाधाएँ न पहुँचाए। इसी प्रकार दक्षिण, पश्चिम और उत्तर की दिशाओं पर देवताओं ने अधिकार कर लिया।

2. हे भिक्षुओं, इस प्रकार बोधिमण्डप के नीचे बैठे हुए बोधिसत्त्व ने उस समय बोधिसत्त्व प्रेरणी नामक किरण को छोड़ा, जिस किरण से सब ओर दसों दिशाओं के अपरिमित एवं असंख्य, धर्मधातुपर्यन्त, आकाश—धातु के अवसान तक के, सब बुद्धक्षेत्र चमकने लगे।

3. इसके अनन्तर, पूर्व-दिशा की विमला—लोक धातु के तथागत विमल-प्रभास के बुद्धक्षेत्र के =215क= ललितव्यूह नामक बोधिसत्त्व महासत्त्व उस प्रभा से प्रेरित हो, गणनातीत बोधिसत्त्वो से घिरे हुए, आगे किए हुए जहाँ बोधि-मंडप था और जहाँ बोधिसत्त्व थे वहां पहुँचे। पहुँच कर उस समय बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए वैसा ऋद्धि-बल का चमत्कार दिखाया कि जिस ऋद्धि-बल के चमत्कार से दसों दिशाओं के, आकाश-धातु के अवसान तक के सब बुद्ध क्षेत्र एक मडलवाट (=गोल-बाड़े) के शुद्ध नीले वैदूर्य (-मणि) के (बने) दिखाई पडने लगे। पाँचो (नरक, प्रेत, तिर्यक, मनुष्य एवं देव—) गतियो मे उत्पन्न सब प्राणियों के सम्मुख, बोधिमण्डप के नीचे बैठे, बोधिसत्त्व दिखने लगे और वे प्राणी एक-दूसरे को ऊँगली से बोधिसत्त्व को दिखाने लगे कि ये कौन इस प्रकार के ललित प्राणधारी है? ये कौन इस प्रकार से विराजमान प्राणधारी है? उन प्राणियों के सम्मुख बोधिसत्त्व ने ऋद्धि-निर्मित बोधिसत्त्व बनाए। वहाँ पर वे बोधिसत्त्व-रूपधारी यह गाथा बोले—

(छंद शार्दूलविक्रीड़ित)

(-291-) यस्या किंच न रागदोष, कलुषा सावासना उद्धता[1]=215ख=
यस्या कायप्रभा कृता दश दिशे सर्वे प्रभा निष्प्रभाः।
यस्या पुण्यसमाधिज्ञाननिचयः कल्पोघसंवर्धितः
सोऽयं शाक्यमुनिर्महामुनिवरः सर्वा दिशो भ्राजते ॥908॥ इति।

1. यह चरण मूल में यों पढ़ा गया है—यस्या किचन रागदोषकलुषा सावासना

जिनमे कुछ भी राग-द्वेष नही है, जिनके क्लेश वासना-सहित उखड़ चुके हैं, जिनकी शरीर-प्रभा ने दसों दिशाओ की सब प्रभाओं को प्रभाहीन कर दिया है, जिनके पुण्य का, समाधि का तथा ज्ञान का, भंडार कल्पो के समूहो (की बोधिचर्या) से भलीभाँति बढ़ा है, वे महामुनियों मे उत्तम ये शाक्यमुनि सब दिशाओं में जगमगा रहे है ।

4 हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, दक्षिण दिशा की रत्नव्यूहा-लोकधातु के तथागत रत्नार्चिष के बुद्धक्षेत्र के रत्न छत्रकूटसंदर्शन नामक बोधिसत्त्व महासत्त्व उस प्रभा से प्रेरित हो, गणनातीत बोधिसत्त्वों से घिरे हुए, आगे किए हुए, जहाँ बोधिमण्डप था और जहाँ बोधिसत्त्व थे, वहाँ पहुँचे । पहुँच कर बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए एक रत्नछत्र से उस संपूर्ण मडलवाट (= गोलवाड़े) का छा दिया । तब इन्द्र, ब्रह्मा तथा लोकपाल एक-दूसरे से यो बोले—यह किस (पुण्य) का फल है ? किस (पुण्य-फल) के कारण यह इस प्रकार की रत्नछत्र की रचना दिख रही है ? इसके बाद उस रत्नछत्र से यह गाथा निकली ।—

(छंद शार्दूलविक्रीड़ित)

येन छत्रसहस्रकोटिनयुता गन्धान रत्नान च
दत्ता अप्रतिमेषु मैत्रमनसा तिष्ठन्तिके[2] निर्वृते ।
सो एषो वरलक्षणो हितकरो नारायणस्थामवान् = 216क =
बोधेर्मूलमुपागतो गुणधरस्तस्यैष पूजा कृता ॥909॥ इति

जिन्होने गन्धों तथा रत्नों के सहस्र-कोटि खर्व-खर्ब छत्रों का, (शरीर से) ठहरे हुए अर्थात् इस समय वर्तमान एवं निर्वृत अर्थात् निर्वाण पा अतीत हुए अनुपम (तथागतो) को दान दिया, वे श्रेष्ठ लक्षणों के, हितकारी, नारायण के समान

उद्धता । यहाँ पदच्छेद ठीक नही है । किचन वस्तुत: एक पद नही है । यहाँ किच तथा न दो अर्थानुसारी पद हैं । तुलनीय भोट, चि यङ् मेद् प । मेद् प मूल के न का प्रतिनिधि है । सावासना (= सवासना, अर्थात् वासनासहिता, तुलनीय भोट, बग् छगस् ब्चस्) को वैद्य ने दो पद मान कर सा को पृथक् पद के रूप में पढा है । वैद्य ग्रन्थार्थ कितना समझते है, इससे स्पष्ट है । कलुषा को पृथक् पद के रूप मे लेने से अर्थ स्पष्ट होता है और सावसना उसी का विशेषण है । इस पूरे चरण का भोटानुवाद यह है—चि यङ् मेद् पहि ह्दोद् छग्स् शे स्दङ् जोंग् प गङ् यिन् बग् छगस् ब्तोन् प ।

2. मूल, तिष्ठन्ति के । वस्तुतः तिष्ठन्तिके एक पद है । तिष्ठन्ति के = तिष्ठद्भ्यः अर्थात् वर्तमानेभ्यः तुलनीय भोट, ब्शुगस्दङ् ।

धैर्यवान्, गुणशाली (बोधिसत्त्व) बोधिवृक्ष के तले पहुँच गए हैं, उनकी यह पूजा की गई है।

5. इसके अनन्तर, पश्चिम दिशा की चम्पकवर्णा-लोकधातु के तथागत पुष्पावलि-वनराजि- कुसुमिताभिज्ञ के बुद्धक्षेत्र के इन्द्रजाली नामक बोधिसत्त्व महासत्त्व उस प्रभा से प्रेरित हो, गणनातीत बोधिसत्त्वों से घिरे हुए, आगे किए हुए, जहाँ बोधिमण्डप था, और जहाँ बोधिसत्त्व थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए संपूर्ण मण्डलवाट (गोल बाड़े) को एक रत्नजाल से छा दिया। तब दसों दिशाओं के देवता, (–292–) नाग, यक्ष तथा गन्धर्व एक-दूसरे से यों बोले—यह इस प्रकार का किसका प्रभाव्यूह है। उसके बाद उस रत्नजाल से यह गाथा निकली।—

(छंद वसन्ततिलका)

रत्नाकरो रतनकेतु --रतिस्त्रिलोके
रत्नोत्तमो रतनकीर्ति रत: सुधर्मे।
रत्नानि त्रीणि न च छेत्स्यति वीर्यप्राप्त:
सो बोधि प्राप्स्यति वरामिय तस्य पूजा ॥910॥ इति ॥

(जो) रत्नों की खान है, रत्नों की पताका है, त्रिलोकी के आनन्दरूप, उत्तम रत्न है, शोभन धर्म में रमे हुए रत्नों की कीर्ति है, जिनका वीर्य (=उद्योग) पा तीन रत्नों का अर्थात् बुद्ध, धर्म एवं संघ रूपी रत्नों का उच्छेद नही होगा, वे (आज) बोधिप्राप्त करेंगे। यह उनकी पूजा है।

6. इसके अनन्तर, उत्तर दिशा की सूर्यावर्ता-लोकधातु के तथागत जिह्मीकरप्रभ के बुद्धक्षेत्र के = 216ख व्यूहराज नामक बोधिसत्त्व महासत्त्व उस प्रभा से प्रेरित हो, गणनातीत बोधिसत्त्वों से घिरे हुए, आगे किए हुए, जहाँ बोधिमण्डप था और जहाँ बोधिसत्त्व थे, वहां पहुँचे। पहुँच कर बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए दसों दिशाओं की सब लोकधातुओ मे बुद्धक्षेत्रों के जितने गुणव्यूह थे, उन सब को उस मण्डलवाट (गोल बाड़े) दिखाया। तब कितने ही बोधिसत्त्व यों बोले—किसके ये ऐसे व्यूह हैं। उसके बाद उन सब व्यूहों से यह गाथा निकली।—

(छंद शार्दूलविक्रीड़ित)

कायो येन विशोधित: सुबहुश: पुण्येन ज्ञानेन च
येना वाच विशोधिता व्रततपै: सत्येन धर्मेण च।
चित्तं येन विशोधितं हिरि धृती कारुण्य मैत्र्या तथा
सो एषो द्रुमराजमूलुपगत: शाक्यर्षभ: पूज्यते ॥911॥ इति॥

जिन्होंने अत्यधिक पुण्य एवं ज्ञान द्वारा शरीर की शुद्धि की है, जिन्होंने व्रत एवं तपों के द्वारा, सत्य के द्वारा तथा धर्म के द्वारा वाणी की शुद्धि की है, जिन्होंने ह्री अर्थात् आत्मगत लज्जा के द्वारा, धृति (=धैर्य) के द्वारा, करुणा के द्वारा तथा मैत्री के द्वारा चित्त की शुद्धि की है, उन वृक्षराज के तले पहुँचे हुए शाक्यपुंगव की (यह) पूजा हो रही है।

7. इसके अनन्तर, पूर्व-दक्षिण दिशा की गुणाकरा-लोकधातु के तथागत-राज-प्रभास के बुद्धक्षेत्र के गुणमति नामक बोधिसत्त्व महासत्त्व उस प्रभा से प्रेरित हो, गणनातीत बोधिसत्त्वों से =217क= घिरे हुए, आगे किए हुए, जहाँ बोधिमण्डप था, और जहाँ बोधिसत्त्व थे, वहाँ पहुँचे। (–293–) पहुँच कर बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए सब गुणों की रचना वाले कूटागार का उस मंडवाट (=गोल बाड़े) में ऋद्धि से निर्माण किया। उसके परिवार (–भूत जो कूटागार थे) वे यों बोले—यह इस प्रकार के कूटागार की रचना किसके (अर्थ) है? उसके बाद कूटागार से यह गाथा निकली।—

(छंद मोदक = भगणारब्ध द्रुतविलंबित)

यस्य गुणैः सततं गुणगन्धिका
भोन्ति सुरासुरयक्षमहोरगाः।
सो गुणवान् गुणराजकुलोदितो
बोधिविटपे उपविष्ट गुणोदधिः ॥912॥इति॥

जिनके गुणों द्वारा सुर, असुर, यक्ष एवं महोरग सर्वदा गुण-सुगन्ध-वाले हो जाते हैं, वे गुणवन्त-राजकुल से उत्पन्न हुए, गुणसागर, गुणवान् (बोधिसत्त्व) बोधिवृक्ष के तले बैठे हुए हैं।

8. इसके अनन्तर, दक्षिण-पश्चिम दिशा की रत्नसंभवा-लोकधातु के तथागत रत्नयष्टि के बुद्धक्षेत्र के रत्नसंभव नामक बोधिसत्त्व महासत्त्व उस प्रभा से प्रेरित हो, गणनातीत बोधिसत्त्वों से घिरे हुए, आगे किए हुए, जहाँ बोधिमण्डप था और जहाँ बोधिसत्त्व थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए अप्रमेय एवं असंख्य रत्नव्योमकों का (= रत्नविमानों का) उस मण्डलवाट (=गोलबाड़े) में ऋद्धि से निर्माण किया। और उन रत्नव्योकों से (= रत्न-विमानों से) यह गाथा निकली।—

(छंद शार्दूलविक्रीडित)

त्यक्ता येन ससागरा वसुमती =217ख= रत्नान्यथोऽनेकशः
प्रासादाश्च गवाक्षहर्मिकवरा युग्यानि यानानि च।
व्योमा ऽलंकृत पुष्पदाम–रुचिरा उद्यान कूपा सभा
हस्तापाद-शिरो-त्तमाङ्गनयनाः सो बोधिमण्डे स्थितः ॥913॥इति॥

जिन्होंने समुद्रों के सहित पृथिवी का, अनेक (प्रकार के) रत्नों का, वातायन-सहित-घरवाले महलों का, (अश्वों से) जुते हुए यानों का, पुष्पमालाओं से सुंदर सजे हुए व्योमकों (=विमानों) का, उद्यानों का, कूपों का, सभाओं (=बैठकघरों) का तथा हाथपैर, सिर एवं उत्तम अङ्ग नयनों का त्याग किया है, वे बोधिमंडप के नीचे विराजमान हैं।

9. इसके अनन्तर, पश्चिमोत्तर दिशा की मेघवती-लोकधातु के तथागत मेघ-राज के बुद्धक्षेत्र के मेघकूटाभिगर्जितस्वर नामक बोधिसत्त्व महासत्त्व उस प्रभा से प्रेरित हो, गणनातीत बोधिसत्वों से घिरे हुए, आगे किए हुए, जहाँ बोधिमण्डप था और जहाँ बोधिसत्व थे, वहाँ पहुँचे। (--294--) पहुँच कर बोधिसत्व की पूजा करने के लिए कालानुसारी अगर के मेघ का ऋद्धि से निर्माण कर, उरग-सार-चन्दन के चूर्ण की वर्षा उस मण्डलवाट (=गोल बाड़े) पर भलीभाँति बरसाई। और उस कालानुसारी मेघ के (द्वारा पूजित) मण्डलवाट (गोल बाड़े) से यह गाथा निकली।—

(छंद शार्दूलविक्रीडित)

धर्ममेघ स्फुरित्व सर्वत्रिभवे विद्याधिमुक्तिप्रभः
सद्धर्मं च विराग वर्षि अमृतं निर्वाणसंप्रापकं।
सर्वा रागकिलेशबन्धनलता सवासना[3] छेत्स्यति
ध्यानद्धीर्बलइन्द्रियैः कुसुमितः श्रद्धाकरं दास्यते ॥914॥इति॥

विद्या तथा उत्तम मोक्ष की प्रभा वाले (ये) सम्पूर्ण तीनों भवों (अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति के लोकों) को व्याप्त कर निर्वाण प्राप्त कराने वाले, रागहीन, उत्तम धर्म के अमृत की वर्षा बिना विलंब करने वाले हैं, वासना के सहित, राग तथा क्लेश से बाँधने वाल सभी (तृष्णा--) लताओ को काटने वाले हैं, ध्यान, ऋद्धि, बल एवं इन्द्रियों के द्वारा पुष्पित श्रद्धा उपजाने वाले (धर्म) को देने वाले हैं।

10. =218क= इसके अनन्तर, उत्तर-पूर्व दिशा की हेमजालप्रतिच्छन्ना-लोकधातु के तथागत रत्नछत्राभ्युद्गतावभास के बुद्धक्षेत्र के हेमजालालंकृत नामक बोधिसत्व महासत्व उस प्रभा से प्रेरित हो, गणनातीत बोधिसत्त्वो से घिरे हुए आगे किए हुए, जहाँ बोधिमण्डप था और जहाँ बोधिसत्त्व थे, वहाँ पहुँचे।

3. मूल, सो वासना। भोट, बग् छग्स् ब्चस् ते (=सवासनाः)। एक शब्द के रूप में सोवासना अथवा सवासना पढ़ना चाहिए। द्र०८०५ इसी परिवर्त की टिप्पणी 1।

पहुँच कर बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए, उन कूटागारों तथा रत्नव्योमकों (=रत्नविमानों) पर, बत्तीस लक्षणों से विभूषित बोधिसत्त्व के पुतलों का ऋद्धि से निर्माण किया। और वे सब बोधिसत्त्व के पुतले दिव्यलोक के एवं मनुष्यलोक के पुष्पों की मालाओं को लिए हुए जिस ओर बोधिसत्त्व थे, उस ओर झुके हुए पुष्पों की मालाओं को झुला रहे थे (और) यह गाथा पढ रहे थे।

(छंद गाथा = यगणान्तक चन्द्रवर्त्म)

येन बुद्धनयुता स्तवित पूर्व
गौरवेण महता जनिय श्रद्धान् ।
ब्रह्मघोषवचनं मधुरवाणि
बोधिमण्डोपगतं शिरसि वन्दे ॥915॥ (इति)

जिन्होंने महान् गौरव के साथ श्रद्धा उपजा कर, पहले खर्ब-खर्ब बुद्धों की स्तुति की है, उन मधुर वाणी के, ब्रह्मा के घोष के तुल्य बोली वाले, बोधिमण्डप में पहुँचे हुए, (बोधिसत्त्व) की शिर से वन्दना करता हूँ।

11. इसके अनन्तर, नीची-दिशा की समन्तविलोकिता-लोकधातु के तथागत समन्तदर्शी के बुद्धक्षेत्र के =218ख= रत्नगर्भ नामक बोधिसत्त्व महासत्व उस प्रभा से प्रेरित हो, गणनातीत बोधिसत्त्वों से घिरे हुए आगे किए हुए, जहाँ बोधिमण्डप था और जहाँ बोधिसत्त्व थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर (-295-) बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए उस वैदूर्यमणिमय मण्डलवाट (=गोल बाड़े) में जाम्बूनद नामक सुवर्ण के जैसे रंग के कमलों को उपजा कर दिखाया। उन कमलों की कर्णिकाओं अर्थात् पंखड़ियों में आधे शरीर की, रंग-रूप से सम्पन्न, सब अलंकारों से मढ़ी हुई स्त्री (-पुतलियों) को दिखाया। बाएँ और दाहिने हाथों में हर्षकटक (=सौभाग्य कंकण), केयूर (=बाजूबंद), सुवर्णसूत्र (=सोने की जंजीर), और मुक्ताहार आदि विविध आभूषणों को लिए हुए, पुष्पदामों (=फूलों की मालाओं) तथा पट्टदामों (=रेशमी सूत की मालाओं) को झुलाती हुई, जहाँ बोधिमण्डप था और जहाँ बोधिसत्त्व थे, उस ओर शरीर झुकाए, वे यह गाथा बोलती थी।

(छंद औपच्छन्दसिक)

यो ओनमिष्ट सदा गुरूणां
बुद्धश्रावकप्रत्येकजिनानां ।
निर्माण सुशील सदोज्जु प्रष्ठो
तस्या ओनमथा गुणधरस्य ॥916॥ (इति)

जिन्होंने नित्य गुरुओं को, बुद्धों को अर्हतों को, तथा प्रत्येक बुद्धों को प्रणाम किया है, (जो) सदा मानरहित, सुशील, ऋजु (=सरल) तथा श्रेष्ठ है, उन गुणधर को प्रणाम करो।

12. इसके अनन्तर, ऊर्ध्वदिशा की वरगगन-लोकधातु के तथागत गणेन्द्र बुद्धक्षेत्र के गगनगञ्ज नामक बोधिसत्त्व महासत्त्व उस प्रभा से प्रेरित हो, =219क=गणनातीत बोधिसत्त्वों से घिरे घिहुए, आगे किए हुए, जहाँ बोधिमण्डप था और जहाँ बोधिसत्त्व थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर, बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए, आकाश-तल पर ठहरे-ठहरे [वे तथा] जितने भी दसो दिशाओं के बुद्ध क्षेत्रों मे अनदेखे और अनसुने पुष्प, धूप, गन्ध, माल्य, विलेपन, चूर्ण, चीवर, वस्त्र, अलंकार, छत्र, ध्वजा, पताका, वैजयन्ती (=विजयपताका), रत्न, मणि, कनक, रजत, मुक्ताहार, अश्व, गज, रथ, पदाति, वाहन, वृक्ष[4], पत्र, पुष्प, बालक, बालिका, देव, नाग, यक्ष, गन्धर्व, असुर, गरुड़, किंनर, महोरग, इन्द्र, ब्रह्मा, लोकपाल, मनुष्य तथा अमनुष्य थे, वे सबके सब आकाशतल से महापुष्प वर्षा (बनकर) बरसने लगे, जिसने सब प्राणियों में प्रीति और सुख उपजाया और किसी प्राणी को भय अथवा पीड़ा नही दी।

13. इस (विषय) मे (गाथाओं द्वारा) यों कहा जाता है—

(छंद वसन्ततिलका)

पेयालमेष दिशतासु जिनौरसा ये
=219ख=संपूजितुं हितकरं अनुप्राप्तबोधिं।
(–296–) तेषां वियूहक्रमविक्रमसुक्रमाणां
ओपम्यमात्र निश्रृणोथ जिनौरसानां ॥917॥

बोधि (वृक्ष) के नीचे पहुँचे हुए हितकारी (बोधिसत्त्व) की पूजा के लिए जो जिनपुत्र दिशाओं-विदिशाओं से आए, उनका यह सक्षिप्त वर्णन है। उन जिन पुत्रों के व्यूहों के क्रम (=रग-ढग) को, विशेष क्रम की एवं सुन्दर क्रम की बानगी भर सुन लो।

के चागता नभसि मेघ इव स्तनन्तो
हारां सहस्रनयुतानि प्रलम्बयन्तः।
के चागता मुकुटरत्नविलम्बचूडाः
पौष्पं विमान गगणे उपदर्शयन्तः ॥918॥

4. मूल, पुष्पवृक्ष। भोट, शिङ् ल्जोन् प (=वृक्ष)।

पहुँच कर बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए, उन कूटागारों तथा रत्नव्योमकों (=रत्नविमानों) पर, बत्तीस लक्षणों से विभूषित बोधिसत्त्व के पुतलों का ऋद्धि से निर्माण किया। और वे सब बोधिसत्त्व के पुतले दिव्यलोक के एवं मनुष्यलोक के पुष्पों की मालाओं को लिए हुए जिस ओर बोधिसत्त्व थे, उस ओर झुके हुए पुष्पों की मालाओं को झुला रहे थे (और) यह गाथा पढ़ रहे थे।

(छंद गाथा = यगणान्तक-चन्द्रवर्त्म)

येन बुद्धनयुता स्तवित पूर्वं
गौरवेण महता जनिय श्रद्धान्।
ब्रह्मघोषवचनं मधुरवाणि
बोधिमण्डोपगतं शिरसि वन्दे ॥915॥ (इति)

जिन्होंने महान् गौरव के साथ श्रद्धा उपजा कर, पहले खर्ब-खर्ब बुद्धों की स्तुति की है, उन मधुर वाणी के, ब्रह्मा के घोष के तुल्य बोली वाले, बोधिमण्डप में पहुँचे हुए, (बोधिसत्त्व) की शिर से वन्दना करता हूँ।

11. इसके अनन्तर, नीची-दिशा की समन्तविलोकिता-लोकधातु के तथागत समन्तदर्शी के बुद्धक्षेत्र के =218ख= रत्नगर्भ नामक बोधिसत्त्व महासत्त्व उस प्रभा से प्रेरित हो, गणनातीत बोधिसत्त्वों से घिरे हुए आगे किए हुए, जहाँ बोधिमण्डप था और जहाँ बोधिसत्त्व थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर (–295–) बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए उस वैडूर्यमणिमय मण्डलवाट (=गोल बाड़े) में जाम्बूनद नामक सुवर्ण के जैसे रंग के कमलों को उपजा कर दिखाया। उन कमलों की कर्णिकाओं अर्थात् पंखड़ियों में आधे शरीर की, रंग-रूप से सम्पन्न, सब अलंकारों से मढी हुई स्त्री (–पुतलियों) को दिखाया। बाएँ और दाहिने हाथों में हर्षकटक (=सौभाग्य कंकण), केयूर (=बाजूबंद), सुवर्णसूत्र (=सोने की जंजीर), और मुक्ताहार आदि विविध आभूषणों को लिए हुए, पुष्पदामों (=फूलों की मालाओं) तथा पट्टदामों (=रेशमी सूत की मालाओं) को झुलाती हुई, जहाँ बोधिमण्डप था और जहाँ बोधिसत्त्व थे, उस ओर शरीर झुकाए, वे यह गाथा बोलती थीं।

(छंद औपच्छन्दसिक)

यो ओनमिष्ट सदा गुरूणां
बुद्धश्रावकप्रत्येकजिनानां।
निर्माण सुशील सदोज्जु प्रष्ठो
तस्या ओनमथा गुणधरस्य ॥916॥ (इति)

जिन्होंने नित्य गुरुओं को, बुद्धों को अर्हतों को, तथा प्रत्येक बुद्धों को प्रणाम किया है, (जो) सदा मानरहित, सुशील, ऋजु (=सरल) तथा श्रेष्ठ हैं, उन गुणधर को प्रणाम करो।

12. इसके अनन्तर, ऊर्ध्वदिशा की वरगगन-लोकधातु के तथागत गणेन्द्र बुद्धक्षेत्र के गगनगञ्ज नामक बोधिसत्त्व महासत्त्व उस प्रभा से प्रेरित हो, =219क=गणनातीत बोधिसत्त्वों से घिरे घिहुए, आगे किए हुए, जहाँ बोधिमण्डप था और जहाँ बोधिसत्त्व थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर, बोधिसत्त्व की पूजा करने के लिए, आकाश-तल पर ठहरे-ठहरे [वे तथा] जितने भी दसों दिशाओं के बुद्ध क्षेत्रों में अनदेखे और अनसुने पुष्प, धूप, गन्ध, माल्य, विलेपन, चूर्ण, चीवर, वस्त्र, अलंकार, छत्र, ध्वजा, पताका, वैजयन्ती (=विजयपताका), रत्न, मणि, कनक, रजत, मुक्ताहार, अश्व, गज, रथ, पदाति, वाहन, वृक्ष[4], पत्र, पुष्प, बालक, बालिका, देव, नाग, यक्ष, गन्धर्व, असुर, गरुड़, किंनर, महोरग, इन्द्र, ब्रह्मा, लोकपाल, मनुष्य तथा अमनुष्य थे, वे सबके सब आकाशतल से महापुष्प वर्षा (बनकर) बरसने लगे, जिसने सब प्राणियों में प्रीति और सुख उपजाया और किसी प्राणी को भय अथवा पीड़ा नहीं दी।

13. इस (विषय) में (गाथाओं द्वारा) यों कहा जाता है—

(छंद वसन्ततिलका)

पेयालमेष दिशतासु जिनौरसा ये
=219ख= संपूजितुं हितकरं अनुप्राप्तबोधिं।
(-296-) तेषां वियूहक्रमविक्रमसुक्रमाणां
ओपम्यमात्र निशृणोथ जिनौरसानां ॥917॥

बोधि (वृक्ष) के नीचे पहुँचे हुए हितकारी (बोधिसत्त्व) की पूजा के लिए जो जिनपुत्र दिशाओं-विदिशाओं से आए, उनका यह संक्षिप्त वर्णन है। उन जिन पुत्रों के व्यूहों के क्रम (=रंग-ढंग) की, विशेष क्रम की एवं सुन्दर क्रम की बानगी भर सुन लो।

के चागता नभसि मेघ इव स्तनन्तो
हारा सहस्रनयुतानि प्रलम्बयन्तः।
के चागता मुकुटरत्नविलम्बचूडाः
पौष्पं विमान गगणे उपदर्शयन्तः ॥918॥

4. मूल, पुष्पवृक्ष। भोट, शिङ् ल्जोन् प (=वृक्ष)।

के चागता भविय ब्रह्म-प्रशान्तरूपाः
शान्ता-प्रशान्तमनस स्थित ध्यानध्यायी ।
रोमेभि तेष स्वर निश्चरते मनोज्ञ
मैत्रीउपेक्षकरुणामुदितप्रमाणाः ॥925॥

कितने ही ब्रह्माओं मे समान अत्यधिक शान्त रूप धरे हुए, मनमें शान्त और अत्यन्त शान्त, बैठे ध्यान ध्याते हुए आये थे। उनके रोमों से मैत्री, उपेक्षा, करुणा, और मुदिता के अप्रमाणों (=ब्रह्मविहारो) का मनोहर स्वर निकलता था।

के चागता मरुत शक्र इवा यथैव
देवैः सहस्रनयुतैश्च पुरस्कृतास्ते ।
उपगम्य बोधिवट गृह्य कृताञ्जलीभिः
शक्राभिलग्नमणिरत्न क्षिपन्ति चित्रा ॥926॥

कितने ही, देवताओ के इन्द्र के समान आए थे, वे सहस्र-खर्बो देवताओं द्वारा आगे किए, बोधिवृक्ष के पास पहुँच कर, अंजलि भर-भर इन्द्र के द्वारा धारण किए जाने वाले विचित्र मणिरत्नो को फेंकते थे।

के चागता चतु दिशा च यथैव पाला
गन्धर्व राक्षस परीवृत किन्नरेभिः ।
विद्युत्स्फुटान् त कुसुमानि प्रवर्षमाणाः
गन्धर्वकिन्नररुतेन स्तुवन्ति वीरं ॥927॥

कितने ही चारों दिशाओं से लोकपालो के समान गंधर्वो द्वारा, राक्षसों द्वारा तथा किनरों द्वारा घिरे हुए आए थे, वे बिजली के जैसे चमकते फूलो को बरसाते हुए गन्धर्व-जैसे एवं किन्नर-जैसे स्वर से वीर (बोधिसत्त्व) की स्तुति करते थे।

के चागताः कुसुमितां प्रगृहीत्व वृक्षान्
सफलां सपुष्प वरगन्ध प्रमुञ्चमानां ।
(-298-) जातेषु[9] तेषु स्थित बुद्ध(-ज)[10] शुद्धकायाः[11]
अवलम्बमान[12] प्रति मण्ड क्षिपन्ति पुष्पा ॥928॥

9. जातेषु के स्थान में भोट, लोमर् (=पत्रेषु) है!
10. बुद्ध के स्थान मे भोट, सङ्स् ग्र्यंस् स्रस् पो (=बुद्ध पुत्र) है। कदाचित् उचित पाठ बुद्धज हो।
11. शुद्धकायाः के स्थान में भोट, लुस् फ्येद् (=अर्धकायाः) है।
12. अवलम्बमान यहाँ पर अवनम्यमान के अर्थ है। भोट, बतुद् नस् (=प्रणम्य)।

कितने ही फलों के साथ, फूलों के साथ, उत्तम गन्ध को छोड़ने वाले, फूलों से लदे, वृक्षों को लेकर आए थे, उन (वृक्षों) से उपजे (पत्तों पर) बैठे शुद्धकाय के बुद्ध-पुत्र, अवनत हो, (बोधि-) मण्डप की ओर पुष्प फेंकते थे।

के =220ख= चागता: कुसुमिता: पुडिनी गृहीत्वा
पद्मोत्पलै: कुसुमितैस्तथ पुण्डरीकै:।
द्वात्रिंशलक्षणधरा: स्थित पद्मगर्भे
स्तविष्ट अलिप्तमनसं विदु बोधिसत्त्वं ॥929॥

कितने ही खिले हुए लाल कमलों से, नीले कमलों से तथा श्वेत कमलों से फूली हुई पुष्करिणियों को लेकर आए थे, (वहाँ) पद्मों के गर्भ-भाग में बैठे हुए बत्तीस-लक्षण-धारी (बुद्ध एवं बोधिसत्त्व) निर्लिप्त मन के विद्वान् बोधिसत्त्व की स्तुति करते थे।

के चागता विपुलकाय तथैव मेरु
स्थित्वान्तरीक्ष स्वकमात्मनमुत्सृजन्ति।
उत्सृज्यमात्र भविया नवपुष्पदामा:
संछादयन्ति त्रिसहस्रि जिनस्य क्षेत्रं ॥930॥

कितने ही सुमेरु के समान विशाल शरीर (धर कर) आए, (और) आकाश में खड़े होकर अपने शरीर को गिरा दिया, (तथा) गिराने के साथ-ही-साथ नूतन पुष्पों की मालाएँ बन कर त्रिसाहस्र बुद्धक्षेत्र के ऊपर छा गए।

के चागता उभयचक्षुषि कल्पदाहं
संदर्शयन्त विभवं तथ संभवं च।
तेषां शरीरि बहुधर्ममुखा[13] रणन्ति
तां श्रुत्व सत्त्वनयुता प्रजहन्ति तृष्णां ॥931॥

कितने ही दोनों आँखों में विभव (=प्रलय) तथा संभव (=सृष्टि की कल्पाग्नि को दिखाते हुए आए। उनके शरीर से बहुत से धर्ममुख (=अर्थात् धर्म के द्वारभूत वचन) ध्वनित होते थे, जिन्हें सुन कर खर्व-खर्ब प्राणी तृष्णा का त्याग करते थे।

के चागता रवितकिन्नरतुल्यघोषा:
बिम्बोष्ठचारुवदना: परिपूर्णवक्त्रा:।
कन्या यथैव सुअलंकृत चित्रहारा:
प्रेक्षन्त यान् सुरगणा न लभन्ति तृप्ति ॥932॥

13. मूल, बहुधर्मसुखा। भोट, छोस् किय स्गो मो मङ् (=बहुधर्ममुखा)। पाठान्तर भी भोट, पाठ का समर्थक है।

कितने ही बिम्बाफल के समान होंठ वाले, सुन्दर वदन वाले, सब प्रकार से प्रकार से पूर्ण (लक्षणों के) चेहरे वाले, स्वर में किन्नरों के जैसे घोष वाले, कन्याओं के समान अत्यन्त विभूषित, विचित्र हार पहने हुए आए, जिन्हें निहार देवगणों का भी जी न भरता था।

के चागता वजिरकाय इवा अभेद्याः
[14] हेष्टा ऽऽपस्कन्ध चरणैः[14] परिश्राह्यमाणाः
के चागता रविरिवा शशिपूर्णवक्त्राः
ज्योत्स्नाकराः प्रभकरा हतक्लेशदोषाः ॥933॥

कितने ही वज्र (=हीरे) के समान अभेद्य शरीर के, नीचे की जलराशि को पैरों से उलटा-पलटा कराते हुए, कितने ही क्लेशदोषों से रहित सूर्य के समान प्रभा करते हुए, पूर्ण चन्द्रमा के समान बदन के, चांदनी फैलाते हुए आए।

(-299-) के चागता रतनमण्डित रत्नपाणी
संछादयित्व बहुक्षेत्रसहस्रकोट्यः।
वर्षन्ति रत्नवर पुष्प सुगन्धगन्धा
संतोषणार्थं बहुसत्व हितं-सुखार्थं ॥934॥

कितने ही रत्नों से अलंकृत, हाथों में रत्न लिए आये, बहुत से सहस्र कोटि (बुद्ध-) क्षेत्रों पर छाकर, बहुत से प्राणियों के संतोष के लिए, हित एवं सुख के लिए, उत्तम रत्नों की, पुष्पों की, सुगन्ध वाले गन्धद्रव्यों की वर्षा की।

के चागता महति-धारणि-रत्नकोशाः =221क=
रोमेभि सूत्रनयुतानि प्रभाषमाणाः।
प्रतिमानवन्त मतिवन्त सुबुद्धिवन्तो
मत्तप्रमत्तजनतां प्रतिबोधयन्तः ॥935॥

कितने ही बड़ी-बड़ी धारणी (नामक मन्त्र) रत्नों के कोश बन कर आए, (वे) रोम-रोम से खर्ब-खर्ब सूत्रों को बोलते थे, (वे स्वयं) प्रतिभाशाली, मतिमान्

14....14. मूल, हेष्टापस्कन्धचरणैः। वस्तुतः यहाँ तीन पृथक् पद हैं—हेष्टा (=अधस्तात्) आपस्कन्धे (=अपांस्कन्धं) तथा चरणैः। तुलनीय भोट, कंङ् पस् ह्रोग् गि छु यि फुङ् पो (=चरणैर् अधस्ताद् अपां स्कन्धं)। वैद्य ने हेष्टा के स्थान में हेष्ठा रख कर अपनी करामात दिखाई है। ऐसा प्रयोग आगे भी आएगा।—हेष्टा ऽऽपस्कन्ध सलिलस्य विलोडयन्ति (लेफ़मन् 339। 14)। भोट, होग् गि छु यि फुङ् पो छु यङ् नंम् पर् ह्, खुग (246 ख 4)।

एवं सुन्दर वुद्धि के थे (और इस) मतवाली एवं प्रमादी जनता को सचेत करते थे।

के चागता ग्रहिय भेरि यथैव मेरु
आकोट्यमानु गगणे सुमनोज्ञघोषां।
यस्या रवं दश दिशे व्रजि क्षेत्रकोट्या
अद्या[15] ऽववोद्धुममृतं[16] अनुवुद्धि शास्ता ॥936॥

कितने ही आकाश मे वजती हुई उत्तम एवं मनोहर घोषणा करने वाले सुमेरु-जैसी भेरी को लेकर आए। दसों दिशाओ के कोटि-कोटि (वुद्ध-) क्षेत्रों मे जिसका शब्द गया कि आज शास्ता अमृत का अववोध करने के लिए वोधि-लाभ करेंगे।

॥इति श्री ललितविस्तरे बोधिमण्डव्यूहपरिवर्तो नाम विंशतितमोऽध्यायः॥

■

15. अद्या के स्थान मे भोट, दो मोद् (=सद्यः) है। यदि यह पाठ वाञ्छनीय हो तो मूल मे सद्या पढना चाहिए।
16. ऽववोद्धुममृतं के स्थान मे भोट बदुद् चि म थोब् (=अमृतम् अनवाप्तम्)। यह पाठ वाञ्छनीय हो तो मूल मे ऽनवाप्तममृतं पढना चाहिए।
17. इस परिवर्त की गाथाओं की छाया यों है।

यस्य किंचिद् न रागदोषौ (=रागद्वेषौ), क्लुषाः (क्लेशाः) सवासना उद्धृताः, यस्य कायप्रभया कृता दशसु दिक्षु सर्वाः प्रभा निष्प्रभाः। यस्य पुण्यसमाधिज्ञानचियः कल्पौघसंवर्धितः, सोऽयं शाक्यमुनिर्महामुनिवरः सर्वा दिशो भ्राजते ॥908॥ इति ॥ येन च्छत्रसहस्रकोटिनयुतानि गन्धानां रत्नानां च, दत्तान्य अप्रतिमेभ्यो मैत्रीमनसा तिष्ठद्भ्यो निर्वृतेभ्यः। स एष वरलक्षणो हितकरो नारायणस्थामवान्, वोधेर्मूलमुपागतो गुणधरस्तस्यैषा पूजा कृता ॥909॥ इति ॥ रत्नाकरो रत्नकेतू रतिस्त्रिलोकस्य, रत्नोत्तमो रत्नकीर्ती रतः सुधर्मे। रत्नानि त्रीणि न च छेत्स्यन्ते वीर्यप्राप्तानि, स बोधिं प्राप्स्यति वराम् इयं तस्य पूजा ॥910॥ इति ॥ कायो येन विशोधितः सुबहुशः पुण्येन ज्ञानेन च, येन वाग् विशोधिता व्रततपोभि सत्येन धर्मेण च। चित्तं येन विशोधितं ह्रिया धृत्या कारुण्येन मैत्र्या तथा, स एष द्रुम-राजमूलमुपगतः शाक्यर्षभः पूज्यते ॥911॥ इति ॥ यस्य गुणैः सततं गुणगन्धिकाः, भवन्ति सुरासुरयक्षमहोरगाः। स गुणवान् गुणराजकुलोदितो वोधिविटप उपविष्टो महोदधिः ॥912॥ इति ॥ त्यक्ता येन ससागरा

वसुमती रत्नान्ययोऽनेकशः, प्रासादाश्च गवाक्षहर्म्यवरा युग्यानि यानानि च । व्योमका अलंकृताः पुष्पदामरुचिरा उद्यानानि कूपाः सभाः, हस्तपाद-शिर-उत्तमाङ्गनयनानि स बोधिमण्डपे स्थितः ॥913॥ इति ॥ धर्ममेघेन स्फुरित्वा सर्वत्रिभवं विद्याधिमुक्तिप्रभः, सद्धर्मं च विरागम् अवर्षीद् (=अविलम्बं वर्षिष्यतीत्यर्थः) अमृत निर्वाणसंप्रापकम् । सर्वा रागक्लेश-बन्धनलता सवासनाश् छेत्स्यति, ध्यानर्द्धिबलेन्द्रियैः कुसुमितं श्रद्धाकरं (धर्मम् इति शेष.) दास्यति ॥914॥ इति ॥ येन बुद्धनयुतानि स्तुतानि, पूर्वं गौरवेण महता जनयित्वा श्रद्धाम् । ब्रह्मघोषवचनं मधुरवाणि बोधि-मण्ड(प) ोपगतं शिरसा वन्दे ॥915॥ इति ॥ योऽनंसीत् सदा गुरुभ्यो, बुद्धश्रावकप्रत्येकजिनेभ्यः । निर्मानि. सुशीलः सदर्जुः प्रष्ठः (=श्रेष्ठः) तस्मा अवनमत गुणधराय ॥916॥ इति ॥

पेयाल एष (= संक्षेप एष) दिग्भ्यो जिनौरसा ये, संपूजयितुं हितकरम् अनुप्राप्तबोधिवृक्षम् । तेषा व्यूहक्रमविक्रमसुक्रमाणाम् औपम्यमात्रं निश्रृणुत जिनौरसानाम् ॥917॥ केचिद् आगता नभसि मेघा इव स्तनन्तः, हारान् सहस्रनयुतानि प्रलम्बयन्तः । केचिद् आगता मुकुटरत्नविलम्बचूडाः, पौष्पं विमानं गगन उपदर्शयन्तः ॥918॥ केचिद् आगता धरण्यां सिंहा इव नदन्तः, शून्यानिमित्ताप्रणिधीन् अवमुञ्चमानाः । केचिद् आगता यथा वृषा अभिनदन्तो न च दृष्टपूर्वाणि (=अदृष्टपूर्वाणि) रुचिराणि क्षिपन्तः पुष्पाणि ॥919॥ केचिदागता नभसि मयूरा इव रुवन्तो, वर्णसहस्राणि स्वक आत्मनि दर्शयन्तः । केचिद् आगताः शशीव गगने सुपूर्णाः, सुगतात्मजस्य गुणमालामुदीरयन्तः ॥920॥ केचिद् आगता रविरिव प्रभां मुञ्चमानाः सर्वाणि मारभवनानि कुर्वन्तो जिह्मानि । केचिद् आगता विमलकेतवो यथेन्द्रयष्ट्यः संभारपुण्यनिचिताः (=निचितपुण्यसंभाराः) तस्मिन् बोधिमण्डे (=बोधिमण्डपे) ॥921॥ केचिद् क्षिपन्ति गगनान्मणिरत्नजलानि, चन्द्रान् सुचन्द्रास् तथा बालान् विरोचमानान् मान्दार व-सुमनो-वार्षिकी-चम्प (क) दामानि संबोधिसत्त्वे द्रुमराजस्थिते क्षिपन्ति ॥922॥ केचिद् आगता धरणीं कम्पयमानाः पद्भ्यां, संकम्पिता वसुधा प्रीतिकरी जनस्य । केचिद् आगता गृहीत्वा मेरुं करतलैर्, उत्सृष्टानि पुष्पपुटानि संस्थिता अन्तरिक्षे ॥923॥ केचिद् आगताश्चतुरः सागरान् गृहीत्वा मूर्ध्ना, उत्सृष्टाः, असिञ्चन् वसुधां वरगन्धतोयैः । केचिदागता रत्नयष्टीर्गृहीत्वा चित्राः, संबोधिसत्त्वमु-पादर्शयन् स्थित्वा दूरे ॥924॥ केचिद् भूत्वा ब्रह्मप्रशान्तरूपाः शान्तप्रशान्त-मनसः स्थिता ध्यानध्यायिनः । रोमभ्यस्तेषां स्वरो निश्चरति मनोज्ञो मैत्र्यु-

पेक्षाकरुणामुदिताप्रमाणः ॥925॥ केचिद् आगता मरुतां शक्र इव यथैव, देवैः सहस्रनयुतैश्च पुरस्कृतास्ते । उपगम्य बोधिवटं गृहीत्वा कृताञ्जलिभिः (करैर् इति शेषः) शक्राभिलग्नमणिरत्नानि क्षिपन्ति चित्राणि ॥926॥ केचिदागताश् चतसृभ्यो दिग्भ्यश्च यथैव (लोक–) पालाः, गन्धर्वै राक्षसैः परिवृताः किंनरैः । विद्युत्स्फुटानि ते कुसुमानि प्रवर्षन्तो गन्धर्वकिंनररुतेन स्तुवन्ति वीरम् ॥927॥ केचिद् आगताः कुसुमितान् प्रगृह्य वृक्षान्, सफलान् सपुष्पान् वरगन्धप्रमुञ्चमानान् । जातेषु (पत्रेषु इति शेषः) तेषां स्थिता बुद्धजाः शुद्धकायाः, अवलम्बमानाः (=अवलम्ब्यमानाः) प्रति मण्ड(पं) क्षिपन्ति पुष्पाणि ॥ 928॥ केचिद् आगताः कुसुमिताः पुटकिनीः (=पुष्करिणीः) गृहीत्वा, पद्मोत्पलैः कुसुमितैस्तथा पुण्डरीकैः । द्वात्रिंशल्लक्षणधराः स्थिताः पद्मगर्भे, अस्ताविषुर् अलिप्तमनसं विद्वांसं बोधिसत्त्वम् ॥929॥ केचिद् आगता विपुलकायास्तथैव मेरुः स्थित्वान्तरिक्षे स्वकमात्मानमुत्सृजन्ति । उत्सृष्टमात्रा (यथा त्वं तु उत्सृज्यमात्राः) भूत्वा नवपुष्पदामानि संछादयन्ति त्रिसाहस्रं जिनस्य क्षेत्रम् ॥930॥ केचिद् आगता उभयचक्षुषि कल्पदाह संदर्शयन्तो विभवं तथा संभवं च । तेषा शरीराद् बहुधर्ममुखानि रणन्ति तानि श्रुत्वा सत्त्वनयुतानि प्रजहति तृष्णाम् ॥931॥ केचिद् आगता रुतकिंनरतुल्यघोषा बिम्बोष्ठचारुवदनाः परिपूर्णवक्रताः । कन्या यथैव स्वलंकृताश् चित्रहाराः प्रेक्षमाणा यान् सुरगणा न लभन्ते तृप्तिम् ॥932॥ केचिद् आगता वज्रकाया इवाभेद्याः, अधरताद् अपां स्कन्धं चरणैः प्रतिग्राह्यमाणाः । केचिद् आगता रविरिव शशिपूर्णवक्ताः, ज्योत्स्नाकराः प्रभाकराः हतक्लेशदोषाः ॥933॥ केचिद् आगता रत्नमण्डिता रत्नपाणयः, संछादयित्वा बहुक्षेत्रसहस्रकोटीः । वर्षन्ति रत्नवराणि पुष्पाणि सुगन्धिगन्धान्, संतोषणार्थं बहुसत्त्वानां हितसुखार्थम् ॥934॥ के चागता महाधारणीरत्नकोशाः, रोमभ्यः सूत्रनयुतानि प्रभाषमाणाः । प्रतिभानवन्तो मतिमन्तः सुबुद्धिमन्तो मतप्रमत्तजनतां प्रतिबोधयन्तः ॥935॥ केचिद् आगता गृहीत्वा भेरी यथैव मेरुम् आकोट्यमानां गगने सुमनोज्ञघोषाम् । यस्या इवो दशसु दिक्ष्वव्राजीत् क्षेत्रकोटीर् अद्यावबोद्धुममृतम् अन्वबुधच् छास्ता ॥936॥ इति ॥

॥ २१ ॥

॥ मारधर्षणपरिवर्त ॥

मुद्रित ग्रन्थ 299 (पंक्ति 15)—343 (पंक्ति 12)
भोटानुवाद 221क (पंक्ति 3)—248ख (पंक्ति 2)

कल्प-समूहों तक (बोधि-) चर्या का आचरण करने वाले, अत्यन्त शुद्ध सत्त्व (= चित्त) के, वे शुद्धोदन के पुत्र राज्य छोड़ कर घर से निकले हैं। (वे) हितकारी अमृत (-पद) पाने की अभिलाषा से आज बोधिवृक्ष के पास पहुँच गए हैं। (तुम्हें जो यत्न करना हो, वह) यत्न करो।

सो तीर्ण आत्मन परानपि तारयेया
मोचेष्यते स च परां स्वयमेव मुक्तः।
आश्वासप्राप्त स परानपि चाश्वसेया = 222क =
निर्वापयिष्यति परां परिनिर्वृतश्च ॥938॥

वे अपने-आप तर कर दूसरों को तारेंगे। अपने-आप मुक्त हो दूसरों को भी मुक्त करेंगे। (अपने-आप) ढारस पाकर दूसरों को भी ढारस बँधाएँगे। (अपने-आप) निर्वाण का साक्षात् कर दूसरों को (भी) निर्वाण का साक्षात् कराएँगे।

शून्यां करिष्यति अपायत्रयो ऽप्यशेषां
पूर्णा करिष्यत्ति पुरां सुरमानुषाणां।
(-301-) ध्यानान ऽभिज्ञ परमं अमृतं सुखं च
दास्यत्यसौ हितकरो अमृतं स्पृशित्वा ॥939॥

(वे) सब के सबतीनों (नरक, प्रेत एवं तिर्यक्-योनि के) अपायों (= दुर्गतियों) को सूना कर देंगे, देवताओं और मनुष्यों के नगरों को भर देंगे। ध्यानों को भलीभाँति जानने वाले वे हितकारी अमृत का साक्षात् कर परम सुख और अमृत (सब को) देंगे।

शून्यं करिष्यति पुरं तव कृष्णबन्धो
अबलोबलो बलविहीनु अपक्ष्यपक्ष्यो।
न ज्ञास्यसे क्व नु व्रजामि करोमि किं वा
यद धर्मवर्षमभिवर्षि स्वयं स्वयंभूः ॥940॥

हे काले कारनामों के साथी, (वे) तेरा नगर सूना कर देंगे, (तुझे) निर्बल से भी निर्बल (= सेना) से रहित (कर) तेरे पक्ष वालों को भी तेरा विपक्षी बना देंगे। जब वे स्वयंभू अपने-आप धर्म की उत्तम वर्षा करेंगे (तब तू) न जान सकेगा कि (मुझे) कहाँ जाना है अथवा (मुझे) क्या करना है।

4. हे भिक्षुओं, इस प्रकार, इन प्रेरणा देने वाली गाथाओं से प्रेरित हो, बड़े पापी मारने बत्तीस प्रकार के स्वप्न देखे। बत्तीस प्रकार के कौन से (स्वप्न) ? (1) अपने भवन को अँधेरे से भरा देखा। (2) और अपने भवन को

धूल से भरा हुआ, बिखरे हुए कंकड़-पत्थरों वाला देखा। (3) और अपने-आपको डरा हुआ, सहमा हुआ, घबराया हुआ, दसों दिशाओं में भागता हुआ देखा। (4) और अपने-आप को देखा कि उसका मुकुट गिर गया है, उसके कुंडल फेंके हुए पड़े हैं। (5) और अपने-आप को देखा कि उसके होठ, कंठ और तालु सूखे हैं। (6) और देखा कि उसके अपने हृदय में जलन हो रही है। (7) और उद्यानों को देखा कि उनके पत्ते, फूल और फल गिरे हुए हैं। (8) और पुष्करिणियों को देखा कि उनमे जल नही है और वे सूख गई है। (9) और हंसों को, क्रौञ्च नामक बगुलो को, मयूरो को, चटकों को, कुणालों को =222ख= तथा चकोर आदि पक्षियों के गणों को देखा कि उनके पख गिर गये है। (10) और भेरियों को, मृदगो को, पटहों (=नक्कारो) को, तूणवों (=के नाम की विशेष प्रकार की मुरलियों) को, वीणाओं को, वल्लकियो (=त्रितंत्रियों) को, शम्पातालों (=झांझों) को, तथा अन्य वाद्य-यन्त्रों को देखा कि वे धरती पर छिन्न-भिन्न पड़े हैं। (11) और प्रियजनो तथा परिवार के लोगों को देखा कि वे मार को छोड़ कर, एक ओर जाकर, उदास मुख से सोच मे पड़े हुए हैं। (12) और पट रानी मालिनी को देखा कि वह सेज से धरती पर गिरी पडी है और दोनों हाथों से अपना सिर धुन रही है। (13) और देखा कि मार के पुत्रो में जो सबसे अधिक वीर्यवान् (उद्योगी) है, सबसे अधिक बलवान् है, सबसे अधिक तेजस्वी है, तथा सबसे अधिक प्रज्ञावान् हैं, वे [1]उत्तम एव श्रेष्ठ बोधिमण्डप पर पहुँचे बोधिसत्त्व को नमस्कार कर रहे हैं। (14) और अपनी पुत्रियों को देखा कि वे बाप रे, बाप रे, चिल्ला कर रो रही है। (15) और अपने-आप को देखा कि वह मैले-कुचैले कपड़े पहने हुए है। (–302–) और (16) देखा कि उसके सिर पर धूल पडी हुई है, वह स्वयं पीला, बदरंग, तथा ओजरहित है। (17) और महलों को, कूटागारों (=अंटों) को, वातायनों को और तोरणों को देखा कि उन पर धूल बिखरी हुई है और वे गिर रहे हे। (18) और देखा कि जो यक्ष, राक्षस, कुम्भण्ड तथा गन्धर्वों के अधिपति उसके सेनापति है, वे सब =223क= सिर पर हाथ धरे, रोते-चिल्लाते भाग रहे हैं (19) और बड़े पापी मार ने देखा कि जो कामवचर देवताओं में देवाधिपति है, यथा—धृतराष्ट्र, विरूढक, विरुपाक्ष, वैश्रवण, शक्र (=इन्द्र), सुयाम, संतुषित, सुनिर्मित, वशवर्ती आदि वे सब बोधिसत्त्व के सम्मुख (खड़े उनकी) शुश्रूषा कर रहे हैं। और युद्ध मे उसकी तलवार म्यान से नहीं निकल रही है। (20) और अपने-आप को देखा कि वह अमंगल शब्द से चिल्ला रहा है। (21) और देखा कि

1. मूल, तं। पठनीय, ते। तुलनीय भोट, दे दग् (=ते)।

उसके परिवार ने उसे त्याग दिया है। (22) और देखा कि द्वार पर (जल–) पूर्ण मंगलकलश लुढके पडे हैं। (24) और ब्राह्मण (–मुनि) नारद को देखा कि वे अमंगल के शब्द सुना रहे हैं। (24) और द्वार पाल आनन्द को देखा कि वह आनन्द न देने वाले शब्द सुना रहा है। (25) और गगनतल को देखा कि वह अँधेरे से भर गया है। (26) और कामभवन मे निवास करने वाली श्री को देखा कि वह रो रही है। (27) और देखा कि उसका ऐश्वर्य (अब) ऐश्वर्य नहीं रह गया है। (28) और देखा कि उसके पक्षवाले पराए हो गये हैं। (29) और मणिमुक्ता-जालों को देखा कि वे खनखना नही रहे है और टूटे-फूटे पड़े हुए है। (30) और देखा कि समूचा मारभवन डगमगा रहा है। (31) और देखा कि वृक्ष काटे जा रहे हैं तथा निर्यूह (=अटारियाँ) गिर रहे हैं। (32) और देखा कि सब मार-सेना की मोर्चा-बंदी =223ख= उसी के सामने (धरती पर) गिराई जा रही है।

5. हे भिक्षुओं, बड़े पापी मार ने यों बत्तीस प्रकार के स्वप्न देखे। वह जगा (तो) डरा हुआ, सहमा हुआ, घबराया हुआ था। सब भीतर के लोगों को इकट्ठा कर, सेना के साथ और सभासदों के साथ, सेनापतियो और द्वारपालों को एकत्रित जान कर इन गाथाओं द्वारा कहा—

(छन्द वसन्ततिलका)

दृष्ट्वान तां स सुपिनां नमुची दुखार्तो
आमन्त्रयाति सुत ये ऽपि च पारिषद्या।
(–303–) सेनापति नमुचि सिंहहनुश्च नाम्ना
सर्वेष तेष परिपृच्छति कृष्णबन्धुः ॥941॥

मार उन स्वप्नों को देख कर दुःख से पीड़ित हो (अपने) पुत्रो को तथा जो भी सभासद थे, (उनको) तथा सिंहहनु नामक सेनापति को बुलाया। (फिर) काले (कर्मों) के साथी मार ने उन सबसे पूछा—पाछा।

गाथाभि गीत रचितोऽद्य श्रुतोऽन्तरिक्षा
शाक्येषु जातु वरलक्षणचित्रिताङ्गः।
षड वर्ष दुष्करव्रतानि चरित्व घोरा
बोधिद्रुमं ह्युपगतः प्रकुरुष्व यत्नं ॥942॥

आज आकाश से गाथाओं द्वारा रचित गीत सुना है कि उत्तम लक्षणों से चित्रित अंग के (बोधिसत्त्व), शाक्यो मे उत्पन्न हो, छह वर्ष की घोर दुष्कर व्रतचर्या करके, बोधिवृक्ष के पास पहुँचे है। (तुझे जो यत्न करना हो वह) यत्न कर ले।

सो चेद् विबुद्ध स्वयमेव हि बोधिसत्त्वो
बहुसत्त्वकोटिनयुतानि विबोधयेत।
शून्यं करिष्यति स मे भवनं ह्यशेषं
यदा लप्स्यते ह्यमृतु स्पर्शन शीतिभावं ॥943॥

वे बोधिसत्व अपने-आप सम्यक् बुद्ध हो, बहुत से कोटि-खर्व प्राणियों को सम्यक् बुद्ध बना देंगे। वे जब स्पर्श में शीत करने वाले स्वभाव के अमृत की प्राप्ति करेंगे, तब मेरे सपूर्ण भवन (=लोक) को सूना कर देंगे।

हन्तः व्रजाम सहित महता बलेन
घातेम तं श्रमणु एकु द्रुमेन्द्रमूले।
उद्योजयध्व चतुरङ्गिणि शीघ्र सेनां
यदि इच्छथा मम प्रियं म चिरं करोथ ॥944॥

अहो, बड़ी सेना के साथ (हम सब) चलें, वृक्षराज के तले उस अकेले श्रमण को मार डालें। यदि मेरा प्रिय (करना) चाहते हो तो, चतुरङ्गिणी सेना को सजाओ, विलम्ब मत करो।

प्रत्येकबुद्धभि च अर्हभि पूर्ण लोको =224क=
निर्वायमाणु न मम दुर्बलं स्यात्।
सो भूयु एकु जिनु भेष्यति धर्मराजो
गणनातिवृत्तु जिनवंशु न जातु छिद्येत् ॥945॥

प्रत्येक बुद्धो तथा अर्हतों से पूर्ण लोक के निर्वाण होने पर भी मेरी सेना दुर्बल नही हो सकती। पर वे एक यदि धर्मराज हो जाएंगे, तो गणनातीत बुद्ध-वंश का उच्छेद न हो सकेगा।

6. हे भिक्षुओ, इसके अनन्तर, सार्थवाह नामक मारपुत्र ने बड़े पापी मार से गाथा-द्वारा कहा—

किं तात भिन्नवदनोऽसि विवर्णवक्त्रो
हृदयं समुत्प्लवति वेधति ते ऽङ्गमङ्गं।
(–304–) किं ते श्रुतं अथव दृष्टु भणाहि शीघ्रं
ज्ञास्याम तत्त्वतु विचिन्त्य तथा प्रयोगं ॥946॥

हे तात, आपका चेहरा क्यों दूसरे ढंग का हो गया है? (क्यो) मुँह का रंग बदल गया है? (क्यो) हृदय धड़क रहा है? (क्यो) अग-अंग काँप रहे है? आपने क्या सुना है? अथवा (क्या) देखा है? शीघ्र बोलिए। ठीक-ठीक विचार कर यथोचित उपाय जाना जा सकेगा।

निर्माणु मारु अवची शृणु मह्य वत्स
पापं मि दृष्टु सुपिनं परमं सुघोरं।
भाषेय सर्वमिह पर्षदि अद्य शेषं
संमूर्छिता क्षितितले प्रपतेयु यूयं ॥947॥

निरभिमान हुए मार ने कहा—हे वत्स, मैंने बहुत बुरा और बहुत भयंकर सपना देखा है, आज यहाँ सभा में सबका सब बताऊँ तो, तुम सब लोग धरती पर बिल्कुल मूर्छित होकर गिर पडोगे।

सार्थवाह बोले—

रणकालि प्राप्ति यदि नाम जयो न दोषः
तत्रैव यस्तु निहतो भवते स दोषः।
स्वप्नान्तरे तु यदि ईदृश ते निमित्ता
श्रेयो उपेक्ष म रणे परिभावु गच्छेत् ॥948॥

युद्ध का समय आने पर यदि विजय हो तो वह खराब बात नहीं है, वहीं पर जो मर जाना है, वह खराब बात है। स्वप्न के बीच यदि ऐसे अपसगुन सुए हैं, तो चुप रहना ठीक है, युद्ध मे (आपको) हार नही खानी चाहिए।

मार बोला—

व्यवसायबुद्धिपुरुषस्य रणे प्रसिद्धि
अवलम्ब्य धैर्य सुकृतं यदि नो जयं स्यात्।
का तस्य शक्ति मम दृष्टि सपारिषद्यं
नोत्थातु मह्य चरणे शिरसा प्रपत्तुं ॥949॥

दृढ निश्चय वाले पुरुष को युद्ध मे उत्तम सफलता होती है। धैर्य धर कर ठीक ढग से काम किया जाए, तो हमारी जय होगी। (सैन्य–) मंडल के साथ मुझे देख कर उसकी क्या शक्ति है, जो सिर से मेरे चरणो पर पडने के लिए न उठे।

सार्थवाह बोला—

विस्तीर्णमस्ति हि बलं =224ख=च सुदुर्बलं च
अस्त्येक शुरु बलवांश्च रणंजहश्च[2]।

2. रण-जह का भोटानुवाद ग्युल् लस् ग्र्यल् (= रणंजय) है। रणंजह मे हा धातु को कारित (प्रेरणार्थक) मान कर रण को छुड़ा देने वाला या रण से भगा देने वाला यह अर्थ प्रसंगानुसार होगा। बौद्धशास्त्रों में इस शब्द का प्रसिद्ध अर्थ रण अर्थात् क्लेश का त्याग करने वाला है।

खद्योतकैर्यदि भवेत् त्रिसहस्र [illegible]
एको रविर्ग्रसति निष्प्रभतां करोति ॥950॥

निश्चय ही (हमारी) सेना बडी है, पर अत्यन्त दुर्बल है। दूसरी ओर एक-अद्वितीय बलवान् शूर है (जो शत्रुओं को) युद्ध से भगा देता है। यदि जुगुनुओं से त्रिसाहस्र (लोक धातु) भर जाए, तो भी एक-अकेला सूर्य उन्हें ग्रस लेता है, निस्तेज कर देता है।

(–205–) इसके अतिरिक्त—

यस्य मानश्च मोहश्च मीमांसा च न विद्यते।
विलोमो यदि विद्वांसो नासौ शक्यश्चिकित्सितुं ॥951॥

जिसमें (अभि–) मान नहीं है, मोह नहीं है, (इस दुनिया के झंझटों की) मीमांसा (=खोज-बीन) नही करनी है, (वह) चाहे (संसार के मायाजाल मे) चतुर हो अथवा उससे उलटा (अर्थात् भोलभाला) हो, उसे संशय में नही डाला जा सकता।

7. हे भिक्षुओं, इस प्रकार सार्थवाह के वचन को न कर, बड़े पापी मार ने महान् चतुरङ्गिणी सेना को सजाया, जो बड़े बल की थी, युद्ध मे कुशल थी, भय उपजाने वाली थी, रोंगटे खडे करने वाली थी, पहले से अनदेखी थी, पहले से अनसुनी थी, देवताओं और मनुष्यों के बहुत प्रकार के जो मुखविकार होते हैं, उन शतसहस्र कोटि-खर्व विकारों के प्रकारों से युक्त थी, हाथों और पैरों मे टेढे-मेढे शतस सर्पों से लिपटे शरीर वाली थी, तलवारें, धनुप, तार, बछियाँ, भाले, कुल्हाड़े, चौधारे बल्लम, अग्निबाण, मूसल, डडे फाँसने की रस्सियां, गदाएँ, चक्र वज्र, तथा कँटीले बर्छे धारण करने वाली थी, उत्तम वर्मों और कवचों से बधे-बँधे शरीर वाली थी, उलटे-पलटे सिरों, हाथ-पैरों तथा नेत्रों से युक्त थी, जलते हुए सिरों, नेत्रों तथा मुँहों वाली थी, बुरे ढंग के पेटो तथा हाथ-पैरों वाली थी, भयंकर तेज के मुखो वाली थी, देखने में अत्यन्त विगडे हुए चेहरों वाली थी, भयंकर और विकृत दाढों वाली थी, मोटि, बहुत बडी और लटकती हुई जिह्वाओं वाली थी, कछुए की गर्दन एव चटाई जैसी खुरदरी जिह्वाओ वाली, =225ख= आग के समान काले साँप के विप से भरी लाल-लाल नेत्रों वाली थी।

8. कितने ही उनमें से सर्पविषों का वमन कर रहे थे। कितने ही हथेलियो से सर्पविषों को ले-ले कर खा रहे थे। कितने ही गरुड़ों की भाँति समुद्र से उछाल कर मनुष्य का मास, रुधिर, हाथ, पैर, सिर, कलेजा, आँत, मल आदि

निर्माणु मारु अवची शृणु मह्य वत्स
पापं मि दृष्टु सुपिनं परमं सुघोरं।
भाषेय सर्वमिह पर्षदि अद्य ऽशेषं
संमूर्छिता क्षितितले प्रपतेयु यूय ॥947॥

निरभिमान हुए मार ने कहा—हे वत्स, मैने बहुत बुरा और बहुत भयंकर सपना देखा है, आज यहाँ सभा में सबका सब बताऊँ तो, तुम सब लोग धरती पर बिल्कुल मूर्छित होकर गिर पडोगे।

सार्थवाह बोले—

रणकालि प्राप्ति यदि नाम जयो न दोषः
तत्रैव यस्तु निहतो भवते स दोषः।
स्वप्नान्तरे तु यदि ईदृश ते निमित्ता
श्रेयो उपेक्ष म रणे परिभावु गच्छेत् ॥948॥

युद्ध का समय आने पर यदि विजय हो तो वह खराब बात नही है, वही पर जो मर जाना है, वह खराब बात है। स्वप्न के बीच यदि ऐसे अपसगुन हुए है, तो चुप रहना ठीक है, युद्ध मे (आपको) हार नही खानी चाहिए।

मार बोला—

व्यवसायबुद्धिपुरुषस्य रणे प्रसिद्धि
अवलम्ब्य धैर्य सुकृतं यदि नो जयं स्यात्।
का तस्य शक्ति मम दृष्टि सपारिषद्यं
नोत्थातु मह्य चरणे शिरसा प्रपत्तु ॥949॥

दृढ निश्चय वाले पुरुष को युद्ध मे उत्तम सफलता होती है। धैर्य धर कर ठीक ढग से काम किया जाए, तो हमारी जय होगी। (सैन्य-) मडल के साथ मुझे देख कर उसकी क्या शक्ति है, जो सिर से मेरे चरणो पर पडने के लिए न उठे।

सार्थवाह बोला—

विस्तीर्णमस्ति हि बल =224ख=च सुदुर्बलं च
अस्त्येक शूरु बलवांश्च रणंजहश्च[2]।

2. रण-जह का भोटानुवाद ग्युल् लस् ग्र्यल् (= रणजय) है। रणंजह मे हा धातु को कारित (प्रेरणार्थक) मान कर रण को छुडा देने वाला या रण से भगा देने वाला यह अर्थ प्रसंगानुसार होगा। बौद्धशास्त्रो में इस शब्द का प्रसिद्ध अर्थ रण अर्थात् क्लेश का त्याग करने वाला है।

खद्योतकैर्यदि भवेत् त्रिसहस्र
एको रविर्ग्रसति निष्प्रभतां ...

निश्चय ही (हमारी) सेना बड़ी है, पर अत्यन्त दुर्बल है। दूसरी ओर एक-अद्वितीय बलवान् शूर है (जो शत्रुओं को) युद्ध से भगा देता है। यदि जुगुनुओं से त्रिसाहस (लोक धातु) भर जाए, तो भी एक-अकेला सूर्य उन्हें ग्रस लेता है, निस्तेज कर देता है।

(–205–) इसके अतिरिक्त—

यस्य मानश्च मोहश्च मीमांसा च न विद्यते।
विलोमो यदि विद्वांसो नासौ शक्यश्चिकित्सितुं ॥95॥

जिसमे (अभि–) मान नही है, मोह नही है, (इस दुनिया के झंझटो की) मीमांसा (=खोज-बीन) नहीं करनी है, (वह) चाहे (संसार के मायाजाल मे) चतुर हो अथवा उससे उलटा (अर्थात् भोलभाला) हो, उसे संशय में नही डाला जा सकता।

7. हे भिक्षुओं, इस प्रकार सार्थवाह के वचन को न कर, बड़े पापी मार ने महान् चतुरङ्गिणी सेना को सजाया, जो बड़े बल की थी, युद्ध मे कुशल थी, भय उपजाने वाली थी, रोंगटे खड़े करने वाली थी, पहले से अनदेखी थी, पहले से अनसुनी थी, देवताओं और मनुष्यों के बहुत प्रकार के जो मुखविकार होते है, उन शतसहस्त्र कोटि-खर्व विकारों के प्रकारो से युक्त थी, हाथों और पैरों मे टेढे-मेढे शतस सर्पो से लिपटे शरीर वाली थी, तलवारें, धनुप, तार, बर्छियां, भाले, कुल्हाड़े, चौधारे बल्लम, अग्निबाण, मूसल, डडे फांसने की रस्सियां, गदाएँ, चक्र वज्र, तथा कँटीले बर्छे धारण करने वाली थी, उत्तम वर्मो और कवचो से नधे-बँधे शरीर वाली थी, उलटे-पलटे सिरों, हाथ-पैरों तथा नेत्रों से युक्त थी, जलते हुए सिरों, नेत्रों तथा मुँहो वाली थी, बुरे ढंग के पेटो तथा हाथ-पैरों वाली थी, भयंकर तेज के मुखों वाली थी, देखने में अत्यन्त बिगड़े हुए चेहरों वाली थी, भयंकर और विकृत दाढों वाली थी, मोटि, बहुत बड़ी और लटकती हुई जिह्वाओं वाली थी, कछुए की गर्दन एव चटाई जैसी खुरदरी जिह्वाओं वाली, =225ख= आग के समान् काले साँप के विष से भरी लाल-लाल नेत्रो वाली थी।

8. कितने ही उनमे से सर्पविषों का वमन कर रहे थे। कितने ही हथेलियों से सर्पविपों को ले-ले कर खा रहे थे। कितने ही गरुड़ों की भाँति समुद्र से उछाल कर मनुष्य का मांस, रुधिर, हाथ, पैर, सिर, कलेजा, आँत, मल आदि

खा रहे थे। कितने ही जलते हुए पिंगल (वर्ण के), काले (वर्ण के), नीले (वर्ण के) लाल (वर्ण के), (साधारण) पिंगल (वर्ण के) भयंकर एवं विचित्र रूपवाले थे। कितने ही घिनौनी आँखों वाले, कुएँ जैसी आँखों वाले, उपाड़ी हुई आँखों वाले और घिनौने कटाक्षों वाले थे। कितने ही उलटी हुई, जलती हुई, बिगड़ी हुई आँखो वाले थे। कितने ही जलते हुए पहाड़ों को लेकर लीला के साथ दूसरे पहाडों पर चढे आ रहे थे। कितने ही जड़ के साथ पेड़ों को उखाड कर बोधिसत्व की ओर दौड रहे थे। कितनों ही के कान बकरे के जैसे, सूप के जैसे, हाथी के जैसे, सुअर के जैसे थे, (कितने ही) लंबे कान के और कितने ही बिना कान के थे। कितने ही जलोदर रोगी जैसे दुर्वल शरीर के, हड्डियों के कंकाल इकट्ठा करके बनाए जैसे, टूटी हुई नाक के, घड़े जैसे पेट के, खप्पर जैसे पैरों के, सूखे (–306–) चाम, मास और लोहू के, कटे हुए नाम-कान, हाथ-पैर=225ख=आँख-मुख के थे। कितने ही खून की प्यास से एक-दूसरे का सिर काट रहे थे। कितने ही बैठे हुए, बिगड़े हुए, डराने वाले रूखे स्वर से फू-फू करके, पिच्-पिच् करके, फुल्-फुल् करके हल्ला मचा रहे थे। कितने ही बोलते थे—लाओ-लाओ, मारो-मारो, बाँधो-पकड़ो, काटो-फाड़ो, मथो-उछालो नष्ट कर दो इस श्रमण गौतम को (बोधि–) वृक्ष के साथ। इस प्रकार (कितने ही बार-बार) बोलते थे। कितनों ही के मुख नाना प्रकार से भयजनक, प्रचण्ड रूप से विकृत, भरुण्ड के समान, शृगाल के समान, शूकर के समान, गर्दभ के समान, बैल के समान, हाथी के समान, ऊँट के समान, खच्चर के समान, भैसे के समान, खरगोश के समान, चँवर के समान, गैड़े के समान, तथा शरभ के समान थे। कितनों ही के शरीर सिंह के सदृश, बाघ के सदृश, भालू के सदृश, शूकर के सदृश, वानर के सदृश, चीते के सदृश, बिल्ले के सदृश, बकरे के सदृश, भेड़े के सदृश, सर्प के सदृश, नेवले के सदृश, मच्छ के सदृश, मगरमच्छ के सदृश, घड़ियाल के सदृश, कछुए के सदृश, काक के सदृश, गिद्ध के सदृश, उल्लू के सदृश, गरुड़ के सदृश थे। =226क= कितने ही रूप में कुरूप थे। कितने ही एक सिर के थे, कितने ही दो सिरों के थे, यहाँ तक कि कितने ही हजार सिरों के थे। कितने ही बिना सिर के थे। कितने ही एक बाँह के थे, यहाँ तक कि कितने ही हजार बांहो के थे। कितने ही बिना बाँह के थे। कितने ही एक पैर के थे, यहाँ तक कि कितने ही हजार पैरों के थे। कितने ही बिना पैर के थे। कितने ही कान, मुँह, नाक, आँख, नाभि के स्रोतों से सर्पविष निकालते थे। कितने ही तलवार, धनुष, तीर, बर्छियाँ, चौधारे वल्लम, फरसे, चक्र, भाले, कँटीले बर्छे, वज्र, अग्नि वाण और भुजालियाँ आदि नाना प्रकार के हथियार घुमाते हुए, नाचते हुए, बोधिसत्व को डराते

थे। कितने ही आदमियों की उँगलियाँ काट कर, मालाएँ बना कर, पहनते थे। कितने ही हड्डियों के कंकालों और सिर के खप्परों को (=कपालों को) मालाओं की भाँति गूँथ कर धारण करते थे। कितनों ही के शरीरों पर साँप लिपटे हुए थे। कितने ही सिर के कपालों को लेकर हाथियों पर, घोड़ों पर, बैलों पर, गधों पर और भैसों पर सवार थे। कितनों के सिर नीचे, पैर ऊपर थे। कितनों के रोम सूई-जैसे (कड़े) थे। कितने ही बैल, गधे=226ख=सुअर, नेवले, बकरे, बिल्ले, बंदर, भेड़िए, सियार के जैसे रोएँ वाले साँप के विषों का वमन करते हुए, लोहे के गोलों को निगलते हुए, धूमकेतुओं को छोड़ते हुए, जलते हुए ताँबे और लोहे की वर्षा करते हुए, बिजलियों के साथ वृष्टि करते हुए, बाज-गाज (-307-) गिराते हुए, गरम-गरम लोहे की बालू बरसाते हुए काले-काले मेघों को उत्पन्न करते हुए, हवा-पानी उपजाते हुए, बाणमय मेघों को उपजाते हुए, कालरात्रि अर्थात् कालीरात दिखाते हुए अथवा मृत्यु की रात दिखाते हुए, हो-हल्ला मचाते हुए बोधिसत्त्व की ओर दौड़ते थे। कितने ही फाँसी लगाने की रस्सियों को घुमाते हुए, बड़े-बड़े पर्वतों को गिराते हुए, महासागरों को खलभलाते हुए, महापर्वतों को लांघते हुए, पर्वतों के राजा सुमेरु को हिलाते-डुलाते हुए, दौड़ते-भागते हुए, अंग-प्रत्यंग फेंकते हुए, शरीर घुमाते हुए, महाहास हँसते हुए, छाती फोड़ते हुए, छाती पीटते हुए, केश बिखरते हुए, पीले मुँह के, नीले शरीर के, जलते हुए सिर के, ऊपर उठे हुए केशों के, इधर-उधर जोर से दौड़ते हुए, भेरुण्ड-जैसी आँखों के बोधिसत्त्व को डराते थे। बूढ़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ रोती हुई बोधिसत्त्व के पास पहुँच कर यों बोलती थी—अहो मेरे पुत्र, हा मेरे पुत्र, उठो-उठो, जल्दी भागो। राक्षस-रूपधारी, पिशाचरूपधारी, काने, लँगड़े और दुबले, प्रेत = 227क = भूख से क्षीण इन्द्रियों के[3], बाहें ऊपर उठाए, घिनौने मुँह बनाए, रोते हुए, भय दिखाते हुए, त्रास उपजाते हुए, बोधिसत्त्व के सामने दौड़ते थे। इस प्रकार की उदित हुई उस मार-सेना के द्वारा अस्सी योजन के लम्बे-चौड़े चारों ओर का प्रदेश भर गया। जैसे एक मार की, वैसे ही त्रिसाहस्र (लोकधातु मे) फैले हुए, बड़े पापी कोटिशत मारों की, सेनाओं से ऊपर का तथा तिर्यक् (दिशाओं का) प्रदेश भर गया।

9. इस (विषय) में (गाथाओं द्वारा) यों कहा जाता है—

3. मूल, क्षुत्क्षमाक्षा। पठनीय, क्षुत्क्षामाक्षा। भोट, द्क्रेस् पस् रिद् प (=क्षुत्क्षामाः)।

(छंद दोधक)

यक्षकुम्भाण्डमहोरगरूपाः राक्षसप्रेतपिशाचकरूपाः ।
यत्तक लोकि विरूप सुरौद्राः सर्वि त निर्मित तत्र शठेभिः ॥952॥

यक्ष, कुम्भण्ड तथा महोरग रूपी (और) राक्षस, प्रेत, तथा पिशाचरूपी जितने भी लोक में अत्यन्त बीभत्स रूप के है, उन सबका वहाँ पर शठों ने (ऋद्धि से) निर्माण किया था ।

एकशिरा द्विशिरा त्रिशिराश्च यावत्सहस्रशिरा बहुवक्त्राः ।
एकभुजा द्विभुजा त्रिभुजाश्च यावत्सहस्रभुजा बहुभुजाः ।
एकपदा द्विपदा त्रिपदाश्च यावत्सहस्रपदा बहु अन्ये ॥953॥

(उनमे) एक सिर के, दो सिरों के और तीन सिरों के, यहाँ तक कि हजार सिरों के, एवं बहुत से मुख वाले, एक बाँह के दो बाँहों के, तीन बाँहों के यहाँ तक कि हजार बाँहों के एवं बहुत सी बाँहों वाले, एक पैर के, दो पैरों के, तीन पैरो के, यहाँ तक कि हजार पैरों के एवं बहुत से दूसरे थे ।

(-308-) नीलमुखानि च पीतशरीराः
पीतमुखानि च नीलशरीराः ।
अन्यमुखानि च अन्यशरीराः
एवम्[4] उपागतु किंकरसैन्यं ॥954॥[5] =227ख =

(उनमे) नीले मुख के और पीले शरीर वाले, पीले मुख के और नीले शरीर वाले, भिन्न मुख के और भिन्न शरीर वाले थे । ऐसी (मार) के सेवकों की सेना आई थी ।

वातु प्रवायति वर्षति वर्षं विद्युसहस्रशतानि पतन्ति ।
देव गुडायति वृक्ष लुडन्ति बोधिवटस्य न ईर्यति पत्रं ॥955॥

हवा जोर से चलती थी, पानी बरसता था, सैकडों-हजारों बिजलियाँ पड़ती थीं, आकाश गुड़गुड़ाता था, (पर) बोधिवृक्ष का पत्ता न हिलता था ।

वर्षति देव प्रवर्षति वर्षं ओघ वहन्ति जलाकुल भूमि ।
ईदृश भीषणिका =228क= बहुराशी यत्र अचेतन वृक्ष पतन्ति ॥956॥

4. मूल, एकम् । पाठान्तर तथा भोट, (दे .हू.द्र हि.) के अनुसार पाठ एवम् होना चाहिए ।
5. गाथा 954 वीं के अनन्तर भोट में और भी कितनी ही गाथाएँ हैं ।

देव बरसते थे, वर्षा अत्यधिक होती थी, जलधाराएँ बहती थी, भूमि जल से भरती जाती थी, भयानकता ऐसी अधिक जुट गई थी कि अचेतन पेड भी गिर-पड़ रहे थे।

दृष्ट्व च तानतिभीषणरूपां सर्वि विसंस्थितरूप विरूपां।
श्रीगुणलक्षणतेजधरस्या चित्तु न कम्पति मेरु यथैव ॥957॥

अत्यन्त भयानक रूप के, उलटे-पलटे रूप के, बुरे रूप के उन सब को देख कर श्री के गुणों के, लक्षणों के और तेज के धारण करने वाले (बोधिसत्त्व का) चित्त (ही केवल) मेरु के समान अकम्प्य था।

मायसमांस्तथ स्वप्नसमांश्च अभ्रनिभां समुदीक्षति धर्मा।
ईदृश धर्मनयं विमृषन्तो सुस्थितु ध्यायति संस्थितु धर्मे ॥958॥

(वे) धर्मों को अर्थात् संसार के सब पदार्थों को माया के समान, स्वप्न के समान, एवं मेघों के समान देखते थे। धर्मों के स्वभाव को ऐसा सोचते-विचारते हुए, भलीभाँति धर्म मे स्थिर हुए, अच्छे ढग से बैठे ध्यान करते थे।

यस्य भवेत अहंति ममेति भाव समुच्छ्रयि तत्त्वनिविष्टाः।
सो बिभियादबुद्धे स्थितु ग्राहे आत्मनि संभ्रमु गच्छ निरीक्ष्य ॥959॥

जिसमे अहता और ममता होती है, (जो) भावों अर्थात् ससार के पदार्थो में (तथा) समुच्छ्रय अर्थात् महाभूतो से उठे हुए शरीर मे तत्व का (=परमार्थ का) आग्रही होता है, उस मूढता के ग्राह में पड़े (अविवेकी) को भय हो सकता है, अपने-आप को देख कर उसे घबराहट हो सकती है।

शाक्यसुतस्तु स्वभावमभावं धर्म प्रतीत्य समुत्थित बुद्ध्वा।
गगनोपमचित्तु सुयुक्तो न भ्रमते सबलं शठ दृष्ट्वा ॥960॥

शाक्यपुत्र तो स्व-भाव को भाव-रहित, धर्मों को प्रतीत्यसमुत्पन्न (= हेतु-प्रत्ययसापेक्ष उत्पन्न) जान कर, सम्यग्-योग-रत, आकाश के समान (निर्लिप्त) चित्त हो, सेना-सहित शठ (= वंचक मार) को देख कर (भी) भूल मे न पड़ते थे।

10. हे भिक्षुओं, इस प्रकार, बडे पापी मार के जो सहस्र पुत्र थे, उनमें जो मारपुत्र बोधिसत्त्व के प्रति अत्यन्त (=श्रद्धालु) थे, उनमे सार्थवाह प्रमुख थे, वे मार के दाहिने पासे मे खडे हो गए। जो मार के पक्षपाती थे, वे बड़े पापी-मार के बाएँ पासे में खडे हो गए। तब बडे पापी ने अपने पुत्रो से कहा। किस प्रकार की सेना से हम बोधिसत्त्व को = 228 = परास्त कर सकेंगे? तब दाहिने पासे में खड़े सार्थवाह नामक मारपुत्र ने गाथा द्वारा अपने पिता को उत्तर दिया—

देव लोक मे, पृथिवी पर तथा जल मे जो बहुत बलवान् यक्ष अथवा मनुष्य खड्गधर एव परशुधर है, वे सब प्रबल बल के इन क्षमा-बल वाले पुरुष-राज को प्राप्त कर स्वल्प बल के हो जाते है ।

15. बाएँ (खडे) उग्रतेजा ने कहा—

अन्तर्गतोऽहं धक्ष्यामि प्रविश्यास्य तनुं शुभां ।
वृक्षं सकोटरं शुष्कं दावाग्निरिव सूक्ष्मतः ॥969॥

इनके शुभ शरीर मे प्रवेश कर, भीतर ही भीतर ठहरा हुआ मैं, कोटर सहित सूखे वृक्ष को सूक्ष्म दावाग्नि की भांति जला डालूंगा ।

16. दाहिने (खड़े) सुनेत्र ने कहा—

(छंद उपजाति)

मेरुं दहेस्त्वं यदि वापि कृत्स्नं
प्रविश्य चान्तर्गत मेदिनी वा ।
दग्धुं न शक्यः स हि वज्रबुद्धिः
त्वत्संनिभैर्वालिकगङ्गतुल्यैः ॥970॥

तुम घुस कर, भीतर ही भीतर ठहर, चाहे सुमेरु को जला डालो या पृथिवी को (जला डालो), पर तुम जैसे (सख्या मे) गंगा की वालुका जितने (लोगों) के द्वारा (भी) वे वज्रबुद्धि (=हीरे के समान अभेद्य बुद्धि वाले) जलाए नहीं जा सकते । इसके अतिरिक्त—

चलेयुर्गिरयः सर्वे क्षयं गच्छन्महोदधिः ।
चन्द्रसूर्यौ पतेद् भूमौ मही च विलयं व्रजेत् ॥971॥

लोकस्यार्थे कृतारम्भः प्रतिज्ञा =229ख= कृतनिश्चयः ।
अप्राप्यैष वरां बोधिं नोत्थास्यति महाद्रुमात् ॥972॥

चाहे सब पर्वत स्थान-च्युत हो जाएँ, महासागर क्षीण हो जाए, चन्द्रमा और सूर्य धरती पर गिर पड़े और धरती विलीन हो जाए, पर लोक (-हित) के लिए कार्य करने हारे, प्रतिज्ञा द्वारा निश्चय कर लेने वाले ये उत्तम बोधि बिना पाए, महावृक्ष से नही उठेंगे ।

17. बाएँ (खडे) गर्वीले दीर्घबाहु ने कहा—

आलयं चन्द्रसूर्याणां नक्षत्राणां च सर्वशः ।
पाणिनाहं प्रमर्दामि तवेह भवने स्थितः ॥973॥

(-311-) चतुर्भ्यः सागरेभ्यश्च जलं गृह्णामि लीलया ।
तं गृह्य श्रमणं तात सागरस्य परं क्षिपे ॥974॥

तिष्ठतां तात सेनेयं मा त्वं शोकार्दितो भव।
स बोधिवृक्षमुत्पाट्य क्षेप्स्ये पाण्या दिशो दश: ॥975॥

चन्द्रमा और सूर्य के तथा नक्षत्रों के स्थान को, तुम्हारे इस भवन में खड़ा होकर, मैं अपने हाथ से सब तरह मसल डालूँगा।—चारों सागरों से खेल-खेल मे पानी ले लूँगा और हे तात, उस श्रमण को पकड़ कर सागर के पार फेंक दूँगा।—हे तात, इस सेना को ठहरने दो, तुम शोक से पीड़ित न होओ, हाथ से उस बोधिवृक्ष को उखाड़ कर (टूक-टूक कर) दसो दिशाओं में फेंक दूँगा।

18. दाहिने (खड़े) प्रसादप्रतिलब्ध ने कहा—

सदेवासुरगन्धर्वा ससागरनगां महीं।
त्वं मर्दितां प्रकुर्याश्च पाणिभ्यां मदगर्वितः ॥976॥

त्वद्विधानां सहस्राणि गङ्गावालिकया समाः।
रोमं तस्य न चालयेयुर्बोधिसत्त्वस्य धीमतः ॥977॥

मद से गर्वीले तुम अपने दोनो हाथों द्वारा देवताओं, असुरों और गन्धर्वों के सहित एवं समुद्रो और पर्वतों सहित, पृथिवी को मसल सकते हो—(पर) गंगा की बालुका जितने तुम्हारे जैसे हजार-हजार भी उन बुद्धिमान् बोधिसत्त्व का बाल बाँका नही कर सकते।

19. बाएँ (खड़े) भयङ्कर ने कहा—

(छंद उपजाति)

भयं हि ते तात भृशं किमर्थं
सेनाय मध्ये किमवस्थितस्य।
सेना न तस्यास्ति कुतः सहायाः
कस्माद् भयं ते भवतीह तस्मात् ॥978॥

हे तात, किसलिए (इतना) अधिक भय है? सेना के बीच मे खड़े हुए को क्या भय? उसके पास सेना नही है। (फिर) सहायक कहाँ से (होंगे)? इस-लिए यहाँ तुम्हे भय क्यों हो रहा है?

20. दाहिने (खडे) एकाग्रमति ने कहा—

यूथं न लोकेऽस्ति शशीरवीनां
न चक्रवर्ती न च केशरीणां।
न बोधिसत्त्वानिह तात यूथं =230क=
एकः समर्थो नमुचिं निहन्तुं ॥979॥

लोक मे चन्द्रमा और सूर्यो का झुंड नहीं होता, चक्रवर्ती (–राजाओं) का झुंड नही होता, सिंहो का झुंड नही होता। हे तात, यहां बोधिसत्त्वों का झुंड नहीं होता, वे अकेले मार के निग्रह करने में समर्थ होते है।

21. बाएँ (खड़े) अवतारप्रेक्षी (=मौकेबाज) ने कहा—

न शक्तिशूला न गदा न खद्(?ड्)गा
न हस्तिनोऽश्वा न रथा न पत्तिः।
[8]तं सोऽहम्[8] एकं श्रमणं निषण्णं
हन्स्येऽद्य[9] मा संभ्रम तात किञ्चि ॥980॥

(उनके पास) न बर्छियाँ हैं, न शूल है, न गदाएँ है, न खड्ग है, न हाथी है, न घोडे है, न रथ हैं, न पदाति (–सेना) है। उन अकेले बैठे हुए वीर श्रमण को आज (मैं) मार दूँगा। हे तात, (तुम) कुछ भी न घबराओ।

22. दाहिने (खड़े) पुण्यालंकार ने कहा—

(छंद वसन्ततिलका)

नारायणस्य यथ काय अछेद्यभेद्यो
क्षान्तिबलैः कवचितो दृढवीर्यखड्गः।
(–312–) त्रिमोक्षवाहनऽसि प्रज्ञधनुः स तात
पुण्यबलेन स हि जेष्यति मारसेनां ॥981॥

नारायण के शरीर—जैसा (उनका शरीर) छेदा-भेदा नही जा सकता। वे क्षमाशक्ति समूह का कवच पहने है, वीर्य (उद्योग) रूपी उनका दृढ़ खड्ग है, तीन विमोक्ष उनके वाहन है, प्रज्ञा उनका धनुष है। हे तात, पुण्य की सेना से वे मार सेना को निश्चय ही जीत लेंगे।

23. बाँए (खड़े) अनिवर्ती ने कहा—

8....8. तं सोण्डम्। सोऽहम् पाठ की मैं कल्पना करता हूँ। इसके स्थान मे प्रोफेसर एड्जेर्टन् का सुझाव पाठान्तर के आधार पर मां सोढुम् है। द्रष्टव्य बु० हां० से० डि० सोण्ड शब्द। पाठान्तर मा सोडुम् है। भोट में सोण्डम् का अनुवाद नही है। पर तं शब्द का अनुवाद दे (तत्, सः, तम्) हैं। अनन्तर ब्दग् गिस् (= मया) है।

9. अद्य के स्थान में भोट दो मोद् (= सद्यः, शीघ्रं) है। भोट शब्द यहाँ द्व्यर्थक है। कभी-कभी अद्य के अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है।

न निवर्तते तृणगतः प्रदहन् दवाग्निः
क्षिप्तं शरो न च निवर्तति शिक्षितेन।
वज्रं नभे निपतितं न निवर्तते च
न स्थानमस्ति मम शाक्यसुतं ह्यजित्वा ॥982॥

जलती हुई वन की आग तिनकों में पहुँच कर नही लौटती, सीख पाये हुए के द्वारा फेंका हुआ तीर नहीं लौटता, आकाश से गिरी बिजली नहीं लौटती, शाक्यपुत्र को बिना जीते मेरा (भी) ठहरना नहीं हो सकता।

24. दाहिने (खड़े) धर्मकाम ने कहा—

(छंद गाया 11 14 11 14 अक्षर)

आर्द्र (-) तृणं प्राप्य निवर्तते ऽग्नि (:)
गिरिकूटं आसाद्य निवर्तते शरः।
वज्र (-) महीं प्राप्य अधः प्रयाति
अप्राप्य शान्तममृतं न निवर्तते अयं ॥983॥

आग गीले तिनकों को पा कर लौट पड़ती है, तीर चट्टान पर लग कर उलटा फिर आता है, बिजली धरती पर गिरकर नीचे पैठ जाती है, (पर) शान्त और अमृत बिना पाये ये नही लौटने वाले है। इसका कारण क्या?—

(छंद तूणक)

शक्य तात अन्तरिक्षे लेख्य चित्र चित्रितुं
यावन्ति केचि सर्व सत्त्व एकचित्त स्थापितुं।
चन्द्रासूर्य मारुतं च शक्य पाश बन्धितुं
न बोधिसत्त्व शक्य तात बोधिमण्डि चालितुं ॥984॥

हे तात, आकाश मे लिखा जा सकता है, चित्र आँका जा सकता है, जितने प्राणी हैं, (उन) सब को एकचित्त करके रखा जा सकता है। (पर) हे तात बोधिसत्त्व को बोधिमण्डप से हिलाया-डुलाया नही जा सकता।

25. =230ख= बाएँ (खडे) अनुपशान्त ने कहा—

(छंद वसन्ततिलका)

दृष्टीविषेण महता प्रदहामि मेरुं
भस्मीकरोमि सलिलं च महोदधीनां।
बोधिं च पश्य श्रमणं च अहं हि तात
दृष्ट्या यथाद्य उभयं हि करोमि भस्मं ॥985॥

आँखों के महाविष से सुमेरु को जला सकता हूँ, और महासागरों के जल को राख बना सकता हूँ। हे तात, देखो, आज मैं बोधि (–वृक्ष) और श्रमण (–गौतम) दोनों को दृष्टि से जिस प्रकार भस्म करता हूँ।

26. दाहिने (खड़े) सिद्धार्थ ने कहा—

(छंद उपजाति)

विषेण पूर्णो यदि वैष सर्वो
भवेत् त्रिसाहस्रवरः प्रदीप्तः।
निरीक्षणादेव गुणाकरस्य
सुनिर्विषत्वं विषमभ्युपेयात् ॥986॥

यदि समूचा उत्तम त्रिसाहस्र (–लोक) विष से भर कर जल उठे तो भी (उन) गुणाकर के देखने भर से विष पूर्णरूप से निर्विष हो जायेगा।

(–313) विषाणमुग्रं त्रिभवेह यच्च
रागश्च दोषश्च तथैव मोहः।
ते तस्य काये च तथैव चित्ते
नभे यथा पंकरजो न सन्ति ॥987॥

तीनो भवो के बीच यहाँ पर विषो में जो प्रचंड विष राग, दोष (द्वेष) और मोह है, वे उनके शरीर और मन मे उसी प्रकार नही लगे है, जिस प्रकार आकाश में धूल और कीचड़ नही लगते।

(काये च वाचाय विशुद्ध चित्ते
सर्वेषु सत्त्वेषु च मैत्रचेतः।
न तं च शस्त्राणि विषाणि हिंसे)
तस्मान्निवर्तामिहे तात सर्वे ॥987क॥[10]

(वे) शरीर, वाणी, और मनमे अत्यन्त शुद्ध है, सब प्राणियों में (उनका) चित्र मैत्रीवाला है। शस्त्र और विष उनकी हिंसा नही कर सकते, इसलिए, हे तात, (हम) सब लौट चले।

10. तुलनीय भोट, स्कु दङ् ग्सङ् दङ् थुग्स् क्यङ् रब तु दग्, सेम्स् चन् कुन् ल ब्यम्स् प हि थुग्स् दङ् ल्दन्। दे ल म्छोन् दङ् दुग् गिस् योङ् मि छुग्स्, देवस् यब् चिग् थम्स् चद् ब्ज़्लोग् तु ग्सोल्।

27. बाएँ (खड़े) रतिलोल नामक (मारपुत्र) ने कहा—

(छंद मोदकगाथा भ भ भ र प्राय:)

अहु तूर्यसहस्र प्रवादितेर्
अप्सरकोटिसहस्र अलंकृतेः ।
लोभयित्वान नेष्ये पुरोत्तमं
कामरतिं हि करोमि वसे तवे ॥988॥

मैं सहस्रों बाजे बजवा कर, कोटि-सहस्र अलंकृत, अप्सराओं द्वारा ललचवा कर, उत्तम नगर मे ले जाऊँगा और कामान्दी को तुम्हारे वश मे कर दूंगा ।

28. दाहिने (खड़े) धर्मरति ने कहा—

(छंद दोधक)

धर्मरती सद तस्य रतीहा ध्यानरती अमृतार्थरतिश्च ।
सत्वप्रमोक्षमैत्ररतिश्च रागरतिं =231क= सरतिं न करोति ॥989॥

यहाँ सर्वदा उनकी रति धर्मरति है, ध्यानरति है, अमृतार्थ (-निर्वाण) रति है, प्राणिविमोक्षरति है, तथा मैत्रीरति है । कामरति में वे रति नही मानते ।

29. बाएँ (खड़े) वातजव नामक (मारपुत्र) ने कहा—

(छंद उपजाति)

जवेन ऽहं चन्द्ररवी ग्रसेयं
प्रवायमानं गगने च वायुं ।
अद्यैव तात श्रमणं गृहीत्वा
[11]प्रा (?घा) सस्य मुष्टि-वि[11] किरामि वायुं ॥990॥

मैं अपने वेग से चन्द्र और सूर्य को हड़प सकता हूँ, आकाश में जोर से चलने वाली वायु को भी हड़प सकता हूँ । हे तात, आज श्रमण को पकड़ कर हवा से घास की मूठ की भाँति तितर-बितर कर देता हूँ ।

11. मूल, प्रासस्य मुष्टि वि० । यहाँ भोट, फ्रुङ् म बशिन् (= घासस्य मुष्टिमिव) है । प्रास यदि वस्तुत: प्राश है, तो भोजन का वाचक है । वह भोजन पशु का हो तो घास ही है । मनुष्य का हो तो अन्न है । प्रास शब्द भी वस्तुतः हस्तलेख के प्रस का शोधित रूप है । द्रष्टव्य बु० हा० सं० डि० में प्रास शब्द । वि पालि के विय का संक्षिप्त रूप जान पड़ता है । यहाँ यह उपसर्ग नहीं है ।

30. दाहिने अचलपति नामक मारपुत्र (खड़ा) था। वह यों बोला—

यथा तवैषो जववेग उग्रः
तद्वद्यदि स्यात् सुरमानुषाणां।
सर्वे समग्रापि न ते समर्थाः
कर्तुं रुजामप्रतिपुद्गलस्य ॥991॥

तुम्हारा जव एवं वेग जैसा उग्र है, वैसा ही यदि देवताओं तथा मनुष्यों का हो जाय, (और) वे सभी एक हो जाएँ, तो भी (उन) असाधारण पुरुष को पीड़ा नहीं पहुँचा सकते।

31. बायें (खड़े) ब्रह्ममति (? मन्दमति) ने कहा—

स्यात् तादृशानामपि वृन्दमुग्रं
कुर्यान्न किंचित् तव मानघातं।
प्रागेव सैकः प्रकरोति किं ते
वृन्देन साध्यन्ति हि सर्वकार्या ॥992॥

उन जैसों का ओजस्वी दल-बल हो, तो भी तुम्हारी रंच भर मानहानि नही कर सकता। वे अकेले तुम्हारा कुछ कर सकें, इसकी बात ही क्या ? सब कार्य तो दल-बल से साधे जाते है।

32. दाहिने (खड़े) सिंहमति ने कहा—

(-314-) न सिंहवृन्दं भुवि दृष्टपूर्वं
दृष्टीविषाणामपि नास्ति वृन्दं।
तेजस्विनां सत्यपराक्रमाणां
पुरुषर्षभाणां अपि नास्ति वृन्दं ॥993॥

धरती पर सिंह का रेवड़ पहले कभी नही देखा गया, दृष्टिविप वाले साँपों का भी झुण्ड नही होता है, तेजस्वी, सच्चे पराक्रमी, पुरुषोत्तमों का भी दल-बल नहीं हुआ करता।

33. बायें (खडे) सर्वचण्डाल नामक (मारपुत्र) ने कहा—

न ते श्रुता तात गिरो ऽभिदीप्ता
यथा नदन्ते तनयास्तवेमे।
वीर्येण वेगेन बलेन युक्ता
व्रजाम शीघ्रं श्रमणं निहन्तुं ॥994॥

हे तात, वीर्य से, वेग से, बल से युक्त तुम्हारे ये पुत्र जिस प्रकार तेजस्विनी बातें कह कर गरज रहे है, उन्हे क्या तुमने नही सुना ? श्रमण को मारने के लिए चलो जल्दी चलें।

34. =231ख= दाहिने (खड़े) सिंहनादी नामक (मारपुत्र) ने कहा—

वहवः शृगाला हि वनान्तरेषु
नदन्ति नादान् न- सतीह सिंहे ।
ते सिंहनादं तु निशाम्य भीमं
त्रस्ता पलायन्ति दिशो दशासु ॥995॥

सिंह के न होने पर जंगलों के भीतर बहुत से सियार हुआ-हुआ करते रहते हैं । पर वे भयंकर सिंह नाद सुन कर डरे-डरे दसों दिशाओं में भागने लग जाते हैं ।

मारौरसास्तद्वद्मी अपण्डिताः
अश्रुत्व नादं पुरुषोत्तमस्य ।
नदन्ति तावत्स्वमता ऽतिधृष्टाः
मनुष्यसिंहे नदिते न- सन्ति ॥996॥

ये अपण्डित मारपुत्र पुरुषोत्तम का नाद न सुन कर, पुरुष सिंह के नाद करने पर, अत्यन्त ढीठ बने अपनी मनमानी से नारे लगा रहे हैं ।

35. बाएँ पासे से दुश्चिन्तितचिन्ती ने कहा—

यच्चिन्तयामि तदिहासु भोति
कथं न एषो इम वीक्षते च ।
मूढो व एषो अनभिज्ञ किवा
यदुत्थिहित्वा न पलायते लघुं ॥997॥

यहाँ जो सोचता हूँ, वह शीघ्र हो जाता है । कैसी बात है कि ये इन (मार सैनिकों) को नहीं देखते, जल्दी उठ कर नहीं भागते । क्या ये मूढ़ है अथवा अनजान है ?

36. दाएँ पासे से सुचिन्तितार्थ नामक (मारपुत्र) ने कहा—

मूढो न वायं अपराक्रमो वा
युष्मेव मूढाश्च असंयताश्च ।
न युष्मि जानाथ इमस्य वीर्यं
प्रज्ञाबलेनास्य जिता स्थ सर्वे ॥998॥

ये नतोमूढ़ हैं और न अपराक्रमी । तुम्ही मूढ़ और असयमी हो । इनके वीर्य को तुम नही जानते । इनके प्रज्ञाबल से (तुम) सब जीते जा चुके हो ।

मारात्मजानां यथा गङ्गवालिका
एतेन वीर्येण यथैव यूयं ।
रोमस्य एकं न समर्थ चालितुं
प्रागेव यश्चिन्तयि घातयिष्ये ॥999॥

(तुम) मारपुत्रों की (संख्या) गंगा की बालुका जैसी हो, (फिर भी) तुम इस—जैसे वीर्य से, (उनका) एक बाल भी बाँका नहीं कर सकते। (उन्हे) मार डालूँगा, (ऐसा) जो सोच सके, (उसका) कहना ही क्या ?

मा यूयमत्र क्षिणुयात मानसं
प्रसन्नचित्ता भवथा सगौरवाः।
निवर्तया मा प्रकरोथ विग्रहं
भविष्यते ऽसौ त्रिभवेस्मि राजा ॥1000॥

यहाँ तुम (अपना) मन मारो, चित्त से (उनपर) प्रसन्न हो जाओ, गौरव के साथ रहो, वे तीनो भवों के राजा होंगे, लड़ाई मत करो, लौट चलो।

37. संक्षेप यह है कि इस प्रकार पूरे के पूरे मार के हजार बेटों मे जो शुक्लपक्षी थे = 232क=और जो कृष्णपक्षी थे, उन सबने बडे पापी मार से गाथाओं द्वारा कहा।

38. (–315–) इसके अनन्तर बड़े पापी मार का भद्रसेन नामक जो सेनापति था, उसने गाथाओं द्वारा बड़े पापी मार से कहा—

(छंद आर्या)

ये ते तवानुयात्राः शक्रो पालाश्च[12] किन्नरगणाश्च।
असुरेन्द्राः गरुडेन्द्राः कृताञ्जलिपुटाः प्रणत तस्मै ॥1001॥

इन्द्र, (लोक-) पाल, किनरगण, असुरेन्द्र तथा गरुडेन्द्र जो भी तुम्हारे पिछलग्गू है, वे अञ्जलि बाँधे उन्हे प्रणाम कर रहे है।

किं पुनरनानुयात्रा ब्रह्मा आभास्वराश्च सुरपुत्राः।
देवाश्च शुद्धवासकास्तेऽपि च सर्वे प्रणत तस्मै ॥1002॥

(जो तुम्हारे) पिछलग्गू नही है, उन ब्रह्माओ, अभास्वर-देवपुत्रों तथा शुद्धावासकायिक देवताओं का कहना ही क्या ? वे भी सब उन्हें प्रणाम कर रहे है।

ये च तवेमे पुत्राः प्रज्ञा मेधाविनश्च बलिनश्च।
ते बोधिसत्त्वहृदयं अनुप्रविष्टा नमस्यन्ति ॥1003॥

ये जो तुम्हारे प्रज्ञावन्त, बुद्धिमन्त और बलवन्त पुत्र है, वे बोधिसत्त्व के मन से मन मिलाए हुए, (उन्हें) नमस्कार कर रहे है।

12. मूल, (लोक) पालाश्च। भोट, स्क्योङ् (=पाला:, च की संधि के साथ पालाश्च)।

याप्येष मारसेना अशीति स्फुट योजनानि यक्षाद्यैः ।
भूयिष्ठ सर्व प्रेक्षी प्रसन्नमनसो हि निर्दोषं ॥1004॥

यह जो अस्सी योजनों तक व्याप्त यक्ष-आदि के सहित मारसेना है, बहुत-बहुत प्रसन्न-चित्त हो, (उन) पूर्ण-निर्दोष को देख रही है ।

दृष्ट्वा यथा सुभीमां रौद्रां विकृतां चमूमिमां घोरां ।
न च विस्मितो न चलितो ध्रुवमस्य जयो भवत्यद्य ॥1005॥

यह अत्यन्त भयानक, प्रचण्ड, वीभत्स, घोर सेना देखकर भी ये जिस प्रकार अविस्मित और अविचलित है, (उससे जान पड़ता है कि) आज इनकी निश्चय ही जय होगी ।

स्थित यत्र च सेनेयं तत्र उलूकाः शिवाश्च विरुवन्ति ।
वायसगर्दभरुदितं निर्वर्तितव्यं क्षमं शीघ्रं ॥1006॥

जहाँ यह सेना खडी है, वहाँ उल्लू और सियार बोल रहे है, कौए और गधे रो रहे है । जल्दी लौटना (ही) उचित है ।

वीक्षस्व बोधिमण्डे पटुक्रोञ्चा=232ख=हंसकोकिलमयूराः ।
अभिदक्षिणं करोन्ति ध्रुममस्य जयो भवत्यद्य ॥1007॥

बोधिमण्डप की ओर देखो, स्वस्थ क्रौञ्च, हंस, कोकिल और मयूर सामने की ओर से प्रदक्षिणा कर रहे है । आज निश्चय (ही) इनकी जय होगी ।

यत्र स्थित सेनेयं तत्र मसिः पांशवाश्च वर्षन्ति ।
महिमण्डि कुसुमवृष्टिः कुरुष्व वचनं निवर्तस्व ॥1008॥

जहाँ यह सेना खड़ी है, वहाँ धूल-काजल की वर्षा हो रही है । धरती पर (बोधि-) मण्डप की जगह पुष्पवृष्टि हो रही है । कहा करो, लौट चलो ।

यत्र स्थित सेनेयं उत्कुलनिकुल शल्यकण्टकाकीर्णा ।
महिमण्डि कनकनिर्मलु निर्वर्तितव्यं क्षमं प्राज्ञैः ॥1009॥

जहाँ यह सेना खडी है, (वहाँ) ऊँचा-नीचा है, कील-काँटे बिखरे हुए हैं । धरती पर (बोधि-) मण्डप की जगह सुवर्ण-जैसी निर्मल है । बुद्धिमानों के लिए लौट चलना (ही) उचित है ।

दृष्टा ते सुपिनि पूर्वे भेष्यसि प्रत्यक्षु यदि न गच्छासि ।
भस्मं चमूं च करिष्यति ऋषिभिर्देशा कृता या भस्मं ॥1010॥

तुमने पहले स्वप्न देखे है, (उन्हे) प्रत्यक्ष देखोगे, यदि न लौट चलोगे । (वे) सेना को (वैसे ही) भस्म करेंगे, जैसे ऋषियो ने देशों को भस्म किया था ।

(–316–) राजा यतो ऋषिवरो रोषितु आसीत् स ब्रह्मदत्तेन ।
उद्दग्ध दण्डकवनं वर्षैर्बहुभिस्तृण न जाता ॥1011॥

राजा ब्रह्मदत्त ने ऋषिवर को नाराज किया था, उन्होंने दण्डकारण्य (शाप देकर) जला डाला । बहुत बरसों तक (वहाँ) तिनके (भी) न उगे ।

ये केचि सर्वलोके ऋषयो व्रतचारिणस्[13] तपोयुक्ताः ।
तेषामयं प्रधानो ह्यहिंसकः सर्वभूतानां ॥1012॥

संपूर्ण जगत् मे व्रत करने वाले तपस्वी जो भी ऋषि है, उनमें, सब प्राणियों के अहिंसक होने के कारण ये प्रधान है ।

किं ते न श्रुत पूर्वं काये दीप्ता सुलक्षणा यस्य ।
निष्क्रामति चागारात् स भवति बुद्धो जितक्लेशः ॥1013॥

क्या तुमने पहले नहीं सुना कि जिसके शरीर पर चमकते हुए सुन्दर (बत्तीस) लक्षण होते हैं, वह यदि घर से निकलता है, तो क्लेशों को जीतने वाला बुद्ध होता है-।

इम ईदृशी विभूति पूजार्थं निर्मिता जिनसुतेभिः ।
तं नूनमग्रसत्त्वो ह्यग्राहुतिसंप्रतिग्राही ॥1014॥

बोधिसत्त्वो ने पूजा के लिए इस प्रकार की यह विभूति (ऋद्धि बल से) बनाई है । इससे यह निश्चित है कि (ये) अग्रसत्त्व अग्रपूजा पाने के अधिकारी है ।

ऊर्णा यथा सुविमला विराजते क्षेत्रकोटिनयुतेषु ।
जिह्मीकृता स्म च तया निसंशयं एष मारबल हन्ता ॥1015॥

जिस प्रकार, अत्यन्त निर्मल ऊर्णा कोटि—खर्ब-खर्ब (बुद्ध-) क्षेत्रों मे विराज रही है, उससे (हम सब) निष्प्रभ हो गए है, (उससे स्पष्ट है कि) ये निःसन्देह मारबल को ध्वस्त करेंगे ।

=233क=मूर्ध्नं यथास्य देवैर् द्रष्टु[14] न शक्यं च[14] वै भवाग्रस्थैः ।
नूनं सर्वज्ञत्वं प्राप्स्यत्यन्यैरनुपदिष्टं ॥1016।

जिस प्रकार, भव की चोटी पर खड़े देवता भी इनका माथा निहारने की हिम्मत नही करे, (उससे प्रकट है कि) निश्चय ही, दूसरों द्वारा उपदेश न दी गई सर्वज्ञता को (ये) प्राप्त करेंगे ।

13. मूल, (भूयो) व्रतचारिणस् । भोट, ब्र्तुल् शुग्स् स्प्योद् प पो (=व्रतचारिणः) ।

14....14. मूल, न शक्यं न । भोट, मि नुस् (=न शक्यं) । दो निषेधवाचक होने से अर्थ संगति नही बैठती ।

यथ मेरुचक्रवाडाश्चन्द्रासूर्यश्च शक्रब्रह्माणः ।
वृक्षाश्च पर्वतवराः प्रणते सर्वे महीमण्डं ॥1017॥
निःसंशयु पुण्यवली प्रज्ञावलवांश्च ज्ञानवलवांश्च ।
क्षान्तिवल[15] वीर्यवलवान् अवलं कर्ता नमुचिपक्षां ॥1018॥

जिस प्रकार-सुमेरु, चक्रवाल(-पर्वत), चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, ब्रह्मा, वृक्ष तथा श्रेष्ठ पर्वत सब के सब धरती पर के (बोधि-) मण्डप को प्रणाम कर रहे हैं, (उससे स्पष्ट है कि) पुण्य के वली, प्रज्ञा में वलवान्, ज्ञान मे बलवान्, क्षान्ति (=क्षमा) वल के, वीर्य (=उद्योग) मे वलवान् ये नमुचि (=मार) के पक्ष (-पातियों) को वलहीन कर देंगे ।

हस्ती यथाममाण्डं प्रमर्दते क्रोष्टुकान् यथा सिंहः ।
खद्योतं वादित्यो भेत्स्यति सुगतस्तथा सेनां ॥1019॥

जैसे हाथी कच्ची हांड़ी का, जैसे सिंह सियारों का अथवा जैसे सूर्य जुगुनू का मर्दन करता है, वैसे ही (ये) सुगत (मार-) सेना का मर्दन करेंगे ।

39. यह सुन कर (एक) दूसरा मारपुत्र रोष से लाल-लाल आँखें करके बोला—

(छंद उपजाति)

एकस्य वर्णान् अति-अप्रमेयां
प्रभाषसे तस्य त्वमेकस्य ।
एको हि कर्तुं खलु किं समर्थो
महाबला पश्यसि किं न भीमा ॥1020॥

तुम उन एक की—अकेले की बहुत बे—माप बड़ाई—पर बड़ाई वखान रहे हो, पर एक कर ही क्या सकता है ? इस भयकर महासेना को क्यों नही देखते ।

40. इसके अनन्तर दाहिने पास से प्रमर्दक नाम के मारपुत्र ने कहा—

(-317-) सूर्यस्य लोके न सहायकृत्यं
चन्द्रस्य सिंहस्य न चक्रवर्तिनः ।
बोधौ निषण्णस्य च निश्चितस्य
न बोधिसत्त्वस्य सहायकृत्यं ॥1021॥

जगत् में न सूर्य को सहायक द्वारा कुछ करना होता है, न चन्द्रमा, सिंह, और चक्रवर्ती को और न बोधि के निमित्त निश्चय करके बैठे हुए बोधिसत्त्व को (ही) सहायक द्वारा कुछ करना होता है ।

15. मूल, क्षान्तिबल(वांश्च) । भोट, ब्ज़ोद् प हि. स्तोब्स् (= क्षान्तिबलः) । वाश्च की वृद्धि केवल छन्दोभंग करती है ।

(–316–) राजा यतो ऋषिवरो रोषितु आसीत् स ब्रह्मदत्तेन ।
उद्दग्ध दण्डकवनं वर्षैर्बहुभिस्तृण न जाता ॥1011॥

राजा ब्रह्मदत्त ने ऋषिवर को नाराज किया था, उन्होंने दण्डकारण्य (शाप देकर) जला डाला । बहुत बरसों तक (वहाँ) तिनके (भी) न उगे ।

ये केचि सर्वलोके ऋषयो व्रतचारिणस्[13] तपोयुक्ताः ।
तेषामयं प्रधानो ह्यहिंसकः सर्वभूतानां ॥1012॥

संपूर्ण जगत् मे व्रत करने वाले तपस्वी जो भी ऋषि है, उनमें, सब प्राणियों के अहिंसक होने के कारण ये प्रधान है ।

किं ते न श्रुत पूर्वं काये दीप्ता सुलक्षणा यस्य ।
निष्क्रामति चागारात् स भवति बुद्धो जितक्लेशः ॥1013॥

क्या तुमने पहले नही सुना कि जिसके शरीर पर चमकते हुए सुन्दर (बत्तीस) लक्षण होते है, वह यदि घर से निकलता है, तो क्लेशों को जीतने वाला बुद्ध होता है।

इम ईदृशी विभूति पूजार्थं निर्मिता जिनसुतेभिः ।
तं नूनमग्रसत्त्वो ह्यग्राहुतिसंप्रतिग्राही ॥1014॥

बोधिसत्त्वो ने पूजा के लिए इस प्रकार की यह विभूति (ऋद्धि बल से) बनाई है । इससे यह निश्चित है कि (ये) अग्रसत्व अग्रपूजा पाने के अधिकारी है ।

ऊर्णा यथा सुविमला विराजते क्षेत्रकोटिनयुतेषु ।
जिह्मीकृता स्म च तया निसंशयं एष मारबल हन्ता ॥1015॥

जिस प्रकार, अत्यन्त निर्मल ऊर्णा कोटि—खर्व-खर्व (बुद्ध-) क्षेत्रों मे विराज रही है, उससे (हम सब) निष्प्रभ हो गए है, (उससे स्पष्ट है कि) ये निःसन्देह मारबल को ध्वस्त करेंगे ।

=233क=मूर्ध्नं यथास्य देवैर् द्रष्टु[14] न शक्यं च[14] वै भवाग्रस्थैः ।
नूनं सर्वज्ञत्वं प्राप्स्यत्यन्यैरनुपदिष्टं ॥1016।

जिस प्रकार, भव की चोटी पर खड़े देवता भी इनका माथा निहारने की हिम्मत नही करे, (उससे प्रकट है कि) निश्चय ही, दूसरो द्वारा उपदेश न दी गई सर्वज्ञता को (ये) प्राप्त करेंगे ।

13. मूल, (भूयो) व्रतचारिणस् । भोट, बर्तुल् शुग्स् स्योद् प पो (=व्रतचारिणः) ।

14....14. मूल, न शक्यं न । भोट, मि नुस् (=न शक्यं) । दो निषेधवाचक होने से अर्थ संगति नही बैठती ।

यथ मेरुचक्रवाडाश्चन्द्रासूर्यश्च शक्रब्रह्माणः ।
वृक्षाश्च पर्वतवराः प्रणते सर्वे महीमण्ड ॥1017॥
निःसंशयु पुण्यवली प्रज्ञावलवांश्च ज्ञानवलवांश्च ।
क्षान्तिवल[15] वीर्यवलवान् अवलं कर्ता नमुचिपक्षां ॥1018॥

जिस प्रकार-सुमेरु, चक्रवाल(-पर्वत), चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, ब्रह्मा, वृक्ष तथा श्रेष्ठ पर्वत सब के सब धरती पर के (बोधि-) मण्डप को प्रणाम कर रहे हैं, (उससे स्पष्ट है कि) पुण्य के वली, प्रज्ञा में बलवान्, ज्ञान में बलवान्, क्षान्ति (=क्षमा) वल के, वीर्य (=उद्योग) मे बलवान् ये नमुचि (=मार) के पक्ष (-पातियों) को वलहीन कर देंगे ।

हस्ती यथामभाण्डं प्रमर्दते क्रोष्टुकान् यथा सिंहः ।
खद्योतं वादित्यो भेत्स्यति सुगतस्तथा सेनां ॥1019॥

जैसे हाथी कच्ची हांड़ी का, जैसे सिंह सियारों का अथवा जैसे सूर्य जुगनू का मर्दन करता है, वैसे ही (ये) सुगत (मार-) सेना का मर्दन करेंगे ।

39. यह सुन कर (एक) दूसरा मारपुत्र रोप से लाल-लाल आँखें करके बोला—

(छंद उपजाति)

एकस्य वर्णान् अति-अप्रमेयां
प्रभाषसे तस्य त्वमेकस्य ।
एको हि कर्तुं खलु किं समर्थो
महाबला पश्यसि किं न भीमा ॥1020॥

तुम उन एक की—अकेले की बहुत बे-माप बड़ाई-पर बड़ाई बखान रहे हो, पर एक कर ही क्या सकता है ? इस भयकर महासेना को क्यों नही देखते ।

40. इसके अनन्तर दाहिने पास से प्रमर्दक नाम के मारपुत्र ने कहा—

(-317-) सूर्यस्य लोके न सहायकृत्यं
चन्द्रस्य सिंहस्य न चक्रवर्तिनः ।
बोधौ निषण्णस्य च निश्चितस्य
न बोधिसत्त्वस्य सहायकृत्यं ॥1021॥

जगत् में न सूर्य को सहायक द्वारा कुछ करना होता है, न चन्द्रमा, सिंह, और चक्रवर्ती को और न बोधि के निमित्त निश्चय करके बैठे हुए बोधिसत्त्व को (ही) सहायक द्वारा कुछ करना होता है ।

15. मूल, क्षान्तिबल(वांश्च) । भोट, ब्भोद् प हि, स्तोब्स् (= क्षान्तिबलः) । वांश्च की वृद्धि केवल छन्दोभंग करती है ।

41. इसके अनन्तर, मार को दुर्बल करने के लिए, बोधिसत्त्व ने सौ पंखड़ियों वाले खिले कमल के समान अपने वदन को इधर-उधर घुमाया, जिसे देखकर बड़ा पापी मार भागने लगा। उसे लगा कि मेरी सेना बोधिसत्त्व के[16] वदन मे घुस गई है[16]=233ख=[17] दौड़ता हुआ कुछ नही है[17] यह (देख) फिर, लौट कर, परिवार सहित नाना प्रकार के हथियार बोधिसत्त्व पर छोड़े। (उसने) सुमेरु के बराबर जो पर्वत बोधिसत्त्व के ऊपर फेंके, वे फूलो के चँदवे पर, विमान बन कर, ठहर गए। और जो देखने भर से विष चढ़ाने वाली, शीघ्र विष चढ़ाने वाली, साँस लेने भर से विष चढ़ाने वाली, अग्निज्वालाएँ उसने छोड़ी, वे अग्नि की ज्वालाएँ मंडल बन कर बोधिसत्त्व के प्रभामण्ड जैसी होकर ठहर गईं।

42. इसके अनन्तर, फिर बोधिसत्त्व ने दाहिना हाथ सिर पर फेरा। मार को दिखाई पड़ा कि बोधिसत्त्व के हाथ में खाँड़ा है। वह दक्षिण की ओर मुँह करके भागने लगा। कुछ नहीं है यह (देख) फिर लौटा लौट कर, बोधिसत्त्व के ऊपर नाना प्रकार के हथियार छोड़े (यथा—) तलवारें, धनुष, बाण, बछियाँ, तोमर (=लोहे की नोक से युक्त बाँस की लाठियाँ), फरसे, भुशुण्डियां (=अग्नि-वाण) मूसल, कटीले बर्छे, गदाएँ, चक्र, वज्र, मुद्गर, पेड़, शिलाएँ, पाश (=फांसी लगाने की रस्सियाँ) लोहे के गोले, जो अत्यन्त भयानक थे। वे ज्यों ही फेंके गए, त्यो ही नानाप्रकार के फूलों की हार और फूलों के चँदवे जैसे बन कर=234क=ठहर गए, धरती पर फेके गए फूलों की तरह बिखेरते हुए, और फूलों की मालाओ की तरह लटक कर बोधिवृक्ष को विभूषित करते थे। उन व्यूहों (=रचनाओं) को और (उस) विभूति को देखकर ईर्ष्या से तथा मात्सर्य (=अनुदारता) से चित्त मे घायल होकर बोधिसत्त्व से बोला—हे राजकुमार, उठो, राज्यभोग करो, (बस) तुम्हारा पुण्य उतने भर के लिए है, तुम्हे मोक्ष की प्राप्ति कहाँ ?

43. (–318–) इसके अनन्तर, बोधिसत्त्व ने धीर, गंभीर, उदार, स्नेह से भरी, मीठी वाणी द्वारा, बड़े पापी मार से यह कहा। हे महापापी, तूने केवल एक निर्गल-यज्ञ करके कामेश्वरता (=कामधातु के लोको की प्रभुता) पाई है, पर

16....16. मूल, वदनंप्रतिष्ठेति (=वदन में ठहरी है)। भोट, पाठ भी इसी पाठ का समर्थक है—ख हि. नङ् दु शुग्स् सो। वदनं प्रविष्टेति पाठ मान कर यहाँ अनुवाद ।

17....17. मूल, प्रपलानः। भोट, ब्रोस् नस् क्यङ् चि ह.म् म यिन् नो (=प्रपलानः न किंचिदिति)। भोट-पाठानुसार यहाँ अनुवाद है।

मैने अनेक कोटि-खर्बों के शतसहस्र निरर्गल-यज्ञ किए है, हाथ, पैर, नेत्र, उत्तम अंग (सिर) काट-काट कर दिए है, घरबार, धन, धान्य, सेज-पलंग, सैर करने के बाग-बगीचे अनेक बार दिए है, (केवल-एक मात्र) प्राणियों के मोक्ष प्राप्त कराने के उद्देश्य से ।

44. इसके अनन्तर बड़े पापी मार ने गाथा द्वारा बोधिसत्त्व से कहा—

(छंद उपजाति)

यज्ञो मयेष्टस्त्वमिहात्र साक्षी
निरर्गडः पूर्वभवे ऽनवद्यः ।
तवेह साक्षी न तु कश्चिदस्ति = 234ख =
किञ्चित् प्रलापेन पराजितस्त्वं ॥1022॥

पहले के भव (=जन्म) में प्रशंसा के योग्य निरर्गल यज्ञ मैंने किया है, यह इस विषय मे तुम साक्षी हो । यहाँ तुम्हारा साक्षी तो कोई नही है । कहने (भर से क्या ? तुम पराजित हो ।

45. बोधिसत्त्व ने कहा—हे महापापी, यह पृथिवी मेरी साक्षिणी है ।

इसके बाद मार तथा मार की मण्डली को मैत्री और करुणा से समन्वि चित्त द्वारा व्याप्त कर, (स्वयं) सिंह के समान निडर, बिना घबराहट के, वि निश्चेष्टता के, अदीन, अलीन, अव्याकुल, बिना अस्तव्यस्तता के, भय के कार होने वाले रोमाञ्च से रहित बोधिसत्त्व ने शंख, ध्वजा, मछली, स्वस्तिक, अंकु एवं चक्र के चिह्नों से युक्त (रेखा–) जाल के वितान (=ताने-बाने) से बाँधा हु अत्यन्त सुन्दर ताँबे के समान (लाल) नखो से अलकृत कोमल तरुण एवं सुकुम अनन्त कल्पों तक अपरिमित कुशलमूल (=पुण्यमूल) के संभार (=सामग्री) संपन्न करने वाला अपना दाहिना हाथ सारे शरीर पर फिरा कर लीला के स धरती पर मारा और उस समय यह गाथा कही ।—

(छंद वंशस्थ)

इयं मही सर्वजगत्प्रतिष्ठा
अपक्षपाता सचराचरे समा ।
इयं प्रमाणा मम नास्ति मे मृषा
साक्षित्वमस्मि मम संप्रयच्छतु ॥1023॥

यह पृथिवी संपूर्ण जगत् का आधार है, पक्षपात-रहित है, स्थावर एवं (दोनो) के लिए समान है । यह मेरी साक्षिणी है । मेरा कहना मिथ्या नही इस (विषय) मे यह मेरी गवाही दे ।

बोधिसत्त्व के छूने भर से, यह महापृथिवी छह प्रकार से, काँप उठी—वेग से काँप उठी—चारों ओर से सवेग काँप उठी—टनक उठी—वेग से टनक उठी—चारों ओर से सवेग टनक उठी। =235क= जिस प्रकार मगध देश की काँसे की बनी पात्री काठ की टक्कर से बजती है और गूँजती है, (–319–) उसी प्रकार यह महापृथिवी बोधिसत्त्व के हाथ की टक्कर से बज उठी और गूँज उठी।

46. [18]इसके अनन्तर, इस[18] त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोकधातु में स्थावरा नाम की (जो) महापृथिवी देवता थी, उसने कोटि-शत पृथिवी-देवताओं के परिवार के साथ, संपूर्ण महापृथिवी को चारों ओर से सवेग कँपा कर, बोधिसत्त्व से थोड़ी दूर पर, पृथिवी के तल को भेद कर, आधा शरीर ऊपर निकाल कर, सब अलंकारों से सजे-धजे शरीर को, जिस ओर बोधिसत्त्व थे, उस ओर झुका कर, अञ्जलि बाँध कर, यह कहा—हे महापुरुष, यही बात है, (ठीक) यही बात है, जैसा तुमने कहा, वह हम (–सब) को प्रत्यक्ष है। इसके अतिरिक्त हे भगवन्, देवताओं के सहित इस लोक के तुम्ही सबसे बड़े सच्चे साक्षी हो, सच्चे प्रमाण हो। ऐसा कह कर, महापृथिवी की देवता स्थावरा बड़े पापी मार को अनेक प्रकार से फटकार कर, बोधिसत्त्व की बहुत-बहुत स्तुति कर, अपना विविध प्रभाव दिखला कर, परिवार सहित =235ख= वहीं पर अन्तर्हित हो गई।

(छंद वसन्ततिलका)

तं श्रुत्व मेदिनिरवं स शठः ससैन्यः
उत्त्रस्त भिन्नहृदयो प्रपलान् सर्वे।
श्रुत्वे सिंहनदितं हि वने शृगालाः
काकाव लोष्टुपतने सहसा प्रणष्टाः ॥1024॥

उस पृथिवीघोष को सुन कर सेना के सहित वह वंचक घबराया, (उसका) हृदय फटने लगा, (वह) सब ओर (उस प्रकार) भागने लगा, जिस प्रकार वन में सिंहनाद सुनते ही शृगाल भागते है, जिस प्रकार ढेला फेकने पर अकस्मात् कौए नौ-दो-ग्यारह हो जाते है।

47. इसके अनन्तर, बड़ा पापी मार दुःखी हुआ, अनमन हुआ, मन में अप्रसन्न हुआ, मान के ऊपर चोट पड़ने से लजा गया, न हिला-डुला, न लौटा, न भागा। फिर पीछे मुँह फेर खड़े होकर सेना से संबोधन कर कहा—आप सब

18....18. मूल, अथ खलु यस्यां। यदि यह पाठ अथ खलु-य्-अस्या हो तो अर्थ संगत है। अस्यां से पूर्व यकारागम मुखसुखार्थ है। यहाँ यस्यां यत्—सर्वनाम का रूप नहीं है। भोट में इसका अनुवाद ह्दि न (=अस्यां) शब्द से होना भी यही बतलाता है।

लोग एकसाथ मुहूर्त भर (तब तक) ठहरें, जब तक हम जान लें कि क्या इन्हें अनुनय-विनय से उठाया जा सकता है, इस प्रकार के पुरुषरत्न का यों ही नाश न हो।

48. (–320) इसके अनन्तर बड़े पापी मार ने अपनी पुत्रियों से कहा। तुम (–सब) कन्यकाओ, जाओ, बोधिमण्डप पर पहुँच कर, बोधिसत्त्व के विषय में जानने की चेष्टा करो कि वे रागी हैं, अथवा वैरागी ? ज्ञानी हैं अथवा अज्ञानी ? अन्धे (= दिशामूढ) हैं अथवा दिशाओं के अभिज्ञ हैं ? अथवा अर्थ-परायण (अपने मतलब से मतलब रखने वाले) हैं ? दीन हैं अथवा धीर हैं ? इस वचन को सुन कर वे अप्सराएँ जहाँ बोधिमण्डप था, और जहाँ बोधिसत्त्व थे, वहाँ पहुँची। पहुँच कर, बोधिसत्त्व के सामने ठहर कर (उन्होंने) बत्तीस प्रकार की स्त्री माया को दिखाया। बत्तीस प्रकार की कौन सी (माया) ? यथा—
= 236क = 1 कोई अपना आधा वदन ढकती थी, 2 कोई ऊँचे-ऊँचे ठोस पयोधरों को दिखलाती थीं, 3 कोई आधी-आधी हँसी हँस कर दन्तपंक्ति दिखलाती थीं, 4 कोई बाँहे उठा कर जँभाई ले-ले अपनी काँखें दिखलाती थीं, 5 कोई बिम्बा फल के समान (अपने लाल-लाल) होठों को दिखलाती थी, 6 कोई अध-खुली⁂ आँखों से बोधिसत्त्व को देखती थी, देख कर (फिर उन्हें) झट-पट मूँद लेती थी, 7 कोई आधे ढँके पयोधरों को दिखलाती थी, 8 कोई करधनी के साथ वस्त्र खिसका कर (अपनी) कमर को दिखलाती थी, 9 कोई करधनी के साथ पहने हुए पतले वस्त्र में से (चमकती हुई) कमर दिखलाती थी, 10 कोई पायजेबों की रुनझुन धुन करती थीं, 11 कोई पयोधरों के बीच एकलड़ की माला को दिखलाती थी, 12 कोई अपनी नंगी आधी जाँघें दिखलाती थी, 13 कोई सिर-कन्धों पर पत्रगुप्त, शुक और सारिकाओं को बिठा कर दिखाती थीं, 14 कोई आधे कटाक्षों से (= आधी तिरछी चितवनों से) बोधिसत्त्व को देखती थी, 15 कोई भलीभाँति पहने वस्त्रों को भी बेढंगे-ढंग से पहनती थी, 16 कोई कमर मटकाती थी और करधनी हिलाती-डुलाती थी, 17 कोई घबराई जैसी लीला के साथ इधर-उधर चलती फिरती थी, 18 कोई नाचती थी, 19 कोई गाती थी, 20 कोई विलास (= शृंगार के खेल-कूद) करती थी और = 236 ख = लजाती थी, 21 कोई पवन से हिलते हुए केलों के समान अपने अंगों को कँपाती थी, 22 कोई गंभीर (–321–) ध्वनि करती थी, 23 कोई घुँघरूवाल करधनी और वस्त्र पहने हँसती-हँसती घूम रही थी, 24 कोई (अपने) वस्त्र और आभूषण धरती पर छोड़ती थी, 25 कोई गुप्त अंग प्रकाशित हो

⁂ अक्षरार्थ अधमुँदी (अर्धनिमीलितैः)।

जाएँ—इस प्रकार सब आभूषणों को दिखलाती थीं, 26 कोई सुगन्धित (चन्दन आदि) लेप लगी (अपनी) बाँहों को दिखलाती थी, 27 कोई सुगन्धित (चन्दन आदि) लेपों की कूँड़ियाँ दिखलाती थी, 28 कोई घूँघट से वदन छिपाती थी, और क्षण-क्षण मे (उघाड़ कर) दिखाती थी, 29 कोई पहले के हँसी-ठठ्ठों की, रति की एव क्रीड की सुरति कराती थी, और फिर लजाती हुई सी रुक जाती थी, 30 कोई अपने कुँवारे रूपों को, (कोई) सन्तान न उत्पन्न हुए रूपों को, (कोई) मध्यम (वयस के) स्त्री रूपो को दिखलाती थी, 31 कोई कामभाव-सहित बोधि-सत्त्व से बात करती थी, और 32 कोई बोधिसत्त्व पर खिले फूलों को बरसाती थी। सामने ठहर कर (वे) बोधिसत्त्व का भीतरी अभिप्राय जानना चाहती थीं। (उनका) बदन देखती थीं (और भाँपती थी कि) क्या ये प्रेम भरी आँखों से देखते है अथवा आँखें दूर फेकते है, आँखें चलाते है अथवा नही चलाते है। उन्होंने देखा कि बोधिसत्त्व का बदन शुद्ध, राहु से मुक्त पूर्ण चन्द्रमंडल के समान निर्मल सूर्य =237क= के समान उदीयमान, सुवर्णमय यूप के समान (चमकता हुआ) सहस्र-दल कमल के समान खिला हुआ, आहुति पड़े अनल के समान (दीप्त), मेरु के समान अचंचल, चक्रवाल के समान उन्नत है। (उनकी) इन्द्रियाँ सुरक्षित हैं। उनका चित्त हाथी के समान अत्यन्त विनीत है।

49 इसके अनन्तर वे मारकन्याएँ अधिकाधिक बोधिसत्त्व को ललचाती हुई गाथाओ मे बोली—

(छन्द तोटक)

सुवसन्तके ऋतुवर आगतके
रमिमो प्रिय फुल्लितपादपके।
तव रूप सरूप सुशोभनके
वसवर्ति सुलक्षण चित्रितके ॥1025॥

उत्तम, सुन्दर, फूले हुए पेड-पौधों वाला ऋतु वसन्त आ गया है, हे प्रिय, (हम) रमण करे। तुम्हारा रूप सुन्दर रूप है, अत्यन्त शोभावाला है, सुलक्षणों से चित्रित है, (देखने वालो को) अपने वश में कर लेता है।

(–322–) वय जात सुजात सुसंस्थितिका:
सुखकारण देवनराण सुसंस्तुतिका:।
उत्थि लघुं परिभुञ्ज सुयौवनिकं
दुल्लभ (? दुर्लभ) बोधि निवर्तय मानसकं ॥1026॥

हम उत्तम जाति में उत्पन्न हुई है, सुन्दर आकारवाली है, सुन्दर, सब ओर से, (हमारी) स्तुति (की जाती) है कि (हम) देवताओं और मनुष्यों के सुख को निदान हैं। उठो, जल्दी (किसी) सुन्दर यौवनवाली का सब प्रकार से भोग कर, बोधि दुर्लभ है। (उससे) मन फिरा लो।

प्रेक्षसि ताव इमा मरुकन्य सुलंकृतिका
तव कारण सज्जित भूषित आगतिका।
को रूपमिमं समवेक्ष्य न रज्यति रागरतो
अपि जर्जरकाष्ठ व सोषितजीवितको ॥1027॥

जरा देखो, ये सजी-धजी, बनी-ठनी, सुंदरता से अपने को अलंकृत कर, देवकन्याएँ आई हुई है। (इनका) यह रूप निहार कर सड़े-गले काठ जैसा सूखे जीवन वाला भी कौन है, (जो) कामरत हो प्रेम न करने लगे।

केश मृदू सुरभीवरगन्धनिका
मुकुटा-कुण्डल-पत्र-विबोधित-आननिका।
सुललाट सुलेपनआननिका
पद्मविशुद्धविशालसुलोचनिका ॥1028॥

(इनके) केश कोमल हैं, उत्तम सुगन्ध से सुवासित है, (इनके) वदन मुकुटों से कुण्डलों से तथा पत्र-विशेषकों से खिले हुए है, (इनके) माथे सुन्दर है, चेहरों पर सुन्दर अनुलेपन लगा है, (इनके) नेत्र सुन्दर हैं, कमलों के समान अत्यन्त शुद्ध और विशाल है।

=237ख= परिपूरितचन्द्रनिभाननिका
बिम्बसुपक्वनिभाधरिका।
शङ्खकुण्डहिमशुक्लसुदन्तिनिका
प्रेक्ष कान्त रतिलालसिकां ॥1029॥

हे कान्त, रति की लालसा करने वाली (इन-सुन्दरियाँ को) देखो, जिनके वदन परिपूर्ण चन्द्रमा के जैसे है, जिनके अधर अत्यन्त पके हुए बिम्बाफल के समान है, जिनके सुन्दर दाँत शख जैसे, कुन्द जैसे, हिम-जैसे श्वेत है।

कठिनपीनपयोधर-उद्गतिकां
त्रिवलीकृतमध्य सुसुन्दरिकां।
जघनाङ्गन-चारुसुरित्थरिकां
प्रेक्षसु नाथ सुकामिनिकां ॥1030॥

हे नाथ, (इस) सुन्दर कामिनी को देखो, जिसके पयोधर कड़े, ठोस और ऊँचे उठे हुए हैं, जिसकी कमर अत्यन्त सुन्दर, त्रिवली से (सुसंस्–) कृत है, जिसका जघनमण्डल रमणीय और विस्तृत है।

> गजभुजसंनिभऊरणिकां
> वलयनिरन्तरवाहुनिकां । (–323–)
> काञ्चीवरस्रोणिसुमण्डितिकां
> प्रेक्षस्व नाथ इमा तव दासिनिकां ॥1031॥

हे नाथ, इस अपनी दासी को देखो, जिसके उरू हाथी के हाथ के समान हैं, जिसकी बाहे चूड़ियों से पूर्ण है, जिसकी कमर उत्तम करधनी से भलीभाँति भूषित है।

> हंसगतीसुविलम्बितगामिनकां
> मञ्जुमनोज्ञसुमन्मथभासिनिकां ।
> ईदृशरूपसुभूषिणिकां
> दिव्यरतीषु सुपण्डितिकां ॥1032॥
> गीतकवादितनृत्यसुसिक्षितिकां
> रतिकारणजातिसुरूपिणिकां ।
> यदि नेच्छसि कामसुलालसिकां
> सुष्ठु वञ्चितको ऽसि भृसं खलु लोके ॥1033॥

लोक में (तुम) बहुत-बहुत बुरी तरह से वंचित हो, यदि ऐसे रूप से विभूषित (इस) रति की अत्यन्त लालसा वाली को नही चाहते, जिसकी गति हंस के समान मन्द-मन्द है. जिसकी बोली अत्यन्त प्रेम भरी, मन को भाने वाली और मनोहर है, जो दिव्य-रति (–लीलाओ) मे अत्यन्त निपुण है, जो गाने-बजाने और नाचने में भलीभाँति शिक्षित है, जो रति के लिए (उत्तम) जाति की (=पद्मिनी) है और अत्यन्त रूपवती है।

> निधि दृष्ट्वा यथा हि पलायति को चि नरो
> धनसौख्यमजानकु मूढमनो ।
> त्वमपि तथैव हि रागमजाननको
> य स्वयमागतिको नहि भुञ्जति कामिनिकां ॥1034॥

धन के सुख को न जानने वाला, मूढमति, कोई पुरुष जैसे निधि को देख कर भागता है, वैसे ही प्रेम से अपरिचित तुम हो, जो अपने-आप से आई कामिनी से नही रमण करते।

50. हे भिक्षुओ, इसके अनन्तर, पलक न मारते हुए, खिल-खिलाते वदन से, मुसकराते चेहरे से, चंचल इन्द्रियो से, अंगो पर विना बनावटी भाव लाए, रोव के साथ, राग से हीन, द्वेष से रहित, = 228क = मोह से मुक्त, शैलराज के समान न विचलित होने वाले, न लीन होने वाले, न भिन्न होने वाले, न दवने वाले वोधिसत्त्व ने, प्रतिष्ठित प्रज्ञा के कारण, ज्ञान के मुख अर्थात् द्वार के अपने अधीन होने के कारण, क्लेशों के अत्यन्त ही न होने के कारण, स्निग्ध और मधुर वाणी द्वारा, ब्रह्मा से भी अधिक विशेषता वाले घोष के साथ, चटक के जैसे चहचहाने वाले मन को भाने वाले मनोहर स्वर से, गाथाओ में मारकन्यकाओं से कहा—

(छंद चतुर्दशाक्षरी गाथा)

कामा भो बहुदुःखसंचया दुःखमूला
ध्यानर्द्धीतपसं च भ्रंसनी अवुधानां।
(–324–) नस्त्रीकामगुणेभि तृप्तितां विदु–म्–आहुः
प्रज्ञातृप्तिकरो भविष्यहं अवुधानां ।।1035।।

हे (अप्सराओं), काम दुःख के मूल है, बहुत दुःख बटोरने वाले है, अज्ञानी को ध्यान, ऋद्धि एवं तप से गिराने वाले है। विद्वान् (लोग) स्त्रियों के साथ काम (भोगों) के गुणो से तृप्त होने की बात नही करते। मैं प्रज्ञा के द्वारा अज्ञानियों का तृप्ति करने वाला होऊँगा।

कामां सेवयतो विवर्धते पुन तृष्णा
पीत्वा वै लवणोदकं यथा नरु कश्चि।
नात्मार्थे न परार्थि भोतिहा प्रतिपन्नो
आत्मार्थे च परार्थं उत्सुको भविताहं ।।1036।।

कामभोगी की तृष्णा और भी बढ़ती है, जैसे खारी पानी पीने वाले की प्यास बढती है। इन (कामो) में विहार करने वाला न अपनी अर्थसिद्धि करता है, न पराई अर्थसिद्धि करता है। मैं अपनी अर्थसिद्धि की तथा पराई अर्थसिद्धि की लगन में लगा हुआ हूँ।

फेनाबुद्बुद्तुल्यसंनिभं तव रूपं
मायारङ्गमिवा विथापितं स्वमतेन।
क्रीडा वै सुपिनेव अध्रुवा अपिऽनित्या
बालानां सद चित्तमोहना अवुधानां ।।1037।।

तुम्हारा रूप फेन के वुलबुले जैसा (क्षणिक) है, माया के रंग (–मंच पर खेल) के समान (वह) अपने मन का उपजाया (खेल) है। (तुम्हारे साथ) क्रीड़ा

भी स्वप्न-जैसी अनित्य है, न टिकने वाली है, (वह) सदा अज्ञानी बालकों के चित्त को मोहित करती है।

नेत्रा बुद्बुद्तुल्यसादृशा त्वचनद्धाः=238ख=
कठिनं शोणितपिण्डमुद्गतं यथा गण्डं।
उदरो मूत्रपुरीषसंचयो अशुचोक्षः
कर्मक्लेशसमुत्थितो दुःखयन्त्रः ॥1038॥

नेत्र बुलबुल के जैसे खाल से मढे हैं, रुधिर के ये सकड़े पिंड (=पयोधर) गंड के समान निकल आए हैं, उदर अत्यन्त अपवित्र मल-मूत्र का घर है, (यह) दुःख का यन्त्र (शरीर) कर्म और क्लेश से उत्पन्न हुआ है।

संमूढा यहि बालबुद्धयो न तु विज्ञाः
शुभतो कल्पयमान आश्रयं वितथेन।
संसार बहुकाल संसरी दुःखमूले
अनुभोक्ता निरयेषु वेदना बहुदुःखा ॥1039॥

जिस आश्रय (=शरीर) में, बालबुद्धि के अत्यन्त मूढ़ लोग, असत्य (-भाव) से शुभ कल्पना करते हुए, दुःख के मूल संसार में, बहुत काल तक, भरमते रहते हैं और नरकों में बहुत दुःख की वेदनाओं का अनुभव करते हैं, (उसमें) विज्ञ लोग नहीं भटकते।

स्रोणि प्रस्रवते विगन्धिका प्रतिकूला
ऊरुजङ्घक्रमाश्च संस्थिता यथ यन्त्रं।
भूतं युष्मि अहं निरीक्षमी यथ माया
हेतुप्रत्ययः प्रवर्तथा वितथेन ॥1040॥

कमर झरती रहती है, (वह) दुर्गन्धवाली है, बुरी लगने वाली है। ऊरुओं और जांघों द्वारा पड़ने वाले क्रम (=क़दम) यंत्र जैसे ठहरते हैं। तुम्हें मैं ठीक-ठीक देखता हूँ, (तुम) माया—जैसी हो। झूठे हेतु और प्रत्यय से (तुम) चेष्टा कर रही हो।

(–325–) दृष्ट्वा कामगुणांश्च निर्गुणां गुणहीनां
आर्यज्ञानपथस्य उत्पथां विपथांश्च।
विषपत्राग्निसमां महोरगां यथ क्रुद्धां
बाला अत्र हि मूर्छिता सुखसंज्ञाः ॥1041॥

कामगुण जो निर्गुण हैं, गुणहीन हैं, आर्यों के ज्ञानमार्ग से जिनका मार्ग उलटा है, जिनका मार्ग विरोधी है, जो विषैली पत्तियों और अग्नि जैसे एवं

महोरगों जैसे (घातक) है, उनमें सुख की समझ से (पड़कर) नादान (लोग ही) मूर्छित होते हैं ।

कामा दासु भवीति यो नर प्रमदानां
शीले उत्पथि ध्यायि उत्पथि मतिहीनो ।
ज्ञाने सो हि सुदूरि तिष्ठते रतिलोलो
योऽसौ धर्मरति जहित्वना रमि कामैः ॥1042॥

जो पुरुष काम के कारण प्रमदाओं का दास हो जाता है, वह मतिहीन शील से उलटे मार्ग पर चलता है, ध्यान से उलटे मार्ग पर चलता है । जो कोई धर्मरति छोड़ कर कामों से रमण करता है, वह (काम-) रति मे चंचल हो, ज्ञान से अत्यन्त दूर ठहरता है ।

नो रागेण सही वसाम्यहं न च दोषैः
नो[19] नैनित्यअसुभअनात्मभिर्वसि सार्धं[19] =239क=
[20]आरातीय रतीय संवसे न[20] च सार्धं
निर्मुक्तं मम चित्तु मारतो गगणे वा ॥1043॥

न मेरा राग के साथ वास है, न दोष (= द्वेष) के साथ । न मेरा न-अनित्य (= नित्य) के साथ, न-अशुभ (= शुभ) के साथ, न-अनात्मा (= आत्मा) के साथ (ही) वास है । और न मेरा आरति के साथ (अथवा) रति के साथ ही वास है । मेरा चित्त आकाश में पवन की भाँति मुक्त है ।

पूर्णं सर्वजगत् त्वमीदृशैर् यदिह स्यात्
कल्पं ताभि सहा समोसृतो विहरेयं ।
नो मह्य खिलं न रज्यना न च मोहो
आकाशः समतुल्यमानसा जिन भोन्ति ॥1044॥

19....19) मूल, नैनित्यअसुभअनात्मभिर्वसि सार्धं । भोट, तॅग् दङ् स्दुग् दङ् ब्दग् दङ् ल्हन् चिग् ग्नस् पर ब्येद् म यिन् (= नित्य-शुभ-अनात्मभिः सार्धं न वसामि अथवा वसेयम्) नैनित्य० का अर्थ नानित्य० करके यों अर्थसंगति करनी होगी—नैर्-अनित्य (= नित्य) नैर्-अशुभ (= शुभ) नैर्-अनात्म० (=आत्म) ।

20....20) मूल, आरतीयरतीपसंवसेन । यहाँ पदच्छेद न करना बहुत भ्रामक है । वैद्यने दन्त्योष्म के स्थान में तालव्योष्म किया है । उनको सकारता पर कटाक्ष करना व्यर्थ है । मैंने जो पदच्छेद किया है, उसके लिए भोटानुवाद साधुवादार्ह है—मि द्गर्ह् च दङ् द्गह् दङ् ल्हन् चिग् ग्नस् प म यिन् (= अरत्या च रत्या च सह न संवसामि अथवा संवसे) ।

भी स्वप्न-जैसी अनित्य है, न टिकने वाली है, (वह) सदा अज्ञानी बालकों के चित्त को मोहित करती है।

नेत्रा बुद्बुदतुल्यसादृशा त्वचनद्धाः=238ख=
कठिनं शोणितपिण्डमुद्गतं यथा गण्डं।
उदरो मूत्रपुरीषसंचयो असुचोक्षः
कर्मक्लेशसमुत्थितो दुःखयन्त्रः ॥1038॥

नेत्र बुलबुल के जैसे खाल से मढे हैं, रुधिर के ये सकड़े पिंड (=पयोधर) गंड के समान निकल आए हैं, उदर अत्यन्त अपवित्र मल-मूत्र का घर है, (यह) दुःख का यन्त्र (शरीर) कर्म और क्लेश से उत्पन्न हुआ है।

संमूढा यहि बालबुद्धयो न तु विज्ञाः
शुभतो कल्पयमान आश्रयं वितथेन।
संसार बहुकाल संसरी दुःखमूले
अनुभोक्ता निरयेषु वेदना बहुदुःखा ॥1039॥

जिस आश्रय (=शरीर) में, बालबुद्धि के अत्यन्त मूढ लोग, असत्य (-भाव) से शुभ कल्पना करते हुए, दुःख के मूल संसार में, बहुत काल तक, भरमते रहते हैं और नरकों में बहुत दुःख की वेदनाओं का अनुभव करते हैं, (उसमें) विज्ञ लोग नहीं भटकते।

स्रोणि प्रस्रवते विगन्धिका प्रतिकूला
ऊरूजङ्घक्रमाश्च संस्थिता यथ यन्त्रं।
भूतं युष्मि अहं निरीक्षमी यथ माया
हेतुप्रत्ययः प्रवर्तथा वितथेन ॥1040॥

कमर झरती रहती है, (वह) दुर्गन्धवाली है, बुरी लगने वाली है। ऊरुओं और जाँघों द्वारा पड़ने वाले क्रम (=कदम) यंत्र जैसे ठहरते हैं। तुम्हें मैं ठीक-ठीक देखता हूँ, (तुम) माया—जैसी हो। झूठे हेतु और प्रत्यय से (तुम) चेष्टा कर रही हो।

(–325–) दृष्ट्वा कामगुणांश्च निर्गुणां गुणहीनां
आर्यज्ञानपथस्य उत्पथां विपथांश्च।
विषपत्राग्निसमां महोरगां यथ क्रुद्धां
बाला अत्र हि मूर्छिता सुखसंज्ञाः ॥1041॥

कामगुण जो निर्गुण है, गुणहीन है, आर्यों के ज्ञानमार्ग से जिनका मार्ग उलटा है, जिनका मार्ग विरोधी है, जो विषैली पत्तियों और अग्नि जैसे एवं

महोरगों जैसे (घातक) हैं, उनमें सुख की समझ से (पड़कर) नादान (लोग ही) मूर्छित होते हैं।

काम। दासु भवीति यो नर प्रमदानां
शीले उत्पथि ध्यायि उत्पथि मतिहीनो।
ज्ञाने सो हि सुदूरि तिष्ठते रतिलोलो
योऽसौ धर्मरतिं जहित्वना रमि कामैः ॥1042॥

जो पुरुष काम के कारण प्रमदाओं का दास हो जाता है, वह मतिहीन शील से उलटे मार्ग पर चलता है, ध्यान से उलटे मार्ग पर चलता है। जो कोई धर्मरति छोड कर कामों से रमण करता है, वह (काम—) रति में चचल हो, ज्ञान से अत्यन्त दूर ठहरता है।

नो रागेण सही वसाम्यहं न च दोषैः
नो[19] नैनित्यअसुभअनात्मभिर्वसि सार्धं[19] =239क=
[20]आरातीय रतीय संवसें न[20] च सार्धं
निर्मुक्तं मम चित्तु मारतो गगणे वा ॥1043॥

न मेरा राग के साथ वास है, न दोष (=द्वेष) के साथ। न मेरा न-अनित्य (=नित्य) के साथ, न-अशुभ (=शुभ) के साथ, न-अनात्मा (=आत्मा) के साथ (ही) वास है। और न मेरा आरति के साथ (अथवा) रति के साथ ही वास है। मेरा चित्त आकाश में पवन की भांति मुक्त है।

पूर्णं सर्वजगत् त्वमीदृशैर् यदिह स्यात्
कल्पं ताभि सहा समोसृतो विहरेयं।
नो मह्य खिलं न रज्यना न च मोहो
आकाशः समतुल्यमानसा जिन भोन्ति ॥1044॥

19....19) मूल, नैनित्यअसुभअनात्मभिर्वसि सार्धं। भोट, तंग् दङ् स्दुग् दङ् ब्दग् दङ् ल्हन् चिग् ग्नस् पर ब्येद् म यिन् (=नित्य-शुभ-अनात्मभिः सार्धं न वसामि अथवा वसेयम्) नैनित्य० का अर्थ नानित्य० करके यों अर्थसंगति करनी होगी—नैर्—अनित्य (=नित्य) नैर्—अशुभ (=शुभ) नैर्—अनात्म० (=आत्म)।

20....20) मूल, आरतीयरतीपसंवसेन। यहां पदच्छेद न करना बहुत भ्रामक है। वैद्यने दन्त्योष्म के स्थान में तालव्योष्म किया है। उनकी सकारता पर कटाक्ष करना व्यर्थ है। मैंने जो पदच्छेद किया है, उसके लिए भोटानुवाद साधुवादार्ह है—मि द्गह् ब दङ् द्गह् दङ् ल्हन् चिग् ग्नस् प म यिन् (=अरत्या च रत्या च सह न संवसामि अथक सवसे)।

यदि यह जगत् तुम-जैसियों से भर जाए, और उनके साथ पास-पास सरक कर मैं कल्प भर रहूँ, (तो भी) मुझमे न रुखाई (उत्पन्न) होगी, न राग (उत्पन्न) होगा और न मोह (ही उत्पन्न) होगा। जिनों का मन आकाश के समान निर्लिप्त) होता है।

(छन्द रथोद्धता)

यद्यपीह रुधिरास्थिवर्जिता
देवअप्सर सुनिर्मलाः शुभाः।
तेऽपि सर्वि सुमहद्भये स्थिताः
नित्यभावरहिता अशाश्वताः ॥1045॥

यद्यपि यहाँ पर अप्सराएँ और देवता रुधिर और हड्डियों (की गंदगी) से रहित, अत्यन्त निर्मल और शुभ हैं, तो भी वे सब अत्यन्त महान् भय में पड़े हुए हैं, (वे) नित्यभाव से रहित हैं, अशाश्वत हैं (–सर्वदा एक भाव से टिकने वाले नहीं हैं)।

51. इसके अनन्तर, स्त्रियों की मायाओं मे सब प्रकार से शिक्षित, वे मार-कन्यकाएँ बहुत अधिक मात्रा मे प्रेम की मादकता और प्रेम के अभिमान को उपजा कर, हाव-भाव दिखा कर, अंग-अंग सजा कर, स्त्रीमाया दिखा कर, बोधिसत्व को लुभाने लगी।

52. उस (वषय) में यह (गाथाओ द्वारा) कहा जाता है—

(छन्द वंशपत्रपतित)

तृष्णाऽरती रतिश्च सहिता प्रमदवर मधुरा
मारसमीरिताः सुलडिता त्वरितमुपगताः।
वायुसमीहिता किसलयास्तरुणतरुलता
नृत्तत लोभयं नृपसुतं द्रुमविटपगतं ॥1046॥

मार की प्रेरणा से अत्यन्त ललित, मिठास भरी, तृष्णा, अरति और रति (नाम की) उत्तम प्रमदाएँ साथ-साथ आकर वायु से चलित पल्लवों तथा बाल-तरुओं एवं लताओं की भाँति, नाच-नाच कर, (बोधि–) वृक्ष के नीचे बैठे राजकुमार को लुभाने लगी।

एष वसन्तकालसमयः प्रवर ऋतुवरो
नारिनराण हर्षणरो निहतमुरजः।
कोकिलहंसमोररविशा=239ख=द्विजगणकलिलः
काल उपस्थितोऽनुभतुं मदनगुणरति ॥1047॥

यह अत्युत्तम वसन्त का समय है, उत्तम ऋतु है, (यह) स्त्रियों और पुरुषों को हर्षित करता है, इसमें (लोग) मृदंग बजाते हैं, कोयल, हंस और मोर (कल-) रव करते हैं, पखेरुओं की भीड़ लग जाती है। (यह) कामगुणों के साथ आनन्द लेने का समय हाथ आया है।

कल्पसहस्रशीलनिरतो व्रततपचरितो
निश्चल शैलराजसदृशस्तरुणरविवपुः।
मेघनिनादवल्गुवचनो मृगपतिनिनदो
वचनमुवाच सोऽर्थसहितं जगति हितकरः ॥1048॥

सहस्रों कल्पों तक निरन्तर शील में रमे हुए, व्रत और तप की चर्या वाले, पर्वतराज के समान निश्चल, बाल-सूर्य के जैसे शरीर के, मेघध्वनि के समान मनोहर वचन बोलने वाले, वे जगत् के हितकारी सिंहनाद करते हुए सार्थक वचन बोले।

काम विवाद वैर कलहा सरण भयकरा[21]
बालजनोपसेवित सदा बुधजनरहिता।
प्राप्तऽयु कालु यत्र सुगतैरमृतमधिगतं
अद्य भविष्य मारु जिनिया दशबलु अरहान् ॥1049॥

काम विवाद (-रूपी) है, वैर (-रूपी) है, कलह (-रूपी) है, सरण है—अर्थात् क्लेश से युक्त है, भयकारक है, सर्वदा इनका सेवन बालजन(=मूढ़जन) करते हैं, बुधजनों ने इन्हें त्याग रक्खा है। यह समय हाथ आया है, जिसमें सुगतों ने अमृत-लाभ किया था। आज मार को जीत कर (मैं) दशबल अर्हत् होऊँगा।

माय निर्दशयन्तिय वदं, शृणु कमलमुख।
राजु भविष्यसेश्वरवरः क्षितिपति बलवान्।
तूर्यसहस्र संप्रभनिते प्रमदवरगणे
किं मुनिवेषकेन भवतो विरम रति भज। ॥1050॥

माया दिखाती हुई, (वे) बोली—हे कमलमुख, सुनो। (तुम) पृथिवी के अधिपति, उत्तम-ईश्वर, बलवान् राजा होओगे। सहस्रों वाद्यों द्वारा सब ओर से अलापती हुई, (इन) प्रमदाओं के बीच रमण करो। छोड़ो, तुम्हारे (इस) मुनिवेश में क्या रक्खा है।

21. मूल, कामविवाद वैरकलहा मरणभय करा। यह पदच्छेद ठीक नहीं है। काम उद्देश्य पद है, अन्य सब विधेय-विशेषण हैं। मरण के स्थान में भोट, ञोन् मोङ्स् ब्चस् (=सरण)। रण का अर्थ यहाँ क्लेश है। सभी विधेय-विशेषण पृथक्-पृथक् पठनीय हैं।

53. (–327–) बोधिसत्व बोले—

भेष्यि अहं हि राजु त्रिभवे दिवि भुवि महितो
ईश्वरु धर्मचक्रचरणो दशबलु बलवान् ।
शैक्ष्यअशैक्ष्यपुत्रनयुतैः सततसमितमभिनतो
धर्मरती रमिष्यि विषयैर्न रमि रमति मनः ॥1051॥

निश्चय ही मैं तीनो भवों का राजा, देवलोक मे और पृथ्वी लोक मे प्रशंसित ईश्वर, धर्मचक्र चलाने वाला, दशबलों का, बली होऊगा । शैक्ष्य और अशैक्ष्य (=अर्हत्) खर्व-खर्व पुत्रो द्वारा एक-साथ सर्वदा नमस्कृत हो धर्मरति से रमण करूँगा । विषयों से रम कर (मेरा) मन आनन्दित नही होता ।

54. वे=240क= बोली—

याव यौवनं न गलितं प्रथमवयधरो
याव च व्याधि नाक्रामति ते न च जरा असिता ।
याव च रूपयौवनधरो वयमपि च सुखी
तावऽनुभुङ्क्ष्व कामरतयः प्रहसितवदनः ॥1052॥

जब तक (तुम्हारी) जवानी नही बीतती (और) नई वयस बनी है, जब तक तुम्हे व्याधि नही कुचलती और जरा नहीं आती तथा जब तक हम (–सब) भी रूपवती एवं जवान है और सुखी है, तब तक विहसते वदन के (तुम) काम-रतियों का अनुभव करो।

55. बोधिसत्व बोले—

याव च दुल्ल (?र्ल) भोऽद्य लभितः क्षणवर अमृतो
याव च वर्जिताऽक्षणदुःखा[22] असुरसुरपुरे ।
याव जरा च व्याधिमरणं[23] न कुपित रिपुवं[23]
तावऽहु भावयिष्यि सुपथं अभयपुरगमं ॥1053॥

22. मूल, क्षणदुःखा । भोट, मि खोम् स्दुग् ब्स्ङ्ल् (=अक्षणदुःखम्) क्षण से पूर्व अकार-लोप सूचक अवग्रह अपेक्षित है ।

23....23 न कुपितरुपर्वं । प्रो० एड्जर्टन् रूपवंस् पढने का परामर्श देते है (देखिए बु० हा० सं० डि० रूप शब्द) तथा रूप शब्द के अर्थ में० रूप० को लेते है । भोटानुसार रिपवः पाठ रुपर्व के स्थान में होना चाहिए । संभवतः पाठ रिपुव (= रिपवः) था । तुलनीय भोट, द्ग्र यिस् द्क्रुगस् प म ग्युर् प (=न कुपिता रिपवः, रिपुभिः कुपितैर्न भूयते) ।

जब तक, आज मिला दुर्लभ, अमृत एवं उत्तम क्षण (हाथ में) है, जब तक देव और असुर नगर के अक्षण-दुःख (अर्थात् अत्यन्त दीर्घ आयु होने के दुष्ट-क्षण का दुःख) दूर है, और जब तक जरा, व्याधि और मरण (—रूपी) शत्रु कुपित नहीं होते, तब तक अभयपुर (=निर्वाण) को ले .ो वाले सुन्दर मार्ग की भावना करूँगा।

56. वे बोलीं—

देवपुरालयेऽप्सरवृतस्त्रिदशपतिरिव।
यामसुयामसंतुषितके अमरवरस्तुतो।
मारपुरे च कामरतयः प्रमदवसगतः
क्रीड्यऽनुभुङ्क्ष्व अस्मभि सहा विपुलरतिकरः ॥1054॥

देवनगरी के महल मे इन्द्र के समान अप्सराओं से घिरे रह कर, याम (—देवों), सुयाम (—देवों), तथा तुषित (—देवो) के लोक मे उत्तम देवताओं द्वारा प्रशंसित होकर तथा कामपुर में प्रमदाओं के वश में रह कर, हम लोगों के साथ क्रीड़ा कर, विपुल रति उपजाने वाले (तुम) कामरतियों का उपभोग करो।

57. बोधिसत्त्व बोले—

(—328—) काम तृणाग्र[24]—बिन्दुचपला सरदघनसमा।
पन्नगकन्यरोषसदृशा भृसभयकरणा।
शक्रसुयामदेवतुषिता नमुचिवसगताः
कोऽत्र रमेत नार्यऽभिलषिते व्यसनपरिगते ॥1055॥

काम तिनकों की नोकों पर पड़े (जल—) बिन्दु के समान टपक पड़ने वाले है, शरद् (ऋतु) के मेघों के समान (अस्थिर) है, सर्पकन्या के रोष के समान अत्यन्त भय उपजाने वाले है। इन्द्र, सुयाम तथा तुषित देवता मार के वश में रहते है। अनार्यो के द्वारा चाहे गए, दुःखों से व्याप्त इन (कामो) में कौन रमे?

24. मूल, तृणास०। भोट, र्त्स्वं र्चे हि (=तृणाग्रस्य, तृणाग्र०)। वैद्यजी ने तृणोस० शोधन उपस्थित किया है, वह विचारणीय है। भोटसाक्ष्य पर मैंने तृणाग्र० पाठ स्वीकार किया है।

58. वे बोली—

=240ख=पुष्पित पश्यिमां तरुवरां तरुणकिसलयां
कोकिलजीवजीवकरुता मधुकरविरुता।
स्निग्धसुनीलकुञ्चितमृदुं धरणितलरुहे
किन्नरसंघ[25] सेवितवने रमसु युवतिभिः ॥1056॥

इन उत्तम तरुओं को देखो, जो फूलों से लदे हैं, जिन पर नए दल लगे हैं, जिन पर कोयल कूक रहे हैं, चकोर बोल रहे हैं, और भौरे गूँज रहे हैं। किनरगण से सेवित इस वन में धरती-तल से उगी चिकनी, अत्यन्त हरी-हरी, छल्लेदार घास पर, युवतियों के साथ रमण करो।

59. बोधिसत्त्व बोले—

कालवशात् पुष्पित इमे किसलयतरवो
भुक्षपिपासिता मधुकराः कुसुममभिगताः।
भास्करु सोषयिष्यति यदा धरणितलरुहां
पूर्वजिनोपभुक्तममृतं व्यवसितमिह मे ॥1057॥

ये पत्तों के सहित पेड़ ऋतु के कारण फूले हुए हैं, भूखे-प्यासे भौरे फूलों के पास गए हैं। धरती से उगी घास को जब सूर्य सुखा देगा, (तब भी) पूर्व-काल के बुद्धों द्वारा सेवित अमृत का मैं निश्चय से यहाँ सेवन कर सकूँगा।

60. मारकन्यकाएँ बोली—

प्रेक्षहि ताव चन्द्रवदना नवनडिनिनिभा
वाच मनोज्ञ श्लक्ष्ण दशना हिमरजतनिभा।
ईदृश दुल्ल(? र्ल)भा सुरपुरे कुत मनुजपुरे
ते त्वय लब्ध ये सुरवरैरभिलषित सदा ॥1058॥

(इन) नई पद्मिनियो की सरीखी चन्द्रमुखियों को तो देखो, (कैसी–इनकी) मन भाने वाली स्नेहभरी बोली है, (कैसे इनके) दाँत हिम-जैसे, चाँदी-जैसे चमक रहे है। ऐसी देवनगरी मे (भी) दुर्लभ है, मनुष्यनगरी मे होगी कहाँ से। जिनकी उत्तम देवता सर्वदा अभिलाषा करते है, वे तुम्हे मिल गई हैं।

25. मूल, किं नरसिंह। भोट, मि चि छोगस् क्यिस् (=किन्नरसंघेन) मूल में किन्नरसंघ को एक पद मानने से ही अर्थ ठीक बैठता है।

61. बोधिसत्व बोले—

पश्यमि कायममेध्यमशुचि कृमिकुलभरितं
जर्जरमित्वरं च भिदुरं असुखपरिगतं।
(–329–) यत्सचराचरस्य जगतः परमसुखकरं
तत्पदमच्युतं प्रतिलभे बुधजनमहितं ॥1059॥

(मैं) देखता हूँ—काय अमेध्य (=अपवित्र) है, अशुचि (=गंदा) है, कीटकुल से भरा है, जर्जर है, (एक दिन) चलाजाने वाला है, टूट जाने वाला है, असुख से व्याप्त है। जो इस सचराचर जगत् का परम सुख करने वाला, च्युत (=पतित) न होने वाला, बुद्धिमानों से प्रशंसित पद है, उसे मुझको प्राप्त करना है।

62. (इसके अनन्तर—)

ता चतुषष्टि कामललितानि च–म्–अनुभविया
=241क= नूपुरमेखला अभिहनी विगलितवसना।
कामसराहताः समदनाः प्रहसितवदनाः
किं तव आर्यपुत्र विकृतं यदि न भजसे ॥1060॥

वे चौंस० कामलीलाओं की अनुभवी, (अपने) वस्त्र गिरते-गिरते जैसे करती हुई नूपुरों (=पायजेबों) और मेखलाओं (=करधनियों) की झनकार करने लगी। काम से भरी, कामबाण से ताडित, अत्यन्त हँसते वदन वाली वे बोलीं—हे आर्यपुत्र, हमने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, जो हमे नहीं भजते।

सर्वभवेषु दोष विदितोऽवचि विधुतरजा।
काम ऽसिशक्तिशूलसदृशाः समधुक्षुरसमाः।
सर्पशिरोऽग्निकर्षुसदृशाः सुविदित इह मे
तेनऽहु नारिसंघ त्यजमी गुणहर प्रमदाः ॥1061॥

सब भवों के दोष जानने वाले, रजोगुण हीन (भगवान्) बोले। काम खाँडे-जैसे, बरछी-जैसे, शूल-जैसे (घातक) हैं, मधु से लिपटे छुरे-जैसे (मीठे लगने पर भी घायल करने वाले) हैं, साँप के सिर-जैसे, आग के गढ़े-जैसे (दाहक) हैं—यह मैंने यहाँ भली भाँति जान लिया है। स्त्रियां गुण हरने वाली हैं, इसलिए मैं स्त्री-समूह को त्यागता हूँ।

ता बहुभिः प्रकारनयुतैः प्रमदगुणकरैः
लोभयितु न शेकु सुगतं गजकरभगति ❀।

❀ गजकरभ (=गजकलभ, करिकलभ) आलंकारिकों का प्रिय प्रयोग है। वामन के अनुसार प्रौढ़ हाथी—जैसे हाथी के बच्चे को करिकलभ कहते

लज्जि हिरोत्रपातु मुनिन प्रपतिषु चरणे
गौरवु तुष्ट प्रेम जनिया स्तविषु हितकरं ॥1062॥

वे स्त्रियों के गुण दरसाने वाले बहुत से सर्व-सर्व प्रकारों द्वारा गजकलभ (= तरुणगज) की जैसी गति के सुगत को न लुभा सकी। ह्री (= आत्मलज्जा) और अपत्रता (= लोकलज्जा) से लजा कर मुनि के चरणों पर पड़ी, तथा गौरव, संतोष एवं प्रेम उपजा कर (उन) हितकारी की स्तुति करने लगी।

निर्मलपद्मगर्भसदृशा सरदिशशिमुखा
सर्पिहुतार्चितेजसदृशा कनकगिरिनिभा।
सिध्यतु चिन्तिता ति प्रणिधि भवशतचरिता
स्वातुपतीर्य तारय जगद् व्यसनपरिगतं ॥1063॥

हे निर्मल कमल के गर्भ के समान (कोमल), हे शरद् के चन्द्र के समान (सुन्दर), हे घी की आहूति पड़ी अग्नि के तेज के समान (तेज वाले), हे सैकड़ों जन्मों तक (-बोधि) चर्या करने वाले, तुम्हारे (मन का) सोचा हुआ संकल्प सिद्ध हो। स्वयं तर कर दुःख द्वारा सब ओर से व्याप्त जगत् को तारो।

ता कर्णिकारचम्पनिभं स्तविय बहुविधं
कृत्व प्रदक्षिणं अतिशयं गिरिरिव अचलं।
गत्व पितुर्निपत्य शिरसा इदमवचि गिरं = 241ख =
साध्वसनं[26] हि तात प्रतिघं अमरनरगुरोः ॥1064॥

वे कनेर और चंपे जैसी (सुन्दरियाँ) बहुत प्रकार से स्तुति कर, पर्वत के समान अचल (बोधिसत्त्व) की प्रदक्षिणा कर, लौट कर (अपने) पिता को सिर से नमस्कार कर, यह वचन बोली हे तात, देवताओं और मनुष्यों के गुरु (बोधिसत्त्व) के प्रति क्रोध छोड़ देना (हमारे लिए) ठीक है।

(-330-) पश्यति पद्मपत्रनयनः प्रहसितवदनो
नापि सरक्तु प्रेक्षति जनं नापि च सभृकुटिः।
मेरु चलेय शुष्य उदधि शशिरवि प्रपते
नैव स दोषदर्शि त्रिभवे प्रमदवस गमिया ॥1065॥

हैं करिकलभशब्दे करिशब्दस्तद्रूप्यस्य (काव्यालंकारसूत्र 2|2|17)। करी प्रौढकुञ्जरः, तद्रूपः कलभः करिकलभ इति (टीका)।

6. मूल, साध्वस नं। पठनीय साध्वसनं (= साधु असनं)। तुलनीय भोट, स्पङ्स् न लेग्स् (= असनं [= त्यागः] साधु)।

कमल की पंखड़ियों जैसे नेत्र के, अत्यन्त हँसते हुए वदन के, वे देखते हैं, (पर किसी) जन को न सराग निहारते है, न भौंहें (टेढ़ी) कर (सक्रोध) निहारते हैं। चाहे सुमेरु (अपने स्थान से) टल जाए, चाहे सागर सूख जाए, चाहे चन्द्र और सूर्य (आकाश से टूट कर) गिर पड़ें, पर तीनों भवों के दोषदर्शी वे प्रमदाओं के वश में नहीं जा सकते।

63. इसके अनन्तर बड़ा पापी मार इस वचन को सुन कर और भी अधिक मात्रा में दुःखी हो, दुर्मन हो, अप्रसन्न-मन हो, अत्यन्त-दूषित-मन का हो, अपनी पुत्रियों से संबोधन करके बोला। हे (पुत्रियो) बोधिमण्डप से उन्हें क्या किसी प्रकार उठाया नहीं जा सकता? (कहीं) वे मूढ़ न हों अथवा अनभिज्ञ न हों, जो तुम्हारा रूप और आकार-प्रकार नहीं देखते।

64. इसके अनन्तर वे मारकन्यकाएँ गाथाओं द्वारा अपने पिता से बोली—

(छंद चतुर्दशाक्षरी गाथा)

श्लक्ष्णा मधुरं च भाषते न च रक्तो
गुणुह्यं च निरीक्षते न च दुष्टः।
ईर्या चर्या च प्रेक्षते न च मूढः
काया सर्व पनेति आशयो सुगभीरः ॥1066॥

स्नेह से मधुर बोलते हैं, पर (वे) रागी नहीं है, बड़ा रहस्य (हम लोगोंका भीतरी छल) देखते हैं, पर (उनमें) द्वेष नहीं है, ईर्यापथ और चर्या (अर्थात् उठने-बैठने आदि के शिष्टाचार तथा सदाचार जो हम लोगों में बनावटी हैं उन्हें वे) देखते हैं, पर मूढ़ नहीं हैं (जो फँस जाएँ), संपूर्ण काया का (वे) मूल्य आँकते हैं, उनका आशय अत्यन्त गंभीर है।

(छंद वसन्ततिलका)

निःसंशयेन विदिताः पृथु इस्त्रिदोषाः
कामैर्विरक्तमनसो न च रागरक्तः।
नैवस्त्यसौ दिवि भुवीह नरः सुरो वा
यस्तस्य चित्तचरितं परिजानयेया ॥1067॥

इसमें सन्देह नहीं कि (वे) स्त्रियों के महादोषों को जानते है, कामों से उनका मन विरक्त है, (वे) राग में रंगे हुए नहीं है। धरती पर तथा देवलोक में ऐसा मनुष्य या देवता नहीं है, जो उनके चित्तचरित्र को सब प्रकार से जान सके।

लज्जि ह्रिरोत्रपातु मुनिन प्रपतिषु चरणे
गौरवु तुष्ट प्रेम जनिया स्तविषु हितकरं ॥1062॥

वे स्त्रियों के गुण दरसाने वाले बहुत से खर्व-खर्व प्रकारों द्वारा गजकलभ (=तरुणगज) की जैसी गति के सुगत को न लुभा सकी। ह्री (=आत्मलज्जा) और अपत्रता (=लोकलज्जा) से लजा कर मुनि के चरणों पर पड़ी, तथा गौरव, संतोष एवं प्रेम उपजा कर (उन) हितकारी की स्तुति करने लगी।

निर्मलपद्मगर्भसदृशा सरदिशशिमुखा
सर्पिहुतार्चितेजसदृशा कनकगिरिनिभा।
सिध्यतु चिन्तिता ति प्रणिधि भवशतचरिता
स्वामुपतीर्य तारय जगद् व्यसनपरिगतं ॥1063॥

हे निर्मल कमल के गर्भ के समान (कोमल), हे शरद् के चन्द्र के समान (सुन्दर), हे घी की आहुति पड़ी अग्नि के तेज के समान (तेज वाले), हे सैकड़ों जन्मों तक (-बोधि) चर्या करने वाले, तुम्हारे (मन का) सोचा हुआ संकल्प सिद्ध हो। स्वयं तर कर दुःख द्वारा सब ओर से व्याप्त जगत् को तारो।

ता कर्णिकारचम्पनिभं स्तविय बहुविधं
कृत्व प्रदक्षिणं अतिशयं गिरिरिव अचलं।
गत्व पितुर्निपत्य शिरसा इदमवचि गिरं =241ख=
साध्वसनं[26] हि तात प्रतिघं अमरनरगुरोः ॥1064॥

वे कनेर और चंपे जैसी (सुन्दरियाँ) बहुत प्रकार से स्तुति कर, पर्वत के समान अचल (बोधिसत्त्व) की प्रदक्षिणा कर, लौट कर (अपने) पिता को सिर से नमस्कार कर, यह वचन बोली हे तात, देवताओं और मनुष्यों के गुरु (बोधिसत्त्व) के प्रति क्रोध छोड़ देना (हमारे लिए) ठीक है।

(-330-) पश्यति पद्मपत्रनयनः प्रहसितवदनो
नापि सरक्तु प्रेक्षति जनं नापि च सभृकुटिः।
मेरु चलेय सुष्य उदधि शशिरवि प्रपते
नैव स दोषदर्शि त्रिभवे प्रमदवस गमिया ॥1065॥

ई करिकलभशब्दे करिशब्दस्तद्रूप्यस्य (काव्यालंकारसूत्र 2।2।17)। करी प्रौढकुञ्जरः, तद्रूपः कलभः करिकलभ इति (टीका)।

26. मूल, साध्वस नं। पठनीय साध्वसनं (=साधु असनं)। तुलनीय भोट,

कमल की पंखड़ियों जैसे नेत्र के, अत्यन्त हँसते हुए वदन के, वे देखते हैं, (पर किसी) जन को न सराग निहारते हैं, न भौंहें (टेढ़ी) कर (सक्रोध) निहारते हैं। चाहे सुमेरु (अपने स्थान से) टल जाए, चाहे सागर सूख जाए, चाहे चन्द्र और सूर्य (आकाश से टूट कर) गिर पड़ें, पर तीनों भवों के दोषदर्शी वे प्रमदाओं के वश में नहीं जा सकते।

63. इसके अनन्तर बड़ा पापी मार इस वचन को सुन कर और भी अधिक मात्रा में दुःखी हो, दुर्मन हो, अप्रसन्न-मन हो, अत्यन्त-दूषित-मन का हो, अपनी पुत्रियों से संबोधन करके बोला। हे (पुत्रियों) बोधिमण्डप से उन्हें क्या किसी प्रकार उठाया नहीं जा सकता? (कहीं) वे मूढ़ न हों अथवा अनभिज्ञ न हों, जो तुम्हारा रूप और आकार-प्रकार नहीं देखते।

64. इसके अनन्तर वे मारकन्यकाएँ गाथाओं द्वारा अपने पिता से बोलीं—

(छंद चतुर्दशाक्षरी गाथा)

श्लक्ष्णा मधुरं च भाषते न च रक्तो
गुह्यगुह्यं च निरीक्षते न च दुष्टः।
ईर्या चर्या च प्रेक्षते न च मूढः
काया सर्व पनेति आशयो सुगभीरः ॥1066॥

स्नेह से मधुर बोलते हैं, पर (वे) रागी नहीं हैं, बड़ा रहस्य (हम लोगोंका भीतरी छल) देखते हैं, पर (उनमें) द्वेष नहीं है, ईर्यापथ और चर्या (अर्थात् उठने-बैठने आदि के शिष्टाचार तथा सदाचार जो हम लोगों में बनावटी हैं उन्हें वे) देखते हैं, पर मूढ़ नहीं हैं (जो फँस जाएँ), संपूर्ण काया का (वे) मूल्य आंकते हैं, उनका आशय अत्यन्त गंभीर है।

(छंद वसन्ततिलका)

निःसंशयेन विदिताः पृथु इस्त्रिदोषाः
कामैर्विरक्तमनसो न च रागरक्तः।
नैवस्त्यसौ दिवि भुवीह नरः सुरो वा
यस्तस्य चित्तचरितं परिजानयेया ॥1067॥

इसमें सन्देह नहीं कि (वे) स्त्रियों के महादोषों को जानते हैं, कामों से उनका मन विरक्त है, (वे) राग में रंगे हुए नहीं हैं। धरती पर तथा देवलोक में ऐसा मनुष्य या देवता नहीं है, जो उनके चित्तचरित्र को सब प्रकार से जान सके।

हे अत्यन्त शुद्ध मन के, तुम जल के बीच कमल की भाँति अत्यन्त फूले हुए हो। हे अत्यन्त शुद्ध मन के, तुम वनराजी (=वनपंक्ति) मे विचरने वाले सिंह की भाँति नाद कर रहे हो।

विभ्राजसे त्वं अग्रसत्त्व, पर्वतराज इव सागरमध्ये।
अभ्युद्गतस्त्वं विशुद्धसत्त्व, चक्रवाड इव पर्वतः ॥1076॥

हे श्रेष्ठ मन के, तुम समुद्र के बीच पर्वतराज के समान अत्यन्त शोभा दे रहे हो। हे अत्यन्त शुद्ध मन के, तुम चक्रवाल पर्वत के समान अत्यन्त ऊँचे उठे हुए हो।

दुरवगाहस्त्वं अग्रसत्त्व, जलधर इव रत्नसंपूर्णः।
विस्तीर्णबुद्धिरसि लोकनाथ, गगनमिवापर्यन्तं ॥1077॥

हे श्रेष्ठ मन के, तुम रत्नो से भली-भाँति भरे हुए समुद्र के समान कठिनता से थाह पाने के योग्य हो। हे लोकनाथ, अन्तहीन आकाश के समान (तुम) व्यापक बु द्धि के हो।

सुस्थितबुद्धिरसि विशुद्धसत्त्व, धरणितलवत्सर्वसत्त्वोपजीव्यः।
अकलुषबुद्धिरसि अग्रसत्त्व, अनवतप्त इव सरः सदा प्रसन्नः ॥1078॥

हे अत्यन्त शुद्ध मन के, तुम अत्यन्त स्थित बुद्धि (=स्थितप्रज्ञ) धरणीतल के समान सब प्राणियों के उपजीव्य (=सहारा) हो। श्रेष्ठ मन के, सर्वदा निर्मल रहने वाले मानसरोवर की भाँति तुम निर्मल बुद्धि के हो।

अनिकेतबुद्धिस्त्वं अग्रसत्त्व, मारुत इव सर्वलोके सदाऽप्रसक्तः।
=243क= दुरासदस्त्वं अग्रसत्त्व, तेजोराज इव सर्वमन्युना प्रहीनः ॥1079॥

हे श्रेष्ठ मन के, तुम सब जगत् मे सर्वदा असंग रहने वाले पवन की भाँति अनिकेत-बुद्धि के हो। हे श्रेष्ठ मन के, तुम सब प्रकार के मन्यु (=मान एवं क्रोध) से पूर्ण रहित, तेजों के राजा (=सूर्य) के समान दुष्प्राप्य हो।

बलवानसि त्वं अग्रसत्त्व, नारायण इव दुर्धर्षः।
दृढसमादनस्त्वं लोकनाथ, अनुत्थाता बोधिमण्डा ॥1080॥

हे श्रेष्ठ मन के, तुम नारायण-जैसे न हराए जा सकने वाले बली हो। हे लोकनाथ, तुम दृढप्रतिज्ञ बोधिमण्डप से न उठने वाले हो।

अनिवर्त्यस्त्वं, अग्रसत्व, इन्द्रकरोत्सृष्ट इव वज्रः।
सुलब्धलाभस्त्वं अग्रसत्त्व, दशबलसमग्रयोऽचिराद् भविष्यसि ॥1081॥

हे श्रेष्ठ मन के, तुम इन्द्र के साथ से छोडे वज्र के समान पीछे न लौटने वाले हो। हे श्रेष्ठ मन के, तुम्हे (सब) लाभ भली-भाँति प्राप्त हुए है, तुम शीघ्र दश-बलो में संपूर्णता के धनी होओगे।

हे भिक्षुओ, इस प्रकार बोधिवृक्षदेवताओं ने बोधिसत्त्व को सोलह प्रकार से बधाई दी।

66. हे भिक्षुओं, वहाँ पर शुद्धावासकायिक देवपुत्रों ने सोलह प्रकारों से बड़े पापी मार को दुर्बल किया। कौन से सोलह (प्रकारों से)? जैसे—

(छंद गाथा गद्यगति)

(–333–) ध्वस्तस्त्वं पापीयं, जीर्णक्रोञ्च इव ध्यायसे।
दुर्बलस्त्वं पापीयं, जीर्णगज इव पङ्कमग्नः ॥1082॥

हे महापापी, ध्वस्त हुआ तू बूढ़े कोंच–बगले जैसा झख मार रहा है। हे महापापी, तू दलदल मे बूढ़े हाथी जैसा डूबा दुर्बल है।

एकाक्यसि त्वं पापीयं, निर्जित इव शूरप्रतिज्ञः।
अद्वितीयस्त्वं पापीयं, अटव्यां त्यक्त इव रोगार्तः ॥1083॥

हे महापापी, तू वीर के समान प्रतिज्ञा कर (अब) हार खाया जैसा अकेला है। हे महापापी, निर्जन–जंगल में छोड़ दिए गए रोग से पीड़ित (व्यक्ति) के समान तेरा (अब) दूसरा (कोई) नहीं है।

अबलस्त्वं पापीयं, भारक्लिष्ट इव बलीवर्दः।
अपविद्धस्त्वं पापीयं, वातक्षिप्त इव तरुः ॥1084॥

हे महापापी, तू बोझे से थके हुए बैल जैसा बल-हीन है। हे पापी, तू हवा से गिराए पेड़ जैसा दूर फेंका हुआ है।

=243ख= कुपथस्थितस्त्वं पापीयं, मार्गभ्रष्ट इव सार्थिकः।
दीनहीनस्त्वं पापीयं, मत्सरिण इव दरिद्रपुरुषः ॥1085॥

हे महापापी, तू मार्ग से भ्रष्ट सार्थवाह के जैसा कुमार्ग में पड़ा है। हे महापापी, तू मत्सरी (=मक्खीचूस) दरिद्र पुरुष जैसा दीन-हीन है।

मुखरस्त्वं पापीयं, वायस इव प्रगल्भः।
मानाभिभूतस्त्वं पापीयं, अकृतज्ञ इव दुर्विनीतः ॥1086॥

हे महापापी, तू ढीठ कौए जैसा बोलने वाला है। हे महापापी, तू विनयहीन अकृतज्ञ जैसा मान-आदर से रहित है।

पलायिष्यसे त्वमद्य पापीयं क्रोष्टुक इव सिंहनादेन।
विधुनेष्यसे त्वमद्य पापीयं, वैरम्भवायु विक्षिप्त इव पक्षी ॥1087॥

हे महापापी, आज तू सिंह का नाद सुन कर शृगाल की भाँति भगेगा। हे पापी, आज तू आँधी से दूर फेके गये पक्षी की भाँति दूर फेका जाएगा।

अकालज्ञस्त्वं पापीयं, पुण्यपरिक्षीण इव भैक्षुकः।
विवर्जिष्यसे त्वमद्य पापीयं, भिन्नभाजनमिव पांशुप्रतिपूर्ण ॥1088॥

हे अत्यन्त शुद्ध मन के, तुम जल के बीच कमल की भाँति अत्यन्त फूले हुए हो। हे अत्यन्त शुद्ध मन के, तुम वनराजी (=वनपंक्ति) मे विचरने वाले सिंह की भाँति नाद कर रहे हो।

विभ्राजसे त्वं अग्रसत्त्व, पर्वतराज इव सागरमध्ये।
अभ्युद्गतस्त्वं विशुद्धसत्त्व, चक्रवाड इव पर्वतः ॥1076॥

हे श्रेष्ठ मन के, तुम समुद्र के बीच पर्वतराज के समान अत्यन्त शोभा दे रहे हो। हे अत्यन्त शुद्ध मन के, तुम चक्रवाल पर्वत के समान अत्यन्त ऊँचे उठे हुए हो।

दुरवगाहस्त्वं अग्रसत्त्व, जलधर इव रत्नसंपूर्णः।
विस्तीर्णबुद्धिरसि लोकनाथ, गगनमिवापर्यन्तं ॥1077॥

हे श्रेष्ठ मन के, तुम रत्नों से भली-भाँति भरे हुए समुद्र के समान कठिनता से थाह पाने के योग्य हो। हे लोकनाथ, अन्तहीन आकाश के समान (तुम) व्यापक बु द्धि के हो।

सुस्थितबुद्धिरसि विशुद्धसत्त्व, धरणितलवत्सर्वसत्त्वोपजीव्यः।
अकलुषबुद्धिरसि अग्रसत्त्व, अनवतप्त इव सरः सदा प्रसन्नः ॥1078॥

हे अत्यन्त शुद्ध मन के, तुम अत्यन्त स्थित बुद्धि (=स्थितप्रज्ञ) धरणीतल के समान सत्र प्राणियों के उपजीव्य (=सहारा) हो। श्रेष्ठ मन के, सर्वदा निर्मल रहने वाले मानसरोवर की भाँति तुम निर्मल बुद्धि के हो।

अनिकेतबुद्धिस्त्वं अग्रसत्त्व, मारुत इव सर्वलोके सदाऽप्रसक्तः।
=243क= दुरासदस्त्वं अग्रसत्त्व, तेजोराज इव सर्वमन्युना प्रहीनः ॥1079॥

हे श्रेष्ठ मन के, तुम सब जगत् मे सर्वदा असंग रहने वाले पवन की भाँति अनिकेत-बुद्धि के हो। हे श्रेष्ठ मन के, तुम सब प्रकार के मन्यु (=मान एवं क्रोध) से पूर्ण रहित, तेजों के राजा (=सूर्य) के समान दुष्प्राप्य हो।

बलवानसि त्वं अग्रसत्त्व, नारायण इव दुर्धर्षः।
दृढसमादनस्त्वं लोकनाथ, अनुत्थाता बोधिमण्डा ॥1080॥

हे श्रेष्ठ मन के, तुम नारायण-जैसे न हराए जा सकने वाले बली हो। हे लोकनाथ, तुम दृढप्रतिज्ञ बोधिमण्डप से न उठने वाले हो।

अनिवर्त्यस्त्वं, अग्रसत्व, इन्द्रकरोत्सृष्ट इव वज्रः।
सुलब्धलाभस्त्वं अग्रसत्त्व, दशवलसमग्रचोऽचिराद् भविष्यसि ॥1081॥

हे श्रेष्ठ मन के, तुम इन्द्र के साथ से छोडे वज्र के समान पीछे न लौटने वाले हो। हे श्रेष्ठ मन के, तुम्हे (सब) लाभ भली-भाँति प्राप्त हुए है, तुम शीघ्र दश-बलो मे सपूर्णता के घनी होओगे।

हे भिक्षुओ, इस प्रकार बोधिवृक्षदेवताओं ने बोधिसत्त्व को सोलह प्रकार से बधाई दी।

66. हे भिक्षुओं, वहाँ पर शुद्धावासकायिक देवपुत्रों ने सोलह प्रकारों से बड़े पापी मार को दुर्बल किया। कौन से सोलह (प्रकारों से)? जैसे—

(छंद गाथा गद्यगति)

(–333–) ध्वस्तस्त्वं पापीयं, जीर्णक्रोञ्च इव ध्यायसे।
दुर्बलस्त्वं पापीयं, जीर्णगज इव पङ्कमग्नः ॥1082॥

हे महापापी, ध्वस्त हुआ तू बूढे कोंच-बगुले जैसा झख मार रहा है। हे महापापी, तू दलदल मे बूढ़े हाथी जैसा डूबा दुर्बल है।

एकाक्यसि त्वं पापीयं, निर्जित इव शूरप्रतिज्ञः।
अद्वितीयस्त्वं पापीयं, अटव्यां त्यक्त इव रोगार्तः ॥1083॥

हे महापापी, तू वीर के समान प्रतिज्ञा कर (अब) हार खाया जैसा अकेला है। हे महापापी, निर्जन-जंगल में छोड़ दिए गए रोग से पीडित (व्यक्ति) के समान तेरा (अब) दूसरा (कोई) नहीं है।

अबलस्त्वं पापीयं, भारक्लिष्ट इव बलीवर्दः।
अपविद्धस्त्वं पापीयं, वातक्षिप्त इव तरुः ॥1084॥

हे महापापी, तू बोझे से थके हुए बैल जैसा बल-हीन है। हे पापी, तू हवा से गिराए पेड जैसा दूर फेंका हुआ है।

=243ख= कुपथस्थितस्त्वं पापीयं, मार्गभ्रष्ट इव सार्थिकः।
दीनहीनस्त्वं पापीयं, मत्सरिण इव दरिद्रपुरुषः ॥1085॥

हे महापापी, तू मार्ग से भ्रष्ट सार्थवाह के जैसा कुमार्ग में पड़ा है। हे महापापी, तू मत्सरी (= मक्खीचूस) दरिद्र पुरुष जैसा दीन-हीन है।

मुखरस्त्वं पापीयं, वायस इव प्रगल्भः।
मानाभिभूतस्त्वं पापीयं, अकृतज्ञ इव दुर्विनीतः ॥1086॥

हे महापापी, तू ढीठ कौए जैसा बोलने वाला है। हे महापापी, तू विनयहीन अकृतज्ञ जैसा मान-आदर से रहित है।

पलायिष्यसे त्वमद्य पापीयं क्रोष्टुक इव सिंहनादेन।
विधुनेष्यसे त्वमद्य पापीयं, वैरम्भवायु विक्षिप्त इव पक्षी ॥1087॥

हे महापापी, आज तू सिंह का नाद सुन कर शृगाल की भाँति भगेगा। हे पापी, आज तू आँधी से दूर फेके गये पक्षी की भाँति दूर फेंका जाएगा।

अकालज्ञस्त्वं पापीयं, पुण्यपरिक्षीण इव भैक्षुकः।
विवर्जिष्यसे त्वमद्य पापीयं, भिन्नभाजनमिव पांशुप्रतिपूर्णं ॥1088॥

हे महापापी, तू पूर्णरूप से पुण्यक्षीण हुए भिक्षुक जैसा अकालज्ञ है। हे महापापी, तू धूलभरे फूटे बर्तन जैसा आज छोड़ दिया जाएगा।

निगृहीष्यसे त्वमद्य पापीयं बोधिसत्त्वेन मन्त्रेणेवोरगाः।
सर्वबलप्रहीणोऽसि पापीयं, छिन्नकरचरण इवो रुण्डः ॥1098

हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व द्वारा मंत्र द्वारा सर्पो के समान, बाँध लिया जाएगा। हे महापापी, हाथ-पैर कटे धड़ जैसा, तू सब (प्रकार के) बल से पूर्णतया हीन है।

हे भिक्षुओं, इस प्रकार शुद्धावासकायिक देवपुत्रों ने सोलह प्रकार से बड़े पापी मार को दुर्बल किया।

67. हे भिक्षुओ, वहाँ पर बोधिपरिचारक देवपुत्रों ने बड़े पापी मार को सोलह प्रकार से निरुत्साहित किया। कौन से सोलह (प्रकारों से) ? जैसे—

(छंद गाथा गद्यगति)

अद्य त्वं पापोयं निर्जेष्यते
बोधिसत्त्वेन परसैन्य इव शूरेण। =244क=
(–334–) निगृहीष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन दुर्बलमल्ल इव महामल्लेन ॥1090॥

हे महापापी, तू आज बोधिसत्व के द्वारा, शूर के द्वारा शत्रुदल की भाँति, हराया जायगा। हे महापापी, आज तू बोधिसत्त्व के द्वारा, महामल्ल के द्वारा दुर्बल मल्ल जैसा, पकड़ जाएगा।

अभिभविष्यते त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन खद्योतकमिव सूर्यमण्डलेन।
विध्वंसयिष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन मुञ्जमुष्टिमिव महामारुतेन ॥1091॥

हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व द्वारा, सूर्यमंडल द्वारा जुगुनू जैसा निस्तेज कर दिया जायगा। हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा, महापवन से मूँज की मूठ जैसा तितर-बितर कर दिया जायगा।

वित्रासिष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन केसरिणेव शृगालः।
प्रपातिष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन महासाल इव मूलछिन्नं ॥1092॥

हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा, सिंह द्वारा शृगाल जैसा, डराया जायगा। हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व द्वारा, जड़ से कटे महासाल (वृक्ष) जैसा गिराया जायगा।

विलोप्स्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेनामित्रनगरमिव महाराजेन ।
विशोषिष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन गोष्पदवारीव महातपेन ॥1093॥

हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा, महाराज द्वारा शत्रु नगर जैसा उजाड़ा जाएगा। हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा, कडी धूप द्वारा गोष्पदजल (=भूमिपर गाय के खुर से बने गहरे स्थान मे पड़े जल) जैसा सुखा डाला जाएगा।

पलायिष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन वध्यविमुक्त इव धूर्तपुरुषः ।
उद्भ्रामिष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन अग्निदाहेनेव मधुकरवृन्दं ॥1094॥

हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा, वध्यस्थान से भगोडे धूर्त–पुरुष जैसा भगाया जाएगा। हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा, आग से तपे मधुमक्षिकाओं के झुंड जैसा, भरमाया जाएगा।

रोषिष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन राष्ट्रभ्रष्ट इव (ऽ) धर्मराजः ।
ध्यायिष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन जीर्णक्रौञ्च इव लूनपक्षः ॥1095॥

हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा, राज्यपतित (अ–) धार्मिक राजा जैसा, चिढाया जाएगा। हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा, पंख कतरे गए क्रौञ्च-बगुले के समान सोच मे डाला जाएगा।

(–335–) विभर्त्स्यसे त्वमद्य पापीयं = 244ख =
बोधिसत्त्वेन क्षीणपथ्यादन इवाटवीकान्तारे ।
विलपिष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन भिन्नयानपात्र इव महार्णवे ॥1096॥

हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा, निर्जन जंगल के बीच खाने-पीने की सामग्री से रहित (यात्री) के समान, डराया-धमकाया जाएगा। हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा महासागर के बीच टूटे हुए जहाज के (यात्री) के समान विलपाया जाएगा।

आम्लायिष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन कल्पदाह इव तृणवनस्पतयः ।
विकिरिष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन महावज्रेणेव गिरिकूटं ॥1097॥

हे महापापी, तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा, कल्पाग्नि से तृण एवं वनस्पतियों की भाँति, झुलसा दिया जाएगा। हे महापापी ! तू आज बोधिसत्त्व के द्वारा, महावज्र से पर्वतकूट के समान, तोड़ कर फेंक दिया जाएगा।

हे भिक्षुओ, इस प्रकार, •बोधिपरिचारक देवपुत्रों ने सोलह प्रकार से मार को निरुत्साहित किया, पर बड़े पापी मार ने मुँह न फेरा।

68. इस (विषय) में यह (गाथाओं द्वारा) कहा जाता है—

(छंद शार्दूलविक्रीड़ित)

भूतां चोदन श्रुत्व देवतगणा न निवर्तते सोऽन्तको
उच्छेथा हनथा विलुम्पथ इमां मा दास्यथा जीवितं।
एषोत्तीर्ण स्वयं ममापि विषयां तारिष्यते चापरां
नान्यं मोक्ष वदेमि किंचि श्रमणे उत्थापयेत् प्रक्रमेत् ॥1098॥

देवगणों की यथार्थ प्रेरणा सुनकर (भी), वह मार न लौटा (और बोला)— इन्हें काट डालो, मार डालो, खा डालो, जीने मत दो। स्वयं तर कर (ये) मेरे विषय (=देश) के और लोगों को तारेंगे। (मैं) कहता हूँ मोक्ष (भोग को छोड़ कर) और कुछ नही है। हे श्रमण उठो और (अपना) रास्ता नापो।

69. बोधिसत्त्व बोले—

मेरु (:) पर्वतराज स्थानतु चले सर्वं जगन्नो भवेत्
सर्वे तारकसंघ भूमि प्रपते सज्योतिषेन्दु(र्)नभात्।
सर्वा सत्त्व करेय एकमतयः शुष्येन्महासागरो
न त्वेव द्रुमराजमूलुपगतश्=245क=चाल्येत अस्मद्विधः ॥1099॥

चाहे पर्वतराज सुमेरु (अपने) स्थान से टल जाएँ, चाहे सब जगत् न रहे, चाहे चन्द्रमा तथा ज्योतिःपिंडों के सहित सब नक्षत्रों के समूह आकाश से धरती पर गिर पड़ें, चाहे (कोई) सब प्राणियों को एक चित्त का बना डाले, चाहे महासागर सूख जाए, पर वृक्षराज के नीचे पहुँचे हुए हमारे—जैसे को (स्थान से) डिगाया नहीं जा सकता।

70. (-336-) मार बोला—

(छंद वसन्ततिलका)

कामेश्वरोऽस्मि वसिता इह सर्वलोके
देवा सदानवगणा मनुजाश्च तिर्या ।
व्याप्ता मया मम वसेन च यान्ति सर्वे
उत्तिष्ठ मह्य विषयस्थ वचं कुरुष्व ॥1100॥

(मैं) कामेश्वर हूँ, यहाँ सब लोकों को अपने वश में करने वाला हूँ। दानव गणों के सहित देवताओं को, मनुष्यों को, तथा पशु-पक्षियों को मैंने व्याप्त कर रक्खा है, (वे) सब मेरे वश मे चलते है। (तुम भी) मेरे विषय (= राज्य) के निवासी हो। उठो, मेरी बात मानो।

71. बोधिसत्व बोले—

कामेश्वरोऽसि यदि व्यक्तमनीश्वरोऽसि
धर्मेश्वरोऽहमपि पश्यसि तत्वतो मां।
कामेश्वरोऽसि यदि दुर्गति न प्रयासि
प्राप्स्यामि बोधिमवशस्य तु पश्यतस्ते ॥1101॥

यदि (तुम) कामेश्वर हो तो स्पष्ट ही ईश्वर नही हो। पर यदि मुझे तत्व से देखो तो मै धर्मेश्वर हूँ। यदि (तुम) कामेश्वर होते तो दुर्गति न भुगतते (क्योंकि दुर्गति की कामना कोई नही करते) (तुम्हारा) वश (मुझपर) नही है, तुम्हारे देखते-देखते मैं बोधि प्राप्त करूँगा।

72. मार बोला—

एकात्मकः श्रमण किं प्रकरोषिऽरण्ये
यं प्रार्थयस्यसुलभः खलु संप्रयोगः।
भृग्वङ्गिरप्रभृतिभिस्तपसो प्रयत्ना
प्राप्तं न तत्पदवरं मनुजः कुतस्त्वं ॥1102॥

हे श्रमण, अकेले अपने-आप जगल मे क्या कर रहे हो। जो तुम चाहते हो, वह योग-क्षेम सर्वथा दुर्लभ है। भृगु, अंगिरा आदि (ऋषियों) को तप के प्रयत्न से वह उत्तम पद नही मिला, तुम (जैसे) मनुष्य को कहाँ से मिलेगा।

73. बोधिसत्व बोले—

अज्ञानपूर्वकु तपो ऋषिभि प्रतप्तो
क्रोधाभिभूतमतिभि (र्) दिवलोककामैः।
नित्यं न-नित्यमिति चात्मनि संश्रयद्भिः
मोक्षं च देशगमनस्थितमाश्रयद्भिः ॥1103॥

मन से (यह जगत् दुःख का है, सोच कर, उसपर) क्रोधान्ध हो, देवलोक की कामना से, (इस) आत्मा को नित्य एव अनित्य मान कर तथा मोक्ष को चलकर मिलने वाले (किसी) देश मे स्थित समझ कर, ऋषियों ने अज्ञान-पूर्वक तपस्या की थी।

ते तत्वतो ऽर्थरहिताः पुरुषं वदन्ति
व्यापि प्रदेशगत सास्वतमाहुरेके ।
(–337–) मूर्तं न-मूर्तमगुणं गुणिनां तथैव
कर्ता न-कर्त इति चाप्यपरे ब्रुवन्ति ॥1104॥

वे पुरुष (=आत्मा) को परमार्थ-रहित कहते हैं। कोई उसे व्यापक, एक देशस्थ और नित्य कहते है। कितने ही दूसरे उसे मूर्त, अमूर्त, निर्गुण, सगुण, कर्ता तथा अकर्ता कहते हैं।

=245ख= प्राप्याद्य बोधि विरजामिह चासनस्थः
त्वां जित्व मार विहतं सबलं ससैन्यं ।
वर्थेष्यि अस्य जगतः प्रभवोद्भवं च
निर्वाण दुःखसमनं तथ सीतिभावं ॥1105॥

आज इस आसन पर बैठे-बैठे, हे मार, तुझे तेरे बल के साथ, तेरी सेना के साथ, ध्वस्त कर, जीत कर, रजोरहित बोधि का लाभ कर, बारंबार उत्पन्न होने वाले इस जगत् के दुःखों को शान्त करने वाले, (इसकी जलन को) शीत करने वाले, निर्वाण का प्रवर्तन करूँगा।

74. (इसके अनन्तर—)

(छंद भुजंगविजृम्भित)

मारः क्रुद्धो दुष्टो रुष्टः, परुप गिर पुन तु भणते, गृहाण ऽसु गौतमं
एषो ह्येकोऽरण्ये न्यस्तो, ग्रहिय मम पुरतु व्रजथा, लघुं वसु कुर्वथा ।
शीघ्रं गत्वा मह्यं गेहे, हडिनिगडयुगडविकृतं, करोथ दुवारिकं
[28]स्वामं द्रक्ष्ये[28] दुःखेनार्तं, बहुविविधजवितरवितं, मरूण व चेटकं ॥1106॥

क्रोधसे भरा, द्वेष से भरा, और रोष से भरा मार फिर कठोर वचन बोला—इन गौतम को पकड़ लो, अकेले वन मे बैठे हुए इनको पकड़ कर मेरे

28...28. मूल, स्वा मं द्रक्ष्ये। पदच्छेद स्वा–मं ठीक नही। द्रक्ष्ये मे भविष्यन्ती प्रवर्तनी के अर्थ में है। भोट, बदग् गिस् बदग् मथोङ् बयोस् (=आत्म-नात्मानं पश्येत्, पश्यतु वा)।

सामने (लाओ), जाओ, शीघ्र वश मे कर लो, जा कर मेरे घर में दोनों (हाथों और पावों मे) हथकड़ी और बेड़ी डाल कर इन्हे छोड़ दो, दरवान तैनात कर दो, (ताकि ये) दुःख से पीडित, नाना प्रकार से जोर-जोर रो-धो कर देवदास की तरह अपने आप को देखें।

75. बोधिसत्व बोले—

शक्याकाशे लेख्यं चित्रं, बहुविविध विकृत पदशः, प्रकर्तुं पृथक्-पृथक्
शक्यो वायुः पाशैर्बद्धुं, दिश विदिश गमनजवितो, नरेण सुयत्नतः।
शक्या कर्तुं चन्द्रादित्यौ, तमतिमिरवितिमिरकरौ, नभोऽद्य महीतलं
शक्यो नाहं त्वत्सादृश्यैर्, बहुभिरपि गणनविद्रुतैर्, [29]द्रुमात्
प्रतिचालितुं ॥1107॥

आकाश मे अलग-अलग, कला-कला करके बहुत से नाना प्रकार के रेखा-चित्र चाहे बनाए जासके, दिशाओं और विदिशाओं मे वेग से जाने वाला पवन अत्यन्त यत्न के साथ मनुष्य द्वारा चाहे जालो मे बाँधा जा सके, कालिमा और अँधेरे को मिटाने वाले सूर्य और चन्द्र आज ही चाहे आकाश से धरातल पर गिराए जा सके, पर तुम्हारे जैसे गणनातीत बहुत से मारों के द्वारा मैं (बोधि—) वृक्ष से हिलाया-डुलाया नही जा सकता।

76. (इसके अनन्तर—)

(छंद वसन्ततिलका)

अभ्युत्थिताबलवती नमुचेश्चमू सा
हाकारशङ्खरवभेरिमृदङ्गशब्दैः ।
हा पुत्र वत्स दयित किमसि प्रनष्टो
दृष्ट्वा इमां नमुचिसेनमतीव भीमां ॥1108॥

(एक ओर) हाहाकार, शंखनाद, भेरी और मृदङ्ग शब्दो के साथ मार की बलवान् सेना उठ पड़ी, (तथा दूसरी ओर शब्द सुनाइ पड़ा—) हाय पुत्र, प्रिय वत्स, इस अत्यन्त भयंकर मार-सेना को देख कर क्या (कही) भाग गए ?

जाम्बूनदाकनकचम्पकगर्भगौरा =246क=
सुकुमार देवनरसस्तुत पूजनीय।
(-338-) अद्य प्रयास्यसि विनासु महारणेस्मिं
मारस्य एष्य वशं असुरस्यवेन्दुः ॥1109॥

29. मूल, गणनविठतैः। भोट, ब्ग्रड् लस् ह्दस् प (=गणनातीतैः) पाठ संभवतः गणनविद्रुतैः था। विद्रुत तथा अतीत समानार्थक है।

हे जंबूनद से निकले सुवर्ण तथा चम्पे के अन्तर्भाग जैसे गोरे, सुकुमार, देवताओं और मनुष्यों द्वारा स्तवन किए गए, पूजा के योग्य, आज (इस) महायुद्ध में (तुम) विनाश को प्राप्त करोगे, (राहु–) असुर के वश मे हुए चन्द्रमा के समान मार के वश मे हो जाओगे।

77. (इसके अनन्तर—)

ब्रह्मस्वरेण करविकलस्वरेणा
तान् यक्षराक्षसगणां सुगतो बभाषे।
आकासु त्रासयितुमिच्छति यो ह्यविद्वान्
सो ऽस्मद्विधं द्रुमवराद् ग्रहणाय इच्छेत् ॥1110॥

चटक के समान चचहाते हुए, ब्रह्मघोष करते हुए सुगत ने, उन यक्षों और राक्षसो के गणों से कहा—जो मूढ आकाश को डराना चाहता हो, वह हमारे—जैसे को उत्तम (बोधि–) वृक्ष से पकड़ ले जाने की इच्छा करे।

भित्वा च यो रजु गणेय महासहस्रे
लोम्ना च सागरजलं च समुद्धरेद् यः।
वज्र(ा)मयां गिरिवरां विकिरेत् क्षणाच्च
सो चापि मां तरुगतं न विहेठयेत ॥1111॥

जो महासहस्र (लोकधातु) को पीस कर उसके धूलि-कण गिन सकेगा, जो सागर के जल को रोम से उलीच सकेगा, तथा जो वज्रमय उत्तम पर्वतों को क्षण भर में (तोड़ कर) तितर-बितर कर सकेगा, वह (बोधि–) वृक्ष के नीचे बैठे हुए मुझ को न सता सकेगा।

78 (इसके अनन्तर—)

युगमन्तरस्मि स्थित मारु प्रदुष्टचित्तो
निष्कोष पाणिन-म्-असि प्रगृहीत्व तीक्ष्णं।
उत्तिष्ठ शीघ्र श्रमणा ऽस्समतेन गच्छ
मा वेणुयष्टि हरितां व छिनद्मि ते ऽद्य ॥1112॥

युग (=जुए) भर की दूरी पर खड़ा, द्वेष से भरे चित्त वाला, मार नंगी तीखी तलवार हाथ में लेकर (बोला)—हे श्रमण शीघ्र उठो, मेरी जैसी मरजी है वैसे, चले जाओ, कही (मैं) आज तुम्हे हरे बाँस की छड़ी के समान काट

79, बोधिसत्त्व बोले—

(छंद शार्दूलविक्रीड़ित)

सर्वेयं त्रिसहस्र मेदिनि यदि मारैः प्रपूर्णा भवेत्
सर्वेषां यथ मेरु पर्वतवरः पाणीषु खड्गो भवेत् ।
ते मह्य न समर्थ लोम चलितुं प्रागेव मां घातितुं
मा दुषी[29]क नतिवेल[29]क संप्रनदहे, स्मारेमि[30] तेना दृढं[30] ॥1113॥

यह त्रिसाहस्र (लोकधातु) वाली संपूर्ण पृथिवी यदि मारों से संपूर्ण हो जाए, तथा सब (मारो) के हाथों में उत्तम सुमेरु पर्वत सरीखे (विशाल) खड्ग हों ,तो वे मेरा बाल बाँका नही कर सकते, मारने की तो बात ही क्या ? हे दूषिन् मत (गड़बड़ करो), (अन्यथा) शीघ्र ही (तुम्हे) बाँध दूँगा । इसी से (तुम्हे) दृढता से चेता रहा हूँ ।

80. (इसके अनन्तर—)

(छंद वसन्ततिलका)

विध्यन्ति शैलशिखलां ज्वलिताग्निवर्णा
वृक्षां समूलक क्षिपी तथ ताम्रलोहं ।
(–339–) उष्ट्राश्च गोगजमुखास्तथ भैरवाक्षा
आशीविषा भुजग दृष्टिविषाश्च घोराः ॥1114॥ =246ख=

(उन्होंने) जलती हुई आग के जैसे पर्वत के शिखरों कों फेका । मूल के साथ वृक्षों को, ताँबे और लोहे को, ऊँट, हाथी, तथा बैल के मुँह जैसे भयंकर आँखों वाले, (काटे बिना) चाह भर से जिनका विष चढ़ जाता है, तथा (काटे-बिना) देखने भर से जिनका विष चढ़जाता है, ऐसे सर्पो को फेका ।

मेघेव उत्थित चतुर्दिश गर्जमाना
वज्राऽशनी तथ अयोगुड वर्षमाणाः ।
असि शक्ति तीक्ष्णपरशुं सविषांश्च बाणां
भिन्दन्ति मेदिनितलं प्रमथन्ति वृक्षां ॥1115॥

29क....29क. मूल, न ति वेल । पठनीय नतिवेल (सबपद के रूप में) नतिवेल= नातिवेलं शीघ्रं । तुलनीय भोट, रिङ्स् शिग् (=शीघ्रम्) ।
30....30. मूल, ते ऽनदृढं । पठनीय तेना (= तेन) दृढं । तुलनीय भोट, दे यिसे बूर्तन् पोर् (तेन दृढं) ।

(वे) चारों दिशाओं से गरजते हुए मेघों-जैसे उमड़ आए, और वाज-गाज लोहे के गोले, तलवारें, बरछियां, तीखे फरसे, एवं विष-बुझे वाण वरसाते हुए, पृथिवी-तल को भेदने लगे और पेड़ों को मथने लगे।

बाहूशतैः सरशतानि क्षिपन्ति केचि
आशीविषां हुतवहांश्च मुखा सृजन्ति।
मकरादिकांश्च जलजानुदधेर्गृहीत्वा
विध्यन्ति केचि भुजगां गरुडाश्च भूत्वा ॥1116॥

कितने ही (अपनी) सैकडों भुजाओं से सैकडों बाण फेंकते थे, (कितने ही अपने) मुँह से सर्पों को और अग्नियों को उगलते थे, कितने ही गरुड़ बन कर समुद्र से मकर आदि जन-जन्तुओं तथा (जल–) सर्पों को पकड़ कर फेंकते थे।

केचित् सुमेरुसदृशान् अयसा—गुडानि
तप्ताग्निवर्णशिखरा निक्षिपन्ति रुष्टाः।
आसाद्य मेदिनितलं क्षुभयन्ति चोर्वी
हेष्टाऽऽपस्कन्ध सलिलस्य विलोडयन्ति ॥1117॥

कितने ही रुष्ट हो दहकती आग के रंग के शिखर वाले सुमेरु-जैसे लोहे के गोले फेकते थे, जो धरातल पर आकर धरती को हिला देते थे, तथा नीचे स्थित आपस्कन्ध (=जलराशि) एवं जल का मन्थन कर डालते थे।

केचित्पतन्ति पुरतस्तय पृष्ठतोऽस्य
वामे च दक्षिण पतन्ति अहो ति वत्स।
विपरीतहस्तचरणा ज्वलितोत्तमाङ्गा
नेत्रेभि निश्चरति विद्युदिव प्रदीप्ता ॥1118॥

कितने ही, अहो वत्स तुम्हारा (क्या होगा यों बोल कर), उनके सामने पीछे, बाई ओर, एव दाहिनी ओर गिरते थे, उनके हाथ-पैर उलटे-पलटे होते थे, उत्तमाङ्ग (=सिर) दहकते थे, तथा आँखो से लपलपाती बिजली सी निकलती थी।

81. (इसके अनन्तर—)

दृष्ट्वा विकारविकृता नमुचेस्तु सेना
मायाकृतं च यथ प्रेक्षात शुद्धसत्वः।
नैवात्र मारु न बलं न जगन्न चात्मा
उदचन्द्ररूपसदृशो भ्रमति त्रिलोकः ॥1119॥

मार की सेना को विकारो से विगड़ी देख कर, शुद्ध मन वाले (बोधिसत्व) ने (उसे) ऐसे देखा मानो वह माया-द्वारा बनी हो। (उनको लगा कि) यहाँ न

मार है, न (मार–) सेना है, न जगत् है, न है, आत्मा है, यह त्रिलोक पानी मे पड़े चन्द्र के प्रतिबिम्ब के समान घूम रहा है।

(–340–) चक्षुर्न इस्त्रि पुरुषो नपि चात्मनीयं
श्रोत्रं च घ्राण तथ जिह्व तथैव कायः । = 247क =
अध्यात्मशून्य बहिशून्य प्रतीत्यजाता
धर्मा इमे करकवेदकवीतिवृत्ताः ॥1120॥

आत्मीय भी (कुछ) नही है—न स्त्री, न पुरुष, न नेत्र, न श्रोत्र, न घ्राण (=नासिका), न जिह्वा, तथा न काय ही (आत्मीय है)। ये सब धर्म अध्यात्म शून्य है, बाह्य-शून्य है, प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं, कारक-हीन है, तथा वेदक (=अनुभोक्तृ) हीन है।

सो सत्यवाक्यमकरोत् सद सत्यवादी
येनेह सत्यवचनोनम शून्य धर्माः।
ये के चि सौम्य विनये अनुकूल यक्षाः[31]
ते शस्त्र पाणिषु निरीक्षिषु पुष्पदामा ॥1121)

उन सदा के सत्यवादी ने सत्यवाक्य (का साक्ष्य–अनुष्ठान) किया--जिस सत्यवचन से यहाँ ये धर्म शून्य है, उससे जो कोई विनय के अनुकूल (चलने वाले) सौम्य यक्ष है, उन्हे हाथों के शस्त्र पुष्पमालाएँ दिखाई दें।

सो दक्षिणे करतले रचिताग्रजाले
ताम्रैर्नखैः सुरुचिरैः सहस्रारचक्रे।
जाम्बूनदाचिसदृशैः शुभपुण्यजुष्टे
मूर्धनातु याव स्पृशते चरणां सलीडं ॥1122॥

उन्होने उत्तम जाल से गूँथे हुए, ताम्रवर्ण के नखों से अत्यन्त सुशोभित, सहस्र अरों के चक्र (–चिन्ह) से युक्त, जंबूनद से उत्पन्न (सुवर्ण) के (रंग की) किरणो से युक्त, शुभ--पुण्यों से सेवित, दक्षिण करतल द्वारा सिर से पैर तक स्पर्श किया।

31. मूल, पक्षाः। भोट, ग्नोद् स्ब्यिन् (=यक्षाः)। इससे पूर्व अनुकूल शब्द को पृथक्पद के रूप में ग्रहण करना उचित है।

बाहुँ प्रसार्य यथ विद्युदिवा नभस्था
आभाषते वसुमती—न इय मह्य साक्षी।
चित्रा मि यज्ञनयुतानपि यष्ट पूर्वे
न मि जातु याचनक बन्ध्य[32] कृता नु दास्ये[33] ॥1123॥

आकाश से जैसे बिजली निकलती है, वैसे अपनी भुजा फैला कर (वे) बोले—यह पृथिवी मेरा साक्षी है कि मैं ने पहले खर्व-खर्ब यज्ञ किए हैं, तथा न दूँगा (ऐसा मन मे कर) कभी भी मै ने याचकों को निराश नहीं किया है।

आपो मि साक्षि तथ तेज तथैव वायु
ब्रह्मा प्रजापति सजोतिस चन्द्रसूर्याः।
बुद्धा मि साक्षि दशसु स्थित ये दिशासु
यथ मह्य शीलव्रत उद्गत बोधि-अङ्गाः ॥1124॥

जल, तेज, वायु, प्रजापति ब्रह्म-गण, एवं नक्षत्रो के सहित चन्द्र और सूर्य मेरे साक्षी है तथा दसों दिशाओं में जो बुद्ध खड़े है, वे मेरे साक्षी है कि मेरे शील और व्रतों का उत्थान जिस प्रकार बोधि के अंग के रूप मे अर्थात् बोधि पाने के साधन के रूप मे हुआ है।

दानं मि साक्षि तथ शीलु तथैव क्षान्तिः
वीर्यापि साक्षि तथ ध्यान तथैव प्रज्ञा।
(–341–)चतु-र्-अप्रमाण मम साक्षि तथा अभिज्ञा
अनुपूर्व बोधिचरि सर्व ममेह साक्षी ॥1125॥

दान, शील, क्षान्ति (=क्षमा), वीर्य (=उद्योग), ध्यान एवं प्रज्ञा मेरे साक्षी हैं। चार (मैत्री, करुणा, (मुदिता, और उपेक्षा नामक) अप्रमाण (मापे न जा सकने वाले ब्रह्मविहार) तथा अभिज्ञाएँ (=दिव्यज्ञान) मेरी साक्षी है। क्रमसे की गई संपूर्ण बोधिचर्या यहाँ मेरी साक्षी है।

यावन्ति सत्त्व निखिला दशसु दिशासु =247ख=
यत्तेषु पुण्य बल शीलु तथैव ज्ञानं।
यज्ञा निरर्गड य यष्ट सठः—कलीभिः[34]
ते मह्य रोम-शतिमां कल नोपयान्ति ॥1126॥

32. मूल, वन्ध। यह वन्ध्य का ही लिपिविकार है। भोट, दोन् मेद् (=निरर्थक, असफल, वन्ध्य)।

33. मूल, नु दास्ये। भोट, मि स्बिन् (=न दास्ये) नु दास्ये संभवितः नो दास्ये का भ्रष्टतर रूप है।

34. मूल, मे सठः कलिभिः शब्द की व्याख्या सह कलीभिः से की जानी चाहिए।

दसों दिशाओं में सब (मिला कर) जितने प्राणी है, उनका जो पुण्य, बल, शील, एवं ज्ञान है, तथा (उन्होंने) सब मिला कर जो निरर्गल यज्ञ किए हैं, वे मेरे (यज्ञों एवं पुण्यादि के एक) रोम को सौवी कला की (भी) नही पहुँचते हैं ।

सो पाणिना धरणि आहनते सलीडं
रणते इयं वसुमती यथ कंसपात्री ।
मारो निसम्य खु मोदिनिये निरस्त:
शृणुते वचं हनत गृह्णत कृष्णवर्न्धुं ॥1127॥

उन्होने हाथ से धरती पर थपकी दी, (और) यह धरती काँसे की बनी पात्री के समान बज उठी । मार (वह) शब्द सुन कर धरती पर गिर पड़ा और उसे बचन सुनाई पडा कि (इस) काले कारनामों के साथी को पकड़ लो, पीट डालो ।

प्रस्विन्नगातु हततेजु विवर्णवक्त्रो
मारो जराभिहतु आत्मनु संप्रपश्यी
उरताड क्रन्दतु भयार्तु अनाथभूतो
भ्रान्तं मनो नमुचिनो गतु चित्त मोहं ॥1128॥

मार को लगा कि उसका शरीर पसीना-पसीना हो गया है, तेज मर गया है, वदन बदरग हो गया है, और (वह) स्वयं बुढापा का मारा-पीटा है । अनाथ हुए, भय से पीडित, छाती पीट-पीट कर रोते-रोते मार का मन ठिकाने न रहा, (उसका) चित्त मूर्छित हो गया ।

हस्त्यश्वयानरथ भूमितले निरस्ता:
धावन्ति राक्षस कुम्भण्ड पिशास भीता: ।
संमूढ मार्ग न लभन्ति अलेनत्राणा:
पक्षी दवाग्निपतनेव निरीक्ष्य क्रान्ता: ॥1129॥

हाथी-घोड़ा और गाड़ी-रथ धरती पर गिर पड़े । डरे-डरे राक्षसों कुम्भाण्डों और पिशासों मे भगदड़ मच गई । (वे दिशा-) मूढ हो गए, (उन्हे) मार्ग न मिला, (वे) उस प्रकार अशरण हो गए, अनाथ हो गए, जिस प्रकार दावानल की लपट मे अपने को पडा देख कर पक्षी (अशरण एवं अनाथ) हो जाते हैं ।

कलि = कलना, कलन, अंक, सख्याङ्क । संख्याभि: सह, संख्याओं के साथ । भोट, ब्स्दोमस् क्यङ् नि (= समस्थापि, इकट्ठा करके भी) । देखिए बु० हा०सं०डि० मे सठ:—शब्द भी । सठ का उद्भव वैदिक सध (अपभ्रष्ट सढ मूर्धन्य होकर है ।

माता स्वसा पितर पुत्र तथैव भ्राता।
पृच्छन्ति तत्र कहि दृष्ट कहिं गता! वा।
अन्योन्य विग्रह करोन्ति तथैव हेठाः
प्राप्ता वयं व्यसन जीवित नावकाशः ॥1130॥

वहाँ पर मा, बहन, पिता, पुत्र, तथा भ्राता (मार के विषय में) पूछते थे कि वह कहाँ गया ? उसे कही देखा ? (वे) आपस मे झगड़ते तथा मार-पीट करते थे, (उन्हें लगता था कि) हम विपत्ति मे फँस गए है, (अब) जीने का अवसर नहीं मिलेगा।

(-342-)सा मारसेन विपुला महती अक्षोभ्या
विभ्रष्ट सर्व विरडीकृत नैव संधिः।
दिवसानि सप्त अभिजानि (=अभियानि) परस्परेण
आभासि दृष्ट यदि जीवसि तं खु प्रीताः। 1131॥

वह सब न व्याकुल होने के योग्य महाविशाल मार की सेना धराशायी हो हो गई, तितर-बितर हो गई, (उसका) संधान (=पता) भी (कही) न लगा, (वह सेना मानो) सात दिन तक परस्पर आक्रमण करती रही हो (उनमे से किसीने) उस (पराजित मार) को देख कर पूछा—क्या जीवन में प्रेम है ?

82. (फिर—)

सा वृक्षदेवत तदा करुणां हि कृत्वा
वारीघटं ग्रहिय सिञ्चति कृष्णबन्धुं।=248=क
उत्तिष्ठ शीघ्र व्रजहे म पुनो विलम्ब
एवं हि तेष भवने गुरुउद्धराणां ॥1132॥

उस समय करुणा कर, जलघट ले, उस वृक्ष देवता ने कृष्णबन्धु (मार) पर पानी छिडका (और कहा—) उठ, शीघ्र चला जा, और देर मत कर। (अपने से) महान् को उखाड़ने को जो यत्न करते है, उनका ऐसा ही होता है।

83. मार बोला—

दुःखं भयं व्यसनशोकविनाशनं च
धिक्कारशब्दमवमानगतं च दैन्यं।
प्राप्तोऽस्मि अद्य अपराध्य सुशुद्धसत्त्वे
अश्रुत्व वाक्य मधुरं हितमात्मजानां ॥1133॥

अपने बेटी-बेटो का हितकारी मधुर वचन सुन कर, (उन) अत्यन्त शुद्ध मन वाले (बोधिसत्त्व) के प्रति अपराध कर, आज मुझे भय, दुःख, शोक,

विनाश, धिक्कार का शब्द, और अवज्ञा से होने वाला दैन्यभाव प्राप्त हुआ है।

84. (देवता ने कहा—)

(छंद उपजाति)

भयं च दुःखं व्यसनं च दैन्यं धिक्कारशब्दं बधबन्धनं च।
दोषाननेकां लभते ह्ययविद्वान् निरापराध्येष्व् अपराध्यतेयः[35] ॥1134॥

जो मूढ़ निरापराधों का अपराध करता है। वह भय, दुःख, विपत्ति, दीनता, धिक्कारवचन, वध, बन्धन (आदि) अनेक दोषों का भागी होता है।

85. (अंत मे—)

(छंद वसन्ततिलका)

देवासुरा-गरुडराक्षसकिन्नरेन्द्रा
ब्रह्माथ शक्र परनिर्मित साकनिष्ठाः।
भाषन्ति तस्य विजयं जय लोकवीर
यत्रेदृशो नमुचिसेन त्वया निरस्ता ॥1135॥

देवन्द्र, असुरेन्द्र, गरुडेन्द्र, राक्षसेन्द्र, किनरेन्द्र, ब्रह्मा, शक्र, तथा अकनिष्ठ-देवों के साथ परनिर्मित-देवगण उनकी जय-जय कार करते थे—हे लोकवीर, जो तुमने ऐसी मारसेना को पराजित किया, सो तुम्हारी जय हो।

हारार्धचन्द्र ध्वजछत्रपटाक देन्ती
पुष्पागरु तगरचन्दनचूर्णवर्षा।
तूर्या पराहनिय वाक्यमुदीरयन्ते
अच्छा द्रुमे तुव च सूर जिताऽरिसंधा[36] ॥1136॥

(वे) हार, अर्धचन्द्र (–आभरण), छत्र, ध्वजा तथा पताकाएँ चढ़ाते थे, फूलों की, अगर की, तगर की, तथा चन्दनचूर्ण की वर्षा करते थे। बाजे बजा कर बोलते थे कि, हे शूर (बोधि–) वृक्ष के नीचे बैठ तुमने रिपुदल जीत लिया है।

35. मूल, अपि राध्यते। भोट, नेस् ब्येद् प (=अपराध्यति)। मूल मे अपि के स्थान अप होने से अर्थ संगति बैठती है।

36. अरिसिंहा मूल पाठ भोटानुसार अरिसंघा है। भोट, द्ग्र .छोग्स् (=अरि-संघः)।

अत्रैव चासनवरे लभसेऽद्य बोधि
आवेणिकां दशबलां प्रतिसंविदं च । = 248ख =
सर्वं च बुद्धविषयं लभसेऽद्य शूर
मैत्रा विजित्य विपुलां सठमारपक्षान् ॥1137॥

इसी उत्तम आसन पर आज बोधि को, एवं दस असाधारण बुद्धबलों को, (तथा सब) प्रतिसविदाओ को, प्राप्त करोगे। हे शूर, मैत्री से वंचक मार के विपुल-पक्षो को जीत कर आज पूर्ण बुद्ध-राज्य का लाभ करोगे।

86. (इस प्रकार—)

इह मारधर्षणकृते च रणे प्रवृत्ते
संबोधिसत्त्वबलविक्रम येभि दृष्टं।
षट्त्रिंशकोटि नयुता चतुरे च विशा
येभिर्मनः प्रणिहितं वरबुद्धबोधौ ॥1138॥इति॥[37]

यहाँ मार को हराने के लिए छिड़े युद्ध मे जिन्होंने बोधिसत्त्व का बल और उद्योग देखा, उनमे से चौबीस खर्व तथा छत्तीस करोड़ (प्राणी) ऐसे थे, जिन्होंने बुद्धो की उत्तम बोधि (पाने के लिए) मन मे प्रणिधान (= संकल्प) किया।

॥ इति श्रीललितविस्तरे मारधर्षणपरिवर्तो नामैकविंशतितमोऽध्यायः ॥

37. इस परिवर्त की गाथाओ की छाया यों है—

कल्पौघचरितचर्यो (यथारुतं तु चरित चरितो) ह्यभिशुद्धसत्त्वः, शुद्धोदनस्य तनयः प्रविहाय राज्यम्। स निर्गतो हितकारो ह्यमृताभिलाषी बोधिद्रुमं ह्युपगतोऽद्य कुरु प्रयत्नम् ॥937॥ स तीर्ण आत्मना परानपि तारयेत्, मोचयिष्यति स च परान् स्वयमेव मुक्तः। आश्वासप्राप्तः स परानपि चाश्वासयेत्, निर्वापयिष्यति परान् परिनिर्वृतश्च ॥938॥ शून्यं करिष्यत्यपायत्रयमप्यशेषं पूर्णानि करिष्यति पुराणि सुरमानुषाणाम्। ध्यानानामभिज्ञः परमम् अमृतं सुखं च दास्यत्यसौ हितकरोऽमृतं स्पृष्ट्वा ॥939॥ शून्यं करिष्यति पुरं तव कृष्णबन्धो ऽबलाबलं बलविहीनम् अपक्ष्यपक्ष्यम्। न ज्ञास्यसि क्व नु व्रजामि करोमि किं वा यदा धर्मवर्षमवर्षीत् (=वर्षिष्यति) स्वयं स्वयंभूः ॥940॥

दृष्ट्वा तान् स्वप्नान् नमुचिर्दुःखार्त आमन्त्रयति सुतान् येऽपि च पारिषद्याः। सेनापतिं च नमुचिः सिंहहनुं च नाम्ना सर्वान् तान् परिपृच्छति कृष्णबन्धुः ॥941॥ गाथाभिर् गीतं रचितं श्रुतमन्तरिक्षाच् छाक्येषु जातो

वरलक्षणचित्रिताङ्गः । षड् वर्षाणि दुष्करव्रतानि चरित्वा घोरान् बोधिद्रुमं ह्युपगतः प्रकुरुध्व यत्नम् ॥942॥ स चेद् विबुद्धः स्वयमेव हि बोधिसत्त्वो बहुसत्त्वकोटिनयुतानि विबोधयेत । शून्यं करिष्यति स मे भवनं ह्यशेषं यदा लप्स्यते ह्यमृतं स्पर्शने शीतीभावम् ॥943॥ हन्त व्रजाम सहिता बलेन घातयेम तं श्रमणमेकं द्रुमेन्द्रमूले उद्योजयध्वं चतुरङ्गिणी शीघ्रं सेनां यदीच्छत मम प्रियं मा चिरं कुरुत ॥944॥ प्रत्येकबुद्धैश्चार्हद्भिः पूर्णे लोके निर्वाणे न बलं मम दुर्बलं स्यात् । स भूय एको जिनो भविष्यति धर्मराजो गणनातिवृत्तो जिनवंशो न जातु छिद्येत् ॥945॥ किं तात भिन्नवदनोऽसि विवर्णवक्त्रो हृदयं समुत्प्लवते विष्यति तेऽङ्गमङ्गम् । किं ते श्रुतम् अथवा दृष्टं भण शीघ्रं ज्ञास्यामस्तत्त्वतो विचिन्त्य तथा प्रयोगम् ॥946॥ निर्मानो मारोऽवोचत् शृणु मम वत्स पापो मे दृष्टः स्वप्नः परमः सुघोरः । भाषेय सर्वमिह पर्षद्य् अद्याशेषं संमूर्छिता क्षिति तले प्रपतेत यूयम् ॥947॥ रणकाले प्राप्ते यदि नाम जयो न दोषस् तत्रैव यस्तु निहतो भवति स दोषः । स्वप्नान्तरे तु यदीदृशानि ते निमित्तानि श्रेय उपेक्षा मा रणे परिभवं गच्छेः ॥948॥ व्यवसायबुद्धिपुरुषस्य रणे प्रसिद्धिर् अवलम्ब्य धैर्यं सुकृतं यदि नो (=अस्माकं) जयः स्यात् । का तस्य शक्तिर्मां दृष्ट्वा सपारिषद्यं नोत्तिष्ठेत् (यथारुतं त नोत्थातुम् अथवा नोत्तिष्ठतु) मम चरणौ शिरसा प्रपत्तुम् ॥949॥ विस्तीर्णमस्ति हि बलं च सुदुर्बलं च, अस्त्येकः शूरो बलवाश् च रणंजयश्च (यथारुत तु रणहा=रणहापनः)। खद्योतकैर् यदि भवेत् त्रिसहस्र पूर्णम् एको रविर् ग्रसते निष्प्रभतां करोति ॥950॥ यस्य मानश्च मोहश्च मीमांसा च न विद्यते । विलोमो यदि विद्वान् नासौ शक्यो (वि-) चिकित्सितुम् ॥951॥

यक्षकुम्भाण्डमहोरगरूपा राक्षसप्रेतपिशाचकरूपाः । यावन्तो लोके विरूपा. सुरौद्राः सर्वे ते निर्मितास्तत्र शठैः ॥952॥ एकशिरसो द्विशिरसस् त्रिशिरसश्च यावत्सहस्रशिरसो बहुवक्त्राः । एकभुजा द्विभुजास् त्रिभुजाश्च यावत्सहस्रभुजा बहुभुजाः । एकपदा द्विपदास् त्रिपदाश्च यावत् सहस्रपदा बहवो ऽन्ये ॥953॥ नीलमुखाश्च पीतशरीराः पीतमुखाश्च नीलशरीराः । अन्यमुखाश्चान्यशरीरा एवमुपागतं किंकरसैन्यम् ॥954॥ वातः प्रवाति वर्षति वर्षं विद्युत्सहस्रशतानि पतन्ति । देवो गुडगुडायते वृक्षा लोडन्ति बोधिवटस्य नेर्ते पत्रम् ॥955॥ वर्षति देवः प्रवर्षति वर्षम् ओघा वहन्ति जलाकुला भूमिः । ईदृशी (वि-) भीषिका बहुराशिर् यत्राचेतना वृक्षाः पतन्ति ॥956॥ दृष्ट्वा च तान् अतिभीषणरूपान् सर्वान् विसंस्थितान्

रूपविरूपान् । श्रीगुणलक्षणतेजोधरस्य चित्तं न कम्पते मेरुर्यथैव ॥957॥ मायासमांस्तथा स्वप्नसमांश्च, अभ्रनिभान् समुदीक्षते धर्मान् । ईदृशं धर्मनयं विमृशन् सुस्थितो ध्यायति सस्थितो धर्मे ॥958॥ यस्य भवेद् अहमिति ममेति भावे समुच्छ्रये (=काये) तत्त्वनिविष्टः । स विभीयाद् अबुद्धेः स्थितो ग्राहे, आत्मानं संभ्रमं गच्छेद् निरीक्ष्य ॥959॥ शाक्यसुतस्तु स्वभावमभावं धर्मान् प्रतीत्य समुत्थितान् बुद्ध्वा गगनोपमचित्तः सुयुक्तो न भ्रमति सबलं शठं दृष्ट्वा ॥960॥

सुप्तं प्रबोधयितुमिच्छति पन्नगेन्द्रं सुप्तं प्रबोधयितुमिच्छति यो गजेन्द्रम् । सुप्त प्रबोधयितुमिच्छति यो मृगेन्द्र सुस्थं प्रबोधयितुमिच्छति स नरेन्द्रम् ॥961॥ संप्रेक्षणेन हृदयान्यभिसंस्फुटन्ति लोकेषु सारा महान्तोऽपि पादपाः (मूले प्रथमाया अर्थ एव षष्ठी महतामपि पदापानामिति) । का शक्तिरस्ति मम दृष्टिहतस्य तस्य संजीवितुं, जगति मृत्युहतस्य-इव-अस्तु ॥962॥ वृक्षेषु सारः क इवास्ति ? ततो ब्रवीषि दृष्ट्वा भिनद्मि, मनुजेष्वथ कावस्था ? मेरुं गिरिं यदि भिनत्सि निरीक्षणेन नैवास्य तव नयनाभ्यां हत उन्मिषेः ॥963॥ यः सागरं तर्तुमिच्छति वै भुजाभ्यां तोयं च तस्य पातुं मनुजः श्वसन् । शक्यं भवेदिदमतस्तु वदामि दुःखं यस्तस्य वक्त्रमभितो ऽप्यमलं निरीक्षेत ॥964॥ ममेह देहे शत भुजानां क्षिपामि चैकेन शतं शराणाम् । भिनद्मि कायं श्रमणस्य तात सुखी भव त्वं व्रज मा विलम्बस्व ॥965॥ शतं भुजानां यदि को विशेषो भुजाः किमर्थ न भवन्ति रोमाणि । भुजैकैकेन तथैव शूलस् तैश्चापि कुर्युर्नहि तस्य किंचित् ॥966॥ मैत्रीमतस्तस्य मुनेः शरीरे विषं न शस्त्रं क्रमते न चाग्निः । क्षिप्तानि शस्त्राणि व्रजन्ति पुष्पता मैत्री हि लोकोत्तरभावा तस्य ॥967॥ दिवि भुवि च जले ये बलाढ्या असिपरशुधराश्च गुह्यका नरा वा । क्षमाबलमिमं प्राप्य ते नरेन्द्रं प्रबलबला अल्पबला भवन्ति सर्वे ॥968॥ अन्तर्गतोऽहं धक्ष्यामि प्रविश्यास्य तनुं शुभाम् । वृक्षं सकोटरं शुष्कं दावाग्निरिव सूक्ष्मतः ॥969॥ मेरुं दहेस्त्वं यदि वापि कृत्स्नं प्रविश्य चान्तर्गतो मेदिनी वा । दग्धुं न शक्यः सहि वज्रबुद्धिस् त्वत्सनिभैर् गङ्गावालुकातुल्यैः ॥970॥ चलेयुर्गिरयः सर्वे क्षयं गच्छेन्महोदधिः चन्द्रसूर्यौ पतेता भूमौ मही च विलयं व्रजेत् ॥971॥ लोकस्यार्थे कृतारम्भः प्रतिज्ञाकृतनिश्चयः । अप्राप्यैव वरां बोधिं नोत्थास्यति महाद्रुमात् ॥972॥ आलयं चन्द्रसूर्ययोर्नक्षत्राणां च सर्वशः । पाणिनाहं प्रमृद्नामि तवेह भवने स्थितः ॥978॥ चतुर्भ्यः सागरेभ्यश्च जलं गृह्णामि लीलया । तं गृहीत्वा श्रमणं तात सागरस्य पारं क्षिपे ॥974॥

तिष्ठतु तात सेनेयं मा त्वं शोकार्दितो भव । तं बोधिवृक्षमुत्पाट्य क्षेप्स्ये पाणिना दिशो दश ॥975॥ सदेवासुरगन्धर्वां ससागरनगां महीम् । त्वं मर्दितां प्रकुर्याश्च पाणिभ्यां मदर्वितः ॥976॥ त्वद्विधानां सहस्राणि गङ्गावालुकया समानाम् । रोम तस्य न चालयेयुर्बोधिसत्वस्य धीमतः ॥977॥ भयं हि ते तात भृशं किमर्थं सेनाया मध्ये किमवस्थितस्य । सेना न तस्यास्ति कुतः सहायाः कस्माद् भयं ते भवतीह तस्मात् ॥978॥ यूयं न लोकेऽस्ति शशिरवीणां न चक्रवर्तिना न च केसरिणाम् । न च बोधिसत्त्वानामिह तात यूथम् एकः समर्थो नमुचिं निहन्तुम् ॥979॥ न शक्तिशूला न गदा न खड्गा न हस्तिनो ऽश्वा न रथा न पत्तयः । तं शौण्डमेकं श्रमणं निषण्णं हनिष्याम्यद्य मा संभ्रम तात किंचित् ॥980॥ नारायणस्य यथा कायो ऽच्छेद्याभेद्यः क्षान्तिबलैः कवचितो दृढवीर्यखड्गः । त्रिविमोक्षवाहनो ऽस्ति प्रज्ञाधन्वा स तात पुण्यबलेन स जेष्यति मारसेनाम् ॥981॥ न निवर्तते तृणगतः प्रदहन् दवाग्निः क्षिप्तः शरो न च निवर्तते शिक्षितेन । वज्रो नभसो निपतितो न निवर्तते च न स्थानमस्ति मम शाक्यसुतं ह्यजित्वा ॥982॥ आर्द्रं तृणं प्राप्य निवर्तते ऽग्निर् गिरिकूटमासाद्य निवर्तते शरः । वज्रं महीं प्राप्याधः प्रयाति, अप्राप्य शान्तममृतं न निवर्ततेऽयम् ॥983॥ शक्यं तातान्तरिक्षे लेख्यं चित्रं चित्रयितुं यावन्त. केचित् सर्वे सत्त्वा एकचित्ताः स्थापयितुम् । चन्द्रसूर्यौ मारुतश् च शक्याः पाशेन बद्धुं न बोधिसत्त्वः शक्यस्तात बोधिमण्ड (प)ाच् चालयितुम् ॥984॥ दृष्टिविषेण महता प्रदहामि मेरुं भस्मीकरोमि सलिलं च महोदधीनाम् । बोधिं च पश्य श्रमणं चाहं हि तात दृष्ट्या यथाद्योभयं हि करोमि भस्म ॥985॥ विषेण पूर्णो यदि वैष सर्वो भवेत् त्रिसाहस्रवरः प्रदीप्त. । निरीक्षणादेव गुणाकरस्य सुनिर्विषत्वं विषमभ्युपेयात् ॥986॥ विषाणामुग्रं त्रिभव इह यच्च रागश्च दोषश्च तथैव मोहः । ते तस्य काये च तथैव चित्ते नभसि यथा पंकरजांसि न सन्ति ॥987॥ (काये च वाचायां विशुद्धश् चित्ते सर्वेषु सत्त्वेषु च मैत्रचेताः । न तं च शस्त्राणि विषाणि हिंस्युः) तस्मानिर्वर्तामहे तात सर्वे ॥987क॥ अहं तूर्यसहस्रैः प्रवादितैर् अप्सरःकोटिसहस्रैर् अलंकृतैः । लोभयित्वा नैष्ये पुरमुत्तमं कामरतिं हि करोमि वशे तव ॥988॥ धर्मरतिः सदा तस्य रतिरिह, ध्यानरतिर् अमृतार्थरतिश्च । सत्त्वप्रमोक्षणमैत्रीरतिश्च रागरतिं स रतिं न करोति ॥989॥ जवेनाहं चन्द्ररवी ग्रसेयं प्रवान्तं गगने च वायुम् । अद्यैव तात श्रमणं गृहीत्वा प्राशस्य (अथवा प्रासस्य) मुष्टिमिव किरामि वायुना ॥990॥ यथा तवैष जववेग उग्रस् तद्वद् यदि स्यात् सुरमानुषाणाम् । सर्वे समग्रा

अपि न ते समर्थाः कर्तुं रुजमप्रतिपुद्गलस्य ॥991॥ स्यात्तादृशानामपि वृन्दमुग्र कुर्वन्न किंचित् तव मानघातम्। प्रागेव स एकः प्रकरोति किं ते वृन्देन साध्यन्ते हि सर्वकार्याणि ॥ 992॥ न सिंहवृन्दं भुवि दृष्टपूर्वं दृष्टिविषाणामपि नास्ति वृन्दम्। तेजस्विना सत्यपराक्रमाणां पुरुषर्षभाणामपि नास्ति वृन्दम् ॥993॥ न ते श्रुतास्तात गिरोऽभिदीप्ता यथा नदन्ति तनयास्तवेमे। वीर्येण वेगेन बलेन युक्ता व्रजाम शीघ्रं श्रमणं निहन्तुम् ॥994॥ बहवः शृगाला हि वनान्तरेषु नदन्ति नादान् न-सतीह (=असतीह) सिंहे। ते सिंहनादं तु निशाम्य भीमं त्रस्ताः पलायन्ते दिक्षु दशसु ॥995॥ मारौरसास्तद्वदमी अपण्डिता अश्रुत्वा नादं पुरुषोत्तमस्य। नदन्ति तावत् स्वमता अतिधृष्टा मनुष्यसिंहे नदिते न-सति (=असति) ॥996॥ यच्चिन्तयामि तदिहाशु भवति कथं न एष इमान् वीक्षते च। मूढ वा एषो ऽनभिज्ञः किं वा यदुत्थाय न पलायते लघु ॥997॥ मूढो न वायमपराक्रमो वा यूयमेव मूढाश्चासंयताश्च। न यूयं जानीथास्य वीर्यं प्रज्ञाबलेनास्य जिता स्थ सर्वे ॥998॥ मारात्मजानां यथा गङ्गावालुका एतेन वीर्येण यथैव यूयम्। रोमाणामेकं न समर्थाश्चालयितुं प्रागेव यश्चिन्तयेद् घातयिष्ये ॥999॥ मा यूयमत्र क्षिणुयात मानस प्रसन्नचित्ता भवत सगौरवाः। निवर्तध्वं मा प्रकुरुत विग्रहं भविष्यत्यसौ त्रिभवे राजा ॥1000॥ ये ते तवानुयात्राः शक्रः पालाश्च किंनरगणाश्च। असुरेन्द्रा गरुडेन्द्राः कृताञ्जलिपुटाः प्रणतास्तस्मै ॥1001॥ किं पुनरननुयात्रा ब्रह्माण आभास्वराश्च सुरपुत्राः। देवाश्च शुद्धावासकस्तेऽपि च सर्वे प्रणतास्तस्मै ॥1002॥ ये च तवेमे पुत्राः प्रज्ञा मेधाविनश्च बलिनश्च। ते बोधिसत्त्व हृदयमनुप्रविष्टा नमस्यन्ति ॥1003॥ याप्येषा मारसेनाऽशीति स्फुटा योजनानि यक्षाद्यैः। भूयिष्ठं सर्व प्रेक्षिणी प्रसन्नमना हि निर्दोषम् ॥1004॥ दृष्ट्वा यथा सुभीमां रौद्रा विकृतां चमूमिमा घोराम्। न च विस्मितो न चलितो ध्रुवमस्य जयो भवत्यद्य ॥1005॥ स्थिता यत्र च सेनेयं तत्रोलूका. शिवाश्च विरुवन्ति। वायसगर्दभरुदितं निवर्तितव्य क्षमं(=उचितं) शीघ्रम् ॥1006॥ वीक्षस्व बोधिमण्ड (पे) पट्टक्रौञ्चहंसकोकिलमयूराः। अभि दक्षिणं कुर्वन्ति ध्रुवमस्य जयो भवत्यद्य ॥1007॥ यत्र स्थिता सेनेयं तत्र मसि. मासवश्च वर्षन्ति। महीमण्ड (पे) कुसुमवृष्टिः कुरुष्व वचनं निवर्तस्व ॥1008॥ यत्र स्थिता सेनेयम् उत्कूलनिकूलं शल्यकण्टकाकीर्णम्। महीमण्ड(प) कनकनिर्मलो निवर्तितव्यं क्षमं प्राज्ञैः ॥1009॥ दृष्टा ते स्वप्नाः पूर्वं भविष्यसि प्रत्यक्ष(कृत्) यदि न गच्छसि। भस्म चमूं च करिष्यति, ऋषिभिर्देशाः कृता यथा भस्म ॥1010॥ राजा यत् ऋषिवरो रोषित आसीत्

स ब्रह्मदत्तेन । उद्दग्धं दण्डकवनं वर्षैर् बहुभिस्तृणानि न जातानि ॥1011॥ ये केचित् सर्वलोक ऋषयो व्रतचारिणस्तपोयुक्ताः । तेषामयं प्रधानो ह्यहिंसकः सर्वभूतानाम् ॥1012॥ किं ते न श्रुतानि पूर्वं काये दीप्तानि सुलक्षणानि यस्य । निष्क्रामति चागारात् स भवति बुद्धो जितक्लेशः ॥1013॥ इयमीदृशी विभूतिः पूजार्थं निर्मिता जिनसुतैः । तन्नूनमप्रसत्त्वो ह्यग्राहुतिसंप्रतिग्राही ॥1014॥ ऊर्णा यथा सुविमला विराजते क्षेत्रकोटिनयुतेषु । जिह्मीकृताः स्मश्च तया निःसंशयमेष मारबलं हन्ता ॥1015॥ मूर्धा यथास्य देवैर् द्रष्टुं न शक्यो न वै भवाग्रस्थैः । नूनं सर्वज्ञत्वं प्राप्स्यत्यन्यैरनुपदिष्टम् ॥1016॥ यथा मेरुचक्रवालाश्चन्द्रसूर्यौ च शक्रब्रह्माणः । वृक्षाश्च पर्वतवरा. प्रणताः सर्वे महीमण्ड(प)म् ॥1017॥ निःसंशयं पुण्यबली प्रज्ञाबलवांश्च ज्ञानबलवांश्च । क्षान्तिबलो वीर्यबलवान् अबलान् कर्ता नमुचिपक्षान् ॥1018॥ हस्ती यथामभाण्डं प्रमृद्नाति क्रोष्टून् यथा सिंहः । खद्योत वादित्यो भेत्स्यति सुगतस्तथा सेनाम् ॥1019॥

एकस्य वर्णान् अत्यप्रमेयान् प्रभाषते तस्य त्वमेकस्य । एको हि कर्तुं खलु किं समर्थो महाबलं पश्यसि किं न भीमम् ॥1020॥ सूर्यस्य लोके न सहायकृत्य चन्द्रस्य सिंहस्य न चक्रवर्तिनः । बोधौ निषण्णस्य च निश्चितस्य न बोधिसत्त्वस्य सहायकृत्यम् ॥1021॥

यज्ञो मयेष्टस्त्वमिहात्र साक्षी निरर्गलः पूर्वभवेऽनवद्य. । तवेह साक्षी न तु कश्चिदस्ति किंचित् प्रलापेन पराजितस्त्वम् ॥1022॥ इयं मही सर्वजगत्प्रतिष्ठाऽपक्षपाता सचराचरे समा । इयं प्रमाणा मम नास्ति मे मृषा साक्षित्वमस्मिन् मम संप्रयच्छतु ॥1023॥ तं श्रुत्वा मेदिनीरवं स शठः ससैन्य उत्त्रस्तो भिन्नहृदयः प्रपलायमानः सर्वतः (यथाऽत्त तुं सर्वस्मिन्) । श्रुत्वेव सिंहनदितं हि वने शृगालाः काका इव लोष्टपतने सहसा प्रनष्टाः ॥1024॥

सुवसन्तक ऋतुवर आगते, रमामहे प्रिय फुल्लितपादपके । तव रूपं सुरूपं सुशोभनकं, वशवर्ति सुलक्षणैश्चित्रितम् ॥1025॥ वयं जाताः सुजाताः सुसंस्थितिका., सुखकारणं देवनराणां सुसंस्तुकाः । उत्तिष्ठ लघु परिभुंक्ष्व सुयौवनका, दुर्लभा बोधिर् निवर्तय मानसकम् ॥1026॥ प्रेक्षसे तावद् इमा मरुत्कन्याः स्वलङ्कृतास्, तव कारण सज्जिता भूषिता आगताः को रूपमिदं समवेक्ष्य न रज्यति रागरतोऽपि जर्जरकाष्ठमिव शोषितजीवितकः ॥1027॥ केशा मृदवः सुरभिवरगन्धाः, मुकुट-कुण्डल-पत्रविबोधिताननाः । सुललाटाः सुलेपनाननाः, पद्मविशुद्धविशालसुलोचनाः ॥1028॥ परिपूर्ण-

चन्द्रनिभाननाः, सुपक्वबिम्बनिभाधराः। शङ्खकुन्दहिमशुक्लसुदत्यः प्रेक्षस्व कान्त रतिलालसाः ॥1029॥ कठिनपीनोद्गतपयोधरां, त्रिवलीकृतसुसुन्दरमध्या, चारुसुविस्तृतजघनाङ्गणां प्रेक्षस्व नाथ सुकामिनीम् ॥1030॥ गजभुजसंनिभोरुं, वलयनिरन्तरबाहुं। काञ्चीवरसुमंडितश्रोणिं, प्रेक्षस्व नाथेमां तव दासीम् ॥1031॥ हंसगतिसुविलम्बितगमनां, मञ्जुमनोज्ञसुमन्मथभाषिणीम्। ईदृशरूपसुभूषणां, दिव्यरतिषु सुपण्डिताम् ॥1032॥ गीतकवादितनृत्यसुशिक्षितां, रतिकारणजातिसुरूपिणीम्। यदि नेच्छसि कामसुलालसां, सुष्ठु सुवञ्चितोऽसि भृशं खलु लोके ॥1033॥ निधिं दृष्ट्वा यथा हि पलायते कश्चिन्नरो, धनसौख्यमजानन् मूढमनाः। त्वमपि तथैव हि रागमजानन् यः स्वयमागतां न भुङ्क्षे कामिनीम् ॥1034॥ इति ॥

कामा भो बहुदुःखसंचया दुःखमूला, ध्यानर्द्धितपोभ्यश्च भ्रंशिनोऽबुधानाम्। न स्त्रीकामगुणैस्तृप्तिं विद्वांस आहुः, प्रज्ञातृप्तिकरो भविष्याम्यहमबुधानाम् ॥1035॥ कामान् सेवमानस्य विवर्धते पुनस्तृष्णा पीत्वा वै लवणोदकं यथा नरस्य कस्यचित्। नात्मार्थे न परार्थे भवतीह प्रतिपन्नः, आत्मार्थे च परार्थे उत्सुको भविताहम् ॥1036॥ फेनबुद्बुदतुल्यसनिभं तव रूपं, मायारंगमिव व्युत्थापितं स्वमतेन। क्रीडा वै स्वप्न इवाध्रुवा अप्यनित्या, बालानां सदा चित्तमोहन्य् बुधानाम् ॥1037॥ नेत्रे बुद्बुदतुल्यसदृशे त्वगनद्धे, कठिनः शोणितपिण्डउद्गतो यथा गण्डः। उदरं मूत्रपुरीषसञ्चयो ऽसुचौक्षः, कर्मक्लेशसमुत्थितं दुःखयन्त्रम् ॥1038॥ संमूढा यस्मिन् बालबुद्धयो न तु विज्ञाः, शुभतः कल्पयामाना आश्रये वितथेन। संसारे बहुकालं संसरेयुर् दुःखमूले ऽ अनुभोक्तारो निरयेषु वेदना बहुदुःखाः ॥1039॥ श्रोणिः प्रस्रविगन्धिका प्रतिकूला ऊरुजङ्घाक्रमाश्च संस्थिता यथा यन्त्रम्। भूतं युष्मान् अहं निरीक्षे यथा मायां हेतुप्रत्ययतः प्रवर्तध्वे वितथेन ।1040। दृष्ट्वा कामगुणाश्च निर्गुणान् गुणहीनान् आर्यज्ञानपथस्योत्पथान् विपथांश् च। विषपत्राग्निसमान् महोरगान् यथा क्रुद्धान् बाला अत्र हि मूर्छिताः सुखसंज्ञाः ॥1041॥ कामाद् दासो भवति यो नरः प्रमदाना, शीलादुत्पथो ध्यानात् (पथाच्च्युतं तु ध्यायात्) उत्पथो मतिहीनः। ज्ञानात् स सुदूरे तिष्ठति रतिलोलो योऽसौ धर्मरतिं विहाय रमते कामैः ॥1042॥ न रागेण सह वसाम्यह न च दोषैः (= द्वेषैः) नो नानित्याशुभानात्मभिर्वसामि सार्धम्। अरत्या रत्या संवसामि न च सार्धं, निर्मुक्तं मम चित्तं मारुतो गगन इव ॥1043॥ पूर्णं सर्वं जगत् त्वादृशैर्यदिह स्यात्, कल्पं ताभिः सह समवसृतो विहरेयम्। नो वा मम खिलं न रजनं न च मोहः, आकाशसमतुल्यमानसा

जिना भवन्ति ॥1044॥ यद्यपीह रुधिरास्थिवर्जिता देवाप्सरसः सुनिर्मलाः शुभाः। तेऽपि सर्वे सुमहद्भये स्थिता नित्यभावरहिता अशाश्वताः ॥1045॥

तृष्णा ऽरती रतिश्च सहिता प्रमदवरा मधुरा मारसमीरिताः सुललितास् त्वरितमुपगताः। वायुसमीहिताः किसलयास् तरुणतरुलता नृत्ततो ऽलोभयन् नृपसुतं द्रुपविटपगतम् ॥1046॥ एष वसन्तकालसमयः प्रवर ऋतुवरो नरनारीणां (यथाऽत्तं नारीनराणां) हर्षणकरो निहतमुरजः। कोकिलहंसमयूरवो द्विजगणकलिलः काल उपपस्थितोऽनुभवितुं मदनगुणरतिम् ॥1047॥ कल्पसहस्रशालनिरतो व्रततपश्चरितो निश्चलः शैलराजसदृशस् तरुणरविवपुः। मेघनिनादवल्गुवचनो मृगपतिनिनदो वचनमुवाच सोऽर्थसहितं जगतो हितकरः ॥1048॥ कामा विवादा वैरणि कलहा मरणा भयकराः, बालजनोपसेविताः सदा बुधजनरहिताः। प्राप्तोऽयं कालो यत्र सुगतैरमृतमधिगतम् अद्य भविष्यामि मारं जित्वा दशवलोऽर्हन् ॥1049॥ मायां निदर्शयन्त्यो ऽवदञ्छृणु कमलमुख राजा भविष्यसीश्वरवरः क्षितिपतिर्बलवान्। तूर्यसहस्रैः संप्रभणिते प्रमदावरगणे किं मुनिवेषकेण भवतो विरम रतिं भज ॥1050॥ भविष्याम्यहं हि राजा त्रिभवे दिवि भुवि महितः, ईश्वरो धर्मचक्रचरणो दशबलो बलवान्। शैक्ष्याशैक्ष्य पुत्रनयुतैः सततसमितमभितो धर्मरत्या रंस्ये विषयैर्न रत्वा रमते मनः ॥1051॥ यावच्च यौवनं न गलितं प्रथमवयोधरो यावच्च व्याधिर्नाक्रमति त्वां न च जरा आयाता (यथाऽत्तं तु भूता भवेत्। मूले असिता, धातु अस् न तु अश्)। यावच्च रूपयौवनधरा वयमपि च सुखिन्यस् तावदनुभुङ्क्ष्व कामरतीः प्रहसितवदनः ॥1052॥ यावच्च दुर्लभो ऽद्य लब्धः क्षणवरोऽमृतो यावच्च वर्जितमक्षणदुःखमसुरसुरपुरे। यावज्जरा च व्याधिमरण न कुपिता रिपवः, तावदहं भावयिष्ये सुपन्थानम् अभयपुरगमम् ॥1053॥ देवपुरालयेऽप्सरोवृतस् त्रिदशपतिरिव यामसुयामसंतुषितके ऽमरवरस्तुतः। मारपुरे च कामरतीः प्रमदावशंगतः क्रीडित्वानुभुङ्क्ष्वास्माभिः सह विपुलरतिकरः ॥1054॥ कामास् तृणाग्रबिन्दुचपला शरद्घनसमाः पन्नगकन्यारोषसदृशा भृशभयकरणाः। शक्रसुयामदेवतुषिता नमुचिवशगताः कोऽत्र रमेत नार्याभिलषितेषु (=अनार्याभिलषितेषु) व्यसनपरिगतेषु ॥1055॥ पुष्पितान् पश्येमान् तरुवरान् तरुणकिसलयान् कोकिलजीवंजीवकरुतान् मधुकरविरुतान्। स्निग्धनीलकुञ्चितमृदुनि धरणीतलरुहे किन्नरसंघैन सेवितवनं रमस्व युवतिभिः ॥1056॥ कालात् पुष्पिता इमे किसलयतरव. बुभुक्षितपिपासिता

मधुकराः कुसुममभिगताः । भास्करः शोषयिष्यति यदा धरणीतलरुहान् पूर्वजिनोपभुक्तममृतं व्यवसितमिह मे ॥1057॥ प्रेक्षस्व तावच् चन्द्रवदना नवनलिनीनिभा वाग् मनोज्ञा श्लक्ष्णा दशना हिमरजतनिभा । ईदृश्यो दुर्लभाः सुरपुरे कुतो मनुजपुरे तास्त्वया लब्धा याः सुरवरैरभिलपिताः सदा ॥1058॥ पश्यामि कायममेध्यमशुचिं कृमिकुलभरितं जर्जरमित्वरं च भिदुरमसुखपरिगतम् । यत् सचराचरस्य जगतः परमसुखकरं तत्पदमच्युतं प्रतिलभेय बुधजनमहितम् ॥1059॥ ताश्चतुः षष्टिं कामललितानि चानूभूय नूपुरमेखला अभ्यघ्नन् विगलितवसनाः । कामशराहताः समदनाः प्रहसितवदनाः (आहुः इतिशेषः) किं तवार्यपुत्र विकृतं यदि (=यत्) न भजसे ॥1060॥ सर्वभवेषु दोपान् विदितवान् अवोचद् विधूतरजा कामा असिशक्तिशूलसदृशाः समधुक्षुरसमाः । सर्पशिरोऽग्निकर्षूसदृशाः सुविदिता इह मे तेनाहं नारीसंघं त्यजामि गुणहराः प्रमदाः ॥1061॥ ता बहुभिः प्रकारनयैः प्रमदागुणकरैर लोभयितुं न शेकुर् गजकलभगतिम् । लज्जित्वा ह्यपत्रापु मुनेः प्राप्तंश् चरणयोर् गौरवं तुष्टिं (यथारुतं तु तुष्टं) प्रेम जनयित्वा ऽस्ताविषुर्हितकरम् ॥1062॥ निर्मलपद्मगर्भसदृश शरदि-शशिमुख सर्पिर्हुतार्चिस्तेजः सदृश कनकगिरिनिभ । सिध्यतु चिन्तितस्ते प्रणिधिर् भवशतचरित स्वयमुपतीर्य तारय जगद् व्यसनपरिगतम् ॥1063॥ ताः कर्णिकारचम्पकनिभाः स्तुत्वा बहुविधं कृत्वा प्रदक्षिणमतिशयं गिरिमिवाचलम् । गत्वा पितुर्निपत्य शिरसेमाम् अवोचन् गिरं साध्व असनं हि तात प्रतिघस्यामरनरगुरो (=यथारुतं तु ०गुरोः) ॥1064॥ पश्यति पद्मपत्रनयन प्रहसितवदनो नापि सरक्तः प्रेक्षते जनं नापि च सभ्रुकुटिः । मेरुश्चलेत् शुष्युदुदधिः शशिरवी प्रपतेतां नैव स दोषदर्शी त्रिभवे प्रमदावशं गच्छेत् ॥1065॥

श्लक्ष्णं मधुरं च भाषते न च रक्तो, गुह्यगुह्यं च निरीक्षते न च दुष्टः (=द्विष्टः) । ईर्या चर्या च प्रेक्षते न च मूढः, कायं सर्वं पणते, आशयः सुगभीरः ॥1066॥ निःसंशयं (यथारुतं तु निःसंशयेन) विदिताः पृथवः स्त्रीदोषाः, कामैर्विरक्तमनाः न च रागरक्तः । नैवास्त्यसौ दिवि भुवीह नरः सुरो वा यस्तस्य चित्तचरितं परिजानीयात् ॥1067॥ याः स्त्रीमाया उपदर्शितास्तत्र तात, प्रविलीयेत् तस्य हृदयं भवेत् सराग. । ता दृष्ट्वा एक(-वार)मपि कम्पितं नास्य चितं, शैलेन्द्रराज इव तिष्ठति सोऽप्रकम्प्यः ॥1068॥ शतपुण्यतेजोभरितो गुणतेजः पूर्ण. शीले तपसि चरितो बहुकल्पकोटीः । ब्रह्माश्च देवाः शुभतेजसो विशुद्धसत्त्वा मूर्ध्ना निपत्य चरणयोर्नमन्ति तस्मै ॥1069॥ निःसंशयं (यथारुतं तु निःसंशयेन)

विनिहत्य स मारसेनां पूर्वैर् जिनैरनुमतां प्राप्स्यत्यग्रबोधिम् । तात न रोचते हि नो (=अस्यम्यम्) वो (=युष्माकं) रणो विवादः, बलवत्सु विग्रहः सुकृच्छ्रोऽयं प्रयोगः ॥1070॥ प्रेक्षस्व तात गगने मणिरत्नचूडाः संबोधिसत्त्वनयुताः स्थिता गौरवेण । रत्नाकराः कुसुमदामविचित्रताङ्गाः संप्रेक्षिता दशबलैरिह पूजनार्थम् ॥1071॥ ये चेतना अपि च ये चाचेतनाश्च वृक्षाश्च शैला गरुडेन्द्रसुरेन्द्रयक्षाः । अभ्यवनता अभिमुखं गुणपर्वतस्य श्रेयो भवेत् प्रतिनिर्वर्तितुमद्य तात ॥1072॥ न तं तरेद् यस्य न पारमुत्तरेद् न तं खनेद् यस्य न मूलमुद्धरेत् । न कोपयेत् तं क्षामयेत् पुनरपि यं कुर्यात्ति तं येन भवेच्च दुर्मनाः ॥1073॥

उपशोभसे त्वं विशुद्धसत्त्व चन्द्र इव शुक्लपक्षे । अभिरोचसे त्वं विशुद्धबुद्धे सूर्य इव प्रोदयमानः ॥1074॥ प्रफुल्लितस्त्वं विशुद्धसत्त्व पद्ममिव वारिमध्ये । नदसि त्वं विशुद्धसत्त्व केसरीव वनराजाव् अनुचारी ॥1075॥ विभ्राजसे त्वमग्रसत्त्व पर्वतराज इव सागरमध्ये । अभ्युद्गतस्त्वं विशुद्धसत्त्व चक्रवाल इव पर्वतः ॥1076॥ दुखगाहस्त्वमग्रसत्त्व जलधर इव रत्नसम्पूर्णः । विस्तीर्णबुद्धिरसि लोकनाथ गगनमिवापर्यन्तम् ॥1077॥ सुस्थितबुद्धिरसि विशुद्धसत्त्व धरणीतलेवत्सर्वसत्त्वोपजीव्यः । अकलुषबुद्धिरस्यग्रसत्त्वानवतप्त इव सरः सदा प्रसन्नः ॥1078॥ अनिकेतबुद्धिस्त्वम् अग्रसत्त्व मारुत इव सर्वलोके सदा ऽप्रसक्तः । दुरासदस्त्वमग्रसत्त्व तेजोराज इव सर्वमन्युना प्रहीणः ॥1079॥ बलवानसि त्वमग्रसत्त्व नारायण इव दुर्धर्षः । दृढसमादानस्त्वं लोकनाथानुत्थाता बोधिमण्ड (प)ात् ॥1080॥ अनिवर्त्यसि त्वमग्रसत्त्वेन्द्रकरोत्सृष्ट इव वज्रः । सुलब्धलाभस्त्वमग्रसत्त्व दशबलसामग्र्योऽचिराद् भविष्यसि ॥1081॥

ध्वस्तस्त्वं पापीयन् जीर्णक्रौञ्च इव ध्यायसि । दुर्बलस्त्वं पापीयञ्जीर्णगज इव पङ्कमग्नः ॥1082॥ एकाक्यसि त्वं पापीयन् निर्जित इव शूरप्रतिज्ञः । अद्वितीयस्त्वं पापीयन्नटव्यां त्यक्त इव रोगार्तः ॥1083॥ अबलस्त्वं पापीयन् भारक्लिष्ट इव बलीवर्दः । अपविद्धस्त्वं पापीयन् वातक्षिप्त इव तरुः ॥1084॥ कुपथस्थितस्त्वं पापीयन् मार्गभ्रष्ट इव सार्थिकः । दीनहीनस्त्वं पापीयन् मत्सरीव दरिद्रपुरुषः ॥1085॥ मुखरस्त्वं पापीयन्, वायस इव प्रगल्भः । मानाभिभूतस् त्वं (=अभिभूतमानस् त्वं) पापीयन्नकृतज्ञ इव दुर्विनीतः ॥1086॥ पलायिष्यसे त्वमद्य पापीयन् क्रोष्टेव सिंहनादेन । विधूनयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् वैरम्भवायुना (=झंझावातेन) विक्षिप्त इव पक्षी ॥1087॥ अकालज्ञस्त्वं पापीयन् पुण्यपरिक्षीण इव

मधुकराः कुसुममभिगताः । भास्करः शोषयिष्यति यदा धरणीतलरुहान् पूर्वजिनोपभुक्तममृत व्यवसितमिह मे ॥1057॥ प्रेक्षस्व तावच् चन्द्रवदना नवनलिनीनिभा वाग् मनोज्ञा श्लक्ष्णा दशना हिमरजतनिभा. । ईदृश्यो दुर्लभाः सुरपुरे कुतो मनुजपुरे तास्त्वया लब्धा याः सुरवरैरभिलषिताः सदा ॥1058॥ पश्यामि कायममेध्यमशुचिं कृमिकुलभरितं जर्जरमित्वरं च भिदुरमसुखपरिगतम् । यत् सचराचरस्य जगतः परमसुखकरं तत्पदमच्युतं प्रतिलभेय बुधजनमहितम् ॥1059॥ ताश्चतुः षष्टिं कामललितानि चानूभूय नूपुरमेखला अभ्यघ्नन् विगलितवसनाः । कामशराहताः समदनाः प्रहसितवदनाः (आहु. इतिशेषः) किं तवार्यपुत्र विकृतं यदि (= यत्) न भजसे ॥1060॥ सर्वभवेषु दोषान् विदितवान् अवोचद् विधूतरजा कामा असिशक्तिशूलसदृशाः समधुक्षुरसमाः । सर्पशिरोऽग्निकर्षुसदृशाः सुविदिता इह मे तेनाहं नारीसंघं त्यजामि गुणहराः प्रमदाः ॥1061॥ ता बहुभिः प्रकारनयतै. प्रमदागुणकरैर लोभयितुं न शेकुर् गजकलभगतिम् । लज्जित्वा ह्यपत्रात्तु मुनेः प्राप्तंश् चरणयोर् गौरवं तुष्टिं (यथारुतं तु तुष्टं) प्रेम जनयित्वा ऽस्ताविषुर्हितकरम् ॥1062॥ निर्मलपद्मगर्भसदृश शरदि–शशिमुख सर्पिर्हुतार्चिस्तेजः सदृश कनकगिरिनिभ । सिध्यतु चिन्तितस्ते प्रणिधिर् भवशतचरित स्वयमुपतीर्य तारय जगद् व्यसनपरिगतम् ॥1063॥ ताः कर्णिकारचम्पकनिभाः स्तुत्वा बहुविधं कृत्वा प्रदक्षिणमतिशयं गिरिमिवाचलम् । गत्वा पितुर्निपत्य शिरसेमाम् अवोचन् गिरं साध्व असनं हि तात प्रतिधस्यामरनरगुरो (=यथारुतं तु ०गुरोः) ॥1064॥ पश्यति पद्मपत्रनयन प्रहसितवदनो नापि सरक्तः प्रेक्षते जनं नापि च सभ्रुकुटिः । मेरुश्चलेत् शुष्यदुदधिः शशिरवी प्रपतेतां नैव स दोषदर्शी त्रिभवे प्रमदावशं गच्छेत् ॥1065॥

श्लक्ष्णं मधुरं च भाषते न च रक्तो, गुह्यगुह्यं च निरीक्षते न च दुष्टः (= द्विष्टः) । ईर्यां चर्यां च प्रेक्षते न च मूढः, कार्यं सर्वं पणते, आशयः सुगभीरः ॥1066॥ नि संशयं (यथारुतं तु निःसंशयेन) विदिताः पृथवः स्त्रीदोषाः, कामैर्विरक्तमनाः न च रागरक्तः । नैवास्त्यसौ दिवि भुवीह नरः सुरो वा यस्तस्य चित्तचरितं परिजानीयात् ॥1067॥ याः स्त्रीमाया उपदर्शितास्तत्र तात, प्रविलीयेत् तस्य हृदयं भवेत् सरागः । ता दृष्ट्वा एक(–वार)मपि कम्पितं नास्य चित्तं, शैलेन्द्रराज इव तिष्ठति सोऽप्रकम्प्यः ॥1068॥ शतपुण्यतेजोभरितो गुणतेजः पूर्ण. शीले तपसि चरितो बहुकल्पकोटीः । ब्रह्माश्च देवाः शुभतेजसो विशुद्धसत्त्वा मूर्ध्ना निपत्य चरणयोर्नमन्ति तस्मै ॥1069॥ निःसंशयं (यथारुतं तु नि.संशयेन)

विनिहत्य स मारसेनां पूर्वैर् जिनैरनुमतां प्राप्स्यत्यग्रबोधिम्। तात न रोचते हि नो (=अस्यम्यम्) वो (=युष्माकं) रणो विवादः, बलवत्सु विग्रह: सुकृच्छ्रोऽयं प्रयोगः ॥1070॥ प्रेक्षस्व तात गगने मणिरत्नचूडाः संबोधिसत्त्वनयुताः स्थिता गौरवेण। रत्नाकराः कुसुमदामविचित्रताङ्गाः संप्रेक्षिता दशबलैरिह पूजनार्थम् ॥1071॥ ये चेतना अपि च ये चाचेतनाश्च वृक्षाश्च शैला गरुडेन्द्रसुरेन्द्रयक्षाः। अभ्यवनता अभिमुखं गुणपर्वतस्य श्रेयो भवेत् प्रतिनिवर्तितुमद्य तात ॥1072॥ न तं तरेद् यस्य न पारमुत्तरेद् न तं खनेद् यस्य न मूलमुद्धरेत्। न कोपयेत् तं क्षामयेत् पुनरपि यं कुर्यान्ति तं येन भवेच्च दुर्मनाः ॥1073॥

उपशोभसे त्वं विशुद्धसत्त्व चन्द्र इव शुक्लपक्षे। अभिरोचसे त्वं विशुद्धबुद्धे सूर्य इव प्रोदयमानः ॥1074॥ प्रफुल्लितस्त्वं विशुद्धसत्त्व पद्ममिव वारिमध्ये। नदसि त्वं विशुद्धसत्त्व केसरीव वनराजाव् अनुचारी ॥1075॥ विभ्राजसे त्वमग्रसत्त्व पर्वतराज इव सागरमध्ये। अभ्युद्गतस्त्वं विशुद्धसत्त्व चक्रवाल इव पर्वतः ॥1076॥ दुखगाहस्त्वमग्रसत्त्व जलधर इव रत्नसम्पूर्णः। विस्तीर्णबुद्धिरसि लोकनाथ गगनमिवापर्यन्तम् ॥1077॥ सुस्थितबुद्धिरसि विशुद्धसत्त्व धरणीतलवत्सर्वसत्त्वोपजीव्यः। अकलुषबुद्धिरस्यग्रसत्त्वानवतप्त इव सरः सदा प्रसन्नः ॥1078॥ अनिकेतबुद्धिस्त्वम् अग्रसत्त मारुत इव सर्वलोके सदा ऽप्रसक्तः। दुरासदस्त्वमग्रसत्त्व तेजोराज इव सर्वमन्युना प्रहीणः ॥1079॥ बलवानसि त्वमग्रसत्त्व नारायण इव दुर्धर्षः। दृढसमादानस्त्वं लोकनाथानुत्थाता बोधिमण्ड (प)ात् ॥1080॥ अनिवर्त्यसि त्वमग्रसत्त्वेन्द्रकरोत्सृष्ट इव वज्रः। सुलब्धलाभस्त्वमग्रसत्त्व दशबलसामग्र्योऽचिराद् भविष्यसि ॥1081॥

ध्वस्तस्त्वं पापीयन् जीर्णक्रौञ्च इव ध्यायसि। दुर्बलस्त्व पापीयञ्जीर्णगज इव पङ्कमग्नः ॥1082॥ एकाक्यसि त्वं पापीयन् निर्जित इव शूरप्रतिज्ञः। अद्वितीयस्त्वं पापीयन्नटव्या त्यक्त इव रोगार्तः ॥1083॥ अबलस्त्वं पापीयन् भारक्लिष्ट इव बलीवर्दः। अपविद्धस्त्वं पापीयन् वातक्षिप्त इव तरुः ॥1084॥ कुपथस्थितस्त्व पापीयन् मार्गभ्रष्ट इव सार्थिकः। दीनहीनस्त्वं पापीयन् मत्सरीव दरिद्रपुरुषः ॥1085॥ मुखरस्त्वं पापीयन्, वायस इव प्रगल्भः। मानाभिभूतस् त्वं (=अभिभूतमानस् त्वं) पापीयन्नकृतज्ञ इव दुर्विनीतः ॥1086॥ पलायिष्यसे त्वमद्य पापीयन् क्रोष्टेव सिंहनादेन। विधूनयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् वैरम्भवायुना (=झंझावातेन) विक्षिप्त इव पक्षी ॥1087॥ अकालज्ञस्त्वं पापीयन् पुण्यपरिक्षीण इव

भिक्षुकः। विवर्ज्यसे त्वमद्य पापीयन् भिन्नभाजनमिव पांसुप्रतिपूर्णम् ॥1088॥ निग्रहीष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन मन्त्रेणेवोरगाः। सर्वबलप्रहीणोऽसि पापीयन् छिन्नकरचरण इव कबन्धः (हिन्दीभाषायां रुण्ड इति) ॥1089॥

अद्य त्वं पापीयन् निर्जेष्यसे बोधिसत्त्वेन परसैन्यमिव शूरेण। निग्रहीष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन दुर्बलमल्ल इव महामल्ले ॥1090॥ अभिभविष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन खद्योतक इव सूर्यमण्डलेन। विध्वंसयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन मुञ्जमुष्टिरिव महामारुतेन ॥1091॥ वित्रासयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन केसरिणेव शृगालः। प्रपातयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन महासाल इव मूलच्छिन्नः ॥1092॥ विलोपयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेनामित्रनगरमिव महाराजेन। विशोषयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन गोष्पदवारीव महातपेन ॥1093॥ पलायिष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन बध्यविमुक्त इव धूर्तपुरुषः। उद्भ्रामयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेनाग्निदाहेनेव मधुकरवृन्दम् ॥1094॥ रोपयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन राष्ट्रभ्रष्ट इव (रा) धर्मराजः। ध्यापयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन जीर्णक्रौञ्च इव लूनपक्षः ॥1095॥ बिभर्त्सयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन क्षीणपथ्यादन इवाटवीकान्तारे। विलापयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन भिन्नयानपात्र इव महार्णवे ॥1096॥ आम्लापयिष्यसे त्वमद्यपापीयन् बोधिसत्त्वेन कल्पदाह इव तृणवनस्पतयः। विकारयिष्यसे त्वमद्य पापीयन् बोधिसत्त्वेन महावज्रेणेव गिरिकूटः ॥1097॥

भूतां चोदनां श्रुत्वा दैवतगणानां न निवर्तते सोऽन्तकः, उच्छिन्त हत विलुम्पत इमं, मा दत्त जीवितम्। एष उत्तीर्णः स्वयं ममापि विषयात् तारयिष्यति चापरान्, नान्यन्मोक्षं वदामि किञ्चित्, श्रमण, उतिष्ठेः प्रक्राम्येः ॥1098॥ मेरुः पर्वतराजः स्थानात् चलेत् सर्वं जगन्नो भवेत्, सर्वे तारकसंघा भूमौ प्रपतेयुः सज्योतिरिन्दवो नभसः। सर्वान् सत्त्वान् कुर्यादेकमती शुष्येन्महासागरो न त्वेव द्रुमराजमूलोपगश्चाल्येतास्मद्विधः ॥1099॥

कामेश्वरोऽस्मि वशितेह सर्वलोकं, देवा सदानवगणा मनुजाश्च तिर्यञ्चः। व्याप्ता मया मम वशेन च यान्ति सर्वे, उत्तिष्ठ मम विषयस्थो वचः कुरुष्व ॥1100॥ कामेश्वरोऽसि यदि व्यक्तमनीश्वरोऽसि, धर्मेश्वरोऽहम्, अपि पश्यसि तत्त्वतो माम्। कामेश्वरोऽसि यदि दुर्गतिं न प्रयासि, प्राप्स्यामि बोधिम् अवशस्य तु पश्यतस्ते ॥1101॥ एकात्मकः श्रमण किं प्रकरोष्यरण्ये

यं प्रार्थयस्यसुलभः खलु संप्रयोगः। भृग्वङ्गिरःप्रभृतिभिस्तपसः प्रयत्नात् प्राप्तं न तत्पदवरं मनुजः कुतस्त्वम् ॥1102॥ अज्ञानपूर्वकं तप ऋषिभिः प्रतप्तं क्रोधाभिभूतमतिभिर् द्युलोककामैः। नित्यं न-नित्यमिति चात्मानं संश्रयद्भिर् मोक्षं च देशगमनस्थितमाश्रयद्भिः ॥1103॥ ते तत्त्वतोऽर्थरहितं पुरुषं वदन्ति व्यापिन प्रदेशगतं शाश्वतमाहुरेके। मूर्तं नमूर्तमगुणं गुणिनं तथैव कर्तारमकर्तारमिति चाप्यपरे ब्रुवन्ति ॥1104॥ प्राप्याद्य बोधि विरजसमिह चासनस्थस्त्वां जित्वा मार विहतं सबलं ससैन्यम्। वर्तयिष्येऽस्य जगतः प्रभवोद्भवस्य च निर्वाणं दुःखशमनं तथा शीतीभावम् ॥1105॥

मारः क्रुद्धो दुष्टो (=द्विष्टो) रुष्टः परुषां गिरं पुनस्तु भणति गृह्णामुं गौतमं, एतं ह्येकमरण्ये न्यस्तं गृहीत्वा मम पुरतो व्रजत लघु वशे कुरुत। शीघ्र गत्वा मम गेहे हडिनिगड-युगल-विकृतं कुरुत दौवारिकं, स्वयमेव पश्येद् दुःखेनार्तं बहुविविधजवरुतं मत्तामिव चेटकम् ॥1106॥ शक्यमाकाशे लेख्यं चित्रं बहुविविधं विकृत पादशः प्रकर्तुं पृथक्-पृथक् शक्यो वायुः पाशैर्बद्धु दिशो विदिशो गमनजवो नरेण सुयत्नतः। शक्यौ कर्तुं चन्द्रादित्यौ तमस्तिमिरवितिमिरकरौ नभसोऽद्य महीतलं, शक्यो नाहं त्वत्सदृशैर्बहुभिरपि गणनाविद्रुतैः (=गणनातीतैः) द्रुमात् प्रतिचालयितुम् ॥1107॥

अभ्युत्थिता बलवती नमुचेश्चमूः सा हाकारशङ्खरवभेरीमृदङ्गशब्दैः। हा पुत्र वत्स दयित किमसि प्रनष्टो दृष्ट्वेमां नमुचिसेनामतीव भीमाम् ॥1108॥ जाम्बूनदकनकचम्पकगर्भगौर सुकुमार देवनरसंस्तुत पूजनीय। अद्य प्रयास्यसि विनाशं महारणे मारस्यैष्यसि वशम् असुरस्येवेन्दुः ॥1109॥ ब्रह्मस्वरेण कलविङ्करुतस्वरेण तान् यक्षराक्षसगणान् सुगतो बभाषे। आकाशं त्राययितुमिच्छति यो ह्यविद्वान् सोऽस्मद्विधं द्रुमवराद् ग्रहीतुम् (यथारुतं तु ग्रहणाय) इच्छेत् ॥1110॥ भित्वा च यो रजो गणयेन्महासाहस्रस्य लोम्ना च सागरजलं च समुद्धरेद् यः। वज्रमयान् गिरिवान् विकिरेत् क्षणाच्च स चापि मां तरुगतं न विपीडयेत् ॥1111॥ युगस्यान्तरे स्थितो मारः प्रदुष्ट (=प्रद्विष्ट) चित्तो निष्कोशं पाणिनासि प्रगृह्य तीक्ष्णम्। उत्तिष्ठ शीघ्र श्रमणास्मन् मतेन गच्छ मा वेणुयष्टि हरितामिव छिनद्मि तेऽद्य ॥1112॥ सर्वेयं त्रिसाहस्रा मेदिनी यदि मारैः प्रपूर्णा भवेत् सर्वेषां यथा मेरुः पर्वतवरः पाणिषु खड्गी भवेत्। ते मम न समर्था लोम चालयितुं मा दूषिन्, नातिवेलं सप्रनह्येयं, स्मारयामि तेन दृढं ॥1113॥ विध्यन्ति (स्म) शैलशिखराणि ज्वलितानि वर्णानि, वृक्षान् समूलकान् अक्षैप्सुस् ताम्रलोहम्। उष्ट्र (=मुख)ांश्च गोगजमुखांस्तथा भैरवाक्षान् आशीविषान् भुजगान् दृष्टि-

विषांश्च घोरान् । 1114।। मेघा इवोत्थिताश्चतुर्दिशं गर्जन्तो वज्राशनीं-स्तथा ऽयोगोलान् वर्षन्तः । असि-शक्ति-तीक्ष्णपरशून् सविषाश्च बाणान् भिन्दन्ति मेदिनीतलं प्रमन्थन्ति वृक्षान् ।।1115।। बाहुशतैः शरशतानि क्षिपन्ति केचिद् आशीविषान् हुतवहांश्च मुखान् सृजन्ति । मकरादिकांश्च जलजानुदधेर् गृहीत्वा विध्यन्ति केचिद् भुजगान् गरुडाश्च भूत्वा ।।1116।। केचित् सुमेरुसदृशान् अयोगोलकान् तप्ताग्निवर्णशिखरान् निक्षिपन्ति रुष्टाः । आसाद्य मेदिनीतलं क्षोभयन्ति चोर्वीम् । अधस्तादापस्कन्धं सलिलं (यथारुतं सलिलस्य) विलोडयन्ति ।।1117।। केचित्पतन्ति पुरतस्तथा पृष्ठतो ऽस्य वामे च दक्षिणस्मिन् पतन्त्य् अहो ते वत्स । विपरीतहस्तचरणा ज्वलितोत्त-माङ्गा नेत्रेभ्यो निश्चरति विद्युदिव प्रदीप्ता ।।1118।।

दृष्ट्वा विकारविकृतां नमुचेस्तु सेनां मायाकृतां च यथा प्रेक्षते शुद्ध-सत्त्वः । नैवात्र मारो न बलं न जगन्न चात्मा, उदकचन्द्ररूपसदृशं भ्रमति त्रिलोकम् ।।1119।। चक्षुर्न स्त्री पुरुषो नापि चात्मीयं श्रोत्रं च घ्राणं तथा जिह्वा तथैव कायः । अध्यात्मशून्या बहिर्धाशून्याः प्रतीत्यजाता धर्मा इमे कारकवेदकव्यतिवृत्ताः ।।1120।। स सत्यवाक्यमकरोत् सदा सत्यवादी येनेह सत्यवचनेनेमे शून्यधर्माः । ये केचित् सौम्या विनये ऽनुकूला यक्षास्ते शस्त्राणि पाणिषु निरीक्षेरन् (यथारुतं तु निरैक्षिपत) पुष्पदामानि ।।1121।। स दक्षि-णेन करतलेन रचिताग्रजालेन ताम्रैर्नखैः सुरुचिरेण सहस्रारचक्रेण । जाम्बून-दार्चिःसदृशेन शुभपुण्यजुष्टेन मूर्ध्नो यावत् स्पृशति चरणौ सलीलम् ।।1122।। बाहुं प्रसार्य यथा विद्युदिव नभःस्याद् आभाषते वसुमतीयं मम साक्षिणी । चित्राणि मया यज्ञनयुतान्यपीष्टानि पूर्वं न मे जातु याचनका वन्ध्याः कृता । न दास्ये (इति विचिन्त्य इतिशेषः) ।।1123।। आपो मे साक्षिण्यस्तथा तेज-स्तथैव वायुर् ब्रह्माण-प्रजापतयः सज्योतिषो चन्द्रसूर्यौ । बुद्धा मे साक्षिणो दशसु स्थिता ये दिक्षु यथा मम शीलव्रतान्युद्गतानि बोध्यङ्गानि ।।1124।। दानं मे साक्षि तथा शीलं तथैव क्षान्तिर् वीर्यमपि साक्षि तथा ध्यानं तथैव प्रज्ञा । चत्वार्यप्रमाणानि मम साक्षीणि तथाभिज्ञा ऽनुपूर्वं बोधिचर्या सर्वा ममेह साक्षिणी ।।1125।। यावन्तः सत्त्वा निखिला दशसु दिक्षु यत् तेषु (अथवा तेषां) पुण्यं बलं तथैव ज्ञानम् । प्रज्ञा निरर्गला ये इष्टाः सहः कलिभिः (= कलनैः, गणनैः) ते मम रोमशततमी कलां नोपयान्ति ।।1126।। स पाणिना धरणीमाहन्ति सलीलं रणतीयं वसुमती यथा कंसपात्री । मारो निशम्य रवं मेदिन्यां निरस्तः शृणुते वचो हत गृह्णीत कृष्णबन्धुम् ।।1127।। प्रस्विन्नगात्रं हततेजसं विवर्णवक्त्रं मारो जराभिहतमात्मानं सम-

दर्शत् । उरस्तताडं क्रन्दतो भयार्तस्यानाथभूतस्य भ्रान्तं मनो नमुचेर्गतश्चित्तं मोहम् ॥1128॥ हस्त्यश्वयानरथा भूमितले निरस्ता धावन्ति राक्षसाः कुम्भाण्डाः पिशाचा भीताः । संमूढा मार्गं न लभन्ते ऽलयनत्राणाः पक्षिणो दवाग्निपतनेनेव निरीक्ष्य क्रान्ताः ॥1129॥ माता स्वसा पिता पुत्रस्तथैव भ्राता पृच्छन्ति तत्र क्वचिद् दृष्टः क्व गतो वा । अन्योन्यं विग्रहं कुर्वन्ति तथैवाघातं प्राप्ता वयं व्यसनं जीवितस्य नावकाशः ॥1130॥ सा मारसेना विपुलाऽक्षोभ्या विभ्रष्टा सर्वा विरलीकृता नैव संधिः । दिवसान् सप्ताभ्ययासीत् परस्परेण, आभाषत दृष्ट्वा यदि जीवने तं खलु प्रीतः ॥1131॥

सा वृक्षदेवता तदा करुणां हि कृत्वा वारिघटं गृहीत्वा सिञ्चति कृष्णबन्धुम् । उत्तिष्ठ शीघ्रं व्रज मा पुनर्विलम्बस्वैवं हि तेषां भवति गुरुद्वाराणाम् ॥1132॥ दुःखं भयं व्यसनशोकविनाशनं च धिक्कारशब्दमवमानगतं च दैन्यम् । प्राप्तोऽस्म्यद्यापराध्य सुशुद्धसत्त्वे ऽश्रुत्वा वाक्यं मधुरं हितमात्मजानाम् ॥1133॥ भयं च दुःखं व्यसनं च दैन्यं धिक्कारशब्दं वधबन्धनं च । दोषाननेकान् लभते ह्यविद्वान् निरपराध्येष्वपराध्यति यः ॥1134॥

देवासुर-गरुडराक्षसकिन्नरेन्द्रा ब्रह्माथ परनिर्मिताः साकनिष्ठाः । भाषन्ते तस्य विजयं, जय लोकवीर, यत्रेदृशी नमुचिसेना त्वया निरस्ता ॥1135॥ हारार्धचन्द्रान् ध्वजच्छत्रपताका ददति पुष्पागुरून् तगरचन्दनचूर्णवर्षम् । तूर्याणि पराहन्य वाक्यमुदीरयन्त्य् आस्य (=आ-आस्-य) द्रुमे त्वया च शूर जितोऽरिसंघः ॥1136॥ अत्रैव चासनवरे लभसेऽद्य बोधिम् आवेणिकानि दशबलानि प्रतिसंविदं च । सर्वं च बुद्धविषयं लभसेऽद्य शूर मैत्र्या विजित्य विपुलाञ्छठमारपक्षान् ॥1137॥ इह मारधर्षणकृते च रणे प्रवृत्ते संबोधिसत्त्वबलविक्रमो यैर्दृष्टः । षट्त्रिंशकोटिभिर् नयुतानां चतुर्भिश्च विंशत्या यैर्मनः प्राणिहितं वरबुद्धबोधौ ॥1138॥ इति ॥

॥ २२ ॥

॥ अभिसंबोधनपरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 343 (पंक्ति 13)—357 (पंक्ति 17)
भोटानुवाद 248ख (पंक्ति 2)—259क (पंक्ति 7)

॥ २२ ॥

॥ अभिसंबोधनपरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओ, इस प्रकार, मार रूपी शत्रु को पराजित कर, कंटक को मसल कर, लडाई के मुहाने पर विजय पाकर, (विजय के) छत्र को, (विजय की) ध्वजा को, (विजय की) पताका को उन्नत कर, कामों से एवं पाप तथा अकुशल धर्मों से रहित, वितर्क–सहित एवं विचार–सहित, विवेकजनित प्रीतिमय एवं सुखमय प्रथम ध्यान को प्राप्त कर, बोधिसत्त्व विहरने लगे।

(फिर) वितर्क-सहित, एवं विचार-सहित (धर्मों के) शान्त होने पर, अध्यात्म की निर्मलता से, चित्त के एकाग्र–भाव से, वितर्क–रहित एवं विचार-रहित, समाधिजनित, प्रीतिमय एवं सुखमय, द्वितीय ध्यान को प्राप्त कर विहरने लगे।

(फिर) वे प्रीति मे वीतराग होने से उपेक्षक हो विहरने लगे, स्मृतिमान् एव संप्रज्ञानी (=जागरूक) काय से सुख का प्रतिसवेदन (=अनुभव) करने लगे। जिसका आर्य (-लोग) वर्णन करते है कि-उपेक्षक, स्मृतिमान्, (–344–) सुखविहारी, प्रीतिरागरहित, =249क=तृतीय पाकर विहरता है।

(फिर) वे सुख के प्रहाण से, एवं पहले से ही दु·ख का प्रहाण हो जाने से, सौमनस्य तथा दौर्मनस्य के अस्त हो जाने से, दु ख-रहित एवं सुख-रहित, उपेक्षा द्वारा तथा स्मृति द्वारा परिशुद्ध, चतुर्थ ध्यान को प्राप्त कर विहरने लगे।

2. इसके अनन्तर उस प्रकार समाहित (=समाधिप्राप्त), परिशुद्ध, वर्यवदात (=सर्वथा कालुष्य--रहित), प्रभास्वर (=उज्वल), अनङ्गण (=क्लेश--रहित), उपक्लेश-रहित, मृदु, कर्म, मे उद्योगशील, आनिज्यप्राप्त (=चचलता--रहित) चित्त मे रात्रि के प्रथम प्रहर में, दिव्यदृष्टि–ज्ञानदर्शनविद्या का साक्षात्कर करने के लिए बोधिसत्त्व ने चित्त का अभिनिर्हरण (=कार्यसिद्धि मे प्रोत्साहन) किया, अभिनिर्नामन (=लक्ष्य मे तल्लीनभाव) किया।

इसके अनन्तर, मानवभाव का अतिक्रम कर परिशुद्ध दिव्यचक्षु के द्वारा बोधिसत्त्व ने प्राणियो को देखा और कर्मानुसार उत्पन्न होते हुए, च्युत होते हुए, सुन्दर वर्ण (=रंग) के, कुत्सित वर्ण (=रंग) के सुगत (=धनी), दुर्गत (=दरिद्र), उत्तम तथा हीन होते हुए प्राणियों को जाना।

3 अहो, ये प्राणी कायदुश्चरित से युक्त हैं, वाग्दुश्चरित से युक्त हैं, मनोदुश्चरित से युक्त हैं, आर्यों के निन्दक हैं, मिथ्यादृष्टि के हैं। मिथ्यादृष्टि के कर्मों और धर्मों का अनुष्ठान करने के कारण, शरीरनाश होने के पश्चात्, =249ख= मरण के अनन्तर अपाय एवं दुर्गति में गिर कर नरकों में उत्पन्न होते हैं।

4. अहो, ये भाग्यवान् प्राणी कायसुचरित से युक्त हैं, वाक्-सुचरित से युक्त हैं, मनः सुचरित से युक्त हैं, आर्यों के प्रशंसक हैं, सम्यग्दृष्टि के हैं। सम्यग्दृष्टि के कर्मों और धर्मों का अनुष्ठान करने के कारण, शरीरनाश होने के पश्चात्, सुगति मे जाकर स्वर्ग-लोकों में उत्पन्न होते हैं।

5. इस प्रकार, मानवभाव का अतिक्रम कर विशुद्ध दिव्यचक्षु के द्वारा (बोधिसत्त्व ने) कर्मानुसार उत्पन्न होते हुए, च्युत होते हुए, सुन्दर वर्ण (=रंग, के, कुत्सित वर्ण (=रंग) के, सुगत (=धनी), दुर्गत (=दरिद्र), उत्तम तथा हीन होते हुए प्राणियो को देखा। इस प्रकार हे भिक्षुओं, रात्रि के प्रथम प्रहर मे, बोधिसत्त्व ने विद्या का साक्षात्कार किया, अन्धकार को नष्ट किया, प्रकाश को उपजाया।

6. (–345–) इसके अनन्तर, उस प्रकार समाहित (=समाधिप्राप्त), परिशुद्ध, पर्यवदात (=सर्वथा कालुष्य-रहित), प्रभास्वर (=उज्ज्वल), अनङ्गण (=क्लेश-रहित), उपक्लेश-रहित, मृदु, कर्म मे उद्योगशील, आनिञ्ज्यप्राप्त (=चंचलता-रहित) चित्त मे, रात्रि के मध्यम–प्रहर मे, पूर्वनिवासानुस्मृतिज्ञानदर्शन–विद्या का साक्षात्कार करने के लिए, (बोधिसत्त्व ने) चित्त का अभिनिर्हरण (=कार्य-सिद्धि मे प्रोत्साहन) किया, =250क= अभिनिर्नमन (=लक्ष्य मे तल्लीनभाव) किया।

7. उन्होने अपने तथा दूसरे प्राणियो के अनेक प्रकार के पूर्वनिवासों का अनुस्मरण किया। यथा उन्होने अनुस्मरण किया एक जन्म का, दो, तीन, चार, पाँच, दस, बीस, तीस, चालीस, पचास, जन्मो का, सौ जन्मों का, सहस्र जन्मों का शत-सहस्र जन्मो का, अनेक शत-सहस्र जन्मों का, करोड़ जन्मों का, सौ करोड़ जन्मो का, सौ-हजार करोड़ जन्मो का, खर्ब करोड़ जन्मों का, अनेक हजार करोड जन्मों का, अनेक सौ-हजार करोड का, अनेक सौ-हजारखर्व करोड़ जन्मों का, यहाँ तक कि प्रलय-कल्प का, सृष्टि कल्प का, प्रलय एवं सृष्टि कल्प का, अनेक प्रलय एवं सृष्टि कल्पों का। मैं अमुक स्थान पर था। ऐसा नाम था, ऐसा गोत्र था, ऐसी जाति थी, ऐसा वर्ण (=रंग) था, ऐसा आहार था, आयु का ऐसा प्रमाण था, ऐसा दीर्घ-जीवन था, ऐसे दुःखों एवं सुखों का प्रतिसंवेदी (=अनु-

भवी) था। मैं वहाँ से च्युत होकर अमुक स्थान पर = 250ख = उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्युत होकर अमुक स्थान पर उत्पन्न हुआ, वहाँ से च्युत हो कर यहाँ उत्पन्न हुआ,—इस प्रकार आकार (= प्रभेद)—सहित, एवं उद्देश (= नाम-धाम)—सहित अपने तथा (अन्य) सब प्राणियों के पूर्वनिवासों का अनुस्मरण किया।

8. इसके अनन्तर, उस प्रकार समाहित (= समाधिप्राप्त), परिशुद्ध, पर्यवदात (= सर्वथा कालुष्य-रहित), प्रभास्वर (=उज्ज्वल), अनङ्गण (क्लेश-रहित), उपक्लेश-रहित, मृदु, कर्म मे उद्योगशील, आनिञ्ज्यप्राप्त (= चंचलता-रहित) चित्त में, रात्रि के अन्तिम प्रहर में, अरुणोदय के समय, नन्दीमुखी (= मंगलमुखी) रात्रि मे, दुःखों तथा दुःखों के समुदय (= हेतु) जहाँ अस्त हो जाते हैं, ऐसी आश्रवक्षयज्ञानदर्शन-विद्या का साक्षात्कार करने के लिये, बोधिसत्त्व ने चित्त का अभिनिर्हरण (=कार्यसिद्धि में प्रोत्साहन) किया, अभिनिर्नमन (= लक्ष्य मे तल्लीनभाव) किया।

9. उनके मन में यह बात आई। (–346–) कष्ट—हा—कष्ट, लोक आपत्ति में है, जनमता है, बूढा होता है, मरता है, च्युत होता है, उत्पन्न होता है। फिर भी जरा, व्याधि, मरण आदि के इस केवल महादुःखस्कन्ध से निःसरण (=निकल भागना) नही जानता। अहो, जरा, व्याधि, मरण आदि के इस सब महादुःख-स्कन्ध का अवसान करना नही जाना जाता है।1।

10. तदनन्तर बोधिसत्त्व के मन मे यह बात आई। किसके होने पर जरा-मरण होता है? और किसके प्रत्यय से जरा-मरण होता है? = 251क = उनके मन मे यह बात आई। जन्म के होने पर जरा-मरण होता है। और जन्म के प्रत्यय से जरा-मरण होता है।2।

11. तदनन्तर बोधिसत्त्व के मन मे फिर यह बात आई। किसके होने पर जन्म होता है? और किसके प्रत्यय से जन्म होता है? उनके मन में यह बात आई। भव के होने पर जन्म होता है। और भव के प्रत्यय से जन्म होता है।3।

12. तदनन्तर बोधिसत्त्व के मन मे यह बात आई। किसके होने पर भव होता है? और किसके प्रत्यय से भव होता है? उनके मन मे यह बात आई। उपादान के होने पर भव होता है। और उपादान के प्रत्यय से भव होता है।4।

13. तदनन्तर बोधिसत्त्व के मन मे यह बात आई। किसके होने पर उपादान होता है? और किसके प्रत्यय से उपादान होता है? उनके मन मे यह बात आई। तृष्णा के होने से उपादान होता है। और तृष्णा के प्रत्यय से उपादान होता है।5।

14. तदनन्तर, बोधिसत्त्व के मन में फिर यह बात आई। किसके होने पर तृष्णा होती है ? और किसके प्रत्यय से तृष्णा होती है ? उनके मन में यह बात आई। वेदना के होने से तृष्णा होती है। और वेदना के प्रत्यय से तृष्णा होती है।6।

15. तदनन्तर, बोधिसत्त्व के मन मे फिर यह बात आई। किसके होने पर वेदना होती है ? और किसके प्रत्यय से वेदना होती है ? उनके मन में यह बात आई। स्पर्श के होने पर वेदना होती है। और स्पर्श के प्रत्यय से वेदना होती है।7।

16. (–347–) तदनन्तर =251=) बोधिसत्त्व के मन मे फिर यह बात आई। किसके होने पर स्पर्श होता है ? और किसके प्रत्यय से स्पर्श होता है ? उनके मन मे यह बात आई। षडायतन के होने से स्पर्श होता है। और षडायतन के प्रत्यय से स्पर्श होता है।8।

17. तदनन्तर बोधिसत्त्व के मन मे फिर यह बात आई। किसके होने पर षडायतन होता है ? और किसके प्रत्यय से षडायतन होता है ? उनके मन मे यह बात आई। नाम–रूप के होने पर षडायतन होता है। और नाम—रूप के प्रत्यय से षडायतन होता है।9।

18. तदनन्तर बोधिसत्त्व के मन मे फिर यह बात आई। किसके होने पर नाम—रूप होता है ? और किसके प्रत्यय से नाम—रूप होता है ? उनके मन में यह बात आई। विज्ञान के होने पर नाम—रूप होता है। और विज्ञान के प्रत्यय से नाम—रूप होता है।10।

19. तदनन्तर, बोधिसत्त्व के मन मे फिर यह बात आई। किसके होने पर विज्ञान होता है ? और किसके प्रत्यय से विज्ञान होता है ? उनके मन में यह बात आई। संस्कारों के होने पर विज्ञान होता है। और संस्कारों के प्रत्यय से विज्ञान होता है।।11।।

20. तदनन्तर, बोधिसत्त्व के मन मे फिर यह बात आई। किसके होने पर संस्कार होते है ? और किसके प्रत्यय से संस्कार होते है ? उनके मन में यह बात आई। अविद्या के होने से =252क= संस्कार होते है। अविद्या के प्रत्यय से सस्कार होते है।12।

21. हे भिक्षुओं, बोधिसत्त्व के मन में यह बात आई। अविद्या 1 के प्रत्यय से संस्कार होते हैं। संस्कारों 2 के प्रत्यय से विज्ञान होता है। विज्ञान 3 के प्रत्यय से नाम-रूप होता है। नाम-रूप 4 के प्रत्यय से षडायतन होता है। षडा-

यतन 5 के प्रत्यय से स्पर्श होता है। स्पर्श 6 के प्रत्यय से वेदना होती है। वेदना 7 के प्रत्यय से तृष्णा होती है। तृष्णा 8 के प्रत्यय से उपादान होता है। उपादान 9 के प्रत्यय से भव होता है। भव 10 के प्रत्यय से जन्म होता है। जन्म 11 के प्रत्यय से जरा-मरण, शोक, परिवेदन (=विलाप), दुःख, दौर्मनस्य, और उपायास (=बेचैनी) होते हैं। इस प्रकार, केवल इस महान् दुःखस्कन्ध 12 का समुदय होता है, (फिर-फिर) समुदय एवं समुदय होता है।

22. (-348-) हे भिक्षुओ, इस प्रकार, पहले न सुने गए धर्मों (के विषय) मे बोधिसत्त्व के अधिकाधिक योनिशः—मनस्कार (=उचित रूप मे चिन्तन) से ज्ञान उत्पन्न हुआ, चक्षु उत्पन्न हुआ, विद्या उत्पन्न हुई, भूरि (=ज्ञान विपुलता) उत्पन्न हुई, मेधा उत्पन्न हुई, प्रज्ञा उत्पन्न हुइ, आलोक (=प्रकाश) का प्रादुर्भाव हुआ।

23. [1]तदनन्तर, बोधिसत्त्व के मन मे फिर यह बात आई। किसके न होने पर[1] जरा-मरण नही होता है ? और किसके निरोध से जरा-मरण का निरोध होता है ? उनके मन मे यह बात आई। जन्म के न होने पर जरा-मरण नहीं होता है। और जन्म के निरोध से जरा-मरण का निरोध होता है। =252ख=

24. तदनन्तर बोधिसत्त्व के मन मे फिर यह बात आई। किसके न होने पर जन्म नहीं होता है ? और किसके निरोध से जन्म का निरोध होता है ? उनके मन मे यह बात आई। भव के न होने पर जन्म नही होता है। और भव के निरोध से जन्म का निरोध होता है।

25. तदनन्तर, बोधिसत्त्व के मन में फिर यह बात आई। किसके न होने पर (उपादान-तृष्णा-वेदना-स्पर्श-षडायतन-नामरूप-विज्ञान-) संस्कार नही होते है। और किसके निरोध से (उपादान-तृष्णा-वेदना-स्पर्श-षडायतन-नामरूप-विज्ञान-) संस्कारो का निरोध होता है। उनके मन मे यह बात आई। अविद्या के न होने पर संस्कार नही होते है। और अविद्या के निरोध से संस्कारों का निरोध होता है। संस्कारों के निरोध से विज्ञान का निरोध होता है। (विज्ञान के निरोध से नामरूप का निरोध होता है। नाम-रूप के निरोध से षडायतन का निरोध होता है। षडायतन के निरोध से स्पर्श का निरोध होता है। स्पर्श के निरोध से वेदना का निरोध होता है। वेदना के निरोध से तृष्णा का निरोध होता है। तृष्णा के निरोध से उपादान का निरोध होता है। उपादान के निरोध

1. मूल, कस्मिन्नसति। भोट, दे नस् यङ् ब्यङ् छुब् सेम्स् द्पह् ह्वि स्ञम् दु सेम्स् ते गङ् मेद् पस् (=अथ बोधिसत्त्वस्य पुनरेतदभवत्। कस्मिन्नसति)।

सत्त्वधातु की व्यवस्था हो गई, सम्यक्त्वभाव में नियत (धर्म–) राशि की प्रशंसा की गई, मिथ्याभाव मे नियत (धर्म–) राशि की निन्दा की गई, अनियत (धर्म–) राशि का परिग्रह किया गया, सत्त्वेन्द्रियों की व्यवस्था की गई, प्राणि चरित जाने गए, [7] सत्त्व (=चित्त) निदान से उत्पन्न प्राणिव्याधि समझी गई[7], अमृत–भैषज-योग सिद्ध किया गया।

सब दु:खों से छुडाने वाले और निर्वाण–सुख में बिठाने वाले वैद्यराज उत्पन्न हुए, सर्वज्ञता–नगर में प्रविष्ट हुए, तथागत–गर्भ के तथागत–महाधर्म के राजासन पर विराजमान हुए, सब विमुक्तिपक्षों का संबन्ध (अपनी ओर) कर लिया, सब बुद्धों का सामीप्य प्राप्त कर लिया, धर्मधातु का निर्बाध अवबोध होने से असंभिन्न (=प्रपंचविमुक्त) हो गए।

48. हे भिक्षुओ, यहाँ मैने अनुत्तर सम्यक् संबोधि का अवबोध किया है, जिसके आदि का पता नहीं है, ऐसे जरा–मरण के दु ख को मैंने यहाँ अन्त किया है—यह बात मन मे कर तथागत उसी बोधिमण्डप मे प्रथम सप्ताह भर बैठे रहे।

पाने के योग्य है, देखने के योग्य है, साक्षात्कार करने के योग्य है, उस सब के साथ[5] एक (अग्र) चित्त मे ईक्षणसमायुक्त (=दर्शन संयुक्त) प्रज्ञा के द्वारा[5] अनुत्तर-सम्यक्-सम्बोधि का बोध लेकर त्रैविद्याधिगमन (=दिव्यदृष्टि, पूर्व-निवासानुस्मृति, एवं आस्रव-क्षय ज्ञान रूपी तीन विद्याओ का लाभ हुआ।

44. तदन्तर, हे भिक्षुओ, – 254 – देवता बोले। हे मार्षो (=साथियो), पुष्प-वर्षा करो, भगवान् अभिसंबुद्ध हो गए। वहाँ पर जिन देवपुत्रों ने पहले के बुद्धों को देखा था और (वहाँ पर) एकट्ठे थे, उन्होंने कहा—मार्षो (=साथियो), जब तक भगवान् निमित्त नही प्रकट करते तब तक पुष्प वर्षा मत करो। पहले के बुद्धो ने निमित्त प्रकट किया था, ऋद्धि-चमत्कार दिखाया था।

45. हे भिक्षुओं, उन देवपुत्रों को दुविधा में पड़ा जान कर, सात-ताल जितनी ऊँचाई तक आकाश में उड़ कर, वहाँ बैठ कर, तथागत यह उदान बोले।—

(छंद आर्या विपुला)

(–351–) छिन्न वर्त्मोपसान्त रजाः शुष्का आश्रवा न पुन श्रवन्ति।
[6]छिन्न वर्त्म निवर्तते[6] दुःखस्यैषोऽन्त उच्यते ॥1139॥ इति॥

मार्ग (=संसार) कट गया, रज का उपशमन हो गया, आस्रव सूख गए, *अब फिर न बहेंगे। मार्ग (=संसार) के कटने पर निवृत्त होना है।* यह (=निवृत्ति) ही दुःख का अन्त कही जाती है।

46. तब उन देवपुत्रों ने तथागत के ऊपर पुष्पवर्षा की। उससे घुटने तक ऊँची दिव्य-पुष्पों की चादर बिछाई।

47. हे भिक्षुओ, इस प्रकार तथागत के अभिसंबुद्ध होने पर, तमो (गुण का) अन्धकार दूर हो गया, तृष्णा का शोधन हो गया, दृष्टि बदल गई, क्लेश विचलित हो गए, काँटे निकल गए, गाँठ खुल गई, मान का झंडा गिरा दिया गया, धर्म का झडा फहराने लगा, अनुशय उखाड़ डाले गए, धर्मतथता = 255क = *का ज्ञान हो गया, भूतकोटि का अवबोध हो गया, धर्मधातु का परिज्ञान* हो गया,

5....5 मूल एक चित्तेक्षणसमायुक्तया। चित्तेक्षण = चित्तक्षण (काल वाचक शब्द) तुलनीय भोट, सेम्स् क्यि स्कद् चिग् ग्चिग् दङ् ल्दन् प हि् (=एकचित्त-क्षणसमायुक्तया, एक चित्त-क्षण से युक्त)।

6....6. मूल, छिन्ने वर्त्मनि वर्तते। भोट, लम् नि छद् दे यङ् मि ह्जुग् (=छिन्ने वर्त्मनि निवर्तते)। मूल मे वर्त्म से नि को पृथक् कर वर्तते के साथ पढ़ना ही अर्थसंगत है।

सत्वधातु की व्यवस्था हो गई, सम्यक्त्वभाव मे नियत (धर्म–) राशि की प्रशंसा की गई, मिथ्याभाव मे नियत (धर्म–) राशि की निन्दा की गई, अनियत (धर्म–) राशि का परिग्रह किया गया, सत्वेन्द्रियों की व्यवस्था की गई, प्राणि चरित जाने गए, [7] सत्व (=चित्त) निदान से उत्पन्न प्राणिव्याधि समझी गई[7], अमृत–भैषज-योग सिद्ध किया गया।

सब दु:खों से छुड़ाने वाले और निर्वाण–सुख मे बिठाने वाले वैद्यराज उत्पन्न हुए, सर्वज्ञता–नगर में प्रविष्ट हुए, तथागत–गर्भ के तथागत–महाधर्म के राजासन पर विराजमान हुए, सब विमुक्तिपक्षों का संबन्ध (अपनी ओर) कर लिया, सब बुद्धों का सामीप्य प्राप्त कर लिया, धर्मधातु का निर्बाध अवबोध होने से असंभिन्न (=प्रपंचविमुक्त) हो गए।

48. हे भिक्षुओ, यहाँ मैंने अनुत्तर सम्यक् संबोधि का अवबोध किया है, जिसके आदि का पता नहीं है, ऐसे जरा–मरण के दु:ख को मैंने यहाँ अन्त किया है—यह बात मन मे कर तथागत उसी बोधिमण्डप मे प्रथम सप्ताह भर बैठे रहे।

49. =255ख= हे भिक्षुओ, बोधिसत्त्व के द्वारा सर्वज्ञता प्राप्त कर लेने के अनन्तर, ठीक उसी क्षण, दसों दिशाओं के सब लोक-धातुओं के सब प्राणी, उस क्षण-भर मे, उस लव-भर मे उस मुहूर्त-भर मे परम-सुख से युक्त हो गए। सब लोकधातुएँ महान् प्रकाश से चमकने लगी। और जो लोकों को छिपाने वाले पाप, तथा पाप से व्याप्त (–352–) अन्धकार थे उनमें, जैसा पहले कहा है, (प्रकाश से भर गए)। दसों दिशाओं की सब लोकधातुएँ, छह प्रकार से, काँप उठी, अधिक काँप उठी, चारो ओर से अधिक काँप उठी, हिल उठीं, अधिक हिल उठीं, चारों ओर से अधिक हिल उठी,–चंचल हो उठीं, अधिक चचल हो उठी, चारों ओर से अधिक चंचल हो उठी, उनमे खलभली मच गई, अधिक खलभली मच गई, चारों ओर से अधिक खलभली मच गई। (वे) बज उठीं, अधिक बज उठी, सब ओर से अधिक बज उठी, गरज उठी, अधिक गरज उठी, सब ओर से अधिक गरज उठी।

7....7. मूल अववुद्धा सत्त्वव्याधि: सत्त्वसमुत्थान०। पठनीय, अवबुद्धा सत्त्वव्याधि: सत्त्वसमु-त्थाना। अन्तिम पद सत्त्व व्याधि का विशेषण है। अनन्तर के पद सिद्धो से इसका संबन्ध नही है। भोट, सेम्स् चन् क्यि नद् गसो व नि थुगस् सु छुद् (= सत्त्वव्याधि-चिकित्सा मनसि कृता)। यहाँ मूल से भेद है।

50. अभिसंबुद्ध हुए तथागत को (उस समय) सब बुद्धों ने साधुवाद दिया और धर्माच्छादन (=धर्मच्छत्र) भेंट किए धर्माच्छादनों (धर्मच्छत्रों से) इस त्रिसाहस्रमहासाहस्र धातु का (आवरण हो गया और उस पर) अनेक रत्न-छत्र छा गए। उन रत्न-छत्रों से इस प्रकार के रश्मि-जाल = 256क = निकले, जिनसे दसों दिशाओं की अप्रमेय असंख्य लोकधातुएँ चमचमाने लगीं।

51. दसों दिशाओं में (खड़े) बोधिसत्त्वों और देवपुत्रों ने आनन्द-ध्वनि की—सत्त्वों मे (= प्राणियों में) पंडित का ज्ञान-सरोवर मे लोक-धर्मों से अलिप्त पद्म का जन्म हुआ है। चारों ओर से (ये) महाकरुणा के मेघ से धर्मधातु के भवन को छाकर[8] विनेयजनों (=शिक्षणीय जनों) के लिए भैषज्य (-भूत) धर्मों की वर्षा करेंगे[8] जो सब कुशल-मूलों के बीजो में अंकुर उगा देगी, श्रद्धा के अंकुरों को बढा देगी, विमुक्ति का फल देगी।

52. इस विषय में (गाथाओं द्वारा) यह कहा जाता है—

(छंद वसन्ततिलका)

मारं विजित्य सबलं स हि पुरुषसिंहो
ध्यानासुखं[9] अभिमुखं अभितोऽपि शास्ता।
त्रैविद्यता दशबलेन यदा हि प्राप्ता
संकम्पिता दश दिशो बहुक्षेत्रकोट्यः ॥1140॥

जब, उन पुरुष-सिंह ने सेना-सहित मार को जीत लिया, और (जब उन) शास्ता ने समीप से ध्यानसुख का साक्षात् कर लिया, (तथा जब उन) दशबल ने त्रैविद्यता प्राप्त कर ली, (तब) दसों दिशाओं के अनेक-कोटि (बुद्ध-) क्षेत्र काँप उठे।

ये बोधिसत्त्व पुरि आगत धर्मकामा
चरणौ निपत्य इति भाषिषु मासि क्लान्तो।
प्रत्यक्ष अस्मि चमु यादृशिका सुभीमा
सा प्रज्ञपुण्यबलवीर्यबलेन भग्ना ॥1141॥

8....8. मूल, धर्मवर्ष विनये जनभैषजा। पठनीय, धर्मवर्षं (इस पद का अन्वय वर्षिष्यति के साथ है, इससे पूर्व दण्ड नहीं होना चाहिए)। विनेयजनभैषजाना। भोट, ह्‌दुल् ब गि्ह स्मन् यि छोस् क्यि छर् (=विनेयजनभैषज्यानां धर्मवर्षम्)।

9. मूल, ध्यानामुखं। भोट, ब्सम् ग्तन् ब्दे ब् (ध्यानसुखम्)। मूल में ध्यानासुखं पढना इस भाषा के अनुकूल होगा।

धर्म की इच्छा से जो बोधिसत्त्व पहले आए थे, वे चरणों पर पड़ कर बोले—थके तो नहीं ? हमें प्रत्यक्ष है कि (मार-) सेना जैसी भयंकर थी। वह (तुम्हारे) प्रज्ञाबल से, पुण्यबल से, एवं वीर्य-बल से भग्न हो गई।

(-353-) बुद्धैश्च क्षेत्रनयुतैः =256ख= प्रहितानि छत्रा
साधो महापुरुष धर्षित मारसेना।
प्राप्तं त्वया पदवरं अमृतं विशोकं
सद्धर्मवृष्टि त्रिभवे अभिवर्ष शीघ्रं ॥1142॥

बुद्धों ने खर्ब-खर्ब (बुद्ध-) क्षेत्रों से छत्र भेजे। हे साधु महापुरुष, (तुमने) मार सेना को हरा दिया, अशोक, अमृत, उत्तम पद तुमने प्राप्त कर लिया, (अब) तीनों भवों पर शीघ्र सद्धर्म-वर्षा बरसाओ।

बाहुं प्रसार्य दश दिक्षु च सत्त्वसारा
आभासयिंसु कलविङ्करुताय वाचा।
बोधिर् यथा-मु-अनुगता भवता विशुद्धा
तुल्यः समोऽसि यथ सर्पिणि सर्पिमण्डैः ॥1141॥

दसों दिशाओं के सत्त्वसार (=बोधिसत्त्व) बाहें उठा कर चटक-जैसी चहचहाती बोली में बोले—आपको जैसी अत्यन्त शुद्ध बोधि प्राप्त हुई है, वह उपमा में (कही जाए तो) सर्पि (=घृत) में सर्पिमण्ड (=घृतमण्ड) के तुल्य है।

53. इसके अनन्तर, हे भिक्षुओ, बोधिमण्डप में बैठे, तथागत को अभिज्ञाओं के लाभी, परिपूर्ण मनोरथ के, संग्राम में विजयी, मार-शत्रु को पूर्णतया जीत लेने वाला, (विजय की) ध्वजाओं और पताकाओं को ऊँचा करके फहराने वाला, शूर, उन्नत, विजय से पुरुष-महापुरुष, सब शल्यों को निकालने वाला उत्तम वैद्य, भय से जिनके रोंगटे कभी नहीं खड़े होते ऐसा (पुरुष-) सिंह, अत्यन्त विनीत चित्त का (पुरुष-) नाग (=हाथी), तीनों मलों से रहित निर्मल वैद्यक एवं त्रैविद्यता को प्राप्त, चारों ओघों को (स्वयं) तर कर (दूसरों को) पार करने वाला, एक रत्न-छत्र धारण करने वाला, क्षत्रिय (=राजा), पाप कर्मों का परित्याग कर चुकने वाला=257क= त्रैलोक्य-ब्राह्मण, अविद्या के अण्डकोष को भेदने वाला भिक्षु, सब प्रकार के संगों (=आसक्तियों) से अतीत हुआ श्रमण, [illegible]शों को निकाल फेंकने वाला शूर, झंडा न झुकने देने वाला शूर, दशबलधारी [illegible]नों में श्रेष्ठ, रत्नाकर के समान सब धर्म-रत्नों से पूर्ण जान कर, बोधि- [illegible] ओर मुख करके कामावचर (अर्थात् कामलोकधातु की निवासिनी) [illegible] इन गाथाओं द्वारा तथागत की स्तुति की—

50. अभिसंबुद्ध हुए तथागत को (उस समय) सब बुद्धों ने साधुवाद दिया और धर्माच्छादन (=धर्मच्छत्र) भेंट किए धर्माच्छादनों (धर्मच्छत्रों से) इस त्रिसाहस्रमहासाहस्र धातु का (आवरण हो गया और उस पर) अनेक रत्न-छत्र छा गए। उन रत्न-छत्रों से इस प्रकार के रश्मि-जाल =256क= निकले, जिनसे दसों दिशाओं की अप्रमेय असंख्य लोकधातुएँ चमचमाने लगी।

51. दसों दिशाओं में (खड़े) बोधिसत्त्वों और देवपुत्रों ने आनन्द-ध्वनि की—सत्त्वों मे (=प्राणियों मे) पंडित का ज्ञान-सरोवर में लोक-धर्मो से अलिप्त पद्म का जन्म हुआ है। चारों ओर से (ये) महाकरुणा के मेघ से धर्मधातु के भवन को छाकर[8] विनेयजनों (=शिक्षणीय जनो) के लिए भैषज्य (-भूत) धर्मो की वर्षा करेंगे[8] जो सब कुशल-मूलों के बीजों मे अंकुर उगा देगी, श्रद्धा के अंकुरों को बढा देगी, विमुक्ति का फल देगी।

52. इस विषय मे (गाथाओं द्वारा) यह कहा जाता है—

(छंद वसन्ततिलका)

मारं विजित्य सबलं स हि पुरुषसिहो
ध्यानासुखं[9] अभिमुखं अभितोऽपि शास्ता।
त्रैविद्यता दशबलेन यदा हि प्राप्ता
संकम्पिता दश दिशो बहुक्षेत्रकोट्यः ॥1140॥

जब, उन पुरुष-सिंह ने सेना-सहित मार को जीत लिया, और (जब उन) शास्ता ने समीप से ध्यानसुख का साक्षात् कर लिया, (तथा जब उन) दशबल ने त्रैविद्यता प्राप्त कर ली, (तब) दसो दिशाओं के अनेक-कोटि (बुद्ध-) क्षेत्र कांप उठे।

ये बोधिसत्त्व पुरि आगत धर्मकामा
चरणौ निपत्य इति भाषिषु मासि क्लान्तो।
प्रत्यक्ष अस्मि चमु यादृशिका सुभीमा
सा प्रज्ञपुण्यबलवीर्यबलेन भग्ना ॥1141॥

धर्म की इच्छा से जो बोधिसत्त्व पहले आए थे, वे चरणों पर पड़ कर बोले—थके तो नहीं ? हमें प्रत्यक्ष है कि (मार–) सेना जैसी भयंकर थी। वह (तुम्हारे) प्रज्ञाबल से, पुण्यबल से, एवं वीर्य-बल से भग्न हो गई।

(–353–) बुद्धैश्च क्षेत्रनयुतैः =256ख= प्रहितानि छत्रा।
साधो महापुरुष धर्षित मारसेना।
प्राप्तं त्वया पदवरं अमृतं विशोकं
सद्धर्मवृष्टि त्रिभवे अभिवर्ष शीघ्रं ॥1142॥

बुद्धों ने खर्व-खर्व (बुद्ध–) क्षेत्रों से छत्र भेजे। हे साधु महापुरुष, (तुमने) मार सेना को हरा दिया, अशोक, अमृत, उत्तम पद तुमने प्राप्त कर लिया, (अब) तीनो भवों पर शीघ्र सद्धर्म-वर्षा बरसाओ।

बाहुं प्रसार्य दश दिक्षु च सत्त्वसारा
आभासयिसु कलविङ्करुताय वाचा।
बोधिर् यथा-म्-अनुगता भवता विशुद्धा
तुल्यः समोऽसि यथ सर्पिणि सर्पिमण्डैः ॥1141॥

दसों दिशाओं के सत्त्वसार (=बोधिसत्त्व) बाहें उठा कर चटक-जैसी चहचहाती बोली मे बोले—आपको जैसी अत्यन्त शुद्ध बोधि प्राप्त हुई है, वह उपमा मे (कही जाए तो) सर्पि (=घृत) मे सर्पिमण्ड (=घृतमण्ड) के तुल्य है।

53. इसके अनन्तर, हे भिक्षुओ, बोधिमण्डप मे बैठे, तथागत को अभिज्ञाओं के लाभी, परिपूर्ण मनोरथ के, सग्राम मे विजयी, मार-शत्रु को पूर्णतया जीत लेने वाला, (विजय को) ध्वजाओ और पताकाओं को ऊंचा करके फहराने वाला, शूर, उन्नत, विजय से पुरुष-महापुरुष, सब शल्यों को निकालने वाला उत्तम वैद्य,भय से जिनके रोगटे कभी नही खड़े होते ऐसा (पुरुष–) सिंह, अत्यन्त विनीत चित्त का (पुरुष–) नाग (=हाथी), तीनो मलों से रहित निर्मल वैद्यक एवं त्रैविद्यता को प्राप्त, चारों ओघों को (स्वयं) तर कर (दूसरों को) पार करने वाला, एक रत्न-छत्र धारण करने वाला, क्षत्रिय (=राजा), पाप कर्मों का परित्याग कर चुकने वाला=257क=त्रैलोक्य-ब्राह्मण, अविद्या के अण्डकोष को भेदने वाला भिक्षु, सब प्रकार के संगों (=आसक्तियों) से अतीत हुआ श्रमण, क्लेशों को निकाल फेंकने वाला शूर, झंडा न झुकने देने वाला शूर, दशबलधारी बलवानों में श्रेष्ठ, रत्नाकर के समान सब धर्म-रत्नो से पूर्ण जान कर, बोधिमण्डप की ओर मुख करके कामावचर (अर्थात् कामलोकधातु की निवासिनी) अप्सराओं ने इन गाथाओ द्वारा तथागत की स्तुति की—

(छंद गाथा षोडशाक्षरी)

एष द्रुमराजमूले अभिजित्य मारसैन्यं
स्थितु मेरुवदप्रकम्प्यो निर्भीरप्रलापी।
अनेकबहुकल्पकोट्यो दानदमसंयमेन
समुदानयं प्रबोधि तेनैष सोभतेऽद्य ॥1144॥

वृक्षराज के तले मार-सेना को पूर्णरूप से जीत कर, ये मेरु के समान निश्चल, निर्भय, एवं निःशब्द बैठे हैं। बहुत-अनेक कोटि-कोटि कल्पों तक दान, विनय, तथा संयम के द्वारा इन्होने बोधि प्राप्त की है। इसी से आज ये शोभायमान हो रहे हैं।

(-354-) अनेन बहुकल्पकोट्यः शीलव्रततपोभि
जिह्मिकृत शक्रब्रह्मा बोधि वर एषता हि।
अनेन बहुकल्पकोट्यः क्षान्तिबलवर्मितेन
अधिवासिता दुःखानि तेन प्रभ स्वर्णवर्णा ॥1145॥

इन्होंने बहुत करोड़ कल्पों तक, शील, व्रत, और तप के द्वारा उत्तम बोधि खोजते हुए, इन्द्रों और ब्रह्माओं को भी निष्प्रभ किया है, इन्होंने बहुत करोड़ कल्पों तक क्षान्ति-बल का वर्म (=कवच) पहने दुःख सहे हैं, इसीसे (इनकी) प्रभा सुवर्ण के रंग की है।

अनेन बहुकल्पकोट्यो वीर्यबलविक्रमेण
पराङ्मुखा कृता ऽऽस्या = 257ख=तेन मार जितसेना।
अनेन बहुकल्पकोट्यो ध्यासे-अभिज्ञ-ज्ञानैः
संपूजिता मुनीन्द्रास्तेनैव पूजितोऽद्य ॥1146॥

इन्होंने बहुत करोड़ कल्पो तक वीर्य (=उद्योग) के बलसे तथा पराक्रम से दूसरों को पीछे डाल दिया है, इसीसे मार-सेना पर (इन्हे) विजय मिली है। इन्होंने बहुत करोड़ कल्पों तक ध्यान, अभिज्ञा, एवं ज्ञान के द्वारा मुनीन्द्रों (बुद्धों) की पूजा की है, इसीसे ये आज पूजित हैं।

अनेन बहुकल्पकोट्यः प्रज्ञा-श्रुत-संचयेन
प्रगृहीत सत्त्वकोट्यस्तेन लघु बोधि प्राप्ता।
अनेन जितु स्कन्धमारस्तथ मृत्यु-क्लेश-मारः
अनेन जितु देवपुत्रमारस्तेनास्य नास्ति शोकः॥1147॥

इन्होंने बहुत करोड़ कल्पों तक प्रज्ञा के तथा श्रुत के संग्रह से करोड़ों प्राणियों पर अनुग्रह किया है, इसीसे इन्हें शीघ्र बोधि-प्राप्ति हुई इन्होने स्कन्ध-

मार जीत लिया, मृत्युमार जीत लिया, तथा क्लेश-मार जीत लिया, इन्होंने देवपुत्र-मार जीत लिया, इसीसे इन्हें (अब) शोक नहीं है।

एषो हि देवदेवो देवैरपि पूजनीयः पूजार्हस्त्रिलोके
पुण्यार्थिकान क्षेत्र[10] अमृतफलस्य दाता।
एषु वरदक्षिणीयो उद्यातु[11] दक्षिणाहि
नास्त्युत्तर ऽस्य नासो या च वर बोधि लब्धा ॥148॥

ये देवताओं के भी देवता हैं, देवताओं के भी पूजनीय हैं, तीनों लोकों के द्वारा पूजा के योग्य हैं, पुण्य-कामियों के लिए (पुण्य–) क्षेत्र हैं, अमृत-फल प्रदान करने हारे हैं। ये उत्तम दक्षिणाओं के योग्य हैं, दक्षिणाएँ इनका स्वागत करती हैं। (इन्होंने) उत्तम बोधि का जो लाभ किया, उसका नाश आगे-चल कर (कभी) नहीं होगा।

ऊर्णा विराजतेऽस्य स्फरती बहु-क्षेत्र[10]-कोट्यो
जिह्मीकृत चन्द्रसूर्या अन्धकारालोकप्राप्ता[12]।
[13]एष हि[13] सुरूपरूपो वररूप साधुरूपो
वरलक्षणो हितैषी त्रैलोक्यपूजनीयः ॥149॥

इनकी (भ्रूमध्यगत) ऊर्णा चमक रही है, (यह चमक) बहुत करोड (बुद्ध–) क्षेत्रों तक व्यापक है, (इसके आगे) चन्द्र और सूर्य निष्प्रभ हो रहे हैं, (जहाँ कहीं) अँधेरा था, (वहाँ) उजाला हो गया है। ये सुन्दर-रूप के हैं, उत्तम रूप के हैं, साधु-रूप के हैं, उत्तम-लक्षण के हैं। (ये) हितकारी हैं, (एवं) त्रिलोक द्वारा पूज्य हैं।

एष सुविशुद्धनेत्रो बहु प्रेक्षते स्वयंभूः
क्षेत्रा[10] च सत्त्वकाया[14] चित्तानिऽचेतना च[14]।

10. मूल, क्षत्रं। पठनीय क्षेत्रं। भोट, ज़िङ्।—मूल, ०क्षत्र०। पठनीय ०क्षेत्र०। भोट, ज़िङ्।—मूल, क्षत्रा। पठनीय, क्षेत्रा। भोट ज़िङ्नं सस्
11. मूल, उत्पातु। भोट, ब्तङ् (= उद्यातः)। संभवतः पाठ उद्यातु था।
12. भोटानुसार अन्धकारालोकप्राप्ता के स्थान मे सत्त्वा आलोकप्राप्ताः पाठ होना चाहिए। तुलनीय, सेम्स् चन् नंम्स् ल स्नङ् बर् ग्युर्।
13....13. मूल, एव हि। एष हि पाठ प्रकरणानुसार सिद्ध है। भोट भी इस पाठ का समर्थक है। तुलनीय, ह्दि यिस्।
14....14. मूल, चित्तानि चेतना च। भोट, सेम्स् दङ् ल्दन् दङ् सेम्स् मेद् (=चेतनानानचेनाश्च)। एवं चेतना के स्थान में अचेतना पाठ करना ठीक है।

(–355–) एष = 258क = सुविशुद्धश्रोत्रा: शृणुते अनन्तशब्दां
दिव्यांश्च मानुषांश्च जिनशब्द धर्मशब्दां ||1150||

ये अत्यन्त-शुद्ध-नेत्र के स्वयंभू बहुत से (बुद्ध–) क्षेत्रों को, प्राणियों के समूहों को, चेतनों को, तथा अचेतनों को देखते हैं। ये अत्यन्त-शुद्ध-श्रोत्र के अनन्त शब्दो को—दिव्य, मानुष, बुद्ध एवं धर्म शब्दों को सुनते हैं।

एष प्रभूतजिह्वः कलविङ्कमञ्जुघोषः
श्रोष्याम अस्य धर्मं अमृतं प्रशान्तगामि
दृष्ट्वा च मारसैन्यं न क्षुभ्यते मनोऽस्य
पुन दृष्ट्व देवसंघां न च हर्षते सुमेधा ||1151||

इनकी जीभ बड़ी है, इनकी बोली चटक-जैसी मनोहर है, (हम) इनके शान्ति की ओर ले जाने वाले धर्मामृत का श्रवणो से पान करेंगे। इनका मन न मार-सेना को देख कर व्याकुल हुआ है, और न देव-गणों को देख कर ये सुबुद्धि-मन्त आनन्द-विभोर ही हुए हैं।

शस्त्रैर्न चापि बाणैर्जित एन मारसेना
सत्यव्रतातपोभि जितु एन दुष्टमल्लः।
चलितो न चासना (तु) न च कायु वेधितो[15] ऽस्य
न च स्नेहु नापि दोषस्तदनन्तरे अभूवन् ||1152||

इन्होंने मार-सेना शस्त्रों और बाणो से नही जीती, प्रत्युत दुष्ट मल्ल को इन्होंने सत्य, व्रत, और तप से पछाडा। ये आसन से न डिगे और इनका शरीर भी घायल नही हुआ। उस समय (इनमे) न स्नेह ही उपजा और न द्वेष ही उभड़ा।

लाभा सुलब्ध तेषां मरूणां नराण चैव
ये तुभ्य धर्म श्रुत्वा प्रतिपत्तिमेष्यतीह।
यत् पुण्य त्वां स्तवित्वा जिन पुण्यतेजरासे
सर्वे भवेम क्षिप्रं यथ त्वं मनुष्यचन्द्रः ||1153||

जो तुम्हारा धर्म सुनकर सिद्धि पाएँगे, उन देवताओ और मनुष्यों को लाभों की सुन्दर प्राप्ति है। हे पुण्य और तेज की राशि, बुद्ध, तुम्हारी स्तुति कर जो पुण्य हुआ है; उस से हम-सब शीघ्र वैसे हों, जैसे तुम मनुष्य-चन्द्र हो।

15. मूल, वेधिनो। भोट, ग्नोद् (=विद्ध, क्षत)। नो के स्थान मे तो पढ़ना ठीक है।

(छंद वसन्ततिलका)

बुद्धित्व बोधि पुरुषर्षभ नायकेन

संकम्प्य क्षेत्र[16]नयुतानि विजित्य मारं।

ब्रह्मस्वरेण कलविङ्करुतस्वरेण

प्रथमेन गाथ इमि भाषित नायकेन ।।1154।।=258ख=

मार को जीत कर, खर्व-खर्व बुद्धक्षेत्र कँपा कर, पुरुषों के ऋषभ (=श्रेष्ठ) नायक ने बोधि का अवबोध कर, चटक—जैसे चहचहाते स्वर में ब्रह्मघोष करते हुए प्रथम-प्रथम ये गाथाएँ कही।—

पुण्याविपाकु सुख सर्वदुःखापनेती

अभिप्रायु सिध्यति च पुण्यवतो नरस्य।

क्षिप्रं च बोधि स्पृसते विनिहत्य मारं

शान्तामथो[17] गच्छति च निर्वृति शीतिभावं ।।1155।।

पुण्य का सुखदायक फल सब दुखों को दूर करता है, पुण्यवान् पुरुष का मनोरथ सफल होता है, मार को जीत कर (उसे) शीघ्र बोधि का अनुभव होता है, और (वह) शीतल स्वभाव के शान्त निर्वाण को प्राप्त करता है।

(-356-)तस्मात् क पुण्यकरणे न भवेत तृप्तः

शृण्वञ्च धर्ममसृतं भवि को वितृप्तः।

विजने वने च विहरं भवि को वितृप्तः

कः सत्व-अर्थकरणे न भवेद्धि तृप्तः ।।1156।।

इसलिए पुण्य करने में किसे संतोष न होगा? अमृत रूपी धर्म सुनने मे किसे असतोष होगा? एकान्त वन मे विहरते हुए कौन असन्तुष्ट होगा? प्राणियों का अर्थसाधन करने मे कौन सतुष्ट न होगा?।

पाणि प्रसार्य समुवाच च बोधिसत्वां

पूजां कृता व्रजत क्षेत्र स्वकस्वकानि।

सर्वेऽभिवन्द्य चरणौ च तथागतस्य

नानाव्यूह गतक्षेत्र स्वकस्वकानि ।।1157।।

हाथ उठा कर (वे) बोधिसत्त्वो से बोले—पूजा कर ली, अब अपने-अपने क्षेत्रों को जाओ। वे तथागत के चरणो में वन्दना कर नानाव्यूहवाले अपने-अपने क्षेत्रों को चले गए।

16. मूल, क्षत्र—। भोट, शिङ् (=क्षेत्र)।

17. मूल, शान्तापथो। भोट, म्य ङन् ह्दस् प शि ब (=शान्तं निर्वृतिम्)। प के स्थान में म पढ़ना चाहिए।

दृष्ट्वा च तां नमुचिनां महतीमवस्थां
विक्रीडितां च सुगतस्य तथा सलीडं।
बोधाय चित्तमतुलं प्रणिधा (नि) य सत्त्वां (?सत्त्वैः)[18]
मारं विजित्य सबलं अमृतं स्पृसेम ।।1158।।

मारो की वह महा(दुर्)दशा, तथा लीला-सहित सुगत के उन विक्रीड़ितों अर्थात् पराक्रम के कौतुको को देख कर, प्राणियो ने बोधि के निमित्त अतुल-चित्त से प्रणिधान (=सकल्प) किया कि (हम) सेना-सहित मार को जीतकर अमृतानुभव करें।

हे भिक्षुओ, अभिसंबुद्ध हो कर तथागत बोधिवृक्ष के तले जब सिंहासन पर बैठे, उस क्षण अप्रमेय बुद्धविक्रीडित (बुद्धमहिमासूचक कौतुक) हुए, जिनकी विस्तार से वर्णना करना कल्पभर (के समय) में भी सहज नही है।

इस विषय मे (गाथाओं द्वारा) यह कहा जाता है—

(छंद मालिमी)

करतलसदृशाऽभूत् सुस्थिता मेदिनीयं=295क=
विकसितशतपत्राश्चोद्गता रश्मिजालैः।
अमरशतसहस्रा ओनमी बोधिमण्डं
इमु प्रथम निमित्तं सिंहनादेन दृष्टं ।।1 59।।

यह धरती हथेली-जैसी समतल हो गई, किरण-जालों से खिले हुए शत-दल (कमल) निकल आए, बोधिमण्डप की ओर लाखों देवता प्रणाम करने लगे। यह पहला निमित्त (=सगुन) सिंहनाद (–तथागत) का (बुद्धत्व प्राप्त होने पर) दीख पड़ा।

द्रुमशत त्रिसहस्रों बोधिमण्डे नमन्ते
गिरिवर तथनेके शैलराजश्च मेरुः।
(–357–) दशबलमधिगम्य ब्रह्मशक्रा नमन्ते
इदमपि नरसिंहे क्रीडितं बोधिमण्डे ।।1160।।

त्रिसाहस्र (--लोकधातु) के शत-शत वृक्ष, अनेक उत्तम पर्वत, तथा पर्वत-राज सुमेरु बोधिमण्डप की ओर प्रणत हो गए, ब्रह्मा और इन्द्र दशबल (=बुद्ध) के संमुख जा कर नमस्कार करने लगे। यह भी बोधिमण्डप में बैठे नरसिंह (–तथागत) का (बुद्धत्वमहिमा सूचक) क्रीडित (=केलि--कौतुक) था।

18, भोट, सेम्स् चन् नंम्स् क्यिस् भ्छङ्-स् मेद् सेम्स् क्यिस् व्यङ्, छुव् स्मोन् (= सत्त्वैरतुलेन चेतसा बोधिः प्रण्यधायि)।

रश्मि शतसहस्रा स्वोशरीरात्मभावा
स्फुरि जिनवरक्षेत्रा[19]त्रीणि शान्ता अपायाः ।
तत क्षण सुमुहूर्ते शोधिता चाक्षणानि
न च खिलमददोषा बाधिषु कंचि सत्त्वं-
इयमपि नरसिंहस्यासनस्थस्य क्रीडा ॥1161॥

(उनके) अपने शरीर से—अपने आत्मभाव (=काय) से निकली लाखों किरणों ने बुद्धों के उत्तम क्षेत्रो को व्याप्त कर लिया, (नरक, प्रेत, तिर्यक् अर्थात् नागादि लोक नामक) तीनों अपाय (=दुर्गति-लोक) शान्त हो गए, तदनन्तर उस शुभ-मुहूर्त वाले क्षण मे अक्षण शोधित हो गए (अर्थात् उनका दुःख द्वन्द्व मिट गया), खिल (=मन की रुखाई, मद तथा द्वेष ने किसी प्राणी को नही सताया, वह भी आसन पर बैठे नरसिंह (=तथागत) की क्रीड़ा थी ।

शशि रवि मणि वह्नि विद्युता ऽऽभा च दिव्या
न तपति अभिभूता भानुवत्योर्णपाशा ।
न च जगदिह कश्चित् प्रेक्षते शास्तु मूर्धं
इयमपि नरसिंहस्यासनस्थस्य क्रीड़ा ॥1162॥

किरण वाले (भ्रूमध्यगत) ऊर्ण-पाश (=रोममंडल) से निस्तेज हुई चन्द्रमा की, सूर्य की, मणियो की, अग्नि की, बिजली की तथा देवताओं की आभा न चमकती थी और जगत् मे कोई शास्ता के माथे को (तेज के मारे) न देख (सकता) था । यह भी आसन पर बैठे नरसिंह (तथागत) की क्रीड़ा थी ।

करतलस्पृशनेना कम्पिता चोर्वि सर्वा
येन नमुचिसेना क्षोभिता तूलभूता ।
नमुचि इषु गृहीत्वा मेदिनो व्यालिखेद्य
इदमपि नरसिंहस्यासने क्रीड़ितं भूद् ॥1163॥ इति ॥[20]

हथेली के स्पर्श से सब धरती काँप उठी, जिससे रूई के समान मार-सेना धुन डाली गई, जिसके कारण मार बाण लेकर धरती कुरेदने लगा । यह भी आसन पर (बैठे) नरसिंह (=तथागत) का क्रीड़ित (=केलि-कौतुक) था ।

॥ इति श्रीललितविस्तरेऽभिसंबोधनपरिवर्तो नाम द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥

●

19. मूल, °क्षत्रा । भोट, शिङ् (=क्षेत्र) । क्षेत्रा उचित पाठ है ।
20. इस परिच्छेद की गाथाओ की छाया यों है—
छिन्नं वर्त्मोपशान्तं रजः शुष्क आस्रवा न पुनः स्रवन्ति । छिन्ने वर्त्मनि निवर्तते, दुःखस्येषोऽन्त उच्यते ॥ इति ॥1139॥

मारं विजित्य सबलं स हि पुरुषसिंहो ध्यानसुखमभिमुखमभितोऽपि शास्त्रा । त्रैविद्यता दशबलेन यदा हि प्राप्ता संकंपिता दश दिशो बहुक्षेत्र-कोट्य. ।।1140।। ये बोधिसत्त्वाः पुरागता धर्मकामाः चरणौ निपत्येत्यभा-भाषिषत मासीः क्लान्तः । प्रत्यक्षाः स्मश् चमू यादृशी सुभीमा सा प्रज्ञापुण्य-बलवीर्यबलेन भग्ना ।।1141।। बुद्धैश्च क्षेत्रनयुतेभ्यः प्रहितानि छत्राणि साधो महापुरुष धर्षिता मारसेना । प्राप्तं त्वया पदवरममृतं विशोकं सद्धर्म-वृष्टिं त्रिभवेऽभिवर्ष शीघ्रम् ।।1142।। बाहुं प्रसार्य दशसु दिक्षु च सर्व-सारा अभाषिषत कलविङ्करुतया वाचा बोधियर्थानुगता भवता विशुद्धा तुल्यः समोऽस्ति यथा सर्पिषि सर्पिमण्डैः ।।1143।।

एष द्रुमराजमूलेऽभिजित्य मारसैन्यं स्थितो मेरुवदप्रकम्प्यो निर्भीर् अप्रलापी । अनेकबहुकल्पकोटीर् दानदमसंयमेन समुदानयत् प्रबोधिं तेनैष शोभते ऽद्य ।।1144।। अनेन बहुकल्पकोटीः शीलव्रततपोभिर् जिह्मीकृताः शक्रब्रह्माणो बोधिं वराम् एषमाणेन हि । अनेन बहुकल्पकोटीः क्षान्तिबल-वर्मितेनाधिवासितानि दुःखानि तेन प्रभा स्वर्णवर्णा ।।1145।। अनेन बहु-कल्पकोटीर् वीर्यबलविक्रमेण पराङ्मुखाः कृता आस्य (=क्षिप्त्वा) तेन मारस्य जिता सेना । अनेन बहुकल्पकोटीर् ध्यानाभिज्ञाज्ञानैः संपूजिता मुनीन्द्रास्तेनैव पूजितो ऽद्य ।।1146।। अनेन बहुकल्पकोटीः प्रज्ञाश्रुतसंचयेन प्रगृहीताः सत्त्वकोट्यस्तेन लघु बोधिः प्राप्ता । अनेन जितः स्कन्धमारस्तथा मृत्यु-क्लेशमारः, अनेन जितो देवपुत्रमारस्तेनास्य नास्ति शोकः ।।1147।।

एष हि देवदेवो देवैरपि पूजनीयः पूजार्हस्त्रिलोकेनपुण्यार्थिकानां क्षेत्रम् अमृतफलस्य दाता । एष वरदक्षिणीय उद्यातो दक्षिणाभिर् नास्त्युत्त-रस्मिन्नस्या नाशो याच वरा बोधिर्लब्धा ।।1148।। ऊर्णा विराजतेऽस्य स्फरति बहुक्षेत्रकोटीर् जिह्मीकृतौ चन्द्रसूर्यौ, अन्धकार आलोकप्राप्ताः । एष हि सुरूपरूपो वररूपः साधुरूपो वरलक्षणो हितैषी त्रैलोक्यपूजनीयः ।।1149।। एष सुविशुद्धनेत्रो बहुप्रेक्षते स्वयंभूः क्षेत्राणि च सत्त्वकायान् (स-चिन्तान-चेतनांश्च । एष सुविशुद्धश्रोत्रः शृणुतेऽनन्तशब्दान् दिव्यांश्च जिनशब्दान् धर्मशब्दान् ।।1150।। एष प्रभूतजिह्वः कलविङ्कमञ्जुघोषः श्रोष्यामोऽस्य धर्मममृतं प्रशान्तगामिनम् । दृष्ट्वा च मारसैन्यं न क्षुभ्यति मनोऽस्य पुनर्दृष्ट्वा देवसंघान् न च हृष्यति सुमेधाः ।।1151।। शस्त्रैर्न चापि वाग्भिर्जितानेन मारसेना सत्यव्रततपोभिर्जितोऽनेन दुष्टमल्लः । चलितो न चासनाद् न च कायो विद्धोऽस्य । न स्नेहोनापि दोषः (= द्वेषः) तदनन्तरे ऽभूत् ।।1152।। सुलब्धास्तेषां मर्त्यां नराणां चैव ये तव धर्मं श्रुत्वा प्रति-

पत्तिमेष्यन्ति हि । यत्पुण्यं त्वां स्तुत्वा जिन पुण्यतेजोराशे सर्वे भवेम क्षिप्रं यथा त्वं मनुष्यचन्द्रः ॥1153॥

बुद्ध्वा बोधिं पुरुषर्षभेण नायकेन संकम्प्य क्षेत्रनयुतानि विजित्य मारम् । ब्रह्मस्वरेण कलविङ्करुतस्वरेण प्रथमं गाथेयं भाषिता नायकेन ॥1154॥ पुण्यविपाकः सुखः सर्वदुःखान्यपनयति, अभिप्रायः सिध्यति च पुण्यवतो नरस्य । क्षिप्रं च बोधिं स्पृशति विनिहत्य मारं शान्तामथो गच्छति च निर्वृतिं शीतीभावां (=शीतभावां) ॥1155॥ तस्मात् कः पुण्यकरणे न भवेत् तृप्तः शृण्वंश्च धर्ममममृतं भवेत्को वितृप्तः । विजने वने च विहरन् भवेत् को वितृप्तः कः सत्त्वार्थकरणे न भवेद्धि तृप्तः ॥1156॥ पाणिं प्रसार्य समुवाच च बोधिसत्त्वान् पूजा कृता व्रजत क्षेत्राणि स्वकस्वकानि । सर्वेऽभिवन्द्य चरणौ च तथागतस्य नानाव्यूहानि गताः क्षेत्राणि स्वकस्वकानि ॥1157॥ दृष्ट्वा च तां नमुचीना महतीमवस्थां विक्रीडितानि च सुगतस्य तथा सलीलानि । बोधाय चित्तमतुलं प्रण्यधुः सत्त्वा मारं विजित्य सबलम-मृतं स्पृशेम ॥1158॥

करतलसदृश्यभूत् सुस्थिता मेदिनीयं विकसितशतपत्राण्युद्गतानि रश्मिजालैः । अमरशतसहस्राण्यवासिषुर् बोधिमण्डपम् इदं प्रथम निमित्तं सिंहनादस्य (यथाहर्त तु सिंहनादेन) दृष्टम् ॥1159॥ द्रुमशतानि त्रिसाहस्रस्य बोधिमण्डपं नमन्ति गिरिवरास्तथानेके शैलराजश्च मेरुः । दशबलमधिगम्य ब्रह्मशक्रा नमन्ति, इदयपि नरसिंहस्य क्रीडितं बोधिमण्डपे ॥1160॥ रश्मिशतसहस्राणि स्वशरीरात्मभावाद् अस्फुरञ्जिनवरक्षेत्राणि त्रयः शान्ता अपायाः । ततः क्षणे सुमुहूर्ते शोधिता चाक्षणा न च खिलमददोषा (=खिलमदद्वेषाः) अवाधिषत कंचित् सत्त्वम्-इयमपि नरसिंहस्यासनस्थस्य क्रीड़ा ॥1161॥ शशिनो रवेर् मणीनां बह्नेर् विद्युत आभा च दिव्या न तपत्यभिभूता भानुमत ऊर्णपाशेन । न च जगतीह कश्चित् प्रेक्षते शास्तुर्मूर्धानम्-इयमपि नरसिंहस्यासनस्थस्य क्रीड़ा ॥1162॥ करतलस्पर्शनेन कम्पिता चोर्वी सर्वा येन नुमचिसेना क्षोभिता तूलभूता । नमुचिरिषुं गृहीत्वा मेदिनीं व्यालिकेद् यत्-इदमपि नरसिंहस्यासने क्रीड़ितमभूत् ॥1163॥ इति ॥

॥ २३ ॥

॥ संस्तवपरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 357 (पंक्ति 19)—369 (पंक्ति 8)
भोटानुवाद 259क (पंक्ति 7)—267ख (पंक्ति 1)

॥ २३ ॥

॥ संस्तवपरिवर्त ॥

(1) शुद्धावासकायिक देवपुत्रों द्वारा तथागत की स्तुति

1. इसके अनन्तर, शुद्धावासकायिक देवपुत्रों ने बोधिमण्डप में = 259 ख = बैठे तथागत की प्रदक्षिणा कर, उनपर दिव्य चन्दनचूर्ण की वर्षा कर, यथा-योग्य गाथाओं द्वारा स्तुति की।

(-358-) उत्पन्नो लोकप्रद्योती लोकनाथः प्रभंकरः।
अन्धभूतस्य लोकस्य चक्षुर्दाता रणंजहः ॥1164॥

जगत् में प्रकाश करने वाला, जगत् का स्वामी, अन्धे हुए जगत् को दृष्टि देने वाला, रणों अर्थात् क्लेशो से रहित, प्रभाकर उदित हुआ है।

भवान् विजितसंग्रामः पुण्यैः पूर्णमनोरथः।
संपूर्णः शुक्लधर्मैश्च जगत् त्वं तर्पयिष्यति ॥1165॥

अपने संग्राम जीत लिया है, पुण्यों से (आपका) मनोरथ पूर्ण हो गया है। (तुम) शुक्लधर्मों से संपूर्ण हो, तुम जगत् को तृप्त करोगे।

उत्तीर्णपङ्को ह्यनिघः स्थले तिष्ठति गौतमः।
अन्यां सत्वां महोघेन प्रोद्गतस्तारयिष्यसि ॥1166॥

गौतम निष्पाप है, कीचड से पार हो चुके हैं, सूखी-धरती पर खड़े हैं, (स्वयं) बाढ से निकल आए है (अब) दूसरे प्राणियो को तारेंगे।

उद्गतस्त्वं महाप्राज्ञो लोकेष्वप्रतिपुद्गलः।
लोकधर्मैरलिप्तस्त्वं जलस्थमिव पङ्कजः ॥1167॥

तुम लोगों के बीच, अनुपम महाबुद्धिमान् पुरुष होकर, उत्पन्न हुए हो। जल मे कमल के समान, तुम लोकधर्मो से अलिप्त हो।

चिरप्रसुप्तमिमं लोकं तमःस्कन्धावगुण्ठितं।
भवान् प्रज्ञाप्रदीपेन समर्थः प्रतिबोधितुं ॥1168॥

अन्धकार की राशि से ढके हुए, दीर्घ काल से निद्रामग्न (इस) लोक को प्रज्ञा के प्रदीप द्वारा जगाने में आप समर्थ है।

चिरातुरे जीवलोके क्लेशव्याधिप्रपीडिते।
वैद्यराट् त्वं समुत्पन्नः सर्वव्याधिप्रमोचकः ॥1169॥

क्लेशों की व्याधियों से अत्यन्त पीड़ित, चिर काल के रोगी, (इस) जीवलोक में, सब व्याधियों से मुक्त करने वाले, वैद्यराज होकर, तुम उत्पन्न हुए हो।

भविष्यन्त्यक्षणाः शून्यास् त्वयि नाथे समुद्गते।
मनुष्याश्चैव देवाश्च भविष्यन्ति सुखान्विताः ॥1170॥

नाथ होकर तुम्हारे उत्पन्न हो जाने पर, (अब) अक्षण सूने हो जाएँगे, देवता और मनुष्य सुखी हो जाएँगे।

येषां त्व-द्-दर्शनं सौम्य एष्यसे पुरुषर्षभः।
न ते=260क=कल्पसहस्राणि जातु यास्यन्ति दुर्गति ॥1171॥

पुरुषों में श्रेष्ठ, सौम्य, तुम जिन्हें देखने को मिल जाओगे, वे सहस्रों कल्पों तक कभी दुर्गति मे न जाएँगे।

पण्डिताश्चाप्यरोगाश्च धर्मं श्रोष्यन्ति ये ऽपि ते।
गम्भीराश्चोपधीक्षीणा भविष्यन्ति विशारदाः ॥1172॥

जो भी तुम्हारे धर्म को सुनेंगे, वे पंडित, नीरोग, गम्भीर, उपधिक्षीण (=संसारबन्धनरहित) तथा विशारद (=भयरहित) हो जाएँगे।

मोक्ष्यन्ते च लघुं सर्वे छित्वा वै क्लेशबन्धनं।
यास्यन्ति निरुपादानाः फलप्राप्तिवरं शुभं ॥1173॥

(वे) क्लेशों का बन्धन काट कर शीघ्र मुक्त हो जाएँगे, उपादान-हीन हो (वे) फलों की प्राप्ति में (जो) उत्तम, शुभ (फल है, उसे) प्राप्त करेंगे।

दक्षिणीयाश्च ते लोके आहुतीनां प्रतिग्रहाः।
न तेषु दक्षिणा न्यूना सत्वनिर्वाणहेतुका ॥1174॥

वे लोक मे दक्षिणा के योग्य होंगे, पूजा के ग्रहण करने वाले होंगे, (उनको दी हुई) दक्षिणा न्यून (फल की) नहीं होगी, (वह) प्राणियों को निर्वाण की हेतु (-भूत) होगी।

(-359-) हे भिक्षुओ, इस प्रकार शुद्धावासकायिक देवपुत्र तथागत की स्तुति कर अञ्जलि बांध तथागत को नमस्कार करते हुए, एक ओर खड़े हो गए।

(2) आभास्वर देवपुत्रों द्वारा तथागत की स्तुति

2. इसके अनन्तर, आभास्वर देवपुत्रों ने बोधिमण्डप मे बैठे तथागत की नाना प्रकार के पुष्प, धूप, गन्ध, माल्य, विलेपन, ध्वज, छत्र, तथा पताकाओं द्वारा सम्यक पूजा कर तीन बार प्रदक्षिणा कर इन गाथाओं द्वारा स्तुति की।

(छंद उपजाति)

गम्भीरबुद्धे मधुरस्वरा मुने
ब्रह्मस्वरा मुनिवरगीत सुस्वरं।
वराग्रबोधि-परमार्थ-प्राप्ता
सर्वस्वरे-पारगते नमस्ते ॥1175॥

हे गम्भीर-बुद्धि के, हे मधुर-स्वर के, हे मुने, हे ब्रह्मा-जैसे स्वर के, हे उत्तम स्वर से श्रेष्ठ मुनियों द्वारा गाए जाने वाले, हे उत्तम, श्रेष्ठ बोधि (रूपी) परमार्थ के लाभी, हे सब स्वरों मे पारंगत, तुम्हें नमस्कार।

=260ख= त्रातासि दीपो[1]ऽसि परायणोऽसि
नाथोऽसि लोके कृपमैत्रचित्तः।
वैद्योत्तमस्त्वं खलु शल्यहर्ता
चिकित्सकस्त्वं परमं-हितंकरः ॥1176॥

(तुम) रक्षक हो, द्वीप हो, परायण (=आश्रय) हो, मैत्रीमन्त एवं करुणा-वन्त हृदय के लोकनाथ हो, तुम शल्य निकालने वाले उत्तम वैद्य हो, तुम परम-हितकारी चिकित्सक हो।

दीपंकरस्य सहदर्शनं त्वया
समुदानितं मैत्रकृपाभ्रजालं।
प्रमुञ्च नाथा अमृतस्य धारां
समेहि तापं सुरमानुषाणां ॥1177॥

दीपंकर के दर्शन के साथ तुमने मैत्री और करुणा का मेघजाल उमड़ाया है, हे नाथ, (अब) अमृत-धारा बरसाओ, देवताओं तथा मनुष्यों का ताप शान्त करो।

त्वं पद्मभूतं त्रिभवेष्वलिप्तं
त्वं मेरुकल्पो ऽविचलो ह्यकम्प्यः।
त्वं वज्रकल्पो ह्यचलप्रतिज्ञ
त्वं चन्द्रमा सर्वगुणाग्रधारी ॥1178॥

तुम कमल के सदृश तीनों भवों से अलिप्त हो, तुम सुमेरु के समान न डिगने वाले, न हिलने वाले हो, तुम वज्र के तुल्य दृढ प्रतिज्ञा के हो, तुम सब उत्तम गुणों के धारण करने वाले चन्द्रमा हो।

1. दीप शब्द यहाँ द्वीप का अपभ्रंश है, इसीलिए भोटानुवाद ग्लिङ् (=द्वीप) शब्द से किया गया है।

क्लेशों की व्याधियों से अत्यन्त पीड़ित, चिर काल के रोगी, (इस) जीवलोक में, सब व्याधियों से मुक्त करने वाले, वैद्यराज होकर, तुम उत्पन्न हुए हो ।

भविष्यन्त्यक्षणाः शून्यास् त्वयि नाथे समुद्गते ।
मनुष्याश्चैव देवाश्च भविष्यन्ति सुखान्विताः ॥1170॥

नाथ होकर तुम्हारे उत्पन्न हो जाने पर, (अव) अक्षण सूने हो जाएँगे, देवता और मनुष्य सुखी हो जाएँगे ।

येषां त्वद्-दर्शनं सौम्य एष्यसे पुरुषर्षभः ।
न ते = 260क=कल्पसहस्राणि जातु यास्यन्ति दुर्गति ॥1171॥

पुरुषों में श्रेष्ठ, सौम्य, तुम जिन्हें देखने को मिल जाओगे, वे सहस्रों कल्पों तक कभी दुर्गति में न जाएँगे ।

पण्डिताश्चाप्यरोगाश्च धर्मं श्रोष्यन्ति ये ऽपि ते ।
गम्भीराश्चोपधीक्षीणा भविष्यन्ति विशारदाः ॥1172॥

जो भी तुम्हारे धर्म को सुनेंगे, वे पंडित, नीरोग, गम्भीर, उपधिक्षीण (=संसारबन्धनरहित) तथा विशारद (=भयरहित) हो जाएँगे ।

मोक्ष्यन्ते च लघुं सर्वे छित्वा वै क्लेशबन्धनं ।
यास्यन्ति निरुपादानाः फलप्राप्तिवरं शुभं ॥1173॥

(वे) क्लेशों का बन्धन काट कर शीघ्र मुक्त हो जाएँगे, उपादान-हीन हो (वे) फलों की प्राप्ति में (जो) उत्तम, शुभ (फल है, उसे) प्राप्त करेंगे ।

दक्षिणीयाश्च ते लोके आहुतीनां प्रतिग्रहाः ।
न तेषु दक्षिणा न्यूना सत्त्वनिर्वाणहेतुका ॥1174॥

वे लोक मे दक्षिणा के योग्य होंगे, पूजा के ग्रहण करने वाले होंगे, (उनको दी हुई) दक्षिणा न्यून (फल की) नही होगी, (वह) प्राणियों को निर्वाण की हेतु (-भूत) होगी ।

(-359-) हे भिक्षुओ, इस प्रकार शुद्धावासकायिक देवपुत्र तथागत की स्तुति कर अञ्जलि बांध तथागत को नमस्कार करते हुए, एक ओर खड़े हो गए ।

(2) आभास्वर देवपुत्रों द्वारा तथागत की स्तुति

2. इसके अनन्तर, आभास्वर देवपुत्रों ने बोधिमण्डप में बैठे तथागत की नाना प्रकार के पुष्प, धूप, गन्ध, माल्य, विलेपन, ध्वज, छत्र, तथा पताकाओं द्वारा सम्यक् पूजा कर, तीन बार प्रदक्षिणा कर, इन गाथाओं द्वारा स्तुति की ।

(छंद उपजाति)

गम्भीरबुद्धे मधुरस्वरा मुने
ब्रह्मस्वरा मुनिवरगीत सुस्वरं।
वराग्रबोधि-परमार्थ-प्राप्ता
सर्वस्वरेऽपारगते नमस्ते ॥1175॥

हे गम्भीर-बुद्धि के, हे मधुर-स्वर के, हे मुने, हे ब्रह्मा-जैसे स्वर के, हे उत्तम स्वर से श्रेष्ठ मुनियों द्वारा गाए जाने वाले, हे उत्तम, श्रेष्ठ बोधि (रूपी) परमार्थ के लाभी, हे सब स्वरों में पारंगत, तुम्हें नमस्कार।

=260ख=त्रातासि दीपो[1]ऽसि परायणोऽसि
नाथोऽसि लोके कृपमैत्रचित्तः।
वैद्योत्तमस्त्वं खलु शल्यहर्ता
चिकित्सकस्त्वं परमं-हितंकरः ॥1176॥

(तुम) रक्षक हो, द्वीप हो, परायण (=आश्रय) हो, मैत्रीमन्त एवं करुणा-वन्त हृदय के लोकनाथ हो, तुम शल्य निकालने वाले उत्तम वैद्य हो, तुम परम-हितकारी चिकित्सक हो।

दीपंकरस्य सहदर्शनं त्वया
समुदानितं मैत्रकृपाभ्रजालं।
प्रमुञ्च नाथा अमृतस्य धारां
समेहि तापं सुरमानुषाणां ॥1177॥

दीपंकर के दर्शन के साथ तुमने मैत्री और करुणा का मेघजाल उमड़ाया है, हे नाथ, (अब) अमृत-धारा बरसाओ, देवताओं तथा मनुष्यों का ताप शान्त करो।

त्वं पद्मभूतं त्रिभवेष्वलिप्तं
त्वं मेरुकल्पो ऽविचलो ह्यकम्प्यः।
त्वं वज्रकल्पो ह्यचलप्रतिज्ञ
त्वं चन्द्रमा सर्वगुणाग्रधारी ॥1178॥

तुम कमल के सदृश तीनों भवों से अलिप्त हो, तुम सुमेरु के समान न डिगने वाले, न हिलने वाले हो, तुम वज्र के तुल्य दृढ प्रतिज्ञा के हो, तुम सब उत्तम गुणों के धारण करने वाले चन्द्रमा हो।

1. दीप शब्द यहाँ द्वीप का अपभ्रंश है, इसीलिए भोटानुवाद ग्लिङ् (=द्वीप) शब्द से किया गया है।

हे भिक्षुओं, इस प्रकार, आभास्वर देवता तथागत की स्तुति कर, अञ्जलि बाँध तथागत को नमस्कार करते हुए, एक ओर खड़े हो गए ।

(3) ब्रह्मकायिक देवताओं द्वारा तथागत की स्तुति

3. इसके अनन्तर देवपुत्र सुब्रह्म आदि ब्रह्मकायिक देवताओं ने बोधिमण्डप मे बैठे तथागत के ऊपर लाखों-खर्ब करोड़ नाना प्रकार के मणिरत्नो को पिरो कर बना रत्नजाल छा कर, तीन बार प्रदक्षिणा कर, इन यथायोग्य गाथाओ द्वारा स्तुति की ।

(छंद उपजाति, जागत तथा त्रैष्टुभ पादों का मिश्रण)

शुभविमलप्रज्ञ प्रभतेजधरा।
द्वात्रिंशलक्षणवराग्रधरा ।
स्मृतिमं मतिमं गुणज्ञानधरा
अकिलान्तका शिरसि वन्दमि ते ।।1179।।

हे शुभ और निर्मल प्रज्ञा के, हे प्रभा और तेज के धारण करने वाले, हे उत्तम एवं श्रेष्ठ बत्तीस लक्षणों से युक्त, हे स्मृतिमन्त, हे मतिमन्त, हे गुणधर, हे ज्ञानधर, हे अक्लान्त, तुम्हे सिरसे नमस्कार करता हूँ ।

अमला विमला त्रिमलैर्विमला
त्रैलोक्यविश्रुत=261क=त्रिविद्यगता ।
त्रिविधाविमोक्षवरचक्षुदद।
वन्दामि त्वां त्रिनयनं विमलं ।।1180।।

हे अमल, हे विमल, हे तीनों मलों से मलिन न होने वाले, हे तीनो लोको में प्रसिद्ध, हे तीनो विद्याओं के लाभी, हे तीनो विमोक्षों का (साक्षात् करने के लिए) उत्तम दृष्टि देने वाले, हे निर्मल, हे त्रिलोचन, तुम्हे नमस्कार करता हूँ ।

(–360–) कलिकलुष-उद्धृत सुदान्तमना।
कृपकरुणा-उद्गत जगार्थकरा ।
मुनिमुदित-उद्गत प्रसान्तमना
द्वयमतिविमोचक उपेक्षरता ।।1181।।

(तुम) कलि (–युग) की कालिख से ऊपर उठे हुए हो, (तुम्हारा) मन अत्यन्त विनीत है, कृपा एवं करुणा से (तुम) उन्नत हो, (तुम) उन्नत हो, (तुम) जगत् का प्रयोजन सिद्ध करने वाले हो, मुनि -(–जनोचित) मुदिता से (तुम) ऊँचे हो (तुम्हारा) मन अत्यन्त शान्त है, (तुम) मनकी दुविधा से छुडाने वाले हो, (तुम) उपेक्षा (= उदासीनता) में रमे हुए हो ।

व्रततपस-उद्गत जगार्थकरा
स्वचरी-विशुद्धिचरि-पारगता ।
चतुसत्यदर्शक : विमोक्षरता
मुक्तो विमोचयसि चान्यजगत् ॥1182॥

व्रत और तप से उन्नत, जगत् का प्रयोजन सिद्ध करने वाले, अपनी चर्या के विशुद्धि की चर्या के पार पहुँचे हुए, चार आर्यसत्यों का साक्षात् कराने विमोक्षों मे रत, (तुम स्वयं) -मुक्त हो दूसरे लोगों के मुक्तिदाता हो ।

बलवीर्य आगतु इहा नमुचि
प्रज्ञाय वीर्य तव मैत्र्य जितो।
प्राप्तं च ते पदवरं अमृतं
वन्दाम ते शठचमूमथना ॥1183॥

बलवान् एवं वीर्यवान् मार यहाँ (तुम पर) चढ आया, तुमने प्रज्ञा से, वीर्य (=उद्योग) से, और मैत्री से (उसे) जीत लिया, और तुम्हें उत्तम अमृत पद मिल गया। हे शठ (मार) की सेना के मथन-कारक, (हम) तुम्हारी वन्दना कर रहे हैं।

हे भिक्षुओं, इस प्रकार देवपुत्र सुब्रह्म आदि ब्रह्मकायिक देवता-तथागत की इन गाथाओं से स्तुति कर, अंजलि बाँध तथागत को नमस्कार करते हुए, एक ओर खड़े हो गए।

(4) शुक्लपक्षी मारपुत्रों द्वारा तथागत की स्तुति

4. इसके अनन्तर जो शुक्लपक्षी मारपुत्र थे, वे जहाँ तथागत थे, वहाँ पहुँचे, (वहाँ) पहुँच कर, महारत्नो के छत्र=261ख=और वितान (चँदवे) को तथागत के ऊपर तान कर, अंजलि बांध कर, इन यथोचित गाथाओं द्वारा तथागत की स्तुति की।—

(छंद शार्दूलविक्रीड़ित)

प्रत्यक्षे ऽस्मि बले तवातिविपुले मारस्य घोरा चमू
यत्सा मारचमू महाप्रतिभया एकक्षणे ते जिता।
न च ते उत्थितु नैव कायु त्रसितो नो वा गिरा व्याहृता।
त्वां वन्दामहि सर्वलोकमहितं सर्वार्थसिद्धं मुनिं ॥1184॥

हमे प्रत्यक्ष है तुम्हारा महान् बल, तथा मार की भयंकर सेना। अत्यन्त भय उपजाने वाली जो मारसेना थी, उसे तुमने एक क्षण में जीत लिया। न तुम

उठे, न तुम बोले, और न (तुम्हारा शरीर कँपा। तुम्हें सब लोगों के प्रशंसित (एवं) सर्वार्थसिद्ध मुनि को हम प्रणाम कर रहे हैं।

मारा कोटिसहस्रनेकनयुता गङ्गाणुभिः संमिताः
ते तुभ्यं न समर्थ बोधिसुवटा संचालितुं कम्पितुं।
यज्ञा कोटिसहस्रनेकनयुता गङ्गा यथा बा(?वा)लिका
यष्टा बोधिवटासितेनं भवता तेनाद्य विभ्राजसे ॥1185॥

गंगा की रेणुकाओं के समान अनेक-खर्व कोटि-सहस्र मार तुम्हें सुन्दर वृक्ष से डिगाने में, कँपाने में समर्थ न हो सके। गंगा की रेणुकाओं जितने अनेक-खर्व कोटि-सहस्र यज्ञों का आपने अनुष्ठान किया है। इसीसे आज आप बोधिवृक्ष के नीचे बैठे शोभा दे रहे हैं।

भार्या चेष्टतमा सुताश्च दयिता दास्यश्च दासास्तथा
उद्याना नगराणि राष्ट्र निगमा राज्यानि सान्त(:)पुराः। (–361–)
हस्ता पाद शिरोत्तमाङ्गमपि वा चक्षुंषि जिह्वा तथा
त्यक्ता ते वरबोधिचर्यचरता तेनाद्य विभ्राजते ॥1186॥

अत्यन्त प्रिय भार्या का, प्यारे बेटी-बेटों का, दासियो का, दासों का, उद्यानों का, नगरों का, राष्ट्र का, निगमो (=कस्बो) का, हाथों का, पैरों का, उत्तम अंग सिर का, नेत्रों का, तथा जिह्वा का त्याग उत्तम बोधिचर्या का आचरण करते हुए तुमने किया है। इसीसे आज शोभा दे रहे हो।

उक्तं यद् वचनं त्वया सुबहुशो बुद्धो भविष्याम्यहं
तारिष्ये बहुसत्त्वकोटिनयुता दुःखार्णवेनोह्यता। =262क=
ध्यानाधीन्द्रियबुद्धिभिः कवचित् सद्धर्मनावा स्वयं
सा चैषा प्रतिपूर्ण तुभ्य प्रणिधिस्तारिष्यसे प्राणिनः ॥1187॥

तुमने बहुत बार कहा कि मै ध्यान, प्रज्ञा, इन्द्रयों और बुद्धि का कवचधारी बुद्ध होऊँगा, तथा दुःखसागर में बहे जाते हुए अनेक कोटि-खर्व प्राणियों को स्वयं सद्धर्म की नौका द्वारा तारूँगा। वह तुम्हारा प्रणिधान (=संकल्प) पूरा हो गया। (अब तुम) प्राणियों को तारोगे।

यत्पुण्यं च स्तवित्व वादिवृषभं लोकस्य चक्षुर्ददं
सर्वे भूत्व उदग्रहृष्टमनसः प्रार्थेम सर्वज्ञतां।
समुदानीत्व वराग्रबोधिमतुलां बुद्धैः सुसंवर्णितां
एवं तद्विनिहत्य मारपरिषां बुद्धेम सर्वज्ञतां ॥1188॥

वादियों में श्रेष्ठ, लोक को चक्षु देने वाले (तथागत) की स्तुति कर जो पुण्य (मिला) है, उससे (हम–) सब आनन्दित एवं प्रसन्न चित्त के हो (अपने

लिए) सर्वज्ञता (=बुद्धता) की प्रार्थना करते हैं। बुद्धों के द्वारा सुन्दरता से अत्यन्त वर्णित, उत्तम, श्रेष्ठ, एवं अतुलनीय बोधि की सिद्धि कर, इसी प्रकार मारमण्डल को पराजित कर, (हम-सब भी) सर्वज्ञता का बोध करें।

हे भिक्षुओ, इस प्रकार, मारपुत्र तथागत की स्तुति कर, अंजलि बाँध तथागत को नमस्कार करते हुए, एक ओर खड़े हो गए।

(5) परनिर्मितवशवर्ती देवपुत्रों द्वारा तथागत की स्तुति

5. इसके अनन्तर, अनेक-लक्ष देवपुत्रों द्वारा घिरे हुए, आगे किए हुए, परिनिर्मित (-देवनिकाय के) वशवर्ती देवपुत्र ने, जम्बूनद-सुवर्ण के जैसे रंग के सुनहले कमलों को तथागत के ऊपर बरसा कर, सामने (खड़े हो) इन गाथाओं द्वारा स्तुति की।—

(छंद शशिकला)

अपिडित अलुडित अवितथवचना
अपगततमरज अमृतगतिगता।
अरहसि दिवि भुवि श्रिय क्रियमतुला
अतिद्युति स्मृतिमति प्रणिपति शिरसा ॥1189॥

हे पीड़ा-रहित, हे क्षोभ-रहित, हे तथ्य-वचन-भाषी, हे तमोगुण एवं रजोगुण हीन, हे अमृत की राह पा चुकने वाले, तुम धरती पर तथा देवलोक में अतुलनीय सत्कार तथा श्री के भाजन हो, हे अत्यन्त प्रकाश के, हे स्मृतिमन्त तथा मतिमन्त, (तुम्हें) सिर से प्रणाम कर रहे हैं।

रतिकर रणजह = 262ख = रजोमलमथना।
रमयसि सुरनर सुविसदवचनैः। (-362-)
विकसित सुविपुल वरतनुकिरणैः
सुरनरपतिरिव जयसि जगदिदं ॥1190॥

हे आनन्द उपजाने वाले, हे रणों अर्थात् क्लेशों से रहित, हे रजोमल का उन्मूलन करने वाले, (तुम) सुन्दर तथा स्पष्ट-वचनों द्वारा देवताओं और मनुष्यों को आनन्दित करते हो। हे (अपने) शरीर की उत्तम किरणों से बहुत बहुत विकसित हुए, (तुम) इस लोक को (उस प्रकार) जीत रहे हो जिस प्रकार सुरपति (स्वर्ग को) तथा नरपति (पृथिवी को) जीतते हैं।

परगणि प्रमथन परिचरि-कुशला
प्रियु भव नरमरु परमतिधुनता।
परिचरि विभजसि सुनिपुण मतिमान्
पथि इह विचरतु दशबलगमने ॥1191॥

हे अन्य गण (वालों) का मथन कर डालने वाले, हे दूसरो के आचार-विचार के जानकार, हे देवताओं तथा मनुष्यों के जगत् के प्यारे, हे पर मतों को धुनने वाले, हे मतिमन्त, (तुम) दूसरों के आचार-विचार का अत्यन्त निपुणता से विवेचन करते हो, यहाँ दशबलों (=बुद्धो) द्वारा चले मार्ग पर विचरण करो।

त्यजि पृथु भवग्रहि वितथ दुःख मह
विनयसि सुरनर यथमतिविनये।
विचरसि चतु दिश शशिरिव गगने
चक्षु भव परायण इह भुवि त्रिभवे॥1192॥

(तुम) वितथ (असत्य) एवं महादुःख वाला महाभवग्राह अर्थात् संसार में उत्पन्न होने का महान् आग्रह छुड़ा कर, बुद्धि और विनय के अनुसार देवताओं तथा मनुष्यों को विनीत करते हो। आकाश मे चन्द्रमा के समान चारों दिशाओं मे (तुम स्वच्छन्द) विचर रहे हो। इस पृथिवी के, (इन) तीनों भवों के, (तुम) उत्तम आश्रय बनो-नेत्र बनो।

प्रियु भव नरसुर न च खलि विषये
रमयसि शुभरति कामरतिविरतो।
निनदसि[2] परिषदि न ति समु त्रिभवे
नाथु गति परायणु त्वमिह हि जगतः॥1193॥

(तुम) मनुष्यों तथा देवताओं के भव के प्रिय हो, (तुम) विषय में गिरे हुए नही हो, (तुम) कामरति से विरत हो शुभरति (=पुण्यरति) मे रमण कर रहे हो, तुम सभा में गरज रहे हो, तीनों भवों में तुम्हारे समान (दूसरा) नही है, तुम इस जगत् के नाथ हो, गति हो, परम आश्रय हो।

हे भिक्षुओ, इस प्रकार, देवपुत्र वशवर्ती आदि परि निर्मितवशवर्ति (=देवनिकाय के) देवपुत्र तथागत की स्तुति कर, अंजलि बाँध तथागत को नमस्कार करते हुए एक ओर खड़े हो गए।

(6) सुनिर्मित देवपुत्र द्वारा तथागत की स्तुति

6. इसके अनन्तर, देवसंघ से घिरे हुए, आगे किए हुए, सुनिर्मित देव पुत्र ने नाना रत्नों से युक्त पट्ट-दामों (=कौशेयपटमालाओं) से =263क= तथागत को आच्छादित कर, सामने (खड़े हो कर) इन गाथाओं द्वारा स्तुति की।

2. मूल, दिनदर्शि। यह पाठ संगतार्थ नही है। भोट, स्ग्रोगस् प (=निनदसि)। इस पाठ से अर्थ लगता है।

(छंद गाथा सप्तदशाक्षरी)

धर्मालोक भवान् समुद्गत त्रिविधमलनुछिदो
मोहा दृष्टि-अविद्यघातको हिरिशिरिभरितः ।
(-363-) मिथ्यामार्गरतामिमां प्रजाममृते थपयितो
उत्पन्नो इह लोकि चेतियो दिवि भुविमहितः ॥1194॥

आप धर्म के प्रकाश से ऊपर उठे हैं, तीन प्रकार के मलों का उच्छेद करने वाले हैं, मोक्ष, (कु—) दृष्टि और अविद्या के विघातक हैं, ह्री और श्री से पूर्ण हैं, मिथ्या मार्ग मे रमी हुई इस प्रजा को अमृत में स्थापित करने वाले हैं, देवलोक में तथा पृथिवी पर चैत्य (जैसे) पूजित होकर इस लोक में उत्पन्न हुए हैं।

त्वं वैद्यो कुशलचिकित्सको ह्यमृतसुखददो
दृष्टिक्लेश-म्-अविद्यसंचयं पुरिममनुशयं ।
सर्वव्याध्यपनेसि देहिनां पुरिमजिनपथे
तस्माद् वैद्यतमोऽसि नायका विचरसि धरणीं ॥1195॥

तुम वैद्य हो, कुशल चिकित्सक हो, अमृत का सुख देनेवाले हो, (कु=) दृष्टि, क्लेश, तथा अविद्या के संचय रूप पहले के अनुशय को, (एवं अन्य) सब प्राणियों की व्याधियों को पूर्व के जिनो के मार्ग (=विधि-विधान) द्वारा दूर करते हो, इसलिए हे नायक, (तुम) सर्वोत्तम वैद्य हो, (जो) इस धरती पर विचर रहे हो।

चन्द्रासूर्यप्रभाश्च ज्योतिषा मणि तथ ज्वलना
शक्रब्रह्मप्रभा न भासते पुरतु शिरिधने ।
प्रज्ञालोककरा प्रभंकरा प्रभसिरिसरिता
प्रत्यक्षास्तव[3] ज्ञाति (? ज्ञानि) अद्भुते प्रणिपति शिरसा ॥1196॥

चन्द्र तथा सूर्य का प्रकाश, नक्षत्र, मणि, अग्नि, तथा इन्द्र एवं ब्रह्मा की कान्ति श्रीघन (=बुद्ध) के सामने निस्तेज है। (तुम) प्रजा का प्रकाश करने वाले हो, प्रभा के उपजाने वाले हो, प्रभा और श्री से भरे हुए हो, तुम्हे अद्भुत ज्ञान का प्रत्यक्ष है, (तुम्हे) सिर से प्रमाण करता हूँ।

सत्यासत्यकथी विनायका सुमधुरवचना
दान्ताशान्तमना जितेन्द्रिय प्रशमितमनसा ।
शास्ता शासनियां प्रशाससे नरमुरपरिषां
वन्दे शाक्यमुनिं नरर्षभं सुरनरमहितं ॥1197॥

3. ज्ञाति शब्द संभवतः लिपिकर—प्रमाद से ज्ञानि का रूपान्तर है। भोट, मे ये शेस् (=ज्ञानं) पाठ से यही जान पड़ता है। यद्यपि ज्ञात का प्रयोग ज्ञान के अर्थ में भी संभव है।

(तुम) सत्य तथा असत्य का विवेचन करने वाले हो, विनायक (=उत्तम नेता) हो, सुन्दर एवं मधुर बोली के हो, जितेन्द्रिय हो, तुम्हारा मन विनीत है, तुम्हारा मन शान्त है, तुम्हारा मन अत्यन्त शान्त है, तुम शास्ता हो, शासन के योग्य देवताओं तथा मनुष्यों के समाज का शासन करते हो। देवताओं तथा मनुष्यों द्वारा पूजित, मनुष्यों में ऋषभ (=श्रेष्ठ), शाक्यमुनि की मैं वन्दना करता हूँ।

ज्ञानि ज्ञानकथाग्रधारका ज्ञपयसि त्रिभवे=263ख=
त्रैविद्य त्रिविमोक्षदेशका त्रिमलमलनुदा।
भव्याभव्य मुने प्रजानसे यथमतिविनयं
वन्दे त्वां त्रिसहस्रि अद्भुतं दिवि भुवि महितं ॥1198॥

हे ज्ञानवन्त, हे ज्ञानकथा के उत्तम धारण करने वाले, (तुम) तीनों भवों को ज्ञान देने वाले हो। (तुम) तीन विद्याओं के जानकार हो, तीन विमोक्षों के उपदेशक हो, तीन मलों को दूर करने वाले हो। हे मुने, (तुम) बुद्धि एवं विनय के अनुसार (कौन एवं क्या) भव्य (=योग्य) अथवा अभव्य (अयोग्य) है, इसे जानते हो। त्रिसाहस्र लोक-धातु के आश्चर्य (-भूत), देवलोक में तथा धरती पर पूजित, तुम्हारी मैं वन्दना करता हूँ।

हे भिक्षुओ, इस प्रकार, अपनी मंडली के सहित, देवपुत्र सुनिर्मित तथागत की स्तुति कर, अंजलि बाँध तथागत को नमस्कार करते हुए, एक ओर खड़े हो गए।

(7) संतुषित देवपुत्र द्वारा तथागत की स्तुति

7. इसके अनन्तर, तुषितकायिक देवताओं के साथ देवपुत्र संतुषित, जहाँ तथागत थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर महान् दिव्यवस्त्र के जाल से (-364-) बोधिमण्डप के नीचे बैठे तथागत के ऊपर आच्छादन कर सामने (खड़े हो कर) इन गाथाओं के द्वारा स्तुति की।—

(छंद वेगवती)

तुषितालयि यद्वसितस्त्वं
तत्र ति देशितु धर्म उदारो।
न च छिद्यति सा अनुशास्ति
अद्यपि धर्मचरी सुरपुत्राः ॥1199॥

तुषित-लोक में जो तुमने निवास किया था, तथा वहाँ पर जो उदार धर्म का उपदेश दिया था, उस (धर्म-) अनुशासन की परम्परा छिन्न नहीं हुई है, आज भी देवपुत्र धर्मचर्या करते हैं।

न च दर्शन तृप्ति लभामो
[4]धर्मश्रृणोतु (? धर्मश्रुणातु) न विन्दति तृप्तिं।
गुणसागर लोकप्रदीपा
वन्दिम ते शिरसा मनसा च ॥1200॥

न (तुम्हारे) दर्शन से जी अघाता है और न (तुम्हारा) धर्म सुनने से जी अघाता है। हे लोक के प्रदीप, गुणसागर, तुम्हारी सिर से एवं मन से वन्दना करते हैं।

तुषितालय यच्चलितरत्वं
सोषित अक्षण सर्वि तदा ते।
यद बोधिवटे उपविष्टः
सर्वजगस्य किलेश प्रशान्ताः ॥1201॥

जब तुम तुषित-लोक से चले थे, तभी तुमने सब अक्षणों को सुखा दिया था। जब तुम बोधिवृक्ष के नीचे बैठे थे, (तभी) सब जगत् के क्लेश अत्यन्त शान्त हो गए थे।

(छंद दोधक)

यस्य कृतेन च बोधि उदारा
एषति प्राप्ति जिनित्वन मारं।
त्वा-प्रणिधी तपसा परिपूर्णा
क्षिप्र प्रवर्तय चक्रमुदारं ॥1202॥

जिस (प्राणिधान अर्थात् संकल्प) से मार को जीत कर खोजते-खोजते उदार बोधि का तुम्हें लाभ हुआ है, (वह) तुम्हारा प्रणिधान (अब) तप द्वारा परिपूर्ण हो चुका है। शीघ्र (अब) उदार (धर्म—) चक्र का प्रवर्तन करो।

(छंद उपजाति वेगवती तथा दोधक का मिश्रण)

=264क= बहु दिक्षिषु प्राणिसहस्रा
धर्मरता श्रुणुयामथ धर्मं।
क्षिप्र प्रवर्तय चक्रमुदारं
मोचय प्राणिसहस्र भवेषु ॥1203॥

4. मूल, का धर्मश्रृणोतु (=धर्मंश्रृणोतु) संदिग्ध है। कदाचित् धर्मश्रुणनातु अथवा धर्मश्रुणातु हो। भोट, छोस् मृनन् पस् (धर्मश्रवणात्)।

धर्मरत बहुत से सहस्र प्राणी, हमें धर्म सुनने को मिले, इसकी प्रतीक्षा में हैं। शीघ्र (अब) उदार धर्मचक्र का प्रवर्तन करो, भावों से सहस्रों प्राणियों को मुक्त करो।

हे भिक्षुओ, इस प्रकार, अपनी मंडली के साथ देवपुत्र संतुषित हो तथागत की स्तुति कर, अंजलि बांध, तथागत को नमस्कार करते हुए, एक ओर खड़े हो गए।

8. सुयाम देवताओं द्वारा तथागत की स्तुति

8. इसके अनन्तर, सुयाम-देवता, जिनमें देवपुत्र सुयाम प्रमुख थे, जहाँ तथागत थे वहाँ पहुँचे। पहुँच कर नानाप्रकार के पुष्पों, धूपों, गन्धों, माल्यों एवं विलेपनों द्वारा बोधिमण्डप में बैठे तथागत की पूजा कर, सामने (खड़े हो कर) इन यथायोग्य गाथाओं द्वारा (उन्होंने तथागत की) स्तुति की।—

(छंद मालमारिणी-सदृश)

सदृशो ऽस्ति न ते कुतो ऽन्तरे
शील समाधि तथैव प्रज्ञया।
अधिमुक्तिविमुक्तिकोविदा
शिरसा वन्दिम ते तथागतं ॥1204॥

शील मे, समाधि में, तथा प्रज्ञा में तुम्हारे समान दूसरा कोई नहीं है, अधिक कहाँ से होगा। तुम अधिमुक्ति (=रुचि) तथा विमुक्ति के विशेषज्ञ हो। तुम तथागत को (हम) सिर से नमस्कार करते हैं।

दृष्टा च वियूह सोभना
बोधिमण्डस्मि मरुभि या कृता।
न तमर्हति अन्य कश्चना
यथ त्वं देवमनुष्यपूजितः ॥1205॥

बोधिमण्डप पर देवताओं ने जो शोभन व्यूह (=मण्डन) किए थे, (उन्हें हमने) देखा है। देवताओं और मनुष्यों द्वारा पूजित जैसे तुम हो वैसा और कोई नहीं है, जो उनके योग्य होता।

न मुधाय भवान् समुद्गतो
यस्य अर्थे बहु चीर्ण दुष्करा।
(-365-)विधितो हि शठः ससैन्यकः
प्राप्ता बोधि अनुत्तरा त्वया ॥1206॥

आप उत्पन्न हुए, वह निष्प्रयोजन नहीं है। जिसके अर्थ बहुत से दुष्कर कार्य किए थे (वह सिद्ध हुआ है)। सेना-सहित वंचक (—मार) को (तुमने) जीत लिया है, और अनुत्तर बोधि तुमने पा ली है।

=264ख= आलोककृते दशा दिशे
प्रज्ञादीपेन त्रिलोक ज्वालितः।
तिमिरं अपनायिष्यसे
दास्यसि चक्षुरनुत्तरं जगे ॥1207॥

दसों दिशाओं में प्रकाश करने के लिए (तुमने) प्रज्ञा के प्रदीप से त्रिलोकी को उज्ज्वल कर दिया है, (तुम) अन्धकार को दूर कर दोगे और जगत् को लोकोत्तर नेत्र प्रदान करोगे।

बहुकल्प स्तुवन्ति भाषतो
रोमरूपस्य न चान्तु अस्ति ते।
गुणसागर लोकविश्रुता
शिरसा वन्दिम ते तथागतं ॥1208॥

बहुत कल्पों तक बोल-बोल कर (लोग) स्तुति करें तो भी तुम्हारे (गुणों के) रोम-भर का भी अवसान नहीं हो पाता। हे लोकप्रसिद्ध, गुण-सागर, तुम तथागत को (हम) सिर से प्रणाम करते हैं।

इस प्रकार, वे सुयाम देवपुत्र आदि देवता तथागत की स्तुति कर, अंजलि बाँध नमस्कार करते हुए एक ओर खड़े हो गए।

देवेन्द्र द्वारा तथागत की स्तुति

9. इसके अनन्तर, देवताओं के इन्द्र शक्र ने, त्रायस्त्रिंशकायिक देवताओं के साथ, नाना प्रकार के पुष्पों, धूपों, दीपो, गन्धों, माल्यों, विलेपनों, चूर्णो, चीवरों छत्रों, ध्वजाओं, तथा पताकाओं के व्यूहों (=मंडनों) द्वारा तथागत की पूजा कर, इन गाथाओ द्वारा स्तुति की।—

(छंद वनमाला)

अस्खलिता अनवद्या सदा सुस्थिता मेरुकल्पा मुने
दश दिशि सुविघुष्ट ज्ञानप्रभा पुण्यतेजान्विता।
बुद्धशतसहस्र संपूजिता पूर्वि तुभ्यं मुने
तस्य विशेपु येन वोधिद्रुमे मारसेना जिता ॥1209॥

हे मुने, (तुम) यशस्वी हो, सुमेरु के समान सदा सुस्थिर, न गिरने वाले हो, ज्ञान की प्रभा से युक्त, पुण्य के तेज से संपन्न, दसों दिशाओं में तुम विख्यात

हो, हे मुने, पहले तुमने लाखों बुद्धो की पूजा की है, उसीका (यह) विशेष (फल) है, जिससे बोधिवृक्ष के नीचे तुमने मार-सेना को जित लिया है।

शलिश्रुतसमाधिप्रज्ञाकरा ज्ञानकेतुध्वजा
जरमरणनिघाति वैद्योत्तमा = 265क = लोकचक्षुर्ददा।
त्रिमलखिलप्रहीण शान्ततेन्द्रिया शान्तचित्तामुने
शरण तवमुपेम शाक्यर्षभा धर्मराजा जगे ॥1210॥

हे शीलके श्रुत के समाधिके तथा प्रज्ञा के आकार, हे ज्ञान के केतु और ध्वज, हे जरा और मरण के पूर्ण रूप से घात करने वाले, हे वैद्यों मे उत्तम, हे लोक को चक्षु-प्रदान करने वाले, हे तीनो मलों तथा खिलो (=रूक्षता आदि चित्त दोषों) से सर्वथा हीन, हे शान्त इन्द्रियों वाले, हे शान्त चित्त के, हे शाक्यों में ऋषभ (= श्रेष्ठ), हे जगत् के धर्मराज, हे मुने, (हम) तुम्हारी शरण जाते हैं।

बोधिचरि अनन्ततुल्या अभूद् वीर्यस्यामोद्गता
प्रज्ञाबल उपायमैत्राबलं ब्राह्मपुण्यं बलं।
एति बलमनन्ततुल्या भवं बोधि-संप्रस्थिते
दशबलबलधारो अद्या पुनर्बोधिमण्डे भुतो ॥1211॥

उद्योग और तेज से उठी हुई बोधिचर्या अनन्त थी—अतुल्य थी। बोधि-चर्या के प्रस्थान के समय प्रज्ञाबल, उपायबल, मैत्रीबल, ब्रह्म-विहारबल, पुण्यबल (आदि) ये (सब) बल अनन्त थे—अतुल्य थे। आज तो बोधिमण्डप के नीचे (तुम) दश बलों के बलधर (अर्थात् बुद्ध) हो गए हो।

(–336–) दृष्टव चमु अनन्तसत्त्वे सुरा भीतत्रस्ताऽभवन्
मा खु श्रमणराजु बाधिष्यते बोधिमण्डे स्थितः।
न च भवतु बभूव तेभ्यो भयं नोच कायेञ्जना
कर हत गुरुभार संकम्पना मारसेना जिता ॥1212॥

अनन्त प्राणियों वाली (मार–) सेना देख कर देवता डर गए, घबरा गए कि कहीं बोधिमण्डप मे बैठे श्रमणराज को पीड़ा न पहुँच जाए। पर आप को उनसे न भय हुआ, और न काय-कम्प ही हुआ। (केवल) गुरुता के भार वाले हाथ की थपकी से सब ओर से कँपा कर (आपने) मार-सेना जीत ली।

यथ च पुरिमकेभि सिंहासने प्राप्त बोधि वरा
तथ त्वया अनुबुद्ध तुल्या समा अन्यया त्वं न हि।
सममनस समचित्त सर्वज्ञता स्थाम प्राप्त त्वया
तेन भव स्वयंभु लोकोत्तमो पुण्यक्षेत्रं[5] जगे ॥1213॥

5. मूल, °क्षत्रं। भोट, शिङ् (= क्षेत्रं)।

जैसे पहले के (बुद्धों ने) सिंहासन पर (बैठे-बैठे) उत्तम बोधि प्राप्त की, वैसे तुमने (भी) बोधि पाई है। तुम उनसे अभिन्न हो, तुल्य हो, सम हो। तुमने सम-मन से, सम-चित्त से बल से सर्वज्ञता पाई है। इसलिए आप स्वयंभू, लोकोत्तम, एवं जगत् के पुण्यक्षेत्र हैं।

हे भिक्षुओ, इस प्रकार, देवताओं के इन्द्र, शक्र, त्रायस्त्रिंश लोक के देवपुत्रों के =265ख= साथ, तथागत की स्तुति कर, अंजलि बांध तथागत को नमस्कार करते हुए, एक ओर खड़े हो गए।

(१०) चतुर्महाराजकायिक देवताओं द्वारा तथागत की स्तुति

10. इसके अनन्तर, चारों महाराज, चतुर्महाराजकायिक देवपुत्रों के साथ, जहाँ तथागत थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर (हाथो मे) ली हुई[6] अतिमुक्तक (=कस्तूर-मोगरा) चम्पक, सुमना (= चमेली), वार्षिकी (= बरसाती चमेली) एवं धनुष्कारी की पुष्पमालाओ से तथा लाखों अप्सराओं के मंडल के सहित दिव्य संगीत एवं वाद्य से तथागत की पूजा कर, इन यथायोग्य गाथाओं द्वारा स्तुति की—

(छंद पुष्पिताग्रा)

सुमधुरवचना मनोज्ञघोषा
शशिव-प्रसांतिकरा प्रसन्नचित्ता।
प्रहसितवदना प्रभूतजिह्वा
परमसुप्रीतिकरा मुने नमस्ते ॥1214॥

हे उत्तम मधुर वचन के, हे मनोहर स्वर के, हे चन्द्रवत् अत्यन्त शान्तिदायक, हे प्रसन्न चित्त के, हे खिल-खिलाते चेहरे वाले, हे बड़ो जिह्वावाले, हे परमोत्तम प्रीति उपजाने वाले, हे मुने, तुम्हे नमस्कार है।

रुत-रवित य अस्ति सर्वलोके
सुमधुर प्रेमणिया नरामरूणां।
भवत स्वरु प्रमुक्त मञ्जुघोषो
अभिरवते रुत सर्वि भाषमाणां[7] ॥1215॥

सब जगत् में जो देवताओं और मनुष्यों का अत्यन्त मधुर एवं प्रिय ध्वनि-स्वर है, उस सब बोले जाने वाले ध्वनि-स्वर को तुम्हारा मनोहर गूँज वाला निकला स्वर परास्त कर देता है।

6. मूल, अभिमुक्तक। भोट, अ ति मु क्त क (अतिमुक्तक)।
7. भाषमाणा के स्थान में भोटानुसारी पाठ संभवतः मानुषाणां है। तुलनीय भोट, मि यि (= मानुषस्य, मानुषाणां)।

राग़ु समयि दोषमोहक्लेशा
प्रीति जनेति अमानुषां विशुद्धां।
अकलुष हृदया निशाम्य धर्मं
आर्यविमुक्ति लभन्ति ते हि सर्वे ॥1216॥

(तुम्हारा धर्म) राग, द्वेष, मोह रूपी क्लेशो को शान्त कर, अत्यन्त शुद्ध अमानुष प्रीति उपजाता है। निर्मल हृदय के लोग (जो धर्म सुनते है, वे सब आर्य-विमुक्ति को प्राप्त करते है।

न भव अतिमन्यसे अविद्वां
न च पुन विद्वमदेन जातु मत्तः।
(–367–) उन्नतु न च नैव =266क= चोनतस्त्वं
गिरिरिव सुस्थितु सागरस्य मध्ये ॥1217॥

आप अविद्वान् की अवज्ञा नही करते और विद्वत्ता के मद से कभी भी (स्वयं) मत्त नही होते। (आप मे) न ऊँच है न नीच है, (आप सागर के बीच पर्वत की भाँति अत्यन्त स्थिर है।

लाभ इह सुलब्ध मानुषाणां
यत्रं हि तादृशु जातु सत्व लोके।
श्रीरिव पद्मो धनस्य दात्री
तथ तव दास्यति धर्मु सर्वलोके ॥1218॥

लोक मे जहाँ ऐसा प्राणी उत्पन्न हुआ है, वहाँ मनुष्यों को लाभों की उत्तम प्राप्ति है। जैसे पद्म-लक्ष्मी धन देती है, वैसे ही तुम सब लोक को धर्म प्रदान करोगे।

इस प्रकार चतुर्महाराज आदि महाराजकायिक देवता बोधिमण्डप में बैठे तथागत की स्तुति कर, अंजलि बाँध तथागत को नमस्कार करते हुए, एक ओर खड़े हो गए।

11. अन्तरिक्षस्थ देवताओं द्वारा तथागत की स्तुति

11. इसके अनन्तर, अन्तरिक्ष के देवताओं ने तथागत के पास पहुँच कर, अभिसंबोधि की पूजा करने के लिए, संपूर्ण अन्तरिक्ष को रत्नजाल द्वारा, किंकिणीजाल द्वारा, रत्नछत्रों द्वारा, रत्नपताकाओं द्वारा, रत्नपट्टदामो द्वारा (= रत्नमय कौशेयसूत्रमालिकाओं द्वारा), रत्न के अवतंसकों (= करनफूलों) द्वारा, विविध प्रकार के मोतियो के हारों तथा पुष्पमालाओं वाले आधे शरीर से दृश्य देवताओं द्वारा थामे हुए अर्धचंद्रकों (अर्धमंडल के कंठ हारो) द्वारा सब

ओर से अलंकृत कर, तथागत को उपहार मे दिया। उपहार देकर सामने (खड़े होकर) इन गाथाओं द्वारा स्तुति की।—

(छंद उपजाति त्रैष्टुभ तथा जागत पादों का मिश्रण)

अस्माकं वासं गगणे ध्रुवं मुने
पश्याम सत्त्वा-चरिया यथा जगे।
भवतश्चरि प्रक्षिय शुद्धसत्त्व
स्खलितं न पश्याम = 266ख = तवैकचित्ते ॥1219॥

हे मुने, आकाश में हमारा ध्रुव-निवास है, (हम) जगत् में प्राणियों की जैसी चर्या होती है (उसे) देखते हैं। शुद्ध-सत्त्व वाले आपकी चर्या देख कर, एकचित्तवाले आप मे (हमने) स्खलन नही देखा।

ये आगता पूजन बोधिसत्त्वा
गगनं स्फुटं तैर्नरनायकेभिः।
हानिर्विमानान न चाभवन्त
तथा हि ते वै गगणात्मभावाः ॥1220॥

पूजा के निमित्त जो बोधिसत्त्व आए थे, उन नरनायकों द्वारा आकाश व्याप्त हो गया था, फिर (उनके) विमानो की हानि नही हुई थी क्योंकि वे बोधिसत्त्व तथा उनके विमान) सभी के शरीर आकाशमय थे।

ये अन्तरीक्षातु प्रवर्षि पुष्पां
स्याच्चूडबन्धा हि महासहस्रा।
ते तुभ्य काये पतिता अशेषा
नद्यो यथा सागरि संप्रविष्टाः ॥1221॥

अन्तरिक्ष जो पुष्प बरसे थे वे ऐसे जान पडते थे मानो (त्रिसाहस्र–) महासाहस्र (लोकधातु) की चोटी के गुँथे पुष्प हों, वे सब के सब तुम्हारे शरीर पर उस तरह गिरे, जिस तरह नदियाँ सागर मे गिरती है।

पश्याम छत्राण्यवतंसका च
मणिगुणां चम्पकपुष्पदामां।
हारांश्च चन्द्रांश्च तथार्धचन्द्रां
क्षिपन्ति देवा न च संकिरन्ति[8] ॥1222॥

8. मूल, न च संस्करोति। पठनीय, न च संकिरन्ति। यहाँ भोट से तुलना करने पर धातु कॄ (दीर्घान्त), धातु जान पड़ता है न कि कृ (ह्रस्वान्त)। भोट, ह्द्रेस् पर् ग्युर् म मृछिस् (न संकिरन्ति, न विमिश्रयन्ति)।

(हमें) दिखाई देते थे छत्र, अवतंसक (=करनफूल), मालाओं की लड़ें, चंपा के फूलों के हार, (मोतियो के) हार, चन्द्राभरण, एवं अर्धचंद्राभरण, (जिन्हें) देवता फेंकते थे, पर एक दूसरे के साथ मिश्रित न होने देते थे।

वालस्य नाभूदवकाशमस्मिन्
देवै स्फुटं सर्वत अन्तरीक्षं।
कुर्वन्ति पूजां द्विपदोत्तमस्य
न च ते मदो जायति विस्मयो वा ॥1223॥

यहाँ बाल भर रखने की भी जगह नही थी। देवताओं से सब ओर अंतरिक्ष व्याप्त था। (वे) द्विपदों मे (दो पैर वालो मे) श्रेष्ठ तुम्हारी पूजा करते थे पर तुम्हे (इससे) मद अथवा विस्मय न होता था।

(–368–) इस प्रकार, अन्तरिक्षदेवता बोधिमण्डप में बैठे तथागत की स्तुति कर, अंजलि बाघ तथागत को नमस्कार करते हुए एक ओर खड़े हो गए।

12. पृथिवी के देवताओं द्वारा तथागत की स्तुति

12. इसके अनंतर पृथिवी के देवता तथागत की पूजा करने के लिए संपूर्ण धरणीतल को सम्यक्तया शोधित कर, लीप कर, सुगधित जल से छिड़क कर, फूल विखेर कर नाना प्रकार के धूसो (=दुशालो) के चँदवे तान कर, तथागत को उपहार में दिया और इन गाथाओ द्वारा स्तुति की।—

(छंद मालिनी)

वज्रमिव =267क=अभेद्या संस्थिता त्रिःसहस्रा
वज्रमयपदेनायं स्थितो बोधिमण्डे।
इह मम त्वच मांसं शुष्यतामस्थि मज्जा
न च अहु अस्पृशित्वा बोधि उत्थेष्य अस्मात् ॥1224॥

वज्र (=हीरे) के समान अभेद्य त्रिसाहस्र (–महासाहस्र-लोकधातु) की स्थिति थी, और ये (तथागत) व्रजमयी स्थिति के साथ बोधिमंडप मे बैठ गए थे कि मेरी त्वचा, अस्थि, मज्जा, तथा मेरा मांस चाहे सूख जाएँ, पर बोधि का अनुभव किए विना मैं यहाँ से नही उठूँगा।

स चि⁹ भव नरसिंहा सर्वियं त्रिःसहस्रा
न करिषु अधिस्थानं स्याद् विदीर्णऽशेषा।
तादृश महवेगा आगता बोधिसत्त्वा
येष क्रमतलेभिः कम्पिता क्षेत्रकोट्यः ॥1225॥

हे नरसिंह, यदि आपने अधिष्ठान (= स्वस्ति-आशीर्वाद) न किया होता, तो यह सब त्रिसाहस्र (-महासाहस्र-लोकधातु) संपूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट हो गई होती। बोधिसत्त्व वैसे महावेग से आए थे कि जिनके पैरों के तलवों से कोटि-कोटि बुद्ध क्षेत्र काँप उठे थे।

लाभ इह सुलब्धाभूमिदेवैरुदारा
यत्र परमसत्त्वश्चङ्क्रमी मेदिनीये।
यत्र कु रजु लोके सर्व ओभासितास्ते
चेतिभु त्रिसहस्रः किं पुनस्तुभय कायः ॥1226॥

(यह) भूमि-देवों को परम लाभों की प्राप्ति है, जिनकी धरती पर परमसत्त्व ने चंक्रमण (=भ्रमण) किया है। लोक में जहाँ कहीं भी धूल-धक्कड था, वहाँ सर्वत्र तुमने प्रकाश भर दिया है। (यह) त्रिसाहस्र लोक (ही) चैत्य बन गया है, तुम्हारे शरीर का तो कहना ही क्या ?

हेस्ति शतसहस्रं यावतश्चापस्कन्धो
धरणितलु जगस्या यावतश्चोपजीव्यः।
सर्व वयु धरेमो मेदिनी त्रिःसहस्रां
सर्व तव ददामो भुंक्षिवमां त्वं यथेष्टं ॥1227॥

नीचे जितनी लक्ष-लक्ष जलराशियाँ है, धरणीतल जितने (स्थावर-जंगम प्राणि) जगत् का उपजीव्य है, उस सब त्रिसाहस्र लोक की धरती को हम धारण करते हैं। यह सब हम तुम्हें दे रहे है, तुम इसका इच्छानुसार उपभोग करो।

(=369–) यत्र भव स्थिहेद् वा चङ्क्रमेद् वा शयेद् वा
येऽपि सुगतपुत्राः श्रावका गौतमस्य।
धर्मकथ कथेन्ती येऽपि वा तां शृणोन्ति
सर्व कुशलमूलं बोधये नामयामः ॥1228॥

जहाँ उठे-बैठेंगे, अथवा चक्रमण (=भ्रमण) करेंगे, अथवा शयन करेंगे, तथा जो भी (जहाँ) (आप) गौतम के श्रावक, एवं बुद्धपुत्र (=बोधिसत्त्व) धर्मकथा

9. मूल, सवि०। पठनीय स चि (=स चेत्)। तुलनीय भोट, गल् ते (=यदि, स चेत्)।

(हमे) दिखाई देते थे छत्र, अवतंसक (=करनफूल), मालाओं की लड़ें, चंपा के फूलो के हार, (मोतियो के) हार, चन्द्राभरण, एवं अर्धचंद्राभरण, (जिन्हें) देवता फेंकते थे, पर एक दूसरे के साथ मिश्रित न होने देते थे।

वालस्य नाभूदवकाशमस्मिन्
देवै स्फुटं सर्वत अन्तरीक्षं।
कुर्वन्ति पूजां द्विपदोत्तमस्य
न च ते मदो जायति विस्मयो वा ॥1223॥

यहाँ वाल भर रखने की भी जगह नही थी। देवताओ से सब ओर अंतरिक्ष व्याप्त था। (वे) द्विपदों मे (दो पैर वालों मे) श्रेष्ठ तुम्हारी पूजा करते थे पर तुम्हे (इससे) मद अथवा विस्मय न होता था।

(-368-) इस प्रकार, अन्तरिक्षदेवता बोधिमण्डप में बैठे तथागत की स्तुति कर, अंजलि बाध तथागत को नमस्कार करते हुए एक ओर खड़े हो गए।

12. पृथिवी के देवताओं द्वारा तथागत की स्तुति

12. इसके अनंतर पृथिवी के देवता तथागत की पूजा करने के लिए संपूर्ण धरणीतल को सम्यक्तया शोधित कर, लीप कर, सुगधित जल से छिडक कर, फूल बिखेर कर नाना प्रकार के धूसो (=दुशालो) के चँदवे तान कर, तथागत को उपहार में दिया और इन गाथाओ द्वारा स्तुति की।—

(छंद मालिनी)

वज्रमिव=267क=अभेद्या संस्थिता त्रिःसहस्रा
वज्रमयपदेनायं स्थितो बोधिमण्डे।
इह मम त्वच मांसं शुष्यतामस्थि मज्जा
न च अहु अस्पृशित्वा वोधि उत्थेष्य अस्मात् ॥1224॥

वज्र (=हीरे) के समान अभेद्य त्रिसाहस्र (-महासाहस्र-लोकधातु) की स्थिति थी, और ये (तथागत) व्रजमयी स्थिति के साथ बोधिमंडप मे बैठ गए थे कि मेरे त्वचा, अस्थि, मज्जा, तथा मेरा मास चाहे सूख जाएँ, पर बोधि का अनुभव किए बिना मैं यहाँ से नही उठूँगा।

स चि[9] भव नरसिंहा सर्विय त्रिःसहस्रा
न करिषु अधिस्थानं स्याद् विदीर्णऽशेषा।
तादृश महवेगा आगता बोधिसत्त्वा
येष क्रमतलेभिः कम्पिता क्षेत्रकोटय: ||1225||

हे नरसिंह, यदि आपने अधिष्ठान (= स्वस्ति-आशीर्वाद) न किया होता, तो यह सब त्रिसाहस्र (–महासाहस्र-लोकधातु) संपूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट हो गई होती। बोधिसत्त्व वैसे महावेग से आए थे कि जिनके पैरों के तलवों से कोटि-कोटि बुद्ध क्षेत्र कांप उठे थे।

लाभ इह सुलब्धाभूमिदेवैरुदारा
यत्र परमसत्त्वश्चङ्क्रमी मेदिनीये।
यत्र कु रजु लोके सर्व ओभासितास्ते
चेतिभु त्रिसहस्रः किं पुनस्तुभय काय: ||1226||

(यह) भूमि-देवों को परम लाभों की प्राप्ति है, जिनकी धरती पर परमसत्त्व ने चंक्रमण (=भ्रमण) किया है। लोक में जहाँ कहीं भी धूल-धक्कड था, वहाँ सर्वत्र तुमने प्रकाश भर दिया हैं। (यह) त्रिसाहस्र लोक (ही) चैत्य बन गया है, तुम्हारे शरीर का तो कहना ही क्या?

हेस्ति शतसहस्रं यावतश्चापस्कन्धो
धरणितलु जगस्या यावतश्चोपजीव्य:।
सर्व वयु धरेमो मेदिनी त्रिःसहस्रां
सर्व तव ददामो भुंक्षि्वमां त्वं यथेष्टं ||1227||

नीचे जितनी लक्ष-लक्ष जलराशियाँ है, धरणीतल जितने (स्थावर-जंगम प्राणि) जगत् का उपजीव्य हैं, उस सब त्रिसाहस्र लोक की धरती को हम धारण करते है। यह सब हम तुम्हें दे रहे है, तुम इसका इच्छानुसार उपभोग करो।

(=369–) यत्र भव स्थिहेद् वा चङ्क्रमेद् वा शयेद् वा
येऽपि सुगतपुत्रा: श्रावका गौतमस्य।
धर्मकथ कथेन्ती येऽपि वा तां शृणोन्ति
सर्व कुशलमूलं बोधये नामयाम: ||1228||

जहाँ उठें-बैठेंगे, अथवा चंक्रमण (=भ्रमण) करेंगे, अथवा शयन करेंगे, तथा जो भी (जहाँ) (आप) गौतम के श्रावक, एवं बुद्धपुत्र (=बोधिसत्त्व) धर्मकथा

9. मूल, सवि०। पठनीय स चि (=स चेत्)। तुलनीय भोट, गल् ते (=यदि, स चेत्)।

करेंगे, अथवा (जो भी) उसे सुनेंगे, उससे (हम भूमिदेवों को) जो सब कुशल-मूल होगा, (उसका हम) बोधि के लिए परिणामन (=समर्पण) कर रहे हैं ।

इस प्रकार भूमि-देवता बोधिमण्डप में बैठे तथागत की स्तुति कर, अंजलि बांध तथागत को नमस्कार करते हुए एक ओर खड़े हो गए । =267ख=

।। इति श्रीललितविस्तरे संस्तवपरिवर्तोनाम त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ।।[10]

०

10. इस परिवर्त की गाथाओं की छाया यों है—

उत्पन्नो लोकप्रद्योतो लोकनाथः प्रभाकरः । अन्धभूतस्य लोकस्य चक्षुर्दाता रणहीनः ।।1164।। भवान् विजितसंग्रामः पुण्यैः पूर्णमनोरथः । संपूर्णः शुक्लधर्मैश्च जगत् त्वं तर्पयिष्यसि ।।1165।। उत्तीर्णपङ्को ह्यनघः स्थले तिष्ठति गौतमः । अन्यान् सत्त्वान् महौघेन प्रोद्गतस्तारयिष्यति (यथारुतं तु तारयिष्यसि) ।।1166।। उद्गतस्त्वं महाप्राज्ञो लोकेष्वप्रति-पुद्गलः । लोकधर्मैरलिप्तस्त्वं जलस्थमिव पङ्कजम् ।।1167।। चिरप्रसुप्त-मिमं लोकं तम स्कन्धावगुण्ठितम् । भवान् प्रज्ञाप्रदीपेन समर्थः प्रतिबोधयितुम् ।।1168।। चिरातुरे जीवलोके क्लेशव्याधिप्रपीडिते । वैद्यराट् त्वं समुत्पन्नः सर्वव्याधिप्रमोचकः ।।1169।। भविष्यन्त्यक्षणाः शून्यास् त्वयि नाथे समुद्गते । मनुष्याश्चैव देवाश्च भविष्यन्ति सुखान्विताः ।।1170।। यैस् (यथारुतं तु येषा) त्वं दर्शन सौम्य, एष्यसे पुरुषर्षभः । न ते कल्पसहस्राणि जातु यास्यन्ति दुर्गतिम् ।।1171।। पण्डिताश्चाप्यरोगाश्च धर्मं श्रोष्यन्ति येऽपि च । गम्भीराश्चोपधिक्षीणा भविष्यन्ति विशारदाः ।।1172।। मोक्ष्यन्ते च लघु सर्वे छित्वा वै क्लेशबन्धनम् । यास्यन्ति निरुपादाना: फलप्राप्तिवरं शुभम् ।।1173।। दक्षिणीयाश्च ते लोक आहुतीनां प्रतिग्रहाः । न तेषु दक्षिणा न्यूना सत्त्वनिर्वाणहेतुका ।।1174।।

गम्भीरबुद्धे मधुरस्वर मुने ब्रह्मस्वर मुनिवरगीत सुस्वरम् । वराग्र-बोधिपरमार्थ-प्राप्त सर्वस्वर-पारगत नमस्ते ।।1175।। त्रातासि द्वीपोऽसि परायणोऽसि नाथोऽसि लोकस्य कृपामैत्रीचित्तः । वैद्योत्तमस्त्वं खलु शल्यहर्ता चिकित्सकस्त्वं परमहितकरः ।।1176।। दीपंकरस्य सह-दर्शनं त्वया समुदा-नीतं मैत्रीकृपाभ्रजालम् । प्रमुञ्च नाथ, अमृतस्य धारां शमय तापं सुरमानु-षाणाम् ।।1177।। पद्मभूतस्त्रिभवेष्वलिप्तस् त्वं मेरुकल्पो ऽविचलो ह्यकम्प्यः । त्वं वज्रकल्पो ह्यचलप्रतिज्ञस् त्वं चन्द्रमाः सर्वगुणाग्रधारी ।।1178।।

—

शुभविमलप्रज्ञ प्रभातजोधर द्वात्रिंशल्लक्षणवराग्रधर । स्मृतिमन् मतिमन् गुणज्ञानधर, अक्लान्तक शिरसा वन्दे त्वाम् ॥1179॥ अमल विमल निर्मलविमल त्रैलोक्यविश्रुत त्रैविद्यगत त्रिविधविमोक्ष वरचक्षुःप्रद वन्दे त्वा त्रिनयन विमल ॥1180॥ कलिकलुषोद्धृतः सुदान्तमनाः कृपाकरुणोद्गतो जगदर्थकरः । मुनिमुदितोद्गतः प्रशान्तमना द्वयमतिविमोचक उपेक्षारतः ॥1181॥ व्रततपउद्गतो जगदर्थकरः स्वचर्या-विशुद्धचर्यापारगतः । चतुः सत्यदर्शको विमोक्षरतो मुक्तो विमोचयसि चान्यजगत् ॥1182॥ बलवीर्य आगत इह नमुचिः प्रज्ञया वीर्येण तव मैत्र्या जितः । प्राप्तं च ते पदवरममृतं वन्दामहे त्वां शठचमूमथन ॥1183॥

प्रत्यक्षमस्मासु बलं तवाति विपुलं मारस्य घोरा चमूर् यत्सा मारचमूर्महाप्रतिभयैकेन क्षणेन त्वया जिता । न च त्वयोत्थितं नैव कायस्त्रस्तो नो वा गीर्व्याहृता त्वां वन्दामहे सर्वलोकमहितं सर्वार्थसिद्ध मुनिम् ॥1184॥ माराः कोटिसहस्रानेकनयुता गङ्गाणुभिः संमितास् ते त्वां न समर्था बोधिसुवटात् संचालयितुं कम्पयितुम् । यज्ञाः कोटिसहस्रानेकनयुता गङ्गाया यथा वालुका इष्टा बोधिवटा सितेन भवता तेनाद्य विभ्राजसे ॥1185॥ भार्या चेष्टतमा सुताश्च दयिता दास्यश्च दासास्तथोद्यानानि नगराणि राष्ट्रनिगमा राज्यानि सान्तः पुराणि । हस्तौ पादौ शिर उत्तमङ्गमपि वा चक्षुषी जिह्वा तथा । त्यक्ता ते वरबोधिचर्यां चरता तेनाद्य विभ्राजसे ॥1186॥ उक्तं यद्वचनं त्वया सुबहुशो बुद्धो भविष्याम्यहं तारयिष्यामि बहुसत्त्वकोटिनयुतानि दुःखार्णवेनोह्यमानानि । ध्यानधीन्द्रियबुद्धिभिः कवचितः सद्धर्मनावा स्वयं स चैष प्रतिपूर्णस्तव प्रणिधिस् तारयिष्यसि प्राणिनः ॥1187॥ यत्पुण्यं च स्तुत्वा वादिवृषभ लोकस्य चक्षुः—प्रदं सर्वे भूत्वोदग्रहृष्टमनसः प्रार्थयामः सर्वज्ञताम् । समुदानीय (=संसाध्य) वराग्रबोधिमतुलां बुद्धैः सुसंवर्णिताम् एवं तां विनिहत्य मारपरिषदं बुध्येम सर्वज्ञताम् ॥1188॥

अपीडितालुडितावितथवचन, अपगततमोरजो ऽमृतगतिगत । अर्हसि दिवि भुवि श्रियं क्रियामतुलाम् अतिद्युते स्मृतिमते प्रणिपतामि शिरसा ॥1189॥ रतिकर रणहीन रजोमलमथन रमयसि सुरनरान् सुविशदवचनैः । विकसित सुविपुलं वरतनुकिरणैः सुरनरपतिरिव जयसि जगदिदम् ॥1190॥ परमार्णं प्रथम परचर्याकुशल प्रिय भवस्य नरमरुतां परमतिधूनक परचर्यां विभजसि सुनिपुणं मतिमन् पथीह विचरतु दशबलगमने ॥1191॥ त्याजयित्वा पृथुं भवग्राह वितथं दुःखं महद् विनयसि सुरनरान् यथामतिविनयं । विचरसि चतस्रो दिशः शशीव गगने चक्षुर्भव परायणमिह भुवि त्रिभवे

॥1192॥ प्रियो भवस्य नरमरुतां न चास्थालीविषये रमसे शुभरतो कामरतिविरत: । निन्दसि परिषदि न ते समस् त्रिभवे नाथो गतिः परायणं त्वमिह हि जगतः ॥1193॥

धर्मलोकाद् भवान् समुद्गतस् त्रिविधमलानुच्छिद् मोह-दृष्ट्यविद्याघातको ह्री-श्री-भरितः । मिथ्यामार्गरतामिमां प्रजाम् अमृते स्थापयितोत्पन्न इह लोके चैत्यो दिवि भुवि महितः ॥1194॥ त्वं वैद्यः कुशलचिकित्सको ह्यमृतसुख (प्र) दो दृष्टिक्लेशाविद्यासंचयं पूर्वमनुशयम् । सर्वव्याधीन् अपनयसि देहिनां पूर्वजिनपथेन तस्माद् वैद्यतमोऽसि नायक विचरसि धरणीम् ॥1195॥ चन्द्रसूर्यप्रभाश्च ज्योतीषि मणयस्तथा ज्वलनः शक्रब्रह्मप्रभा न भासते पुरतः श्रीधनस्य । प्रज्ञालोककरः प्रभाकरः प्रभाश्रीभरितः प्रत्यक्षं तव ज्ञातं (=ज्ञानं) अद्भुतं प्रणिपतामि शिरसा ॥1196॥ सत्यासत्यकथी विनायकः सुमधुरवचनः दान्तशान्तमना जितेन्द्रियः प्रशान्तमनाः । शास्ता शासनीयां प्रशस्सि नरमरुत्परिषदं वन्दे शाक्यमुनिं नरर्षभ सुरनरमहितम् ॥1197॥ ज्ञानिन् ज्ञानकथाग्रधारक ज्ञपयसि त्रिभवं त्रैविद्यस् त्रिविमोक्षदेशकस् त्रिमलमलनुत् । भव्याभव्यं मुने प्रजानीषे यथामतिविनयं वन्दे त्वां त्रिसाहस्रेऽद्भुतं दिवि भुवि महितम् ॥1198॥

तुषितालये यदुषितस्त्वं तत्र ते देशितो धर्म उदारः । न च च्छिद्यते सानुशिष्टिर् अद्यापि धर्मचर्याः सुरपुत्राः ॥1199॥ न च दर्शनात् तृप्तिं लभामहे धर्मश्रवणाद् (यथारुतं तु धर्मं शृणोतु सदेहास्पदमेव) न विन्दति तृप्तिम् । गुणसागर लोकप्रदीप वन्दामहे ते शिरसा मनसा च ॥1200॥ तुषितालयाद् यदा चलितस्त्वं शोधिता अक्षणाः सर्वे तदा ते (=त्वया) । यदा बोधिवट उपविष्टः सर्वजगतः क्लेशाः प्रशान्ताः ॥1201॥ यस्य कृते च बोधिरुदारा, एषमाणेन प्राप्ता जित्वा मारम् । त्वत्प्रणिधिस् तपसा परिपूर्णा क्षिप्रं प्रवर्तय चक्रमुदारम् ॥1202॥ बहून्युदवेक्षिषत प्राणिसहस्राणि धर्मरतानि शृणुयामेति (यथारुत तु शृणुयामाथ) धर्मम् । क्षिप्रं प्रवर्तय चक्रमुदारं मोचय प्राणिसहस्राणि भवेभ्यः (यथारुतं तु भवेषु) ॥1203॥

सदृशोऽस्ति न ते कुतोऽन्तरे शीलेन समाधिना तथैव प्रज्ञया । अभिमुक्ति—विमुक्ति कोविद शिरसा वन्दामहे त्वां तथागतम् ॥1204॥ दृष्टा च व्यूहाः शोभना बोधिमण्डे मरुद्भिर्ये कृताः । न तानर्हत्यन्य. कश्चन यथा त्वं देवमनुष्यपूजितः ॥1205॥ न मुधा भवान् समुद्गत., यस्यार्थे बहूनि चरितानि दुष्कराणि । विजितो हि शठः ससैन्यकः प्राप्ता बोधिरनुत्तरा त्वया ॥1206॥ आलोककृते दशसु दिक्षु प्रज्ञादीपेन त्रिलोको ज्वालितः ।

तिमिरम् अपनेष्यसे (यथार्थं तु अपनाययिष्यसे) दास्यसि चक्षुरनुत्तमं जगते ॥1207॥ बहुकल्पान् स्तुवन्ति भाषमाणा रोमरूपस्य न चान्तमस्ति ते गुणसागर लोकविश्रुत शिरसा वन्दामहे त्वां तथागतम् ॥1208॥

अस्खलितोऽनवद्यः सदा सुस्थितो मेरुकल्पो मुने दशसु दिक्षु सुविघुष्टः (=सुविघोषितः) ज्ञानप्रभः पुण्यतेजोऽन्वितः। बुद्धशतसहस्राणि संपूजितानि पूर्वं त्वया मुने तस्य विशेषो येन बोधिद्रुमे मारसेना जिता (अस्या गाथायाः प्रथमार्धे प्रथमान्तशब्दाः संबोधनतयापि नेतुं शक्याः) ॥1209॥

शीलश्रुतसमाधिप्रज्ञाकर ज्ञानकेतुध्वज जरामरणनिघातिन् वैद्योत्तम लोकचक्षुः-(प्र) द। त्रिमलखिलप्रहीण शान्तेन्द्रिय शान्तचित्त मुने शरणं त्वोपेमः शाक्यर्षभ धर्मराज जगतः ॥1210॥ बोधिचर्या ऽनन्ततुल्या ऽभूद् वीर्यस्थामोद्गता प्रज्ञाबलमुपायमैत्रीबलं ब्राह्मपुण्यं बलम्। एतानि बलान्यनन्ततुल्यान्य अभवन् बोधिसंप्रस्थिते दशबलबलधार्यद्य पुनर्बोधिमण्डे भूतः ॥1211॥ दृष्ट्वा चमूम् अनन्तसत्त्वा सुरा भीतत्रस्ता अभवन् मा खलु श्रमणराजे बाधिष्यते (=बाध्यते) बोधिमण्डे स्थितः। न च भवतो बभूव तेभ्यो भयं नो च कायेजनं करेण हताद् गुरुभारेण सकंनाद् मारसेना जिता ॥1212॥ यथा पूर्वकैः सिंहासने प्राप्ता बोधिर्वरा तथा त्वयानुबुद्धा तुल्यः समो ऽन्यथा त्वं न हि। सममनसा समचित्तेन सर्वज्ञता स्वात्मना प्राप्ता त्वया तेन भवान् स्वयंभूर् लोकोत्तमः पुण्यक्षेत्र जगतः ॥1213॥

सुमधुरवचन मनोज्ञघोष शशिवत्प्रशान्तिकर प्रसन्नचित्त। प्रहसितवदन प्रभूतजिह्व परमसुप्रीतिकर मुने नमस्ते ॥1214॥ एतरवो यो ऽस्ति सर्वलोके सुमधुरः प्रियो नरमरुताम्। भवतः स्वरः प्रमुक्तो मञ्जुघोषो ऽभवभाति एतं सर्वं भाष्यमाणम् ॥1215॥ रागं शमयित्वा दोष (=द्वेष) मोहक्लेशान् प्रीतिं जनयत्यमानुषीं विशुद्धाम्। अकलुषहृदया निशम्य धर्मम् आर्यविमुक्तिं लभन्ते ते हि सर्वे ॥1216॥ न च भवान् अतिमन्यते ऽविद्वांसं न च पुनर्विद्वन्मदेन जातु मत्तः। उन्नतो न च नैव चावनतस्त्वं गिरिरिव सुस्थितः सागरस्य मध्ये ॥1217॥ लाभा इह सुलब्धा मानुषाणां यत्र हि तादृशो जातः सत्त्वो लोके। श्रीरिव पद्मस्य धनस्य दात्री तथा त्वं दास्यसि धर्मं सर्वलोकाय ॥1218॥

अस्माकं वासो गगने ध्रुवं मुने पश्यामः सत्त्वचर्या यथा जगति। भवतश्चर्या प्रेक्ष्य शुद्धसत्त्वस्य स्खलितं न पश्यामस्तवैकचित्तस्य ॥1219॥ य आगता पूजने बोधिसत्त्वा गगनं स्फुटं (=व्याप्तं) तैर्नयिकैः। हानिर्विमानानां न चाभवत् तथा हि ते वै गगनात्मभावाः ॥1220॥ यान्यन्तरि-

क्षात् प्रावपु: पुष्पाणि स्यात् (=मन्ये, शंके, उत्प्रेक्षावाचकं पदम्) चूडबन्धा हि महासाहस्रस्य। तानि तव काये पतितान्यशेषाणि नद्यो यथा सागरं संप्रविष्टाः ॥1221॥ पश्यामश्छत्राण्यवतंसकांश्च मालागुणान् चम्पकपुष्पदामानि। हारांश्च चन्द्रांश्च तथार्धचन्द्रान् क्षिपन्ति देवा न च संकिरन्ति ॥1222॥ बालस्य नाभूदवकाशो ऽस्मिन् देवैः स्फुटं सर्वतोऽन्तरिक्षम्। कुर्वन्ति पूजां द्विपदोत्तमस्य न चे ते मदो जायते विस्मयो वा ॥1223॥

वज्र इवाभेद्यः संस्थितस्त्रिसाहस्रो वज्रमयपदेनाय स्थितो बोधिमण्डे। इह मम त्वचं मांसं शुष्यताम् मज्जा न चाहम् अस्पृष्ट्वा बोधिमुत्थास्याम्यस्मात् ॥1224॥ स चेद् भवान् नरसिंह सर्वोऽयं त्रिसाहस्रो (लोकः) नाकार्षीद् अधिष्ठानं स्याद् विदीर्णो ऽशेषम्। तादृशाद् महावेगाद् आगता बोधिसत्त्वा येषां क्रमतलैः कम्पिताः क्षेत्रकोट्यः ॥1225॥ लाभा इह सुलब्धा भूमिदेवैरुदारा यत्र परमसत्त्वोऽचंक्रम्यत मेदिन्याम्। यत्र क्वचिद् रजांसि लोके सर्वाण्यवभासितानि ते चैत्यभूतस् त्रिसाहस्रः किं पुनस्तव कायः ॥1226॥ अधस्तात् शतसहस्रो यावांश्चापस्कन्धो धरणीतलो जगतो यावतश्चोपजीव्यः। सर्वां वयं धारयामो मेदिनी त्रिसाहस्रां सर्वां तुभ्यं दद्मो भुङ्क्ष्वेमां त्वं यथेष्टम् ॥1227॥ यत्र भवांस् तिष्ठेद् वा चंक्रम्येत वा शयीत वा येऽपि सुगतपुत्राः श्रावकाः गौतमस्य। धर्मकथां कथयन्ति येऽपि वा ता शृण्वन्ति सर्वं कुशलमूलं बोधये नामयामः ॥1228॥

॥ २४ ॥

॥ त्रपुष-भल्लिकपरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 369 (पंक्ति 9)—392 (पंक्ति 6)

भोटानुवाद 267ख (पंक्ति 1)—282ख (पंक्ति 5)

॥ २४ ॥

॥ त्रपुष-भल्लिकपरिवर्त ॥

१. समन्तकुसुम-तथागतसंवाद

1. हे भिक्षुओ, इस प्रकार, सम्यक् संबुद्ध हो, देवताओं द्वारा स्तुति किए जाते हुए, तथागत ने, अपनी पलथी न भंग करते हुए, बिना पलक नेत्रों से वृक्षराज को देखते रहे, (और यों) ध्यान तथा प्रीति (=संतोष) के आहार से सुख का प्रतिसंवेद (=अनुभव) करते हुए सप्ताह बोधिवृक्ष के नीचे बिताया।

इसके अनन्तर, सप्ताह बीत जाने पर, कामावचर देवपुत्र दस हज़ार सुगंधित जल से भरे कलश ले कर, जहाँ तथागत थे, वहां पहुँचे। पहुँच कर सुगंधित जल से तथागत को तथा बोधिवृक्ष को स्नान कराया। (उस समय) गणनातीत देवता, नाग, यक्ष, गन्धर्व, असुर, गरुड, किनर तथा महोरग तथागत के शरीर से गिरे सुगंधोदक से अपने-अपने शरीर पर लेपन करते थे और अनुत्तर सम्यक् संबोधि (प्राप्त करने) के निमित्त चित्त (मे संकल्प) उत्पन्न करते थे। अपने-अपने भवन जाकर भी वे देवपुत्र आदि उस सुगंधित जल के सुगध से संपन्न अन्य किसी सुगन्ध के लिए (मन मे) लालसा (-370=) न उपजाते थे। तथागत के प्रति गौरव-भाव मे उत्पन्न उस संतोष और आनंद से ही वे =268क= अनुत्तर सम्यक् संबोधि से पीछे न लौटने वाले हुए।

2. हे भिक्षुओ, इसके अनंतर, समंतकुसुम नामक देवपुत्र जो उसी परिषद् में बैठे थे, वे तथागत के चरणो पर गिर कर, अञ्जलि बांध, तथागत से यह बोले—भगवन् यह कौन सी समाधि है? इसका क्या नाम है? जिससे युक्त हो कर तथागत बिना पलथी भंग किए सप्ताह भर विहार करते रहे हैं। ऐसा कहने पर, हे भिक्षुओ, तथागत उस देवपुत्र से यह बोले—हे देवपुत्र, यह प्रीत्याहारव्यूह नाम की समाधि है, जिससे युक्त हो तथागत बिना पलथी भंग किए सप्ताह भर विहरते रहे हैं।

3. हे भिक्षुओ, इसके अनंतर, समंतकुसुम देवपुत्र ने गाथाओं द्वारा तथागत की स्तुति की—

(छंद आर्या)

(देवपुत्र का प्रश्न)

रथचरणनिचितचरणा दशशत-अर-जलजकमलदलतेजा ।
सुरमुकुटघृष्टचरणा वन्दे चरणौ शिखिनस्य ॥1229॥

हे रथ के चरण अर्थात् चक्र (=चिह्न) से व्याप्त चरण के, हे सहस्रदल वाले जल से उत्पन्न कमल की पंखड़ी जैसी कांति के, हे देवताओं के मुकुटों द्वारा घिसे गए चरणों वाले, (मैं) श्रीघन के चरणो की वन्दना करता हूँ ।

अभिवन्द्य सुगतचरणौ प्रमुदितचित्तस्तदा स सुरपुत्रः ।
इदमवचि विमतिहरणं प्रसान्तकरणं नरमरूणां ॥1230॥

उस समय सुगत के चरणों की वन्दना करके चित्त मे अत्यन्त आनंदित हो कर, उस देवपुत्र ने देवताओं और मनुष्यों की विमति को हरने वाले, शांति को देने वाले, ये वचन कहे ।

शाक्यकुलनन्दिजनना अन्तकरा रागदोषमोहानां । = 268ख =
प्रम्लान-अन्तकरणा विनेहि काङ्क्षां नरमरूणां ॥1231॥

हे शाक्य वंश के आनंद उपजाने वाले, हे राग, द्वेष, और मोह का अवसाद करने वाले, हे, (संसार की) थकावट का अंत करने वाले, देवताओं और मनुष्यों की दुविधा दूर करो ।

किं कारणं दशबला बुद्ध्वा सर्वज्ञतामपरिमाणां ।
सप्ताहं महिमण्डे जिना न भिन्दन्ति पर्यङ्कं ॥1232॥

क्या कारण है कि दशबल बुद्ध परिमाण-रहित सर्वज्ञता का बोधकर भूमण्डप मे सप्ताह भर (अपनी) पलथी का भंग नही करते ?

किनु[1] खलु पश्यमान. सप्ताहं अनिमिषेण नरसिंहा ।
प्रेक्षसि विशुद्धचक्षो विकसितशतपत्रतुल्याक्षः ॥1233॥

हे नरसिंह, हे विशुद्धलोचन, हे विकसित शतदल कमल जैसे नेत्रो के, (तुम) बिना पलक मारे सप्ताह भर क्या निहारते हुए देखते रहे हो ? ।

किनु[2] भवितेष प्रणिधी उताहु सर्वेष वादिसिंहानां ।
येन द्रुमराजमूले पर्यङ्कं न भिन्दि सप्ताहं ॥1234॥

1. मूल, किं तु । भोट, चि शिग् (= किं, अथवा किं नु) ।
2. मूल, किं तु । भोट मे प्रश्नद्योतक ्हंम् (=किं नु ?) से इसका अनुवाद हुआ है ।

वृक्षराज के तले जो (आपने) पलथी भंग नही की है, वह क्या आपका ही प्रणिधान (संकल्प) था, अथवा (क्या वह) वादियो मे सिह जैसे निर्भीक सभी (बुद्धो) का हुआ करता है।

(–371) साधु समशुद्धदन्ता सुगन्धगन्धामुखं दशबलस्य।
प्रवद वचनं अवितथं कुरुष्व प्रीतिं नरमरूणां ॥1235॥

हे समान एवं शुद्ध दन्त के, पुण्य गंध वाले मुख से यथार्थ दशबल के, वचन भलीभाँति बोलो, देवताओं ओर न। उपजाओ।

4. (तथागत बोले—)

(तथागत का प्रतिवचन)

तमुवाच चन्द्रवदनः शृणुष्व मे भाषतो अमरपुत्र।
अस्य प्रश्नस्याहं किंचिन्मात्रं प्रवक्ष्यामि ॥1236॥

चन्द्रवदन (भगवान्) उससे बोले। हे देवपुत्र, मेरा कहना सुनो। मै इस प्रश्न पर कुछ व्याख्या के साथ कहूँगा।

राजा यद्वद् यस्मिन्नभिषिक्तो भवति ज्ञातिसंघेन।
सप्ताहु तं प्रदेशं न जहाति हि धर्मता राज्ञां ॥1237॥

एवं एव दशबला अपि अभिषिक्ता भोन्ति यद प्रणिधिपूर्णाः।
सप्ताहु धरणिमण्डे जिना न भिन्दन्ति पर्यङ्कं ॥1238॥

जैसे, राजा का ज्ञाति-संघ के द्वारा जहाँ पर अभिषेक किया जाता है, उस स्थान को वह सप्ताह भर नही छोड़ता है, क्योकि यह राजाओ की धर्मता (= रीति-नीति) है, वैसे ही, बुद्धो का भी प्रणिधान अर्थात् बुद्ध होने का संकल्प पूर्ण होने पर जब अभिषेक होता है, तब बुद्ध धरणी-मंडप मे सप्ताह भर अपनी पलथी का भंग नही करते।

शूरो यथारिसंघां निरीक्षते निर्जितां निरवशेषां।
बुद्धापि बोधिमण्डे क्लेशां निहतां निरीक्षन्ते ॥1239॥

जैसे, वीर अपने द्वारा जीते हुए सब शत्रुगणो का निरीक्षण करता है, वैसे, बुद्ध भी बोधिमडप मे अपने द्वारा मार डाले गए क्लेशों का निरीक्षण करते है।

इह ते कामक्रोधा मोहप्रभवा जगत्परिनिकासाः[3]।
साहोढा इव चोरा =269क= विनाशिता येनिरवशेषाः ॥1240॥

3. मूल, जगत्परिनिकासा। भोट, ह्ग्रो बहि. द्ग्रह् द्रस्ते (=जगत्परि-निकाशाः)।

यहाँ वे मोह से उत्पन्न, लोक के शत्रु-सदृश, काम और क्रोध हैं, जिन्हें (चोरी का धन) साथ लिए जाते हुए चोरों की तरह नाश कर डाला गया है, (जो) बिल्कुल नही बच पाए हैं ।

[4]इह में हता नवविधा मान विध (= व् इध) मन्यना पुनर्निकेता:[4] ।
सर्वास्रिवा प्रहीना ज्ञानं चाग्रं ममोत्पन्नं[5] ॥1241॥

यहाँ मैंने नौ प्रकार के मानों को, यहाँ बिना ठौर-ठिकाने के ममताभावों को नष्ट किया है, (यहाँ मेरे) सब आस्रव नष्ट हुए हैं, और मुझ मे उत्तम ज्ञान उत्पन्न हुआ है ।

इह सा अकार्यकर्त्री भवतृष्णाचारिणी तथाविद्या ।
सानुशयमूलजाला[6] पटुना ज्ञानाग्निना दग्धा ॥1242॥

तथा यहाँ (मैंने) भव (= लोक में उत्पन्न होने) की तृष्णा से (प्राणियों को) चराने वाली, अकरणीय को करने वाली, अनुशयों के मूल-जाल से युक्त, अविद्या को ज्ञान की तीक्ष्ण अग्नि द्वारा जला डाला है ।

4....4. मूल, इह मे हतान विविधा मानविधामन्युना पुरनिकेताः । हतान के स्थान मे हता तथा पुर के स्थान मे पुन कर पदच्छेद में भेद कर के मैंने यही पाठ स्वीकार किया है । पाठ विचारणीय है । नविविधा वस्तुतः नवविधा है । इसका पता भोट से भी लगता है । प्रो० एड्जेर्टन का (बु० हा० सं० डि० पृष्ठ 419 मन्यना शब्द पर) शोधन—इह में हता नवविधा मानविधी मन्यनापुर्–अनिकेताः । भोट, ङ ह्दिर् ङ ग्र्यल् नंम् द्गु दङ्, ग्नस् मेद् र्लोम से्मस् रब् तु ब्चोम् (=मयेह माना नवविधाश्च, अनिकेता मन्यनाश्च (=ममताश्च निहताः) नवविध मान प्रसिद्ध है । भोट नंम् द्गु नवविधा का उल्था है जो मूल के विविधा....विधा का संवादी नही है । मूलका मन्युना निश्चय ही यदि मन्यना का अपरूप हो तो रक्षा के योग्य है । एक अपभ्रष्ट है तथा दूसरा अपभ्रष्टतर है ।

5. मूल समोत्पन । भोट, ङ यि....स्क्येस् (= ममोत्पन्नं) ।

6. मूल, – जाता । भोट, द्र ब (= जाल) । पठनीय, – जाला ।

7. निपथी शब्द का अर्थ अहितकारिणी यहाँ संगत है, भोट, ग्नोद् ब्येद् प (= अपका – रिणी) से भी इसी बात का समर्थन होता है । इस अर्थ के सदृशार्थक शब्द अपथ्य (= अहितकर) परिपन्थिन् (= शत्रु) से निपथी का अर्थ भी अहितपरक सिद्ध होता है । द्रष्टव्य बु० हा० सं० डि० में निपथी शब्द । वहाँ अनर्थी पाठ का भी सुझाव है ।

इह सा अहं ममेति च कलिपासु दुरानुगा-ढलितमूला ।
नीवरणकठिनग्रन्थि छिन्ना मे ज्ञानशास्त्रेण ॥1243॥

यहाँ उस (अविद्या लता) को जिस पर अहंता तथा ममता के वंचना करने वाले जाल लगे हैं, जिसकी जड़ें दूर तक फैली हुई हैं तथा नीचे तक पहुँची हुई हैं, नीवरण की जिसमें कठोर गाँठे हैं, मैंने ज्ञान के शस्त्र से काट दिया है।

इह ते चिरं समायत उल्लापनका विनाशपर्यन्ताः ।
स्कन्धा सोपादाना ज्ञानेत मया परिज्ञाताः ॥1244॥

यहाँ उन चिर (-काल) से साथ लगे हुए, वंचक, विनाश रूपी परिणाम वाले, उपादान-सहित स्कन्धों को मैंने ज्ञानद्वारा परिपूर्ण जान लिया है।

इह ते द्वयसंमोहा मिथ्याग्राहा महानरकनिष्ठाः ।
मय उद्धृता अशेषा भूयश्च न जातु ज्ञास्यन्ते ॥1245॥

यहाँ उन महानरकों में अन्त करने वाले मिथ्याग्राह (=असत्य-अभिनिवेश) के दोनों संमोहो अर्थात् शाश्वतवाद एवं उच्छेदवाद रूपी भ्रमों को मैंने निःशेष उखाड़ डाला है, फिर ये कभी भी नहीं उत्पन्न होंगे।

(-372-) इह नीवरणवनारी दग्धा मे कुशलतेजेन ।
चतुरश्च विपर्यासा निर्दग्ध मया निरवशेषाः ॥1246॥

यहाँ पुण्यतेज के द्वारा मैंने नीवरण-शत्रुओं को जला डाला है, तथा मैंने चारों विपर्यासो को निःशेष भस्म कर डाला है।

इह सा वितर्कमाला संज्ञासूत्रेषु ग्रन्थिता निपथी ।
विनिवर्तिता अशेषा बोध्यङ्गविचित्रमालाभिः ॥1247॥

यहाँ सज्ञा के (=नामके) सूत्रो में गूँथी हुई अहितकारिणी वितर्कों की (=कल्पनाओं को) अशेष मालाओं को मैंने बोध्यङ्गों की विचित्रमालाओं द्वारा दूर कर दिया है।

दुर्गानि पञ्चषष्टि मोहानि त्रिंशति च मलिनानि ।
चत्वारिंशदघानि छिन्ना मेऽस्मिं धरणिमण्डे ॥1248॥

मैंने पैसठ दुर्गतियों को, तीस मलिन-मोहों को, तथा चालीस पापों को, इस धरणी-मंडप मे छिन्न-भिन्न कर डाला है।

षोडश असंवृतानि अष्टादश धातवश्च महिमण्डे ।
कृच्छ्राणि पञ्चविंशति छिन्नानि मयेह संस्थेन ॥1249॥

सोलह असवृतो को, अठारह धातुओं को, पच्चीस कृच्छ्रों (=क्लेशों) को मैंने यहां महीमण्डप मे बैठे-बैठे छिन्न-भिन्न किया है।

=269ख= विंशति रजस्तराणी अष्टाविंशति जगस्य वित्रासाः ।
इह मे समतिक्रान्ता वीर्यबलपराक्रमं करित्वा ॥1250॥

यहाँ मैंने वीर्य (=उद्योग), बल, तथा पराक्रम करके बीस रजोमयी नदियों को, अठ्ठाईस जगत् के वित्रासों (=भयों) को, पार किया है ।

तथ बुद्धनंदितानी पञ्चशताऽस्मि मय समनुबुद्धा ।
परिपूर्णशतसहस्रं धर्मान मया समनुबुद्धं ॥1251॥

इसी प्रकार, यहाँ, पाँच सौ बुद्ध के घोषों का मुझे सम्यक् अवबोध हुआ, पूरे शत-सहस्र (बुद्ध के) धर्मों को मैंने यहाँ सम्यक् समझा-बुझा ।

इह मे ऽनुशय अशेषा अष्टानवतिः समूलपर्यन्ताः ।
पर्युत्थानकिशलया निर्दग्धा ज्ञानतेजेन ॥1252॥

यहाँ मैंने अशेष अठ्ठानबे अनुशयों को उनके मूल से लेकर फल तक, पर्युत्थान रूपी पत्रों के साथ ज्ञान के तेज से सर्वथा भस्म कर डाला है ।

काङ्क्षाविमतिसमुदया दृष्टीजडजन्तिता अशुभमूला ।
तृष्णानदी त्रिवेगा प्रशोषिता ज्ञानसूर्येण ॥1253॥

(मैंने) ज्ञान के सूर्य से अशुभ—मूल वाली, काक्षा (=शंका) तथा विमति (=दुबिधा) से उत्पन्न, दृष्टि-रूपी जल के बाँधवाली, त्रिवेगवती (=तीन धाराओं वाली) तृष्णा-नदी को पूर्णतया सुखा डाला है ।

कुहनलपनप्रहाणं मायामात्सर्यदोषईर्ष्याद्यिं ।
इह ते क्लेशारण्यं छिन्नं विनयाग्निना दग्धं ॥1254॥

यहाँ कुहना (वंचकता) तथा लपना (=आत्मश्लाघा) के प्रहाण से कटे हुए उस माया, मात्सर्य (=कृपणता), द्वेष, ईर्ष्या आदि के क्लेशारण्य को (मैंने) विनय की अग्नि से जला डाला है ।

इह ते विशादमूला आकर्षण दुर्गतीषु विषमासु ।
आर्यापवादवचना ज्ञानवरविरेचनैर्वान्ता ॥1255॥

यहाँ उन आर्यों के अपवाद (=निन्दा) करने वाले वचनों को, जो झगड़े की जड़ है, विषम दुर्गतियों मे खींच ले जाने वाले है, (मैंने) ज्ञान के उत्तम विरेचन से बाहर कर दिया है ।

इह रुदितक्रन्दितानां शोचितपरिदेवतान पर्यन्तं ।
प्राप्तं मया ह्यशेषं ज्ञानगुणसमाधिमागम्य ॥1256॥

यहाँ ज्ञान, गुण, एवं समाधि का लाभ कर मैंने रोदन, क्रन्दन, शोक, और परिदेवन (=विलाप) का पूर्ण अवसान पा लिया है ।

(-373-) ओघा च योग[8] ग्रन्थाः शोकाः शल्या मद प्रमादाश्च ।
विजिता मयेह सर्वे सत्यनयसमाधिमधिगम्य ॥1257॥

यहाँ सत्य, न्याय, एवं समाधि का लाभ कर मैंने सब ओघों को, योगों को, ग्रन्थों को, शोकों को, शल्यों को, मदों को, तथा प्रमादो को जीत लिया है।

इह मय किलेशगहना संकल्पविरूढमूल भववृक्षाः ।
स्मृतिपरशुना अशेषा छिन्ना ज्ञानाग्निना दग्धा ॥1258॥

यहाँ क्लेश का जंगल (उपजाने वाले) संकल्पों द्वारा जड़ जमाने वाले, भव के सब वृक्षो को स्मृति के कुल्हाड़े से काट कर, ज्ञान की अग्नि से मैंने जला डाला है।

इह सो मया ह्यतिबलो=270क= अस्मिं मारस्त्रिलोकवशवर्ती ।
ज्ञानासिना शठात्मा हतो यथेन्द्रेण दैत्येन्द्रः ॥1259॥

यहाँ अत्यन्त बलवान् इस त्रिलोकी को अपने वश मे करने वाले, वंचक-स्वभाव के मार को मैंने ज्ञान के खड्ग से उस प्रकार मारा है, जैसे देवेन्द्र ने दैत्येन्द्र (वृत्र) को मारा था।

इस जालिनी अशेषा षट्त्रिंशति-चारिणी धरणिमण्डे ।
प्रज्ञासिना बलवता छित्वा ज्ञानाग्निना दग्धा ॥1260॥

यहाँ धरणी-मण्डप से (मैंने बैठे-बैठे) छत्तीस-जगह चरने वाली जाल लगाने वाली समूची (तृष्णा) को प्रज्ञा के खड्ग से काट कर, ज्ञान की अग्नि से जला डाला है।

इह ते मूलक्लेशाः सानुशया दुःखशोकसंभूताः ।
मय उद्धृता अशेषा प्रज्ञाबललाङ्गलमुखेन ॥1261॥

यहाँ मैंने अनुशय के साथ दुःख और शोक उपजाने वाले उन सब मूल (-भूत) क्लेशो को (=क्लेश के मूलों को) प्रज्ञाबल के लाङ्गलमुख (=फाल) द्वारा उखाड़ डाला है।

इह में प्रज्ञाचक्षुर्विशोधितं प्रकृतिशुद्धसत्वानां ।
ज्ञानाञ्जनेन महता मोहपटलविस्तरं भिन्नं ॥1962॥

यहाँ मैंने स्वभाव से शुद्ध मन के प्राणियों का प्रज्ञा-नेत्र धो कर महान् ज्ञान के अंजन द्वारा फैले हुए मोह के पटल (=परत) को भेद डाला है।

8....8. मूल, ओघा अयोग। अ के स्थान मे च पढ कर पदच्छेद करना आवश्यक है। भोट, छुबो स्व्योर् व दङ् (=ओघा योगाश्च)। अ यहाँ बहुत भ्रामक है। यद्यपि वह "च" का अर्थ बतलाने मे असमर्थ नही है।

=269ख= विंशति रजस्तराणी अष्टाविंशति जगस्य वित्रासाः ।
इह मे समतिक्रान्ता वीर्यबलपराक्रमं करित्वा ॥1250॥

यहाँ मैंने वीर्य (=उद्योग), बल, तथा पराक्रम करके बीस रजोमयी नदियों को, अठ्ठाईस जगत् के वित्रासों (=भयों) को, पार किया है।

तथ बुद्धनंदितानी पञ्चशताऽस्मि मय समनुबुद्धा।
परिपूर्णशतसहस्रं धर्मान मया समनुबुद्धं ॥1251॥

इसी प्रकार, यहाँ, पाँच सौ बुद्ध के घोषों का मुझे सम्यक् अवबोध हुआ, पूरे शत-सहस्र (बुद्ध के) धर्मों को मैंने यहाँ सम्यक् समझा-बुझा।

इह मे ऽनुशय अशेषा अष्टानवति. समूलपर्यन्ताः।
पर्युत्थानकिशलया निर्दग्धा ज्ञानतेजेन ॥1252॥

यहाँ मैंने अशेष अठ्ठानबे अनुशयों को उनके मूल से लेकर फल तक, पर्युत्थान रूपी पत्रों के साथ ज्ञान के तेज से सर्वथा भस्म कर डाला है।

काङ्क्षाविमतिसमुदया दृष्टीजडजन्तिता अशुभमूला।
तृष्णानदी त्रिवेगा प्रशोषिता ज्ञानसूर्येण ॥1253॥

(मैंने) ज्ञान के सूर्य से अशुभ-मूल वाली, कांक्षा (=शंका) तथा विमति (=दुविधा) से उत्पन्न, दृष्टि-रूपी जल के बाँधवाली, त्रिवेगवती (=तीन धाराओं वाली) तृष्णा-नदी को पूर्णतया सुखा डाला है।

कुहनलपनप्रहाणं मायामात्सर्यदोषईर्ष्याद्यं।
इह ते क्लेशारण्यं छिन्नं विनयाग्निना दग्धं ॥1254॥

यहाँ कुहना (वंचकता) तथा लपना (=आत्मश्लाघा) के प्रहाण से कटे हुए उस माया, मात्सर्य (=कृपणता), द्वेष, ईर्ष्या आदि के क्लेशारण्य को (मैंने) विनय की अग्नि से जला डाला है।

इह ते विशादमूला आकर्षण दुर्गतीषु विषमासु।
आर्यापवादवचना ज्ञानवरविरेचनैर्वान्ता ॥1255॥

यहाँ उन आर्यों के अपवाद (=निन्दा) करने वाले वचनों को, जो झगड़े की जड़ है, विषम दुर्गतियों मे खीच ले जाने वाले है, (मैंने) ज्ञान के उत्तम विरेचन से बाहर कर दिया है।

इह रुदितक्रन्दितानां शोचितपरिदेवतान पर्यन्तं।
प्राप्तं मया ह्यशेषं ज्ञानगुणसमाधिमागम्य ॥1256॥

यहाँ ज्ञान, गुण, एवं समाधि का लाभ कर मैंने रोदन, क्रन्दन, शोक, और परिदेवन (=विलाप) का पूर्ण अवसान पा लिया है।

373-) ओघा च योगा[8] ग्रन्थाः शोकाः शल्या मद प्रमादाश्च ।
विजिता नयेह सर्वे सत्यनयसमाधिमधिगम्य ॥1257॥

यहाँ सत्य, न्याय, एवं समाधि का लाभ कर मैंने सब ओघों को, योगों को, गों को, शोको को, शल्यो को, मदों को, तथा प्रमादो को जीत लिया है ।

इह मय किलेशगहना संकल्पविरूढमूल भववृक्षाः ।
स्मृतिपरशुना अशेषा छिन्ना ज्ञानाग्निना दग्धा ॥1258॥

यहाँ क्लेश का जंगल (उपजाने वाले) संकल्पों द्वारा जड़ जमाने वाले, भव सब वृक्षो को स्मृति के कुल्हाड़े से काट कर, ज्ञान की अग्नि से मैंने जला ला है ।

सो मया ह्यतिबलो=270क= अस्मिं मारस्त्रिलोकवशवर्ती ।
नासिना शठात्मा हतो यथेन्द्रेण दैत्येन्द्रः ॥1259॥

यहाँ अत्यन्त बलवान् इस त्रिलोकी को अपने वश मे करने वाले, वंचक-भाव के मार को मैंने ज्ञान के खड्ग से उस प्रकार मारा है, जैसे देवेन्द्र ने येन्द्र (वृत्र) को मारा था ।

इस जालिनी अशेषा षट्त्रिंशति-चारिणी धरणिमण्डे ।
प्रज्ञासिना बलवता छित्वा ज्ञानाग्निना दग्धा ॥1260॥

यहाँ धरणी-मण्डप से (मैंने बैठे-बैठे) छत्तीस-जगह चरने वाली जाल ाने वाली समूची (तृष्णा) को प्रज्ञा के खड्ग से काट कर, ज्ञान की अग्नि से ा डाला है ।

इह ते मूलक्लेशाः सानुशया दुःखशोकसंभूताः ।
मय उद्धृता अशेषा प्रज्ञाबललाङ्गलमुखेन ॥1261॥

यहाँ मैंने अनुशय के साथ दुःख और शोक उपजाने वाले उन सब मूल -भूत) क्लेशों को (=क्लेश के मूलों को) प्रज्ञाबल के लाङ्गलमुख (=फाल) रा उखाड़ डाला है ।

इह में प्रज्ञाचक्षुर्विशोधितं प्रकृतिशुद्धसत्वानां ।
ज्ञानाञ्जनेन महता मोहपटलविस्तरं भिन्नं ॥1962॥

यहाँ मैंने स्वभाव से शुद्ध मन के प्राणियो का प्रज्ञा-नेत्र धो कर महान् ज्ञान अंजन द्वारा फैले हुए मोह के पटल (=परत) को भेद डाला है ।

....8. मूल, ओघा अयोग । अ के स्थान में च पढ कर पदच्छेद करना आवश्यक है । भोट, छुबो स्व्योर् व दङ् (=ओघा योगाश्च) । अ यहाँ बहुत भ्रामक है । यद्यपि वह ''च'' का अर्थ बतलाने मे असमर्थ नहीं है ।

इह धातुभूत चतुरो मदमकरविलोडित विपुलतृष्णाः।
स्मृतिसमथभास्करांशौ विशोषिता मे भवसमुद्रा ॥1263॥

यहाँ चार--धातुओं के भवसमुद्रों को, जिनमें मद रूपी मगर-मच्छ उथल-पुथल मचा रहे है, जहाँ तृष्णा बहुत लगती है, मैंने स्मृति और शान्ति की सूर्य किरणो द्वारा बिल्कुल सुखा डाला है।

इह विषयकाष्ठनिचयो वितर्कसामो महामदनवह्निः।
निर्वापितो ऽतिदीप्तो विमोक्षरसशीततोयेन ॥1264॥

यहाँ (मैंने) विषय रूपी काष्ठसमूह की, अत्यन्त दहकती हुई वितर्क के श्याम (--धुएँ) वाली, कामरूपी महान् अग्नि को, विमोक्षरस के शीतल जलसे बुझा दिया है।

इह मे अनुशयपटला आस्वादतडिद्वितर्कनिर्घोषाः।
वीर्यबलपवनवेगैर्सिधूप विलयं समुपनीता ॥1265॥

यहाँ मैंने अनुशय के मेघो को, जिनमे आस्वाद (=विषयरस) की बिजली चमकती रहती है, तथा वितर्कों की गर्जन होती रहती है, वीर्य बल के वायुवेग द्वारा धुन-धुन कर विलीन कर डाला है।

इह मे हतो ह्यशेषश्चित्तचरि रिपुर्भवानुगतवैरी।
प्रज्ञासिना बलवता स्मृतिविमलसमाधिमागम्य ॥1266॥

यहाँ, मैंने चित्त मे विचरने वाले भव के पीछे-पीछे वैर बाँधकर पड़े हुए, संपूर्ण (आस्रव--रूपी) शत्रु को स्मृति तथा निर्मल-समाधि पा कर बल के साथ प्रज्ञा के खड्ग द्वारा मार डाला है।

इह सा ध्वजाग्रधारो हस्त्यश्वरथोच्छ्रिता विकृतरूपा।
=270ख=नमुचि बलवीर्यसेना मैत्रीमागम्य विध्वस्ता ॥1267॥

यहाँ उत्तम ध्वजा फहराने वाली, हाथी, घोड़े और रथो से उन्नत, विकृत-रूप वाली, बल तथा वीर्य से युक्त, उस काम की सेना को, मैत्री के सहारे से (मैंने) नष्ट किया है।

(--374--) इह पञ्चगुणसमृद्धाः षडिन्द्रिहया सदा मदोन्मत्ताः।
बद्धा मया ह्यशेषाः समाधिमशुभं[9] समागम्य ॥1268॥

यहाँ मैंने अशुभ-समाधि का अर्थात् जगत् जुगुप्सामय है, इस भावना की समाधि का लाभ कर, पाँच (काम--) गुणों से बढ़े हुए, सदा मद से उन्मत्त, छह इन्द्रियों के सब अश्वों को बाँध रक्खा है।

9. मूल, समाधिसशुभं। भोट, मि स्डुग् तिङ् ङे हृजिन् (=समाधिमशुभ)।

इह अनुनयप्रतिघानां कलहविवाद प्रहाणपर्यन्तः ।
प्राप्तो मया ह्यशेषो अप्रणिहित[10]समाधिमागम्य ॥1269॥

यहाँ अप्रणिहित-समाधि पा कर अनुराग का एवं द्वेष का, कलह का एवं विवाद का, पूरा का पूरा विनाश और अन्त मैंने पा लिया ।

इह ममियता[11] च सर्वे अध्यात्मिके बाहिरा परिक्षीणा ।
कल्पितविकल्पितानि च शून्यमिति समाधिमागम्य ॥1270॥

यहाँ शून्यता-समाधि पाकर (मेरी) आध्यात्मिक (= शरीरमनः सम्बन्धी) एवं बाह्य (= शरीर तथा चित्त से भिन्न वस्तु सम्बन्धी) सब (प्रकार की) ममताएँ तथा (सामान्य-) कल्पनाएँ एवं विशेष-कल्पनाएँ नष्ट हो गई हैं ।

इह लालयिता सर्वे मर्त्या दिव्या भवाग्रपर्यन्ताः ।
त्यक्ता मया ह्यशेषा आगम्य समाधिम् अनिमित्तं[12]॥1271॥

यहाँ अनिमित्त-समाधि पाकर मार्त्य-लोक संबन्धी, तथा भवाग्र तक दिव्य-लोक संबन्धी सब लालसाओं का पूर्ण त्याग किया है ।

सर्वं भवबन्धनानि च मुक्तानि मयेह तानि सर्वाणि ।
प्रज्ञाबलेन निखिला त्रिविधमिह विमोक्षमागम्य ॥1272॥

यहाँ तीन विमोक्षों को पाकर प्रज्ञा-बल के द्वारा, मैंने यहाँ के उन सब भव मे बाँधने वाले (रस्सों को) पूर्णतया बिना-बचाए खोल डाला है ।

इह हेतुदर्शनाद् वै जिता मया हेतुकास्त्रयः ।
संज्ञा नित्यानित्ये संज्ञा सुखदुःख चाऽऽत्मनात्मनि च[13]॥1273॥

यहाँ हेतु-दर्शन के कारण मैंने तीन हेतुओं को (अर्थात्) नित्य-अनित्यसंज्ञा को, सुख-दुःख-संज्ञा को, तथा आत्म-अनात्म-संज्ञा को जीत लिया है ।

इह मे कर्मविधाना समुदयमुदिता षडायतनमूला ।
छिन्ना द्रुमेन्द्रमूले सर्वानित्यप्रहारेण ॥1274॥

यहाँ मैंने कर्मरूपी समुदय (= हेतु) से उत्पन्न, छह आयतनों के मूलवाली, समूची (संसार-लता) को वृक्षराज के नीचे (बैठे-बैठे) अनित्यता के प्रहार से काट डाला है ।

10. मूल, अप्रतिहत । भोट, स्मोन् मेद् (= अप्रणिहित) । पाठान्तर भी भोटपाठ का समर्थक है ।

11. ममियता । क्रिया, ममायते का निष्ठान्तरूप ममायित का अपभ्रंश । पाठान्तर मन्यना । भोट, ङलोम् सेम्स् (= ममत्व, ममता) ।

12. मूल, अनिवर्त । भोट, म्छन् मेद् (= अनिमित्त) । भोट पाठ उचिततर है ।

13. मूल, चात्मनि च । भोट, ब्दग् दङ् ब्दग् मेद (= आत्मानात्मा च) ।

इह धातुभूत चतुरो मदमकरविलोडित विपुलतृष्णाः ।
स्मृतिसमथभास्करांशौ विशोषिता मे भवसमुद्रा ॥1263॥

यहाँ चार--धातुओं के भवसमुद्रों को, जिनमें मद रूपी मगर-मच्छ उथल-पुथल मचा रहे हैं, जहाँ तृष्णा बहुत लगती है, मैंने स्मृति और शान्ति की सूर्य किरणों द्वारा बिल्कुल सुखा डाला है ।

इह विषयकाष्ठनिचयो वितर्कसामो महामदनवह्निः ।
निर्वापितो ऽतिदीप्तो विमोक्षरसशीततोयेन ॥1264॥

यहाँ (मैंने) विषय रूपी काष्ठसमूह की, अत्यन्त दहकती हुई वितर्क के श्याम (–धुएँ) वाली, कामरूपी महान् अग्नि को, विमोक्षरस के शीतल जलसे बुझा दिया है ।

इह मे अनुशयपटला आस्वादतडिद्वितर्कनिर्घोषाः ।
वीर्यबलपवनवेगैर्विधूय विलयं समुपनीता ॥1265॥

यहाँ मैंने अनुशय के मेघों को, जिनमें आस्वाद (=विषयरस) की बिजली चमकती रहती है, तथा वितर्कों की गर्जन होती रहती है, वीर्य बल के वायुवेग द्वारा धुन-धुन कर विलीन कर डाला है ।

इह मे हतो ह्यशेषश्चित्तचरि रिपुर्भवानुगतवैरी ।
प्रज्ञासिना बलवता स्मृतिविमलसमाधिमागम्य ॥1266॥

यहाँ, मैंने चित्त में विचरने वाले भव के पीछे-पीछे वैर बाँधकर पड़े-हुए, संपूर्ण (आस्रव–रूपी) शत्रु को स्मृति तथा निर्मल-समाधि पा कर बल के साथ प्रज्ञा के खड्ग द्वारा मार डाला है ।

इह सा ध्वजाग्रधारी हस्त्यश्वरथोच्छ्रिता विकृतरूपा ।
=270ख=नमुचि बलवीर्यसेना मैत्रीमागम्य विध्वस्ता ॥1267॥

यहाँ उत्तम ध्वजा फहराने वाली, हाथी, घोड़े और रथों से उन्नत, विकृत-रूप वाली, बल तथा वीर्य से युक्त, उस काम की सेना को, मैत्री के सहारे से (मैंने) नष्ट किया है ।

(–374–) इह पञ्चगुणसमृद्धाः षडिन्द्रिहया सदा मदोन्मत्ताः ।
बद्धा मया ह्यशेषाः समाधिमशुभं[9] समागम्य ॥1268॥

यहाँ मैंने अशुभ-समाधि का अर्थात् जगत् जुगुप्सामय है, इस भावना की समाधि का लाभ कर, पाँच (काम–) गुणों से बढ़े हुए, सदा मद से उन्मत्त, छह इन्द्रियों के सब अश्वों को बाँध रक्खा है ।

9. मूल, समाधिसशुभं । मोट, मि स्डुग् तिङ् ङे ह्जिन् (= समाधिमशुभं) ।

इह अनुनयप्रतिघानां कलहविवाद प्रहाण-पर्यन्तः ।
प्राप्तो मया ह्यशेषो अप्रणिहित[10]समाधिमागम्य ॥1269॥

यहाँ अप्रणिहित-समाधि पा कर अनुराग का एवं द्वेष का, कलह का एवं विवाद का, पूरा का पूरा विनाश और अन्त मैंने पा लिया ।

इह ममियता[11] च सर्वे अध्यात्मिक बाहिरा परिक्षीणा ।
कल्पितविकल्पितानि च शून्यमिति समाधिमागम्य ॥1270॥

यहाँ शून्यता-समाधि पाकर (मेरी) आध्यात्मिक (=शरीरमनः सम्बन्धी) एवं बाह्य (=शरीर तथा चित्त से भिन्न वस्तु सम्बन्धी) सब (प्रकार की) ममताएँ तथा (सामान्य-) कल्पनाएँ एवं विशेष-कल्पनाएँ नष्ट हो गई हैं ।

इह लालयिता सर्वे मर्त्या दिव्या भवाग्रपर्यन्ताः ।
त्यक्ता मया ह्यशेषा आगम्य समाधिम् अनिमित्तं[12]॥1271॥

यहाँ अनिमित्त-समाधि पाकर मार्त्य-लोक संबन्धी, तथा भवाग्र तक दिव्य-लोक संबन्धी सब लालसाओं का पूर्ण त्याग किया है ।

सर्वे भवबन्धनानि च मुक्तानि मयेह तानि सर्वाणि ।
प्रज्ञाबलेन निखिला त्रिविधमिह विमोक्षमागम्य ॥1272॥

यहाँ तीन विमोक्षों को पाकर प्रज्ञा-बल के द्वारा, मैंने यहाँ के उन सब भव मे बाँधने वाले (रस्सो को) पूर्णतया बिना-बचाए खोल डाला है ।

इह हेतुदर्शनाद् वै जिता मया हेतुकास्त्रयः ।
संज्ञा नित्यानित्ये संज्ञा सुखदुःख चाऽऽत्मनात्मनि च[13]॥1273॥

यहाँ हेतु-दर्शन के कारण मैंने तीन हेतुओं को (अर्थात्) नित्य-अनित्यसंज्ञा को, सुख-दुःख-सज्ञा को, तथा आत्म-अनात्म-सज्ञा को जीत लिया है ।

इह मे कर्मविधाना समुदयमुदिता षडायतनमूला ।
छिन्ना द्रुमेन्द्रमूले सर्वानित्यप्रहारेण ॥1274॥

यहाँ मैंने कर्मरूपी समुदय (=हेतु) से उत्पन्न, छह आयतनो के मूलवाली, समूची (संसार-लता) को वृक्षराज के नीचे (बैठे-बैठे) अनित्यता के प्रहार से काट डाला है ।

10. मूल, अप्रतिहत । भोट, स्मोन् मेद् (=अप्रणिहित) । पाठान्तर भी भोटपाठ का समर्थक है ।

11. ममियता । क्रिया, ममायते का निष्ठान्तरूप ममायित का अपभ्रंश । पाठान्तर मन्यना । भोट, ङ्लोम् सेम्स् (=ममत्व, ममता) ।

12. मूल, अनिवर्त । भोट, म्छन् मेद् (=अनिमित्तं) । भोट पाठ उचिततर है ।

13. मूल, चात्मनि च । भोट, ब्दग् दङ् ब्दग् मेद (=आत्मानात्मा च) ।

इह मोहतमः कलुषं दृष्टीकृत[14] दर्परोषसंकीर्ण ।
भित्वा[15] चिरान्धकारं[16] प्रभासितं ज्ञानसूर्येण ॥1275॥

यहाँ, दृष्टि से उत्पन्न, दर्प (= घमंड) से तथा रोष से भरे हुए, मलिन, मोह-रूपी तमो (-गुण) के, चिरकाल से चले आए अंधकार को, ज्ञान के सूर्य से भेद कर (मैंने) प्रकाश फैला दिया है ।

इह रागमदनमकरं तृष्णोर्मिजलं=271क = कुदृष्टिसंग्राहं ।
संसारसागरमहं संतीर्णो वीर्यबलनावा ॥1276॥

यहाँ, वीर्य (= उद्योग) तथा बल की नौका द्वारा मैं काम-राग के मगरों वाला, तृष्णा-रूपी जल एवं लहरों वाला, कुदृष्टियों के ग्राहों वाला ससार-सागर पार कर चुका हूँ ।

इह तन्मयानुबुद्धं यद्-बुद्धो रागद्वेषमोहांश्च ।
प्रदहति चित्तवितर्का दवाग्निपतितानिव पतङ्गां ॥1277॥

यहाँ, मुझे वह बोध हुआ है, जिस बोध का लाभी राग, द्वेष, एवं मोह का, चित्त के वितर्कों का, दावाग्नि में गिरे पतङ्गों की भाँति दाह कर डालता है ।

इह अहु चिरप्रयातो ह्यपरिमितकल्पकोटिनयुतानि ।
संसारपथा क्लिष्टो विश्रान्तो नष्टसंतापः ॥1278॥

अपरिमित खर्ब-खर्ब कोटि कल्पो से संसार-पथ मे चिर काल तक चलते मुझे क्लेश भोगने पडे है (पर) यहाँ (बोधिवृक्ष के नीचे) मेरा संताप नष्ट हुआ है, मुझे विश्राम मिला है ।

(-375-) इह तन्मयानुबुद्धं सर्वपरवादिभियदप्राप्तं ।
अमृतं लोकहितार्थं जरामरणशोकदुःखान्तं ॥1279॥

यहाँ, मैंने अन्य सब प्रवादियों (= तत्वचिन्तकों) द्वारा न पाए गए उस अमृत का अवबोध किया है, जिससे जरा-मरण तथा शोक और दु:ख का अन्त होता है ।

यत्र स्कन्धैर्दु:खं आयतनैः तृष्णसंभवं दुःखं ।
भूयो न चोद्भविष्यति अभयपुरमिहाभ्युपगतोऽस्मि ॥1280॥

14. मूल, दुष्टीकृत ।पठनीय दृष्टीकृत । भोट, ल्त ग्युर (= दृष्टि-संभवम्) ।
15. मूल मे भित्वा के अनन्तर क्षत्रे पा० कोष्ठक मे है, वह भोट मे नही है ।
16. मूल, (क्षत्रे सु) चिरान्धकारं । भोट युन् रिङ् मुन् प (= चिरान्धकारं) ।

यहाँ, (मैं उस) अभयपुर में आ गया हूँ, जहाँ स्कन्धों तथा आयतनों से (उत्पन्न होने वाला) दुःख तथा तृष्णा से उत्पन्न होने वाला दुःख फिर नहीं उपजेगा।

इह ते मयानुबुद्धा रिपवो अध्यात्मिका महाकृत्स्नाः।
बद्धा च संप्रदग्धाः कृताश्च मे पुनर्भवऽनिकेताः [17] ॥1281॥

यहाँ, मैंने महाकृत्स्न (= महाभूत) रूपी अध्यात्मिक-शत्रुओं का अवबोध कर लिया है, (उन्हें) मैंने बाँध लिया है, भून डाला है, (उनके) पुनर्भव का (फिर उपजने का) स्थान नहीं रक्खा है।

इह तन्मयानुबुद्धं यस्यार्थे कल्पकोटिनयुतानि।
त्यक्ता समांसनयना रत्नानि बहून्यमृतहेतोः ॥1282॥

जिस अमृत के निमित्त-अर्थ-खर्ब-कोटि कल्पों तक मांस-सहित नेत्रों का तथा बहुत से रत्नों का दान दिया है, उसका मैंने यहाँ बोध कर लिया है।

इह तन्मयानुबुद्धं यबुद्धं प्राक्तनैः तैर्जिनैर् [18] अपरिमाणैः।
यस्य मधुराभिरम्यः शब्दो लोकेषु विख्यातः ॥1283॥

यहाँ, उस (तत्त्व) का मुझे बोध हुआ है, जिसका बोध पूर्व काल के अपरमित उन बुद्धों को हुआ था, जिनका कि मधुर तथा आनन्ददायी शब्द लोकों में प्रसिद्ध है।

इह तन्मयानुबुद्धं प्रतीत्यसमुदागतं जगच्छून्यं।
चित्तेकक्षणे [19] ऽनुयातं मरीचिगन्धर्वपुरतुल्यं ॥1284॥

यहाँ, मैंने उन (प्रतीत्यसमुत्पाद) का अवबोध किया है, (जिस) प्रतीत्यसमुत्पाद से उत्पन्न (यह) जगत् शून्य, एक चित्त-क्षण में चला जाने वाला, (मृग–)मरीचिका तथा गन्धर्वनगर के तुल्य (प्रतीत होता) है।

इह मे तत्खलु शुद्धं वरनयनं येन लोकधावतः [20] सर्वा।
=271ख=पश्यामि पाणिमध्ये न्यस्तानि यथा द्रुमफलानि ॥1285॥

17. मूल, पुन भवनिकेताः। भोट, यङ् ब्युङ् ग्नस् मेद् (= पुनर्भव-अनिकेताः)। निकेत से पूर्व का अकार संधिवश लुप्त हो गया है। भ्रमनिवारण के लिए अवग्रह द्वारा उसकी अभिव्यक्ति आवश्यक है।

18. मूल, (प्राक्तनै) तैर्जिनैर्। भोट स्ङोन् ग्यि ग्र्यल् ब (प्राक्तनैर्जिनैर्)। एवं मूल पा० में कोष्ठक अनपेक्षित है।

19. मूल, चित्तेक्षणे। पठनीय चित्तैकक्षणे। भोट सेमस् क्यि स्कद् चिग् ग्चिग् ल (= चित्तैकक्षणे)।

20. मूल, (लोक) धावतः। भोट ह्जिग् र्तेन् खम्स् (=लोकधातवः)। मूल में कोष्ठक अनपेक्षित है।

यहाँ, मुझे उत्तम शुद्ध नेत्र मिला है, जिससे सब लोक धातुएँ हाथ में रक्खे तरुफलों जैसी दीख पड रही हैं।

पूर्वेनिवासस्मरणं त्रिस्रो विद्या मयेह संप्राप्ताः।
अपरिमितकल्पनयुता स्मरामि स्वप्नादिव विबुद्धः ॥1286॥

यहाँ, मैंने तीन विद्याएँ प्राप्त की है। स्वप्न से जगे (पुरुष) की भाँति, खर्व-खर्व अपरिमित कल्पों तक के पूर्व (जन्म) के निवास (–स्थानों) का स्मरण, मेरी स्मृति मे है।

येरादीप्ता सुरनरा विपरीतसंज्ञिनो विपर्यस्ताः।
सोऽपि च तथा अवितथा इह मय पीतो ह्यमृतमण्डः ॥1287॥

जिन विपरीत-संज्ञाओं द्वारा विपर्यास (= भ्रम) में पड़े मनुष्य और देवता सब ओर से जल रहे हैं, उन मे भी ठीक भ्रमरहित हो, यहाँ मैंने अमृत का माँड़ पिया है।

यस्यार्थाय दशबला मैत्री भावेन्ति सर्वसत्त्वेषु।
मैत्रीबलेन जित्वा पीतो मे ऽस्मिन्नमृतमण्डः ॥1288॥

दशबल (तथागत) जिस प्रयोजन के लिए सब प्राणियों मे मैत्री-भावना करते हैं, (उस प्रयोजन पर) मैत्री-बल से जय करके, यहाँ मैंने अमृत का माँड़ पिया है।

यस्यार्थाय दशबलाः करुणा भावेन्ति सर्वसत्त्वेषु।
करुणाबलेन जित्वा पीतो मे ऽस्मिन्नमृतमण्डः ॥1289॥

दशबल (तथागत) जिस प्रयोजन के लिए सब प्राणियो में करुणाभावना करते हैं, (उस प्रयोजन पर) करुणा-बल से जय कर के, मैंने यहाँ अमृत का माँड़ पिया है।

(–376–)यस्यार्थाय दशबला मुदिता भावेन्ति सर्वसत्त्वेषु।
मुदिताबलेन जित्वा पीतो मे ऽस्मिन्नमृतमण्डः ॥1290॥

दशबल (तथागत) जिस प्रयोजन के लिए प्राणियो मे मुदिताभावना करते है, (उस प्रयोजन पर) मुदिता-बल से जय कर के, मैंने यहाँ अमृत का माँड़ पिया है।

यस्यार्थाय दशबला उपेक्ष भावेन्ति कल्पनयुतानि।
तमुपेक्षबलैर्जित्वा पीतो मे ऽस्मिन्नमृतमण्डः ॥1291॥

दशबल (तथागत) जिस प्रयोजन के लिए खर्ब-खर्व कल्पो तक उपेक्षा-भावना करते हैं, उस (प्रयोजन) पर उपेक्षाबलों से जय कर के, मैंने यहाँ अमृत का माँड़ पिया है।

यत्पीतं च दशबलैर्गङ्गानदीवालिकावहुतरेभिः ।
प्राग्जिनसिंहैः पूर्वं इह मे पीतो ह्यमृतमण्डः ॥1292॥

गंगा-नदी की बालुका के समान बहुत-बहुत, दशबल वाले, पूर्व (काल) के जिन-सिंहों ने पूर्व मे जिसका पान किया था, (वह) अमृत का मांड़ मैंने यहाँ पिया है ।

या भाषिता च वाग् मे मारस्येहागतस्य ससैन्यस्य ।
भेत्स्यामि न पर्यङ्कं अप्राप्य जरामरणपारं ॥1293॥
भिन्ना मया ह्यविद्या दीप्तेन =272क= ज्ञानकठिनवज्रेण ।
प्राप्तं च दशबलत्वं तस्मात् प्रभिनद्मि पर्यङ्कं ॥1294॥

मैंने सेना के साथ आए मार से जो बात कही थी (वह यह थी कि) मैं जरा-मरण का पार बिना पाए पर्यङ्क-भंग न करूँगा । (=पलथी न तोड़ूँगा) (अब) उज्ज्वल ज्ञान के कठोर वज्र से अविद्या को भेद डाला है, तथा दशबलता (=बुद्धता) पा ली है, इसलिए मै पर्यङ्क-भंग करता हूँ (=पलथी तोड़ता हूँ) ।

प्राप्तं मयार्हत्वं क्षीणा मे आश्रवा निरवशेषाः ।
भग्ना च नमुचिसेना भिनद्मि तस्माद्धि पर्यङ्कं ॥1295॥

मैंने अर्हत्व पा लिया, मेरे अशेष आस्रव क्षीण हो गए, मार की सेना भग्न हो गई, इसलिए मै पर्यङ्क-भग करता हूँ (=पलथी तोडता हूँ) ।

नीवरणकपाटानि च पञ्च मयेह प्रदारिता सर्वं ।
तृष्णीलता विछिन्ना[21] ऽहं तेह[21] भिनद्मि पर्यङ्कं ॥1296॥

यहाँ, मैंने नीवरणों के सब पाँचो किवाड़े तोड डाले है, तृष्णा की लता को काट डाला है, इसलिए मैं यहाँ पर्यङ्क-भंग करता हूँ (=पलथी तोडता हूँ) ।

अथ सो मनुष्यचन्द्रः सविलम्बितमासनात् समुत्थाय ।
भद्रासने निषीदत्महाभिषेकं प्रतीच्छंश्च ॥1297॥

इसके अनन्तर, वे मनुष्य-चन्द्र आसन से धीरे-धीरे उठ कर, और महाभिषेक स्वीकार करते हुए भद्रासन पर बैठ गए ।

रत्नघटसहस्रैरपि नानागन्धोदकैश्च सुरसंघाः
स्नपयन्ति लोकवन्द्यं दशबलगुणपारमिप्राप्तं ॥1298॥

21....21. ऽहं तेह (=अहं तदिह) । भोट, ङ् .ह् दिर् (=अहम्-इह) इसी बात का समर्थक है । पर वैद्य जी ने ऽहं तेह के स्थान में हन्तेह (=हन्त-इह) सुझाया है । वैद्य जी की लालबुझक्कड़ी को कौन दाद न देगा ?

देवगणों ने रत्नमय सहस्रों कलशो द्वारा नाना-प्रकार के सुगन्धित जल से दश-बल के, गुणों के पारंगत, लोकबन्धु (तथागत) को नहलाया।

वादित्रसहस्रैरपि समन्ततो देवकोटिनयुतानि।
अतुलां करोन्ति पूजां अप्सरनयुतैः सह समग्राः ॥1299॥

खर्व-खर्व कोटि देवताओ ने खर्व-खर्व अप्सराओं के साथ एक हो कर चारों ओर से सहस्रो बाजे बजा कर (तथागत की) अनुपम पूजा की।

एवं खलु देवसुताः सहेतु सप्रत्ययं च सनिदानं।
सप्ताहु धरणिमण्डे जिना न भिन्दन्ति पर्यङ्कं ॥1300॥इति॥

हे देवपुत्रों, इस प्रकार, जो बुद्ध धरणीमण्डप में (बैठे) पर्यङ्क-भंग नही करते (=पलथी नही तोड़ते) वह हेतु-सहित है, प्रत्ययसहित है, निदान-सहित है।

(2) बोधि के अनन्तर के सात सप्ताह

5. (-377-) प्रथम सप्ताह मे, हे भिक्षुओं, सम्यक् प्रकार से बोधि-प्राप्त तथागत वही बैठे रहे, मन मे यह सोचते हुए कि यहाँ मुझे अनुत्तर सम्यक्-संबोधि का अवबोध हुआ है, यहाँ मैंने अनादि (काल से चले आए) जन्म एवं जरा-मरण के दुःख का अन्त =272=किया है।

6. दूसरे सप्ताह मे, त्रिसाहस्रमहासाहस्र-लोकधातु का आश्रय ले तथागत लम्बे-लम्बे डग रख-रख कर टहले।

7. तीसरे सप्ताह मे, बिना पलक मारे हुए तथागत बोधिमण्डप निहारते रहे कि यहाँ अनुत्तर सम्यक्-सबोधि का अवबोध कर, अनादि (काल से चले आए) जन्म, एवं जरा-भरण के दुःख का मैंने अन्त किया है।

8. चौथे सप्ताह मे, पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र का आश्रय ले तथागत छोटे-छोटे डग रख-रख कर टहले।

प्रासंगिक मारकन्याओं के अपराध की कथा

9. ऐसके अनन्तर, पड़ापापी मार जहाँ तथागत थे, वहाँ पहुँचा। पहुँच तथागत से यह बोला—भगवन्, परिनिर्वाण प्राप्त करे, सुगत, परिनिर्वाण प्राप्त करें। अब यह भगवान् के परिनिर्वाण का समय है। हे भिक्षुओं, ऐसा बोलने पर, तथागत मार से यह बोले—हे महापापी, मैं तब तक परिनिर्वाण प्राप्त नहीं करूँगा, जब तक मेरे भिक्षु स्थविर, दान्त, व्यक्त (=दक्ष), विनीत,

विशारद (= निर्भय) बहुश्रुत ? =273क = धर्मानुधर्मप्रतिपन्न (= धर्म की बड़ी-छोटी सब बातों के जानकार) अपने-आपके आचर्य हो कर ज्ञान का विकास करने में एवं परप्रवादियों का (= अन्य तत्त्वचिन्तकों का) धर्म से निग्रह कर अभिप्राय को स्पष्ट कर, प्रतिहार्य के साथ धर्मदेशना करने में समर्थ न हो जाएँ। हे महा-पापी, मैं तब तक परिनिर्वाण प्राप्त नहीं करूँगा, जब तक बुद्ध के, धर्म के, एवं संघ के वंश की प्रतिष्ठा लोक में नहीं हो जाएगी, जब तक अनुत्तर सम्यक्-संबोधि पाने के लिए अपरिमित बोधिसत्त्वों का व्याकरण (= भविष्यकथन) न हो चुकेगा। हे महापापी, मैं तब तक परिनिर्वाण नहीं प्राप्त करूँगा, जब तक (भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, एवं उपासिकाओं की) चारों पर्षदें दान्त, विनीत, व्यक्त (= दक्ष) विशारद (= निर्भय न हो जाएँ—यहाँ तक कि—प्रतिहार्य के साथ धर्मदेशना करने में (समर्थ न हो जाएँ)।

10. (–378–) इसके अनन्तर, बड़ा पापी मार यह वचन सुन कर, एक ओर जाकर, दुःखी, अन-मन, पछताता हुआ, मुँह लटका कर, लकड़ी से धरती पर रेखाएँ बनाता हुआ खड़ा हो गया कि ये मेरे विषय से (= इलाके से) बाहर निकल गए।

इसके अनन्तर रति, अरति, तथा तृष्णा (नाम की) वे तीन मार कन्याएँ बड़े पापी मार से गाथाओं में बोली—

> दुर्मनासि कथं तात प्रोच्यतां यद्यसौ नरः।
> रागपाशेन तं बध्वा कुञ्जरं-वा =273ख= ऽऽनयामहे ॥1301॥

हे तात, अनमन कैसे हो रहे हो ? बोलो, क्या कोई पुरुष है ? उसे अनुराग के पाश से हाथी की तरह बाँध कर ले आएँ।

> आनयित्वा च तं शीघ्रं करिष्याम वशे तव।
> (दौर्मनस्यमुपायासं विप्रजहाहि यीदृशं)[22] ॥1302॥

उसे शीघ्र ही ला कर तुम्हारे वश में कर देंगी। (तुम) इस प्रकार का अन-मनापन तथा खेद छोड़ दो।

मार बोला—

> अरहन् सुगतो लोके न रागस्य वशं व्रजेत्।
> विषयं मे ह्यतिक्रान्तस्तस्मा छोचाम्यहं भृशं ॥1303॥

(वे) लोक में अर्हन्त है, सुगत है, राग के वश में नहीं जा सकते। मेरे विषय से (= इलाके से) बाहर निकाल गए है, इसलिए मैं अत्यन्त सोच रहा हूँ।

22. भोट, दे ल्तर थुग्स् ङन् ह्ो ब्ग्यंल ह्ोर्।

11. तदनन्तर स्त्रीचपलतावश, प्रभाव न जानने के कारण, तथागत को बोधिसत्त्व-जैसा ही (मान कर), पिता का वचन सुन कर ही, प्रभूतयौवनधारिणी (=अत्यन्त नौजवान) मध्ययौवनधारिणी (=वयःसंधि की अवस्था वाली) हो कर तथागत की आँखों को भरमाने के लिए तथागत के पास पहुँच, (जो भी) स्त्री माया थी, वह सब अति करके दिखलाई। तथागत उन पर मन न किया तथा अधिष्ठान (संकल्प) किया कि (ये) अत्यन्त जराजीर्ण हो जाएँ।

तदनन्तर वे पिता के पास जाकर बोली—

सत्यं वदसि नस्तात न रागेण स नीयते।
विषयं मे ह्यतिक्रान्तस्तस्मा छोचाम्यहं भृशं ॥1304॥

हे तात, (तुमने) हमसे सच कहा था कि उन्हे राग से (वश मे) नही लिया जा सकता है, (वे) मेरे विषय से (=इलाके से) निकल गए हैं, इसलिए मैं अत्यन्त सोच कर रहा हूँ।

वीक्षेत यद्यसौ रूपं यदस्माभिर्विनिर्मितं।
गौतमस्य विनाशार्थं ततोऽस्य हृदयं स्फुटेत् ॥1305॥

गौतम को मटियामेट करने के लिए हमने जो रूप बनाया था, उसे यदि कोई देखता, तो उसका हृदय फटजाता।

हे तात, अच्छा, अब हमारे जरा से जीर्ण शरीर को दूर करो।

12. (–379–) मार बोला—

नाहं पश्यामि तं लोके पुरुषं सचराचरे।
बुद्धस्य यो ह्यधिष्ठानं शक्नुयात् कर्तुमन्यथा ॥1306॥

(इस) स्थावर तथा जंगम लोक मे मुझे वह पुरुष नही दीखता, जो बुद्ध के अधिष्ठान (=संकल्प) को अन्यथा कर सके।

शीघ्रं गत्वा निवेदय अत्ययं स्वकृतं मुनेः। =274क=
सर्वं पौराणिकं कायं करिष्यति यथामतं ॥1307॥

जल्दी जाकर अपने किए अपराध का मुनि से निवेदन करो, (वे) जैसा तुम चाहती हो, तुम्हारे शरीर पहले जैसे कर देंगे।

13. तदनन्तर उन्होने जाकर तथागत से क्षमा माँगी—भगवान् हमारे अपराध को मान ले, सुगत हमारे अपराध को मान लें, जैसा हम बालाओं ने, जैसे हम मूर्खाओ ने, जैसे हम अचतुराओ ने, अकुशलाओ ने, अक्षेत्रज्ञाओं ने किया है, जो हम भगवान् को हथियाना चाहती थी।

तदनन्तर तथागत गाथा द्वारा बोले—

गिरिं नखैर्विलिखेथ लोहं दन्तैर्विखादथ।
शिरसा विभित्सथ गिरिमगाधे गाधमेषत ॥1308॥

(तुम सब ने) नखो से पर्वत कुरेदना चाहा है, दाँतों से लोहा चबाना चाहा है, सिर से पहाड तोडना चाहा है, अथाह ही थाह लेना चाहता है।

इसलिए हे दारिकाओं, तुम्हारे अपराध को मानता हूँ। वह किसलिए? आर्यविनय मे यह वृद्धि की बात है, जो अपराध को अपराध जान कर स्वीकार करता है और भविष्य मे संवर (न करने का व्रत) ग्रहण करता है।

14. पाँचवें सप्ताह में, हे भिक्षुओं, तथागत नागराज मुचिलिन्द के भवन मे विहरते थे। अनन्तर (उस) महादुर्दिन (बहुत बादल बूँदी) के सप्ताह में नागराज मुलिचिन्द अपने भवन से निकल कर तथागत के शरीर को सात बार अपने शरीर से लपेट कर (ऊपर) फणों की छाया कर दी कि भगवान् के शरीर को =274ख= हवा के ठंढे थपेड़े न लगें। पूर्व दिशा से भी बहुत से नागराज आकर, तथागत के शरीर को सात बार अपने शरीर से लपेट कर (ऊपर) फणों से छाया करते थे कि भगवान् के शरीर को हवा के ठंढे थपेड़े न लगें। जैसे पूर्व दिशा से, वैसे ही दक्षिण, पश्चिम, एवं उत्तर की दिशाओ से (–380–) नागराज आकर, तथागत के शरीर को सात बार अपने शरीर से लपेट कर, (ऊपर) फणो से छाया करते थे कि भगवान् के शरीर को हवा के ठंढे थपेड़े न लगें। नागराजो की वह शरीरराशि पर्वतराज सुमेरु के समान ऊँची खडी थी। उन नागराजा को वैसा सुख कभी नही मिला था, जैसा कि उन सात रात-दिनो में तथागत के शरीर की समीपता से मिला था। तदनन्तर, सप्ताह बीतने पर, वे सब नागराज दुर्दिन को बीता हुआ जान कर, तथागत के शरीर से अपने शरीर हटा कर तथागत के चरणो मे सिर से वन्दना कर, तीन बार प्रदक्षिणा कर, अपने-अपने भवन चले गए। नागराज मुचिलिन्द भी तथागत के चरणों मे सिर से वन्दना कर, तीन बार प्रदक्षिणा कर अपने भवन में घुस गए।

15. छठे सप्ताह में, तथागत नागराज मुचिलिन्द के भवन से अजपाल बरगद के नीचे गए। नागराज मुचिलिन्द और अजपाल बरगत के बीच में, =275क= नैरञ्जना नदी के किनारे, चरक, परिव्राजक, वृद्धश्रावक, गौतम, निर्ग्रंथ, तथा आजीवक आदि तथागत को देख कर बोले—भगवान् गौतम ने इस असमय के दुर्दिनवाला सप्ताह सुख से तो बिताया?

16. अनन्तर, हे भिक्षुओं, तथागत ने उस समय यह उदान कहा—

सुखो विवेकतुष्टस्य श्रुतधर्मस्य पश्यतः।
अव्याबध्यं सुखं लोके प्राणिभूतेषु संयतः ॥1309॥

(जो) विवेक (= विजय) मे सतुष्ट रहता है, (जो) धर्म को सुनता एवं देखता है उसको (यहाँ) सुख है। लोक मे जीवों के प्रति जो संयत रहता है अर्थात् जीवों को नही सताता है, उसका सुख बिना—विघ्न बाधा का होता है।

सुखा विरागता लोके पापानां समतिक्रमः।
अस्मिन् मानुष्यविषये एतद् वै परमं सुखं ॥1310॥

लोक में वीतरागता सुख है। इस मानवों की दुनिया में यह परम सुख है, जो पापो से रहित होना है।

17. हे भिक्षुओं, तथागत ने लोक को चारों ओर जलता हुआ, जन्म से, जरा से, व्याधि से, मरण से, शोक से, परिदेवन (= विलाप) से, दुःख से, दौर्मनस्य से, उपायास (= खेद) से कहकता हुआ देखा। वहाँ तथागत ने इस विषय मे यह उदान कहा—

(–381–) अयं लोकः संतापजातः शब्दस्पर्शरसरूपगन्धैः।
भयभीतो भयं भूयो मार्गते भवतृष्णाया। ॥1311॥

इस लोक मे शब्द, स्पर्श, रस, रूप, एवं गन्ध के द्वारा संताप उपजता है—(इससे यद्यपि यह) भय-भीत है, (तो भी) भव भी तृष्णा से (= संसार में रहने एवं उपजने की लालसा से) और भी अधिक भय खोजता रहता है।

18. सातवें सप्ताह में तथागत=275ख=तारायण (अर्थात् बोधिवृक्ष) के नीचे विहार करते थे।

(3) त्रपुष-भल्लिक प्रकरण

19. उस समय, उत्तरापथवासी दो भाई त्रपुष और भल्लिक नामक बुद्धिमान् चतुर वनिए दक्षिणापथ से उत्तरापथ पाँच सौ भरी-पूरी गाड़ियों के सार्थ के साथ जा रहे थे। उनके उत्तम जाति में उत्पन्न सुजात एवं कीर्ति नाम के दो बैल थे उन्हे लग्नभय न था (=कीचड़ आदि मे फँसने का भय न था)। जहाँ दूसरे बैल नही भार ढो पाते थे, वहाँ उन्हे जोता जाता था। जहाँ आगे भय होता था, वहाँ वे खूँटे से बँधे हुए जैसे ठहर जाते थे। उन्हे प्रतोद (=पनेठ) से नही चलाया जाता था, उन्हे उत्पलहस्तक अथवा सुमनादामक (नाम के उपकरणो) से चलाया जाता था। उनकी वे सब गाड़ियाँ तारायण (अर्थात् बोधिवृक्ष) के समीप के क्षीरिकावन में (=खिरनी के जंगल में) रहने वाली वनदेवता के अधिष्ठान (=संकल्प) से आगे न बढ रही थी। बरेत आदि गाड़ियों के अंग टूट-फूट रहें थे। गाड़ी के पहिए नाह तक धरती में धँस गए थे। सब जतन करने पर भी वे गाड़ियाँ आगे न बढ़ रही थी। उन्हें अचरज हुआ और

और लगा कि इसका क्या कारण है, यहाँ क्या बिगड़ गया, जो स्थल पर गाड़ियाँ ठहर गईं। उन्होंने सुजात और कीर्ति नाम के बैलों को जोता, वे भी उत्पल-हस्तक एवं =276क=सुमनादामक से चलाए जाने पर भी न चलते थे। उनके मन में यह बात आई निःसंदेह आगे कुछ भय है, जिसके कारण ये भी आगे नहीं बढ़ रहे हैं। उन्होंने घोड़सवार दूत आगे भेजे। वे घोड़सवार दूत लौट आए और बोले कोई भय की बात नहीं है। उस वन की देवता ने भी अपना रूप दिखा कर आश्वासन दिया कि मत डरो। (–382–) उन बैलों ने भी जहाँ तथागत थे, वहाँ गाड़ियाँ खीच ले गए। तब उन्होंने तथागत को देखा जो अग्नि समान तेज में दहक रहे थे, महापुरुषों के बत्तीस लक्षणों के विभूषित थे, अभी-अभी उगे जैसे सूर्य के समान शोभा से देदीप्यमान थे। देखकर उन्हें अचरज हुआ कि ये कौन हैं? क्या ब्रह्मा यहाँ आ पहुँचे हैं या देवताओं के इन्द्र, शक्र, या वैश्रवण (=कुबेर) या चन्द्र अथवा सूर्य या कोई गिरिदेवता या नदी देवता यहाँ आ पहुँचे हैं। तदनन्तर तथागत ने (अपने) काषाय वस्त्रों को प्रकट किया। तब वे बोले। काषाय वस्त्र ओढ़े हुए ये प्रव्रजित हैं। इनसे भय नहीं है। उनके चित्त प्रसन्न हो गए (और) उन्होंने आपस में बात की कि ये प्रव्रजित हैं, समय पर खाते भी होंगे। क्या कुछ है? (दूसरों ने) कहा—मधुतर्पण (=शहद तथा सत्तू) लिखितक–इक्षु (=छोले हुए गन्ने) है। =276ख=मधुतर्पण तथा लिखितक इक्षुओं को लेकर, वे जहाँ तथागत थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर, तथागत के चरणों में सिर से वन्दना कर, तीन बार प्रदक्षिणा कर एक ओर खड़े हो गए। एक ओर खड़े हो, वे तथागत से बोले—भगवान्, यह पिण्डपात (=भिक्षा) हम लोगों पर अनुग्रह करके स्वीकार करें।

20. हे भिक्षुओं, तदनन्तर, तथागत के मन में यह बात आई। यह अनुचित होगा यदि मैं हाथों में ग्रहण करूँ। पहले के तथागतों ने किसमें ग्रहण किया था? (ध्यान द्वारा देख कर) उन्होंने जाना कि पात्र में ग्रहण किया था।

21. हे भिक्षुओ, इस प्रकार, यह तथागत के भोजन का समय है, यह जान कर, उसी क्षण, चारों दिशाओं से चारों महाराजों ने आकर, तथागत को चार सुवर्ण-पात्र भेंट किए। (और बोले) भगवन्, ये चारो सुवर्ण-पात्र हम लोगों पर अनुग्रह करके ग्रहण करें। वे श्रमणोचित नहीं हैं, ऐसा (मन में सोच) कर तथागत ने ग्रहण नहीं किया। (–383–) इसी प्रकार, चार रजतमय, चार वैडूर्यमय, स्फटिकमय, मुसारगल्वमय (=इन्द्रनीलमणिमय) एवं अश्मगर्भमय (=कपपट्टिका-पाषाणमय), तदनन्तर चार सर्वरत्नमय पात्र लेकर तथागत को भेंट किए। (वे) श्रमणोचित नहीं हैं, =277क=ऐसा (मन में सोच) कर तथागत ने ग्रहण नहीं किए।

22. हे भिक्षुओ, तदनन्तर, तथागत के मन मे यह बात आई । किस प्रकार के पात्रों द्वारा पहले के अर्हन्त, सम्यक्-संबुद्ध, तथागतों ने ऐसा प्रतिग्रह किया था । (ध्यान द्वारा देख कर) उन्होने जाना कि पाषाणमय पात्रों द्वारा ऐसा प्रतिग्रह किया था । (तब) इस प्रकार तथागत का मन हुआ (कि मैं भी पाषाणमयपात्रों द्वारा भिक्षा-प्रतिग्रहण करूँ) ।

23 तदनन्तर, वैश्रवण (=कुबेर) महाराज ने अन्य तीन महाराजों को संबोधन करके कहा—हे मार्षो (=साथियो) नीलकायिक देवपुत्रों ने चार पाषाणमय पात्र हमें दिए थे । उस समय हमारे मन मे यह बात आई थी कि हम इन पात्रो में भोजन करे । तब वैरोचन नाम के नीलकायिक देवपुत्र ने हमसे ऐसा कहा था—

(छंद उपजाति)

मा एषु भोक्ष्यथ भाजनेषु
धारेतिमे चेतियसंमतीते ।
भविता जिनः शाक्यमुनीति नाम्ना
तस्येति पात्राण्युपनामयेथा ॥1312॥

इन पात्रो मे भोजन न करना, इन्हे रख छोड़ना, ये चैत्य जैसे पूजित होंगे । शाक्यमुनि नाम के बुद्ध होंगे । उन्हें ये पात्र देना ।

अयं स कालः समयश्च मार्षा
उपनामितु शाक्यमुनेर्हि भाजना ।
संगीतितूर्यस्वरनादितेन
दास्याम पात्राणि विधाय पूजां ॥1313॥

हे मार्षो (=साथियों) यह वह काल है—समय है जब शाक्यमुनि को पात्र देने है । (हम सबको) संगीति-स्वरो (सर ग म प ध नि) के द्वारा तथा वाद्यो की ध्वनियों के द्वारा, पूजा करके पात्र देना है ।

स भाजनं धर्ममयं ह्यभेद्यं
इमे च शैलामयमेद्य भाजना ।
प्रतिग्रहीतु (—) क्षमते न चान्यः
प्रतिग्रहार्थाय व्रजाम हन्त ॥1314॥

वे धर्ममय अटूट पात्र है और ये पाषाणमय टूटने वाले पात्र है । (इनके) प्रतिग्रह करने के योग्य दूसरा नही । अहो, प्रतिग्रह करने के अर्थ (हम सब) चलें ।

24. इसके अनंतर चारों महाराज अपने स्वजनों और सभ्यों के साथ पुष्प, धूप, गन्ध, माल्य, (=पुष्पमाला) एवं =277ख= विलेपन के साथ, तथा तूर्य और ताडावचर (=करताल) बाजे बजाने के साथ, संगीति (=स र ग म प ध नि स्वर) अलापने के साथ, अपने-अपने हाथों मे उन पात्रों को लेकर, जहां तथागत थे, वहां पहुँचे। पहुँच कर तथागत की पूजा कर दिव्य-पुष्पों से भर कर वे पात्र तथागत को भेंट किए।

25 (-384-) हे भिक्षुओं, तदनन्तर, तथागत के मन मे यह बात आई। ये चार महाराज (मुझमे) श्रद्धावंत हो, मुझपर प्रसन्न हो, मुझे चार पाषाणमय पात्र भेंट कर रहे है। चार पाषाणमय पात्र लेना मेरे लिए वैध नही है। यदि एक का लूँ, तो तीन के मन को बुरा लगेगा। क्यों न मैं चारों पात्र लेकर (अपने) अधिष्ठान (=संकल्प) से एक कर लूँ।

26. हे भिक्षुओं, इसके अनंतर, तथागत ने दाहिना हाथ फैला कर-गाथा द्वारा वैश्रवण महाराज से कहा—

(छंद उपजाति जगतीजातीया)

उपनामयस्व सुगतस्य भाजनं
त्वं भेष्यसे भाजनमग्रयाने।
अस्मद्विधेभ्यो हि प्रदाय भाजनं
स्मृतिर्मतिश्चैव न जातु हीयते ॥1315॥

सुगत को पात्र भेंट दो; तुम अग्रयान (=महायान) के उत्तम पात्र होओगे। हम—जैसों को पात्र देकर कभी भी स्मृतिहानि और मतिहानि नहीं होती।

27. हे भिक्षुओं, इसके अनंतर तथागत ने अनुग्रह कर महाराज वैश्रवण के पास से पात्र ग्रहण किया। और (पात्र) ग्रहण कर, गाथा द्वारा धृतराष्ट्र महाराज से कहा—

(छंद उपजाति)

यो भाजनं देति तथागतस्य
न तस्य जातु स्मृति प्रज्ञ हीयते।
अतिनाम्य कालं च सुखं सुखेन =278क=
यावत्पदं बुध्यति शीतिभावं ॥1316॥

जो तथागत को पात्र देता है, उसकी कभी भी स्मृतिहानि और प्रज्ञाहानि नही होती। वह जब तक शीत-भाव (=निर्वाण) का बोध नही कर लेता तब तक, सुख-पूर्वक काल बिता कर (वहां) सुख से रहता है।

22. हे भिक्षुओ, तदनन्तर, तथागत के मन मे यह बात आई। किस प्रकार के पात्रों द्वारा पहले के अर्हन्त, सम्यक्-संबुद्ध, तथागतों ने ऐसा प्रतिग्रह किया था। (ध्यान द्वारा देख कर) उन्होने जाना कि पाषाणमय पात्रों द्वारा ऐसा प्रतिग्रह किया था। (तब) इस प्रकार तथागत का मन हुआ (कि मैं भी पाषाण-मयपात्रों द्वारा भिक्षा-प्रतिग्रहण करूँ)।

23 तदनन्तर, वैश्रवण (=कुबेर) महाराज ने अन्य तीन महाराजों को संबोधन करके कहा—हे मार्षो (=साथियों) नीलकायिक देवपुत्रों ने चार पाषाणमय पात्र हमें दिए थे। उस समय हमारे मन मे यह बात आई थी कि हम इन पात्रों में भोजन करें। तब वैरोचन नाम के नीलकायिक देवपुत्र ने हमसे ऐसा कहा था—

(छंद उपजाति)

मा एषु भोक्ष्यथ भाजनेषु
धारेतिमे चेतियसंमतीते।
भविता जिनः शाक्यमुनीति नाम्ना
तस्येति पात्राण्युपनामयेथा ॥1312॥

इन पात्रो मे भोजन न करना, इन्हे रख छोड़ना, ये चैत्य जैसे पूजित होंगे। शाक्यमुनि नाम के बुद्ध होगे। उन्हें ये पात्र देना।

अयं स कालः समयश्च मार्षा
उपनामितु शाक्यमुनेर्हि भाजना।
संगीतितूर्यस्वरनादितेन
दास्याम पात्राणि विधाय पूजां ॥1313॥

हे मार्षो (=साथियों) यह वह काल है—समय है जब शाक्यमुनि को पात्र देने हैं। (हम सबको) संगीति-स्वरो (सर ग म प ध नि) के द्वारा तथा वाद्यों की ध्वनियो के द्वारा, पूजा करके पात्र देना है।

स भाजनं धर्ममयं ह्यभेद्यं
इमे च शैलामयमेद्य भाजना।
प्रतिग्रहीतु (—) क्षमते न चान्यः
प्रतिग्रहार्थाय व्रजाम हन्त ॥1314॥

वे धर्ममय अटूट पात्र है और ये पाषाणमय टूटने वाले पात्र है। (इनके) प्रतिग्रह करने के योग्य दूसरा नही। अहो, प्रतिग्रह करने के अर्थ (हम सब) चलें।

31. इस विषय में (गाथाओं द्वारा) यों कहा जाता है—

(छंद उपजाति)

स सप्तरात्रं वरबोधिवृक्षं
संप्रेक्ष्य धीरः परमार्थदर्शी।
षड्भिः प्रकारैः प्रविकम्प्य चोर्वी
अभ्युत्थितः सिंहगतिर्नृसिंहः ॥1320॥

वे धीर, परमार्थदर्शी, सिंह के समान चलने वाले नृसिंह सप्ताह भर बोधिवृक्ष को एकटक देख कर, धरती को छह प्रकार से कँपा कर उठे।

समन्त - नागेन्द्र - विलम्बगामी
क्रमेण तारायणमूलमेत्य।
उपाविशन्मेरुवदप्रकम्प्यो
ध्यानं समाधिं च मुनिः प्रदध्यौ ॥1321॥

सब प्रकार से नागेन्द्र (=गजेन्द्र) के समान धीरे-धीरे चलने वाले मुनि क्रम से (फिर) बोधिवृक्ष के नीचे जाकर, सुमेरु के समान निश्चल भाव से बैठे और ध्यान तथा समाधि में लग गए।

तस्मिंश्च काले त्रपुषश्च भल्लिको
भ्रातृद्वयं वणिजगणेन सार्धं।
शकटानि[23] तेषं च[23] धनेन पूर्णा
संपुष्पिते सालवने प्रविष्टाः ॥1322॥

उस समय वाणिक्-सार्थ के साथ त्रपुष तथा भल्लिक दो भाई तथा धन से पूर्ण उनके छकड़े सब ओर से फूले साल-वन में प्रविष्ट हुए।

महर्षितेजेन च अक्षमात्रं
चक्राणि भूमौ विविशुः क्षणेन।
तां तादृशीं प्रेक्ष्य च ते-अवस्थां
महद्भयं वणिजगणस्य जातं ॥1323॥

महर्षि के तेज से क्षण भर में पहिए नाह तक धरती मे धंस गए। उनकी वह वैसी अवस्था देख कर वणिक्-सार्थ को बड़ा भय लगा।

23....23. मूल, ते पञ्च। भोट, में पञ्च शब्द का पता नहीं है। तेषं च शोधन अर्थसंगत है। पञ्च से संगति बैठ नही सकती। साथ में पाँच ही शकट न थे प्रत्युत् अनेक थे।

28. हे भिक्षुओं, इसके अनतर तथागत ने अनुग्रह कर, महाराज धृतराष्ट्र के पास से पात्र ग्रहण किया। और (पात्र) ग्रहण कर, गाथा द्वारा विरूढक महाराज से कहा--

(छंद उपजाति)

ददासि यस्त्वं परिशुद्धभाजनं
विशुद्धचित्ताय तथागताय।
भविष्यसि त्वं लघु शुद्धचित्तः
प्रशंसितो देवमनुष्यलोके ॥1317॥

तुम जो विशुद्धचित्त के तथागत को विशुद्ध-पात्र दे रहे हो, (उससे) विशुद्ध-चित्त के तुम शीघ्र देवलोक तथा मनुष्यलोक मे प्रशंसित होओगे।

29. हे भिक्षुओ, इसके अनंतर तथागत ने अनुग्रह कर, महाराज विरूढ़क के पास से पात्र ग्रहण किया। और (पात्र) लेकर गाथा द्वारा विरूपाक्ष महाराज से कहा—

(छंद उपजाति जगती-जातीया)

(-385-) अछिद्रशीलस्य तथागतस्य
अछिद्रवृत्तस्य अछिद्रभाजनं।
अछिद्रचित्तः प्रददासि श्रद्धया
अछिद्र ते भेष्यति पुण्यदक्षिणा ॥1318॥

निर्दोष—चित्त के (तुम) निर्दोष-शील एवं निर्दोषचरित तथागत को निर्दोष-पात्र दे रहे हो, (इससे) तुम्हारी पुण्यदक्षिणा निर्दोष होएगी।

30. हे भिक्षुओ, तथागत ने अनुग्रह कर, महाराज विरूपाक्ष के पास से पात्र ग्रहण किया। अधिमुक्तिबल से (आलंबन में निश्चलता के विशेष मनोबल द्वारा) ग्रहण किए (पात्रों को) अधिष्ठान से (=संकल्प से) एक कर लिया। और उस समय यह उदान कहा—

(छंद उपजाति जगती जातीया)

दत्तानि पात्राणि पुरे भवे मया
फलपूरिता प्रेमणिया च कृत्वा।
तेनेमि पात्राश्चतुरः सुसंस्थिता =278ख=
ददन्ति देवाश्चतुरो महर्द्धिकाः ॥1319॥

पूर्व-जन्मों में प्रियाचरण कर, फलो से भर-भर कर, मैंने पात्र दिए है, इसी से चार सुंदर-संस्थान वाले (=सुंदर आकार-प्रकार वाले) चार पात्र (मुझे) चार महा-ऋद्धिमंत देवता दे रहे है।

31. इस विषय में (गाथाओं द्वारा) यों कहा जाता है—

(छंद उपजाति)

स सप्तरात्रं वरबोधिवृक्षं
संप्रेक्ष्य धीरः परमार्थदर्शी।
षड्भिः प्रकारैः प्रविकम्प्य चोर्वी
अभ्युत्थितः सिंहगतिर्नृसिंहः ॥1320॥

वे धीर, परमार्थदर्शी, सिंह के समान चलने वाले नृसिंह सप्ताह भर बोधिवृक्ष को एकटक देख कर, धरती को छह प्रकार से कँपा कर उठे।

समन्त - नागेन्द्र - विलम्बगामी
क्रमेण तारायणमूलमेत्य।
उपाविशन्मेरुवदप्रकम्प्यो
ध्यानं समाधिं च मुनिः प्रदध्यौ ॥1321॥

सब प्रकार से नागेन्द्र (= गजेन्द्र) के समान धीरे-धीरे चलने वाले मुनि क्रम से (फिर) बोधिवृक्ष के नीचे जाकर, सुमेरु के समान निश्चल भाव से बैठे और ध्यान तथा समाधि में लग गए।

तस्मिश्च काले त्रपुषश्च भल्लिको
भातृद्वयं वणिजगणेन सार्धं।
शकटानि[23] तेषं च[23] धनेन पूर्णा
संपुष्पिते सालवने प्रविष्टाः ॥1322॥

उस समय वाणिक्-सार्थ के साथ त्रपुष तथा भल्लिक दो भाई तथा धन से पूर्ण उनके छकड़े सब ओर से फूले साल-वन मे प्रविष्ट हुए।

महर्षितेजेन च अक्षमात्रं
चक्राणि भूमौ विविशुः क्षणेन।
तां तादृशी प्रेक्ष्य च ते-अवस्थां
महद्भयं वणिजगणस्य जातं ॥1323॥

महर्षि के तेज से क्षण भर मे पहिए नाह तक धरती मे धंस गए। उनकी वह वैसी अवस्था देख कर वणिक्-सार्थ को बड़ा भय लगा।

23....23. मूल, ते पञ्च। भोट, मे पञ्च शब्द का पता नही है। तेषं च शोधन अर्थसंगत है। पञ्च से संगति बैठ नही सकती। साथ में पाँच ही शकट न थे प्रत्युत् अनेक थे।

ते खड्गहस्ताः शरशक्तिपाणयो
वने मृगं वा ऽमृगयन् क एष ।
वीक्षन्त ते शारदचन्द्रववत्रं
जिनं सहस्रांशुमिवाभ्रमुक्तं ॥1324॥

हाथ मे खड्ग ले, बाण-बरछियाँ हाथ मे पकडे वे वन मे जैसे मृग की खोज की जाती है, वैसे खोजने लगे । उन्होने शरद के चंद्रमा के समान वदन वाले, मेघों से मुक्त सूर्य के समान तेजस्वी बुद्ध को देखा ।

प्रहीनकोपा अपनीतदर्पाः
प्रणम्य मूर्ध्ना विमृषुः क एष ।
नभस्तलाद्देवत वाच भाषते
बुद्धो ह्ययं लोकहितार्थकारी ॥1325॥

उनका कोध चला गया, उनका घमंड दूर हो गया, सिर से प्रणाम करके वे सोचने लगे कि ये कौन हैं ? गगन-तल से देवता ने बात कही कि ये लोक के हितकारी, लोक के प्रयोजन सिद्ध करने वाले बुद्ध है ।

रात्रिदिवा सप्त न चान्नपानं
अनेन भुक्तं करुणात्मकेन ।
यदिच्छथा आत्मन क्लेशान्तिं
भोजेयिमं भावितकायचित्तं ॥1326॥

इन करुणानिधान ने सात दिन-रात अन्न-पान का आहार नही किया है । अपनी क्लेश-शान्ति चाहते हो, तो इन भावितकाय तथा भावितचित्त को अर्थात् शरीर और मन मे विनीत (भगवान्) को भोजन कराओ ।

(–386--) शब्दं च ते=279क=तं मधुरं निशाम्य
वन्दित्व कृत्वा च जिनं प्रदक्षिणं ।
प्रीतास्ततस्ते सहिताः सहायैः
जिनरूप पिण्डाय मति प्रचक्रुः ॥1327॥

वह मधुर-शब्द सुन कर, बुद्ध की वन्दना कर, प्रदक्षिणा कर, साथियों के साथ प्रेम से बुद्ध को भोजन कराने का उन्होने विचार किया ।

32. हे भिक्षुओं, उस समय, त्रपुष और भल्लिक बनियो का प्रत्यन्तकर्वट (=सीमान्तग्राम) में गो-यूथ रहता था । उस समय उन गौओं ने सर्पिमण्ड (=घी के सार) जैसा दूध दिया । इसके अनन्तर ग्वाले वह सर्पिर्मण्ड (=घृत-सार) लेकर, जहाँ त्रपुष और भल्लिक बनिए थे, वहाँ पहुँचे । पहुँच कर यह

बात जनाई कि मालिकों, यह तुम जानो, सब गौओं ने सर्पिर्मण्ड (=घृतसार जैसा दूध दिया है, यह मांगलिक है अथवा नही।

वहाँ लालची स्वभाव के ब्राह्मणों ने यों कहा—यह अमांगलिक है, ब्राह्मणो को न्योता देकर महायज्ञ करो।

33. हे भिक्षुओं, उस समय, त्रपुष और भल्लिक बनियों के, पूर्वजन्म के एक सगे-सम्बन्धी शिखण्डी नामक ब्राह्मण ब्रह्मलोक में उत्पन्न हुए थे। ब्राह्मण-रूप धर कर उन्होंने उन बनियों से गाथाओं द्वारा कहा—

युष्माकं प्रणिधिः पूर्वे बोधिप्राप्तस्तथागतः।
अस्माकं भोजनं भुक्त्वा धर्मचक्रं प्रवर्तयेत् ॥1328॥

तुम्हारा पहले का प्रणिधान (=संकल्प) है कि बोधि पाकर तथागत हमारा भोजन खाकर धर्मचक्रप्रवर्तन करें।

स चैष प्रणिधिः पूर्णो बोधिप्राप्तस्तथागतः।
आहारमुपनाम्येत = 279ख = भुक्त्वा चक्रं प्रवर्तयेत् ॥ 1329॥

वह प्रणिधान (=संकल्प) पूर्ण हो रहा है। तथागत बोधि प्राप्त कर चुके। भोजन भेंट करना चाहिए, (जिसे) खा कर (धर्म–) चक्र प्रवर्तन करें।

सुमङ्गलं सुनक्षत्रं गवां वः सर्पिदोहनं।
पुण्यकर्मणस्तस्यैष अनुभावो महर्षिणः ॥1330॥

तुम्हारी गौओं को सर्पिर्दोहन (=घृतसार जैसा दूध देना) सुमंगल है, सुनक्षत्र (=शुभक्षणद) है। यह उन पुण्य कर्म के महर्षि का प्रताप है।

एवं संचोद्य वणिजः शिखण्डी भवनं गतः।
उदग्रमनसः सर्वे बभूवुस्त्रपुषाह्वयाः ॥1331॥

इस प्रकार (उन) बनियों को प्रेरणा देकर शिखण्डी (अपने) भवन चले गए। त्रपुष-नामी (वे) सब (बनिए भी) मन में बहुत प्रसन्न हुए।

(छंद उपजाति)

क्षीरं यदासीच्च हि गोसहस्रा
अशेषतस्तं समुदानयित्वा। (–387–)
अग्रं च तस्मात् परिगृह्य ओजः
सार्धेसु ते भोजन गौरवेण ॥1332॥

हजार गौओं का जो दूध था, उसे पूरा का पूरा मँगा कर, उसमें से उत्तम सार लेकर, उन्होंने गौरव के साथ भोजन सिद्ध किया।

ते खड्गहस्ताः शरशक्तिपाणयो
वने मृगं वा ऽमृगयन् क एष ।
वीक्षन्त ते शारदचन्द्रवक्त्रं
जिनं सहस्रांशुमिवाभ्रमुक्तं ॥1324॥

हाथ मे खड्ग ले, बाण-बरछियाँ हाथ मे पकडे वे वन मे जैसे मृग की खोज की जाती है, वैसे खोजने लगे । उन्होंने शरद के चंद्रमा के समान वदन वाले, मेघों से मुक्त सूर्य के समान तेजस्वी बुद्ध को देखा ।

प्रहीनकोपा अपनीतदर्पाः
प्रणम्य मूर्ध्ना विमृषुः क एष ।
नभस्तलाद्देवत वाच भाषते
बुद्धो ह्ययं लोकहितार्थकारी ॥1325॥

उनका क्रोध चला गया, उनका घमंड दूर हो गया, सिर से प्रणाम करके वे सोचने लगे कि ये कौन है ? गगन-तल से देवता ने बात कही कि ये लोक के हितकारी, लोक के प्रयोजन सिद्ध करने वाले बुद्ध है ।

रात्रिदिवा सप्त न चान्नपानं
अनेन भुक्तं करुणात्मकेन ।
यदिच्छथा आत्मन क्लेशशान्तिं
भोजेथिमं भावितकायचित्तं ॥1326॥

इन करुणानिधान ने सात दिन-रात अन्न-पान का आहार नही किया है । अपनी क्लेश-शान्ति चाहते हो, तो इन भावितकाय तथा भावितचित्त को अर्थात् शरीर और मन मे विनीत (भगवान्) को भोजन कराओ ।

(–386–) शब्दं च ते=279क = तं मधुरं निशाम्य
वन्दित्व कृत्वा च जिनं प्रदक्षिणं ।
प्रीतास्ततस्ते सहिताः सहायैः
जिनरूप पिण्डाय मति प्रचक्रुः ॥1327॥

वह मधुर-शब्द सुन कर, बुद्ध की वन्दना कर, प्रदक्षिणा कर, साथियों के साथ प्रेम से बुद्ध को भोजन कराने का उन्होने विचार किया ।

32. हे भिक्षुओं, उस समय, त्रपुष और भल्लिक बनियो का प्रत्यन्तकर्वट (=सीमान्तग्राम) में गो-यूथ रहता था । उस समय उन गौओं ने सर्पिमण्ड (=घी के सार) जैसा दूध दिया । इसके अनन्तर ग्वाले वह सर्पिर्मण्ड (=घृत-सार) लेकर, जहाँ त्रपुष और भल्लिक बनिए थे, वहाँ पहुँचे । पहुँच कर यह

बात जनाई कि मालिकों, यह तुम जानो, सब गौओं ने सर्पिर्मण्ड (=घृतसार जैसा दूध दिया है, यह मांगलिक है अथवा नहीं।

वहाँ लालची स्वभाव के ब्राह्मणों ने यों कहा—यह अमांगलिक है, ब्राह्मणों को न्योता देकर महायज्ञ करो।

33. हे भिक्षुओं, उस समय, त्रपुष और भल्लिक बनियों के, पूर्वजन्म के एक सगे-सम्बन्धी शिखण्डी नामक ब्राह्मण ब्रह्मलोक में उत्पन्न हुए थे। ब्राह्मण-रूप धर कर उन्होंने उन बनियों से गाथाओं द्वारा कहा—

युष्माकं प्रणिधिः पूर्वे बोधिप्राप्तस्तथागतः।
अस्माकं भोजनं भुक्त्वा धर्मचक्रं प्रवर्तयेत् ॥1328॥

तुम्हारा पहले का प्रणिधान (=संकल्प) है कि बोधि पाकर तथागत हमारा भोजन खाकर धर्मचक्रप्रवर्तन करें।

स चैष प्रणिधिः पूर्णो बोधिप्राप्तस्तथागतः।
आहारमुपनाम्येत = 279ख = भुक्त्वा चक्रं प्रवर्तयेत् ॥ 1329॥

वह प्रणिधान (=संकल्प) पूर्ण हो रहा है। तथागत बोधि प्राप्त कर चुके। भोजन भेंट करना चाहिए, (जिसे) खा कर (धर्म—) चक्र प्रवर्तन करें।

सुमङ्गलं सुनक्षत्रं गवां वः सर्पिदोहनं।
पुण्यकर्मणस्तस्यैष अनुभावो महर्षिणः ॥1330॥

तुम्हारी गौओं को सर्पिर्दोहन (=घृतसार जैसा दूध देना) सुमंगल है, सुनक्षत्र (=शुभक्षणद) है। यह उन पुण्य कर्म के महर्षि का प्रताप है।

एवं संचोद्य वणिजः शिखण्डी भवनं गतः।
उदग्रमनसः सर्वे बभूवुस्त्रपुषाह्वयाः ॥1331॥

इस प्रकार (उन) बनियों को प्रेरणा देकर शिखण्डी (अपने) भवन चले गए। त्रपुष-नामी (वे) सब (बनिए भी) मन में बहुत प्रसन्न हुए।

(छंद उपजाति)

क्षीरं यदासीच्च हि गोसहस्रा
अशेषतस्तं समुदानयित्वा। (–387–)
अग्रं च तस्मात् परिगृह्य ओजः
सार्धसु ते भोजन गौरवेण ॥1332॥

हजार गौओं का जो दूध था, उसे पूरा का पूरा मँगा कर, उसमें से उत्तम सार लेकर, उन्होंने गौरव के साथ भोजन सिद्ध किया।

शतं-सहस्रैकपलस्य मूल्यं
या रत्नपात्री अभु चन्द्रनामिका ।
चौक्षां सुधौतां विमलां च कृत्वा
समतीर्थिकां पुरिषु भोजनेन ॥1333॥

(उनके पास) जो चन्द्रनामिका रत्नपात्री थी, जिसका मूल्य एक लाख (सुवर्ण–) पल था, उसे उत्तमता से धोकर, निर्मल एवं चोखा (=पवित्र) कर भोजन से मुंह के बराबर तक भर दिया ।

मधुं गृहीत्वा तथ रत्नपात्रीं
तारायणीमूलमुपेत्य शास्तुः ।
प्रतिगृह्ण भक्ते अनुगृह्ण चास्मान्
इदं प्रणीतं परिभुङ्क्ष्व भोज्यं ॥1334॥

मधु तथा रत्नपात्री लेकर, बोधिवृक्ष के नीचे शास्ता के पास जाकर (वे बोले–) भोजन स्वीकार करो और हम पर अनुग्रह कर इस उत्तम भोजन का उपभोग करो ।

अनुकम्पनार्थाय उभौ च भ्रातॄणां
पूर्वासयं ज्ञात्व च बोधिप्रस्थितौ ।
प्रतिगृहीत्वा परिभुञ्जि शास्ता
भुक्त्वा क्षिपी पात्रि नभस्तलेस्मिं ॥1335॥

दोनों भाईयो पर अनुग्रह करने के लिए, बोधिप्रस्थापना कर चुकने वाले (उन दोनों के) पूर्व के आशय को जान कर, शास्त्रा ने ग्रहण कर के भोजन किया और पात्री को आकाश में फेंक दिया ।

सुब्रह्मनामा च हि देवराजो
जग्राह यास्तां वररत्नपात्रीं ।
अधुनाप्यसौ तां खलु ब्रह्मलोके
संपूजयत्यन्यसुरैः सहायः ॥1336॥

सुब्रह्म नामक देवराज, जिन्होने उस उत्तम रत्नपात्र को ले लिया था, वे अन्य देवताओं के साथ आज भी ब्रह्मलोक मे उसकी सब-विधि से पूजा करते हैं ।

4. त्रपुष और भल्लिक के लिए भगवान का स्वस्तिवाचन

34. इसके अनन्तर, तथागत ने उस समय, उन त्रपुष और भल्लिक बनियों के लिए यह संहर्षणा की—

पूर्वदिग्मङ्गल

दिशां स्वस्तिकरं दिव्यं मङ्गल्यं चार्थसाधकं । =280क=
अर्था वः सासतां सर्वे भवत्वाशु प्रदक्षिणा ॥1337॥

तुम्हारे लिए दिशाएं स्वस्ति कर हों, दिव्य (-भाव) मंगल—कारक एवं अर्थ—साधक हों, जिन अर्थों की चाह है (वे सिद्ध) हों, सभी शीघ्र (तुम्हारे) अत्यन्त अनुकूल हों ।

श्रीर्वोऽस्तु दक्षिणे हस्ते श्रीर्वो वामे प्रतिष्ठिता ।
श्रीर्वोऽस्तु सर्वसङ्गेषु मालेव शिरसि स्थिता ॥1338॥

तुम्हारे दाहिने हाथ मे श्री हो, तुम्हारे बाएँ (हाथ) मे श्री रहे, तुम्हारे अंगों मे सब ओर से, सिर पर लिपटी माला की भाँति श्री हो ।

धनैषिणां प्रयातानां वणिजां वै दिशो दशः ।
उत्पद्यन्तां महालाभास्ते च सन्तु सुखोदयाः ॥1339॥

दसो दिशाओं मे जाने वाले, धनकामी, (तुम) बनियों के बड़े-बड़े लाभ उपजें और वे सुखोदय हों ।

कार्येण केनचिद्येन गच्छथा पूर्विकां दिशं ।
नक्षत्राणि वः पालेन्तु ये तस्यां दिशि संस्थिता ॥1340॥

जिस किसी काज से (तुम) पूर्व की दिशा मे जाओ, उस दिशा मे रहने वाले नक्षत्र है, वे तुम्हारी पालना करे ।

कृतिका रोहिणी चैव मृगशिराद्रा पुनर्वसुः ।
पुष्यश्चैव तथाश्लेषा इत्येषां पूर्विका दिशां ॥1314॥ (-388-)
इत्येते सप्तनक्षत्रा लोकपाला यशस्विनः ।
अधिष्ठिता पूर्वभागे देवा रक्षन्तु सर्वतः ॥1342॥

कृतिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनः पुनर्वसु, पुष्य और आश्लेषा-इनकी पूर्व दिशा है । ये सातों नक्षत्र तथा पूर्वभाग के अधिष्ठाता, यशस्वी लोकपाल देवता सब प्रकार से तुम्हारी रक्षा करें ।

तेषां चाधिपती राजा धृतराष्ट्रेति विश्रुतः ।
स सर्वगन्धर्वपतिः सूर्येण सह रक्षतु ॥1343॥

उनके अधिपति राजा धृतराष्ट्र के नाम से प्रसिद्ध है, वे सब गन्धर्वो के स्वामी है, (वे) सूर्य के सहित (तुम्हारी) रक्षा करें ।

पुत्राऽपि तस्य बहव एकनामा विचक्षणाः ।
अशीतिर्दश चैकश्च इन्द्रनामा महाबलाः ।
तेऽपि व अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च ॥1344॥

उनके बहुत-से, एक-नाम के, चतुर महाबली इन्द्र, इन्द्र-संज्ञक इक्यानवे पुत्र भी हैं। वे भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें।

। पूर्वस्मिन् वै दिशो भागे अष्टौ देवकुमारिकाः ।
जयन्ती विजयन्ती च सिद्धार्था अपराजिता ।।1345।।
नन्दोत्तरा=280ख=नन्दिसेना नन्दिनी नन्दवर्धिनी ।
ता पि व अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च ।।1346।।

पूर्व दिशा के भाग मे आठ देवकन्याएँ हैं—जयन्ती, विजयन्ती सिद्धार्था, अपराजिता, नन्दोत्तरा, नन्दिसेना, नन्दिनी और नन्दवर्धिनी । वे भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें ।

पूर्वस्मिन् वै दिशो भागे चापालं नाम चेतियं ।
अ(ा) वुस्तं जिनेभि ज्ञातमर्हन्तेभि च तायिभिः ।
ते पि व अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च ।।1347।।

पूर्व दिशा के भाग मे चापला नामक चैत्य है, तायी (=धर्मात्मा) एवं अर्हन्त बुद्ध उसे जानते हैं, वहाँ रहते हैं । वे भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें ।

क्षेमाश्च वो दिशः सन्तु मा च वः पापमागमत् ।
लब्धार्थाश्च निर्वर्तध्वं सर्वदेवेभि रक्षिताः ।।1348।।

तुम्हारे लिए दिशाएँ कुशल-क्षेम करने वाली हों, तुम्हारे ऊपर पाप न आ पड़े, सब देवताओ द्वारा सुरक्षित, धन पाकर लौटो ।

दक्षिणदिग्मङ्गल

येन केनचित्कृत्येन गच्छेथा दक्षिणां दिशं ।
नक्षत्राणि वः पालेन्तु ये वै तां दिशमधिष्ठिता ।।1349।।

जिस किसी काज से (तुम) दक्षिण की दिशा मे जाओ, उस दिशा के जो अधिष्ठाता नक्षत्र हैं, वे तुम्हारी पालना करें ।

मघा च द्वौ च फाल्गुण्यौ हस्ता चित्रा च पंचमी ।
स्वातिश्चैव विशाखा च एतेषां दक्षिणा दिशाः ।।1350।।

मघा, (पूर्व तथा उत्तरा ये दो) फाल्गुनी, हस्त तथा पाँचवी चित्रा, स्वाति, और विशाखा—इनकी दक्षिण दिशा है ।

इत्येते सप्त नक्षत्रा लोकपाला यशस्विनः ।
आदिष्टा दक्षिणे भागे ते वो रक्षन्तु सर्वतः ।।1351।।

ये सातों नक्षत्र तथा दक्षिण भाग के कहे जाने वाले (जो) यशस्वी लोकपाल (-देवता) हैं, वे सब प्रकार से तुम्हारी रक्षा करें।

(-389-) तेषां चाधिपती राजा विरूढक इति स्मृतः।
सर्वकुम्भाण्डाधिपतिर्यमेन सह रक्षतु ॥1352॥

उनके अधिपति राजा विरूढक नाम से स्मरण किये जाते हैं, (वे) सब कुम्भाण्डों के अधिपति, यम के सहित, तुम्हारी रक्षा करें।

पुत्राऽपि तस्य बहव एकनामा विचक्षणाः।
अशीतिर्दश चैकश्च इन्द्रनामा महाबलाः॥
तेऽपि वा अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च ॥1353॥

उनके बहुत से, एक नाम के, चतुर, महाबली, इंद्रसंज्ञक, इक्यानवे पुत्र भी हैं। वे भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें।

दक्षिणेस्मिन् दिशो भागे अष्टौ देवकुमारिकाः।
श्रियामती =281क= यशमती यशप्राप्ता यशोधरा ॥1354॥
सु-ऽत्थिता सुप्रथमा सुप्रसिद्धा सुखावहा।
ता, पि व अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च ॥1355॥

दक्षिण दिशा के भाग में आठ देवकन्याएँ हैं—श्रीमती, यशस्वती, यशःप्राप्ता, यशोधरा, सुस्थिता, सुप्रथमा, सुप्रसिद्धा और सुखावहा। वे भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें।

दक्षिणेस्मिन् दिशो भागे पद्मनामेन चेतिकं।
नित्यं ज्वलिततेजेन दिव्यं सर्वप्रकाशितं।
ते ऽपि व अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च ॥1356॥

दक्षिण दिशा के भाग में पद्मनामक, नित्य (अपने) जलते हुए तेज से सब ओर प्रकाशित, दिव्य चैत्य है। वे भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें।

क्षेमाश्च वो दिशः सन्तु मा च वः पापमागमत्।
लब्धार्थाश्च निवर्तध्वं सर्वदेवेभि रक्षिताः ॥1357॥

तुम्हारे लिए दिशाएँ कुशल-क्षेम करने वाली हों, तुम्हारे ऊपर पाप न आ पड़े, सब देवताओं द्वारा सुरक्षित, धन पाकर लौटो।

पश्चिमदिग्मङ्गल

येन केन चित् कृत्येन गच्छेथा पश्चिमां दिशं।
नक्षत्राणि वः पालेन्तु ये तां दिशमधिष्ठिता ॥1358॥

उनके बहुत-से, एक-नाम के, चतुर महाबली इन्द्र, इन्द्र-संज्ञक इक्यानवे पुत्र भी हैं। वे भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें।

पूर्वस्मिन् वै दिशो भागे अष्टौ देवकुमारिकाः।
जयन्ती विजयन्ती च सिद्धार्था अपराजिता ॥1345॥
नन्दोत्तरा=280ख=नन्दिसेना नन्दिनी नन्दवर्धिनी।
ता पि व अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च ॥1346॥

पूर्व दिशा के भाग मे आठ देवकन्याएँ है—जयन्ती, विजयन्ती सिद्धार्था, अपराजिता, नन्दोत्तरा, नन्दिसेना, नन्दिनी और नन्दवर्धिनी। वे भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करे।

पूर्वस्मिन् वै दिशो भागे चापालं नाम चेतियं।
अ (T) वुस्तं जिनेभि ज्ञातमर्हन्तेभि च तायिभिः।
ते पि व अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च ॥1347॥

पूर्व दिशा के भाग मे चापला नामक चैत्य है, तायी (=धर्मात्मा) एवं अर्हन्त बुद्ध उसे जानते हैं, वहाँ रहते है। वे भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें।

क्षेमाश्च वो दिशः सन्तु मा च वः पापमागमत्।
लब्धार्थाश्च निर्वर्तध्वं सर्वदेवेभि रक्षिताः ॥1348॥

तुम्हारे लिए दिशाएँ कुशल-क्षेम करने वाली हों, तुम्हारे ऊपर पाप न आ पड़े, सब देवताओ द्वारा सुरक्षित, धन पाकर लौटो।

दक्षिणदिग्मङ्गल

येन केनचित्कृत्येन गच्छेथा दक्षिणां दिशं।
नक्षत्राणि व. पालेन्तु ये वै तां दिशमधिष्ठिता ॥1349॥

जिस किसी काज से (तुम) दक्षिण की दिशा में जाओ, उस दिशा के जो अधिष्ठाता नक्षत्र है, वे तुम्हारी पालना करे।

मघा च द्वौ च फाल्गुण्यौ हस्ता चित्रा च पंचमी।
स्वातिश्चैव विशाखा च एतेषां दक्षिणा दिशाः ॥1350॥

मघा, (पूर्व तथा उत्तरा ये दो) फालगुनी, हस्त तथा पाँचवी चित्रा, स्वाति, और विशाखा—इनकी दक्षिण दिशा है।

इत्येते सप्त नक्षत्रा लोकपाला यशस्विनः।
आदिष्टा दक्षिणे भागे ते वो रक्षन्तु सर्वतः ॥1351॥

ये सातों नक्षत्र तथा दक्षिण भाग के कहे जाने वाले (जो) यशस्वी लोक-पाल (–देवता) हैं, वे-सब प्रकार से तुम्हारी रक्षा करें।

(–389–) तेषां चाधिपती राजा विरुढक इति स्मृतः।
सर्वकुम्भाण्डाधिपतिर्यमेन सह रक्षतु ॥1352॥

उनके अधिपति राजा विरुढक नाम से स्मरण किये जाते हैं (वे) सब कुम्भाण्डों के अधिपति, यम के सहित, तुम्हारी रक्षा करें।

पुत्राऽपि तस्य बहव एकनामा विचक्षणाः।
अशीतिर्दश चैकञ्च इन्द्रनामा महाबलाः॥
तेऽपि वा अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च ॥1353॥

उनके बहुत से, एक नाम के, चतुर, महाबली, इन्द्रसंज्ञक, इक्यानवे पुत्र भी हैं। वे भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें।

दक्षिणेस्मिन् दिशो भागे अष्टौ देवकुमारिकाः।
श्रियामती = 281क = यशमती यशप्राप्ता यशोधरा ॥1354॥
सु-ऽस्थिता सुप्रथमा सुप्रसिद्धा सुखावहा।
ता पि व अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च ॥1355॥

दक्षिण दिशा के भाग मे आठ देवकन्याएँ है—श्रीमती, यशस्वती, यशः-प्राप्ता, यशोधरा, सूस्थिता, सुप्रथमा, सुप्रसिद्धा और सुखावहा। वे भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें।

दक्षिणेस्मिन् दिशो भागे पद्मनामेन चेतिकं।
नित्यं ज्वलिततेजेन दिव्यं सर्वप्रकाशितं।
ते ऽपि व अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च ॥1356॥

दक्षिण दिशा के भाग मे पद्मनामक, नित्य (अपने) जलते हुए तेज से सब ओर प्रकाशित, दिव्य चैत्य है। वे भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें।

क्षेमाश्च वो दिशः सन्तु मा च वः पापमागमत्।
लब्धार्थाश्च निवर्तध्वं सर्वदेवेभि रक्षिताः ॥1357॥

तुम्हारे लिए दिशाएँ कुशल-क्षेम करने वाली हो, तुम्हारे ऊपर पाप न आ पड़े, सब देवताओं द्वारा सुरक्षित, धन पाकर लौटो।

पश्चिमदिग्मङ्गल

येन केन चित् कृत्येन गच्छेथा पश्चिमां दिशं।
नक्षत्राणि वः पालेन्तु ये तां दिशमधिष्ठिता ॥1358॥

जिस किसी काज से (तुम) पश्चिम की दिशा में जाओ, उस दिशा के जो अधिष्ठाता नक्षत्र हैं, वे तुम्हारी पालना करें।

अनुराधा च ज्येष्ठा च मूला च दृढवीर्यता।
द्वावाषाढे अभिजिच्च श्रवणो भवति सप्तमः ॥1359॥
इत्येते सप्त नक्षत्रा लोकपाला यशस्विनः।
आदिष्टा पश्चिमे भागे ते वो रक्षन्तु सर्वदा ॥1360॥

अनुराधा, ज्येष्ठा, दृढोद्योगी मूल, दो आषाढा अर्थात् पूर्वाषाढा एवं उत्तराषाढा, अभिजित् तथा सातवा (इनमें) श्रवण है। ये सातों नक्षत्र तथा पश्चिम भाग के कहे जाने वाले, (जो) यशस्वी, लोकपाल (देवता) हैं, वे-सब सर्वदा तुम्हारी रक्षा करें।

तेषां चाधिपती राजा विरूपाक्षेति तं विदुः।
स सर्वनागाधिपतिर्वरुणेन सह रक्षतु ॥1361॥

उनके अधिपति (जो) राजा है, उन्हे विरूपाक्ष के नाम से (लोग) जानते हैं। सब नागो के अधिपति वे वरुण के साथ (तुम्हारी) रक्षा करें।

(-390-)पुत्राऽपि तस्य बहव एकनामा महाबलाः।
अशीतिर्दश चैकश्च इन्द्रनामा महाबलाः।
तेऽपि व अधिपालेन्तु आरोग्येन = 281ख = शिवेन च॥1362॥

उनके बहुत से, एक नाम के, चतुर, महावली, इन्द्रसंज्ञक, इक्यानबे पुत्र भी हैं। वे भी आरोग्य से एवं कल्याण मे तुम्हारी परिपालना करे।

पश्चिमेस्मिन् दिशो भागे अष्टौ देवकुमारिकाः।
अलम्बुशा मिश्रकेशी पुण्डरीका तथारुणा ॥1363॥
एकादशा नवमिका शीता कृष्णा च द्रौपदी।
ताऽपि व अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च ॥1364॥

पश्चिम दिशा के भाग मे आठ देवकन्याएँ है—अलम्बुषा, मिश्रकेशी, पुंडरीका, अरुणा, एकादशी, नवमिका, सीता तथा आकर्षण वाली द्रौपदी। वे भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें।

पश्चिमेस्मिन् दिशो भागे अष्टंगो[24] नाम पर्वतः।
प्रतिष्ठा चन्द्रसूर्याणां अष्टमर्थं[24] ददातु वः।
सोऽपि व अधिपालेतु आरोग्येन शिवेन च ॥1365॥

24. अष्टग=अस्तंग। अष्ट = अस्त। तुलनीय भोट, नुब् (= अस्त, अपर, पश्चिम)। श्लेष से अष्टंग (= अष्टं गच्छति गमयति वा इति, आठ को पहुँचने वाला या पहुँचाने वाला)। अष्ट (= संख्या 8)।

प्रथमार्थ : पश्चिम दिशा के भाग में नामी अस्ताचल है, जहाँ चन्द्र और सूर्य अस्त होते हैं, (वह) अस्त (ाचल) तुम्हे अर्थ प्रदान करे किंच वह आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें ।

द्वितीयार्थ : पश्चिम दिशा के भाग मे अष्टंग (=आठ तक पहुँचाने वाला) नामी पर्वत है, वह चंद्र तथा सूर्य का निवास-स्थान है, (वह) तुम्हे अष्ट-अर्थ (=आठ प्रकार के धन) दे । किंच वह आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें ।

क्षेमाश्च वो ।दिशः सन्तु मा च वः पापमागमत् ।
लब्धार्थाश्च निवर्तध्वं सर्वदेवेभि रक्षिताः ॥1366॥

तुम्हारे लिए दिशाएँ कुशल-क्षेम करने वाली हो, तुम्हारे ऊपर पाप न आ पड़े, सब देवताओं द्वारा सुरक्षित, धन पा कर लौटो ।

उत्तरदिग्मङ्गल

येन केनचित् कृत्येन गच्छेथा उत्तरां दिशं ।
नक्षत्राणि वः पालेन्तु ये तां दिशमधिष्ठिता ॥1367॥

जिस किसी काज से (तुम) उत्तर दिशा में जाओ, उस दिशा के जो अधिष्ठाता नक्षत्र है, वे तुम्हारी पालना करें ।

धनिष्ठा शतभिषा चैव द्व च पूर्वोत्तराऽपरे ।
रेवती अश्विनी चैव भरणी भवति सप्तमी ॥1368॥
इत्यते सप्त नक्षत्रा लोकपाला यशस्विनः ।
आदिष्टा उत्तरे भागे ते वो रक्षन्तु सर्वदा ॥1369॥

धनिष्ठा, शतभिषा, दो और पूर्व—भाद्रपदा, उत्तर—भाद्रपदा, रेवती, अश्विनी तथा सातवीं इनमें भरणी है । ये सातों नक्षत्र तथा उत्तर भाग मे कहे जाने वाले, (जो) यशस्वी लोकपाल (—देवता) है, वे-सब सर्वदा तुम्हारी रक्षा करें ।

तेषां चाधिपती राजा कुवेरो नरवाहनः ।
सर्वयक्षाणामधिपति माणिभद्रेण सह रक्षतु ॥1370॥

उनके अधिपति राजा नरवाहन (=पालकी पर चढ़ने वाले) कुवेर है । (वे) सब यक्षों के अधिपति मणिभद्र के सहित (तुम्हारी) रक्षा करे ।

पुत्रा पि तस्य बहव एकनामा विचक्षणाः ।
अशीतिर्दश चैकश्च इन्द्रनामा महाबला ।
(–391–) तेऽपि व अधिपालेन्तु आरोग्येन = 282क=शिवेन च ॥1371॥

उनके बहुत से, एक नाम के, चतुर, महाबली, इन्द्रसंज्ञक, इक्यानवे पुत्र भी है । वे भी आरोग्य से एव कल्याण से तुम्हारी परिपालना करे ।

उत्तरेस्मिन् दिशो भागे अष्टौ देवकुमारिकाः ।
इलादेवी सुरादेवी पृथ्वी पद्मावती तथा ॥1372॥
उपस्थिता महाराजा आशा श्रद्धा हिरी शिरी ।
ताऽपि व अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च ॥1373॥

उत्तर दिशा के भाग मे आठ देवकन्याएँ है—इलादेवी, सुरादेवी, पृथ्वी, पद्मावती, आशा, श्रद्धा, ह्री और श्री (जो) महाराज (कुबेर) की सेवा करती है । वे भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करें ।

उत्तरेस्मिन् दिशो भागे पर्वतो गन्धमादनः ।
आवासो यक्षभूतानां चित्तकूटः सुदर्शनः ।
तेऽपि व अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च ॥1374॥

उत्तर दिशा के भाग मे विचित्र-शिखर का, देखने में सुन्दर, गन्धमादन पर्वत है, जहाँ यक्ष और भूत निवास करते है । वे-सब भी आरोग्य से एवं कल्याण से तुम्हारी परिपालना करे ।

क्षेमाश्च वो दिशः सन्तु मा च वः पापमागमत् ।
लब्धार्थाश्च निवर्तध्वं सर्वदेवेभि रक्षिताः ॥1375॥

तुम्हारे लिए दिशाएँ कुशल-क्षेम करने वाली हो, तुम्हारे ऊपर पाप न आ पड़े, सब देवताओ द्वारा सुरक्षित, धन पाकर लौटो ।

सर्वतोमङ्गल

अष्टाविशति नक्षत्रा सप्त-सप्त चतुर्दिशं ।
द्वात्रिंशद् देवकन्याश्च अष्टावष्टौ चतुर्दिशं ॥1376॥

चारों दिशाओ मे (एक-एक ओर) सात-सात (नक्षत्र मिला कर) अट्ठाईस नक्षत्र, चारो दिशाओं में (एक-एक ओर) आठ-आठ (देवकन्याएँ मिला कर) बत्तीस देवकन्याएँ सब ओर तुम्हारी सब प्रकार की रक्षा करें ।

(छंद वैतालीय)

अष्टौ श्रमणाऽष्ट[25] ब्राह्मणा
अष्टौ[25] ज (ा) नपदेषु नैगमाः।
अष्टौ देवाः स-इन्द्रकास्
ते वो परिरक्षन्तु[26] सर्वतः ॥1377॥

आठ श्रमण, आठ ब्राह्मण, जनपद-मंडलों के नैगम (=नगर मडलाधिकारी) इन्द्रसहित आठ देवता वे-सब सब ओर से तुम्हारी सब प्रकार की रक्षा करें।

स्वस्ति वो गच्छतां भोतु स्वस्ति भोतु निवर्ततां।
स्वस्ति पश्यत वै ज्ञातिं स्वस्ति पश्यन्तु ज्ञातयः ॥1378॥

जाते समय तुम्हारे लिए स्वस्ति हो, लौटते समय तुम्हारे लिए स्वस्ति हो, (तुम्हें) बिरादरी स्वस्ति से देखने को मिले, बिरादरी को तुम स्वस्ति से देखने को मिलो।

सेन्द्रा यक्षा महाराजा
अर्हन्त-मु-अनुकम्पिताः।
सर्वत्र स्वस्ति गच्छध्वं
प्राप्स्यध्वममृतं शिवं ॥1379॥

इन्द्र-सहित (देवताओं-द्वारा), महाराज-सहित यक्षो-द्वारा, अर्हन्तों-द्वारा अनुगृहीत (तुम-सब) स्वस्ति के साथ जाओ, अमृत और कल्याण प्राप्त करो।

तथागत का आशीर्वाद और व्याकरण

(छंद उपजाति)

=282ख=संरक्षिता ब्राह्मण वासवेन
विमुक्तचित्तैश्च अनाश्रवैश्च।
नागैश्च यक्षैश्च सदानुकम्पिताः
पालेथ आयुः शरदां शतं समं ॥1380॥

25...25. मूल, (चाष्टौ)। अष्टौ। भोट में दो स्थानों पर बृयंद (अष्ट, अष्टौ) है।

26. मूल, रक्षन्तु। इस पद्य मे छन्द वैतालीय है। तीसरे पाद में छन्दःस्पष्टता है। चौथा पाद रक्षन्तु के स्थान मे परिरक्षन्तु पढने से ठीक हो जाता है। भोट, कुन् तु स्रुङ् स्। यहां कुन्तु (=परि, सर्वतः) परि का अनुवाद जान पड़ता है।

ब्रह्मा के द्वारा, इन्द्र के द्वारा, विमुक्ति-मन के आस्रवहीन (अर्हन्तों) द्वारा, नागों के द्वारा, यक्षों के द्वारा, सर्वदा अनुगृहीत होकर, सौ शरदों के बराबर, आयु का उपभोग करो ।

प्रदक्षिणां दक्षिण लोकनाथः
तेषां दिदेश[27] ऽप्रतिमो विनायकः ।
अनेन यूयं कुशलेन कर्मणा
मधुसंभवा नाम जिना भविष्यथ ॥1381॥

अनुपम विनायक (= सर्वोत्तम नेता) लोकनाथ ने दक्षिणा की अर्थात् दान देने की प्रदक्षिणा अर्थात् श्रेष्ठता का उपदेश दिया (और भविष्यवाणी की कि) तुम पुण्य कर्म से मधुसंभव नामक बुद्ध होओगे ।

(-392-) प्रथमा-द्-इदं लोकविनायकस्य
असंगतो व्याकरणं जिनस्य ।
पश्चादनन्ता बहुबोधिसत्वा
ये व्याकृता बोधयि नो विवर्त्याः ॥1382॥

लोक के उत्तम नेता, आसक्तिरहित, बुद्ध का यह प्रथम व्याकरण (=भविष्यत्कथन) था । पश्चात् बोधि के लिए अनन्त, अवैवर्तिक (=पीछे न लौटने वाले) बोधिसत्वों का (तथागत ने) व्याकरण किया ।

श्रुत्वा इमं व्याकरणं जिनस्य, उदग्रचित्ता परमाय प्रीत्या ।
तौ भ्रातरौ सार्धं सहायकैस्तै, बुद्धं च धर्मं शरणं प्रपन्नाः [28] ॥1383॥[29]

बुद्ध की यह भविष्यवाणी सुनकर, वे दोनो भाई, मन में आनन्दित हो, परम-प्रीति के साथ अपने उन सहायकों सहित, बुद्ध और धर्म की शरण गए ।

॥ इति श्री ललितविस्तरे त्रपुष-भल्लिकपरिवर्तो नाम चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥

●

27. मूल दिशैष । अत्यत संदिग्ध पाठ है । भोट, गसुङ् (= दिदेश) ।
28. मूल, शरणं प्रसन्नाः । भोट, स्क्यब्स् सु दोङ् (=शरणं प्रपन्नाः ।
29. इस परिवर्त की गाथाओं की छाया यों है ।

रथचरण (= रथचक्र) निचितचरण दशशतारजलजकमलदलतेजः सुरमुकुटघृष्टचरण वन्दे चरणौ श्रीधनस्य ॥1229॥ अभिवन्द्य सुगतचरणौ प्रमुदितचित्तस्तदा स सुरपुत्रः । इदमवोचद् विमतिहरणं प्रशान्तकरणं नरमरुताम् ॥1230॥ शाक्यकुलनन्दिजनन, अन्तकर रागदोष(= द्वेष)मोहा-

नाम्। प्रम्लानान्तकरण विनय कांक्षां (=विमर्ति, संदेहं) नरमरुताम् ॥1231॥ किं कारणं दशवला बुद्ध्वा सर्वज्ञतामपरिमाणाम्। सप्ताहं महीमण्डे जिना न भिन्दन्ति पर्यङ्कम् ॥1232॥ किं नु खलु पश्यन् सप्ताहमनिमिषेण नरसिंह प्रेक्षसे विशुद्धचक्षुर् विकसितशतपत्रतुल्याक्ष ॥1233॥ किं नु भवत एष प्रणिधिर् उताहो सर्वेषां वादिसिंहानाम्। येन द्रुमराजमूले पर्यङ्कं नाभिनत् सप्ताहम् ॥1234॥ साधु समशुद्धदन्त सुगन्धिगन्धमुखेन (यथारुतं तु० मुखं) दशबलस्य प्रवद वचनमवितथं कुरुष्व प्रीतिं नरमरुताम् ॥1235॥

तमुवाच चन्द्रवदनः शृणुष्व मे भाषमाणस्यामरपुत्र। अस्य प्रश्नस्याहं किंचिन्मात्रं प्रवक्ष्यामि ॥1236॥ राजा यद्वद् यस्मिन्नभिषिक्तो भवति ज्ञातिसंघेन सप्ताहं तं प्रदेशं न जहाति हि धर्मता राज्ञाम् ॥1237॥ एवमेव दशबला अप्यभिषिक्ता भवन्ति यदा प्रणिधिपूर्णाः सप्ताहं धरणीमण्डे जिना न भिन्दन्ति पर्यङ्कम् ॥1238॥ शूरो यथारिसंघान् निरीक्षते निर्जितान् निरवशेषान्। बुद्धा अपि बोधिमण्डे क्लेशान् निहतान् निरीक्षन्ते ॥1239॥ इह ते कामक्रोधा मोहप्रभवा जगत्यरिकाशाः। सहोढा इव चौरा विनाशिता ये निरवशेषाः ॥1240॥ इह मे हता नवविधा माना इह ममताः पुनरनिकेताः। सर्वास्रवाः प्रहीणा ज्ञानं चाग्र्यं ममोत्पन्नम् ॥1241॥ इह सा ऽकार्यकर्त्री भवतृष्णाचारिणी तथाविद्या। सानुशयमूलजाला पटुना ज्ञानाग्निना दग्धा ॥1242॥ इह सा-अहं ममेति च-कलिपाशा दूरानुगानीचमूला नीवरणकठिनग्रन्थिश् छिन्ना मे ज्ञानशस्त्रेण ॥1243॥ इह ते चिरं समायाता उल्लापनका विनाशपर्यन्ताः। स्कन्धाः सोपादाना ज्ञानेन मया परिज्ञाताः ॥1244॥ इह ते द्वयसंमोहा मिथ्याग्राहा महानरकनिष्ठाः। मयोद्धृता अशेषा भूयश्च न जातु जनिष्यन्ते ॥1245॥ इह नीवरणवनाग्न्यो दग्धा मे कुशलमूलतेजसा। चत्वारश्च विपर्यासा निर्दग्धा मया निरवशेषाः ॥1246॥ इह ता वितर्कमालाः संज्ञासूत्रेषु ग्रथिता निपन्थिन्यः (=परिन्थिन्यः) विनिवर्तिता अशेषा बोध्यङ्गविचित्रमालाभिः ॥1247॥ दुर्गाणि पञ्चषष्टिर् मोहास् त्रिंशच्चमलिनाः। चत्वारिंशदघानि छिन्नानि मेऽस्मिन् धरणीमण्डे ॥1248॥ षोडशासंवृतानि, अष्टादश धातवश्च महीमण्डे। कृच्छ्राणि पञ्चविंशतिश् छिन्नानि मयेह संस्थेन ॥1249॥ विंशती रजस्तटिन्यो ऽष्टाविंशतिर्जगतो वित्रासाः। इह मे समतिक्रान्ता वीर्यबलापराक्रमं कृत्वा ॥1250॥ तथा बुद्धनर्दितानि पञ्चशतान्यस्मिन् मया समनुबुद्धाः। परिपूर्णशतसहस्रं धर्माणां मया समनुबुद्धम् ॥1251॥ इह मेऽनुशया अशेषा

अष्टानवतिः समूलपर्यन्ताः । पर्युत्थानकिसलया निर्दग्धा ज्ञानतेजसा ॥1252॥ काङ्क्षाविमतिसमुदया दृष्टिजलयन्त्रिताऽशुभमूला तृष्णानदी त्रिवेगा प्रशोषिता ज्ञानसूर्येण ॥1253॥ कुहनालपनाप्रहाणं (०प्रहाणेन वा) मायामात्सर्यदोषेर्ष्याद्यम् । इह तत्क्लेशारण्यं छिन्नं ज्ञानाग्निना दग्धम् ॥1254॥ इह तानि विवादमूलानि, आकर्षणानि दुर्गतिषु विषमासु । आर्यापवादवचनानि ज्ञानवरविरेचनैर्वान्तानि ॥1255॥ इह रुदितक्रन्दितानां शोचितपरिदेवितानां पर्यन्ताः । प्राप्तो मया ह्यशेषो ज्ञानगुणसमाधिमागम्य ॥1256॥ ओघाश्च योगा ग्रन्थाः शोकाः शल्यानि मदाः प्रमादाश्च । विजिता ममेह सर्वे सत्यनयसमाधिमधिगम्य ॥1257॥ इह मया क्लेशगहना संकल्पविरूढमूला भववृक्षाः । स्मृतिपरशुनाऽशेषाश् छिन्ना ज्ञानाग्निना दग्धाः ॥1258॥ इह स मया ह्यतिबलोऽस्मिन् मारस्त्रिलोकवशवर्ती ज्ञानासिना शठात्मा हतो यथेन्द्रेण दैत्येन्द्रः ॥1259॥ इह जालिन्यशेषा षट्त्रिंशच्चरिणी (=18 धातु 12 आयतन 6 इन्द्रिय =36 एतेषु चारिणी) धरणीमण्डे । प्रज्ञासिना बलवता छित्त्वा ज्ञानाग्निना दग्धा ॥1260॥ इह ते मूलक्लेशाः सानुशया दुःखशोकसंभूताः । मयोद्धृता अशेषाः प्रज्ञाबललाङ्गलमुखेन ॥1261॥ इह मे प्रज्ञाचक्षुर् विशोधित प्रकृतिशुद्धसत्त्वानाम् । ज्ञानाञ्जनेन महता मोहपटलविस्तरं भिन्नम् ॥1262॥ इह धातुभूताश्चत्वारो मदमकरविलोडिता विपुलतृष्णाः । स्मृतिशमथभास्करांशौ विशोषिता मे भवसमुद्राः ॥1263॥ इह विषयकाष्ठनिचयो वितर्कश्यामो महामदनवह्निः । निर्वापितोऽतिदीप्तो विमोक्षरसशीततोयेन ॥1264॥ इह मे ऽनुशयपटलान्यास्वाददतडिद्वितर्कनिर्घोषाणि । वीर्यबलपवनवेगैर्विधूय विलयं समुपनीतानि ॥1265॥ इह मे हतो ह्यशेषश् चित्तचारी रिपुर् भवानुगतवैरी । प्रज्ञासिना बलवता स्मृतिविमलसमाधिमधिगम्य ॥1266॥ इह सा ध्वजाग्रधारिणी हस्त्यश्वरथोच्छ्रिता विकृतरूपा । नमुचिबलवीर्यसेना मैत्रीमागम्य विध्वस्ता ॥1267॥ इह पञ्चगुणसमृद्धाः षडिन्द्रियहयाः सदा मदोन्मत्ताः । बद्धा मया ह्यशेषाः समाधिमशुभं समागम्य ॥1268॥ इहानुनयप्रतिघयोः कलहविवादयोः प्रहाण-पर्यन्तः । प्राप्तो मया ह्यशेषोऽप्रणिहितसमाधिमागम्य ।1269। इह ममायितानि च सर्वाणि, आध्यात्मिकानि बाह्यानि परिक्षीणानि कल्पितविकल्पितानि च शून्यमिति समाधिमागम्य ॥1270॥ इह लालयितानि सर्वाणि मर्त्यानि दिव्यानि भवाग्रपर्यन्तानि । त्यक्तानि मया ह्यशेषाणि आगम्य समाधिमनिमित्तम् ॥1271॥ सर्वं भवबन्धनानि च मुक्तानि मयेह तानि सर्वाणि । प्रज्ञाबलेन निखिलं त्रिविधमिह विमोक्षमागम्य ॥1272॥

इह हेतुदर्शनाद् वै जिता मया हेतुकास्त्रयः । संज्ञे नित्यानित्ये संज्ञाः सुखदुःखे चात्मानात्मानौ च ॥1273॥ इह मे कर्मविधानात् समुदयादुदिता षडायतनमूलात् । छिन्ना द्रुमेन्द्रमूले सर्वाऽनित्यप्रहारेण ॥1274॥ इह मोहतमः कलुषं दृष्टिकृतं दर्परोषसंकीर्णम् । भित्त्वा चिरान्धकारं प्रभासितं ज्ञानसूर्येण ॥1275॥ इह रागमदनमकर तृष्णोर्मिजल कुदृष्टिसंग्राहम् । संसारसागरमहं संतीर्णो वीर्यबलनावा ॥1276॥ इह तन्मयानुबुद्ध यद्-बुद्धो रागद्वेषमोहांश्च । प्रदहति चित्तवितर्कान् दवाग्निपतितानिव पतङ्गान् ॥1277॥ इहाहं चिरप्रयातो ह्यपरिमितकल्पकोटिनयुतानि । संसारपथेन क्लिष्टो विश्रान्तो नष्टसंतापः ॥1278॥ इह तन्मयानुबुद्धं सर्वपरप्रवादिभिर्यदप्राप्तम् । अमृतं लोकहितार्थं जरामरणशोकदुःखान्तम् ॥1279॥ यत्र स्कन्धैर्दुःखम् आयतनैस्तृष्णासंभवं दुःखम् । भूयो न चोद्भविष्यत्यभयपुरमिहाभ्युपगतोऽस्मि ॥1280॥ इह ते मयानुबुद्धा रिपवोऽध्यात्मिका महाक्रूरात्मना । बद्धाश्च संप्रदग्धाः कृताश्च मे पुनर्-भवानिकेताः ॥1281॥ इह तन्मयानुबुद्धं यस्यार्थे कल्पकोटिनयुतानि त्यक्तानि समांसनयनानि रत्नानि बहून्यमृतहेतोः ॥1282॥ इह तन्मयानुबुद्धं यद् बुद्धं प्राक्तनैस्तैर्जिनैरपरिमाणैः । यस्य (= येषा) मधुराभिरम्यः शब्दो लोकेषु विख्यातः ॥1283॥ इह तन्मयानुबुद्धं प्रतीत्यसमुदागत जगच्छून्यम् । चित्तैकक्षणेऽनुयात मरीचिगन्धर्वपुरतुल्यम् ॥1284॥ इह मे तत् खलु शुद्धं वरनयनं येन लोकधातून् सर्वान् । पश्यामि पाणिमध्ये न्यस्तानि यथा द्रुमफलानि ॥1285॥ पूर्वनिवासस्मरण तिस्रो विद्या मयेह संप्राप्ताः । अपरिमितकल्पनयुतानि स्मरामि स्वप्नादिव विबुद्धः ॥1286॥ याभिरादीप्ताः सुरनरा विपरीतसंज्ञाभि विपर्यस्ताः । तास्वपि च तथाऽवितथ इह मया पीतो ह्यमृतमण्डः ॥1287॥ यस्यार्थाय दशबला मैत्री भावयन्ति सर्वसत्त्वेषु । मैत्रीबलेन जित्वा पीतो मेऽस्मिन्नमृतमण्डः ॥1288॥ यस्यार्थाय दशबलाः करुणा भावयन्ति सर्वसत्त्वेषु । करुणाबलेन जित्वा पीतो मेऽस्मिन्नमृतमण्डः ॥1289॥ यस्यार्थाय दशबला मुदितां भावयन्ति सर्वसत्त्वेषु । मुदिताबलेन जित्वा पीतो मेऽस्मिन्नमृतमण्डः ॥1290॥ यस्यार्थाय दशबला उपेक्षा भावयन्ति कल्पनयुतानि । तमुपेक्षाबलैर्जित्वा पीतो मेऽस्मिन्नमृतमण्डः ॥1291॥ यत्पीतश्च दशबलैर्गङ्गानदीवालुकाबहुतरैः । प्राग्जिनसिंहैः पूर्वम् इह मे पीतो ह्यमृतमण्डः ॥1292॥ या भाषिता च वाग् मे मारस्येहागतस्य ससैन्यस्य । भेत्स्यामि न पर्यङ्कम् अप्राप्य जरामरणपारम् ॥1293॥ भिन्ना मया ह्यविद्या दीप्तेन ज्ञानकठिनवज्रेण प्राप्तं च दशबलत्वं

तस्मात्प्रभिनद्मि पर्यङ्कम् ॥1294॥ प्राप्तं मयार्हत्त्वं क्षीणा मे आस्रवा निरवशेषाः। भग्ना च नमुचिमेना भिनद्मि तस्माद्धि पर्यङ्कम् ॥1295॥ नीवरणकपाटानि च पंच मयेह प्रदारितानि सर्वाणि। तृष्णालता विच्छिन्नाऽहं तदिह भिनद्मि पर्यङ्कम् ॥1296॥ अथ स मनुष्यचन्द्रः सविलम्बितमासानात् समुत्थाय। भद्रासने न्यषीदन्महाभिषेकं प्रतीच्छंश्च ॥1297॥ रत्नघटसहस्रैरपि नानागन्धोदकैश्च सुरसंघाः। स्नपयन्ति लोकबन्धुं दशबलगुणपारमिता प्राप्तम् ॥1298॥ वादित्रसहस्रैरपि समन्ततो देवकोटिनयुतानि। अतुलां कुर्वन्ति पूजाम् अप्सरोनयुतैः सह समग्राः ॥1299॥ एवं खलु देवसुताः सहेतुसप्रत्ययं सनिदानम्। सप्ताहं धरणीमण्डे जिना न भिन्दन्ति पर्यङ्कम् ॥ इति ॥1300॥

दुर्मना असि कथं तात प्रोच्यतां यद्य् असौ नरः (कश्चिन्नरः)। रागपाशेन तं बुद्ध्वा कुञ्जरमिवानयामहे ॥1301॥ आनीय च तं शीघ्रं करिष्यामो वशे तव। दौर्मनस्यमुपायासं विप्रजहीहीदृशम् ॥1302॥ अर्हन् सुगतो लोके न रागस्य वशं व्रजेत्। विषयं मे ह्यतिक्रान्तस्तस्माच्छोचाम्यहं भृशम् ॥1303॥ सत्यं वदसि नस्तात न रागेण स नीयते। विषयं मे ह्यतिक्रान्तस् तस्माच्छोचाम्यहं भृशम् ॥1304॥ वीक्षेत यद्यसौ (=यदि कश्चित्) रूपं यदस्माभिर्विनिर्मितम्। गौतमस्य विनाशार्थं ततोऽस्य हृदयं स्फुटेत् ॥1305॥ नाहं पश्यामि तं लोके पुरुषं सचराचरे। बुद्धस्य यो ह्यधिष्ठानं शक्नुयात् कर्तुमन्यथा ॥1306॥ शीघ्रं गत्वा निवेदयात्ययं स्वकृतं मुनेः। सर्वं पौराणिकं कार्यं करिष्यति यथामतम् ॥1307॥ गिरिं नखैर्विलिखेत लोहं दन्तैर् विखादेत। शिरसा बिभित्सेत गिरिम् अगाधे गाजमिच्छेत ॥1308॥

सुखं विवेकतुष्टस्य श्रुतधर्मस्य पश्यतः। अव्याबध्यं सुखं लोके प्राणिभूतेषु संयतस्य ॥1309॥ सुखा विरागता लोके पापानां समतिक्रमः। अस्मिन् मानुष्यविषय एतद् वै परमं सुखम् ॥1310॥ अयं लोकः संतापजातः शब्दस्पर्शरसरूपगन्धैः। भयभीतो भय भूयो मार्गति भवतृष्णया ॥1311॥

मैषु मुञ्चध्वं भाजनेषु धारयतेमानि चैत्यसंगतान्येतानि। भविता जिनः शाक्यमुनिरिति नाम्ना तस्मा एतानि पात्राण्युपनामयेत ॥1312॥ अयं स कालः समयश्च मार्षा उपनामयितुं शाक्यमुनये भाजनानि। संगीतितूर्यस्वरनादितेन दास्यामः पात्राणि विधाय पूजाम् ॥1313॥ स भाजनं धर्ममयं ह्यभेद्यम् इमानि च शैलमयानि भेद्यानि भाजनानि। प्रतिग्रहीतुं क्षमते न

चान्यः प्रतिग्रहार्थाय व्रजाम हन्त ।।1314।। उपनामयस्व सुगताय भाजनं त्वं भविष्यसि भाजनमग्रयाने । अस्मद्विधेभ्यो हि प्रदाय भाजनं स्मृतिर्मतिश्चैव न जातु हीयते ।।1315।। यो भाजनं ददाति तथागताय न तस्य जातु स्मृतिः प्रज्ञा हीयते । अतिनाम्य कालं च सुखं सुखेन यावत्पदं बुध्यति शीतीभावम् ।।1316।। ददासि यत्वं परिशुद्धभाजनं विशुद्धचित्ताय तथागताय ।भविष्यसि लघुशुद्धचित्तः प्रशसितो देवमनुष्यलोके ।।1317।। अच्छिद्रशीलाय तथागताय, अच्छिद्रवृत्तायाच्छिद्रभाजनम् । अच्छिद्रचित्तः प्रददासि श्रद्धयाऽच्छिद्रा ते भविष्यति पुण्यदक्षिणा ।।1318।। दत्तानि पात्राणि पुरा भवेषु मया फल पूरितानि प्रियाणि च कृत्वा । तेनेमानि पात्राणि चत्वारि सुसस्थितानि ददति देवाश्चत्वारो महद्र्धयः ।।1319।।

स सप्तरात्रं वरबोधिवृक्षं संप्रेक्ष्य धीरः परमार्थदर्शी । षड्भिः प्रकारैः प्रविकम्प्य चोर्वीम् अभ्युत्थितः सिंहगतिर्नृसिंहः ।।1320।। समन्त-नागेन्द्र-विलम्बगामी क्रमेण तारायणमूलमेत्य । उपाविशन्मेरुवदप्रकम्प्यो ध्यान समाधि च मुनिः प्रदध्यौ ।।1321।। तस्मिंश्च काले त्रपुषश्च भल्लिको भातृद्वयं वणिग्गणेन सार्धम् । शकटानि तेषा च धनेन पूर्णानि संपुष्पिते साल-वने प्रविष्टानि ।।1322।। महर्षितेजसा चाक्षमात्राणि चक्राणि भूमौ विविशुः क्षणेन । तां तादृशो प्रेक्ष्य च तदवस्थां महद्भयं वणिग्गणस्य जातम् ।।1323।। ते खड्गहस्ताः शरशक्तिपाणयो वने मृगमिवामृगयन् क एषः । व्यैक्षन्त ते शारदचन्द्रवक्त्रं जिनं सहस्रांशुमिवाभ्रमुक्तम् ।।1324।। प्रहीण-कोपा अपनीतदर्पा प्रणम्य मूर्ध्ना विममृशुः क एषः । नभस्तलाद् देवता वाचं भाषते बुद्धो ह्ययं लोक हितार्थकारी ।।1325।। रात्रिं दिवं सप्त न चान्नपानमनेन भुक्तं करुणात्मकेन । यदिच्छतात्मन. क्लेशशान्ति भोजयतेनं भावितकायचित्तम् ।।1326।। शब्दं ते तं मधुरं निशम्य वन्दित्वा कृत्वा च जिनं प्रदक्षिणम् । प्रीतास्ततस्ते सहितः सहायैर्जिनस्य पिण्डाय मति प्रचक्रुः ।।1327।।

युष्माकं प्रणिधिः पूर्वं बोधिप्राप्तस्तथागतः । अस्माकं भोजनं भुक्त्वा धर्मचक्रं प्रवतयेत् ।।1328।। स चैष प्रणिधिः पूर्णो बोधिप्राप्तस्तथागतः । आहारमुपनामयेत भुक्त्वा चक्रं प्रवर्तयेत् ।।1329।। सुमङ्गलं सुनक्षत्रं गवां वः सर्पिदोहनम् । पुण्यकर्मणस्तस्यैषोऽनुभावो महर्षेः ।।1330।। एवं संचोद्य वणिजः शिखण्डी भवनं गतः । उदग्रमनसः सर्वे बभुवुस्त्रपुषाह्वयाः ।।1331।।

क्षीरं यदासीच्च हि गोसहस्रस्याशेषतस्तत् समुदानीय । अग्रंच

तस्मात् परिगृह्ययोजोऽस्मात्सुस्ते भोजन गौरवेण ।।1332।। शतसहस्रैकपलस्य मूल्यं या रत्नपात्र्यभूच्चन्द्रनामिका । चौक्षां सुधौता विमलां च कृत्वा समतीर्थिकाम् अपूपुरन् भोजनेन ।।1333।। मधु गृहीत्वा तथा रत्नपात्री तागायणीमूलमुपेत्य शास्तुः । प्रतिगृहाण भक्तमनुगृहाण चास्मान् इदं प्रणीतं परिभुङ्क्ष्व भोज्यम् ।।1334।। अनुकम्पनार्थायोभयोश्च भ्रात्रो' पूर्वाशयं ज्ञात्वा च बोधिप्रस्थितयोः । प्रतिगृह्य पर्यभुक्त शास्ता भुक्त्वाक्षैप्सीत् पात्री नभस्तले ।।1335।। सुब्रह्मनामा च हि देवराजो जग्राह यस्ता वररत्नपात्रीम् । अधुनाऽप्यसौ तां खलु देवलोके संपूजयत्यन्यसुरैः सहायः (=समेतः) ।।1336।।

दिश' स्वस्तिकर्यः, दिव्यं मङ्गल्यं चार्थसाधकम् । अर्था वः (आ—) शामतां, सर्वे भवन्त्याशु प्रदक्षिणाः ।।1337।। श्रीर्वोऽस्तु दक्षिणे हस्ते श्रीर्वो वामे प्रतिष्ठिता । श्रीर्वोऽस्तु सर्वशोऽङ्गेषु मालेव शिरसि स्थिता ।।1338।। धनैषिणां प्रयातानां वणिजां वै दिशो दश । उत्पद्यन्तां महालाभास्ते च मन्तु सुखोदयाः ।।1339।। कार्येण केन चिद् येन गच्छत पूर्विकां दिशम् । नक्षत्राणि वः पालयन्तु ये तस्यां दिशि संस्थितानि ।।1340।। कृत्तिका', रोहिणी चैव, मृगशिरा, आर्द्रा, पूनर्वसू । पुष्यश्चैव तथाश्लेषाः, इत्येषां पूर्विका दिशा (=दिक्) ।।1341।। इत्येतानि सप्त नक्षत्राणि, लोकपाला यशस्विनः । अधिष्ठिताः पूर्वभागे सेवा रक्षन्तु सर्वतः ।।1342।। तेषां चाधिपती गजा धृतराष्ट इति विश्रुतः । स सर्वगन्धर्वपतिः सूर्येण सह रक्षतु ।।1343।। पुत्रा अपि तस्य बहव एकनामानो विचक्षणाः । अशीतिर्दश चैकंच, इन्द्रनामानो महाबलाः । तेऽपि वोऽधिपालयन्तु, आरोग्येण शिवेन च ।।1344।। पूर्वस्मिन् वै दिशो भागेऽष्टौ देवकुमारिकाः । जयन्ती विजयन्ती च सिद्धार्थापराजिता ।।1345।। नन्दोत्तरा नन्दसेना नन्दिनी नन्दवर्धिनी । ता अपि वोऽधिपालयन्तु, आरोग्येण शिवेन च ।।1346।। पूर्वस्मिन् वै दिशो भागे चापलं नाम चैत्यम् । ओषितं (=अ + उषितं) जिनैर्ज्ञातमर्हद्भिश्च तायिभिः । ते अपि वोऽधिपालयन्तु, आरोग्येण शिवेन च ।।833।। क्षेमाश्च वो दिशः सन्तु मा स्म वः पापमागमत् । लब्धार्थाश्च निवर्तध्व सर्वदेवै रक्षिताः ।।1347।।

येन केनचित्कृत्येन गच्छेत दक्षिणां दिशम् । नक्षत्राणिवः पालयन्तु यानि तां दिशमधिष्ठितानि ।।1349।। मघा च, द्वे च फाल्गुन्यौ, हस्तः, चित्रा च पञ्चमी । स्वातिश्चैव, विशाखे च, एतेषां दक्षिणा दिशा ।।1350।। इत्येतानि सप्त नक्षत्राणि लोकपाला यशस्विनः । आदिष्टा दक्षिणे

भागे ते वो रक्षन्तु सर्वतः ॥1351॥ तेषां चाधिपती राजा विरूढक इति स्मृतः । सर्वकुम्भाण्डाधिपतिर्यमेन सह रक्षतु ॥1352॥ पुत्रा अपि तस्य बहव एकनामानो विचक्षणाः । अशीतिर्दशचैकं च, इन्द्रनामानो महाबलाः । तेऽपि वोऽधिपालयन्तु, आरोग्येण शिवेन च ॥1353॥ दक्षिणस्मिन् दिशो-भागेऽष्टौ देवकुमारिकाः । श्रीमती यशस्वती यशः प्राप्ता यशोधरा ॥1354॥ सूत्यिता सुप्रथमा सुप्रबुद्धा सुखावहा । ता अपि वोऽधिपालयन्तु, आरोग्येण शिवेन च ॥1355॥ दक्षिणस्मिन् दिशो भागे पद्मनाम्ना (स्यात मिति शेषः) चैत्यम् नित्यं ज्वलिततेजसा दिव्यं सर्वप्रकाशितम् । तदापि वो-ऽधिपालयन्तु, आरोग्येण शिवेन च ॥1356॥ क्षेमाश्च वो दिशः सन्तु मा च वः पापमागमत् । लब्धार्थाश्च निवर्तध्वं सर्वदेवै रक्षिताः ॥1357॥

येन केनचित् कृत्येन गच्छेत पश्चिमां दिशम् । नक्षत्राणि वः पालयन्तु यानि तां दिशमधिष्ठितानि ॥1358॥ अनुराधा च ज्येष्ठा च मूलं च दृढ-वीर्यकम् । द्वे आषाढे अभिजिच्च श्रवणो भवति सप्तमः ॥1359॥ इत्येतानि सप्त नक्षत्राणि लोकपाला यशस्विनः । आदिष्टा पश्चिमे भागे ते वो रक्षन्तु सर्वदा ॥1360॥ तेषां चाधिपती राजा विरूपाक्ष इति तं विदुः । स सर्व-नागाधिपतिर्वरुणेन सह रक्षतु ॥1361॥ पुत्रा अपि तस्य बहव एकनाम्नो विचक्षणाः । अशीतिर्दश चैकं च, इन्द्रमामानो महाबलाः । तेऽपि वोऽधिपाल-यन्तु, आरोग्येण शिवेन च ॥1362॥ पश्चिमे दिशो भागेऽष्टौ देव-कुमारिकाः । अलंबुषा मिश्रकेशी पुण्डरीका तथारुणा ॥1363॥ एकादशी नवमिका सीता कृष्णा च द्रौपदी । ता अपि वोऽधिपालयन्तु, आरोग्येण शिवेन च ॥1364॥ पश्चिमे दिशो भागेऽस्तंगो नाम पर्वतः । प्रतिष्ठा चन्द्रसूर्ययोः, अस्तोऽर्थं ददातु वः । सोऽपि वोऽधिपालयतु, आरोग्येण शिवेन च ॥1366॥ क्षेमाश्च वो दिशः सन्तु मा स्म वः पापमागमत् । लब्धार्थाश्च निवर्तध्वं सर्वदेवै रक्षिताः ॥1366॥

येन केनचित् कृत्येन गच्छेतोत्तरां दिशम् । नक्षत्राणि वः पालयन्तु यानि ता दिशमधिष्ठितानि ॥1367॥ धनिष्ठा शतभिषा चैव द्वे च पूर्वा उत्तरा अपरे । रेवत्य् अश्विनी चैव भरणी भवति सप्तमी ॥1368॥ इत्येतानि सप्त नक्षत्राणि लोकपाला यशस्विनः । आदिष्टा उत्तरे भागे ते वो रक्षन्तु सर्वदा ॥1369॥ तेषां चाधिपती राजा कुबेरो नरवाहनः । सर्व-यक्षाणामधिपतिर्मणिभद्रेण सह रक्षतु ॥1370॥ पुत्रा अपि तस्य बहव एक-नामानि विचक्षणाः । अशीतिर्दश चैकं च, इन्द्रनामानो महाबलाः । तेऽपि वोऽधिपालयन्तु, आरोग्येण शिवेन च ॥1371॥ उत्तरस्मिन् दिशो भागे-

ऽष्टौ देवकुमारिकाः । इलादेवी सुरादेवी पृथ्वी पद्मावती तथा ॥1372॥ उपस्थिता महाराजम् आशा श्रद्धा ह्रीः श्रीः । ता अपि वोऽधिपालयन्तु, आरोग्येण शिवेन च ॥1373॥ उत्तरस्मिन् दिशो भागे पर्वतो गन्धमादनः । आवासो यक्षभूतानां चित्रकूट सुदर्शनः । ते (=यक्षभूताद्याः)ऽपि वोऽधिपालयन्तु, आरोग्येण शिवेन च ॥1374॥ क्षेमाश्च वो दिशः सन्तु मा च वः पापमागमत् । लब्धार्थाश्च निवर्तध्वं सर्वदेवै रक्षिताः ॥1375॥

अष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि सप्त-सप्त चतुर्दिशम् । द्वात्रिंशद् देवकन्याश्च, अष्टावष्टौ चतुर्दिशम् ॥1376॥ अष्टौ श्रमणा अष्ट ब्राह्मणा अष्टौ जानपदेषु नैगमाः । अष्टौ देवाः सेन्द्रकास् ते वो परिरक्षन्तु सर्वतः ॥1377॥ स्वस्ति वो गच्छतां भवतु स्वस्ति भवतु निवर्तमानानाम् । स्वस्ति पश्यत वै ज्ञातीन् (यथास्तं तु ज्ञाति) स्वस्ति पश्यन्तु ज्ञातयः ॥1378॥ सेन्द्रैर्यक्षैर्महाराजैर् अर्हद्भिरनुकम्पिताः । सर्वत्र स्वस्ति गच्छत प्राप्नुतामृतं शिवम् ॥1379॥

संरक्षिता ब्रह्मणा वासवेन विमुक्तचित्तैश्चानास्रवैश्च । नागैश्च यक्षैश्च सदानुकम्पिताः पालयतायुः शरदां शतेन समं ॥1380॥ प्रदक्षिणां (=प्रशंसां) दक्षिणाया लोकनायस् तेषां दिदेशाऽप्रतिमो द्विनायकः—अनेन यूयं कुशलेन कर्मणा मधुसंभवा नाम जिना भविष्यथ ॥1381॥ प्रथममिदं लोक विनायकस्यासंगस्य व्याकरणं जिनस्य । पश्चादनन्ता बहुबोधिसत्वा ये व्याकृता बोधये नो विवर्त्याः ॥1382॥

श्रुत्वेदं व्याकरणं जिनस्योदग्रचित्ताः परमया प्रीत्या । तौ भ्रातरौ सार्धं सहायकैस्तैर्बुद्धं च धर्मं शरणं प्रपन्नाः ॥1383॥

॥ २६ ॥

॥ अध्येषणापरिवर्त ॥

मुद्रितग्रन्थ 392 (पंक्ति 7)—402 (पंक्ति 18)
भोटानुवाद 282ख (पंक्ति 5)—291क (पंक्ति 2)

द्वारा सब संसारी धर्मों का छिन्न-भिन्न होना है, (वह) शून्यतानुपलम्भ है अर्थात् वह शब्द-प्रपंच से शून्य उपलब्धि के योग्य देश तथा काल से अतीत है, (वह) तृष्णाक्षय, विराग, निरोध एवं निर्वाण है। यदि मैं इस धर्म की देशना दूसरों को करूँ और वे न समझ सकें, तो मेरे लिए वह क्लमथ है (=थकना ही थकना है) मिथ्याव्यायाम है (=निरर्थक श्रम करना है), अक्षणधर्म देशनता है अर्थात् बिना उचित काल के धर्म का उपदेश करना है। क्यों न मैं अल्पोत्सुक (=उदासीन एवं निरपेक्ष) हो मौन-भाव से विहार करूँ? और उस समय ये गाथाएँ कही—

(छंद उपजाति)

(–393–) गम्भीर शान्तो विरजः प्रभास्वरः
प्राप्तो मि धर्मो ह्यमृतोऽसंस्कृतः।
देशेय चाहं न परऽस्य जाने
यन्नून तूष्णी पवने वसेयं ॥1384॥

मैंने गम्भीर, शान्त, रजोगुणहीन, प्रभास्वर, असंस्कृत (=अकृत्रिम) एवं अमृत धर्म का लाभ किया है। मैं देशना करूँ तो भी दूसरा इसे न जान पाएगा। क्यों न मैं मौन होकर एकान्त मे निवास करूँ।

अपगतगिरिवाक्यथो ह्यलिप्तो
यथ गगणं तथा स्वभाव धर्म।
चित्तमनविचारविप्रमुक्तं
=283ख= परमसुआश्चरियं परो विजाने ॥1385॥

शब्द एवं वाणी के मार्ग से दूर, अलिप्त (=आसक्ति रहित), धर्म का स्वभाव गगन के समान है, (वह) चित्त एवं मन के विचार (=गतिविधि) से सर्वथा पूर्णरूपेण मुक्त है। दूसरे के लिए उसका जान पाना परम-आश्चर्य है, अत्यन्त-आश्चर्य है।

न च पुनरयु शक्य अक्षरेभिः
प्रविशातु अनर्थयोगविप्रवेशः।
पुरिमजिनकृताधिकारसत्त्वाः
ते इमु श्रुणित्व हि धर्मु श्रद्दधन्ति ॥1386॥

अक्षरों के द्वारा इसमे प्रवेश नही हो सकता, अर्थयोग से अर्थात् अर्थ की युक्ति से (भी इसमे) विशेष प्रवेश नहीं होता (भाव यह कि वह वाच्य-वाचक-भावातीत है)। जिन सत्त्वो ने पहले के बुद्धों की सेवा की है, वे इस धर्म को सुन कर श्रद्धा करते हैं।

न च पुनरिह कश्चिदस्तिधर्मः
सोऽपि न विद्यति यस्य नास्तिभावाः ।
हेतुक्रियपरंपरा य जाने
तस्य न भोतिह अस्तिनास्तिभावाः ॥1387॥

यहाँ कोई धर्म अस्ति-स्वभाव का अर्थात् भाव-रूप नहीं है, ऐसा भी (कोई धर्म) नहीं है जो नास्ति-स्वभाव का अर्थात् अभाव-रूप हो। जो हेतु-कार्य परम्परा को जानता है, उसके मन में अस्ति-स्वभाव की अथवा नास्ति-स्वभाव की धारणा नहीं उठती।

कल्पशतसहस्र अप्रमेया
अहु चरितः पुरिमे जिन सकासे ।
न च मय प्रतिलब्ध एष क्षान्ती
यत्र न आत्म न सत्त्व नैव जीवः ॥1388॥

अप्रमेय शतसहस्र कल्पों तक पहले के बुद्धों के पास मैंने चर्या की पर मुझे यह क्षान्ति अर्थात् बोध की यह क्षमता नहीं मिली जहाँ न आत्मा है, न सत्त्व है, और न जीव है।

यद मय प्रतिलब्ध एष क्षान्ती
म्रियति न चेह न कश्चि जायते वा ।
प्रकृति इमि निरात्म सर्वधर्माः
तद मां व्याकरि बुद्ध दीपनामा ॥1389॥

जब मुझे यह क्षान्ति अर्थात् बोध की यह क्षमता मिली कि यहाँ न किस की उत्पत्ति होती है और न मृत्यु, प्रकृति से (अर्थात् स्वभाव से) ये सब धर्म आत्मभाव हीन हैं, तब दीपंकर नामक बुद्ध ने मेरे (बुद्ध होने के) विषय में भविष्यवाणी की।

करुण मम अनन्त सर्वलोके
परतु न चार्यनतामहं प्रतीक्षे ।
यद पुन जनता प्रसन्न ब्रह्मे
तेन अधीष्ट प्रवर्तयिष्य चक्रं ॥1390॥

सब लोक के प्रति मेरी अपार करुणा है। मैं दूसरे की प्रार्थना की भी प्रतीक्षा नहीं करता हूँ। जब ब्रह्मा के प्रति जनता प्रसन्न होगी तब उनकी प्रार्थना पर मैं (धर्म-) चक्र का प्रवर्तन करूँगा।

॥ अध्येषणापरिवर्त ॥

1. हे भिक्षुओं, बोधिवृक्ष के नीचे विहरते हुए, प्रथम-प्रथम बोधिप्राप्त कर, अकेले में, एकान्त मे, विवेक मे तल्लीन, तथागत के मन में संसारी-जनो के प्रति यह भाव उत्पन्न हुआ। मैंने जिस धर्म का लाभ किया है, अवबोध किया है, वह है गम्भीर, शान्त, प्रशान्त (=अत्यन्तशान्त), उपशान्त (=पूर्णशान्त) प्रणीत (=उत्तम) दुर्दृश (=कठिनता से साक्षात्कार किया जाने वाला), दुरनुबोध (=कठिनता से बोध किया जाने वाला), अतर्क (=तर्क की पहुँच से परे), अवितर्कावचर (=वितर्कों अर्थात् कल्पनाओं की गति-विधि से परे) है। (वह है) अलमार्य (अर्थात् सचमुच का आर्य या श्रेष्ठ), पण्डितों एवं विज्ञों द्वारा जानने के योग्य, =283क= यतः उसमे सब प्रकार की उपधियो का (=संग्रह-राशियो का) निःसर्ग (=पूर्णरूप से परोत्याग) हो जाता है। (वह) आवेदित[1] अर्थात् स्वयं पूर्णरूप से अनुभूत होकर भी अनिवेदित दूसरे के लिए अननुभूत सा रहता है, वहाँ सब प्रकार को वेदनाओं अर्थात् सुख-दुःख की अनुभूतियो का निरोध हो जाता है, (वह) परमार्थ है, अनालय है (=देशातीत है)। (वह) शीतीभाव (=संसार की जलन का शान्त होना) है, (वह) अनादान एव-अनुपादान है अर्थात् देने-लेने की दुनिया से परे है, (वह) अविज्ञप्त एवं-अज्ञापनीय है अर्थात् शब्द द्वारा न जाना जाता है और न शब्द द्वारा न जनाया जाता है, (वह) असंस्कृत (अर्थात् शारीरिक एवं मानसिक प्रवृत्तियो से अछूता) है, छह के अर्थात् पाँच इन्द्रियों और मन के विषयो से परे है, (वह) अकल्प है अर्थात् किसी एक कल्पना वाला नही है, (वह) अविकल्प है अर्थात् विविध कल्पनाओ वाला नही है, (वह) अनभिलाप्य है अर्थात् वाणी के द्वारा प्रकाशन-योग्य नही है, (वह) अरुत-एवं अघोष है अर्थात् शब्दातीत है, (वह) अनुदाहर है अर्थात् उदाहरण द्वारा उसका बोध नही कराया जा सकता है, (वह) अनिदर्शन है अर्थात् उपमा द्वारा कोई वस्तु दिखा कर उसका बोध नही कराया जा सकता है, (वह) अप्रतिघ है अर्थात् कोई वस्तु उसका प्रतिघात नही कर सकती है—उसे रोक नही सकती है—उसे पकड़ नही सकती है, वह सब प्रकार के आलम्बनों से अतीत है, (वह) शमथधर्मोपच्छेद है अर्थात् शान्ति के

1. मूल, आवेदितो। भोट, कुन् तु रिग् प (=आवेदितो)।

द्वारा सब संसारी धर्मों का छिन्न-भिन्न होना है, (वह) शून्यतानुपलम्भ है अर्थात् वह शब्द-प्रपंच से शून्य उपलब्धि के योग्य देश तथा काल से अतीत है, (वह) तृष्णाक्षय, विराग, निरोध एव निर्वाण है। यदि मैं इस धर्म की देशना दूसरों को करूँ और वे न समझ सकें, तो मेरे लिए वह क्लमथ है (=थकना ही थकना है) मिथ्याव्यायाम है (=निरर्थक श्रम करना है), अक्षणधर्म देशनता है अर्थात् बिना उचित काल के धर्म का उपदेश करना है। क्यो न मैं अल्पोत्सुक (=उदासीन एवं निरपेक्ष) हो मौन-भाव से विहार करूँ? और उस समय ये गाथाएँ कही—

(छंद उपजाति)

(-393-) गम्भीर सान्तो विरजः प्रभास्वरः
प्राप्तो मि धर्मो ह्यमृतोऽसंस्कृतः।
देशेय चाहं न परऽस्य जाने
यन्नून तूष्णी पवने वसेयं ॥1384॥

मैने गम्भीर, शान्त, रजोगुणहीन, प्रभास्वर, असंस्कृत (=अकृत्रिम) एवं अमृत धर्म का लाभ किया है। मैं देशना करूँ तो भी दूसरा इसे न जान पाएगा। क्यो न मैं मौन होकर एकान्त मे निवास करूँ।

अपगतगिरिवाक्यथो ह्ययलिप्तो
यथ गगणं तथा स्वभाव धर्म।
चित्तमनविचारविप्रमुक्तं
=283ख= परमसुआश्चरियं परो विजाने ॥1385॥

शब्द एवं वाणी के मार्ग से दूर, अलिप्त (=आसक्ति रहित), धर्म का स्वभाव गगन के समान है, (वह) चित्त एवं मन के विचार (=गतिविधि) से सर्वथा पूर्णरूपेण मुक्त है। दूसरे के लिए उसका जान पाना परम-आश्चर्य है, अत्यन्त-आश्चर्य है।

न च पुनरयु शक्य अक्षरेभिः
प्रविशतु अनर्थयोगविप्रवेशः।
पुरिमजिनकृताविकारसत्त्वाः
ते इमु श्रुणित्व हि धर्मु श्रद्दधन्ति ॥1386॥

अक्षरों के द्वारा इसमे प्रवेश नही हो सकता, अर्थयोग से अर्थात् अर्थ की युक्ति से (भी इसमे) विशेष प्रवेश नही होता (भाव यह कि वह वाच्य-वाचक-भावातीत है)। जिन सत्वों ने पहले के बुद्धो की सेवा की है, वे इस धर्म को सुन कर श्रद्धा करते है।

न च पुनरिह कश्चिदस्तिधर्मः
सोऽपि न विद्यति यस्य नास्तिभावाः ।
हेतुक्रियपरंपरा य जाने
तस्य न भोतिह अस्तिनास्तिभावाः ॥1387॥

यहाँ कोई धर्म अस्ति-स्वभाव का अर्थात् भाव-रूप नही है, ऐसा भी (कोई धर्म) नही है जो नास्ति-स्वभाव का अर्थात् अभाव-रूप हो। जो हेतु-कार्य परम्परा को जानता है, उसके मन मे अस्ति-स्वभाव की अथवा नास्ति-स्वभाव की धारणा नही उठती।

कल्पशतसहस्र अप्रमेया
अहु चरितः पुरिमे जिन सकासे।
न च मय प्रतिलब्ध एष क्षान्ती
यत्र न आत्म न सत्त्व नैव जीवः ॥1388॥

अप्रमेय शतसहस्र कल्पों तक पहले के बुद्धो के पास मैंने चर्या की पर मुझे यह क्षान्ति अर्थात् बोध की यह क्षमता नही मिली जहाँ न आत्मा है, न सत्त्व है, और न जीव है।

यद मय प्रतिलब्ध एष क्षान्ती
म्रियति न चेह न कश्चि जायते वा।
प्रकृति इमि निरात्म सर्वधर्माः
तद मां व्याकरि बुद्ध दीपनामा ॥1389॥

जब मुझे यह क्षान्ति अर्थात् बोध की यह क्षमता मिली कि यहाँ न किस की उत्पत्ति होती है और न मृत्यु, प्रकृति से (अर्थात् स्वभाव से) ये सब धर्म आत्मभाव हीन है, तब दीपंकर नामक बुद्ध ने मेरे (बुद्ध होने के) विषय में भविष्यवाणी की।

करुण मम अनन्त सर्वलोके
परतुं न चार्यनतामहं प्रतीक्षे।
यद पुन जनता प्रसन्न ब्रह्मे
तेन अधीष्टु प्रवर्तयिष्य चक्रं ॥1390॥

सब लोक के प्रति मेरी अपार करुणा है। मैं दूसरे की प्रार्थना को भी प्रतीक्षा नही करता हूँ। जब ब्रह्मा के प्रति जनता प्रसन्न होगी तब उनकी प्रार्थना पर मैं (धर्म–) चक्र का प्रवर्तन करूँगा।

एव च अयु धर्म ग्राह्यि मे स्यात्
स चि मम ब्रह्म क्रमे निपत्य याचेत् ।
प्रवदहि विरजा प्रणीतु धर्मं
सन्ति विजानकु सत्व स्वाकराश्च ॥391॥

यदि ब्रह्मा मेरे चरण पकड कर याचना करें कि उत्तम, रजोरहित धर्म का (भगवान्) प्रवचन करे, अच्छे प्रकार के प्राणी है, (जो धर्म के) जानकार (होगे), तो इस प्रकार यह धर्म मेरे द्वारा ग्रहण कराया जा सकेगा ।

2. हे भिक्षुओ, इस प्रकार, तथागत ने उस समय ऊर्णा-कोश से (=भ्रू-) मध्यगत-रोममण्डल से) प्रभा छोडी, जिस प्रभा से त्रिसाहस्र महासाहस्र लोकधातु महान् सुनहले रग के प्रकाश से व्याप्त हो गई ।

3. तदनन्तर =284क= दस त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोकधातु के अधिपति महाब्रह्मा शिखी ने बुद्धानुभाव से तथागत के चित्त के संकल्प-विकल्पों को (अपने) चित्त से ही जान लिया कि अल्पो (–394–) त्सुकता मे अर्थात् उदासीन भाव मे भगवान् का चित्त झुका हुआ है, धर्म-देशना मे नही । उनके मन में यह बात आई । क्यो न मै जाकर धर्मचक्र-प्रवर्तन करने के लिए तथागत से अध्येषणा (=प्रार्थना) करूँ ।

4. इसके अनन्तर, उस समय, शिखी महाब्रह्मा के अन्य ब्रह्मकायिक देवपुत्रों से पुकार कर कहा—मार्षो (साथियों) लोक का नाश हो जाएगा—लोक का विनाश हो जाएगा, जो अनुत्तर सम्यक्-संबोधि पाकर, तथागत अल्पोत्सुकता (= उदासीनता) की ओर चित्त झुका रहे है, धर्म-देशना की ओर नही । हम-सब जाकर अर्हन्त सम्यक्-सबुद्ध तथागत से (धर्मदेशना के लिए) क्यो न अध्येषणा (= प्रार्थना) करे ।

5. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, अड़सठ लाख ब्राह्मणों से घिरे हुए, आगे किए, शिखी महाब्रह्मा जहाँ तथागत थे, वहाँ पहुँचे । पहुँच कर, तथागत के चरणों मे सिर से वन्दना कर, यह कहा— =284ख= लोक का नाश हो जाएगा, लोक का विनाश हो जाएगा, जो अनुत्तर सम्यक् संबोधि पा कर, तथागत अल्पोत्सुकता (=उदासीनता) की ओर चित्त झुका रहे है, धर्म-देशना की ओर नही । अच्छा हो, भगवान् धर्म की देशना करे, सुगत धर्म की देशना करें । (यहाँ) अच्छे-प्रकार के, सुबोध, समर्थ, भव्य एवं भगवान् के भाषण का अर्थ जानने में क्षमता-शाली प्राणी हैं और उस समय ये गाथाएँ कही—

(छंद उपजाति)

समुदानिय ज्ञानमहाग्रमण्डलं

विसृज्य रश्मीन् दश दिक्षु चैव ।

तदञ्ज ज्ञानांशुनृपद्मबोधका

उपेक्षकस्तिष्ठसि वादिभास्करः ॥1392॥

ज्ञान के महान् उत्तम-मण्डल की सिद्धि कर, दसो दिशाओं मे किरणों को फैला कर, अहो ज्ञान-रूपी किरणो से मनुष्य-रूपी कमलों को विकसित करने वाले, वादियों के बीच सूर्य के समान (प्रकाशमान) हो उपेक्षा के साथ-साथ (कैसे) बैठे हो ?

निमन्त्रयित्वाऽऽर्यधनेन सत्वां

आश्वासयित्वा बहुप्राणकोट्यः ।

न युक्तमेतत्तव लोकबन्धो

यं तूष्णिभावेन उपेक्षसे जगत् ॥1393॥

आर्य-धन के द्वारा प्राणियों को निमन्त्रित कर, बहुत से कोटि-कोटि प्राणियों को आश्वासन दे कर, हे लोक के बान्धव, यह जो तुम मौन-भाव से जगत् की उपेक्षा कर रहे हो, वह तुम्हारे लिए उचित नही है ।

पराहनस्तवोत्तमधर्मदुन्दुभि

सद्धर्मशङ्खं च प्रपूरयाशु ।

उच्छ्रेपयस्व महधर्मयूपं

प्रज्वालयस्व महधर्मदीपं ॥1394॥

धर्म के उत्तम दुन्दुभि को बजाओ, सद्धर्म के शंख को फूँको, धर्म का महान् यूप खड़ा करो, धर्म का महान् प्रदीप जलाओ ।

(-395-) प्रवर्ष वै धर्मजलं प्रधानं =285क=

प्रतारयेमां भवसागरस्थां ।

प्रमोचयेमां महाव्याधिक्लिष्टां

क्लेशाग्नितप्ते प्रसमं कुरुष्व ॥1395॥

उत्तम धर्म के जल की वर्षा करो, इन भवसागर में पड़े हुओं को पार उतारो, महाव्याधियों से भुगतते हुओं को दुःख-मुक्त करो, क्लेशों की अग्नि से तपे हुए जगत् को शान्त करो ।

निदर्शय त्वं खलु शान्तिमार्गं

क्षेमं शिवं निर्जरतामशोकं ।

निर्वाणमार्गागमनादनाथे

विपर्यस्थिते नाथ कृपां कुरुष्व ॥1396॥

हे नाथ, तुम (उस) शान्ति का मार्ग दिखलाओ, (जो) क्षेम है, शिव (=कल्याण) है, अशोक है, निर्वाणमार्ग में न चलने के कारण कुमार्ग में पड़े (लोक) के ऊपर कृपा करो ।

विमोक्षद्वाराणि अपावृणिष्व
प्रचक्ष्व तं धर्मनयं ह्यकोप्यं ।
जात्यन्धभूतस्य जनस्य नाथ
त्वमुत्तमं शोधय धर्मचक्षुः ॥1397॥

विमोक्ष के द्वारों को खोल दो, न डाँवा डोल होने वाले धर्मनय की व्याख्या करो । हे नाथ, इस जन्मांधलोक के उत्तम धर्मचक्षु को शोध दो ।

न ब्रह्मलोके न च देवलोके
न यक्षगन्धर्वमनुष्यलोके ।
लोकस्य यो जातिजरापनेता
नान्योऽस्ति त्वत्तो हि मनुष्यचन्द्रः ॥1398॥

जो लोक को जन्म और जरा से छुड़ा सके, ऐसा हे मनुष्यचन्द्र (=हे श्रेष्ठ-मनुष्य) तुम को छोड़ कर, दूसरा कोई न ब्रह्मलोक मे है, न देवलोक में है, और न यक्षलोक, गन्धर्वलोक अथवा मनुष्यलोक मे (ही) है ।

अध्येषकोऽहं तव धर्मराज
अध्याचरा कृत्वन सर्वदेवान् ।
अनेन पुण्येन अहंऽपि क्षिप्रं
प्रवर्तयेयं वर धर्मचक्रं ॥1399॥

हे धर्मराज, मैं तुम्हारा अध्येषक (=प्रार्थी) हूँ । देवताओं को उत्तम चर्या का करके, इस (=अध्येषणा अर्थात् प्रार्थना के) पुण्य से मै भी शीघ्र उत्तम धर्म-चक्र का प्रवर्तन कर सकूँ ।

6. हे भिक्षुओं, तथागत ने देवों, मनुष्यो, तथा असुरों के सहित लोक पर अनुग्रह करने के लिए, करुणा कर, शिखी ब्रह्मा की प्रार्थना मौनभाव से स्वीकर की ।

7. इसके अनन्तर, महाब्रह्मा = 285ख = शिखी तथागत के मौनभाव से अपनी प्रार्थना की स्वीकृति जान कर देवलोक के चन्दनपूर्ण तथा अगरचूर्ण की तथागत पर वर्षा कर प्रेम से प्रमुदित हो वही अन्तर्हित हो गए ।

8. हे भिक्षुओ, इसके अनन्तर, धर्म के प्रति सब ओर से लोक का आदर उत्पन्न करने के अर्थ और महाब्रह्मा शिखी की बारंबार अध्येषणा (=प्रार्थना)

द्वारा कुशल-मूल की विशेष वृद्धि के अर्थ, धर्म की अत्यन्त गंभीरता तथा उदारता के कारण; फिर अकेले, एकान्त मे विराजते हुए, विवेक में तल्लीन तथागत के मन में इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ कि मैंने जिस धर्म का बोध किया है, वह गम्भीर है, सूक्ष्म है, निपुण है, कठिनता से समझ मे आने वाला है, तर्क की पहुँच से परे है, तर्क की गतिविधि से परे है, पण्डित एव विशेषज्ञ के द्वारा जानने योग्य है, सब लोक की राह से उलटा जाने वाला है, कठिनता से देखा जाने योग्य है, वहां सब उपधियों का—अर्थात् संग्रह-राशियो का पूरा त्याग करना होता है, सब संस्कार की वहाँ शान्ति होती है, सब प्रकार के तम (=अज्ञान) का वहाँ उपच्छेद (=विनाश) हो जाता है, वहाँ शून्यता है अर्थात् शब्द प्रपंच का अभाव है और अनुलंभ है अर्थात् उपलब्धि के योग्य देश काल का वहाँ अभाव है, वह तृष्णाक्षय, विराग (–396–), निरोध एवं निर्वाण है। मैं इस धर्म की देशना करूँ और दूसरे मेरा भाव न समझ सकें तो वह मेरे लिए पीड़ा—ही—पीड़ा होगी। क्यो न मै अल्पोत्सुक–विहार से (=उदासीनता भाव के विहार से) विहार करूँ ? = 286क =

9. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, शिखी महाब्रह्मा बुद्धानुभाव मे दूसरी बार भी तथागत के इस प्रकार के चित्त-वितर्क को जान कर जहाँ देवताओं के इन्द्र शक्र थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर देवताओं के इन्द्र शक्र से यह कहा—हे कौशिक, तुम्हें विदित हो कि अर्हन्त सम्यक्-संबुद्ध तथागत का चित्त अल्पोत्सुकता (=उदासीनता) की ओर झुका है, धर्म देशना की ओर नही। हे कौशिक, लोग का नाश हो जाएगा, हे कौशिक, लोक का विनाश हो जाएगा, हे कौशिक, यह लोक अविद्या के महान् अन्धकार मे पड़ जाएगा, जो अर्हन्त सम्यक् संबुद्ध तथागत का चित्त अल्पोत्सुकता (=उदासीनता) की ओर झुका है, धर्म के भली-भाँति प्रकाशन की ओर नही। हम-दोनों अर्हन्त, सम्यक्-सबुद्ध तथागत से धर्मचक्रप्रवर्तन की अध्येषणा (=प्रार्थना) करने क्यों न चलें ? वह इसलिए भी, क्योंकि तथागत विना अध्येषणा (=प्रार्थना) किए, धर्मचक्र का प्रवर्तन नही किया करते। अच्छा मार्ष, इस प्रकार (उत्तर दे) शक्र, ब्रह्मा, भूमि के तथा अन्तरिक्ष के देवता, चातुर्महाराजिक, त्रायस्त्रिंश, याम, तुषित, निर्माणरति, = 286ख = परनिर्मितवशवर्ती, ब्रह्मकायिक, आभास्वर, वृहत्फल, शुभकृत्स्न तथा शुद्धावासकायिक बहुत से लक्ष-लक्ष देवपुत्र, जिनके वर्ण अत्यन्त मनोहर थे, अत्यन्त सुहावनी रात मे, दिव्यरंग से तथा दिव्यप्रकाश से, बोधिवृक्ष को बिल्कुल चमका कर, जहाँ तथागत थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर तथागत के चरणों मे सिर से नमस्कार कर, प्रदक्षिणा कर एक ओर खड़े हो गये।

10. इसके अनन्तर, देवताओं के इन्द्र शक्र ने जिस ओर तथागत थे, उस ओर अञ्जलि बाँध, प्रमाण कर, तथागत की गाथा द्वारा स्तुति की—

(छन्द आर्या)

(-397-) उत्तिष्ठ विजितसंग्राम प्रज्ञाकारा तिमिस्रे विवर लोके ।
चित्तं हि ते विमुक्तं शशिरिव पूर्णो ग्रहविमुक्तः ।।1400।।

हे संग्राम के विजेता, हे प्रज्ञाकर, उठो, अँधेर लोक का (परदा) उखाड़ दो। तुम्हारा चित्त उस प्रकार विमुक्त है, जैसे पूर्ण चन्द्रमा ग्रहण से विमुक्त होता है।

ऐसा कहने पर तथागत मौन ही रहे।

11. इसके अनन्तर महाब्रह्मा शिखी ने देवताओं के इन्द्र शक्र से यह कहा— हे कौशिक, अर्हन्त सम्यक्-संबुद्ध तथागत को धर्मचक्र-प्रवर्तन के लिए उस-प्रकार अध्येषणा (=प्रार्थना) नहीं करते, जिस प्रकार तुम कर रहे हो। इसके अनन्तर, महाब्रह्मा शिखी, उत्तरासंग को एक कन्धे पर कर, दाहिने जानुमंडल को धरती पर=287क=टेक कर, जिस ओर तथागत थे, उस ओर अञ्जलि बाँध प्रमाण कर, गाथा द्वारा तथागत से बोले—

(छंद आर्या)

उत्तिष्ठ विजितसंग्राम प्रज्ञाकारा तिमिस्रे विवर लोके ।
देशय त्वं मुने धर्मं आज्ञातारो भविष्यन्ति ।।1401।।

हे संग्राम के विजेता, हे प्रज्ञाकर, उठो, अँधेरे लोक का (परदा) उघाड़ दो। हे मुनि (-वर) तुम धर्म की देशना करो, जानने वाले होंगे।

12. ऐसा कहने पर हे भिक्षुओं, तथागत शिखी महाब्रह्मा से यह बोले। हे महाब्रह्मन् मैंने इस धर्म का पूर्ण बोध किया है, वह सूक्ष्म है, निपुण है.... (यदि मैं धर्म की देशना करूँ और दूसरे मेरा भाव न समझ सकें तो वह मेरे लिए) पीडा ही पीड़ा होगी। इसके अतिरिक्त, हे ब्रह्मन्, ये दो गाथाएँ, मेरे मन मे आती रहती है—

प्रतिस्रोतगामि मार्गो गम्भीरो दुर्दृशो मम ।
न तं द्रक्ष्यन्ति रागान्धा अलं तस्मात् प्रकासितुं ।।1402।।

मेरा मार्ग संसार के प्रवाह से उलटे प्रवाह का, गम्भीर तथा दुदर्श है। उसे राग मे अन्धे लोग न देख पाएँगे। इसलिए उसको न प्रकाशित करना ही (उचित) है।

अनुस्रोतं प्रवाह्यन्ते कामेषु पतिता प्रजाः ।
कृच्छ्रेण मेऽयं संप्राप्तं अलं तस्मात् प्रकासितुं ।।1403।।

काम मे पडी प्रजाएँ, अनुकूल स्रोत में बही जा रही हैं। मैंने इस (धर्म) का कठिनता से लाभ किया है। इसलिए उसको न प्रकाशित करना ही (उचित) है।

13. हे भिक्षुओं, महाब्रह्मा शिखी तथा देवताओं के इन्द्र शक्र तथागत को मौन हुआ जान कर, उन देवपुत्रों के साथ, दुःखी तथा दुर्मनस हो =287ख= वहीं अन्तर्हित हो गये।

14. (–398–) तीसरी बार भी तथागत का चित्त अल्पोत्सुकता (उदासीनता) की ओर चुका।

15. हे भिक्षुओं, उस समय, मगध के मनुष्यों में इस प्रकार के पापी एवं अकुशल दृष्टिया उत्पन्न हुईं। यथा—कोई यों बोले कि हवाएँ न चलेगी, कोई यों बोले कि आग न जलेगी, कोई यों बोले कि देव न बरसेगा, कोई यों बोले कि नदियाँ न बहेंगी, कोई यों बोले कि फ़सलें न होंगी, कोई यो बोले कि पक्षी-आकाश में न उड़ेंगे, कोई यो बोले गर्भिणियाँ नीरोगभाव से बच्चे न जनेंगी।

16. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, शिखी महाब्रह्मा तथागत के इस प्रकार के चित्त-वितर्क को जान कर तथा मगध के मनुष्यों की इन दृष्टियों को समझ कर, अत्यन्त सुहावनी रात मे, अत्यन्त सुहावने रंग से, दिव्य प्रकाश से सबके सब बोधिवृक्ष के तले को प्रकाशित कर, जहाँ तथागत थे, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर तथागत के चरणो मे सिर से वन्दना कर, उत्तरासंग को एक कंधे पर कर, दाहिने जानुमंडल को धरती पर टेक कर, जिस ओर तथागत थे, उस ओर अंजलि बांध प्रणाम कर, =288क= गाथाओं द्वारा तथागत से बोले—

(छंद उपजाति)
(वंशस्थ तथा इन्द्रवंशा का मिश्रण)

वादो बभूव समलैर्विचिन्ततो
धर्मोऽविशुद्धो : मगधेषु पूर्वं।
अमृतं मुने तद् विवृणोष्व द्वारं
शृण्वन्ति धर्मं विमलेन बुद्धं ॥1404॥

मल-सहित (लोगो) द्वारा विविध-चिन्ताओं वाला वाद उत्पन्न हुआ है कि पुराना मगध का धर्म पवित्र नहीं है। हे मुने, (तुम) अमृत का द्वार खोल दो, (लोक) निर्मल (तथागत) द्वारा बूझे गए धर्म को सुनें।

कृतस्वकार्योऽसि भुजिष्यतां गतो
दुःखाभिसंस्कारमलापकृष्टः।
न हानिवृद्धी कुशलस्य तेऽस्ति
त्वमग्रधर्मेष्विह पारमि गतः ॥1405॥

(तुमने) अपना प्रयोजन (सिद्ध) कर लिया है, (तुम) स्वतंत्रता पा चुके हो, दुःख का अभिसंस्कार (=उत्पादन) करने वाले मलो से (तुम) दूर हो, तुम्हारे कुशल की (अब) न हानि होने वाली और न वृद्धि, यहाँ तुम उत्तम धर्मो मे पारंगत हो चुके हो।

न ते मुने सदृश इहास्ति लोके
कुतोऽधिकः स्यादिह ते महर्षे।
भवानिहाग्रस्त्रिभवे विरोचते
गिरिर्यथासावसुरालयस्थः ॥1406॥

हे मुनि (-वर), इस लोक में तुम्हारे समान (दूसरा) नही है, हे ऋषिवर, तुमसे अधिक (फिर) होगा ही कहाँ से ? तीनो भवों में आप उत्तम होकर उस प्रकार देदीप्यमान हो रहे हैं, जैसे असुर-लोक का (देदीप्यमान) पर्वत।

(-399-) महाकृपां जानय दुःखिते जने
न त्वादृशा जातु भवन्त्युपेक्षकाः।
भवान् विशारद्यबलैः समन्वितः
त्वमेव शक्तो जनतां प्रतारितुं ॥1407॥

(तुम) दुःखित जन के ऊपर महाकरुणा उपजाओ, तुम्हारे जैसे कभी भी (प्राणियों के प्रति) उपेक्षा नही करते, तुम वैशारद्य (=निर्भयता) तथा बलो से समन्वित हो, तुम्ही जनता को उत्तमता से तारने मे समर्थ हो।

इयं सुशल्या सुचिरातुरा प्रजा
सदेवका सश्रमणा द्विजाखिला।
आरोगिनी भोतु निरातुर ज्वरा
न चापरः शरणमिहास्य विद्यते ॥1408॥

यह देवताओ के सहित, श्रमणों के सहित, ब्राह्मणों से सपूर्ण प्रजा अत्यन्त चिर काल से आतुर (=रोगग्रस्त) है, उसमें गहरा शल्य चुभा है, (वह अब भगवान् की कृपा से) रोग-रहित हो, अनातुर हो, ज्वररहित हो। इसका और कोई यहाँ पर शरण नही है।

चिरानुबद्धास्तव देवमानुषाः
कल्याणचित्ता अमृतार्थिनश्च।
धर्मं यमेवधिगमिष्यते जिनो
यथावदन्यूनमुदाहरिष्यति ॥1409॥

कल्याण-चिन के, अमृत के अभिलाषी, देवता तथा मनुष्य चिर से तुम्हारे पीछे-पीछे (इसलिए) बँधे चले आ रहे हैं, कि बुद्ध जिस धर्म का लाभ करेंगे, उसका यथाविधि पूर्णरूपेण प्रवचन करेंगे।

[2]तस्माद्धि याचामिसु[2] विक्रम त्वां
विनयस्व सत्वां चिर नष्टमार्गां।
अविश्रुतार्था =288ख= शमनाय[3] काङ्क्षिताः
सुदुर्बला बृंहणकाङ्क्षिणो वा ॥1410॥

इसलिए (हम) तुमसे याचना कर रहे हैं कि पराक्रम करो, चिर काल से मार्ग न पाने से भटकते (उन) प्राणियों को मार्ग पर लाओ, (जो) न सुने अर्थ को सुनना चाहते हैं (जिन्होंने प्रयोजन को नहीं सुना है, तथा शान्ति चाहते हैं) एवं बृंहण-चाहने वाले अर्थात् बल चाहने वाले अत्यन्त दुर्बल (रोगियों) जैसे हैं।

इयं तृषाता जनता महामुने
उदीक्षते धर्मजलं तवान्तिके।
मेघो यथा संतृषितां वसुंधरां
कुरु तर्पणां नायक धर्मवृष्ट्या ॥1411॥

हे मुनिवर, यह (धर्म की) प्यास से तड़पती जनता, तुम्हारे पास के धर्म-जल (के पीने) के लिए उत्कंठित है जैसे मेघ अत्यन्त प्यासी धरती की प्यास बुझाता है, वैसे ही, हे नायक, धर्मवृष्टि से (इस जनता की) तृप्ति करो।

चिरप्रणष्टा विचरन्ति मानवा
भवे कुदृष्टीगहने सकण्टके।
अकण्टकं मार्गमृजुं प्रचक्ष्व तं
यं भावयित्वा ह्ययमृतं लभेयं ॥1412॥

चिर (काल) से भूले हुए मनुष्य (इस) कँटीले, कुदृष्टियों के बीहड़, भव (-अरण्य) में भटक रहे हैं। उस सीधे काँटों से रहित मार्ग को बताओ, जिसकी भावना कर (इन्हें) अमृत का लाभ हो।

2....2. मूल, तस्माद्धिया चामिसु। पठनीय तस्माद्धि (=तस्माद् हि) याचामिसु (=याचामहे) भोट, दे स्लद् ग्सोल (=तस्माद् याचामहे)।

3. शमनाय अपभ्रंश पद है। जिसके अर्थ यहाँ पर दो हैं—(1) श्रवणाय (=सुनने के लिए), इस अर्थ का अनुवाद भोट ने किया है : रब् तु थोस् पर् (=प्र-श्रवणाय) (2) शान्तये (=शान्ति के लिए), इसका अनुवाद भोट में नहीं आ सका है क्योंकि पद श्लिष्ट है। एक पद द्वारा संस्कृत में भी अनुवाद संभव नहीं है।

अन्धा प्रपाते पतिता ह्यनायका
नोद्धर्तुमन्यैरिह शक्यमेते ।
महाप्रपाते पतितां समुद्धर
छन्दं समुत्पाद्य वृषोऽसि बुद्धिमान् ॥1413॥

ये अन्धे प्रपात मे गिर पडे हैं, इनका (कोई) नेता नहीं है। यहाँ (तुम्हें छोड़ कर) दूसरों से इनका उद्धार संभव नही है। (इन) महाप्रपात में पड़े हुओं का, (धर्म में) छन्द (=अभिलाष) उपजा कर, उद्धार करो। बुद्धिमान हो, श्रेष्ठ हो।

न संगतिस्तेऽस्ति सदा मुने चिरं
कदाचिदौदुम्बरपुष्पसंनिभाः ।
जिनाः पृथिव्यां प्रभवन्ति नायकाः
प्राप्ता क्षणो मोचय नाथ सत्वां ॥1414॥

हे मुनि (-वर) तुम्हारी संगति चिर (-काल) तक सर्वदा (सुलभ) नही है। कभी-कभी ही, गूलर के फूल के समान, धरती पर बुद्ध-नायक उत्पन्न हैं हे नाथ, (तुम्हे) क्षण प्राप्त हुआ है, प्राणियो को मुक्त करो।

अभूच्च ते पूर्वभवेष्वियं मतिः
तीर्णः स्वयं तारयिता भवेयं ।
असंशयं पारगतोऽसि सांप्रत
सत्यां प्रतिज्ञां कुरु सत्यविक्रमः ॥1415॥

तुम्हारा पूर्वजन्मों मे यह मन था कि स्वयं तर कर (मैं दूसरों का) तारक होऊँ। अब (तुम) तर चुके हो, इसमे संदेह नही। सत्यपराक्रमी हो अपनी (उस) प्रतिज्ञा को सत्य करो।

धर्मोल्कया विधम मुनेऽन्धकारा
उच्छ्रेपय त्वं हि तथागतध्वजं ।
अयं स कालः प्रतिलाभ्युदीरणे
मृगाधिपो वा नद दुन्दुभिस्वरः ॥1416॥

हे मुनि (-वर), धर्म की उल्का (=मशाल) से अन्धकार की धज्जियाँ उड़ा दो। तुम बुद्ध की ध्वजा ऊँची कर दो। यह (धर्म के) प्रवचन का समय (तुम्हें) मिला है, दुंदुभि के स्वर जैसे स्वर के तुम, मृगराज के समान, (धर्म) नाद करो।

17. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, तथागत ने संपूर्ण लोक को बुद्ध चक्षु से निहारते हुए प्राणियो को देखा, (जो) हीन थे, मध्यम थे, प्रणीत (=उत्तम) थे

उच्च थे, नीच थे, मध्यम थे;=289क= सुन्दर रंग-ढंग के थे, (–400–) सुख से शोधन के योग्य थे बुरे रंग-ढंग के थे, कठिनता से शोधन के योग्य थे। उद्घाटितज्ञ[4] थे अर्थात् इङ्गित मात्र से समझने वाले थे, विपञ्चितज्ञ थे अर्थात् विस्तर से बताने पर समझने वाले थे, पदपरम थे अर्थात् जितना शब्द द्वारा बताया गया, केवल उतना भर समझने वाले थे। उन प्राणियों के तीन वर्ग थे—को मिथ्यात्व-नियत थे अर्थात् मिथ्या को ही सत्य समझ कर उसके ऊपर अविचल भाव से डटे थे, कोई सम्यक्त्व-नियत थे, अर्थात् सत्य को ही सत्य समझ कर ऊपर उसके अविचल भाव से डटे थे, कोई अनियत थे अर्थात् मिथ्या तथा सत्य के विवेक तथा आग्रह से हीन ढुल-मुल मति के थे। हे भिक्षुओं, जैसे कोई पुरुष पुष्करिणी के किनारे खड़ा हो किन्हीं जलरुहों (कमलों) को पानी के भीतर स्थित, किन्हीं को पानी के बराबर स्थित, किन्हीं को पानी के ऊपर स्थित देखता है, वैसे ही, हे भिक्षुओ बुद्ध-चक्षु से निहारते हुए तथागत ने प्राणियों को तीन वर्गों मे व्यवस्थित (=विभाग के साथ स्थित) देखा।

18. इसके अनन्तर तथागत के मन में यह बात आई। मैं चाहे धर्म की देशना करूँ या न करूँ, यह जो मिथ्यात्वनियत (प्राणि–) वर्ग है, वह धर्म नहीं ही समझ सकेगा। मै चाहे धर्म की देशना करूँ या न करूँ, यह जो सम्यक्त्वनियत (प्राणि) वर्ग है, वह धर्म को समझ ही लेगा[5]। जो अनियत (प्रणि–) वर्ग है, उसे यदि धर्म की देशना दूँगा, तो धर्म समझेगा। न देशना दूँगा, तो धर्म न समझेगा।

19. हे भिक्षुओं, अनियत (प्राणि–) वर्ग मे व्यवस्थित प्राणियों को लक्ष्य में रखकर तथागत ने (मन मे) =289ख= महाकरुणा उपजाई।

20. इसके अनन्तर, अपने इस सम्यग्-ज्ञान के आधार पर, तथा शिखी महाब्रह्मा की अध्येषणा (=प्रार्थना) की जानकारी पर, गाथा द्वारा शिखी महाब्रह्मा से कहा—

(छंद उपजाति)

अपावृतास्तेषाममृतस्य द्वारा
ब्रह्मन्ति सततं ये श्रोतवन्तः।
प्रविशन्ति श्रद्धा न विहेठसंज्ञाः
शृण्वन्ति धर्मं मगधेषु सत्त्वाः ॥1417॥

4. मूल उद्घाटितज्ञान्। भोट, ञुर् चम् ग्यिस् गो बा (=इङ्गितज्ञान्)। उद्धृत या उपोद्घात मात्र से समझने वाले।

5. इसके अनन्तर का (यत्खलु पुनरयमनियतो राशिराज्ञास्यत्यैवेष धर्मं) यह पाठ भोट में नही है।

हे ब्रह्मन्, मगधवासी प्राणी जिनका श्रद्धा में प्रवेश है, जिनमे हिंसाभावना नही है, जिनके कान है, तथा निरन्तर धर्म सुनते है, उनके लिए अमृत के द्वार खुल गए है।

21. इसके अनन्तर, शिखी महाब्रह्मा, तथागत द्वारा अपनी प्रार्थना की स्वीकृति जान कर, संतुष्ट हो, आनन्दित हो, आनन्दित हो, मन मे प्रसन्न हो, प्रमुदित हो, उत्पन्न प्रीति तथा सौमनस्य के साथ, तथागत के चरणों मे सिर से वन्दना कर, वही अन्तर्हित हो गए।

22. (–401–) हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, भूमि के देवताओं ने उस समय अन्तरिक्ष के देवताओं के लिए घोषणा की, शब्द सुनाया कि हे मार्षो (= साथियों), आज अर्हन्त सम्यक्-संबुद्ध तथागत ने धर्मचक्रप्रवर्तन करने के लिए प्रतिज्ञा की है। वह बहुजनों के हित के लिए, बहुजनो के सुख के लिए लोक पर अनुकम्पा के लिए, महान् जन-समूह के एवं देवताओ और मनुष्यों के अर्थ के लिए, हित के लिए, सुख के लिए होगी। हे मार्षो (= साथियों), असुरसमूह क्षीण होंगे, देवसमूह पूर्ण होंगे, लोक मे बहुत से प्राणि = 290क = परिनिर्वाण का साक्षात्कार करेंगे। इसी प्रकार, अन्तरिक्ष के देवताओ ने भूमि के देवताओं से सुन कर चातुर्महाराजिक देवता के लिए घोषणा की। चातुर्महाराजिकों ने त्रायस्त्रिंशो के लिए, त्रायस्त्रिंशो ने यामों के लिए, यामों ने[6] तुषितों के लिए, तुषितों ने निर्माणरतियों के लिए[6], निर्माणरतियों ने परिनिर्मितवशवर्तियो के लिए, और उन्होने भी ब्रह्मकायिकदेवताओं के लिए घोषणा की, शब्द सुनाया कि हे मार्षो (= साथियो) आज अर्हन्त सम्यक्-संबुद्ध तथागत ने धर्मचक्रप्रवर्तन करने के लिए प्रतिज्ञा की है। वह बहुजनो के हित के लिए, बहुजनों के सुख के लिए, लोक पर अनुकम्पा के लिए, महान् जन-समूह के एव देवताओ और मनुष्यो के अर्थ के लिए, हित के लिए, सुख के लिए होगी। हे मार्षो (=साथियों), असुर-समूह क्षीण होंगे, देव समूह बढ़ेगे। लोक मे बहुत से प्राणि परिनिर्वाण का साक्षात्कार करेगे[7]।

23. हे भिक्षुओं, इस प्रकार, उसी क्षण मे, उसी मुहूर्त मे, उसी लव मे, भौम—देवताओं से लेकर ब्रह्मकायिक-देवताओं तक एक वाणी गूँज उठी, एक

6. मूल, तुषितनिर्माणरतीना। पठनीय, तुषितानां तुषिता निर्माणरतीनां। भोट ग्रन्थ भी यहाँ पर अस्तव्यस्त है।

7. मूल, कोटिसहस्र नैकनवति इसका अनुवाद भोट मे व्र्येबा स्तोङ् फ्रग् दगु व्चु च गूचिग् (= एकनवतिः कोटिसहस्राणि)। नकार व्यंजनभक्ति है। ऐकार वस्तुतः एकार का अपभ्रंश है।

ऊँचा-नाद गूँज उठा, एक ऊँचा-घोष गूँज उठा कि आज अर्हन्त सम्यक्-संबुद्ध तथागत ने धर्मचक्रप्रवर्तन करने के लिए प्रतिज्ञा की है।

24. हे भिक्षुओं, =290ख= इसके अनन्तर, बोधिवृक्ष-देवता जिनके नाम धर्मरुचि, धर्मकाम, धर्ममति तथा धर्मचारी हैं, इन चारों बोधिवृक्ष-देवताओं ने (–402–) तथागत चरणों में गिर कर यों कहा—भगवान् कहाँ धर्मचक्रप्रवर्तन करेंगे ? हे भिक्षुओं, ऐसा कहने पर तथागत ने उन देवताओं से यह कहा—वाराणसी के पास ऋषिपतन के मृगदाव में। उन्होंने कहा—भगवान्, वाराणसी महानगरी स्वल्प-जनगण की है, मृगदाव विरल-वृक्ष-छाया का है। भगवन्, अन्य महानगर है, जो ऋद्ध है (=धनपूर्ण हैं), स्फीत हैं (=धान्यसंपन्न हैं), कुशल-क्षेम वाले है, सुभिक्ष है, रमणीय हैं, बहुत लोगों से—बहुत मनुष्यों से पूर्ण हैं, उद्यानों से, वनों से तथा पर्वतों से सुशोभित हैं। उनमें से किसी एक में भगवान् धर्मचक्रप्रवर्तन करें। तथागत बोले। हे भद्रमुखो, ऐसा मत बोलो। क्योंकि—

(छंद शार्दूलविक्रीड़ित)

षष्टि यज्ञसहस्रकोटिनयुता ये तत्र यष्टा मया।
षष्टि बुद्धसहस्रकोटिनयुता ये तत्र संपूजिता।
पौराणामृषिणामिहालयु वरो वाराणसीनामवा।
देवानागमभिष्टुतो महितलो धर्माभिनिम्नः सदा ॥1418॥

साठ सहस्रकोटि-खर्व (थे वे) यज्ञ जिनका मैंने वहाँ यजन किया था, साठ सहस्रकोटि-खर्व (थे वे) बुद्ध जिनकी (मैंने) वहाँ पूजा की थी। वाराणसी नाम का महीतल पुराने ऋषियों का उत्तम निवास-स्थान है, उसकी उत्तम स्तुति देवता तथा नाग करते हैं, वह धर्म की तराई है।

=291क= बुद्धा कोटिसहस्र-न्-ऐकनवति पूर्वे स्मरामी अहं
ये तस्मिन्नृषिसाह्वये वनवरे वर्तीसु चक्रोत्तमं।
सान्तं चाप्युपसान्त ध्यानभिमुखं नित्यं मृगैः सेवितं
इत्यर्थे अपिसाह्वये वनवरे वर्तिष्यि चक्रोत्तमं ॥1419॥ इति[8]

मुझे इक्यानवे कोटि-सहस्र पूर्व बुद्धों का स्मरण है, जिन्होंने उस उत्तम वन ऋषिपतन में उत्तम (धर्म–) चक्र का प्रवर्तन किया था। वह शान्त है, अत्यन्त शान्त है, ध्यान के अनुकूल हैं, नित्य मृगों द्वारा सेवित है, इसलिए (मैं) उत्तम-वन ऋषिपतन में उत्तम (धर्म–) चक्र का प्रवर्तन करूँगा।

॥ इति श्री ललितविस्तरेऽध्येषणापरिवर्तो नाम पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥

●

8. इस परिवर्त की गाथाओं की छाया यों है—

गंभीरः शान्तो विरजाः प्रभास्वरः प्राप्तो मे धर्मो ह्यमृतोऽसंस्कृतः। दर्शयेयं चाहं, न परोऽस्य जानीयात्, यन्नूनं तूष्णीं पवने वसेयम् ॥1384॥ अपगतगीर्वाविपथो ह्यलिप्तो यथा गगनं तथा स्वभावो धर्मः। चित्तमनोविचारविप्रमुक्तः परमास्वश्चर्यं परो विजानीयात् ॥1385॥ न पुनरयं शक्यो ऽक्षरैः प्रवेष्टुम् अनर्थयोगविप्रवेशः। पूर्वजिनकृताधिकारसत्वास् त इमं श्रुत्वा हि धर्मं श्रद्दधति ॥1386॥ न च पुनरिह कश्चिदस्ति धर्मः सोऽपि न विद्यते यस्य नास्तिभावः। हेतुक्रियापरम्परां यो जानीयात् तस्य न भवतीहास्तिनास्तिभावः ॥1387॥ कल्पसहस्राण्यप्रमेयान्यहं चरितः पूर्वेषा जिनानां सकाशो न च मया प्रतिलब्धैषा क्षान्ति यत्र नात्मा न सत्वा नैव जीवः ॥1388॥ यदा मया प्रतिलब्धैषा क्षान्तिर्म्रियते न चेह न कश्चिज् जायते वा। प्रकृत्येमे निरात्मानः सर्वे धर्मास् तदा मां व्याकार्षीद् बुद्धो दीपनामा ॥1389॥ करुणा ममानन्ता सर्वलोके परतो न चार्थनतामहं प्रतीक्षे। यदा तु पुनर्जनता प्रसन्ना ब्रह्मणि। तेनाधीष्टः प्रवर्तयिष्ये चक्रम् ॥1390॥ एवं चायं धर्मो ग्राह्यो मे (=मया) स्यात्—स चेद मम ब्रह्मा क्रमे (=चरणे) निपत्य याचेत। प्रवद विरजसं प्रणीतं धर्मं सन्ति विज्ञातारः सत्वाः स्वाकाराश्) (=शोभनप्रकाराश्)च ॥1391॥

समुदानीय (=संसाध्य) ज्ञानमहाग्रमण्डलं विसृज्य रश्मीन् दशसु दिक्षु चैव। तदङ्ग ज्ञानांशुनृपद्मबोधक, उपक्षेकस्तिष्ठसि वादि-भास्करः ॥1392॥ निमंत्र्यार्यधनेन सत्वान् आश्वास्य बहुप्राणिकोटीः। न युक्तमेतत्तव लोकबन्धो यत्तूष्णी-भावेनोपेक्षसे जगत् ॥1393॥ पराजह्य उत्तमधर्मदुन्दुभिं सद्धर्मशंखं च प्रपूरयाशु। उच्छ्रायस्व महाधर्मयूपं प्रज्वालयस्व महाधर्मदीपम् ॥1394 ॥ प्रवर्ष वै धर्मजलं प्रधानं प्रतारयेमान् भवसागरस्थान्। प्रमोचयेमान् महाव्याधिक्लिष्टान् क्लेशाग्नितप्तं (जगदितिशेषः) प्रशमं कुरुष्व ॥1395॥ निदर्शय त्वं खलु शान्तिमार्गं क्षेमं शिवं निर्जरसमशोकम्। निर्वाणमार्गागमनादनाथे विपथस्थिते नाथ कृपां कुरुष्व ॥1396॥ विमोक्षद्वाराण्य् अपावृणुष्व प्रचक्ष्व तं धर्मनयं ह्यकोप्यम्। जात्यन्धभूतस्य जनस्य नाथ त्वमुत्तमं शोधय धर्मचक्षुः ॥1397॥ न ब्रह्मलोके न च देवलोके न यक्षगन्धर्वमनुष्यलोके। लोकस्य यो जातिजरापनेता, नान्योऽस्ति त्वत्तो हि मनुष्यचन्द्रः ॥1398॥ अध्येषको (=प्रार्थको)ऽहं तव धर्मराज, अध्याचारान् (=उत्तमचर्यान) कृत्वा सर्वदेवान्। अनेन पुण्येनाहमपि क्षिप्रं प्रवर्तयेयं वरधर्मचक्रम् ॥1399॥

उत्तिष्ठ विजितसंग्राम प्रज्ञाकर तमिस्रां विवृणु लोके । चित्तं हि ते विमुक्तं शशीव पूर्णो ग्रहविमुक्तः ॥1400॥ उत्तिष्ठ विजितसंग्राम प्रज्ञाकर तमिस्रां विवृणु लोके । देशय त्वं मुने धर्मम् आज्ञातारो भविष्यन्ति ॥1401॥

प्रतिस्रोतोगामी मार्गो गंभीरो दुर्दृशो मम । न तं द्रक्ष्यन्ति रागान्धा अलं तस्मात् प्रकाशयितुम् ॥1402॥ अनुस्रोतः प्रवाह्यन्ते कामेषु पतिताः प्रजाः कृच्छ्रेण मेऽयं संप्राप्तोऽलं तस्मात् प्रकाशयितुम् ॥1403॥

वादो बभूव समलैर्विचिन्ततो धर्मोऽविशुद्धो मगधेषु पूर्वः । अमृतस्य मुने तद् विवृणीष्व द्वारं शृण्वन्तु (यथा त्वं तु शृण्वन्ति) धर्मं विमलेन बुद्धम् ॥1404॥ कृतस्वकार्योऽसि भुजिष्यतां गतो दुःखाभिसंस्कारमलापकृष्टः । न हानिवृद्धी कुशलस्य ते स्तस् त्वमग्रधर्मेष्विह पारमितां गतः ॥1405॥ न ते मुने सदृश इहास्ति लोके कुतोऽधिकः स्यादिह ते महर्षे । भवनिहाप्रस्त्रिभवे विरोचते गिरिर्यथासावसुरालयस्थः ॥1406॥ महाकृपां जनय दुःखिते जने न त्वादृशा जातु भवन्त्युपेक्षकाः । भवान् वैशारद्यबलैः समन्वितस् त्वमेव शक्तो जनतां प्र(कर्षेण) तारयितुम् ॥1407॥ इयं सुशल्या सुचिरातुरा प्रजा सदेवका सश्रमणा द्विजाखिला । आरोगिणी भवतु निरातुरज्वरा न चापरः शरणमिहास्या विद्यते ॥1408॥ चिरानुबद्धास्तव देवमानुषाः कल्याणचित्ता अमृतार्थिनश्च । धर्मं यमेवाधिगमिष्यति जिनो यथावदन्यूनमुदाहरिष्यति ॥1409॥ तस्माद्धि याचामहे विक्रम त्वां विनयस्व सत्त्वांश्चिरनष्टमार्गान् अविश्रुतार्थान् शमनाथ (= शान्तये, श्रवणाय, च ।अपभ्रंशाश्रयश्लेषः) काङ्क्षितान् सुदुर्बलान् बृंहणकांक्षिणो वा (=इव) ॥1410॥ इयं तृषार्ता जनता महामुने, उदीक्षते धर्मजलं तवान्तिके । मेघो यथा संतृषितां वसुंधरां कुरु तर्पणां नायक धर्मवृष्ट्या ॥1411॥ चिरप्रनष्टा विचरन्ति मानवा भवे कुदृष्टिगहने सकण्टके । अकण्टकं मार्गमृजुं प्रचक्ष्व तं यं भावयित्वा ह्यमृतं लभेरन् ॥1412॥ अन्धाः प्रपाते पतिता ह्यनायका नोद्धर्तुमन्यैरिह शक्या एते । महाप्राते पतितान् समुद्धर छन्दं समुत्पाद्य वृषोऽसि बुद्धिमान् ॥1413॥ न संगतिस्तेऽस्ति सदा मुने चिरं कदाचिदौदुम्बरपुष्पसंनिभा जिनाः पृथिव्यां प्रभवन्ति नायकाः प्राप्तः क्षणो मोचय नाथ सत्त्वान् ॥1414॥ अभूच्च ते पूर्वभवेष्वियं मतिस् तीर्णः स्वयं तारयिता भवेयम् । असंशयं पारगतोऽसि सांप्रतं सत्यां प्रतिज्ञा कुरु सत्यविक्रमः ॥1415॥ धर्मोल्कया विधम मुनेऽन्धकारम् उच्छ्रायय त्वं हि तथागतध्वजम् । अयं स कालः प्रत्यलाभ्युदीरणे मृगाधिके वा (= मृगाधिप इव)नद दुन्दुभिस्वरः ॥1416॥

अपावृतानि तेषाममृतस्य द्वाराणि, ब्रह्मन्निति सततं ये श्रोत्रवन्तः।
प्रविशन्ति श्रद्धां न विहेठसंज्ञां शृण्वन्ति धर्मं मगधेषु सत्त्वाः ॥1417॥

षष्टिर् यज्ञसहस्रकोटिनयुतानि यानि तत्रेष्टानि मया, षष्टिर् बुद्धसहस्रकोटिनयुतानि यानि तत्र संपूजितानि। पौराणिकानामृषीणामिहालयो वरो वाराणसीनामवान् देवनागाभिस्तुतो महीतलो धर्माभिनिम्नः सदा ॥1418॥ बुद्धानां कोटिसहस्राण्येकनवतिं पूर्वं स्मराम्यहं ये तस्मिन्नृषिसाह्वये वनवरेऽवीवृतंश्चक्रोत्तमम्। शान्तं चाप्युपशान्तं ध्यानाभिमुखं नित्यं मृगैः सेवितम् इत्यर्थं ऋषिसाह्वये वनवरे वर्तयिष्ये चक्रोत्तमम् ॥1419॥इति॥

॥ २६ ॥

॥ धर्मचक्रप्रवर्तनपरिवर्तः ॥

मुद्रितग्रन्थ 402 (पंक्ति 19)—438 (पंक्ति 14)
भोटानुवाद 291क (पंक्ति 3)—323ख (पंक्ति 1)

अपावृतानि तेषाममृतस्य द्वाराणि, ब्रह्मन्निति सततं ये श्रोत्रवन्तः।
प्रविशन्ति श्रद्धा न विहेठसंज्ञां शृण्वन्ति धर्मं मगधेषु सत्वाः ॥1417॥

षष्टिर् यज्ञसहस्रकोटिनयुतानि यानि तत्रेष्टानि मया, षष्टिर् बुद्धसहस्रकोटिनयुतानि यानि तत्र संपूजितानि। पौराणिकानामृषीणामिहालयो वरो वाराणसीनामवान् देवनागाभिस्तुतो महीतलो धर्माभिनिम्नः सदा ॥1418॥ बुद्धानां कोटिसहस्राण्येकनवतिं पूर्वं स्मराम्यहं ये तस्मिन्नृषिसाह्वये वनवरेऽवीवृतंश्चक्रोत्तमम्। शान्तं चाप्युपशान्तं ध्यानाभिमुखं नित्यं मृगैः सेवितम् इत्यर्थं ऋषिसाह्वये वनवरे वर्तयिष्ये चक्रोत्तमम् ॥1419॥इति॥

॥ २६ ॥

॥ धर्मचक्रप्रवर्तनपरिवर्त ॥

1. प्रथम-धर्म देशना के योग्य शिष्यों का गवेषण

1. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, तथागत, जिन्होने अपना काम कर लिया अपने कर्तव्य को पूरा कर लिया है, जिन्होंने सब बन्धनों को काट डाला है, सब क्लेशों को उखाड़ डाला है, मलों और क्लेशों को निकाल डाला है, मार रूपी शत्रु को परास्त कर डाला है, सबके सब (-403-) बुद्ध के धर्मन्यायों में जिन्होंने प्रवेश पा लिया है, जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, दशबलों से युक्त चार वैशारद्यों (=निर्भयताओं) के लाभी, अट्ठारह आवेणिक (=असाधारण) बुद्ध-धर्मों से परिपूर्ण तथा पाँच चक्षुओं से (अर्थात् मासचक्षु से, दिव्य चक्षु से, प्रज्ञा चक्षु से, धर्म चक्षु से एवं बुद्ध चक्षु से) समन्वित हैं, आवरण-रहित बुद्ध-चक्षु द्वारा समूचे लोक को देख सोचने लगे कि किसे मैं पहले धर्म की देशना करूँ ? कौन प्राणी शुद्ध एवं सुन्दर रंग-ढंग का है, सुख से विनीत किया जा सकता है, सुख से विज्ञापित (=शिक्षित) किया जा सकता है, सुख से शोधित किया जा सकता है ? किसका राग, दोष, (=द्वेष) और मोह मंद (=अल्प) है ? कौन अपरोक्ष-विज्ञान का है, =291ख= जो धर्म के न सुनने से घाटे में पड़ा है ? मैं उसे सबसे पहले धर्म की देशना करूँगा, जो मेरे उपदेश दिए धर्म को जान ले तथा मुझे पीड़ित न करे ।

2. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, तथागत के मन मे यह बात आई । रुद्रक रामपुत्र शुद्ध एवं सुन्दर रंग-ढंग के है, उन्हे सुख से विज्ञापित (=शिक्षित) किया जा सकता है, सुख से शोधित किया जा सकता है, उनका राग, दोष, (=द्वेष) और मोह मंद (=अल्प) है । वे अपरोक्ष-विज्ञान के है, वे धर्म के न सुनने से घाटे में पड़े हैं । वे (अपने) श्रावकों को नैवसंज्ञानासंज्ञायतन (नामक समाधि) के साथ सहभागी होने के धर्म की देशना करते है । वे इस समय कहाँ रहते हैं ? उन्होंने जाना कि उनका देहान्त हुए आज सप्ताह हो गया है । देवताओं ने भी तथागत के चरणों में पड़ कर ऐसा ही कहा—हाँ, यही बात है भगवन्, हाँ यही बात है सुगत, रुद्रक रामपुत्र का देहान्त हुए आज सप्ताह हो गया है । हे भिक्षुओं, मेरे मन में यह बात आई । अहो, रुद्रक रामपुत्र की महाहानि हो गई है, जो इस प्रकार के, इस उत्तम धर्म का श्रवण बिना किए

॥ २६ ॥

॥ धर्मचक्रप्रवर्तनपरिवर्त ॥

1. प्रथम-धर्म देशना के योग्य शिष्यों का गवेषण

1. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, तथागत, जिन्होने अपना काम कर लिया अपने कर्तव्य को पूरा कर लिया है, जिन्होंने सब बन्धनो को काट डाला है, सब क्लेशों को उखाड़ डाला है, मलों और क्लेशों को निकाल डाला है, मार रूपी शत्रु को परास्त कर डाला है, सबके सब (-403-) बुद्ध के धर्मन्यायों में जिन्होने प्रवेश पा लिया है, जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, दशबलों से युक्त चार वैशारद्यों (=निर्भयताओं) के लाभी, अट्ठारह आवेणिक (=असाधारण) बुद्ध-धर्मों से परिपूर्ण तथा पाँच चक्षुओं से (अर्थात् मासचक्षु से, दिव्य चक्षु से, प्रज्ञा चक्षु से, धर्म चक्षु से एवं बुद्ध चक्षु से) समन्वित हैं, आवरण-रहित बुद्ध-चक्षु द्वारा समूचे लोक को देख सोचने लगे कि किसे मैं पहले धर्म की देशना करूँ ? कौन प्राणी शुद्ध एवं सुन्दर रंग-ढंग का है, सुख से विनीत किया जा सकता है, सुख से विज्ञापित (=शिक्षित) किया जा सकता है, सुख से शोधित किया जा सकता है ? किसका राग, दोष, (=द्वेष) और मोह मंद (=अल्प) है ? कौन अपरोक्ष-विज्ञान का है, =291ख= जो धर्म के न सुनने से घाटे मे पड़ा है ? मैं उसे सबसे पहले धर्म की देशना करूँगा, जो मेरे उपदेश दिए धर्म को जान ले तथा मुझे पीड़ित न करे ।

2. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, तथागत के मन में यह बात आई । रुद्रक रामपुत्र शुद्ध एवं सुन्दर रंग-ढंग के है, उन्हें सुख से विज्ञापित (=शिक्षित) किया जा सकता है, सुख से शोधित किया जा सकता हैं, उनका राग, दोष, (=द्वेष) और मोह मंद (=अल्प) है । वे अपरोक्ष-विज्ञान के हैं, वे धर्म के न सुनने से घाटे मे पड़े है । वे (अपने) श्रावकों को नैवसंज्ञानासंज्ञायतन (नामक समाधि) के साथ सहभागी होने के धर्म की देशना करते हैं । वे इस समय कहाँ रहते है ? उन्होंने जाना कि उनका देहान्त हुए आज सप्ताह हो गया है । देवताओं ने भी तथागत के चरणों में पड कर ऐसा ही कहा—हाँ, यही बात है भगवन्, हाँ यही बात है सुगत, रुद्रक रामपुत्र का देहान्त हुए आज सप्ताह हो गया है । हे भिक्षुओं, मेरे मन में यह बात आई । अहो, रुद्रक रामपुत्र की महाहानि हो गई है, जो इस प्रकार के, इस उत्तम धर्म का श्रवण बिना किए

ही, देहान्त हो गया। वे यदि इस धर्म को सुन पाते तो जान लेते और यदि मैं उन्हे पहले-पहल धर्म-देशना करता, तो मुझे पीडा =292क= न देते।

3. हे भिक्षुओं, फिर (दुबारा), तथागत के मन में यह बात आई कि और कौन (ऐसा) प्राणी है, जो शुद्ध हो, जिसे सुख से विनीत किया जा सकता हो····(जो मेरी) धर्म-देशना का (बोध कर ले) तथा मुझे पीड़ित न करे। हे भिक्षुओं, तब तथागत के मन में यह बात आई। ये आराड कालाप शुद्ध हैं···· (ये मेरी) धर्म-देशना का (बोधकर लेंगे) तथा मुझे पीड़ित न करेंगे। हे भिक्षुओं, तथागत ने ध्यान (बल) से खोजा, कहाँ वे इस समय हैं? ध्यान (बल) से खोजते हुए उन्होंने जाना कि उनका देहान्त हुए आज तीन दिन हो चुके हैं। (–404–) शुद्धावासकायिक देवताओ ने भी इसी बात का तथागत से निवेदन किया कि हाँ, यही बात है भगवन्, हाँ यही बात है सुगत, अराड़ कालाप का देहान्त हुए आज तीन दिन हो चुके है। तब तथागत के मन में यह बात आई। अहो। अहो, अराड कालाप की महाहानि हो गई है, जो इस प्रकार के, इस उत्तम धर्म का श्रवण बिना किए ही, देहान्त हो गया।

4. हे भिक्षुओ, फिर (तिबारा), तथागत के मन में यह बात आई कि और कौन (ऐसा) प्राणी है, जो शुद्ध एवं सुन्दर रंग-ढग का हो····(जो मेरी) धर्म-देशना का (बोध कर ले) तथा मुझे पीड़ित न करे।

5. हे भिक्षुओ, =292ख= इसके अनन्तर, तथागत के मन मे यह बात आई कि वे पञ्च-भद्रवर्गीय शुद्ध एवं सुन्दर रंग-ढंग के है, उन्हे सुख से विज्ञापित किया जा सकता है; उन्हें सुख से शोधित किया जा सकता है, उनके राग, दोष, (=द्वेष) और मोह मन्द (=अल्प) है, वे अपरोक्ष-ज्ञान के हैं, वे धर्म के न सुनने से घाटे मे पड़े हैं। उन्होने दुष्करचर्या करते समय मेरी सेवा की है। वे मेरी धर्म-देशना का बोध कर लेंगे तथा यहाँ मुझे पीड़ित नही करेंगे।

6. हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, तथागत के मन मे यह बात आई कि मैं पहले-पहल पंच-भद्रवर्गीयों को धर्म की देशना करूँ।

7. हे भिक्षुओ, इसके अनन्तर, तथागत के मन में यह बात आई कि इस समय पञ्च-भद्रवर्गीय कहाँ रह रहे है? अनन्तर तथागत ने बुद्धचक्षु से समूचे लोक की निहारते हुए निगाह डाली (और) देखा कि पञ्च-भद्रवर्गीय वाराणसी के पास ऋषिपतन के मृगदाव में विहार कर रहे है। देखकर तथागत के मन में यह बात आई कि मैं यदि पञ्च-भद्रवर्गीयो को सबसे पहले धर्मदेशना करूँगा, तो वे सबसे पहले मेरी धर्मदेशना को जान लेंगे। हे भिक्षुओ, वह किस हेतु? वे =293क= चरित्रवन्त है, (वे) अत्यन्त पंडित है, (वे) शुक्लधर्म के है; (वे) मोक्षमार्ग की ओर मुख किए हुए है; (वे) बन्धनो से दूर हो चुके है।

(2) आजीवक उपग तथा तथागत का संवाद

8. (-405-) हे भिक्षुओ, इसके अनन्तर, ऐसा सोचकर तथागत बोधिमण्डप से उठ कर, त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोक धातु को कँपा कर, क्रम से मगध-देश मे विचरते-विचरते काशी-जनपद मे पद-चारिका करने लगे।

9. तब गया और बोधिमण्डप के बीच, एक आजीवक ने दूर से ही तथागत को आता हुआ देख, जहाँ तथागत थे, वहाँ जाकर एक ओर खड़ा हो गया। हे भिक्षुओं, आजीवक ने तथागत के साथ विविध-प्रकार की संमोदनी-कथा (अर्थात् कुशल-प्रश्नकथा) करके यों कहा—हे आयुष्मन्त गौतम, तुम्हारी इन्द्रियाँ अत्यन्त प्रसन्न है, तुम्हारा छविवर्ण (= त्वचा का रग) सब प्रकार से शुद्ध हैं, सब प्रकार से उज्ज्वल है, उससे गोरी आभा फूटी पड रही है। जैसे शरद ऋतु का बदर-फल[1] चमकता हुआ पाण्डुर-वर्ण का, गोरी आभा को प्रस्फुटित करता है, वैसे ही (तत्र-) भवन्त गौतम का इन्द्रिय-गण सब प्रकार से शुद्ध हैं, मुखमण्डल सब प्रकार से उज्ज्वल है। जैसे = 293ख = तुरन्त डंठल से गिरे पके हुए तालफल का बन्धन-स्थान सब प्रकार से शुद्ध, सब प्रकार से उज्ज्वल, गोरी आभा को प्रस्फुटित करने वाला होता है, वैसे ही (तत्र--) भवन्त गौतम का इन्द्रिय-गण सब प्रकार से शुद्ध है, मुखमण्डल सब प्रकार से उज्ज्वल है। जैसे सुवर्ण-वर्ण का निष्क (नामक आभूषण) उल्कामुख से (=भट्ठी से) निकाल कर, कुशल सुनार के द्वारा भलीभाँति सवारा गया, पाण्डु (--वर्ण के) कबल पर रक्खा गया, (अपने) वर्ण से चमकता है, सब प्रकार से शुद्ध, सब प्रकार से उज्ज्वल, गोरी आभा प्रस्फुटित करने वाला, अत्यन्त चमक वाला होता है, वैसे ही (तत्र--) भवन्त गौतम का इन्द्रिय-गण अत्यन्त प्रसन्न है, त्वचा का वर्ण सब प्रकार से शुद्ध है, मुख-मण्डल सब प्रकार से उज्ज्वल है। आयुष्मन्त गौतम किस (गुरु) के पास[2] ब्रह्मचर्य का आचरण कर रहे है[2]। हे भिक्षुओ, ऐसा कहने पर तथागत ने उस आजीवक से, गाथा द्वारा कहा—

आचार्यो न हि मे कश्चित् सदृशो मे न विद्यते।
एकोऽहमस्मि संबुद्धः शीतीभूतो निराश्रवः ॥1421॥

1. मूल, कालं। पठनीय, कोलं। तुलनीय भोट, गर्य शुग् (= कोलं, बदरफलं)।

2....2. ब्रह्मचर्यमुच्यते पाठ मूल का है। उच्यते से संगीत नही लगती। पाठ उष्यते जान पडता है, यद्यपि भोटानुसार, पाठ चर्यते है— छङ्स् पर् स्प्यद् प स्प्योद् (=ब्रह्मचर्य चर्यते)। ब्रह्मचर्यमुष्यते संभवतः मूल पाठ था। ष्य के स्थान में च्य लिपिकर अथवा पाठक का दोष जान पड़ता है।

मेरा कोई आचार्य नहीं है, मेरे सदृश (कोई) नही है, मैं एक संबुद्ध, शीतीभूत (=संसार की डाह से रहित), निरास्रव (=मलरहित) हूँ।

10. वह बोला—हे गौतम, अपने-आपके अर्हन्त होने का दावा करते हो ?

(-406-) तथागत बोले—

अहमेवार्हं लोके शास्ता ह्यहमनुत्तरः
सदेवासुरगन्धर्वे नास्ति मे प्रतिपुद्गलः ॥1421॥

लोक में मैं ही अर्हन्त हूँ, मैं ही अनुत्तर (=सर्वश्रेष्ठ) शास्ता (=शिक्षक) हूँ। देवताओं, गन्धर्वो तथा असुरों के सहित (इस लोक) मे मेरे सदृश पुरुष नही है।

वह बोला—हे गौतम, =294क= अपने-आप के जिन होने का दावा करते हो ?

तथागत बोले—

जिना हि मादृशा ज्ञेया ये प्राप्ता आश्रवक्षयं।
जिता मे पापका धर्मास्तेनोपग जिनो ह्यहं ॥1422॥

मुझ-जैसे को जिन जानना चाहिए, जिन्होने आस्रवो का (=मलो) का क्षय कर लिया है। मैंने पाप-धर्मों को जीत लिया है। हे उपग, इसलिए मैं ही जिन हूँ।

वह बोले—तो आयुष्मन्त गौतम, कहाँ जाओगे ?

तथागत बोले—

वाराणसीं गमिष्यामि गत्वा वै काशिनां पुरी।
अन्धभूतस्य लोकस्य कर्तास्म्यसदृशां प्रभाम् ॥1423॥

वाराणसी जाऊँगा। काशि (-जनो) की पुरी मे जा कर, अन्धे हुए लोक के लिए अनुपम ज्योति (का प्रादुर्भाव) करूँगा।

वाराणसी गमिष्यामि गत्वा वै काशिनां पुरी।
शब्दहीनस्य लोकस्य ताडयिष्येऽमृत दुन्दुभिं ॥1424॥

वाराणसी जाऊँगा। काशि (जनो) की पुरी मे जाकर, शब्द-रहित लोक के लिए अमृतदुन्दुभि बजाऊँगा।

वाराणसीं गमिष्यामि गत्वा वै काशिनां पुरीं।
धर्मचक्रं प्रवर्तिष्ये लोकेष्वप्रतिवर्तितं ॥1425॥

वाराणसी जाऊँगा। काशि (-जनो) की पुरी मे जा कर, लोको मे अप्रवर्तित धर्मचक्र का प्रवर्तन करूँगा।

हे गौतम, (तुम जैसा कह रहे हो) वैसे ही होगे। ऐसा कह कर वह आजीवक दक्षिण की ओर चल पड़ा। तथागत भी उत्तर की ओर चल पड़े।

(3) गया से वाराणसी तक की यात्रा

11. हे भिक्षुओं, इस प्रकार (चारिका करते हुए), तथागत को गया में सुदर्शन नागराज ने निवास एवं भोजन द्वारा निमन्त्रण दिया। वहाँ से तथागत रोहितवस्तु गए, वहाँ से उरुविल्वाकल्प। वहाँ से अणाल गए, वहाँ से सारथिपुर। =294ख= इन सब (स्थानों) पर, हे भिक्षुओं, तथागत गृहपतियों द्वारा निवास और भोजन से निमन्त्रित होते हुए, क्रम से गंगा नदी के किनारे पहुँचे। (-407-) हे भिक्षुओं, उस समय महानदी गंगा अत्यन्त पूर्ण भरी हुई, किनारो तक (जल से) बराबर होकर बह रही थी।

12 हे भिक्षुओं, इसके अनन्तर, तथागत पार उतरने के लिए नाविक के पास पहुँचे। वह बोला—गौतम उतराई दो। हे मार्ष (साथी), मेरे पास उतराई नही है—ऐसा कहकर तथागत आकाश मार्ग से (इस) किनारे से परले किनारे पर पहुँच गए। इसके अनन्तर, वह नाविक वैसा देखकर बहुत ही पछताया कि मैंने ऐसे दक्षिणीय (=पूजनीय) को नहीं उतारा। हाय, कितने दुःख की बात हो गई—ऐसा (मन में) करके मूर्छित होकर धरती पर गिर पड़ा। तदनन्तर, नाविक ने इस बात का राजा बिंबिसार से निवेदन किया कि नाथ, श्रमण गौतम से उतराई माँगी, वे उतराई नहीं है यह कहकर आकाश द्वारा इस किनारे से परले किनारे पहुँच गए। राजा बिंबिसार ने वह बात सुन कर, तब से लेकर, सब प्रव्रजितों के लिए उतराई माफ़ कर दी।

13. हे भिक्षुओं, इस प्रकार तथागत क्रम से जनपदों मे विचरते-विचरते जहाँ वाराणसी महानगरी थी, =295क= वहाँ पहुँचे। पहुँच कर,[3] समयपर सवेरे[3], पहन (-ओढ़) कर, पात्र-चीवर ले, वाराणसी नगरी मे पिण्ड (=भिक्षा) के लिए प्रविष्ट हुए। उसमे पिण्ड (=भिक्षा) के लिए फिर कर, भक्त-कृत्य (=भोजन) करके, भोजन की बेला बीतने के पीछे, पिण्डपात से (=भिक्षासग्रह से) लौट कर, जहाँ ऋषिपतन मृगदाव था और जहाँ पञ्चभद्रवर्गीय थे, वहाँ पहुँचे।

(4) पञ्च-भद्रवर्गीयों का तथागत के साथ आचार-व्यवहार

14. पञ्च-भद्रवर्गीयों ने दूर से ही तथागत को आते हुए देख लिया और देखकर क्रियाबन्ध (=कर्तव्य-निश्चय) किया। हे आयुष्मन्तों, यह वही श्रमण

3....3. यहाँ मूल पाठ का शब्द काल्प मेव है। संभवतः यह मुद्रणदोष है। भोटानुवाद नङ् पर् (=प्रभाते, कल्यम्) है। मूल निश्चय यही काल्यमेव (=समयपर) अथवा कल्यमेव (=सबेरे) होगा। अपभ्रष्ट काल्यमेव श्लिष्ट होने से दोनों अर्थों का वाचक है।

गौतम आ रहा है, जो शैथिलिक (=अपने व्रत से ढुलमुल) हो गया था बाहुलिक (= बहुत खाने-पीने वाला) हो गया था, प्रहाणविभ्रष्ट (= तपश्चर्या से अत्यन्त भ्रष्ट) हो गया था। इसे पहले की उस दुष्कर-चर्या से भी मनुष्य-धर्म से कुछ भी ऊपर के, अलमार्य (= सचमुच के श्रेष्ठ), विशेष ज्ञान दर्शन का साक्षात्कार न हो सका था। इस समय की तो बात ही क्या (जब यह) स्थूल भोजन करता हुआ, सुखल्लिकायोग मे (= आरामतलबी मे) लगा हुआ, अभव्य (= निकम्मा) हो चुका है। (–408–) निश्चय ही यह शैथिलिक (=अपने व्रत से ढुलमुल) है, बाहुलिक (= बहुत खाने-पीने वाला) है। कोई इसका स्वागत न करे। (कोई) इसके लिए उठ कर खडा न हो। (कोई) इसका पात्र-चीवर न ले। न (कोई) इसे आसन[4] दे, न (कोई) परिभोग्य जल, न (कोई) पाद-प्रतिष्ठान (= पैर धोने की पीठिका) दे। खाली आसनो छोड कर (कोई कुछ सत्कार न करे और उससे) कहे कि आयुष्मन्त गौतम, ये खाली आसन है, = 295ख = चाहते हो तो बैठो। आयुष्मन्त आज्ञातकौण्डिन्य[5] ने मन से स्वीकार किया पर वाणी से निषेध न किया।

15. हे भिक्षुओं, जहाँ पंच-भद्रवर्गीय थे, वहाँ ज्यों-ज्यों तथागत पास पहुँचने लगे, त्यों-त्यों वे अपने-अपने आसनों पर रमे-जमे उठना चाहने लगे। जैसे कोई पिंजड़े मे बंद पक्षी हो और पिंजड़े मे बद (पक्षी) के नीचे आग जलने लगे, वह आग से तप कर, ऊपर उड़ना चाहे,[6] बच निकलना चाहे,[6] वैसे ही ज्यों-ज्यों तथागत पञ्च-भद्रवर्गीयो के पास पहुँचने लगे, त्यों-त्यों वे अपने-अपने आसनों पर रमे-जमे न रह सके, उठना चाहने लगे। वह किसलिए ? कोई भी प्राणी (यहाँ) प्राणियों के समूह मे ऐसा नही है, जो तथागत को देखकर आसन से न उठे। ज्यों-ज्यों तथागत पञ्च-भद्रवर्गीय के पास पहुँचने लगे, त्यों-त्यों पञ्च-भद्रवर्गीय तथागत की श्री और तेज को न सह पाकर, आसनो से विच-लित हो उठे, सब के सब क्रियाकार (= कर्तव्यनिश्चय) को तोड़ कर, आसनों से उठ कर, किसी ने स्वागत किया, किसी ने उठ कर पात्र-चीवर लिया, किसी ने आसन लाकर दिया, किसी ने पादप्रतिष्ठान (=पैर धोने की पीठिका) ला कर

4. मूल, अशनं (नाशनं पद में, न + अशनं पदच्छेद)। भोट, स्तन् (= आसनं)। आसनं ही उचित पाठ है। मूल मे नासनं पढ़ना चाहिए।
5. मूल, आज्ञानकौण्डिन्य०। पालि अञ्ञातकोण्डञ्ञ। भोट, कुन् शेस् कौण्डिन्य।
6....6. मूल, प्रत्रेतुकामः। पाठ सदिग्ध है। धातु त्रे का अपभ्रंश त्रे संभव है। भोट, ह.फुर ह.दोद् (= डड्डयितुकामः)।

रक्खा तथा किसी ने पैर धोने के लिए=296क=जल लाकर रक्खा । और यों निवेदन करने लगे—हे आयुष्मन्त गौतम, तुम्हारा स्वागत है, हे आयुष्मन्त गौतम, तुम्हारा स्वागत है, विराजो, यह आसन बिछा है ।

16 हे भिक्षुओं, तथागत उसी बिछाए आसन पर विराजे । पञ्च-भद्रवर्गीय भी तथागत के साथ (-409-) विविध प्रकार की संरञ्जनी एवं संमोदनीकथा (= चित्त प्रसन्न करने वाली कुशलप्रश्न-कथा) करके एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे हुए वे पच-भद्रवर्गीय तथागत से यह बोले हे आयुष्मन्त गौतम, तुम्हारा इन्द्रिय-गण अत्यन्त प्रसन्न है, छविवर्ण (=त्वचा का रंग) सब प्रकार से शुद्ध है....तो क्या तुम्हें कुछ मनुष्य धर्म से ऊपर के अलमार्य (= सचमुच के श्रेष्ठ), विशेष ज्ञान-दर्शन का साक्षात्कार हुआ है ?

17. हे भिक्षुओ, ऐसा कहने पर, तथागत ने पंच-भद्रवर्गीयों से यों कहा । तुम भिक्षुओ तथागत के लिए आयुष्मन्त शब्द का उपचार (=व्यवहार) मत करो, वह तुम्हारे लिए, दीर्घकाल तक, अर्थ के लिए, हित के लिए, सुख के लिए नहीं होगा । हे भिक्षुओं, मैने अमृत का तथा अमृत की ओर[7] ले जाने वाले मार्ग का साक्षात्कार किया है । हे भिक्षुओ, मैं बुद्ध हूँ, सर्वज्ञ, =296ख= सर्वदर्शी, शीतीभूत (= संसार की डाह से रहित), आस्रवहीन, सब धर्मों का वशी (= अधिकारी) हूँ । हे भिक्षुओं, मै धर्म की देशना करूँगा, शीघ्र आओ[8], सुनो, आचरण करो, कान देकर सावधानी से सुनो, मैं अववादन (=उपदेश) करूँगा, अनुशासन (=सदसद्-विवेचन) करूँगा । मेरे द्वारा सम्यक्-अववादन एवं सम्यक्-अनुशासन ग्रहण कर तुम भी आस्रवों से (=मलों से) चित्त की विमुक्ति का, प्रज्ञा की विमुक्ति का, (इस) दृष्ट-धर्म में ही अर्थात् इस जन्म के शरीर में ही साक्षात्कार कर, उपसंपादन कर अनुभव करोगे कि—हमारा जन्म क्षीण हो चुका है, ब्रह्मचर्य-वास (पूरा) कर लिया है, जो करणीय था, वह कर चुके, इस भव (= जन्म) से अब और दूसरा (भव) नही है—ऐसा (हम) जान गए । हे भिक्षुओ, तुम्हारे मन मे यह बात आई थी न कि हे आयुष्मन्तों, यह श्रमण गौतम आ रहा है, (जो) शैथिलिक (= अपने व्रत मे ढुलमुल) है, बाहुलिक (= बहुत खाने-पीने वाला) है, प्रहाणविभ्रष्ट (= तपश्चर्या से अत्यन्त भ्रष्ट हुआ) है....(उसका कोई सत्कार न करे, केवल इतना कह दे कि ये खाली आसन पडे हैं) चाहो तो बैठो ।

18. उनका आओ, भिक्षुओ (एहि भिक्षवः) ऐसा कहने पर, जो कुछ तीर्थिकलिंग (=अबौद्धचिह्न) तथा तिर्थिकध्वज (= अबौद्धवान्त) था, वह सब

7. मूल, व । पठनीय च । भोट, दङ् (=च) ।

8. मूल, गच्छत । पठनीय, ऽऽगच्छत । भोट, .छुर् शिग् (=आगच्छतात्र) ।

उसी क्षण अन्तर्हित हो गया। तीन चीवरो तथा पात्र का प्रादुर्भाव हुआ। केश छिन्न हो गए। जैसे सौ वर्ष के उपसंपन्न भिक्षु का ईर्यापथ (=रहन-सहन) होता है, वैसा ही उनका हो गया। =297क= उनकी वही प्रव्रज्या थी, वही उपसंपदा थी, जिससे उन्हें भिक्षुभाव मिला।

(5) धर्मचक्र-प्रवर्तन से पूर्व के दिव्य वृत्तान्त

19. हे भिक्षुओं, उस समय, पञ्च-भद्रवर्गीय भिक्षुओ ने तथागत के चरणों मे गिर कर, (अपने) अपराध की देशना की और तथागत के प्रति (-410-) शास्तृसंज्ञा (=गुरुबुद्धि), प्रेम, प्रसाद (=श्रद्धा) तथा गौरव को (अपने मन मे) उपजाया। (मन मे) गौरव उपजाकर (उन्होंने) बहुत-विचित्र पुष्करिणी मे तथागत का स्नान-परिकर्म (=स्नान द्वारा बनाव-सँवार) किया। हे भिक्षुओं, स्नान करके निकले हुए तथागत के मन मे यह बात आई कि किस (स्थान) पर, बैठ कर, पहले के अर्हन्त सम्यक्-संबुद्ध तथागतो ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था, हे भिक्षुओं, जिस पृथिवी के स्थान पर पहले के अर्हन्त (सम्यक् संबुद्ध) तथागतों ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था, उस पृथिवी के स्थान पर तब सप्तरत्नमय सहस्र सिंहासनो का प्रादुर्भाव हुआ। इसके अनन्तर, पहले के तथागतों के गौरव से तथागत तीन आसनो की प्रदक्षिणा कर, चौथे आसन पर पलथी मार कर, सिंह की भाँति निर्भीक बैठ गये। पञ्च (-भद्रवर्गीय) भिक्षु भी अपने सिरों से चरणों मे वन्दना कर तथागत के सामने बैठ गए।

20. हे भिक्षुओ, इसके अनन्तर, तथागत ने (अपने) शरीर से ऐसी प्रभा छोड़ी कि =297ख=जिस प्रभा के कारण यह त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोकधातु महान् प्रकाश से भर गई। और उस प्रकाश से जो भी लोकान्तरिक (एक लोक से दूसरे-लोक को अलग करने वाले) अघ (=पाप) तथा अघो (=पापो) से व्याप्त जो अधे करने वाले अँधेरे थे, जहाँ इस प्रकार की महा-ऋद्धि वाले, इस प्रकार के महान् प्रताप वाले, इस प्रकार के महान्-पद के चन्द्र एव सूर्य भी, (अपनी) आभा से आभा नही कर पाते, (अपने) रग से रंग नही चमका पाते, (अपने) तेज से तेज नही दमका पाते, जहाँ पर उत्पन्न प्राणी अपनी अपनी फैलाई बाँह भी नही देख पाते, वहाँ भी, उस समय उस लोक में, महान् उदार (=विपुल) प्रकाश का प्रादुर्भाव हुआ। और जो भी प्राणी वहाँ उत्पन्न हुए थे, वे उस प्रकाश से व्याप्त हो एक-दूसरे को देखने लगे, एक-दूसरे को जानने लगे। (तथा) इस प्रकार कहने लगे—अहो, और भी प्राणी यहाँ उत्पन्न हुए है, अहो, और भी प्राणी यहाँ उत्पन्न हुए है।

21. और यह त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोक-धातु छह-प्रकार से अट्ठारह महानिमित्तों (=बड़े-बड़े सगुनो) के साथ हिल उठी। (–411–) कांप उठी, अधिक कांप उठी, सब ओर से अधिक कांप उठी। थरथरा उठी, अधिक थरथरा उठी, सब ओर से अधिक थरथरा उठी। चल उठी, अधिक चल उठी सब ओर से अधिक चल उठी। टनटना उठी, अधिक टनटना उठी, सब ओर से अधिक टनटना उठी। गरज उठी, अधिक गरज उठी। सब ओर से अधिक गरज उठी। अन्त मे झुक गई, बीच में उठ गई। बीच मे झुक गई, =298क= अन्त में उठ गई। पूर्व दिशा में झुक गई, पश्चिम दिशा में उठ गई। पश्चिम दिशा मे झुक गई, पूर्व दिशा मे उठ गई। दक्षिण दिशा ये झुक गई, उत्तर दिशा में उठ गई। उत्तर दिशा में झुक गई, दक्षिण दिशा मे उठ गई। उस समय (जो) शब्द सुनाई पड़ते थे, (वे) हर्ष उपजाते थे, संतोष करते थे, प्रेम उत्पन्न करते थे, प्रसाद (= निर्मलता) जानते थे, अवलोकन की ओर प्रेरित करते थे, अत्यन्त आह्लाद उपजाते थे, (वे) अत्यन्त प्रशंसनीय थे, प्रशंसा मे उनकी उपमा न थी, (वे) तृप्ति करने वाले थे, (वे) अप्रतिकूल थे, वे त्रास (=भय) न उपजने देते थे। उस क्षण में किसी प्राणी को विहेठा (=पीडा) अथवा त्रास अथवा भय अथवा स्तम्भ (= निश्चेष्टता) अनुभव न हुआ। उस क्षण सूर्य और चन्द्रमा की, इन्द्र, ब्रह्मा और लोकपालों की प्रभा न चमकती जान पड़ती थी। उस क्षण सब नरकों मे, पशु-पक्षियोनियों में, यमलोक में उत्पन्न प्राणियो के दुःख दूर हो गए थे, सब सुख उन्हे मिल गए थे। किसी प्राणी को राग अथवा द्वेष, अथवा मोह, अथवा ईर्ष्या, अथवा मात्सर्य (=कृपणता), अथवा मान, अथवा म्रक्ष (=परगुण-असहिष्णुता), अथवा मद, अथवा क्रोध, अथवा व्यापाद (= परविनाश-अभिलाष) अथवा परिदाह (=जलन) से =298ख=बाधा न थी। सब प्राणी उस क्षण मैत्री-चित्त के, हितचित्त के, एक दूसरे के प्रति माता-पिता का जैसा भाव रखते थे।

22. और उस प्रभाव्यूह से ये गाथाएँ निकलती थी।

(छंद आर्या)

योऽसौ तुषितालया च्युत्वा ओक्रान्तो मातुकुक्षौ हि।
जातश्च लुम्बिनिवने प्रतिगृहीतः शचीपतिना ॥1426॥

9....9. मूल, दृष्टा एव धर्म०। पठनीय, दृष्ट एव धर्मे। प्रोफेसर वेलर का शोधन। द्रष्टव्य बु० हा० सं० डि०, पृष्ठ 269 पर दृष्ट-धर्म शब्द। भोट में यहाँ भावानुवाद है—.छे .हृदि ल (=अस्मिन्नेव जीविते, इस जीवन मे)।

जो तुषित-लोक से च्युत होकर, माता की कोख मे प्रविष्ट हो, लुम्बिनी—वन मे उत्पन्न हुए, (तथा) जिन्हे शचीपति (=इन्द्र) ने (अपने हाथों मे) ग्रहण किया ।

(-412-) यः सिंहविक्रमगतिः सप्त पदा विक्रमी असंमूढः ।
ब्रह्मस्वरामथ गिरं प्रमुमोचे जगत्यहं श्रेष्ठः ॥1427॥

जो मोह-रहित, सिंह के समान (स्थिर) पैर रख-रख कर चलने वाले (उत्पन्न होकर), सात पैर चले और ब्रह्म-स्वर से (यह) वचन बोले कि मैं जगत् मे श्रेष्ठ हूँ ।

चतुरो द्वीपांस्त्यक्त्वा प्रव्रजितः सर्वसत्त्वहितहेतोः ।
दुष्करतपश्चरित्वा उपागमद् येन महिमण्डः ॥1428॥

(जो) चारों द्वीपों (के आधिपत्य) को छोड कर, सब प्राणियों का हित करने के हेतु, दुष्कर-तपश्चर्या कर, जहाँ महीमण्डप (=बोधिमण्डप) था, वहाँ पहुँचे ।

सबलं निहत्य मारं बोधिप्राप्तो हिताय लोकस्य ।
वाराणसीमुपगतो धर्मचक्रं प्रवर्तयिता ॥1429॥

(जो) सेना सहित मार को परास्त कर, बोधि प्राप्त कर चुके है, (तथा) वाराणसी पहुँच कर, लोक-हित के लिए, धर्मचक्र-प्रवर्तन करने वाले है ।

[10]स ब्रह्मणा सह सुरैर्[10] अध्येष्टो वर्तयस्व समचक्रं[11] ।
अधिवासितं च मुनिना लोके कारुण्यमुत्पाद्य ॥1430॥

उनसे देवताओं के सहित ब्रह्मा ने, समचक्र अर्थात् धर्मसमता अथवा शान्ति का चक्र प्रवर्तन करो, ऐसी अध्येषणा (=प्रार्थना) की है, और मुनि ने लोक के प्रति (अपने मन में) करुणा उपजा कर (उस प्रार्थना को) स्वीकार कर लिया है ।

सोऽयं दृढप्रतिज्ञो वाराणसिमुपगतो मृगदावं ।
चक्रं ह्यनुत्तरमसौ प्रवर्तयितात्यद्भुतं श्रीमान् ॥1431॥

10..10. मूल, सब्रह्मणा सह सुरैर् । भोट, दे ल .छङ्स् प ल्हर् बचस् पस् (=स ब्रह्मणा सुरसहितेन) । मूल मे स पृथक् पद है यह इससे स्पष्ट है ।

11. समचक्रम् का भोटानुवाद म्ञम् प हि. .हखोर् लो (=समताचक्रम्, तुल्यताचक्रम्) है । वैद्य द्वारा शमचक्रम् का सुझाव, यद्यपि अप्रामाणिक है, तथापि प्रकरण मे ठीक बैठता है ।

वे दृढ-प्रतिज्ञा के (तथागत) वाराणसी के पास के मृगदाव में आ गये हैं, (और) वे अत्यन्त-अद्भुत, श्रीमन्त, अनुत्तर (धर्म–) चक्र का प्रवर्तन करने वाले हैं।

यः श्रोतुकामु धर्मं यः कल्पनयुतैः समार्जितु जिनेन।
शीघ्रमसौ त्वरमाणो आगच्छतु धर्मश्रवणाय ॥1432॥

जिस (धर्म) का जिनने खर्व-खर्व कल्पो में उपार्जन किया है, (उस) धर्म को जो श्रवण करना चाहता हो, वह शीघ्र जल्दी करता हुआ, धर्म का श्रवण करने के लिए आए।

दुरवाप्यं मानुष्यं बुद्धोत्पादः सुदु (र्) लभा श्रद्धा ।=299क=
श्रेष्ठं च धर्मश्रवणं अष्टाक्षणविवर्जनं दुरापाः ॥1433॥

मनुष्यता कठिनाई से हाथ आती है, बुद्ध की उत्पत्ति (अत्यन्त दुर्लभ है) (एव) श्रद्धा (भी) अत्यन्त दुर्लभ है। धर्म का श्रवण तथा आठ अक्षणो से मुक्त होना दुर्लभ है।

प्राप्त(ा)श्च तेऽद्य सर्वे बुद्धोत्पादः क्षणस्तथा श्रद्धा।
धर्मश्रवणश्च वरः प्रमादमखिलं विवर्जयतः ॥1434॥

वह सब बुद्ध की उत्पत्ति, क्षण, श्रद्धा, उत्तम-धर्मश्रवण तुम्हे मिला है। सब प्रमाद त्याग दो।

भवति काचिदवस्था यः कल्पनयुतैर्न श्रूयते धर्मः।
संप्राप्तः स च वाद्य प्रमादमखिलं विवर्जयतः ॥1435॥

कोई (काल–) दशा होती है जब खर्व-खर्व कल्पो तक धर्म नही सुनने को मिलता। (पर) आज वही सुलभ हो रहा है। सब प्रमाद त्याग दो।

भौमादीन् देवगणान् संचोदयतो च ब्रह्मपर्यन्तां।
आयात लधु सर्वे वर्तयिता नायको ह्यमृतचक्रं ॥1436॥

पृथिवी के देवगणो से लेकर ब्रह्मा तक के (देवगणो के लिए) (यह) प्रेरणा थी कि सब (–लोग) शीघ्र आ जाओ, नायक अमृत चक्र का प्रवर्तन करने वाले है।

संचोदिताश्च[12] महता देव घोषेण[12] तत्क्षणं सर्वे।
त्यक्ता (?त्यक्त्वा) देवसमृद्धिं प्राप्ता बुद्धस्य ते पार्श्वे ॥1437॥

महाघोष के द्वारा प्रेरित वे सब देवता, उसी क्षण देव-समृद्धि त्याग कर, बुद्ध के पास आ पहुँचे।

12... 12. मूल, महता देवघोषेण। भोट, स्ग्र छेन् ग्यिस् नि ल्ह (= शब्देन देव (=देवाः) यहाँ पृथक पद है, समास का पूर्वपद नहीं!

बहुत से सहस्र कल्पों तक (तुमने) सम्यक् शिक्षा ग्रहण की है, (तुम) शून्यता मे स्थित रहे हो, धर्म से उत्पन्न होने वाले भैषज्य की (तुमने) सिद्धि की है, प्राणियो का चरित्र (तुमने) जाना है। यह जनता क्लेश—गण रूपी सैकडो व्याधियों से आक्रान्त है, हे बुद्धरूपी वैद्य, (उनसे) मुक्त करो, उत्तम धर्म-चक्र का प्रवर्तन करो।

षडि पारमिते चिररात्रु विवर्धितु कोशु त्वया।
असमं तु अचाल्यु प्रणीतु सुसंचितु धर्मधनं।
प्रज सर्व अनाथ दरिद्र अनायिक दृष्ट (?दृष्ट्व) इमां
विवरं[13] धन सप्त विनायक चक्र प्रवर्तयही ॥1443॥

चिर-काल तक छह पारमिताओं का कोश तुमने बढाया है, अनुपम, अचल एवं उत्तम धर्म-धन का (तुमने) शोभन-संग्रह किया है। इस अनाथ दरिद्र, नायक-रहित, सब प्रजा को देख कर सात धनो का वर देते हुए, हे विनायक, (धर्म–) चक्र का प्रवर्तन करो।

(–415–) धनधान्य हिरण्यसुवर्ण तथैव च वस्त्र शुभा
वर पुष्पविलेपनधूपनचूर्ण गृहाश्च वराः।
अन्तःपुरराज्य प्रियात्मज त्यक्त प्रहर्षयतो
जिनबोधि गवेषत सा ति विबुद्ध प्रवर्तय चक्रवरं ॥1444॥

बुद्धों की बोधि खोजते हुए, अत्यन्त हर्ष में भर कर, तुमने धन एवं धान्य, हिरण्य एवं सुवर्ण, तथा शुभ वस्त्र, उत्तम पुष्प, विलेपन, धूप एवं चूर्ण, उत्तम घर, अन्त पुर, राज्य एव प्रियपुत्र त्यागे है। उस (बोधि) का तुम्हे (अब) बोध हो गया है, उत्तम (धर्म–) चक्र का प्रवर्तन करो।

तथा शीलु अखण्डु अकल्मषु रक्षितु कल्पशतां
सद क्षान्ति सुभावित वीर्य अलीनु अभूषि तव।
वर-ध्यान-अभिज्ञ-विपश्यन-प्रज्ञ-उपेक्ष मुने
परिपूर्णमनोरथ निर्ज्वर वर्तय चक्रवरं ॥1445॥

इसी प्रकार, (तुमने) सैकड़ो कल्पो तक (अपने) शील को अखण्डित एवं अदूषित रख कर बचाया है, सर्वदा क्षमा की उत्तमता से भावना की है, तुम्हारा वीर्य (=उद्योग) अलीन (=अपराभूत) रहा है, हे उत्तम ध्यान, अभिज्ञा,

13. मूल, विचरं। भोट, ब्गो ब्शह् म्ञोद् चिग् (=संविभागं कुर्वन्)। मूल पाठ निश्चय ही विवरं (=विवरन्, जातु वृ) होना चाहिए। चकार तथा वकार का व्यत्यास लिपि—प्रमाद से उत्पन्न हुआ है।

विपश्यना (= तत्त्वज्ञान), प्रज्ञा एवं उपेक्षा से युक्त, सब प्रकार से पूर्ण—मनोरथ के, निर्ज्वर (= क्लेशरहित) मुनि (—वर) उत्तम चक्र का प्रवर्तन करो।

26. हे भिक्षुओ, इसके अनन्तर, महच्चित्तोत्पाद—धर्मचक्रप्रवर्ती नाम के बोधिसत्त्व महासत्त्व ने, उस समय, सब रत्नों मे ओत-प्रोत, सब रत्नो से सुशोभित, =301क= नाना प्रकार के रत्नमय अलंकारों की रचना से विभूषित हजार अरो वाले, हजार रश्मियों (=किरणो) के, नाह के सहित, पुठ्ठी के सहित, फूलो की मालाओं के सहित, स्वर्णजाल के सहित, किंकिणियो के जाल के सहित, गन्धहस्त (—हाथ के सदृश बने गन्धपात्र) के सहित, पूर्ण-कलश के सहित, नन्दिकावर्त के सहित, स्वस्तिक के मण्डन के सहित, नाना प्रकार के रंगों से रंगे वस्त्रों से सुशोभित, देव-लोक के पुष्पों से गन्धो से एव माल्यो से युक्त और दिव्य विलेपनों से अनुलिप्त, सब प्रकार से उत्तम आकार-प्रकार के (धर्म) चक्र को, धर्मचक्र-प्रवर्तन करने के लिए तथागत को अर्पित किया, वह धर्मचक्र पूर्व (काल) के प्रणिधान (संकल्प) से सिद्ध हुआ था, बोधिसत्त्वों के आशय (= सर्वप्राणियों के प्रति हित के अभिप्राय) से अत्यन्त शुद्ध किया हुआ था, तथागतों द्वारा पूजा के योग्य था, सब तथागतो के द्वारा समन्वाहृत (= चित्त मे सुविचिन्तत) था, सब बुद्धों के अधिष्ठान (= संकल्प) से सुस्थिर था, पहले के अर्हन्त सम्यक्-संवुद्ध तथागतों के द्वारा प्रत्येषित (= प्रतिगृहीत) था, पहले (उनके द्वारा) तथा प्रवर्तित था। (उसे) अर्पित कर, अञ्जलि बाँध कर, (उन्होंने) इन गाथाओं द्वारा, तथागत की स्तुति की—

(छंद वसन्ततिलका)

दीपंकरेण यद व्याकृतु शुद्धसत्त्वो
बुद्धो भविष्यसि हि त्वं नरसिंहसिंहः ।=301ख=
तस्मिं समासि प्रणिधी इयमेवरूपा
संबोधिप्राप्तु अहु धर्मु अध्येषयेयं ॥1446॥

जब दीपंकर ने शुद्ध-सत्त्व के विपय में भविष्यवाणी की थी कि तुम नरसिंहों में सिंह (=उत्तम पुरुषो मे पुरुषोत्तम) बुद्ध होओगे, तब उस अवसर पर इस प्रकार का प्रणिधान (मैंने) किया था कि संबोधि-प्राप्त (तथागत) से मै धर्म (—देशना) के लिए अध्येषणा (= प्रार्थना) करूँगा।

(–416) न च शक्य सर्वि गणनाय अनुप्रवेष्टुं
ये आगता दश दिशेभिरिहाग्रसत्त्वाः ।
अध्येषि शाक्यकुलनन्दन धर्मचक्रे
प्रह्वा कृताञ्जलिपुटाश्चरणो निपत्य ॥1447॥

दस दिशाओ से यहां पर जो अग्रसत्त्व (=बोधिसत्त्व) आए हैं, उन सबके विषय मे गणना के द्वारा प्रवेश पाना अशक्य है । (वे सब) अंजलि-बांधे, नम्र, चरणो मे गिर कर, धर्मचक्र (–प्रवतन) के लिए शाक्यकुलनन्दन से अध्येषणा (=प्रार्थना) कर रहे है ।

या बोधिमण्डि प्रकृता च सुरैर्वियूहा
या वा वियूह कृत सर्व जिनात्मजेभिः ।
सा सर्व संस्थित वियूह ति धर्मचक्रे
परिपूर्णकल्प भणमानु क्षयं न गच्छेत् ॥1448॥

बोधिमण्डप पर देवताओ ने जो उत्तम रचना की थी अथवा सब बोधिसत्त्वों ने जो रचना की थी, वह सब रचना तुम्हारे धर्मचक्र (के अवसर) पर विराज रही है, पूरे कल्प तक (कोई) वर्णन करे तो भी उसका अवसान नहीं हो सकता ।

त्रिसहस्त्रि लोकि गगणं स्फुट देवसंघैः
धरणीतलं असुरकिन्नरमानुषैश्च ।
उत्कासशब्दु नपि श्रूयति तन्मुहूर्त
सर्वि प्रसन्नमनसो जिनमभ्युदीक्षन् ॥1449॥

त्रिसाहस्र–लोक मे आकाश देवगणो द्वारा, पृथिवी-तल असुरो, किनरों और मनुष्यो द्वारा व्याप्त हो गया था । उस क्षण उत्कास का (=खांसने खखारने का) शब्द भी नही सुनाई पडता था । सब प्रसन्न-मन हो बुद्ध की ओर उत्कण्ठा से देखते थे ।

7. धर्मचक्रप्रवर्तन

27. हे भिक्षुओ, इस प्रकार, तथागत रात के पहले पहर में मौन-भाव अंगीकार किये रहे । रात के बिचले पहर मे संरञ्जनीय (=चित्त को प्रसन्न करने वाली) कथा करते रहे । रात के पिछले पहर मे पञ्च-भद्रवर्गीयो को संबोधन कर यह बोले । हे भिक्षुओ = 302क= प्रव्रजित के लिए ये दोनों अन्त (= अतिचार) अक्रम (=न करने के) है यह जो कामों मे कामसुखल्लिकानुयोग अर्थात् कामो का रस लेने में लग जाना है, वह हीन है, गँवारों का काम है, पृथग्जनो का (= तुच्छ जनो का) काम है । (वह) अलमार्य (= सचमुच का श्रेष्ठ) नही है (वह) अनर्थों से युक्त है । अनागत मे (वह) न ब्रह्मचर्य के लिए है, न निर्वेद के लिए है, न विराग के लिए है, न (दुःख के) निरोध के लिए है, न अभिज्ञा (=दिव्यज्ञान) के लिए है, न संबोधि के लिए है, न निर्वाण के लिए है । जो आत्मक्लमथानुयोग अर्थात् अपनी काया को अत्यन्त पीड़ित करने में लग जाना है (इन ...) ...ह के बीच-बीच न रहना हैं, वह दुःख दायक है, अनर्थों

से युक्त है, दृष्ट धर्म में अर्थात् इस जन्म के शरीर में ही दुःखदायक है और अनागत मे दुःख-फल देने वाला है। हे भिक्षुओ, इन दो अन्तों के (=अतिचारों के) पास न फटक कर, तथागत मध्यमाप्रतिपदा (= मध्यम मार्ग) से धर्म की देशना करते है, जिसमें सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, (-417-) सम्यक् वाक्, सम्यक्-कर्मान्त, सम्यक्-आजीव, सम्यक्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति तथा सम्यक्-समाधि हैं।

28. हे भिक्षुओं, यह चार आर्य-सत्य है। कौन से चार? दु:ख, दुःख-समुदय, दु खनिरोध और दु खनिरोध-गामिनी = 302ख = प्रतिपदा।

29. उनमे दु:ख क्या है? जन्म भी दु ख है, जरा भी दुःख है, व्याधि भी दु ख है, मरण भी-अप्रियो के साथ संयोग भी-प्रियों के साथ वियोग भी दु.ख है, जो इच्छा करते हुए, खोजते हुए, (इष्टार्थ का) न पाना है, वह भी दु ख है। संक्षेप से पांच उपादान स्कन्ध दु.ख है। यह दु:ख कहा जाता है।

30. उनमे दु ख समुदय क्या है? यह जो तृष्णा है, जो पौनर्भविकी (=बारंबार भव अर्थात् जन्म का कारण) है, नन्दीराग अर्थात् सुख की आसक्ति से युक्त है, तत्र-तत्राभिनन्दिनी (= ठौर-ठौर पर सुख चाहने वाली) है। यह दुःख समुदय कहा जाता है।

31. उनमे दुःखनिरोध क्या है? जो इसी तृष्णा का-जो पौनर्भविकी है (= बारंबार भव अर्थात् जन्म का कारण है) नन्दीराग से अर्थात् सुख की आसक्ति से युक्त है, तत्र-तत्रा भिनन्दिनी है (= ठौर-ठौर पर सुख चाहने वाली है, जनिका है (=जन्म देने वाली है), निर्वर्तिका है, (ससार बनाने वाली है)— अशेष विराग एव निरोध हैं। यह दुःख निरोध है।

32 उनमे दुःख निरोध-गामिनी प्रतिपदा क्या है? यही आर्य अष्टांगिक-मार्ग। यथा-सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यक्-वाक्, सम्यक्-कर्मान्त, सम्यक्-आजीव, सम्यक्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति, तथा सम्यक्-समाधि। यह दुःखनिरोध-गामिनी प्रतिपदा आर्य-सत्य है। हे भिक्षुओं, ये चार आर्य-सत्य है।

33. हे भिक्षुओ, यह दु ख है, ऐसा मुझ मे पहले से अनसुने धर्मो में-योनिशः-मनसिकार से (=ठीकठाक मनन करने से) बहुलीकार से (= बहुत बहुत चिन्तन स) ज्ञान उत्पन्न हुआ, = 303क = चक्षु उत्पन्न हुआ, विद्या उत्पन्न हुई, भूरि (=ज्ञान की विपुलता) उत्पन्न हुई, मेधा उत्पन्न हुई, प्रज्ञा उत्पन्न हुई, आलोक (=प्रकाश) का प्रादुर्भाव हुआ।

34. हे भिक्षुओ, यह दुःखसमुदय है, ऐसा मुझमे, पहले से अनसुने धर्मो में, योनिशः मनसिकार से = (ठीक-ठीक मनन करने से) बहुलीकार से (= बहुत-

बहुत चिन्तन से), ज्ञान उत्पन्न हुआ, चक्षु उत्पन्न हुआ, विद्या उत्पन्न हुई, भूरि (=ज्ञान की विपुलता) उत्पन्न हुई, मेधा उत्पन्न हुई, प्रज्ञा उत्पन्न हुई, आलोक (=प्रकाश) का प्रादुर्भाव हुआ।

35. हे भिक्षुओं, यह दुःखनिरोध है, ऐसा मुझमें....आलोक (=प्रकाश) का प्रादुर्भाव हुआ।

36. हे भिक्षुओ, यह दुःखनिरोधगामिनी-प्रतिपदा है, ऐसा मुझमें....आलोक (=प्रकाश) का (-418-) प्रादुर्भाव हुआ।

37. हे भिक्षुओं, इस दुःख का परिज्ञान करना चाहिए, ऐसा मुझ में.... आलोक (=प्रकाश) का प्रादुर्भाव हुआ।

38. हे भिक्षुओं, इस दुःखसमुदय का प्रहाण करना चाहिए, ऐसा मुझ में, पहले से अनसुने धर्मों में,....आलोक (=प्रकाश) का प्रादुर्भाव हुआ।

39. हे भिक्षुओ, इस दुःखनिरोध का साक्षात्कार करना चाहिए, ऐसा मुझमें....आलोक (=प्रकाश) का प्रादुर्भाव हुआ।

40. हे भिक्षुओ, इस दुःखनिरोधगामिनी =303ख= प्रतिपदा की भावना करनी चाहिए, मुझमें....आलोक (=प्रकाश) का प्रादुर्भाव हुआ।

41. हे भिक्षुओं, इस दुःख का परिज्ञान हो चुका है, ऐसा मुझमे, पहले से अनसुने धर्मों मे....—

42. हे भिक्षुओ, इस दुःखसमुदय का प्रहाण हो चुका है, ऐसा मुझमे, पहले से अनसुने धर्मो मे....—

43. हे भिक्षुओं, इस दुःखनिरोध का साक्षात्कार हो चुका है, ऐसा मुझमे पहले से अनसुने धर्मो मे—

44. हे भिक्षुओ, इस दुःखनिरोधगामिनी—प्रतिपदा की भावना करली है, ऐसा मुझमें, पहले से अनसुने धर्मो मे, योनिशः—मनसिकार से (=ठीक-ठीक मनन करने से), बहुलीकार से (बहुत-बहुत चिन्तन से,) ज्ञान उत्पन्न हुआ, चक्षु उत्पन्न हुआ, विद्या उत्पन्न हुई, भूरि (=ज्ञान की विपुलता) उत्पन्न हुई, मेधा उत्पन्न हुई, प्रज्ञा उत्पन्न हुई, आलोक(=प्रकाश) का प्रादुर्भाव हुआ।

45. हे भिक्षुओ, इस प्रकार, जब तक मुझ मे, इन चार आर्य-सत्यों में योनिशः मनसिकार करते हुए (=ठीक-ठीक मनन करते हुए) इस प्रकार का त्रिपरिवर्त (=तेहरा) द्वादशाकार (=बारह प्रकारों वाला)[14]) ज्ञान दर्शन उत्पन्न नही हुआ[14], तब तक, हे भिक्षुओ, अनुत्तर सम्यक्-संबोधि का मुझे बोध हो

14. मूल, ज्ञानदर्शनमुत्पद्यते। भोट, शेस् म्थोङ् ब म स्क्येस् प (=न ज्ञानदर्शनमुत्पद्यते स्म)।

चुका है, ऐसी प्रतिज्ञा मैंने नही की थी, क्योकि मुझमे ज्ञानदर्शन नही उत्पन्न हुआ था।

46. हे भिक्षुओ, यतः मुझमें इन चार आर्य-सत्यो मे इस चार प्रकार का त्रिपरिवर्त (=तेहरा) द्वादशाकार (=बाहर प्रकारों वाला) =304क= ज्ञान दर्शन उत्पन्न हुआ है और अकोप्य (=विचलित न होने वाली) चित्त-विमुक्ति का तथा प्रज्ञा-विमुक्ति का साक्षात्कार हुआ है, अतः हे भिक्षुओं, अनुत्तर सम्यक्-संबोधि का मुझे बोध हो चुका है, ऐसी प्रतिज्ञा मैंने की है। मुझमें ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हुआ है, जन्म क्षीण हो गया है, ब्रह्मचर्य-वास पूरा हो चुका है, (जो) करणीय था वह कर डाला गया है, इस (भव) से अन्य-अन्य भव (अब न होगा, ऐसा) जानता हूँ।

47. इस विषय मे (गाथाओ द्वारा) यो कहा जाता है—

(छंद वसन्ततिलका)

वाचाय ब्रह्मरुत किन्नरगर्जिताय
अंशैः सहस्रनयुतेभि समुद्गताय।
बहुकल्पकोटि सद सत्य सुभाविताय
कौण्डिन्यमालपति शाक्यमुनि स्वयंभूः ॥1450॥

ब्रह्म के समान स्वर वाली, किनरो के समान घोषवाली, सहस्र खर्व अंशो द्वारा (लोक से) ऊपर उठी हुई, बहुत-कोटि कल्पो तक सर्वदा सत्य एवं सुभावित वाणी द्वारा, स्वयंभू शाक्यमुनि कौण्डिन्य से बोले।

चक्षुरनित्यमध्रुवं तथ श्रोत घ्राणं
जिह्वाऽपि काय मन दुःखा [15]अनात्म शून्याः[15]।
जडास्वभाव तृणकुड्य इवा निरीहा
नैवात्र आत्मा न नरो न च जीवमस्ति ॥1451॥

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय तथा मन (ये सभी) अनित्य, अध्रुव, दु:ख, अनात्मक एवं शून्य है। (ये) तृणकुड्य (= घासफूस बनी दीवार) के जैसे निश्चेष्ट, जडस्वभाव के है। इनमें न आत्मा है, न पुरुष है और न जीव है।

हेतुं प्रतीत्य इमि संभुत सर्वधर्मा
अन्तान्त[16]–दृष्टिविगता गगणप्रकाशा।

15....15. मूल, अनात्म (अपि रिक्तस्वभाव) शून्या। भोट, ब्दग् मेद् स्तोङ् (= अनात्म शून्याः)।

16. मूल, अत्यन्त–। भोट म्थह्, दङ् म्थह् मेद् (=अन्तानन्त–)। आद्यन्त–पाठ रखने से भी अर्थसगति होती है।

न च कारकोऽस्ति तथ नैव च वेदकोऽस्ति
न च कर्म पश्यति कृतं ह्यशुभं वा ॥1452॥

हेतु के प्रत्यय से ये सब धर्म (=पदार्थ) उत्पन्न हुए है, ये अन्त-दृष्टि से तथा अनन्त-दृष्टि से रहित, आकाश—जैसे (स्वभाव के) है। (यहाँ) न कारक (कर्ता) ही और वैदक (भोक्ता) है, किया हुआ शुभ एवं अशुभ कर्म (केवल है पर वह) द्रष्टा नही है।

स्कन्धा प्रतीत्य समुदेति हि दुःखमेवं
संभोन्ति तृष्णसलिलेन विवर्धमाना।
मार्गेण धर्मसमताय विपश्यमाना
अत्यन्तक्षीण =304ख= क्षयधर्मतया निरुद्धाः ॥1453॥

इस प्रकार, स्कन्धों के प्रत्यय से दुःख उत्पन्न होते है। (ये) उत्पन्न होते है (और) तृष्णा के पानी से बढते है। धर्म-समता के मार्ग से देखे जाएँ तो (स्वभाव से) अत्यन्त—क्षीण है, क्षय-धर्म के होने के कारण निरुद्ध (से) है।

संकल्प कल्पजनितेन अयोनिसेन
भवते अविद्य नपि संभवकोऽस्य कश्चि।
संस्कार हेतु ददते न च संक्रमोऽस्ति
विज्ञानमुद्भवति संक्रमणं प्रतीत्य ॥1454॥

अयोनिशः—कल्पनाओं से (=ठीक-ठीक न की गई कल्पनाओं से) उपजने वाले सकल्प से अविद्या होती है, इसका कोई (एक) उत्पादक नही। (यह अविद्या) सस्कारों को हेतु-भाव प्रदान करती है, (जिनके बिना) सक्रम अर्थात् आवागमन नही हो सकता। (संस्कारों के) संक्रमण अर्थात् आवागमन के प्रत्यय से विज्ञान की उत्पत्ति होती है।

विज्ञान नाम तथ च रूप समुत्थितास्ति
नामे च रूपि समुदेन्ति षडिन्द्रियाणि।
(—420—) षडिन्द्रियैर्निपतितो इति स्पर्श उक्तः
स्पर्शेन तिस्र अनुवर्तति वेदना च ॥1455॥

विज्ञान से नाम तथा रूप का उत्पन्न होता है, नाम और रूप से छह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती है। छह इन्द्रियों से (विषयो का) सनिपात स्पर्श कहा जाता है। स्पर्श से तीन वेदनाएँ प्रवृत्त होती है।

यत्किंचि वेदयितु सर्वं स तृष्ण उक्ता।
तृष्णात सर्व उपजायति दुःखस्कन्धः।
उपादानतो भवति सर्व भवप्रवृत्तिः
भवप्रत्यया च समुदेति हि जातिरस्य ॥1456॥

जो-कुछ वेदयित (=वेदना या अनुभव) है, वह सब तृष्णा कही जाती है अर्थात् सब प्रकार की तृष्णा के मूल मे वेदना रहती है। तृष्णा से सब दु.ख-स्कन्ध उत्पन्न होता है (जिसे उपादान कहते हैं)। उपादान से सब भवप्रवृत्ति होती है। भव के प्रत्यय से इस (व्यावहारिक प्राणी) की जाति (=उत्पत्ति)

जातीनिदान जरव्याधिदुःखानि भोन्ति
उपपत्ति नैक-विविधा भवपञ्जलेस्मिं।
एवमेष सर्व इति प्रत्ययतो जगस्य
न च आत्म पुद्गलु न संक्रमकोऽस्ति कश्चि ॥1457॥

जाति (=जन्म या उत्पत्ति) के कारण जरा, व्याधि, दु.ख, (इस) भव-पञ्जर मे नाना प्रकार की (योनियो में) उपपत्ति होती है। इस प्रकार, जगत् का यह सब प्रत्यय से (=कारण सामग्री से) होता है, (वस्तुतः) न कोई आत्मा और पुद्गल (=पुरुष) है, और न कोई संक्रमक अर्थात् (इस शरीर से शरीरान्तर मे) आने-जाने वाला जीव है।

यस्मिन्न कल्पु न विकल्पु[17] तं योनिमाहुः[17]
यद् योनिसो भवति न तत्र अविद्य काचि।
यस्मिन्निरोधु भवतीह अविद्यतायाः
सर्वे भवाङ्ग क्षयक्षीण क्षयं निरुद्धा ॥1458॥

जहाँ (कोई एक) कल्पना नही होती, विविध (-प्रकार की) कल्पना (भी) नही होती, उसे योनि (=परमार्थ) कहते है, जो योनिशः (=परमार्थतया) होता है, वहाँ कोई अविद्या नही होती (तथा अविद्या के न होने के कारण) सब के सब भवाङ्ग क्षय से (=स्वभाव के कारण स्वयं) क्षीण, (क्रम से) क्षीण होते होते निरुद्ध हो जाते है।

[भवाङ्ग द्वादश है—1. अविद्या, 2. संस्कार, 3. विज्ञान, 4. नाम-रूप, 5. षडायतन, 6. स्पर्श, 7. वेदना, 8. तृष्णा, 9. उपादान, 10. भव, 11. जाति, 12. जरा-मरण।]

17....17. मूल, योनिमाहुः। योनि० मे पूर्व तं अधिक पढ़ना चाहिए। भोट, दे छुंल् बशिन् ब्र्जोद् (=तं योनिश आहुः)।

एवमेष प्रत्ययत वुद्ध तथागतेन
तेन स्वयंभु स्वकनात्मनु व्याकरोति । =305क=
न स्कन्ध-आयतन-धातु वदेमि वुद्धं
नास्यत्र हेत्ववगमाद् भवतीह वुद्धः ॥1459॥

इस प्रकार, यह (—सब) प्रत्यय से (होता है ऐसा) तथागत ने बोध किया, है, इसी से अपने-आपको (वे) स्वयभू कहते है । (मैं) स्कन्ध-आयतन धातु का बोध होना नही कहता हूँ । हेतु के अवबोध मे विना यहाँ बुद्धभाव नही होता है ।

भूमिर्न चात्र परतीर्थिक निस्सृतानां
शून्या प्रवादि इह ईदृश धर्मयोगे ।
ये पूर्ववुद्धचरिता सुविशुद्धसत्त्वाः
ते शक्नुवन्ति इमि धर्म विजाननाय ॥1460॥

यहाँ पर—तीर्थिको के निकल—भागने का स्थान नही है, (क्योंकि) यहाँ इस प्रकार के के धर्मयोग मे विवाद शून्य होता है । जो पूर्व के बुद्धो के पास (धर्म—) चर्या करने वाले अत्यन्त-परम शुद्ध प्राणी है, वे इस धर्म को जानने मे समर्थ होते है ।

(—421—) एवं हि द्वादशाकारं धर्मचक्रं प्रवर्तितं ।
कौण्डिन्येन च आज्ञातं निर्वृत्ता रतनात्रयः ॥1461॥

इस प्रकार, (तथागत ने) द्वादश—प्रकार वाले धर्मचक्र का प्रवर्तन किया । और कौण्डिन्य ने (उसे) सब प्रकार से जान लिया । (यों) तीन रत्न सिद्ध हो गये ।

वुद्धो धर्मश्च संघश्च इत्येतद् रतनत्रयं ।
परम्परां-गतः शब्दो यावद् ब्रह्मपुरालयं ॥1462॥

वुद्ध, धर्म और सघ ये तीन रत्न है । (ऐसा) शब्द ब्रह्मलोक तक परम्परया पहुँच गया ।

र्वाततं विरजं चक्रं लोकनाथेन तायिना ।
उत्पन्ना रतना त्रीणि लोके परमदुर्लभा ॥1463॥

तायी (=स्वपरत्राता) लोकनाथ ने, रजोगुणरहित (धर्म—) चक्र का प्रवर्तन किया है, (और) लोक मे परम-दुर्लभ तीन रत्न उपलब्ध हुए है ।

कौण्डिन्यं प्रथमं कृत्वा पञ्चकाश्चैव भिक्षवः ।
षष्टीनां देवकोटीनां धर्मचक्षुर्विशोधितं ॥1464॥

कौण्डिन्य से आरंभ कर, पंच (-भद्रवर्गीय) भिक्षुओं तक का, तथा साठ करोड देवताओं का धर्मचक्षु शोध डाला गया है।

अन्ये चाशीतिकोट्यस्तु रूपधातुकदेवताः।
तेषां विशोधितं चक्षुः धर्मचक्र-प्रवर्तने ॥1465॥

अन्य रूपधातु के (जो) अस्सी करोड़ देवता हैं, उनका धर्मचक्र के प्रवर्तन (के अवसर) पर (धर्म-)चक्षु शोध डाला गया है।

चतुरशीतिसहस्राणि मनुष्याणां समागता।
तेषां विशोधितं चक्षु मुक्ता सर्वेभि दुर्गती ॥1465॥

चौरासी हजार (जो) मनुष्य आये थे, उनका (धर्म-) चक्षु शोध डाला गया (और) वे सब सब दुर्गतियों से मुक्ति पा गये।

(छंद वनमाला अष्टादशाक्षरी)

दश दिशातु अनन्तं बुद्धस्वरो गच्छि तस्मि क्षणे
रुत मधुर मनोज्ञ संश्रूयते चान्तरिक्षे शुभ (-)।
एष दशबलेन शाक्यर्षिणा धर्मचक्रोत्तमं =305ख=
ऋषिपतनमुपेत्य वारणसी वर्तितो नान्यथा ॥1467॥

उस क्षण अन्त-रहित दस दिशाओ मे बुद्ध-स्वर पहुँच गया। आकाश मे, शुभ, मधुर एवं मनोहारी शब्द सुन पडने लगा, जो और कुछ न होकर, यह था कि दशबल के शाक्य-ऋषि ने वाराणसी के पास, ऋषिपतन मे पहुँच कर उत्तम धर्मचक्र का प्रवर्तन किया है।

दश दिशित यि केचि बुद्धशता सर्वि तूष्णीभुताः
तेष मुनिन ये उपस्थायकाः सर्वि पृच्छी जिनां।
किमिति दशबलेभि धर्मकथा छिन्न श्रुत्वा रुतं
साधु भणत शीघ्र किं कारणं तूष्णीभावेन स्थिताः ॥1468॥

दस दिशाओ मे जो भी शत-शत बुद्ध थे, (वे) मौन हो गए। उन मुनियों के जो उपस्थायक (=परिचारक) थे, (उन) सब ने बुद्धों से पूछा कि क्या कारण है, जो शब्द सुनकर दशबलो ने धर्मकथा बन्द कर दी, अच्छा हो शीघ्र कहे कि क्या कारण है (जो आप-सब) मौन हो गये है।

पूर्वभवशतेभि वीर्यबलै बोधि समुदानिया
बहव शतसहस्र पश्चान्मुखा बोधिसत्त्वा कृताः।
(-422-) तेन हितकरेण उत्तप्तता प्राप्त बोधिः शिवा
चक्र त्रिपरिवर्त प्रावर्तिता तेन तूष्णीभुताः ॥1469॥

पहले के सैकडो भवो मे, (अपने) वीर्यबल से (= उद्योग पराक्रम से), बोधि को सिद्ध करते-करते बहुत से लाखो बोधि सत्वों को पछाड कर, उन हितकारी ने उत्साह करते हुए, कल्याणमयी बोधि प्राप्त कर ली है, (तथा) त्रिपरिवर्त (= तेहरे) धर्मचक्र का प्रवर्तन किया है, उसी से (हम-सब) मौन हो गये है।

इमु वचन श्रुणित्व तेषां मुनी सत्वकोट्यः शता।
मैत्रबल जनित्व संप्रस्थिता अग्रबोधि शिवां।
वयमपि अनुशिक्षि तस्या मुने वीर्यस्थामोद्गतं
क्षिप्र भवेम लोकि लोकोत्तमा धर्मचक्षुर्ददाः ॥1470॥इति॥

उन मुनियो के इस वचन को सुन कर, सैकडो कोटि प्राणी मैत्री बल उपजा कर, कल्याणमयी उत्तम बोधि के लिए संप्रस्थान करने लगे अर्थात् बोधि के लिए पारमिताभ्यास करने लगे। (और उन्होने संकल्प किया कि) हमसब भी उन मुनि के वीय और प्रभाव के उत्थान की शिक्षा ग्रहण कर शीघ्र लोक में लोकोत्तम हो धर्मचक्षु प्रदान करने वाले बनें।

(8) धर्मचक्रगुणवर्णना

48. इसके अनंतर, बोधिसत्त्व-महासत्त्व मैत्रेय ने भगवान् से यह कहा—हे भगवन्, दसो दिशाओ को लोकधातुओं से, इकट्ठे हुए, ये बोधिसत्त्व-महासत्त्व = 306क = भगवान् के पास से धर्मचक्र-प्रवर्तन की विकुर्वणा (=ऋद्धि) के प्रदेश[18] अर्थात् एकदेश या एक अश को सुनना चाहते है, अच्छा हो, अर्हन्त सम्यक्-संबुद्ध, भगवान् तथागत देशना करें कि किस प्रकार का धर्मचक्र तथागत ने प्रवर्तन किया था। भगवान् बोले। हे मैत्रेय, धर्मचक्र गम्भीर है, क्योंकि उसकी थाह[19] की उपलब्धि नही होती। वह चक्र दुर्दश है, क्योकि द्वैत-भाव से रहित है। वह चक्र दुरनुबोध है, क्योंकि मनसिकार (=मनन) और अमनसिकार (=अमनन) से परे है। वह चक्र दुर्विज्ञान (= दुर्विज्ञेय) है, क्योकि वह ज्ञान तथा विज्ञान की समता से युक्त है। वह चक्र अनाविल (= मलिनतारहित) है, क्योकि वह आवरणो से (चित्त को ढकने वाले दोषो से) रहित तथा विमोक्षो की प्राप्ति से युक्त है। वह चक्र सूक्ष्म है, क्योकि वह अनुपम और उपन्यास (= वचन द्वारा किए जाने वाले प्रस्ताव) से विहीन है। वह चक्र सार (-वान्) है, क्योंकि वज्र के समान (=हीरे के समान) ज्ञान की उपलब्धि वाला है। वह

18. मूल, प्रवेशं भोट, फ्योग्स् (=प्रदेशं)।
19. मूल, ग्राह०। भोट, ग्तिङ् (=गाध०)। गाध से गाह होकर पुनः सस्कृत करने के यत्न मे ग्राह हो गया है। समस्तपद यहाँ 'ग्राहनुपलब्धित्वात्' है।

चक्र अभेद्य है, क्योंकि उसमें पूर्व-अन्त[20] की (=पहले किनारे की) उत्पत्ति नहीं है। वह अप्रपञ्च है, क्योंकि वह सब (प्रकार के) प्रपंच (=वाग्व्यापार के उपालम्भों (=उलहनों) से अतीत है। वह चक्र अकोप्य है, क्योंकि वह अत्यन्त निष्ठा का (=परम स्थिरता का) है। वह चक्र सर्वत्रानुग (=सर्वव्यापक) है, क्योंकि वह आकाश-सदृश है।

49. हे मैत्रेय, वह धर्मचक्र=306ख=सब धर्मों की प्रकृति है, (सब धर्मों का) स्वभाव है। (वह) संदर्शन (=अभिव्यक्ति) का तथा विभव (=लय होने) का चक्र है। (वह) अनुत्पाद का, अनुरोध का, असंभव (=अनुद्भव) का चक्र है। (वह) अनालय का चक्र है। (वह) अकल्प (=एक कल्पना) का, विकल्प (विविध प्रकार की कल्पना) का, धर्म-नय के विस्तीर्ण करने का चक्र है। (वह) शून्यता-चक्र है, अनिमित्त-चक्र है, अप्रणिहित-चक्र है (=असंकल्प-चक्र है) अनभिसंस्कार चक्र है (=संस्कारों के अभाव का चक्र है), विवेक-चक्र है, विरागचक्र है, वि- (–423–) रोधक-चक्र है (= निरोध-चक्र है)। (वह) तथागत के द्वारा किए गए अनुबोध का चक्र है, (वह) धर्म-धातु के असभेद अर्थात् केवलभाव का चक्र है, (वह) भूत-कोटि अर्थात् परमार्थ के अन्त को क्षुब्ध न न करने का चक्र है, (वह) असंग (= अनासक्ति तथा अनावरण (=मोहरूपी आवरण के अभाव) का चक्र है, (वह) प्रतीत्यसमुत्पाद में प्रवेश के द्वारा दोनों (पूर्व एवं अपर के) अन्तों की दृष्टियों के अतिक्रमण करने का चक्र है, (वह) अन्त (=किनारों) एवं मध्य से रहित धर्म-धातु के अविकोपन (=अक्षुब्ध-भाव) का चक्र है, (वह) बुद्ध के अनाभोग (=स्वाभाविक) कार्य का अप्रतिप्रश्रब्ध[21] अर्थात् न रुकने वाला चक्र है। वह अप्रवृत्ति और अनभिनिर्वृत्ति[22] का (अर्थात् क्रिया और क्रिया से होने वाली सिद्धि के अभाव का) चक्र है, (वह) अत्यन्त अनुपलब्धि का चक्र है, (वह) अनायूह (=अपरिग्रह) एव अनिर्यूह (=अपरित्याग) का चक्र है, (वह) अनभिलाप्य (= अनभिधेय) चक्र है, (वह) प्रकृति के यथाभाव (= अविपरीतभाव) का चक्र है, (वह) एक विषय मे सब धर्मों की समता के अवतार (= प्रवेश) का = 307क = चक्र है, (वह) अक्षण मे पड़े

20. मूल पूर्वान्तसंभवत्वात्। भोट स्ङोन् गियि म्थर् म व्युङ् वहि फियर् (= पूर्वान्त-संभवत्वात्)।

21. मूल, प्रतिप्रश्रब्ध। भोट, ग्युंन् मि ग्चोद् प हि. (= अप्रतिप्रश्रब्ध, यथारुतं तु संतत्यनुच्छेदक)। द्रष्टव्य बु० हा० सं० डि० शब्द अप्रतिप्रश्रब्ध।

22. मूल,–अभिनिर्वृत्ति–। भोट, म्ङोन् पर् गुब् प मेद् प हि. (= अनभिनिर्वृत्ति–)।

प्राणियों को विनीत करने के लिए अप्रत्युदावर्त्य[23] (अर्थात् न पीछे मुडने वाले) अधिष्ठान (= संकल्प) का चक्र है, (वह) अद्वय अर्थात् द्वैत-भाव रहित तथा असमारोप[24] अर्थात् आरोप से रहित जो परमार्थ है, उसके नय में प्रवेश करने का चक्र है, (वह) धर्मधातु के समीप पहुँचने का चक्र है।

50. वह चक्र अप्रमेय है, क्योंकि सब प्रमाणों की पहुँच से परे है। वह चक्र असंख्येय है, क्योंकि सब संख्याओं से रहित है। वह चक्र अचिंत्य है, क्योंकि चित्त के पथ से अत्यन्त दूर है। वह चक्र अतुल्य है क्योंकि तुलना से रहित है। वह चक्र अनभिलाप्य (= अनभिधेय) है, क्योंकि सब (प्रकार के) रुत, घोष एवं वचन के पथ से अतीत[25] है। (वह) अप्रमाण, उपमारहित, आकाश के सदृश समान, उच्छेद से हीन, अशाश्वत (= अनित्य), प्रत्यय से प्रवेश योग्य अविरुद्ध अर्थात् निरोध न होने वाला, शान्त अत्यन्त-उपशम वाला, तत्त्व तथा (= वैसा का वैसा रहने वाला) अवितथ (= वितथ अर्थात् मिथ्या न होने वाला) अनन्यथ (= अन्यथा न होने वाला) अनन्यथाभाव (स्वभाव से न बदलने वाला), सब सत्वों के रुत (= शब्द) में रवण[26] (= ध्वनन) हो सकने वाला है।

51. वह (धर्मचक्र) मारों का निग्रह है, तीर्थिकों का पराजय है, संसार-विषय से निकालने वाला है, बुद्ध-विषय में प्रवेश कराने वाला है। आर्य-पुद्गलों द्वारा (वह) परिज्ञात[27] है, प्रत्येक बुद्धों द्वारा उसका अवबोध किया गया है, बोधिसत्त्वों ने =307ख= उसका परिग्रहण किया है, सब बुद्धों ने उसका स्तवन किया है, सब तथागतों के द्वारा वह असभिन्न (= अभ्रान्त) रूप में समझा गया है। हे मैत्रेय, तथागत ने इस प्रकार के धर्मचक्र का प्रवर्तन किया है।

9 तथागत गुणवर्णना

52. जिसके प्रवर्तन के कारण वे तथागत कहे जाते हैं, सम्यक्-संबुद्ध कहे जाते हैं, स्वयंभू कहे जाते हैं, धर्मस्वामी कहे जाते हैं, नायक (= पथप्रदर्शक) कहे

23. मूल,—प्रत्युदावर्त्य—। भोट, **ल्दोग् मेद् प हि.** (= अप्रत्युदावर्त्य, अनिवर्त्य)।

24. मूल—समारोप—। भोट, **स्ग्रो ब्तग्स् मेद् प** (= असमारोप—)।

25. मूल, आनीतं। भोट, **ब्रल् बस्** (= अतीत)। भोट ही सुपाठ है।

26. मूल, रचणं। भोट, **ब्र्जोद् प** (= रवणं)। वकार का चकार लिपिकर-प्रमाद है। वैद्य ने आँख मूँद कर इसे चरणं कर दिया है।

27. मूल, परिज्ञानं। इसके स्थान प्रसंगानुकूल पाठ परिज्ञातं होगा। भोट, **योङ्स् सु शेस् प** (= परिज्ञात, परिज्ञान)।

जाते है, विनायक (= विनीतकारी) कहे जाते है, परिणायक (= पूर्ण नेता) कहे जाते है, सार्थवाह कहे जाते है, सर्वधर्मवशवर्ती कहे जाते है, धर्मेश्वर कहे जाते है, धर्मचक्रप्रवर्ती कहे जाते है, धर्मदानपति कहे जाते है, यज्ञस्वामी कहे जाते है, सु–यष्टयज्ञ (उत्तम यज्ञकर्ता) कहे जाते है, सिद्धिव्रत कहे जाते है, पूर्णाभिप्राय कहे जाते है, देशिक कहे जाते है, आश्वास कहे जाते है, क्षेमंकर कहे जाते है शूर कहे जाते है रणंजह (= क्लेशपरित्यागी) कहे जाते है, विजितसग्राम (–424–) कहे जाते है । (धर्म की) ध्वजा तथा पताका को ऊँचा करने वाले कहे जाते है, आलोककर कहे जाते है, प्रभाकर कहे जाते है, तमोनुद कहे जाते है, उल्काधारी (= धर्म की मशाल धारण करने वाले) कहे जाते है, महावैद्य-राज कहे जाते है, भूतचिकित्सक (= सच्चे चिकित्सा करने वाले) = 308क = कहे जाते है, महाशल्यहर्ता कहे जाते है, वितिमिर ज्ञानदर्शन (अर्थात् जिनके ज्ञान दर्शन मे तिमर या धुँधलापन नही है ऐसे) कहे जाते है ।

53. (वे) समन्तदर्शी कहे जाते है, समन्तविलोकित कहे जाते है, समन्त-चक्षु कहे जाते है, समन्तप्रभ कहे जाते है, समन्तालोक कहे जाते है, समन्तमुख (= सब ओर–द्वार वाले) समन्तप्रभाकर कहे जाते है, समन्तचन्द्र कहे जाते है, समन्तप्रासादिक कहे जाते है ।

54. आयूह (= अपरिग्रह) अनियूँह (= अपरित्याग) मे न ठहरने वाले कहे जाते है ।

55 (वे) ऊँचे-नीचे न होने से धरणीसम कहे जाते है । अप्रकम्प्य होने से शैलेन्द्रसम कहे जाते है । सब लोकगुणो से समन्वित होने के कारण सर्वलोक की कहे जाते है । सब लोको से ऊपर उठे होने कारण अनवलोकितमूर्ध (= जिनकी मूर्धा किसी ने नही देखी ऐसे) कहे जाते है । गभीर तथा कठिनता से अवगाहन (= आलोडन–विलोड़न) करने योग्य होने से समुद्र कल्प कहे जाते है । सब बोधि-पाक्षिकधर्मो के रत्नो से परिपूर्ण होने ये धर्मरत्नाकर कहे जाते है । अनिकेत होने से (= एकस्थान मे आसक्त होने से) वायुसम कहे जाते है ।

56. (वे सब किसी विषय मे) आसक्ति-हीन, बन्ध-हीन एवं मोक्ष-हीन चित्त वाले होने से असंगबुद्धि कहे जाते है । सब धर्मो को वेधने वाले ज्ञान के होने से अवैवर्तिकधर्म (= पीछे न मुड़ने के स्वभाव वाले) कहे जाते है ।

57. (वे) दुरामद (कठिनता से समीप पहुँचने के योग्य) होने से, सब प्रकार की मनना (= गर्वभावना) के हीन होने से, = 308ख = सब क्लेशों के दाह कर डालने के उपयुक्त स्थान होने से तेजःसम कहे जाते है । अनाविल-संकल्प (= अमलिन संकल्प) के होने से, निर्मल काय और चित्त के होने से,

पापों को बहा देने वाले होने से अप्मम (= नदीजल के तुल्य) कहे जाते हैं। ज्ञान के विषय मे आसक्ति न होने से, अन्तहीन (पूर्व और अपर कोटियो मे हीन) एवं मध्यहीन धर्मधातु विषयक ज्ञान वाले होने से, अभिज्ञाओं (दिव्यज्ञानशक्तियो) के लाभी होने से आकाशसम कहे है।

58. नानाप्रकार के (चित्त की शुद्धावस्था के) आवरण करने वाले (= ढक देने वाले) धर्मों के अत्यन्त प्रहीण होने से अनावरणज्ञानविमोक्षविहारी (अर्थात् आवरण-रहित ज्ञान मे तथा विमोक्षों मे विहार करने वाले) कहे जाते हैं। आकाश के समान दृष्टिपथ से अत्यन्त दूर पहुँचे हुए होने से सर्वधर्मधातुप्रसृत-काय (= सम्पूर्ण धर्म धातु मे व्याप्त काय वाले) कहे जाते है। लोक के सब विषयों द्वारा असंक्लिप्ट (= अमलिन) होने से उत्तम-सत्त्व कहे जाते है। (वे) असंगसत्त्व (= आसक्तिरहित-प्राणी) कहे जाते है। अप्रमाणवुद्धि (= जिनकी वुद्धि माप में न आने वाली है, ऐसे) कहे जाते है।

59. (वे) लोकोत्तरधर्म-देशिक कहे जाते हैं। लोकाचार्य कहे जाते हैं। लोकवैद्य कहे जाते है। लोकाभ्युद्गत अर्थात् लोक से ऊपर उठे हुए (–425–) कहे जाते हैं। लोकधर्मानुलिप्त (= संसार की माया से अछूते) कहे जाते है। लोकनाथ कहे जाते है। लोकज्येष्ठ कहे जाते है। लोकश्रेष्ठ कहे जाते है। लोकेश्वर कहे जाते है। लोकमहित (लोकपूजित) कहे जाते हैं। लोकपरायण (= लोक के उत्तम त्राणस्थान) कहे जाते हैं। लोकपारंगत (लोक के परले पार पहुँचे हुए) = 369क = कहे जाते हैं। लोकप्रदीप कहे जाते है। लोकोत्तर कहे जाते हैं। लोकगुरु कहे जाते है। लोकार्थकर कहे जाते है। लोकानुवर्तक कहे जाते हैं। लोकविद् कहे जाते हैं। लोकाधिपतेयप्राप्त (लोक के अधिपत्य अर्थात् प्रभुता को प्राप्त) कहे जाते हैं।

60. (वे) महादक्षिणीय (= महती दक्षिणा के योग्य) कहे जाते हैं। पूजार्ह (= पूजा के योग्य) कहे जाते हैं। महापुण्यक्षेत्र (= पुण्य करने के उत्तम क्षेत्र) कहे जाते हैं।

61. (वे) महासत्त्व कहे जाते है। अग्रसत्त्व कहे जाते हैं। वरसत्त्व कहे जाते है। प्रवरसत्त्व कहे जाते है। उत्तमसत्त्व कहे जाते है। अनुत्तरसत्त्व कहे जाते है। असमसत्त्व कहे जाते है। असदृशसत्त्व कहे जाते है।

62 (वे) सततसमाहित (= सर्वदा एकाग्र) कहे जाते है। सर्वधर्मसमताविहारी (= सब धर्मो की समत्ववुद्धि मे विहार करने वाले) कहे जाते है।

63. (वे) मार्गप्राप्त कहे जाते हैं। मार्गदर्शक कहे जाते है। मार्गदेशिक कहे जाते है। सुप्रतिष्ठितमार्ग (जिनका मार्ग अत्यन्त प्रतिष्ठित है, ऐसे) कहे जाते है।

64. (वे) मारविषयमतिक्रान्त (अर्थात् मार के राज्य से निकल कर दूर पहुँचे हुए) कहे जाते है। मारमण्डलविध्वसकर (=मार की सेना को परास्त करने वाले) कहे जाते हैं। (वे) अजर, अमर तथा शीतीभाव (=समार की जलन शीतल होने की अवस्था) वाले है।

65. (वे) विगत-तमोन्धकार (=तमोगुण एव अज्ञान के अधकार से रहित) कहे जाते है। विगतकटक (=दु ख रूपी कांटा जिनका निकल गया है, ऐसे) कहे जाते हैं। विगतकांक्ष (=विमतिरहित-संदेहरहित) कहलाते हैं। विगतक्लेश =309ख= कहे जाते है। विनीतसंशय (=दूरीकृतसशय) कहे जाते है। विमति-समुद्घटित (=नष्ट हुई-दुविधा वाले) कहे जाते है।

66. (वे) विरक्त कहे जाते है। विमुक्त कहे जाते है। विशुद्ध कहे जाते है। विगतराग कहे जाते है। विगतदोष (द्वेपरहित) कहे जाते है। विगतमोह कहे जाते है।

67. (वे) क्षीणास्रव (=संसारप्रवर्तक मलो से हीन) कहे जाते है। निःक्लेश (=क्लेश-रहित) कहे जाते है। वशीभूत (=अपने पर वश रखने वाले) कहे जाते है। सुविमुक्तचित्त कहे जाते है। सुविमुक्तप्रज्ञ कहे जाते है। आजानेय (=उत्तम जाति के) कहे जाते है। महानाग (=गजेन्द्र) कहे जाते है।

68. (वे) कृतकृत्य (=अपना कार्य पूरा कर चुकने वाले) कहे जाते हैं। कृतकरणीय (=अपना कर्तव्य पूरा कर चुकने वाले) कहे जाते है। अपहृतभार (=भारहीन) कहे जाते हैं। अनुप्राप्तस्वकार्थ (=अपने प्रयोजन को प्राप्त कर लेने वाले) कहे जाते है। परिक्षीणभवसंयोजन (=भव के बन्धनो से रहित) कहे जाते है। समताज्ञानविमुक्त (=सब धर्मो की समता के ज्ञान से अत्यन्त मुक्त) कहे जाते है। सर्वचेतोवशिपारमिताप्राप्त (=चित्त को सब प्रकार से वश में करने के द्वारा पारमिता अर्थात् ससार के पार के प्राप्ति वाले) कहे (-426-) जाते है।

69 (वे) दानपारग कहे जाते है। शीलाभ्युद्गत (=शील से ऊपर उठे हुए) कहे जाते है। क्षान्तिपारग (=क्षमा की पराकाष्ठा को पहुँचे हुए) कहे जाते है। वीर्याभ्युद्गत (=वीर्य अर्थात् उद्योग से उन्नत) कहे जाते है। ध्यानाभिज्ञाप्राप्त कहे जाते है। प्रज्ञापारंगत कहे जाते है।

70 (वे) सिद्धप्रणिधान (=पूर्णसंकल्प) कहे जाते है। महामैत्रीविहारी कहे जाते हैं। महाकरुणाविहारी कहे जाते है। =310क= महामुदिताविहारी कहे जाते है। महोपेक्षाविहारी कहे जाते है।

पापों को बहा देने वाले होने से अप्पम (= नदीजल के तुल्य) कहे जाते हैं। ज्ञान के विषय मे आसक्ति न होने से, अन्तहीन (पूर्व और अपर कोटियो मे हीन) एवं मध्यहीन धर्मधातु विषयक ज्ञान वाले होने से, अभिज्ञाओं (दिव्यज्ञानशक्तियो) के लाभी होने से आकाशसम कहे हैं।

58. नानाप्रकार के (चित्त की शुद्धावस्था के) आवरण करने वाले (= ढक देने वाले) धर्मों के अत्यन्त प्रहीण होने से अनावरणज्ञानविमोक्षविहारी (अर्थात् आवरण-रहित ज्ञान मे तथा विमोक्षो मे विहार करने वाले) कहे जाते हैं। आकाश के समान दृष्टिपथ से अत्यन्त दूर पहुँचे हुए होने से सर्वधर्मधातुप्रसृत-काय (= सम्पूर्ण धर्म धातु मे व्याप्त काय वाले) कहे जाते है। लोक के सब विषयों द्वारा असंक्लिष्ट (= अमलिन) होने से उत्तम-सत्त्व कहे जाते है। (वे) असंगसत्त्व (= आसक्तिरहित-प्राणी) कहे जाते हैं। अप्रमाणबुद्धि (= जिनकी बुद्धि माप में न आने वाली है, ऐसे) कहे जाते है।

59. (वे) लोकोत्तरधर्म-देशिक कहे जाते हैं। लोकाचार्य कहे जाते हैं। लोकवैद्य कहे जाते हैं। लोकाभ्युद्गत अर्थात् लोक से ऊपर उठे हुए (–425–) कहे जाते हैं। लोकधर्मानुलिप्त (= संसार की माया से अछूते) कहे जाते हैं। लोकनाथ कहे जाते हैं। लोकज्येष्ठ कहे जाते हैं। लोकश्रेष्ठ कहे जाते है। लोकेश्वर कहे जाते हैं। लोकमहित (लोकपूजित) कहे जाते हैं। लोकपरायण (= लोक के उत्तम त्राणस्थान) कहे जाते हैं। लोकपारंगत (लोक के परले पार पहुँचे हुए) = 369क = कहे जाते हैं। लोकप्रदीप कहे जाते हैं। लोकोत्तर कहे जाते हैं। लोकगुरु कहे जाते हैं। लोकार्थकर कहे जाते हैं। लोकानुवर्तक कहे जाते हैं। लोकविद् कहे जाते हैं। लोकाधिपतेयप्राप्त (लोक के अधिपत्य अर्थात् प्रभुता को प्राप्त) कहे जाते हैं।

60. (वे) महादक्षिणीय (= महती दक्षिणा के योग्य) कहे जाते हैं। पूजार्ह (= पूजा के योग्य) कहे जाते हैं। महापुण्यक्षेत्र (= पुण्य करने के उत्तम क्षेत्र) कहे जाते हैं।

61. (वे) महासत्त्व कहे जाते हैं। अग्रसत्त्व कहे जाते हैं। वरसत्त्व कहे जाते हैं। प्रवरसत्त्व कहे जाते हैं। उत्तमसत्त्व कहे जाते हैं। अनुत्तरसत्त्व कहे जाते हैं। असमसत्त्व कहे जाते है। असदृशसत्त्व कहे जाते हैं।

62 (वे) सततसमाहित (= सर्वदा एकाग्र) कहे जाते हैं। सर्वधर्मसमता-विहारी (= सब धर्मों की समत्वबुद्धि मे विहार करने वाले) कहे जाते हैं।

63. (वे) मार्गप्राप्त कहे जाते हैं। मार्गदर्शक कहे जाते हैं। मार्गदेशिक कहे जाते हैं। सुप्रतिष्ठितमार्ग (जिनका मार्ग अत्यन्त प्रतिष्ठित है, ऐसे) कहे जाते हैं।

64. (वे) मारविषयमतिक्रान्त (अर्थात् मार के राज्य से निकल कर दूर पहुँचे हुए) कहे जाते हैं। मारमण्डलविध्वंसकर (=मार की सेना को परास्त करने वाले) कहे जाते हैं। (वे) अजर, अमर तथा शीतीभाव (=संसार की जलन शीतल होने की अवस्था) वाले हैं।

65. (वे) विगत-तमोन्धकार (=तमोगुण एवं अज्ञान के अंधकार से रहित) कहे जाते हैं। विगतकंटक (=दुःख रूपी काँटा जिनका निकल गया है, ऐसे) कहे जाते हैं। विगतकांक्ष (=विमतिरहित-संदेहरहित) कहलाते हैं। विगतक्लेश =309ख= कहे जाते हैं। विनीतसंशय (=दूरीकृतसंशय) कहे जाते हैं। विमति-समुद्घटित (=नष्ट हुई-दुविधा वाले) कहे जाते हैं।

66. (वे) विरक्त कहे जाते हैं। विमुक्त कहे जाते हैं। विशुद्ध कहे जाते हैं। विगतराग कहे जाते हैं। विगतदोष (द्वेषरहित) कहे जाते हैं। विगतमोह कहे जाते हैं।

67. (वे) क्षीणास्रव (=संसारप्रवर्तक मलों से हीन) कहे जाते हैं। निःक्लेश (=क्लेश-रहित) कहे जाते हैं। वशीभूत (=अपने पर वश रखने वाले) कहे जाते हैं। सुविमुक्तचित्त कहे जाते हैं। सुविमुक्तप्रज्ञ कहे जाते हैं। आजानेय (=उत्तम जाति के) कहे जाते हैं। महानाग (=गजेन्द्र) कहे जाते हैं।

68. (वे) कृतकृत्य (=अपना कार्य पूरा कर चुकने वाले) कहे जाते हैं। कृतकरणीय (=अपना कर्तव्य पूरा कर चुकने वाले) कहे जाते हैं। अपहृतभार (=भारहीन) कहे जाते हैं। अनुप्राप्तस्वकार्थ (=अपने प्रयोजन को प्राप्त कर लेने वाले) कहे जाते हैं। परिक्षीणभवसंयोजन (=भव के बन्धनों से रहित) कहे जाते हैं। समताज्ञानविमुक्त (=सब धर्मों की समता के ज्ञान से अत्यन्त मुक्त) कहे जाते हैं। सर्वचेतोवशिपारमिताप्राप्त (=चित्त को सब प्रकार से वश में करने के द्वारा पारमिता अर्थात् संसार के पार के प्राप्ति वाले) कहे (-426-) जाते हैं।

69 (वे) दानपारग कहे जाते हैं। शीलाभ्युद्गत (=शील से ऊपर उठे हुए) कहे जाते हैं। क्षान्तिपारग (=क्षमा की पराकाष्ठा को पहुँचे हुए) कहे जाते हैं। वीर्याभ्युद्गत (=वीर्य अर्थात् उद्योग से उन्नत) कहे जाते हैं। ध्यानाभिज्ञाप्राप्त कहे जाते हैं। प्रज्ञापारंगत कहे जाते हैं।

70 (वे) सिद्धप्रणिधान (=पूर्णसंकल्प) कहे जाते हैं। महामैत्रीविहारी कहे जाते हैं। महाकरुणाविहारी कहे जाते हैं। =310क= महामुदिताविहारी कहे जाते हैं। महोपेक्षाविहारी कहे जाते हैं।

71 (वे) सत्वसंग्रहप्रयुक्त (=प्राणियों का संग्रह करने मे उद्योगी) कहे जाते हैं। अनावरणप्रतिसंवित्प्राप्त (=आवरणरहित प्रतिसंवित् संज्ञक ज्ञान के लाभी) कहे जाते हैं। प्रतिसरणभूत (अर्थात् जिनका अनुसरण किया जा सके, या जिन पर विश्वास किया जा सके ऐसे) कहे जाते हैं। महापुण्य (—वन्त) कहे जाते हैं। महाज्ञानी कहे जाते हैं। स्मृति-मतिगति-बुद्धि-संपन्न कहे जाते हैं।

72. (वे) स्मृत्युपस्थानों के, सम्यक्प्रहाणो के, ऋद्धिपादों के, इन्द्रियों के, बलों के, बोध्यंगो के, मार्ग के, शमथ के एवं विपश्यना के, [28]द्वारा आलोक-प्राप्त कहे जाते हैं। उत्तीर्णसंसारार्णव (=संसार रूपी समुद्र से उतरे हुए) कहे जाते हैं। पारग (=पार पहुँचे हुए) कहे जाते हैं। स्थलगत (=सूखी धरती पर पहुँचे हुए) कहे जाते हैं। क्षेम प्राप्त कहे जाते हैं। अभयप्राप्त कहे जाते हैं। मर्दितक्लेशकंटक अर्थात् क्लेशरूपी कांटो के मसल चुकने वाले कहे जाते हैं।

73. (वे) पुरुष कहे जाते हैं। महापुरुष कहे जाते हैं। पुरुषसिंह कहे जाते हैं। विगतभयलोमहर्षण (=भय के अवसर पर भी रोमाञ्च रहित) कहे जाते हैं। नाग (=कुंजर) कहे जाते हैं।

74. (वे) निर्मल कहे जाते हैं। त्रिमलमलप्रहीण (=काय-वाक्-चित्त के मलों से मलिनता से रहित) कहे जाते हैं। वेदक (=विद्यावन्त) कहे जाते हैं। त्रैविद्यानुप्राप्त (=तीन विद्याओं को पा चुकने वाले) कहे जाते हैं। चारों ओघों से उत्तीर्ण कहे जाते हैं। पारग (=पार पहुँचे हुए) कहे जाते हैं।

75. (वे) क्षत्रिय कहे जाते हैं और ब्राह्मण कहे जाते है, यत. वे एकरत्न-छत्रधारी नाम पा चुके है, वाहितपाप [29] = 310ख = —धर्म अर्थात् पाप-धर्मों को बहा चुकने का नाम पा चुके हैं। (वे) भिक्षु कहे जाते हैं यतः वे भिन्ना-विद्याण्डकोश (=अविद्या के ब्रह्माण्ड कोश के भेद चुकने वाले) का नाम पा चुके हैं। (वे) श्रमण कहे जाते हैं, यतः वे अर्थों के आसक्तिमय मार्ग से अत्यन्त दूर पहुँच चुके होने का नाम पा चुके हैं। (वे) श्रोत्रिय कहे जाते है, यतः वे क्लेशों से निःसृत हो चुके होने का नाम पा चुके हैं।

76. (वे) बलवान् कहे जाते है। दशबलधारी कहे जाते हैं। भगवान् कहे जाते हैं। भावितकाय (=काय के प्रति सावधान) कहे जाते हैं। राजातिराज कहे जाते हैं। धर्मराज कहे जाते हैं।

---

28. मूल, —समर्थविदर्शना—। भोट, लम् दङ् शि ग्नस् दङ् ल्हग् म्थोङ् गिस् (=मार्गशमथविपश्यनाभिः)।

29. मूल, —पार—। भोट, स्दिग् प हि. (—पाप)।

77. (वे) उत्तम, अत्युत्तम, धर्मचक्र के प्रवर्तनकारी अनुशासक कहे जाते है। अकोप्य (=क्षोभ या अशान्ति के न देने-लेने वाले) धर्म के देशिक (=गुरु) कहे जाते है। (वे) सर्वज्ञज्ञानाभिषिक्त (=बुद्ध के ज्ञान का अभिषेक पा चुकने वाले) कहे जाते हैं, आसक्ति रहित महाज्ञान एव विमल-विमोक्ष[30] के पट्टबद्ध (=पगडी बाँधने वाले) कहे जाते है, सात बोध्यङ्ग रूपी रत्नों से समन्वित कहे जाते है।

78. (वे) सर्वधर्मविशेषप्राप्त अर्थात् धर्म को सब विशेषताओ के लाभी कहे जाते है। (–427) (वे) सब आर्य श्रावक-रूपी अमात्यो द्वारा निहारे गए मुख-मण्डल वाले कहे जाते हैं। (वे) बोधिसत्त्व—महासत्त्वरूपी पुत्रो के परिवार वाले कहे जाते हं। (वे) सुविनीतविनय (=विनय को अत्यन्त अपने अधीन करने वाले) कहे जाते है। (वे) सुव्याकृतबोधिसत्त्व (बोधिसत्त्व के विषय मे सुन्दर भविष्यवाणी करने वाले) कहे जाते हैं। (वे) वैश्रवण-सदृश कहे जाते है। (वे) सात आर्य-धनो के कोश के दान कर चुकने वाले कहे जाते है। (वे) त्यक्त-त्याग (=दान दे चुकने वाले) कहे जाते है। (वे) सब =सब311क =सुख-सम्पतियो से समन्वित कहे जाते है। (वे) सब अभिप्रायो (=मनोरथो) के दाता कहे जाते है। (वे) सब लोको को हित के एव सुख के अनुपालक कहे जाते हैं।

79. (वे) इन्द्रसम कहे जाते है। (वे) ज्ञानवर अर्थात् उत्तम-ज्ञान[31] रूपी वज्र के धारण करनेवाले कहे जाते है। (वे) समन्त-नेत्र कहे जाते है। (वे) सब धर्मो को आवरण-रहित ज्ञान से देखने वाले कहे जाते है। (वे) ज्ञान की समन्त-विकुर्वणा (=अर्थात् सब ओर से ऋद्धि) करने वाले कहे जाते है। (वे) विपुल-धर्मनाटक दिखलाने के लिए (लोक के रगमच पर) उतरे कहे जाते है। (वे) चन्द्रसम कहे जाते है। सब जगत् उनके दर्शन से अतृप्त रहता है (=कभी नही ऊबता है) इस प्रकार (वे) कहे जाते हैं। सब ओर (फैलने वाली) विपुल एवं विशुद्ध प्रभा वाले (वे) कहे जाते है। प्रीति और प्रमोद उपजाने वाली प्रभा वाले (वे) कहे जाते है। सब प्राणियो को संमुख दिखाई पड़ सके ऐसे आभास (=प्रकाश) वाले (वे) कहे जाते हैं। सब जगत् चित्त के तथा आशय के (अनुसार जिस धर्म का) भाजन (=पात्र) है, उसके प्रतिभास को पा चुकने वाले (वे) कहे जाते है।

30. मूल, विरक्त। भोट, र्नम् पर् ग्रोल ब (=विमुक्त अथवा विमुक्ति)।
31. मूल, ज्ञानबल। भोट, येशेस् म्छोग् (=ज्ञानवर)। वर का बल होना विशेष ध्यान देने योग्य है।

80 (वे) महाव्यूह कहे जाते हैं। शैक्ष तथा अशैक्ष (=अर्हन्त) रूपी नक्षत्र गण के परिवार वाले (वे) कहे जाते हैं। (वे) अदित्य-मंडल के समान कहे जाते हैं। (वे) मोहरूपी अन्धकार के मिटा देने वाले कहे जाते हैं। (वे) महाकेतु-राज कहे जाते हैं। (वे) अप्रमाण (=मापरहित) एवं अनन्त (=अन्त या सीमा रहित) रश्मि वाले कहे जाते हैं। (वे) महान् अवभास (=प्रकाश के) सम्यक् दिखलाने वाले कहे जाते हैं।

81. (वे) सब प्रश्नों के व्याकरण (=व्याख्यान) =311ख= के समय सविस्तर देशना करने के असंमूढ (=न घवड़ाने वाले) कहे जाते हैं। (वे) अविद्या के महान्धकार पूर्णरूप से ध्वस करने वाले कहे जाते हैं। (वे) ज्ञान के महान् आलोक से देखने की बुद्धि मे निर्विकल्प (=कल्पनाओं अर्थात् दुविधाओं से रहित कहे जाते हैं। (वे) महामैत्री, महाकृपा एवं महाकरुणा से सब जगत् के ऊपर समरश्मि (=समान भाव से किरण) छोडने वाले अप्रमाणों[32] के अर्थात् मापे न जा सकने वाले ब्रह्म विहारो के विषय कहे जाते हैं। प्रज्ञापारमिता के गभीर, दुर्लभ एवं दुर्निरीक्ष्य मण्डल वाले (वे) कहे जाते हैं। (वे) ब्रह्मसम कहे जाते हैं। (वे) अत्यन्त शान्त ईर्यापथ (=रहन-सहन) वाले कहे जाते हैं। सब ईर्यापथ (=रहन-सहन) की चर्या (=आचरण) के विशेष (–गुणो) से (वे) समन्वित कहे जाते हैं। (वे) परम रूप धारी कहे जाते हैं। (वे) असेचनक-दर्शन (=जिनके दर्शन से मन नही भरता ऐसे) कहे जाते हैं।

82. (वे) शान्त-इन्द्रिय के कहे जाते हैं। (वे) शान्त-मानस के कहे जाते हैं। (वे) शमथ के संभार (=सामग्री) से परिपूर्ण कहे जाते हैं। (वे) उत्तम-शमथ के लाभी कहे जाते हैं। (वे) परम (–उत्तम) दम एवं शमथ के लाभी कहे जाते हैं। (वे) शमथ एवं विपश्यना के परिपूर्ण संभार (=सामग्री) वाले (–428–) कहे जाते हैं।

83. (वे) गुप्त (=सुरक्षित), जितेन्द्रिय, नाग (=हाथी) के समान अत्यन्त विनीत, सरोवर के समान अत्यन्त स्वच्छ, मलिनतारहित एवं अत्यन्त प्रसन्न (=निर्मल) कहे जाते हैं। सब क्लेशों की वासनाओं एवं आवरणों से अत्यन्त प्रहीण कहे जाते हैं।

84. (वे) महापुरुषों के बत्तीस लक्षणो से समन्वित कहे जाते हैं। (वे) परमपुरुष कहे जाते हैं। (वे) अस्सी अनुव्यञ्जनों के =312क= परिवार

32. मूल, प्रमाणविषय। भोट, युल् छद् मेद् प (=अप्रमाणविषय)। भोट ही सुपाठ है।

(=समूह) से रचे विचित्र शरीर वाले कहे जाते हैं। (वे) पुरुषर्षभ (=पुरुष-पुंगव) कहे जाते हैं। (वे) दशबलों से समन्वित कहे जाते हैं। (वे) चार वैशारद्यों (=निर्भयताओं) के लाभी, अनुत्तर पुरुष-दम्य-सारथि (=पुरुष रूपी अश्वो को विनीत करने वाले सारथि) कहे जाते हैं। (वे) शास्ता (=धर्म के शासक) कहे जाते हैं। (वे) बुद्ध के अट्ठारह आवेणिक (=असाधारण) धर्मों से परिपूर्ण कहे जाते हैं। (वे) काय, वाणी, मन एवं कर्म मे अनिन्दित कहे जाते हैं।

85. [33](वे) सर्वाकारवरोपेत (=सब उत्तम आकार या रंग-ढंग से युक्त) कहे जाते हैं, क्योंकि वे अत्यन्त शुद्ध किए गए ज्ञान-दर्शन के मंडल से युक्त हैं[33] (वे) शून्यताविहारी कहे जाते हैं, क्योंकि उन्होने प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा (धर्म–) समता को (जो शून्य-स्वभाव की है) भली भाँति समझ बूझ लिया है। (वे) अनिमित्तविहारी कहे जाते हैं, क्योंकि परमार्थ का जो सत्य-नय (=यथार्थ-योगायोग) है, उसका उन्होने प्रतिवेध कर डाला है अर्थात् उसका मर्म जान लिया है। वे अप्रणिहितविहारी कहे जाते हैं, क्योंकि सब प्रस्थानों (=ध्यान एव समाधि मे प्रवेश करने के आलबनों) से वे अलिप्त हैं। वे अनभिसस्कारगोचर कहे जाते हैं, क्यो कि उनके सब सस्कार प्रतिप्रश्रब्ध हो चुके हैं—शान्त हो चुके हैं। (वे) भूतवादी कहे जाते हैं, क्योंकि भूतकोटि (=परमार्थ) का जो ज्ञानविषय है, वह उनमे (कभी भी) कुपित (=क्षुब्ध या विचलित) नही होता। (वे) अवितथवादी एवं अनन्यथावादी कहे जाते हैं, क्यों कि (वे) तथता, धर्मधातु तथा आकाश के लक्षण-वाले अलक्षण-ज्ञान[34] के

33....33. मूल, सर्वाकारवरोपेतसुपरिशोधितज्ञानदर्शनमण्डलत्वाच्॰। पठनीय, सर्वाकारवरोपेत इत्युच्यते सुपरिशोधितज्ञानदर्शनमण्डरवात्। भोटानुसार सर्वाकारवरोपेतत्वात् सुपरिशोधितज्ञान(दर्शन)मण्डल इत्युच्यते (**नंम् प थम्स् चद् क्यि म्छोग् दङ् ल्दन् प हि. फ्यिर् शिन् तु योङ्स् सु स्ब्यङ्स् प हि. येशेस् क्यि द्क्यिल् ह्कोर् शेस् ब्य व ह्रो**)। भोटानुवाद भी भ्रामक है। किन्तु वाक्यसमाप्ति ठीक स्थान पर की गई है। इसका अगले वाक्यांश शून्यताविहारीत्युच्यते के साथ कोई सम्बन्ध नही है। इत्युच्यते के अनन्तर विरामसूचक दण्ड ॰आत् (पचम्यन्त पर) होना चाहिए और यही बहुत दूर तक स्थामप्राप्त (लेफमन् संस्करण के 433वें पृष्ठ की प्रथम पंक्ति) के अनन्तरवर्ती द्वितीय पंक्ति के ॰आत् तक करना होगा।

34. मूल, अलक्षण–। भोट, **शेस् प हि.** (=ज्ञान–)। भोट में अलक्षण तथा मूल मे ज्ञान शब्द नही है।

विषय है। (वे) अरण्यधर्म-सुप्रतिलब्ध (=क्लेश-रहित धर्मों के भलीभाँति पा चुकने वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि माया के समान, मृगमरीचिका के समान, स्वप्न के समान =312ख= जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र के समान, प्रतिध्वनि के समान, प्रतिभास के समान (मान कर) सब धर्मों में विहरते हैं। (वे) अमोघ-दर्शनश्रवण (=अर्थात् जिनका दर्शन करना तथा जिनसे धर्म सुनना कभी निष्फल नही होता, ऐसे) कहे जाते हैं, क्योंकि (उस दर्शन एवं श्रवण द्वारा) परिनिर्वाणहेतु (-भूत बोध) का जन्म होता है। (वे) अमोघपदविक्रमी (=सफल पद-पराक्रम वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि प्राणियो को विनय सिखाने मे उन्होंने पराक्रम के साथ पद (=क़दम) बढाए हैं। (वे) उत्क्षिप्तपरिखेद (=सब प्रकार के खेद को उछाल कर फेंक देने वाले) कहे जाते है, क्योंकि उन्होंने अविद्या और भवतृष्णा (=संसार में उत्पन्न होने की तृष्णा) को पूर्णरूप से छिन्न-भिन्न कर डाला है। (वे) स्थापितसंक्रम (=आवागमन के रोक देने वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि वे नैर्याणिक-प्रतिपदा अर्थात् संसार से पार होने के मार्ग के उत्तम उपदेशक हैं। (वे) निर्जितमारक्लेशप्रत्यर्थिक (अर्थात् मार तथा क्लेश रूपी शत्रुओं के परास्त करने वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि मार-विषयक सब (प्रकार के) चरित्रों मे वे अलिप्त हैं। (वे) उत्तीर्णकामपङ्क (=कामरूपी कीचड़ से उतरे हुए) कहे जाते हैं, क्यो कि वे कामधातु को पूर्ण रूप से लाँघ चुके हैं। (वे) पातितमानध्वज (=मान की ध्वजा को गिरा देने वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि वे रूपधातु को पूर्ण रूप से लाँघ चुके हैं। (वे) उच्छ्रितप्रज्ञाध्वज (=प्रज्ञा के झडे को ऊँचा करने वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि वे आरूप्यधातु को पूर्णरूप से लाँघ चुके हैं। (वे) सर्वलोकविषयसमतिक्रान्त (=सब लोकों के विषयो को लाँघ चुकने वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि वे धर्म-काय एव ज्ञान-शरीर के है। (वे) महाद्रुम (=महावृक्ष) कहे जाते हैं, क्यों कि वे अनन्त गुणरत्न तथा ज्ञान के फूलों और (–429–) विमुक्ति के फलो से अत्यन्त सम्पन्न हैं। वे उदुम्बरपुष्पसदृश (=गूलर के फूल की उपमा वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि उनका प्रादुर्भाव और दर्शन =313क=दुर्लभ है। (वे) चिन्तामणि (नामक) रत्न रूपी मणियों के राजा के समान कहे जाते हैं, क्योंकि वे न्यायानुकूल निर्वाण के अभिप्राय की उत्तमता से परिपूर्ण करते हैं।

10 तथागत लक्षणवर्णना

86. (वे) सुप्रतिष्ठितपाद (=धरती पर सुन्दरता मे बैठने वाले चरण के) कहे जाते है, क्योंकि उन्होने चिर-काल तक त्याग, शील, तप, व्रत एवं ब्रह्मचर्य को दृढता से ग्रहण किया है, विचलित नही हुए है, डिगे नही है।

87. पैरो के तलवों में स्वस्तिक, नन्द्यावर्त, सहस्र-अर वाले चक्र के अंकन से (वे) विचित्र कहे जाते है, क्योंकि उन्होने चिर-काल तक माता, पिता, श्रमण, ब्राह्मण, गुरु, दक्षिणीय (=पूजनीय) एवं धार्मिक लोगों की रक्षा तथा परिपालना की है और शरणागतों को नही त्यागा है ।

88. (वे) आयतपार्ष्णि (=विस्तृत एड़ियों वाले) कहे जाते है, क्योंकि (वे) चिर-काल तक प्राणातिपात (=जीववध) से विरत रहे है ।

89. (वे) दीर्घाङ्गुलि (=लंबी उँगलियों वाले) कहे जाते है, क्योकि (वे) चिर-काल तक प्राणातिपात (=जीववध से) विरत रहते हुए, अन्य प्राणियो को भलीभाँति अपनाते रहे है ।

90. (वे) बहुजनपरित्राता कहे जाते है, क्योंकि उन्होने चिर-काल प्राणातिपातविरति के (=जीवहिंसा न करने के) गुणों की प्रशंसा बखानी है ।

91. (वे) मृदुतरुणहस्तपाद (=कोमल एवं सुकुमार हाथ-पैरों वाले) कहे जाते है, क्योंकि (उन्होंने) चिर-काल तक माता, पिता, श्रमण, ब्राह्मण, गुरु, =313ख= एवं दक्षिणीय (=पूजनीय) लोगों के उपस्थान (=पूजन), परिचर्या, स्नान, अनुलेपन, घृत तथा तेल के अभ्यङ्ग (=मर्दन) करने मे अपने हाथों एवं शरीर द्वारा सेवा करते हुए (अपने को) थकाया है ।

92. (वे) जालाङ्गुलिहस्तपाद (=जाल से बँधी हुई अर्थात् बीच में छेदन दिखाई पड़ने वाली उँगलियों से युक्त हाथ-पैरों वाले) कहे जाते है, क्योकि (उन्होने) दान, प्रियवचन, अर्थक्रिया तथा समानार्थता रूपी (चार) संग्रह वस्तुओ के जाल से सत्त्वसंग्रह मे (अर्थात् प्राणियो को संगठित करने मे) कुशलता की उत्तम शिक्षा पाई है ।

93. (वे) उत्सङ्गपाद (=मध्य में उठे हुए तलवो के पैरों वाले) कहे जाते है, क्योंकि (उन्होने) चिर-काल तक विशेषता मे बढ-बढ कर अधिकाधिक कुशल-मूल का उत्तम आलम्बन ग्रहण किया है ।

94. (वे) ऊर्ध्वाङ्गदक्षिणावर्तरोमकूप (=अगो के ऊपर दाहिने ओर से मुड़े हुए रोम जिनमें है, ऐसे रोमकूपो वाले) कहे जाते है, क्योकि (वे) चिरकाल तक माता, पिता, श्रमण, ब्राह्मण, गुरु, दक्षिणीय (=पूजनीय) एव तथागत-चैत्य की प्रदक्षिणा करने में, धर्मश्रवण करने पर चित्रीकार (=आदरसत्कार) से स्वयं पुलकित होने मे तथा दूसरे प्राणियो को पुलकायमान करने मे तथा धर्म की देशना करने मे लगे रहे है ।

95. (वे) एणेयजङ्घ (=ऐणेय नामक मृग की पिंडलियो वाले) कहे जाते है, क्योकि (वे) चिर-काल तक सत्कार करके धर्म के सुनने में, ग्रहण करने मे,

धारण (=स्मरण) करने में, बाँचने में, बोध कराने में, अर्थों और पदों के निश्चय करने की सिद्धि मे कुशलता (=पंडितता) के द्वारा जरा, व्याधि एवं मरण के मुख में जाने वाले प्राणियों को शरण दिया है, (और) सत्कार करके =314क= धर्म-देशना करने में अपराभव वाली (=हार न खाने वाली) बुद्धि के रहे हैं।

96. (वे) कोशोपगतवस्तिगुह्य (=अश्वदि की भाँति कोश या थैली में विराजित गुप्त-अंग के) कहे जाते है, क्योंकि चिर-काल तक (उन्होंने) श्रमणों-ब्राह्मणों तथा दूसरे ब्रह्मचारियों को ब्रह्मचर्य (पालन करने) मे सहायक सब परिष्कारों (=उपकरणों) को दिया है, नंगों को वस्त्र[35] बाँटे है, परस्त्री-गमन न करने का जो ब्रह्मचर्य है, उसके गुणों की प्रशंसा (-430-) भली भाँति प्रकाशित की है, ह्री (=आत्मलज्जा) तथा अपत्रपा (=लोकलज्जा) की परिपालना करने मे दृढव्रती रहे हैं।

97. (वे) प्रलम्बबाहु (=लंबी बाहों के) कहे जाते है, क्योंकि (वे) चिर-काल तक हाथो के संयमी, पैरों के संयमी, प्राणियो की अविहेठा अर्थात् अहिंसा में उद्योग शील तथा मैत्री के साथ किए जाने वाले काय-कर्मो, वाक्-कर्मो एव मनस्कर्मो मे समन्वित रहे हैं।

98. (वे) न्यग्रोधपरिमण्डल (=वट वृक्ष के समान उचित लंबाई, चौड़ाई और ऊँचाई के अनुपात वाले) कहे जाते हैं, क्योकि (उन्होंने) चिर-काल तक भोजन की मात्रा को जान कर अल्पाहरी, उदार-भोजन (=स्थूलाहार) के प्रति संयमी, रोगियों को भैषज्य देने वाले, हीन जनों का अपमान न करने वाले, अनाथों का बिगाड न करने वाले, तथागत के चैत्यो का जीर्णोद्धार करने वाले, स्तूपों के प्रतिष्ठापक तथा भय से पीड़ितों को अभयप्रदान करने वाले रहे हैं।

99. (वे) मृदुतरुण सूक्ष्मच्छवि (=कोमल, सुकुमार एवं पतली त्वचा के) कहे जाते हैं, क्योंकि (उन्होने) चिर-काल तक माता, पिता, श्रमण, ब्राह्मण, =314ख= गुरु एवं दक्षिणीय (=पूजनीय) लोगों को स्नान, अनुलेपन, घृत एवं तैल का अभ्यङ्ग, शीत-काल मे ऊष्ण-जल,ऊष्ण-काल मे शीत-जल, छायातप (=धूप-छाँह), ऋतु के अनुकूल सुखोपभोग सामग्री के देने वाले, कोमल, नरम, रूई के स्पर्श के समान सुकुमार वस्त्र, आस्तरण (=बिछावन) शयनासन (=सेज-मञ्चिका) प्रदान करने वाले, तथागत-चैत्यों पर सुगन्धित तेल के छिड़काव, सूक्ष्म कौशेय के ध्वज-पताका-सूत्रों के समर्पण करने वाले रहे हैं।

35. मूल, वल—। भोट, गोस् (=चैल, वस्त्र)। वल वस्तुतः चैल का ही लिपिभ्रंश है।

100. (वे) सुवर्णच्छवि (=सोने जैसी गोरी त्वचा वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि चिर-काल तक (वे) सब प्राणियों के प्रति आघात न करने वाले, मैत्री-भावना के योग वाले, क्षमा एवं सौरत्य (=कृपालुता) के द्वारा अन्य प्राणियों को (धर्म के प्रति) समादापन (=प्रोत्साहन) देने वाले, वैर एवं व्यापाद (=हत्या) न करने के गुणो की प्रशंसा करने वाले, तथागत चैत्यो एवं तथागतप्रतिमाओं का सुवर्ण से मंडन करने वाले, (उन पर) सुवर्ण के पुष्प तथा सुवर्ण का चूर्ण बरसाने वाले, (उन्हे) सुवर्ण-वर्ण के कौशेयनिर्मित पताकाओं एवं ध्वजो द्वारा विभूषित करने वाले, उन पर सुवर्ण-पात्र एवं सुवर्ण-वस्त्र चढाने वाले रहे है।

101. (वे) एकैकनिचितरोमकूप (=प्रत्येक रोमकूप से निकले हुए एक एक रोमवाले) कहे जाते है, क्योंकि (वे) चिर-काल तक पंडितों के पास पहुँच कर, क्या कुशल है—क्या अकुशल है, इसे सब प्रकार से पूछते रहे है, सावद्य (=निन्दार्ह) एवं अनवद्य (=प्रशंसार्ह), सेव्य =315क= एवं असेव्य, हीन, मध्यम एव प्रणीत (=उत्तम) धर्मो के विषय में प्रश्न करते रहे है, अर्थ की मीमांसा तथा परितुलना (=मन से माप-जोख कर विचारणा) करने में मोह रहित अर्थात् सन्देह एवं भ्रम से हीन रहे है, तथागतचैत्यों पर लगे कीड़ों-मकोड़ों के घरों और जालों [36] को, [37] सड़े-गले बासी फूलों को[37], नाना प्रकार की घास-फूस को, रेत-बालू को हटाने मे लगे रहे है।

102. (वे) सप्तोसद (=सात बित्ते की लम्बाई वाले) कहे जाते है, क्योंकि चिर-काल तक (वे) माता-पिता, ज्येष्ठ (=स्वामी), श्रेष्ठ (सज्जन) पूज्य, श्रमण-ब्राह्मण, दीन-दरिद्र, भिखारियो एव अतिथियो का सत्कार करके उन्हें इच्छानुसार अन्न-पान, शय्या, वस्त्र, निवास-स्थान, प्रदीप, जीविका के साथ (आवश्यक) परिष्कारों (=उपकरणो) को संपादन करके प्रदान करने वाले, तथा महाजनोपभोग के लिए अर्थात् बहुसंख्यक जनता के उपयोग के लिए शीत-जल से पूर्ण कूप-पुष्करिणियां बनावा-देते रहे है।

103. (वे) सिंहपूर्वार्धकाय (=सिंह के समान विशाल कटि से ऊपर के भाग वाले शरीर के) कहे जाते है, क्योंकि (उन्होने) चिर-काल तक माता पिता, श्रमण, ब्राह्मण, गुरु, दक्षिणीय (=पूजनीय) लोगों को नमस्कार, प्रणाम, अभिवादन, अभय-प्रदान करने के (–431–) दुर्बलो को अपमानित न करने के,

36. मूल, जलि। भोट, ब-ग्र्यं (=जाल, जाली)।
37. मूल, यानिर्माल्य। भोट, मे तोग् लिङ् प (यापित निर्माल्य)।

शरणागतों के त्याग न करने के दृढता से ग्रहण किए हुए व्रत को (कभी नहीं) छोडा है।

104. (वे) चितान्तरांस (=बीच में भरे-पुरे दोनों कन्धों वाले) कहे जाते है, क्योंकि चिर-काल तक (वे) =315ख= अपने दोषों पर परितुलना (=मन से माप-जोख कर विचारणा) करते रहे है, पर-प्रस्खलित[38] (दूसरे की भूल) तथा परच्छिद्र (=दूसरे की कमी) का दोष (दुनिया के सामने उघाड़ कर) नही दिखलाते रहे है, परभेदकारी विवादमूल (=कलह-निदान) की मंत्रणा (गुप्त बात-चीत) का सब प्रकार से त्याग करते रहे हैं, मन्त्रणा (=गुप्त बात-चीत) का सुप्रतिनिःसर्ग (=अत्यन्तपरित्याग) करते रहे है, वाक्कर्मान्त (=वाणी के कर्मों) की अत्यन्त सब ओर से रक्षा करते रहे हैं।

105. (वे) सुवृत्तस्कन्ध (=सुन्दर गोल-गोल कन्धों वाले है), क्योंकि चिर-काल तक (वे) माता-पिता, श्रमण, ब्राह्मण, गुरु एवं दक्षिणीय (=पूजनीय) लोगो के प्रति प्रत्युत्थान के (=आदर से उठ-खड़े होने के) प्रत्युद्गमन (=बढ़-कर स्वागत करने के) अभिवादन के (=नमस्कार-निवेदन करने के) मनोरथ वाले रहे[39] हैं, सब शास्त्रों में वैशारद्य से (=निर्भयभाव से) विवाद की कामना वाले प्राणियों का निग्रह कर, स्व-धर्म मे विनीत करने के लिए, अनुलोमन (=अनुकूलभाव) से भली भाँति प्रवृत्त होते रहे हैं, राजाओ और अमात्यों को कुशल-धर्मपथ मे प्रतिष्ठापन करने मे तथा उसको उत्तम भावना में अर्थात् उत्तमता से हृदयंगम कराने में भली भाँति लगे रहे हैं, तथागत के शासन को सब प्रकार से ग्रहण करने मे, उत्तमता से धारण करने में, सब कुशल-चर्या के समादान (=पुण्य व्रतग्रहण) करने में पूर्वंगम (=प्रथम चलने वाले-अगुआ) रहे है।

106. (वे) सिंहहनु (=सिंह की ठुड्डी जैसी ठुड्डी वाले) कहे जाते है, क्योंकि चिर काल तक (वे) याचकों को इच्छानुसार सब वस्तुओं का दान दूँगा— ऐसे प्रियवचन बोलते रहे है, पास में (याचना के निमित्त) आने वालों का (उन्होने) अपमान नहीं किया है, (उन्हें लज्जित करके) उनका मुँह लटकने नही दिया है, सबका मनोरथ परिपूर्ण करने के लिए दान—देने के =316क= दृढ-समादान (=दृढ़ता से ग्रहण किए गए व्रत) को (कभी) नहीं छोडा है।

38. मूल, प्रस्खलित। भोट, गशन् गि्य ,ह् खुल् प (=परप्रस्खलित)।
39. मूल, कामानां च। पठनीय, कामत्वाच् च। भोट में इस पद का अनुवाद नही है।

107. (वे) चत्वारिंशत्-समदन्त (=संख्या मे चालीस बराबर दाँतों वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि चिर-काल तक (उन्होंने) पिशुनवचन (=चुगलखोरी) का सब तरह से त्याग किया है, फूट डालने की गुप्त-बातचीत को (कभी) नहीं अपनाया है, संधि-सामग्री अर्थात् मेल-जोल और एकता के प्रति रुचि रखते रहे हैं, समग्र (=एक हुओं के विषय मे भेदाचिन्तन[40] के रहे हैं, अर्थात् भेद (डालने की बात को कभी) नही चित्त से सोचा है, पिशुनवचन (=चुगलखोरी) की निन्दा करने में एवं संधिसामग्री अर्थात् मेल-जोल और एकता के गुणों को प्रकाशित करने मे परिश्रम से जुटे रहे है।

108 (वे) सुशुक्लदन्त (=अत्यन्त श्वेत दाँतों के) कहे जाते है, क्योंकि (वे) कृष्ण-पक्ष का परित्याग करते रहे है, शुक्ल-पक्ष को पुण्य से बढाते रहे है, कृष्ण-पक्ष एवं कृष्ण-विपाक का त्याग करते रहे है, शुक्ल-कर्म एव शुक्ल-विपाक का सम्यक् वर्णन करते रहे है, क्षीर-भोजन और शुक्ल-वस्त्र दान मे देते रहे है, तथागत के चैत्यों पर सफेदी करवाते रहे हैं, क्षीर-मिश्र (अन्न-पान) का सम्यक् दान करते रहे है, सुमना, वार्षिकी एव धानुष्कारी (के पुष्पों) के मालाओं की लडियो का और फूलों के हारो का तथा शुक्लवर्ण के पुष्पो का उपहार देते रहे है।

109. (वे) अविरलदन्त (=छिद्ररहित दाँतो वाले) कहे जाते हैं, क्योकि (वे) चिर-काल तक हँसी-ठट्ठे[41] का पूरे तौर पर त्याग करते रहे है, आनन्द (-प्रद-हास) करते रहे है, वचन की रक्षा करते रहे है, आनन्दकारी-वचन बोलने वाले रहे है, परस्खलित (=दूसरे की भूल) तथा परच्छिद्र (दूसरे की कमी) को न खोजने वाले रहे है, सब प्राणियो के साथ =316ख= समान-चित्त (के भाव) से बरतते रहे हैं, समानता का व्यवहार करते रहे है, सम (-भाव)

40....40. मूल, चेदाचित्तेन। पठनीय, भेदाचिन्तन। भोट, द्ब्ये बर् मि सेम्स् प (=भेद-अचित्त अथवा अचिन्तन। द्रष्टव्य बु० हा० सं० डि० पृष्ठ 233 पर चेदाचित्त शब्द। प्रो एड्जर्टन ने इसके लिए यत्न नही किया है, तथा इतना कहकर छोड़ दिया है कि वेलर ने इस दूषित पाठ पर ध्यान नही दिया है।

41. मूल, हास्योच्चट्यन। इसमे उच्चट्यन प्रो० एड्जेर्टन् के अनुसार उच्चघन का अपरूप है। द्रष्टव्य बु० हा० सं० डि० पृष्ठ 118 पर उच्चट्य शब्द। संस्कृत के उच्चमन (=मन की हँसी) इसका शायद संबन्ध हो। भोट, ह्फ्य व दङ् ह्यिङ् व (=निन्दोपहास)।

से धर्म देशना करते हैं, दृढ़ता से उन्हें अपना कर (उन्होंने कभी) परित्याग नही किया है ।

110 (वे) रसरसाग्रवन्त (=बडे ही रसीले) कहे जाते है, क्योंकि चिर-काल तक उन्होंने सब सत्वों (=प्राणियो) को विहेठा (=पीडा) नही दी है, (उनकी) हिंसा नही की है, नाना व्याधियो की छूत लगे (लोगो) को पथ्य-भैषज्य देते रहे है, सब रस के अभिलापियो को सब रस प्रदान करने मे थकित न होने वाले रहे है ।

111. (–432–) वे ब्रह्मस्वर (=ब्रह्मा के स्वर जैसे स्वर वाले) कहे जाते है, क्योकि चिर-काल तक वे, असत्य-भाषण से, कठोर-भाषण से, कर्कश-भाषण से, शठता के भाषण से, कटु-भाषण से, दूसरों के (मन में) लग जाने वाले भाषण से, अप्रिय-भाषण से, दूसरों के मर्म को छेदने वाले भाषण से विरत रहे है, मैत्री तथा करुणा के संयोग से मोद और प्रमोद करने वाली स्नेह से भरी, मीठी, चिकनी हृदय मे बैठने वाली, सब इन्द्रियों में आनन्द भरने वाली सम्यक् वाणी का सम्यक् प्रयोग करते रहे है ।

112. (वे) अभिनील-नेत्र (=अत्यन्त काले नेत्रों वाले) कहे जाते है, क्यों कि चिर-काल तक (वे) माता-पिता के तुल्य सब प्राणियो को क्रोध-रहित चक्षु से देखने वाले रहे है, इकलौते बेटे के समान याचक को मैत्री तथा करुणा पूर्वक निहार कर अपमानित न करने वाले रहे है, प्रसन्नता से (=श्रद्धा से) भरी इन्द्रियों द्वारा बिना पलक मारे =317क= तथागत के चैत्यो का भली भाँति दर्शन करते रहे है, दूसरे प्राणियो की तथागत का दर्शन कराने के व्रत को दृढ़ता से धारण करते रहे है ।

113. (वे) गोपक्ष्मनेत्र (=वृषभ की पलको जैसी पलको वाले) कहे जाते है, क्योंकि चिर-काल तक (वे) हीन-मति का परित्याग करने वाले रहे है, उदार तथा विपुल अधिमुक्ति (–रुचि) की परिपूर्णता करते रहे हैं, अनुत्तर धर्म के छन्द (अर्थात् अभिलाष) मे प्राणियो को प्रेरित करने वाले रहे है, टेढ़ी भौहो का मुँह न बनाकर, हँसते चेहरे से सब कल्याण-मित्रो के पास पहुँचने, सामने जाने एवं पहले पहुँचने के द्वारा सब (प्रकार के) कुशलों की वृद्धि करने मे पीछे न मुड़ने वाले रहे हैं ।

114. (वे) प्रभूतजिह्व (=वे लम्बी जिह्वावाले) कहे जाते है, क्योकि चिर-काल तक (वे) वाणी के सब दोषो को त्यागते रहे है, सब श्रावको (=अर्हन्तों) प्रत्येक-बुद्धो एवं धर्मभाणको (=धर्मवचन-वाचकों) के प्रमाण (=माप) में आने वाले गुणो की प्रशंसा भली भाँति प्रकाशित करते रहे है, तथागत के सूत्रो

का लेखन, वाचन, पठन और विज्ञापन (=प्रवचन) करते रहे है, और उन धर्मो के अर्थो का तथा पद-प्रभेदो का दूसरे प्राणियों को बोध-प्राप्त कराने मे कुशल रहे है।

115. (वे) उष्णीषशीर्ष (=पगड़ी के समान उभडे हुए शिर वाले) तथा अनवलोकितमूर्ध (=तेज के कारण दूसरों द्वारा न निहारे जा सकने वाले शिर के) कहे जाते है, क्योंकि चिर-काल तक (वे) माता-पिता, श्रमण =317ख= ब्राह्मण, गुरु एवं दाक्षिणीय (=पूजनीय) लोगों के चरण-तलों मे शिर से प्रणाम करते रहे हैं, प्रव्रजितों का नमस्कार एवं अभिवादन, केशमुण्डन, शिर पर सुगन्धित तैल का भली भाँति सेवन (कर सत्कार) करते रहे है, सब याचको को चूर्ण, मालागुणों (=मालाओं की लडियो), एवं शिरोभूषणों का दान करते रहे हैं।

116. (वे) भ्रुओं के मध्य मे उत्तमता से उत्पन्न हुई, दाहिनी ओर से घूमी हुई, तपे हुए-विशुद्ध-वर्ण के प्रकाश को उपजाने वाली ऊर्णा से युक्त कहे जाते है, क्योंकि दीर्घ-काल तक (उन्होंने) निरर्गल (—आदि) सब यज्ञो का यजन किया है, (उसमे दूसरों को) प्रेरित किया है, सब कल्याण-मित्रो के द्वारा किए गए अनुशासन मे (वे) अनुद्धर (=अविरोधी[42]) रहे है, धर्मभाणकों के दूत रूप मे भेजे जाने पर दिशाओं में आने-जाने से थकित नही हुए है, सब बुद्धों, बोधिसत्त्वों, प्रत्येक बुद्धो, आर्यश्रावकों, धर्मभाणकों, माता-पिता-गुरुओं, और दक्षिणीयों (=पूजनीयो) के लिए अंधे करने वाला अँधेरा हटाने के तेल और घी के प्रदीप और मशालें तथा नाना (प्रकार) के सुगंधि तेलों के प्रदीप जलाते रहे है, सब उत्तम आकारो से युक्त, (देखने में) श्रद्धा उपजाने वाली, तथागत की प्रतिमाएँ बनवाते रहे है, (और उनमें दूध के समान आभास वाले रत्न के [43]उत्कीर्ण-ऊर्णा कोश[44] द्वारा भली भाँति मंडन करवाते रहे हैं, दूसरे प्राणियों को बोधिचित्त के अभिमुख करने के लिए अर्थात् उनमें बोधिचित्त जागृत करने के लिए उचित (—433—) कुशल-संभार (=पुण्य-सामग्री) की विशेषताओ से युक्त रहते रहे है।

42. मूल अनुद्धर = अविरोधी। तुलनीय भोट, ह्गल् बर् मि ब्येद प।
43....43. मूल, उत्तीर्णकोश। पठनीय, उत्कीर्ण-ऊर्णाकोश। भोट, म्जोद् स्पुस् (=ऊर्णाकोश)। उत्तीर्ण शब्द उत्कीर्ण का अपभ्रंश है।
44. इस वाक्य से पूर्व महानारायण इत्युच्यते यह पाठ मूल मे है, वह भोट मे नही है। यह पाठ यहाँ निरर्थक एवं असंगत है।

से धर्म देशना करते हैं, दृढता से उन्हें अपना कर (उन्होने कभी) परित्याग नही किया है ।

110 (वे) रसरसाग्रवन्त (=बडे ही रसीले) कहे जाते है, क्याकि चिर-काल तक उन्होने सब सत्वों (=प्राणियों) को विहेठा (=पीड़ा) नही दी है, (उनकी) हिंसा नही की है, नाना व्याधियो की छूत लगे (लोगो) को पथ्य-भैषज्य देते रहे है, सब रस के अभिलापियों को सब रस प्रदान करने मे थकित न होने वाले रहे हैं ।

111. (–432–) वे ब्रह्मस्वर (=ब्रह्मा के स्वर जैसे स्वर वाले) कहे जाते है, क्योकि चिर-काल तक वे, असत्य-भाषण से, कठोर-भापण से, कर्कश-भापण से, शठता के भापण से, कटु-भाषण से, दूसरों के (मन मे) लग जाने वाले भापण से, अप्रिय-भापण से, दूसरों के मर्म को छेदने वाले भापण से विरत रहे हैं, मैत्री तथा करुणा के संयोग से मोद और प्रमोद करने वाली स्नेह से भरी, मीठी, चिकनी हृदय मे बैठने वाली, सब इन्द्रियों में आनन्द भरने वाली सम्यक् वाणी का सम्यक् प्रयोग करते रहे है ।

112. (वे) अभिनील-नेत्र (=अत्यन्त काले नेत्रों वाले) कहे जाते है, क्यों कि चिर-काल तक (वे) माता-पिता के तुल्य सब प्राणियों को क्रोध-रहित चक्षु से देखने वाले रहे है, इकलौते बेटे के समान याचक को मैत्री तथा करुणा पूर्वक निहार कर अपमानित न करने वाले रहे है, प्रसन्नता से (=श्रद्धा से) भरी इन्द्रियों द्वारा बिना पलक मारे =317क= तथागत के चैत्यो का भली भाँति दर्शन करते रहे है, दूसरे प्राणियो की तथागत का दर्शन कराने के व्रत को दृढता से धारण करते रहे है ।

113. (वे) गोपक्ष्मनेत्र (=वृषभ की पलकों जैसी पलकों वाले) कहे जाते हैं, क्योंकि चिर-काल तक (वे) हीन-मति का परित्याग करने वाले रहे हैं, उदार तथा विपुल अधिमुक्ति (–रुचि) की परिपूर्णता करते रहे है, अनुत्तर धर्म के छन्द (अर्थात् अभिलाप) में प्राणियों को प्रेरित करने वाले रहे है, टेढ़ी भौहो का मुँह न बनाकर, हँसते चेहरे से सब कल्याण-मित्रो के पास पहुँचने, सामने जाने एवं पहले पहुँचने के द्वारा सब (प्रकार के) कुशलो की वृद्धि करने मे पीछे न मुड़ने वाले रहे हैं ।

114. (वे) प्रभूतजिह्व (=वे लम्बी जिह्वावाले) कहे जाते है, क्योकि चिर-काल तक (वे) वाणी के सब दोषो को त्यागते रहे है, सब श्रावको (=अर्हन्तो) प्रत्येक-बुद्धो एव धर्मभाणको (=धर्मवचन-वाचको) के प्रमाण (=माप) मे आने वाले गुणो की प्रशंसा भली भाँति प्रकाशित करते रहे है, तथागत के सूत्रों

125. अनेक प्रकार के जो पूर्व (—जन्म) में निवास (के स्थान) हैं, उनके स्मरण करने का जो आसक्ति-रहित ज्ञान है, उसके बल से युक्त होने के कारण, वे अनेकविधपूर्वनिवासानुस्मृत्यसंगज्ञानबलोपेत कहे जाते है।

126. =319क=सब के सब, अशेष, रूपों में आवरणहीन-दर्शन करने वाली जो दिव्यदृष्टि है, उसके ज्ञान करने का जो बल है, उसमें युक्त होने के कारण सर्वरूपानावरणज्ञानदर्शन-दिव्यचक्षुर्-ज्ञानबलोपेत कहे जाते है।

127. सब वासनाओं मे जो अनुसंधि है, अर्थात् संतान परंपरा से पूर्व—पूर्व वासना क्षणो को उत्तर-उत्तर वासना क्षणों मे प्रवेश करना है, उसकी गति-विधिवश जो सब के सब अशेष आस्रव (=मलिन धर्म) हैं, उनके क्षय करने का जो ज्ञान है, उस (ज्ञान) के बल से युक्त होने के कारण, वे सर्ववासनानुसंधिगत-निरवशेपसर्वास्रव-क्षयज्ञानबलोपेत कहे जाते है।❀

12 तथागत वैशारद्यवर्णना

128. सब के सब अशेष धर्मों का मैं उत्तम बोध (करूँगा) तथा इस प्रतिज्ञा-पर आरूढ़ रहते हुए, देवताओ सहित इस लोक में अनभिभूत (=अपरास्त) रहूँगा—इस प्रतिज्ञा मे निर्भीकता प्राप्त हुए होने के कारण, वे निरवशेपसर्व-धर्माभि (–434–) संबुद्धप्रतिज्ञारोहण-सदैव (के) लोके-ऽनभिभूतप्रतिज्ञावैशारद्य-प्राप्त कहे जाते हैं।

129. सब (प्रकार) के मलिनता वाले तथा विघ्न-बाधा पहुँचाने वाले धर्मो को निर्वाण से बाधित (करूँगा) तथा इस प्रतिज्ञा पर आरूढ़ रहते हुए, देवताओं सहित इस लोक मे, अनाच्छेद्य (=अटूट) (रहूँगा)—इस प्रतिज्ञा में निर्भीकता प्राप्त हुए =319ख=होने के कारण वे सर्वसावलेशिक-आन्तरायिकधर्म-अन्तरा-यकरणा-निर्वाणस्येति तत्प्रतिज्ञारोहण-सदेवके लोके-अनाच्छेद्य-प्रतिज्ञावैशारद्यप्राप्त कहे जाते हैं।

130. संसार से बाहर करने वाले मार्गपर चलते हुए, निर्वाण के प्रति (लोगो मे) अनुराग उत्पन्न करूँगा तथा इस प्रतिज्ञा पर आरूढ रहते हुए, देवताओ सहित इस लोक मे, अप्रतिचोद्य (=अनिन्दनीय) रहूँगा—इस प्रतिज्ञा मे निर्भी-कता प्राप्त हुए होने के कारण, वे नैर्याणिकी प्रतिपदं प्रतिपद्यमानो निर्वाण-

❀ इस वाक्य का तथा इससे पूर्व के चार वाक्यों का तथा परवर्ती अनेक वाक्यो का भोटानुवाद बहुत अस्त-व्यस्त तथा असंबद्ध है। यह असंबद्धता अनु-वादक की न होकर लेखक तथा मुद्रक-काष्ठफलक बनाने वालों की जान पडती है। इनमें वाक्यांशो का हेर-फेर है।

(11) तथागतबलवर्णना

117. =318क= महानारायण के जैसे बल से युक्त होने के कारण वे महास्थामप्राप्त अर्थात् महानुभाव प्राप्त कहे जाते हैं। सैकड़ों-कोटि मारों को परास्त करने वाले बल से युक्त होने के कारण सर्वपरप्रमर्दक कहे जाते हैं। तथागत ने दस बलो से युक्त होने के कारण वे दशतथागतबलोपेत कहे जाते हैं।

118. स्थान एवं अस्थान अर्थात् अवसर एवं अनवसर के ज्ञान की कुशलता से हीन और प्रादेशिक (=आंशिक) यान का त्याग कर महायान के गुणों की सिद्धि करने के बल मे युक्त होने के कारण, बल के प्रयोग में अतृप्त होने के कारण वे स्थानास्थानज्ञानबलोपेत कहे जाते है।

119. अतीत के, अनागत के तथा वर्तमान के सब कर्मों के स्वीकार करने में जो हेतु की दृष्टि से ज्ञान है तथा जो उसके फल की दृष्टि से ज्ञान है, उस ज्ञान के बल से युक्त होने के कारण, (वे) अतीतानागतप्रत्युत्पन्न-सर्व-कर्मसमादान-हेतुविपाकज्ञानबलोपेत कहे जाते है।

120. सब प्राणियो में इन्द्रियों की तथा वीर्य (=उद्योग) की जो विभिन्न मात्रा (=परिमाण) होती है, उस (मात्रा) के जानने का जो बल है, उससे युक्त होने के =318ख= कारण, वे सर्वसत्वेन्द्रियवीर्य-विमात्रता-ज्ञानबलोपेत कहे जाते है।

121. अनेक धातुओं के तथा नानाधातुओं के लोको में प्रवेश करने के ज्ञान का जो बल है, उससे युक्त होने के कारण, वे अनेकधातु-नानाधातुलोकप्रवेश-ज्ञानबलोपेत कहे जाते है।

122 (प्राणियो की) अनेक-रुचियो को, नानारुचियों को, अशेषरुचियों को तथा विमुक्तियों के ज्ञान का जो बल है, उससे युक्त होने के कारण वे अनेकाधिमुक्ति-नानाधिमुक्ति-सर्वनिरवशेषाधिमुक्ति-विमुक्ति[45]-ज्ञानबलोपेत कहे जाते हैं।

123. सब स्थानो में जाने का जो मार्ग है, उसके ज्ञान के बल से युक्त होने के कारण, वे सर्वत्रगामिनीप्रतिपज्ज्ञानबलोपेत कहे जाते हैं।

124. सब (प्रकार के) ध्यानों में, विमोक्षों में, समाधियो मे, समापत्तियों (=योग-प्राप्तियो), संक्लेशों (=मलिनताओं) मे तथा व्यवदानो (=निर्मलताओ) मे अलग-अलग विश्लेषण करके जानने का जो बल है, उससे युक्त होने के कारण, वे सर्वध्यानविमोक्ष-समाधि-समापत्ति-संक्लेश-व्यवदान-व्यवस्थापन-ज्ञानबलोपेत कहे जाते है।

45. भोट, र्नम् पर् ग्रोल व (विमुक्ति)। यह मूल में नही है।

मारागयिष्यामीति-प्रतिज्ञारोहण-सदेवके लोके-ऽप्रतिचोद्यप्रतिज्ञावैशारद्यप्राप्त कहे जाते हैं।

131. सब आस्रवों के (मलिन-धर्मों के) क्षय का जो ज्ञान है, प्रहाण का जो ज्ञान है (उसे जानूँगा) तथा इस प्रतिज्ञा पर आरूढ़ रहते हुए, देवताओं सहित इस लोक मे अविवर्त्य (=पीछे न मुड़ने वाला) रहूँगा—इस प्रतिज्ञा में निर्भीकता प्राप्त हुए होने के कारण, वे सर्वास्रवक्षयज्ञानप्रहाणज्ञान-प्रतिज्ञारोहण-सदेवके लोके-ऽविवर्त्य-प्रतिज्ञावैशारद्यप्राप्त कहे जाते हैं।

13 तथागतगुणान्तरवर्णना

132. भूल से रहित पदों द्वारा धर्म की देशना करने वाले होने से, वे अस्खलितपद—धर्मदेशक कहे जाते हैं। शब्द से परे, =320क=वचन से परे धर्म का जो स्वभाव है, उसका अवबोध करने वाले होने से, वे अरुतानभि-लाप्य-धर्मस्वभावानुबुद्ध कहे जाते हैं। सब प्राणियों की जो बोली है, तथा माप-रहित बुद्धों के धर्म की जो बोली है, उसे अधिष्ठान (=संकल्प) द्वारा बोल सकने मे समर्थ होने से वे सर्वसत्त्वरुत-अप्रमाणबुद्ध-धर्मरुत-निर्घोषाधिष्ठान समर्थ कहे जाते हैं। स्मरण करने मे अचूक होने से वे असुषितस्मृति कहे जाते हैं। नाना प्रकार की (पारस्परिक भेद उपजाने की जो) संज्ञाएँ (भेदबुद्धियां) हैं, उनसे रहित होने से, वे नानासत्त्वसंज्ञा-विगत कहे जाते हैं। सब चित्त (की वृत्तियों) मे एकाग्र तथा अत्यन्त एकाग्र होने से, वे सर्वचित्तसमाहित-सुसमाहित कहे जाते हैं। अ-ज्ञान के प्रति भली भाँति उपेक्षा करने वाले होने से, वे अप्रति-संख्या-समुपेक्षक कहे जाते हैं। रुचि के संस्कारों से मिलने वाली समाधि से परि-हीण न होने से, वे छन्दसंस्कार-समाध्यपरिहीण कहे जाते हैं। वीर्य (=उद्योग) के संस्कारों से मिली समाधि की (क्षण-संतान-परंपरा की) विच्छिन्नता-वाले न होने से, वीर्य (उद्योग) में हीन न होने वाले होने से, वे वीर्यसंस्कार-समाध्यनाछेद्यापरिहीणवीर्य[46] कहे जाते हैं। स्मृति से =320ख=परिहीण न होने से, वे अपरिहीण-स्मृति कहे जाते हैं। प्रज्ञासे परिहीण न होने से, वे अपरिहीण-प्रज्ञ कहे जाते हैं। विमुक्ति से परिहीण न होने से, (–435–) वे अपरिहीण—विमुक्ति कहे जाते हैं। विमुक्तिज्ञानदर्शन से प्रहीण न होने के कारण, वे अपरिहीणविमुक्तिज्ञानदर्शन कहे जाते हैं। काय के, वाणी के तथा मन के जो सब कार्य है, उनके करने में जो ज्ञान पहले चाहिए तथा जो ज्ञान पश्चात् चाहिए, उससे समन्वित होने से, वे सर्व कायवाङ्मनस्कर्म-ज्ञानपूर्वंगम-ज्ञानानु-

46. मूल, मे इस वाक्यांश के मध्य में अनाछेद्य पद प्रमादवश छूटा हुआ है।

परिवर्त-ज्ञानसमन्वागत कहे जाते हैं। अतीत, अनागत, तथा वर्तमान के कालों में आसक्तिरहित तथा रोक-टोक के बिना प्रवृत्त होने वाले ज्ञान-दर्शन से युक्त होने से वे त्र्यध्वासंगाप्रतिहत-ज्ञानदर्शनसमन्वागत कहे जाते हैं। आवरणरहित विमोक्ष के प्रतिलाभी होने से वे अनावणविमोक्षप्रतिलब्ध कहे जाते हैं। सब प्राणियों के विषय में (मोक्ष का) जो अधिष्ठान (= संकल्प) किया है, तदर्थ उन (प्राणियो) का जो (ज्ञातव्य) चरित्र है, उसमें प्रवेश करने की कुशलता में स्थित होने से वे = 321क = अधिष्ठितसर्वसत्त्व-चरितप्रवेश-कौशल्यावस्थित कहे जाते हैं। जिसे धर्म का उपदेश देना चाहिए, उसे वैसे धर्म का उपदेश देने में कुशल होने से वे यथाप्रत्यर्ह-धर्मदेशना-कुशल कहे जाते हैं।

(14) तथागतघोषवर्णना।

133. सभी जो स्वरों के अंग (अर्थात् अलग-अलग भेद) हैं, उनके मण्डल मे अत्यन्त पारंगतता के लाभी होने के कारण,·वे सर्वस्वराङ्गमण्डल-परमपारमिता-प्राप्त कहे जाते हैं। सब ध्वनियों तथा प्रतिध्वनियों के निकालने की कुशलता के लाभी होने के कारण, वे देव-नाग-यक्ष, गन्धर्वासुर-गरुड-किनर-महोरग-रुत कहे जाते हैं,—ब्रह्मस्वर-रुतरवित-निर्घोप कहे जाते हैं,—कलविङ्करुतस्वर कहे जाते हैं,-दुन्दुभि-संगीति-रुत-स्वर कहे जाते है-धरणीतल-निर्नाद-निर्घोप-स्वर कहे जाते है,-सागर-नागेन्द्र-मेघ-स्तनित-गर्जित-घोष-स्वर कहे जाते है,-सिंह-वृषभित (= सिंह तथा वृषभ जैसी उपमावाले) अभिगर्जितनिर्घोप-स्वर कहे जाते है,-सब प्राणियो का जो रुत-रपित (ध्वनि-प्रतिध्वनि शब्द) है, उसके अनुसरण से (सब प्राणियों को) सतोष करने वाले स्वर के कहे जाते है—आसक्ति से रहित, आवरण से रहित एवं सब परिपन्मडल को रिझाने वाले, स्वर के कहे जाते है, एक बोली से बोलियो मे परिणत होने के स्वर वाले कहे जाते है।

15 तथागत-सर्वपूज्यत्व-वर्णना

134. = 321ख = वे ब्रह्मेन्द्र-पूजित कहे जाते है। देवेन्द्र-सत्कृत कहे जाते हैं। नागेन्द्र-नमस्कृत कहे जाते हैं। यक्षेन्द्र (= कुबेर) द्वारा निहारे गए मुखमण्डल के कहे जाते है। गन्धर्वो द्वारा गीतो मे गाए गये कहे जाते है। राक्षसेन्द्र द्वारा श्रद्धा से पूर्ण इन्द्रियों से बिना पलक मारे भली भाँति देखे गये कहे जाते हैं। असुरेन्द्र द्वारा सम्यक् प्रणाम किये गये कहे जाते है। गरुडेन्द्र द्वारा अहिंसा भाव के साथ देखे गये कहे जाते है। किनरेन्द्र द्वारा स्तुति किए गये कहे जाते है। महोरगेन्द्र द्वारा दर्शन के लिए चाहे गये कहे जाते है। मनुजेन्द्रों (= राजाओ) द्वारा सम्यक् पूजित (—436—) कहे जाते है। अर्हन्त-गण-सेवित कहे जाते है। सब बोधिसत्त्वो को प्रेरणा देने वाले, उत्साह देने वाले एवं आनद

देने वाले कहे जाते है। निरामिष (=असंसारी) धर्म के उपदेशक कहे जाते हैं। पदों तथा व्यंजनो से अखंडित, सफल, धर्म की देशना करने वाले कहे जाते हैं। बिना अवसर चूके धर्म-देशक कहे जाते है।

135. हे मैत्रेय, धर्मचक्रप्रवर्तन की तथा अंशत. तथागतगुणवर्णना की यह संक्षेप से कही गई भूमिका-मात्र है, हे मैत्रेय, विस्तार से यदि तथागत=322क= कल्प तक वा कल्पान्त तक कहें, तो भी कहते-कहते इसकी समाप्ति न हो सकेगी।

16. गाथाओं द्वारा धर्मचक्रप्रवर्तन-तथागत-गुणवर्णन।

136. इसके अनन्तर, भगवान् ने उस समय ये गाथाएँ कहीं—

गम्भीरं दुर्दृशं सूक्ष्मं धर्मचक्रं प्रवर्तितं।
यत्र मारा न गाहन्ते सर्वे च परतीर्थिकाः ॥1471॥

(तथागत ने) सूक्ष्म, कठिनाई से साक्षात् होने के योग्य, गंभीर धर्मचक्र का प्रवर्तन किया है, जिसकी थाह सब के सब मार एवं परतीर्थिक नही पाते।

अनालयं निष्प्रपञ्चं अनुत्पादमसंभवं।
विविक्तं प्रकृतिशून्यं धर्मचक्रं प्रवर्तितं ॥1472॥

आलय-हीन, प्रपञ्च-हीन, उत्पाद-हीन, सभव-हीन, विवेकमय तथा प्रकृति से शून्य धर्मचक्र का (तथागत ने) प्रवर्तन किया है।

अनायूहमनिर्यूहमनिमित्तमलक्षणं ।
समताधर्मनिर्देशं चक्रं बुद्धेन वर्णि(?र्ति)तं[47] ॥1473॥

परिग्रह से हीन, परित्याग से हीन, निमित्त से हीन, लक्षण से हीन, समता-धर्म का निर्देशकारी चक्र बुद्ध ने चलाया।

माया मरीचि स्वप्नं च दकचन्द्र प्रतिश्रुत्का।
यथैते तथा तच्चक्रं लोकनाथेन वर्तितं ॥1474॥

माया, (मृग-) मरीचिका, स्वप्न, जलगत-चन्द्र (-प्रतिबिम्ब) तथा प्रतिध्वनि जिस प्रकार (भावाभावविवर्जित) है, वह चक्र भी उसी प्रकार का है, (जिसका कि) लोकनाथ ने प्रवर्तन किया।

प्रतीत्यधर्म-ओतारमनुच्छेदमशाश्वतं ।
सर्वदृष्टिसमुच्छेदो धर्मचक्रमिति स्मृतं ॥1474॥

47. वर्णितं के लिए भो मे वर्तितं वा प्रवर्तितं पद है—रब् बुस्कोर् तो।

प्रत्यय से (=कारणसामग्री मे) होने वाले धर्मों में प्रवेश कराने वाला, उच्छेद-रहित, अ-शाश्वत, सब दृष्टियों के समुच्छेद का चक्र धर्मचक्र है—ऐसा (बुद्धों ने) स्मरण किया है।

आकाशेन सदा तुल्यं निर्विकल्पं प्रभास्वरं।
अनन्तमध्यनिर्देशं धर्मचक्रमिहोच्यते ॥1476॥

सदा आकाश के समान, विकल्पो से अर्थात् नाना प्रकार की कल्पनाओ से रहित, प्रभास्वर, (पूर्व एवं पर के) अन्तो से (=कोटियो से) तथा मध्य से न बताया जा सकने वाला धर्मचक्र यह (बुद्धों द्वारा) कहा गया है।

अस्ति-नास्ति विनिर्मुक्तम् आत्म्यनैरात्म्यवर्जितं।
प्रकृत्याऽजातिनिर्देशं धर्मचक्रमिहोच्यते ॥1477॥

भाव एवं अभाव से पूर्णतया मुक्त, आत्मभाव एव अनात्मभाव से रहित, प्रकृति से अजातिवाद का निर्देश करने वाला धर्मचक्र यहाँ (बुद्धो द्वारा) कहा गया है। =322ख=

(-437-) भूतकोटीमकोटीं च तथतायां तथात्वतः।
अद्वयो-धर्म-निर्देशो धर्मचक्रं निरुच्यते ॥1478॥

भूतकोटि (=सत्यकोटि) होकर भी जो अकोटि (=कोटियो अर्थात् पूर्वापर के अन्तवादों से रहित) है, तथता की जो तथता है, अद्वैत धर्म को जो बताता है, (ऐसा) धर्मचक्र (बुद्धों द्वारा) कहा गया है।

चक्षु स्वभावतः शून्यं श्रोतं घ्राणं तथैव च।
जिह्वा कायं च चित्तं च शून्यात्मानो निरीहकः ॥1479॥

चक्षु स्वभाव से शून्य है। श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय एवं चित्त भी उसी प्रकार शून्य-स्वभाव के निश्चेष्ट है।

इदं तदीदृशं चक्रं धर्मचक्रं प्रवर्तितं।
बोधयत्यबुधान् सत्वांस्तेन बुद्धो निरुच्यते ॥1480॥

यह ऐसा (धर्म-) चक्र है, (जिस) धर्मचक्र का (बुद्ध ने) प्रवर्तन किया है। बोधहीन प्राणियों को बोध कराते है, इसलिए बुद्ध कहे जाते है।

स्वयं मयानुबुद्धोऽयं स्वभावो धर्मलक्षणं।
ऋते परोपदेशेन स्वयंभूस्तथ चक्षुमान् ॥1481॥

बिना दूसरे के उपदेश के, मैंने स्वयं यह स्वभाव, (यह) लक्षण बूझा है, इसी से मैं स्वयंभू तथा चक्षुष्मान् हूँ।

सर्वधर्मवशिप्राप्तो धर्मस्वामी निरुच्यते ।
नयानयज्ञो धर्मेषु नायकस्तेन चोच्यते ॥1482॥

सब धर्मा पर प्रभुता के लाभी होने से वे धर्मस्वामी कहे जाते हैं । धर्मों के विषय मे नय तथा अनय के जानकार होने से वे नायक कहे जाते हैं ।

यथा भवन्ति वैनेया विनयाम्यमितां जनां ।
विनेयपारमिप्राप्तस्तेन प्रोक्तो विनायकः ॥1483॥

विनीत किए जाने वाले (लोग) जैसे होते हैं, (उसके अनुसार मैं) अमित जनो को विनीत करता हूँ । विनेय-पारमिता के (=विनीत करने के योग्य लोगों की शिक्षा मे पारंगतता) लाभी होने से मुझे विनायक कहा जाता है ।

नष्टमार्गा हि य सत्वा मार्गं देशेमि उत्तमं ।
नयामि पारिमं तीरं तस्मादस्मि विनायकः ॥1484॥

जो प्राणी राह भूल गए है, (उन्हे मैं) उत्तम राह दिखाता हूँ, और परले किनारे पर पहुँचाता हूँ, इसलिए मैं विनायक कहा जाता हूँ ।

संग्रहा-वस्तुज्ञानेन संगृह्य जनतामहं ।
संसाराटविनिस्तीर्णः सार्थवाहस्ततो ह्यहं ॥1485॥

संग्रह—(योग्य–) वस्तुओ के ज्ञान से जनता का संग्रह करके, संसार की अटवी मैं पार कर चुका हूँ, इसलिए मै सार्थवाह (कहलाता) हूँ ।

वशवर्ती सर्वधर्मेषु तेन धर्मेश्वरो जिनः ।
धर्मचक्रं प्रवर्तित्वा=323क=धर्मराजो निरुच्यते ॥1486॥

सब धर्मो को वश मे रखने वाले होने से (तथागत) जिन एवं धर्म के ईश्वर (कहलाते) है । धर्मचक्र का प्रवर्तन करके (वे) धर्मराज कहलाते है ।

धर्मदानपतिः शास्ता धर्मस्वामी निरुत्तरः ।
सुयष्टयज्ञ सिद्धार्थः पूर्णाशः पूर्णमङ्गलः ॥1487॥

(वे है) धर्म के दानपति, शास्ता, अत्युत्तम धर्मस्वामी, उत्तमता से यज्ञ का यजन कर चुकने वाले, सिद्धार्थ, (अपनी) आशा को पूरी कर चुकने वाले, पूर्ण हो चुके मंगल वाले ।

आश्वासकः क्षेमदर्शी शूरो महारणंजहः ।
उत्तीर्णसर्वसंग्रामो मुक्तो मोचयिता प्रजाः ॥1488॥

(वे हैं) आश्वासन देने वाले, कुशल-क्षेम दिखाने वाले, शूर, महारणों अर्थात् महाक्लेशों का त्याग करने वाले, सब द्वन्द्वों से पार उतरे हुए, (स्वय) मुक्त, प्रजा को मुक्त करने वाले ।

(-438-) आलोकभूतो लोकस्य प्रज्ञाज्ञानप्रभंकरः।
अज्ञानतमसो हन्ता उल्काधारि महाप्रभः ॥1489॥

(वे हैं) प्रज्ञा तथा ज्ञान की प्रभा करने वाले लोक के लिए आलोक-भूत, अज्ञान के अन्धकार का नाश करने वाले महाप्रभावान् उल्काधारी (=मशालची)।

महावैद्यो महाज्ञानी महाक्लेशचिकित्सकः।
सत्वानां क्लेशविद्धानां शल्यहर्ता निरुत्तरः ॥1490॥

(वे हैं) महाक्लेशों की चिकित्सा करने वाले क्लेशों से बँधे प्राणियों के सर्वोत्तम शल्य हरण करने वाले महा ज्ञानी महावैद्य।

सर्वलक्षणसंपन्नः सर्वव्यञ्जनशोभितः।
समन्तभद्र (:) कायेन हीनानां चानुवर्तकः ॥1491॥

(वे हैं) सब लक्षणों की संपत्ति वाले, सब अनुव्यञ्जनों की शोभावाले, शरीर से परिपूर्ण मंगल वाले, हीनों पर अनुग्रह करने वाले।

दशभिर्बलभिर्बलवान् वैशारद्यविशारदः।
आवेणिकैरष्टदशै अग्रयानी महामुनिः ॥1492॥

(वे हैं) दश (बुद्ध-) बलो से बली, (चार) वैशारद्यो (=निर्भयताओं) से विशारद (=निर्भीक), अट्ठारह आवेणिको से (=असाधारण बुद्ध धर्मो से) अग्रयान (=उत्तम-यान) पर चढ़कर ले चलने वाले महामुनि।

एष संक्षेपनिर्देशो धर्मचक्रप्रवर्तने।
तथागत गुणवर्णः परित्तोऽयं प्रकाशितः ॥1493॥

धर्मचक्र—प्रवर्तन का यह संक्षेप से कथन है। तथागत के गुणों की (यह) स्वल्प प्रशसा प्रकाशित की गई है।

बुद्धज्ञानमनन्तं हि
आकाशविपुलं समं।
क्षपयेत्कल्प भाषन्तो =323ख=
न च बुद्धगुणक्षयः ॥1494॥[48]

बुद्ध का ज्ञान आकाश के जैसा व्यापक एवं समान तथा अन्तहीन है। वर्णन करते-करते कल्प (भी) बिता डालें तो भी बुद्धगुणों का अवसान नही है।

॥ इति श्रीललितविस्तरे धर्मचक्रप्रवर्तनपरिवर्तो नाम षड्विंशतितमोऽध्यायः ॥

●

48. इस परिवर्त की गाथाओ की छाया यो है—

आचार्यो न हि मे कश्चित् सदृशो मे न विद्यते । एकोऽहमस्मि संबुद्धः शीतीभूतो निरास्रवः ।।1420।। अहमेवार्हन् लोके शास्ता ह्यहमनुत्तरः । सदेवासुरगन्धर्वे नास्ति मे प्रतिपुद्‌गलः ।।1421।। जिना हि मादृशा ज्ञेया प्राप्ता आस्रवक्षयम् । जिता मे पापका धर्मास् तेनोपग जिनो ह्यहम् ।।1422।। वाराणसी गमिष्यामि, गत्वा वै काशिनां पुरीम् । अन्धभूतस्य लोकस्य कर्तास्म्यसदृशी प्रभाम् ।।1423।। वाराणसी गमिष्यामि गत्वा वै काशिनां पुरीम् । शब्दहीनस्य लोकस्य ताडयिष्येऽमृतदुन्दुभिम् ।।1424।। वाराणसी गमिष्यामि गत्वा वै काशिनां पुरीम् । धर्मचक्रं प्रवर्तयिष्ये लोकेष्वप्रतिवर्तितम् ।।1425।।

योऽसौ तुषितालयाच्च्युत्वावक्रान्तो मातृकुक्षौ हि । जातश्च लुम्बिनीवने प्रतिगृहीतः शचीपतिना ।।1426।। यः सिंहविक्रमगतिः सप्त पदानि व्यक्रमीद् असंमूढः । ब्रम्हस्वरामथ गिरं प्रमुमोच जगत्यहं श्रेष्ठः ।।1427।। चतुरो द्वीपांस्त्यक्त्वा प्रव्रजितः सर्वसत्त्वहितहेतोः । दुष्करतपश्चरित्वोपागमद् येन महीमण्ड (प): ।।1428।। सबलं निहत्य मारं बोधिप्राप्तो हिताय लोकस्य । वारणासीमुपगतो धर्मचक्रं प्रवर्तयिता ।। 1429।। स ब्रह्मणा सुरैः सहाध्येषितो वर्तयस्व समचक्रम् । अधिवासितं च मुनिना लोके कारुण्यमुत्पाद्य 1430।। सोऽयं दृढप्रतिज्ञो वाराणसीमुपगतो मृगदावम् । चक्रं ह्यनुत्तरमसौ प्रवर्तयितात्यद्भुतं श्रीमत् ।।1431।। य श्रोतुकामो धर्मं यः कल्पनयुतैः समार्जितो जिनेन । शीघ्रमसौ त्वरमाण आगच्छतु धर्मश्रवणाय ।।1432।। दुरवाप्यं मानुष्यं बुद्धोत्पादः सुदुर्लभा श्रद्धा । श्रेष्ठं च धर्मश्रवणम् अष्टाक्षणविवर्जनं दुरापम् ।।1433।। प्राप्तं तदद्य सर्व (यथाश्रुत तु प्राप्तश्च तेऽद्य सर्वे) बुद्धोत्पादः क्षणस्तथा श्रद्धा । धर्मश्रवणं च वरं प्रमादमखिलं विवर्जयत ।।1434।। भवति काचिद् अवस्था यस्यां कल्पनयुतैर्न श्रूयते धर्मः । संप्राप्तः स चैवाद्य प्रमादमखिलं विवर्जयत ।।1435।। भौमादीन् देवगणान् सचोदयति च ब्रह्मपर्यन्तान् । आयात लघु सर्वे वर्तयिता नायको ह्यमृतचक्रम् ।।1436।। संचोदिताश्च महता देवा घोषेण तत्क्षण सर्वे । त्यक्ता देवसमृद्धि प्राप्ता बुद्धस्य ते पार्श्वे ।।1437।।

त्रिसाहस्राद् इतो बहवो ब्रह्मा सुरेश्वरः पालास्तथा, उपगम्य जिनस्य क्रमयोर्अभिनिपत्योदाहार्षुः । स्मर पूर्वं प्रतिज्ञां महामुने या त्वया वाचा कृता, अहं श्रेष्ठो विशिष्टः प्रजायाः करिष्ये दुःखस्य क्षयम् ।।1438।। त्वया धर्षितो मारःससैन्यो द्रुमेन्द्रे स्थित्वा मुने, वरा बोधिर्विबुद्धा सुशान्तिर् निपातिताः क्लेशद्रुमाः । अभिप्रायः प्रपूर्णोऽशेषो यश्चिन्तितः कल्पशतानि,

जनतां प्रसमीक्ष्यानायकां वर्तय चक्रवरम् ॥1439॥ सुगतस्य प्रभया प्रभासितानि क्षेत्रसहस्रशतानि, बहूनि शतानि बुद्धसुताश्चोपागता ऋद्धिबलैः। विविधां सुगन्ध कृत्वा पूजां महनिचयाम्, अस्ताविपुस् तथागतं भूतगुणैरध्येषयितुं कारुणिकम् ॥1440॥ करुणाघन, प्रज्ञाविद्युत्, वायुसमविपश्यन, अभिगर्जितं कल्पसहस्राणि निमन्त्रितं सर्वजगत्। अष्टाङ्गिकमार्गजलधर, वर्ष शमय जगतस्तृषम्, बलेन्द्रियध्यानविमोक्षं विवर्धय सस्यधनम् ॥1441॥ बहुकल्पसहस्राणि सुशिक्षित शून्यतास्थितः, समुदानीत धर्मज भेषज ज्ञाता सत्त्वचर्या। जनतेयं व्याधिशतैरुपद्रुता क्लेशगणैः, जिनवैद्य प्रमोचय वर्तय धर्मचक्रवरम् ॥1442॥ षट् पारमिताश् चिररात्रं विवर्धितः कोशस्त्वया, असमं त्वचाल्यं प्रणीतं सुसंचितं धर्मधनम्। प्रजां सर्वामनाथां दरिद्राम् अनायकां दृष्ट्वेमाम्, वितरन् धनानि सत्त्वविनायक चक्रं प्रवर्तय ॥1443॥ धनधान्यं हिरण्यसुवर्णं तथैव च वस्त्राणि शुभानि। वराणि पुष्पविलेपनचन्दनचूर्णानि गृहाश्च वराः। अन्तःपुरराज्यं प्रियात्मजास् त्यक्तानि प्रहर्षयता (= प्रहृष्यता) जिनबोधिं गवेषयता सा ते विबुद्धा प्रवर्तय चक्रवरम् ॥1444॥ तथा शीलखण्डमकल्मषं रक्षितं कल्पशतानि सदा क्षान्तिः सुभाविता वीर्यमलीनम् अभूत् तव। वरध्यानाभिज्ञविपश्यनाप्रज्ञोपेक्ष मुने परिपूर्णमनोरथ निर्ज्वर वर्तय चक्रवरम् ॥1445॥

दीपंकरेण यदा व्याकृतः शुद्धसत्त्वो बुद्धो भविष्यसि हि त्वं नरसिंहसिंहः। तस्मिन् समासे (= समवाये, अवसर) प्रणिधिरियमेवंरूपा संबोधिप्राप्तमहं धर्मायाध्येषयेयम् ॥1446॥ न च शक्याः सर्वे गणनयानुप्रवेष्टुं य आगता दशभ्यो दिग्भ्य इहाग्रसत्त्वाः। अध्यैषिषुः शाक्यकुलनन्दनं धर्मचक्रे प्रह्वाः कृताञ्जलिपुटाश् चरणौ निपत्य ॥1447॥ यो बोधिमण्डे प्रकृतश्च सुरैर्व्यूहो यो वा व्यूहः कृतः सर्वैर् जिनात्मजैः। स सर्वः संस्थितो व्यूहस्ते धर्मचक्रे परिपूर्णकल्पं भण्यमानः क्षयं न गच्छेत् ॥1448॥ त्रिसाहस्रे लोके गगनं स्फुटं देवसंघैर् धरणीतलमसुरकिंनरमानुषैश्च। उल्कासशब्दो नापि श्रूयते तन्मुहूर्तं सर्वे प्रसन्नमनसो जिनमभ्युदैक्षन्त ॥1449॥

वाचया ब्रह्मरुतया किंनरगर्जितया, अशीःसहस्रनयुतैः समुद्गतया। बहु कल्पकोट सदा सत्यया सुभाषितया, कौण्डिन्यमालपति शाक्यमुनिः स्वयंभूः ॥1450॥ चक्षुरनित्यमध्रुवं तथा श्रोत्रं घ्राण जिह्वापि कायो मनो दुःखानि अनात्मानि शून्यानि। जडस्वभावानि तृणकुड्यानीव निरीहाणि नैवात्रात्मा न नरो न च जीवोऽस्ति ॥1451॥ हेतुं प्रतीत्येमे संभूताः सर्वधर्मा अन्तानन्तदृष्टिविगता गगनप्रकाशाः। न च कारकोऽस्ति तथा नैव च

वेदकोऽस्ति न च कर्म पश्यति कृतं ह्यशुभं शुभं वा ॥1452॥ स्कन्धान् प्रतीत्य समुद्यन्ति हि दुःखान्येवं (यथारुतं तु एकवचनम्-समुदेति हि दुःखमेव) संभवन्ति तृष्णासलिलेन विवर्धमानानि। मार्गेण धर्मसमताया दृश्यमानान्यत्यन्तक्षीणानि क्षयधर्मतया निरुद्धानि ॥1453॥ संकल्पेन कल्प (ना) जनितेनायोनिशो भवत्यविद्या नापि संभवकोऽस्याः कश्चित्। संस्काराणां हेतु ददाति (अन्यथा) न च संक्रमोऽस्ति, विज्ञानमुद्भवति सक्रमणं प्रतीत्य ॥1454॥ विज्ञानात् नाम तथा च रूपं समुत्थितमस्ति नाम्नश्च रूपात् समुद्यन्ति षडिन्द्रियाणि। षडिन्द्रियैर्निपतित इति स्पर्श उक्तः स्पर्शेन तिस्रोऽनुवर्तन्ते वेदनाश्च ॥1455॥ यत्किंचिद् वेदयितं सर्वा सा तृष्णोक्त तृष्णात सर्व उपजायते दुःखस्कन्धः। उपादानतो भवति सर्वा भवप्रवृत्तिः। भवप्रत्यया च समुदेति हि जातिरस्य ॥1456॥ जातिनिदानानि जराव्याधिदुःखानि भवन्ति, उपपत्तिर नैकविविधा भवपञ्जरेऽस्मिन्। एवमेव सर्व इति प्रत्ययतो जगत., न चात्मा पुद्गलो न सक्रमकोऽस्ति कश्चित् ॥1457॥ यस्मिन्न कल्पो न विकल्पः (त) योनिमाहुः, यद् योनिशो भवति न तत्राविद्या काचित्। यस्मिन्निरोधो भवतीहाविद्यायाः सर्वाणि भवङ्गानि क्षयक्षीणानि क्षयन्ति निरुद्धानि ॥1458॥ एवमेष प्रत्ययतो बुद्धस्तथागतेन तेन स्वयंभूः स्वय आत्मानं व्याकरोति। न स्कन्धायतनधातु वदामि बुद्धं नान्यत्र हेत्ववगमाद् भवतीह बुद्धः ॥1459॥ भूमिर्नचात्र परतीर्थिकनिःसृतानां शून्यः प्रवाद इह-ईदृशे धर्मयोगे। ये पूर्वबुद्धचरिताः सुविशुद्धसत्त्वास् ते शक्नुवन्तीमं धर्मं विज्ञातुम् ॥1460॥

एवं हि द्वादशाकारं धर्मचक्रं प्रवर्तितम्। कौण्डिन्येन चाज्ञातं निर्वृत्तं रत्नत्रयम् ॥1461॥ बुद्धो धर्मश्च संघश्चेत्येतद् रत्नत्रयम्। परंपरया गतः शब्दो यावद् ब्रह्मपुरालयम् ॥1462॥ वर्तितं विरजश् चक्रं लोकनाथेन तायिना। उत्पन्नानि रत्नानि त्रीणि लोके परमदुर्लभानि ॥1463॥ कौण्डिन्यं प्रथमं कृत्वा पंचकाश्चैव भिक्षवः। षष्टेर देवकोटीनां धर्मचक्षुर्विशोधितम् ॥1464॥ अन्ये चाशीतिकोटयस्तु रूपधातुकदेवताः। तेषां विशोधित चक्षुर धर्मचक्रप्रवर्तने ॥1465॥ चतुरशीतिसहस्राणि मनुष्याणां समागतानि। तेषां विशोधितं चक्षुर् मुक्ताः सर्वाभ्यो दुर्गतिभ्यः ॥1466॥

दशसु दिक्ष्वनन्तासु बुद्धस्वरोऽगच्छत्तस्मिन् क्षणे रुतं मधुरं मनोज्ञं संश्रूयते चान्तरिक्षे शुभम्। एतद दशबलेन शाक्यर्षिणा धर्मचक्रमुत्तमम् ऋषिपतनमुपेत्य वाराणसीं प्रवर्तितं नान्यथा ॥1467॥ दशसु दिक्षु यानि कानि चिद् बुद्धशतानि सर्वाणि तूष्णीभूतानि तेषां मुनीनां य

उपस्थापका सर्वेऽपृच्छन् जिनान् । किमिति दशबलैर धर्मकथा छिन्ना। श्रुत्वा रुतं साधु भणत शीघ्रं किं कारणं तूष्णीभावेन स्थिताः ॥1468॥ पूर्वभवशतैर वीर्यबलैर बोधिं समुदानीय बहवः शतसहस्राणां पश्चान्मुखा बोधिसत्वाः कृताः । तेन हितकरेणोत्तपता प्राप्ता बोधिः शिवा चक्रं त्रिपरिवर्तं प्रवर्तितं तेन तूष्णीभूताः ॥1469॥ इदं वचनं श्रुत्वा तेषां मुनीना सत्त्वकोटयः शतानि मैत्रबलं जनयित्वा संप्रस्थिता अग्रबोधिं शिवाम् । वयमप्यनुशिक्ष्य तस्य मुनेर् वीर्यस्थामोद्गतं क्षिप्रं भवेन लोके लोकोत्तमा धर्मचक्षुः प्रदाः ॥1470॥इति॥

गम्भीरं दुर्दर्शं सूक्ष्मं धर्मचक्रं प्रवर्तितम् । यत्र मारा न गाहन्ते सर्वे च परतीर्थिका. ॥1471॥ अनालयं निष्प्रपञ्चमनुत्पादमसंभवम् । विविक्तं प्रकृतिशून्यं धर्मचक्रं प्रवर्तितम् ॥1472॥ अनायूहमनिर्यूहम् (=अपरिग्रहमपरित्यागम्) अनिमित्तमलक्षणम् । समताधर्मनिर्देश चक्रं बुद्धेन वर्णि (? ति)तम् ॥1473॥ माया मरीचिः स्वप्नश्चोदकचन्द्रः प्रतिश्रुत्का । यथैते तथा तच्चक्रं लोकनाथे वर्तितम् ॥1474॥ प्रतीत्यधर्मवितारमनुच्छेदमशाश्वतम् । सर्वदृष्टिसमुच्छेदं धर्मचक्रमिति स्मृतम् ॥1475॥ आकाशेन सदा तुल्यं निर्विकल्पं प्रभास्वरम् । अनन्त-मध्य-निर्देशं धर्मचक्रमिहोच्यते ॥1476॥ अस्तिनास्तिविनिर्मुक्तमात्मानैरात्म्यवर्जितम् । प्रकृत्याऽजातिनिर्देशं धर्मचक्रमिहोच्यते ॥1477॥ भूतकोटिमकोटिं च तथतायां तथात्वतः । अद्वयधर्मनिर्देशं धर्मचक्रं निरुच्यते ॥1478॥ चक्षुः स्वभावतः शून्यं श्रोत्रं घ्राणं तथैव च । जिह्वा कायश्च चित्तं च शून्यात्मानि निरीहकाणि ॥1479॥ इदं तदीदृशं चक्रं धर्मचक्रं प्रवर्तितम् । बोधयत्यबुधान् सत्त्वांस्तेन बुद्धो निरुच्यते ॥1480॥ स्वयं मयानुबुद्धोऽयं स्वभावो धर्मलक्षणम् । ऋते परोपदेशेन स्वयंभूस्तथा चक्षुष्मान् ॥1481॥ सर्वधर्मवशिताप्राप्तो धर्मस्वामी निरुच्यते । नयानयज्ञो धर्मेषु नायकस्तेन चोच्यते ॥1482॥ यथा भवन्ति विनेया विनयाम्यमितान् जनान् । विनेयपारमिताप्राप्तस्तेन प्रोक्तो विनायकः ॥1483॥ नष्टमार्गा हि ये सत्त्वा मार्गं देशयाम्युत्तमम् । नयामि पारं तीरं तस्मादस्मि विनायकः ॥1484॥ संग्रह-वस्तुज्ञानेन संगृह्य जनतामहम् । संसाराटवीनिस्तीर्णः सार्थवाहस्ततो ह्यहम् ॥1485॥ वशवर्ती सर्वधर्मेषु तेन धर्मेश्वरो जिनः । धर्मचक्रप्रवर्तयित्वा धर्मराजो निरुच्यते ॥1486॥ धर्मदानपतिः शास्ता धर्मस्वामी निरुत्तरः । स्विष्टयज्ञः सिद्धार्थः पूर्णाशः सिद्धमङ्गलः ॥1487॥ आश्वासकः क्षेमदर्शी शूरो महारणापहाः । उत्तीर्णसर्वसंग्रामो मुक्तो मोचयिता प्रजाः ॥1488॥

आलोकभूतो लोकस्य प्रज्ञाज्ञानप्रभाकरः । अज्ञानतमसो हन्ता, उल्काधारी महाप्रभः ॥1489॥ महावैद्यो महाज्ञानी महाक्लेशचिकित्सकः । सत्त्वाना क्लेशविद्धानां शल्यहर्ता निरुत्तरः ॥1490॥ सर्वलक्षणसपन्नः सर्वव्यञ्जन-शोभित. समन्तभद्रः कायेन हीनाना चानुवर्तकः ॥1491॥ दशभिर्बलैर्बलवान् वैशारद्यविशारदः । आवेणिकैरष्टादशैरग्रयानो महामुनिः ॥1492॥

एवं संक्षेपरिदेशो धर्मचक्रप्रवर्तनस्य । तथागतगुणवर्णः स्वल्पोऽयं प्रकाशितः ॥1493॥ बुद्धज्ञानमनन्तं ह्याकाशविपुल समम् । क्षपयेत् कल्पं भाषमाणो न च बुद्धगुणक्षयः ॥1494॥

॥ २७ ॥

॥ निगमपरिवर्त ॥

मुद्रित ग्रन्थ 438 (पंक्ति 15)—444 (पंक्ति 22)
भोटानुवाद 323ख (पंक्ति 1)—329 (पंक्ति 5)

॥ २७ ॥

॥ निगमपरिवर्त ॥

1. इसके अनन्तर, इस धर्मपर्याय के सम्यक् प्रकाशन के लिए, तथागत से जिन्होंने अध्येषणा (=प्रार्थना) की थी, जिनमें महेश्वर, नन्द, सुनन्द, चन्दन, महित, शान्त, प्रशान्त, विनीतेश्वर प्रधान देवपुत्र थे, तथा जिन (देवपुत्रो) के साथ अट्ठारह हजार शुद्धावासकायिक देवपुत्र थे और तथागत के धर्मचक्र-प्रवर्तन के अवसर पर भी जो सब एकत्रित हुए थे, उन देवपुत्र महेश्वर आदि शुद्धावासकायिक देवपुत्रो को संबोधित कर भगवान् यों बोले—हे मार्षो (=सुहृदो) ललितविस्तर नाम का यह धर्मपर्याय सूत्र है, इसमे बोधिसत्त्व-लीला का महावैपुल्य है—महाविस्तार है, बुद्ध के विषय मे ललित (-रीति) से प्रवेश (कराने) के लिए यह आत्मोपनायिका है-आत्मकथा है। तथागत के कहे (-439-) इस सूत्र का तुमसब उद्ग्रहण (=पठन) करो, धारण (=स्मरण) करो, और वाचन करो। इस प्रकार यह धर्मनेत्री (=धर्म की ओर ले जाने वाली नीति) विस्तृत होगी। बोधिसत्त्वनिकाय के पुद्गल (=लोग) इस धर्मपर्याय (=धर्ममार्ग) को सुन कर अत्यन्त दृढ वीर्य (उद्योग) का आरंभ करेंगे। अनुत्तर सम्यक्-संबोधि मे जिनकी उदार-अधिमुक्ति (=विपुलरुचि) है वे =324क= प्राणी महती धर्मवर्षा के लिए वेष (=उत्साह) उत्पन्न करेंगे। मार-पक्ष का निग्रह होगा। सब दूसरे पर प्रवादियों को (छिद्रान्वेषण का) अवसर न मिलेगा। तुमने धर्मदेशना करने की अध्येषणा (=प्रार्थना) की है, उसका कुशलमूल (=पुण्य-मूल) महान् अर्थ का होगा, महान् फल का होगा, महान् अनुशंसन (=कल्याण) का होगा।

2. हे मार्षो (=सुहृदों), जो कोई इस ललितविस्तर धर्मपर्याय को अंजलि बाँध गौरव करेगा, उसे आठ उत्कृष्ट धर्मों का लाभ होगा। किन आठ धर्मों का? उत्कृष्ट रूप का लाभ होगा, उत्कृष्ट बल का लाभ होगा, उत्कृष्ट परिवार का लाभ होगा, उत्कृष्ट प्रतिभा का लाभ होगा, उत्कृष्ट नैष्क्रम्य (लोक के प्रति निष्कामता) का लाभ होगा, उत्कृष्ट चित्तपरिशुद्धि का लाभ होगा, उत्कृष्ट समाधिपद का लाभ होगा, उत्कृष्ट प्रज्ञा-प्रतिभास का लाभ होगा। इन आठ कुशल धर्मो का लाभ होगा।

3. हे मार्षो (=सुहृदों), जो कोई इस ललितविस्तर धर्मपर्याय के प्रवचनार्थी धर्मभाणक के लिए धर्मासन बिछाएगा, उसे आसन बिछाने के साथ-ही-

॥ २७ ॥

॥ निगमपरिवर्त ॥

1. इसके अनन्तर, इस धर्मपर्याय के सम्यक् प्रकाशन के लिए, तथागत से जिन्होंने अध्येषणा (=प्रार्थना) की थी, जिनमें महेश्वर, नन्द, सुनन्द, चन्दन, महित, शान्त, प्रशान्त, विनीतेश्वर प्रधान देवपुत्र थे, तथा जिन (देवपुत्रों) के साथ अठ्ठारह हजार शुद्धावासकायिक देवपुत्र थे और तथागत के धर्मचक्र-प्रवर्तन के अवसर पर भी जो सब एकत्रित हुए थे, उन देवपुत्र महेश्वर आदि शुद्धावास-कायिक देवपुत्रों को संबोधित कर भगवान् यों बोले—हे मार्षो (=सुहृदो) ललित-विस्तर नाम का यह धर्मपर्याय सूत्र है, इसमें बोधिसत्त्व-लीला का महावैपुल्य है—महाविस्तार है, बुद्ध के विषय में ललित (=रीति) से प्रवेश (कराने) के लिए यह आत्मोपनायिका है-आत्मकथा है। तथागत के कहे (-439-) इस सूत्र का तुम-सब उद्ग्रहण (=पठन) करो, धारण (=स्मरण) करो, और वाचन करो। इस प्रकार यह धर्मनेत्री (=धर्म की ओर ले जाने वाली नीति) विस्तृत होगी। बोधिसत्त्वनिकाय के पुद्गल (=लोग) इस धर्मपर्याय (=धर्ममार्ग) को सुन कर अत्यन्त दृढ़ वीर्य (उद्योग) का आरंभ करेंगे। अनुत्तर सम्यक्-संबोधि में जिनकी उदार-अधिमुक्ति (=विपुलरुचि) है वे =324क= प्राणी महती धर्मवर्षा के लिए वेष (=उत्साह) उत्पन्न करेंगे। मार-पक्ष का निग्रह होगा। सब दूसरे पर प्रवादियों को (छिद्रान्वेषण का) अवसर न मिलेगा। तुमने धर्मदेशना करने की अध्येषणा (=प्रार्थना) की है, उसका कुशलमूल (=पुण्य-मूल) महान् अर्थ का होगा, महान् फल का होगा, महान् अनुशंसन (=कल्याण) का होगा।

2. हे मार्षो (=सुहृदों), जो कोई इस ललितविस्तर धर्मपर्याय को अंजलि बाँध गौरव करेगा, उसे आठ उत्कृष्ट धर्मों का लाभ होगा। किन आठ धर्मों का? उत्कृष्ट रूप का लाभ होगा, उत्कृष्ट बल का लाभ होगा, उत्कृष्ट परिवार का लाभ होगा, उत्कृष्ट प्रतिभा का लाभ होगा, उत्कृष्ट नैष्क्रम्य (लोक के प्रति निष्कामता) का लाभ होगा, उत्कृष्ट चित्तपरिशुद्धि का लाभ होगा, उत्कृष्ट समाधिपद का लाभ होगा, उत्कृष्ट प्रज्ञा-प्रतिभास का लाभ होगा। इन आठ कुशल धर्मों का लाभ होगा।

3. हे मार्षो (=सुहृदों), जो कोई इस ललितविस्तर धर्मपर्याय के प्रवच-नार्थी धर्मभाणक के लिए धर्मासन बिछाएगा, उसे आसन बिछाने के साथ-ही-

साथ आठ अभिलषणीय आसनों का लाभ होगा। किन आठ (आसनों) का (लाभ) होगा? श्रेष्ठी के =324ख= आसन का लाभ, गृहपति के आसन का लाभ, चक्रवर्ती के आसन का लाभ, लोकपाल के आसन का लाभ, इन्द्र के आसन का लाभ, वशवर्ती के आसन का लाभ होगा। अभिलषणीय अतिउत्तम बोधिमण्डप में पहुँचे हुए, पीछे न लौटने वाले, मार-रूपी शत्रु को परास्त करने वाले, बोधिसत्त्व के आसन का लाभ तथा अनुत्तर सम्यक् संबोधि का बोध कर बुद्ध के अनुत्तर धर्मचक्रप्रवर्तन के आसन का लाभ होगा। इन आठ अभिलषणीय आसनों का लाभ होगा।

4. (–440–) हे मार्षो (=सुहृदो), इस ललितविस्तर धर्मपर्याय के प्रवचन करने वाले को जो साधुवाद देगा, वह आठ वाणी की परिशुद्धियों का लाभ करेगा। किन आठ का? सत्य के अनुसार प्रवृत्त होने वाले वाक्कर्म के अत्यन्त परिशुद्ध होने के कारण जैसी कथनी वैसी करनी का, परिषद् को अभिभूत (=परास्त) करने के कारण (सबके द्वारा) स्वीकार करने योग्य बोली का, (किसी का) अपमान न करने के कारण, (मन को) भाने वाली बोली का, अकठोर भाव से प्राणियों को संगृहीत करने अर्थात् अपनाने के कारण चिकनी एवं मीठी बोली का, शरीर और मन को आनन्दित करने के कारण चटक-जैसी चहचहाने वाली बोली का, सब प्राणियों के द्वारा परास्त न होने के कारण [1]प्रिय लगने वाली बोली का[1], सब स्वरों को दबा देने के कारण ब्रह्मा के जैसे स्वर-स्वभाव का, =325क= सब दूसरे प्रवादियों द्वारा अनभिभूत (=अपरास्त) होने के कारण सिंहनाद की गर्जन जैसे स्वरस्वभाव का, सब प्राणियों की इन्द्रियों को संतुष्ट करने के कारण बुद्ध के स्वर जैसे स्वभाव का। इन आठ वाणी के व्यापारों की परिशुद्धियों का लाभ करेगा।

5. हे मार्षो (=सुहृदों), जो कोई इस ललितविस्तर धर्मपर्याय को पुस्तक में लिख कर, धारण करेगा, (उसके प्रति) गौरव करेगा, (उसका) मान करेगा, (उसकी) पूजा करेगा, मत्सरता-रहित चित्त से चारों दिशाओं में इस धर्मपर्याय का माहात्म्य कहेगा, माहात्म्य की धुन करेगा कि आओ, (इस) धर्मपर्याय को लिख कर धारण करो, वाचन करो, चिन्तन करो, स्वाध्याय करो, वह आठ महानिधानों का लाभ करेगा। किन आठ महानिधानों का? भूल-चूक न होने से स्मृति-निधान का, बुद्धि से विश्लेषण कर सकने से मति-निधान का, सब सूत्रों में अर्थगति के अर्थात् अर्थबोध के प्रति अनुराग होने से गति-निधान का, सब सुने हुए (वचनों) को पूर्ण रूप से धारण करने से धारणी-निधान का, सब प्राणियों से सुभाषित

1....1. मूल, तदुक्तवचनता। भोट, छिग् स्ञन् प (=प्रियवचनता)।

द्वारा संभापण करने से प्रतिभा-निधान का लाभ करेगा, सद्धर्म की [2]प्रतिरक्षा करने से[2] धर्मनिधान का लाभ करेगा, =325ख= त्रिरत्न-वंश के उच्छेद न होने से बोधिचित्त-निधान का, अनुत्पाद-धर्म-क्षान्ति के लाभ होने से प्रतिपत्ति-निधान का (=सत्य-साक्षात्कार करने के निधान का) लाभ करेगा। इन आठ निधानों का लाभ करेगा।

6. (-441-) हे मार्षों (=सुहृदों), जो कोई इस ललितविस्तर धर्मपर्याय का सम्यक् (उपदेश से) प्रवर्तन कर धारण करेगा, वह आठ संभारों (=सुकृत-सामग्रियों) को परिपूर्ण करेगा। किन आठ (संभारों) को ? (वह) दान-संभार को परिपूर्ण करेगा, क्योंकि उसके चित्त मे मत्सरता (=कंजूसी) नही होगी। (वह) शील-संभार को पूर्ण करेगा, क्योंकि उसके सब कल्याणमय मनोरथ सब ओर से पूरे होंगे। (वह) श्रुत-संभार को परिपूर्ण करेगा, क्योकि उसकी प्रज्ञा आसक्ति रहित भाव की सिद्ध होगी। (वह) शमथ-संभार को परिपूर्ण करेगा, क्योंकि सब समाधियों की समापत्ति का द्वार उसके लिए खुल जाएगा। (वह) विपश्यना-संभार को परिपूर्ण करेगा, क्योकि त्रैविद्य-विद्याओं मे वह सिद्ध होगा। वह पुण्य-संभार को परिपूर्ण करेगा, क्योकि लक्षणो, अनुव्यञ्जनो एवं बुद्धक्षेत्रों के सब अलंकारों में उसका शुद्ध भाव होगा। (वह) ज्ञान-संभार को पूर्ण करेगा, क्योकि वह सब प्राणियो को उनकी अधिमुक्ति (=रुचि) के अनुसार संतुष्ट करेगा। =326क= (वह) महाकरुणा-संभार को पूर्ण करेगा, क्योकि सब प्राणियों को धर्म मे पक्का करने मे वह खेद का अनुभव नही करेगा। इन आठ संभारों को वह परिपूर्ण करेगा।

7. हे मार्षों (=सुहृदों), जो कोई यह ललितविस्तर धर्मपर्याय दूसरो को विस्तार से स्पष्ट कर इस मनोभाव से समझाएगा कि मैं कैसा करूँ जो ये प्राणी इस प्रकार के धर्मों के लाभी हों, वह उस कुशलमूल से आठ महापुण्यताओं को प्राप्त करेगा। किन आठ (महापुण्यताओं) को ? (वह) चक्रवर्ती राजा होगा, इस प्रथम महापुण्यता को, चतुर्महाराजकायिक देवताओं का आधिपत्य करेगा, इस दूसरी महापुण्यता को, (वह) देवताओं का इन्द्र शक्र होगा, इस तीसरी महा-पुण्यता को, (वह) सुयाम देवपुत्र होगा, इस चौथी महापुण्यता को, (वह) संतुषित (देवपुत्र) होगा, इस पाँचवी महापुण्यता को, (वह) सुनिर्मित (देवपुत्र) होगा, इस छठी महापुण्यता को, (वह) वशवर्ती देवराज होगा, इस सातवी महापुण्यता का, (वह) ब्रह्म (-कायिक) महाब्रह्म होगा, इस आठवी महापुण्यता को प्राप्त

2....2. मूल प्रतिलक्षणतया। यह पद प्रतिरक्षणतया का अपभ्रंश है। भोट, योङ्स् सु सुङ् बस् (=परिरक्षणतया)।

करेगा। =326ख= और अन्त मे सब अकुशल-धर्मो से हीन तथा सब कुशल-धर्मो से समन्वित अर्हन्त सम्यक्-संवुद्ध तथागत होगा। इन आठ महापुण्यताओं को प्राप्त करेगा।

8. (-442-) हे मार्षो (=सुहृदो), जो कोई बांचे जाते हुए इस धर्म-पर्याय को सावधानी से कान लगा कर सुनेगा, वह आठ चित्त-निर्मलताओं को प्राप्त करेगा। किन आठ (चित्तनिर्मलताओं) को? (वह) मैत्री को प्राप्त करेगा। सब (प्रकार के) दोष (=द्वेष) का नाश करने के लिए। (वह) करुणा को प्राप्त करेगा, सब (प्रकार की) हिंसा का परित्याग करने के लिए। (वह) मुदिता को प्राप्त करेगा, सब प्रकार की अरति (=बेचैनी) दूर करने के लिए। उपेक्षा को प्राप्त करेगा, अनुनय (=प्रेम) तथा प्रतिघ (=क्रोध) को छोड़ने के लिए। (वह) चार ध्यानों को प्राप्त करेगा, संपूर्ण रूप-धातु पर वशवर्ती होने के लिए। (वह) चार आरूप्य-समापत्तियो को (=आरूप्यध्यानो को) प्राप्त करेगा चित्त के ऊपर वशवर्ती होने के लिए। (वह) पाँच अभिज्ञाओं को प्राप्त करेगा, अन्य बुद्ध-क्षेत्र में गति पाने के लिए। (वह) सब (प्रकार की) वासनाओं की अनुसंधि के (अर्थात् पूर्व-पूर्व वासना-संतान का उत्तर-उत्तर वासना संतान मे संयोग के) निरोध को प्राप्त करेगा, शूरंगमसमाधि प्राप्त करने के लिए। 327क= इन आठ चित्तनिर्मलताओं को प्राप्त करेगा।

9. हे मार्षो (=सुहृदों), जिस ग्राम मे, नगर में, (क़स्बे में) जनपद (=देश) मे, जनपद-प्रदेश मे (=देश के एक भाग मे), चंक्रम मे (=मैदान मे) या विहार मे इस ललितविस्तर धर्मपर्याय का प्रचार होगा, यहाँ पूर्वकर्म के विपाक (से होने वाले भय) को छोड कर आठ भय उत्पन्न नही होंगे। कौन से आठ भय (उत्पन्न नही होंगे)? राजविप्लव-भय नही होगा, चोरविप्लव-भय नही होगा, दुर्भिक्ष एवं बाढ़-सूखे का विप्लव-भय नही होगा, परस्पर के झगड़ों, विवादो एवं लड़ाइयों का विप्लव-भय नही होगा, नागविप्लव-भय नहीं होगा, यक्षविप्लव-भव नही होगा, सब उपद्रवों का विप्लव-भय नही होगा। हे मार्षो (=सुहृदों), [3]पूर्व कर्म के विपाक (से होनेवाले भय) को[3] छोडकर ये आठ भय नही होंगे।

10. हे मार्षो (=सुहृदो), =327ख= संक्षेप से (कहे तो), कल्पभर ठहरने की आयु के मान से, रात-दिन निरन्तर बैठे-बैठे, यदि तथागत इस धर्म-

3....3. मूल, [स्थापयित्वा पूर्वकर्मविपाकं]। कोष्ठकों के विना इसे पढना चाहिए। यह भोट मे हैं—स्ङोन् ग्यि लस् क्यि र्नम् पर् स्मिन् प म गतो-गस् पर्।

की प्रशंसा करते रहे, तो भी न इस धर्मपर्याय की प्रशंसा का अन्त होगा और न तथागत की प्रतिभा का अन्त होगा। इसके अतिरिक्त (–443–) हे मार्षो (=सुहृदो) तथागत मे स्थित शील का, समाधि का प्रज्ञा का,[4] विमुक्ति का, (विमुक्तिज्ञान दर्शन का[4] जिसप्रकार मापने मे (कोई) अन्त नहीं है, उसी प्रकार जो इस मनोभाव से कि कैसा करूँ जो ये प्राणी इस प्रकार के उदार धर्म के लाभी हों, इस धर्मपर्याय को पढेगा, धारण करेगा, बाँचेगा, लिखेगा, लिखाएगा, समझेगा, समझाएगा, परिषद् के बीच विस्तार से प्रकाशित करेगा, उसके भी पुण्य का कोई अन्त नही है।

11. इसके अनन्तर, भगवान् आयुष्मान् महाकाश्यप, आयुष्मान् आनन्द, तथा बोधिसत्व-महासत्व मैत्रेय को सबोधन करके बोले—हे मार्षो (=सुहृदों), असंख्येय-कल्पो की लक्ष-लक्ष-खर्व कोटियो में सिद्ध की हुई सम्यक्–संबोधि को तुम्हारे हाथ मे दे रहा हूँ, [5] = 328क= बडी भेंट के रूप मे भेंट कर रहा हूँ, इस धर्मपर्याय को धारण करो और दूसरों के लिए विस्तार से प्रकाशित करो।

12. यह कह कर, उस समय, अधिक-मात्रा मे इस धर्मपर्याय की भेट के (महत्त्व) के लिए, भगवान् ने ये गाथाएँ कही—

(छन्द शालिनी)

सत्वा दृष्टा ये मया बुद्धदृष्ट्या
स्युस्तेऽर्हन्तः शारिपुत्रेण तुल्याः।
तांश्चेत् कश्चित् पूजयेत् कल्पकोटी
तुल्यां गङ्गावालिकाभिर्यथैव ॥1495॥

बुद्ध-चक्षु से मैंने जिन प्राणियो को देखा है, वे-सब यदि शारिपुत्र–जैसे अर्हन्त हो जाएँ तथा उन गङ्गानदी की बालुका–जैसे (असख्य अर्हन्तो की) कोई कोटि-कोटि कल्प तक पूजा करता रहे, तो भी, उससे यह (ललितविस्तर-कथा द्वारा) किया हुआ पुण्य विशेष है।

—

4....4. मूल, विमुक्ति ज्ञानदर्शन। भोट, र्नम् पर् ग्रोल् ब दङ्। र्नम् पर् ग्रोल् ब.हि ये शेस् म्थोंङ् ब (= विमुक्ति-विमुक्तिज्ञानदर्शन।

5. मूल, परिदामि। यहाँ परिन्दामि पाठ करना चाहिए (द्रष्टव्य बु० हा० स० डि० मे शब्द परिन्दामि)। परिन्दामि के लिए भोट, शब्द, गृतद् है। वही परिन्दामि परन्दना आदि मे सर्वत्र दृष्ट होता है।

(-144-) यश्चैव सद्धर्मविलोपकाले
त्यक्त्वा स्वकायं च तथैव जीवित ।
दद्यादहोरात्रमिदं हि सूत्रं
विशिष्यते पुण्यमिदं हि तस्मात् ॥1500॥

और जो कोई सद्धर्म की हानि के समय मे, अपने शरीर तथा जीवन का (बोधिचर्या के निमित्त) उत्सर्ग कर (अर्थात् सर्वसत्त्वहिताय कायजीवितसमर्पण-मस्तु—सब प्राणियो के हित के लिए इस शरीर एवं जीवन का समर्पण हो—ऐसा त्याग—संकल्प कर) इस सूत्र का प्रवचन करे, तो उस (बुद्धपूजा) की अपेक्षा यह पुण्य विशेष है ।

यस्येप्सितं पूजयितुं विनायकां
प्रत्येकबुद्धांश्च तथैव श्रावकां ।
दृढं समुत्पाद्य स बोधिचित्तं
इदं सदा सूत्रवरं दधातु ॥1501॥

जो बुद्धो को, प्रत्येक बुद्धो को तथा अर्हन्तों को पूजना चाहता हो, वह दृढता से बोधिचित्त को उत्पन्न कर, सर्वदा इस उत्तम सूत्र को धारण करे ।

राजा ह्ययं सर्वसुभाषितानां
योऽभ्युद्गतः सर्वतथागतानां ।
गृहे स्थितस्तस्य तथागतः सदा
तिष्ठेदिदं यत्र हि सूत्ररत्नं ॥1502॥

यह सब सुभाषितो का राजा है, जो सब तथागतों के द्वारा प्रकट हुआ है । जिसके यहाँ यह सूत्र रत्न रहता है, उसके घर मे तथागत सर्वदा विराज-मान रहते हैं ।

प्रतिभां स प्राप्नोति शुभामनन्तां
एकं पदं वक्ष्यति कल्पकोटी ।
न व्यञ्जना भ्रस्यति नापि चार्था
दद्याच्च यः सूत्रमिदं परेभ्यः ॥1503॥

जो यह सूत्र दूसरों को देता है—(उसका) एक (गाथा—) पद बोलता है, वह कोटि-कोटि कल्पों तक न व्यञ्जन से (=शब्द से) रहित होता है और न अर्थ से ही रहित होता है ।

(छंद उपजाति जागतपादमयी)

अनुत्तरोऽसौ नरनायकानां = 329क =
सत्त्वो न कश्चित् सदृशोऽस्य विद्यते।
भवेत् समुद्रेण समश्च सोऽक्षयः
श्रुत्वा हि यो धर्ममिमं प्रपद्यते ॥1504॥

जो सुन कर, इस धर्म की सिद्धि पा लेता है, वह मनुष्यों के नायकों का श्रेष्ठ (–नायक होता है, कोई प्राणी उसकी बराबरी का नहीं होता है, वह समुद्र के समान अक्षय होता है।

भगवान् आनन्दित मन से यह बोले, और उन शुद्धावासकायिक देवपुत्रों ने, जिनके अग्रणी महेश्वर देवपुत्र थे, और उन सब बोधिसत्त्व-महासत्त्वों ने, जिनके अग्रणी मैत्रेय बोधिसत्त्व थे और उन सब महाश्रावकों ने, जिनके अग्रणी महाकाश्यप थे, और (उन सब) लोगों ने जिनमें देवता, मनुष्य, असुर एवं गन्धर्व सम्मिलित थे, भगवान् के भाषण का अभिनन्दन किया।

॥ इति श्रीललितविस्तरे निगमपरिवर्तो नाम सप्तविंशतितमोऽध्यायः ॥

समाप्तं

चेदं बोधिचर्याप्रस्थानं

यह (बुद्धत्व में परिणत करने वाली) बोधिचर्या की आचरण (कथा) समाप्त हुई।

॥ श्रीललितविस्तरो नाम महायानसूत्रं रत्नराजं परिसमाप्तं ॥

ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतु तेषां तथागतो ह्यवदत्।
तेषां च यो निरोध एवं वादी महाश्रमणः॥

हेतु से उत्पन्न होने वाले जो धर्म हैं, उनके हेतु को तथा उनका जो निरोध है, (उसके) हेतु को तथागत ने कहा है। ऐसे सिद्धान्त के महाश्रमण हैं।

। शुभमस्तु सर्वदा शुभं ।

6. इस परिवर्त की गाथाओं की छाया यों है—

सत्त्वा दृष्टा ये मया बुद्धदृष्ट्या स्युस्तेऽर्हन्तः शारिपुत्रेण तुल्याः। तांश्चेत् कश्चित् पूजयेत् कल्पकोटीस्तुल्यान् गङ्गाबालुकाभिर्यथैव ॥1495॥ प्रत्येकबुद्धाय तु यश्च पूजां कुर्याद् अहोरात्रमपि प्रहृष्टः। माल्यैः प्रकारैश्च तथापरैश्च तस्मादिदं पुण्यं कृतं विशिष्यते ॥1496॥ स्युः सर्वसत्त्वा यदि प्रत्ययैर्जिनास्तान् पूजयेत्कश्चिदिहाप्रमत्तः। पुष्पैश्च गन्धैश्च विलेपनैश्च

कल्पाननेकान् सततं हि तत्परम् ॥1497॥ एकस्मै यश्चैव तथागताय कुर्यात् प्रणाममपि चैकशोऽपि। प्रसन्नचित्तोऽथ वदेन्नमोऽर्हते तस्मादिदं श्रेष्ठतरं हि पुण्यम् ॥1498॥ बुद्धा भवेयुर्यदि सर्वसत्त्वास्तान् पूजयेद् यश्च यथैव पूर्वम्। दिव्यैश्च पुष्पैरथ मानुपैर्वरैः कल्पाननेकान् बहुभिः प्रकारैः ॥1499॥ यश्चैव सद्धर्मविलोपकाले त्यक्त्वा स्वकाय च तथैव जीवितम्। वदेद् अहोरात्रमिद हि सूत्रं विशिष्यते पुण्यमिद हि तस्मात् ॥1500॥

यस्येप्सितं पूजयितुं विनायकान् प्रत्येकबुद्धांश्च तथैव श्रावकान्। दृढं समुत्पाद्य स बोधिचित्तमिदं सदा सूत्रवरं दधातु ॥1501॥ राजा ह्ययं सर्वनुभाषिताना योऽभ्युद्गतः सर्वतथागतानाम्। गृहे स्थितस्तस्य तथागतः सदा तिष्ठेदिदं यत्र हि सूत्ररत्नम् ॥1502॥ प्रतिभां स प्राप्नोति शुभामनन्ताम् एकं पद वक्ष्यति कल्पकोटीः न व्यञ्जनाद् भ्रश्यति नापि चार्थाद् दद्याच्च यः सूत्रमिदं परेभ्यः ॥1503॥ अनुत्तरोऽसौ नरनायकानां सत्त्वो न कश्चित् सदृशोऽस्य विद्यते भवेत्समुद्रेण समश्च सोऽक्षयः श्रुत्वा हि यो धर्ममिमं प्रपद्यते ॥1504॥

कृतात्र छाया द्विपदांवरोदिते
गाथाचये पण्डितशान्तिभिक्षुभिः।
विबोद्धुकामैर्ललितस्य विस्तरं
सूत्रं महायानवरागमे स्थितं ॥0॥
तथागतं बुध्यति[1] संपठन्निदं
स्वजन्मतो दिव्यमथ स्वकर्मतः।
मनुष्यनिर्माणतनुं स्वलीलया
स्वभावकायेन सदास्थितं जिनं ॥0॥
ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत्।
तेषां च यो निरोध एवं वादी महाश्रमणः ॥

॥ कुशलमस्तु ॥

1. बुध्यति इति युध्यतीतिवत् क्यजन्तधातुप्रयोगात्। द्रष्टव्यमत्र वामनस्य काव्यालंकारसूत्रम् (अधिकरण 5 अध्याय 2 सूत्र 27)।

अनुक्रमणिका

महत्त्वपूर्ण नाम, शब्द और विषय
(अंकों से ग्रन्थ के पृष्ठों का निर्देश)

(छंद उपजाति)

प्रत्येकबुद्धाय तु यश्च पूजां
कुर्यादहोरात्रमपि प्रहृष्टः ।
माल्यैः प्रकारैश्च तथापरैश्च
तस्मादयं पुण्य कृतो विशिष्यते ॥1496॥

जो कोई अत्यन्त हर्ष के सहित, मालाओं से तथा अन्य (सब) विधियों से रात-दिन (एक) प्रत्येक बुद्ध की पूजा करता रहे, तो भी उससे यह (ललित-विस्तरकथा द्वारा) किया हुआ पुण्य विशेष है।

स्युः सर्वसत्त्वा यदि प्रत्ययैर्जिनाः
तां पूजयेत् कश्चिदिहाप्रमत्तः ।
पुष्पैश्च गन्धैश्च विलेपनैश्च
कल्पाननेकान् सततं हि तत्परं ॥1497॥

यदि सब प्राणी (अपने) प्रत्ययों से (= अपनी कारणसामग्रियों से) जिन हो जाएँ अर्थात् प्रत्येक बुद्ध हो जाएँ और कोई सावधान हो, निरन्तर तत्पर हो, उन्हें पुष्पों से, सुगन्धों से, एवं विलेपनों से अनेक कल्पों तक पूजता रहे, तो भी उससे यह ललितविस्तरकथा द्वारा किया हुआ पुण्य श्रेष्ठतर है।

एकस्य यश्चैव तथागतस्य
कुर्यात् प्रणामं अपि चैकसोऽपि ।
प्रसन्नचित्तोऽथ वदेन्नमोऽर्हते
तस्मादिदं =328ख= श्रेष्ठतरं च पुण्यं ॥1498॥

जो कोई एक तथागत को एक बार प्रणाम करे, और प्रसन्न-चित्त से नमोऽर्हन्त-अर्हन्त को नम. ऐसा कहे, तो भी उससे यह (ललितविस्तरकथा किया हुआ) श्रेष्ठतर है।

बुद्धा भवेयुर्यदि सर्वसत्त्वा
तां पूजयेद् यश्च यथैव पूर्वं ।
दिव्यैश्च पुष्पैरथ मानुषैर्वारैः
कल्पाननेकां बहुभिः प्रकारैः ॥1499॥

यदि सब प्राणी बुद्ध हो जांएं और उन्हे पूर्वोक्त विधि से कोई अनेक कल्पों तक नाना—प्रकारो से देव-लोक के तथा मनुष्य-लोक के पुष्पों से